वर्ष ३७
अंक १२

दिसम्बर
१९५६

मार्गशीर्ष
२०१३

प्रथम पत्रक

गायत्री–महा–यज्ञ,

वैदिकधर्म--परिषद् एवं संस्कृतभाषा संमेलन

गायत्रीजपका अनुष्ठान करनेवाले अनेक निष्ठावान् साधकोंकी सहायतासे इस समयतक गायत्रीमंत्रके ५ पुरश्चरण हो गये है।

२४ लक्ष गायत्री मंत्रका जाप होनेपर एक पुरश्चरण होता है यह सर्व विदित ही है।

इस पुरश्चरणकी पूर्तिके लिये वैदिकधर्मानुयायियोंकी सहायतासे '**गायत्री महायज्ञ**' पारडीमें करनेका विचार है। गायत्री मन्त्रोंकी एक लक्ष आहुतियोंका हवन इस यज्ञमें होनेका है। गायत्री जप करनेवालोंकी तरह इतर उपस्थित लोग भी इस यज्ञमें बैठ सकेंगे।

गायत्री महायज्ञके साथ ही '**वैदिकधर्म परिषद्**' एवं (महाराष्ट्र गुजरातका) संयुक्त '**संस्कृतभाषा समेलन**' भी होनेवाला है। यह यज्ञकार्य कुल ३ तीन दिन तक चलेगा।

गायत्री महायज्ञ एवं तदंतर्गत परिषद् सम्मेलन इत्यादि कार्योंके लिये करीब ५ से ७ हजार रुपयेसे अधिक खर्च होनेकी संभावना है इसलिये यह निधि जितना जल्दी एकत्रित होगा उतनी ही जल्दी महायज्ञकी तिथि एवं कार्यक्रम निश्चित होगा, प्रायः अन्तिम मास (फेब्रुआरीके अन्तमें) महायज्ञ होना आवश्यक है।

सर्वकल्याणके लिये होनेवाले इस महायज्ञ और ज्ञानोत्सवमें सब लोग उपस्थित रहेंगे ऐसी हमारी उत्कट इच्छा है। शक्य हो तो सबको अवश्य उपस्थित रहनेका विनय है किन्तु जो उपस्थित रह नहीं सकेंगे उनसे व्यक्तिगत एव संघशः जो कर सके वह आर्थिक सहायता स्वयं या अन्यद्वारा शीघ्रताके साथ करके इस पुण्य कार्यमें भाग लेंगे ऐसी आशा है।

'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' यदि हम अपने धर्मकी रक्षा करेंगे तब वह हमारा रक्षण करेगा। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऐसी अक्षरशः परिस्थिति आज अपनी हो गई है इसलिये सच्चे धर्म विचारकोंका सुशिक्षित लोग भी अपने समीपकी सम्पत्ति सुलझानेके लिए एव सुख शान्ति ढूंढनेके लिये कस्तूरी मृगकी तरह भ्रमवश होकर वह खास करके परकीय विचारकी ओर भटकता है। इस परिस्थितिको यथार्थ ज्ञानद्वारा प्रतिरोध करनेका यत्न वैदिक धर्म परिषदमें होकर वैदिकधर्मका सार्वभौम तत्त्वज्ञान और वैदिकधर्मियोंके समक्ष आजका प्रश्न इस विषयके अनेक निबन्धोंका वाचन होनेवाला है। आपभी इस विषयमें आवश्यक सूचना भेज सकते हैं।

इस महायज्ञको एवं इस सम्मेलनको आर्थिक सहायता देनेवालोंके नाम हमारे '**वैदिकधर्म, पुरुषार्थ, वेदसंदेश**' इन मासिक पत्रोंमें प्रसिद्ध किये जायेंगे।

इस कार्यका सर्वांगीण महत्त्व ध्यानमें रखकर आप अपने परिचित मित्र मण्डलकी ओरसे इस महायज्ञको अधिकाधिक आर्थिक सहायता शीघ्रतासे करेंगे ऐसी आशा है।

साथवाली '**गायत्री महायज्ञ पत्रिका**' स्मरणपूर्वक भरकर भेजिए जिससे हमको आर्थिक सहायता कितनी मिल रही है और महायज्ञमें कितने व्यक्ति उपस्थित रह सकेंगे उनकी कल्पना आ जायगी।

मन्त्री— 'गायत्री महायज्ञ' पारडी (जि. सूरत)

गायत्री महायज्ञ पत्रिका

–श्री अध्यक्ष महोदय गायत्री महायज्ञ समिति; स्वाध्याय मंडल, पो. स्वाध्याय मंडल (पारडी) (जि सूरत)

सप्रेम नमस्ते।

(१) मैं पारडीमें तीन दिन तक होनेवाले गायत्री महायज्ञमें उपस्थित रहना चाहता हूँ इस यज्ञके लिये आज मैं ·· ·· ···· रु. म. ऑ. द्वारा भेज रहा हूँ इसे स्वीकार कीजिये।

(२) इस यज्ञमें मेरे साथ · लोग आयेंगे।

(३) हमारे गाँवके परिचित एव धार्मिक वृत्तिके सम्माननीय भाई-बहनोंके पूर्ण पते भेज रहा हूँ इनको भी [illegible] आमंत्रण भेजेंगे तो वे आपको यथाशक्ति सहायता करेंगे और यज्ञमें उपस्थित भी रहेंगे।

(४) महायज्ञमें मैं उपस्थित न हो सकूंगा, इसलिये इस यज्ञकार्यकी सहायताके लिए ·· ········ ··रुपये म. ऑ. द्वारा भेजे हैं इसका स्वीकार करके यज्ञ समाप्त होनेपर गायत्री प्रसाद भेजिये।

(५) इस यज्ञकार्यके लिये मेरे इष्ट मित्रोंकी ओरसे एकत्रित धनको मैं ···· ····६ म. ऑ. द्वारा भेज रहा हूँ और सहायता देनेवाले महानुभावोंकी सूची इसके साथ भेज रहा हूँ।

भवदीय

(६) मेरी सूचना भी इसके साथ भेज रहा हूँ।

पता··· · · ···· · ··· ········ ·· · ····· ·····

वैदिक धर्म

[दिसम्बर १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

मनोवैज्ञानिक जादूविद्याके चमत्कार

[लेखक- आचार्य शिवपूजनसिंह कुशवाहा, 'पथिक', बी. ए., कानपुर]

दृष्टिसाधना (Look) अथवा दृष्टि-बन्ध (Sightism)

दृष्टिके किसी द्रव वस्तुमें बंध जानेके प्रभावित अनुभवको दृष्टिबन्ध कहते हैं। दृष्टि-साधनासे नेत्रोंमें अपूर्व शक्ति पाई जाती है।

आँखोंमें शक्ति लानेके लिए पहिले इस प्रयोगको करना चाहिए—

"**छींटे मारना** (Splashing)" - एक बाल्टीमें ऊपरतक शीतल जल भरो और अपने मुखमें भी जल भर लो। पुनः बन्द आँखोंपर जलके समीप मुखमण्डल करके दोनों हाथोंसे उसी जलके छींटे २५ बार लगाओ और सूखी तौलियासे नेत्र दो मिनटतक सुखाओ। नाककी ओरसे कर्णकी ओर पोंछो। कभी कभी नेत्रोंको खोलकर जलके भीतर मुखमण्डल डालकर इधर उधर हिलाना चाहिए और कुछ देरतक देखना चाहिए। इससे नेत्रोंकी खुजली और पानी आना बन्द हो जाता है, नेत्रोंमें अपूर्व ज्योति आती है। अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त २४ मंत्र २ में नेत्र रोगोंके लिए 'जल' उत्तम औषधि कही गई है सिरको त्रिफलेके जलसे स्वच्छ करो और त्रिफलाघृत भी खाओ।"

हथेलीसे ढकना (Palming) - "नेत्रोंको बन्द कर दोनों हाथोंकी हथेलियोंसे इस तरह ढको कि दक्षिण नेत्रपर दक्षिण हस्त और वाम नेत्रपर वाम हस्त हो। यह क्रिया प्रातःकाल अथवा दिनमें दो तीन बार १५ मिनट करे। मनमें 'ओ३म्' का ध्यान करो। कालेपनका ध्यान करो।"

विद्युत् प्रयोग- "भोजनके पश्चात् भलीभाँति हाथ मुँह प्रक्षालन कर दोनों हाथोंकी हथेलियोंको दो मिनट-तक घर्षण करो। जब हथेलियोंमें उष्णता अनुभव होने लगे उसी समय तत्काल दोनों नेत्रोंको कई बार पोंछ लो। विद्युत्के सदृश यह हाथोंकी उष्णता नेत्रोंके अन्तर्गत प्रभाव डालेगी। तीन बार इस प्रकार करो।"

(१) **दृष्टिबन्धके प्रयोग**- एक सुनसान कमरेमें 'सम्मोहन चक्षु' या अच्छी बनी हुई मनुष्यकी आँखका चित्र टांगकर अथवा श्वेत कागजपर रोशनाईसे 'सम्मोहन चक्र' बनाकर अभ्यास करना चाहिए।

इस टँगे हुए 'सम्मोहन चक्र' की ओर लगातार तीन सप्ताहतक नियमित रूपसे प्रतिदिन आधे घण्टेसे एक घण्टेतक टकटकी लगाकर देखनेसे नेत्रोंमें मोहनीशक्ति आ जाती है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे चित्त संयम, एकाग्रता और स्थिर दृष्टि प्रभृति गुण प्राप्त होते हैं।

(२) **नखदर्पण**- लगभग १२ वर्षकी उम्रवाले किसी बच्चेको आरामसे बिठा दो, उसके दाहिने हाथके अँगूठेके नाखूनपर काली स्याही अथवा तेल कुछ गोलाकारमें लगा दो। स्याही या तेल अँगूठेकी चमडीको स्पर्श न करे अन्यथा ध्यान ठीक न लगेगा। पुनः दोनों हाथोंकी मुट्ठी बंधवा दो और स्याही या तेलवाले अंगूठेको ऊपर मुट्ठीके ऊपर रखवा दो। इस प्रकार बंधी मुट्ठी पर रखे चिन्हवाले नाखूनको नेत्रोंसे कुछ नीचे और कुछ सामने एवं दोनोंके समकोणमें आध फुटकी दूरीसे देखनेका आदेश करो और उस बच्चेको कहो कि तुम इस चिन्हको एक दृष्टिसे दो-तीन मिनटतक देखो, जब दो-तीन मिनट हो व्यतीत हो जायँ तब उसको कहो कि इसके भीतर तुमको एक वाटिका दिखाई पड़ेगी, जब उसे दिखलाई पडने लगे तो मुझसे कह देना। बच्चा कहेगा कि मुझको वाटिका दिखलाई देने लगी तब आप कहें कि देखो इस वाटिकामें एक मैदान है, बच्चा कहेगा, हाँ, मैदान भी दिखाई पडता है। तब बच्चेसे कहलवाओ कि इस मैदानको स्वच्छ करनेके लिए कोई भंगी आएगा, पुन. उसे पूछो कि कोई भंगी आया? बच्चा कहेगा कि आ रहा है या आ रहा है, स्वच्छ कर रहा है। पुनः बच्चेसे कहलवाओ कि भंगी तुम जाओ और किसी दरी बिछाने-वालेको भेजो जो दरियाँ लेकर आए और यहाँ बिछा जाए। पुनः इसी प्रकार कुर्सी, मेज, प्रभृति भी मँगवाकर लगवा दो। पात्र (बच्चा) यदि ढीला होगा तो वह सब काम

ढीलेपनसे करेगा। यथा भंगीको बुलवाते समय कहेगा कि भंगी नहीं आया, तो बच्चेको कहना पड़ेगा कि देखो कहीं इधर-उधर कोनेकी ओरसे आ रहा है ? बच्चा कहेगा कि हाँ कुछ आता-सा ज्ञात हो रहा है। क्या आ गया ? बच्चा कहेगा नहीं, अभी तो आ रहा है, अब आया खड़ा है। झाड़ू देनेके लिए कहो, झाड़ू नहीं दी, देनेको है प्रभृति प्रत्येक क्रियाको शनैः शनैः करेगा। बच्चेको आदेश (Suggestion) दो कि शीघ्र करे। एक दो क्रियामें देखो, यदि पुनः भी बच्चा ढीला चलता है तो उसको छोड़ दो। अस्तु।

इस प्रकार कुर्सी, मेज आदि बिछवा लेनेके पश्चात् बच्चेसे कहलवाओ कि यहाँ कुर्सीपर लोकमान्य तिलक पधारें, बच्चेसे उनको नमस्ते कराओ, पुनः पूछताछ प्रारम्भ करो, जो चाहे प्रश्न कराओ, उनके उत्तर कृष्णपट (ब्लैक बोर्ड) पर लिखवानेके द्वारा लो। यथा- "तिलकजी महाराज! भारतका कल्याण कैसे होगा ?" उत्तर "परस्पर प्रेम और एकतासे।" सदैव किसी धर्म-प्रवर्तक, महात्मा या देशभक्त नेताका बुलाना ही सर्वोत्तम है अन्यथा बच्चेकी सात्विकताके बिगड़ने और मिथ्या भ्रम लगने आदिकी सम्भावना है। कल्पित जिन्न, भूत, प्रेतको बुलाकर कुर्सीपर बैठाकर भी प्रश्न पूछा जा सकता है पर यह बच्चेके लिए उत्तम नहीं है, क्योंकि उसके मनपर भूत-प्रेतका कुसंस्कार बैठ सकता है। पूछताछके पहिले बच्चेको हर्षित करनेके लिए उससे पूछो कि वह क्या खाना चाहता है, कोई मिष्ठान्न, फल आदि। यथारुचि, मानो बच्चेने केला पसन्द किया, तब उससे कहो कि वह कि वह तिलकजीसे कहे कि मेरे लिए एक केला मंगवायें; आजानेपर तिलकजीसे छीलकर मुँहकी ओर केला देनेके लिए कहे। बच्चा भी साथ साथ अपना मुख चलाये जैसा कि वह केला खा रहा हो। पुनः उससे उसका स्वाद पूछो, बच्चा कहेगा कि मीठा है। इसके बाद कुछ पूछताछ प्रारम्भ कर दो। चोरीके संबंधमें पूछो तो जिन व्यक्तियोंपर सन्देह हो उनके नाम बतला दो अथवा बोर्ड पर लिखवा दो। फिर उनमेंसे किसी एकका नाम जो चोर हो, तिलकजीसे लिख देनेके लिए कहो अथवा लिखे हुओंमेंसे चोरके नाम अंगुली रख दें। एवं खोई हुई सामग्रीके लिए संदिग्ध स्थानोंका संकेत करके पूछो। परन्तु यह निश्चित नहीं है कि चोर आदिका नाम सत्य बतलाया जाय। बच्चा अत्यन्त सत्यवृत्तिका हो तो उत्तरके सत्य होनेकी सम्भावना है।

ज्ञातव्य- यह क्रिया पन्द्रह मिनटसे अधिक नहीं करनी चाहिए। समाप्त करते समय जो सामग्री सबसे बाद मँगाई हो उसको सबसे पहिले हटवा दो एवं क्रमशः हटाते हटाते अंतमें मैदान और वाटिकाको हटवा कर नेत्र बन्द करा दो और तीन मिनटके बाद खुलवाकर बच्चेको इधर-उधर टहलवा दो जिससे नेत्रोंकी थकावट दूर हो और विचार-धारा अपनी स्थिति पर आ जाए।

दृष्टिबन्धकी इस रीतिमें पूरी एकाग्रता नहीं होती अतः सूक्ष्म शरीर पूर्ण रीतिसे काम नहीं करता है। अतः उत्तर प्रायः मिथ्या ही होते हैं। कुमारिकाओंपर यह क्रिया करनेसे उत्तर प्रायः कुछ सत्य मिलते हैं।

(३) जादूके सामान बेचनेवालोंके यहाँ 'मेस्मरेज्म अँगूठी' अथवा 'भूतोंकी अँगूठी' के नामसे काले नगकी एक अँगूठी मिलती है। यह अगूठी छः पहलू आतिशी मोटे शीशेकी बनाई जाती है। साधारण मुद्रिकामें एक बड़ासा आतिशी शीशेका छः पहलू नग जड़वा लो। इसमें पीछेकी ओर और दायें बाएँ चलने फिरनेवालोंके तथा वस्तुओंके छोटे किन्तु स्वच्छ चित्र दिखाई पड़ते हैं। इस अगूठीको अंगुलीमें पहनकर या हाथमें पकड़वाकर थोड़ा तेल लगा पूर्व रीत्यानुसार (सं. २ के समान) सब प्रक्रियाएँ कर सकते हैं। इसमें पात्र षोडश वर्षके लगभगका भी लिया जा सकता है और २५ मिनटतक कर सकते हैं; परन्तु बारह वर्षके बच्चे और भोली महिलाओंके द्वारा इस क्रियाको करना अच्छा रहता है, क्योंकि वे अधिक तर्क नहीं करते हैं और आसानीसे सब बातोंपर विश्वास कर लेते हैं। मृतात्माओंके दर्शन करनेवालेको किसी ऐसे स्थलपर बैठाना चाहिए जहाँसे बहुतसी चीजें चलती फिरती दिखाई दें। इधर उधरकी चीजोंसे अनुमान लगाकर उसीके समान चीजें बताते रहिए। दर्शक स्वीकार करता जाएगा कि अमुक माता-पिता आया।

(४) एक काले रंगका त्रिकालदर्शी दर्पण* के नामसे शीशा मिलता है, इसको अंधेरे कमरेमें पात्रसे तीन गजकी दूरीपर रख दर्पणके सामने पात्रके दाहिण या बायें किसी ओर दीपक रखवा दो। दर्पणपर बीचमें दो इंच गोलाईमें तेल लगा दो। पुनः पात्रको उस तेलके चिन्हपर सात मिनटतक टकटकी लगाकर देखनेको कहो। जब वह चिन्ह श्वेत चमकीला दीखनेलगे तो प्रक्रिया प्रारम्भ कर दो। इसमें प्रथम उसके प्रिय इष्टदेवका दर्शन कराओ जिसको वह हृदयसे मानता है। यथा कोई आर्य समाजी है तो महर्षि दयानन्दजी, पौराणिक है तो रामचन्द्रजी, बौद्ध है तो महात्मा गौतम बुद्ध, ईसाई है तो ईसामसीह प्रभृतिका दर्शन कराओ। पुनः इष्ट देवका स्वागत तथा पात्रको आकांक्षाकी पूर्ति कराओ। यह प्रक्रिया आधे घण्टेतक की जा सकती है। इसमें मानसिक स्थिरता अच्छी होती है। पात्रके सत्यवादी, संयमी और सात्विक वृत्ति होनेपर अच्छे उत्तर प्राप्त होनेकी संभावना है। यह प्रक्रिया विना प्रयोजकके स्वयं पात्र भी कर सकता है। समाप्त करनेके लिए द्वितीय रीतिके अनुसार सामानको विसर्जन कर आरामसे २५ मिनट नेत्र बन्द कर लेट जाय या सो जाय। इस प्रक्रियासे सम्भवतः दृष्टिको हानि पहुँचती है।

(५) ' क्रिस्टल गेजिंग ' (Crystal gazing) यन्त्रसे भी अभ्यास किया जाता है। यह यन्त्र बहुमूल्य होता है और भारतवर्षमें नहीं पाया जाता है। साधारण कार्यके लिए ' क्रिस्टल ' निर्माण कर सकते हैं यथा एक श्वेत शीशेके गिलासका ½ वाँ हिस्सा काली स्याहीसे भर देना होगा और बाहरी हिस्सा काले कागज अथवा कपडेसे ढक देना होगा। इसके बाद उस गिलासको टेबुलपर रखकर उसमें देखना चाहिए। ग्लासका पानी भरा हिस्सा नेत्रकी बराबरीपर रहेगा और ग्लासके पानीमें देखनेपर भीतरका काला हिस्सा दीख पडेगा। प्रकाशकी गतिका यही प्राकृतिक नियम है। इस ग्लासके इजले पानीकी ओर देखनेसे उसमें क्रिस्टलकी सारी बातें पाई जाती हैं। साधारण भोजन करके, नियमित रूपसे अभ्यास करनेसे इसे आसानीसे सीख सकते हैं।

' क्रिस्टल गेजिंग ' करनेके समय निम्नाङ्कित अवस्थायें पायी जाती हैं—

(क) गहरा अंधेरा, (ख) धुंधला अंधेरा, (ग) दिव्यज्योति।

भारतीय ऋषि-महर्षि नेत्र बन्द कर ही ध्यानके द्वारा सब दर्शन कर लेते थे। उन्हें इस पत्थरकी आवश्यकता न पडती थी। आँखोंकी शक्ति बढानेकी साधना करते समय मनमें यह सोचना चाहिए कि " प्रतिदिन मेरे नेत्रोंकी शक्तिमें वृद्धि हो रही है। "

इस साधनाके द्वारा आँखोंकी सिद्धि हो जानेपर किसी व्यक्ति नेत्रोंकी ओर देखकर तीक्ष्ण दृष्टिसे उसे कुछ आदेश दिया जाय तो उसी समय वह पूर्ण होगा।

इस प्रकार नेत्रोंसे नेत्रोंमें देखनेपर प्राणि-शरीरका विद्युत् प्रवाह (Animal magnetism or electricity) शीघ्र नेत्रोंको आकर्षित कर लेता है। दृढ विश्वास और सहनशीलताके साथ आरम्भ करना चाहिए।

इसकी सहायतासे अपने भीतर ' दिव्य दृष्टि ' का, विकास करके उसके द्वारा गुप्तधन, परकीय वस्तुकी जानकारी, लोगोंका भूत, वर्तमान, भविष्य, चोरी, हत्या, डकैती षड्यन्त्र प्रभृतिका पता लगाया जा सकता है।

प्रो० त्रिवेदी, आई. बी. एम. त्रिवेदी-निवास, हरिपुरा, तरविया हनुमान, सूरत, क्रिस्टल गेजिंगसे सब बातें बतलाते हैं।

दृष्टिबन्धका विज्ञानः— बच्चेका मन खिलौनेको देखते देखते एकाग्र हो जाता है। उसका बाह्य मन निद्रित

* ' त्रिकालदर्शी दर्पण ' (करामाती या तिलस्मी आईना) निर्माणकी विधिः- " लाहौरी चुम्बक पत्थर २ माशा, शीशा ३×१ इंच, देशी दीपकका काजल ४ रत्ती, चपडा अथवा लाख १ माशा, तिलतैल ४ बूँद, गिलहरीके बालकी राख ४ रत्ती। " सबसे पूर्व लाहौरी चुम्बक पत्थरको महीन पीसकर कपडछन कर लो और पुनः गिलहरीके बालकी राख भी उसमें मिला दो। फिर चपडा या लाख तथा तिलतैलको किसी ताम्रपात्रमें डालकर अग्निपर गर्म करो। जब वह पिघल जाय तो नीचे उतारकर चुम्बक पत्थर और गिलहरीके बालकी राखका चूर्ण उसमें मिश्रण कर दो। पुनः इस लेपको शीशे पर थोप दो। जब सूख जाय तो दो तीन बार थोपकर सारा मसाला समाप्त कर दो। जब सारा मसाला लग जाय और वह भलीभांति सुख जाय तो मसालेवाला हिस्सा ऊपर करके किसी लकडीके फ्रेममें उस शीशेको जडवा लो॥

हो जाता है, देखनेमें जागता ज्ञात होनेपर भी उसकी मनोदशा तन्द्रावस्था अथवा अर्द्ध स्वप्नके समान हो जाती है। इस एकाग्र मनपर प्रयोजकके कहे हुए शब्द प्रभाव डालते हैं। प्रथम जब यह कहा जाता है कि तुमको इस निशानमें एक वाटिका दिखलाई पड़ेगी तो इस वाटिका दीखनेके कहे हुए शब्दोंका प्रभाव उसपर पड़ता है और पुनः वह बच्चा कहता है कि मुझे वाटिका दिखलाई पड़ने लगी। बच्चा प्रयोजकके शब्दोंपर विश्वास कर चिन्हमें वाटिका प्रभृति देखता है। आपका संकल्प उसके विश्वासमें जम जायगा। यदि उसको विश्वास न हो तो नहीं दीखता; इसी लिए अल्पायुवाले बच्चेपर प्रयोग किए जाते हैं।

दिव्यदृष्टि (Clairvoyance)— यह एक योगका विषय है और यह शक्ति योगियोंमें ही विशेष होती है। महाभारत, गीतामें दिव्यदृष्टिकी चर्चा है।

लोकमान्य पं. बाल गङ्गाधर तिलकजी लिखते हैं–

" ...युद्ध आरम्भ होनेसे प्रथम व्यासजीने धृतराष्ट्रसे जाकर कहा कि "यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखनेकी हो तो मैं अपनी तुम्हें दृष्टि देता हूँ।" इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि "मैं अपने कुलका क्षय अपनी दृष्टिसे नहीं देखना चाहता"। तब एक ही स्थानपर बैठे बैठे सब बातोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जानेके लिए 'सञ्जय' नामक सूतको व्यासजीने दिव्यदृष्टि दे दी। इस सञ्जयके द्वारा युद्धके अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्रको अवगत करा देनेका प्रबन्ध करके व्यासजी चले गए [म. भा. भीष्म. २] ✠

श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ लिखते हैं—"...पात्रको सम्मोहन निद्रामें लाकर ऐसे आदेश दिए जाते हैं कि तुम दिव्य-दृष्टिको प्राप्त हो गए हो, तुम प्रत्येक वस्तुको देख सकते हो, तुम सब छिपी बातोंको बता सकते हो इत्यादि। फिर जो छिपी हुई बात पूछी जाती है तो वह उसका उत्तर देता है। आरम्भमें दिव्य-दृष्टिको क्रमानुसार बढ़ाया जाता है। अर्थात् पहिले इस कमरेकी चीजोंके बारेमें पूछा जाता है फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचारोंकी और फिर दूर देशों और गुप्त बातोंको मालूम किया जाता है। आरम्भमें इसका प्रयोग छोटे बालकपर किया जाता हैं तत्पश्चात् प्रत्येक बड़े पुरुषपर भी कर सकते हैं। *

महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

"प्रातिभाद्वा सर्वम्" [योगदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र ३३]

अर्थ— अथवा प्रातिभ-ज्ञान (Intutional insight) से योगी सब कुछ जान लेता है। पुनः—

"ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।" [योगदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र ३६]

अर्थ—"इस स्वार्थ संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ताज्ञान उत्पन्न होता है।

इसमें 'आदर्श' की व्याख्या करते हुए 'भोजवृत्ति' में कहा है कि—

'आ समन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन' इस व्युत्पत्तिसे नेत्रेन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानका नाम आदर्श है।

अर्थात्— नेत्रेन्द्रियसे दिव्यरूप देखनेकी योग्यता।

फ्रेमेरियन लिखता है— "फ्रांसके डॉक्टर क्रोकेटने प्लेन्टिन नामक एक स्त्रीका आपरेशन किया। उसे सम्मोहनकी अवस्थामें लाया गया, जिससे उसे पीड़ाका कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। प्लेन्टिनकी लड़की लीगेण्डीको भी सम्मोहन अवस्थामें लाया गया। इस अवस्थामें आकर उसने अपनी मां के शरीरकी आन्तरिक बीमारीका पूरा पूरा वर्णन किया, और बताया कि कल मेरी माँ मर जायगी।

अगले दिन उसकी माँ मर गई। उसके शरीरको चीड़-फाड़ कर देखा गया तो लड़कीका वर्णन सर्वांशमें सत्य सिद्ध हुआ। शवको चीरनेके समय फिर लड़कीको सम्मोहनकी

✠ "श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य" पृष्ठ ६०७ [सन् १९४८ ई. में घर क्रमांक ५६८ नारायण पेठ; गायकवाड़ वाड़ा, पूना नं. २ द्वारा प्रकाशित] तुलना करो स्वामी सहजानन्दजी सरस्वती कृत "गीता-हृदय" प्रथम संस्करण ३९३ [सन् १९४८ ई. में किताब महल, ५६ ए. जीरो रोड, इलाहाबादसे प्रकाशित] तथा पं. कृष्णस्वरूप विद्यालंकार कृत "गीता-मर्म" प्रथम संस्करण, भूमिका पृष्ठ ३।

* "पातञ्जल योग-प्रदीप" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८६।

अवस्थामें लाया गया। उस समय उसने फिर अपनी माँकी आन्तरिक दशाके विषयमें वही बातें बताईं जो पहले दिन बताई थी। उसकी माँके शरीरको चीरनेके समय उसे एक पासके कमरेमें बैठा दिया गया ताकि वह कुछ देख न सके। वह वहीं बैठी बताती जाती थी कि चाकू किस भागपर चलाया जा रहा है, और कहती जाती थी, "चाकू यहां क्यों चला रहे हैं रोग तो अमुक भागमें है।" +

एलेकसिस (Alexis) एक बड़ा प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ है। फ्लेमेरियनने उसकी बातोंका वर्णन किया गया है। एलेकसिसको उसकी साथी मार्सिलैट सम्मोहन द्वारा स्वप्न विहार (Somnambulism) की अवस्थामें लाया करता था। इस अवस्थामें वह अपरिचित घरों और न देखे हुए दूसरे शहरोंका वर्णन किया करता था। बन्द लिफाफोंमें रखे हुए कागजोंको पढ लेता था। फ्रांसका प्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो एक बार 'पौलिटिक' (Politique) शब्द लिखकर और उसे कई चीजोंके अन्दर बन्द करके एलेकसिसके पास लाया। एलेकसिसने यह शब्द पढ दिया। इसी प्रकार विकासवादके प्रवर्तक प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्फरेड वालेस तथा अन्य कई शिक्षित व्यक्तियोंके सामने एलेकसिस आँखों पर पट्टी बाँधकर ताश खेला, खेलते हुए वह अपने विरोधीके पत्ते बताता जाता था और अपने भी और प्रायः बाजी जीत लेता था। वह किसी पुस्तकके खुले हुए पृष्ठसे आगे किसी निर्दिष्ट पृष्ठपर कोई निर्दिष्ट पंक्तियाँ पढ लेता था। पहले कई लोगोंने इन बातोंको मदारीका खेल समझा। तब उस समयके सबसे बडे मदारी रोबर्ट हौडिनने भी बडी सावधानतासे एलेकसिसकी आँखोंपर पट्टी बांधकर उसके साथ ताश खेला। एलेकसिस उसके और अपने पत्ते बताता जाता था। ....।

एलेकसिसकी विचित्र कथा उस समयके सब अखबारोंमें निकली थी। अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों और बुद्धिमानोंकी उपस्थितिमें उसकी परीक्षा ली गई परन्तु कोई भी व्यक्ति उसकी असाधारण शक्तिपर सन्देह न कर सका × "एक और प्रसिद्ध स्वप्न बिहारी केलिस्टे (Calyste) ने ६० अविश्वासी दर्शकोंकी उपस्थितिमें आँखोंपर पट्टी बांधकर ताश खेला और वह, खेलते हुए, विरोधियोंके पत्ते भी बताता जाता था। कई ताश उसी समय बिल्कुल नए मंगाए गए जिनमेंसे कोई एक चुन लिया गया" *

फ्लेमेरियन लिखता है कि "लैंग्यील नामक एक फ्रान्सीसी अपने साथ कैनेडाके एक बहशीको फ्रांसमें ले आया। वहां एक दिन वह बहशी रोने लगा। जब लैंग्यीलने बहुत अनुरोध करके उससे कारण पूछा तो उसने बताया; 'मुझे अभी खिडकीमेंसे नजर आया है कि कैनेडामें अमुक स्थानपर तुम्हारे भाईको कत्ल कर दिया गया है।' यह खबर बादमें बिल्कुल सत्य निकली। ❀

आज भी भारतवर्षमें जादू-सम्राट् पी. सी. सरकारजी, श्री देवकुमारजी प्रभृति जादूगर हैं जो आँखोंपर पट्टी बँधवाकर मोटर साइकिल चलाते हैं, पुस्तकें पढते हैं। इसको अंग्रेजीमें "Feats of X'Ray eyes, Blind fold mystery" तथा Karelli's Radar sight कहते हैं और राष्ट्र भाषा (हिन्दी) में "दिव्य दृष्टि" कहा जा सकता है। इसका प्रदर्शन मैं भी करता हूँ।

+ "Mystery of Death" VOL. I. तथा श्री नन्दलाल खन्ना, एम. ए. कृत "आत्म-मीमांसा" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७५.

* वही, पृष्ठ ७६-७७. × वही, पृष्ठ ७७. ❀ वही, पृष्ठ ९०.

जीवनके चार पुरुषार्थ

(लेखक : पं. श्री रामावतारजी, विद्याभास्कर, रतनगढ)

(१)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों ही विकासशील मानवकी संयुक्तरूपमें अनिवार्य आवश्यकता है। केवल धर्म केवल अर्थ, केवल काम और केवल मोक्ष ये सब भ्रान्तिपूर्ण विचार हैं। मानवदेह धारण कर लेनेवाले चेतनकी कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है जो कर्महीन हो। कर्महीनता मृत्यु ही है।

मानवजीवनका जो लक्ष्य होता है, वही स्वयं परिस्थितिके अनुसार कभी तो अपने आपको कर्मके रूपमें परिवर्तित कर लेता है, कभी साधनके रूपमें बदल लेता है और कभी वही सिद्धि बन बैठता है। क्योंकि लक्ष्य सर्वशक्तिमान होता है इसलिये वह स्वयं ही पहले अपना साधन फिर सिद्धिका प्रयत्न और अन्तमें अपने आप ही सिद्धि बन जाता है। यही इस संबन्धमें अभ्रान्त विचारधारा है। इस अभ्रान्त विचारधाराके अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों जीवनमें अपने अपने स्थानमें कहीं कर्म हैं, कहीं साधन हैं और कहीं सिद्धि बन बनकर लक्ष्यका ही प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। चारों ही जीवनमें समानरूपसे आवश्यक हैं। इसलिये जीवनमें इस चतुर्वर्गका सन्तुलन रखकर इनमेंसे किसीको भी अपनी सीमा भंग न करने देनेपर ही मानवको शान्ति मिलनी संभव है। इसी दृष्टिसे यह लेख पठनीय है।

(धर्म)

मानवजीवनको धारण करने अर्थात् उसे सुव्यवस्थित और शान्त बनाये रखनेवाला आधार या धर्म ही सत्य है। सत्य ही मानवका आधार है। सत्य मानवका ही अभिन्न स्वरूप है। देही स्वयं ही अपना अद्वितीय आधार है। देही स्वयं ही सत्यस्वरूप स्वाधार आत्मतत्त्व है। मानवके देहीकी पराधारता या पराश्रितता उसका अधर्म या उसकी स्वरूपच्युति है।

धर्मका मूल स्रोत

जो विरामहीन विराट कर्म दिनरात सृष्टिस्थिति प्रलय लीलाका रूप ले लेकर संसारमें स्वभावसे होता चला जा रहा है वही विराट कर्म धर्म, (अर्थात् कर्तव्यपालन) का मूल स्रोत है। वही देशकाल पात्रानुसार कर्तव्य बन बनकर मानवके सामने आता रहता और उसके मनमें कर्तव्य बुद्धि पैदा किया करता है। सत्यस्वरूप आत्मा जब कभी कहीं व्यक्त होता है तब किसी न किसी कर्मके रूपमें ही व्यक्त होता है। दूसरे शब्दोंमें सत्यस्वरूप आत्माको व्यक्त होते समय कर्मका रूप ले लेना पडता है। धर्मका वह कर्मरूपी मूल स्रोत अपने साथ आत्माको सृष्टि स्थिति प्रलयलीला दिखा दिखाकर कृतार्थ हो होकर अपने अव्यक्त नित्यस्वरूप आत्मामें विलीन होता रहता है।

सामान्यविशेष धर्म तथा अधर्म

प्रकृतिके स्वभावानुसार होनेवाले जीवन व्यापार मानवके "सामान्य धर्म" हैं। इन्द्रियोंपर मनकी प्रभुतासे ही सम्पन्न होनेवाले जीवनव्यापार मानवके "विशेष धर्म" हैं। परन्तु जो जीवनव्यापार प्रकृतिके स्वभावके विपरीत अर्थात् इन्द्रियोंकी स्वेच्छाचारितासे सम्पन्न होते हों अर्थात् जो इन्द्रियोंपर मनकी प्रभुताकी अवहेलना करके ही सम्पन्न हो सकते हों वे सब "अधर्म" कहाते हैं।

आपद् धर्म

असाधारण परिस्थिति आ खडी होनेपर स्थूलदृष्टिसे तो धर्मभ्रष्टता दीखनेवाले परन्तु अन्तर्दृष्टिसे सत्यकी रक्षाके लिये ही किये जानेवाले अनिवार्य कर्तव्यको स्वीकार करना ही "आपद् धर्म" है। परन्तु ध्यान रहे कि इस आपद् धर्मका निर्णायक मनुष्यकी अपनी ही सत्यमयी मानसिक स्थिति है। बहिरंगंद् आपद् धर्मका निर्णायक कदापि नहीं है।

युगधर्म

समाजकी मनोदशामें सत्यासत्यकी प्रबलताको ध्यानमें रखकर तथा अपने व्यक्तिगत जीवनमें सत्यके शासनको सुरक्षित रखकर समाजकी सत्य रक्षाको मांगमें अपनी शक्तिके अनुसार सहयोग देना ही " युग धर्म " है।

देशकालपात्रानुरूप धर्म

व्यवहारके समय अपने व्यक्तिगत जीवनको देशकाल-पात्रकी योग्यताकी अनुसारितासे सत्यका अनुगामी बनाये रखना ही देशकालपात्रानुरूप धर्म कहाता है।

वर्णव्यवस्था

चातुर्वर्ण्यकी चिरप्रचलित स्वभावानुरूप सामाजिक शृंखलाको सुरक्षित रखना ही वर्णव्यवस्था है।

विज्ञान और आनन्द

सत्य ही सनातन आत्मतत्वके रूपमें मानवका देही है। अपने जीवनमें इस सत्यको प्रकट करनेवाला जीवनव्यापार ही ' विज्ञान ' है। मानवके कर्ममें ज्ञानका प्रकट हो जाना ही आनन्दस्वरूपविज्ञान है। ज्योंही कर्ममें ज्ञान प्रकट होता है त्योंही उसमें आनन्दरूपता अपने आप आ विराजती है।

भगवदर्पित कर्म

जितने भी कर्म सत्यकी रक्षाकी दृष्टिसे किये जाते हैं वे सब प्रातिक्षणिक भगवदर्पित कर्म हैं। मानव चाहे तो उसका समस्त जीवन ही भगवदर्पित कर्म बन सकता है थोडा नहीं। जीवनके कुछ कर्म तो अपने रहें और कुछ भगवान्को अर्पित किये जाने योग्य हों ऐसा कर्म द्वैविध्य धर्म ध्वजी होंगी जीवनमें संभव होनेपर भी सच्चे मानवजीवनमें संभव नहीं है। मानवजीवन शैतान और भगवान् दोनोंके साझेका क्षेत्र कदापि नहीं हो सकता। मानवजीवनमें शैतान और भगवान्मेंसे एक ही खेती कर सकता है।

धार्मिक शिक्षा

इन्द्रियोंपर मनको प्रभुता स्थापित कर लेना ही मानव-जीवनका उद्देश्य है। क्योंकि इसीसे उसे सच्ची शान्ति मिलती है। मनुष्यको इन्द्रियोंपर मनकी प्रभुताकी स्थापनाका व्यवहारिक परिचय हो जाना या करा देना ही " धार्मिक शिक्षा " है। धार्मिक पुस्तक रटनेसे धार्मिक शिक्षाका उद्देश्य पूरा नहीं होता। वह तो जीवनके उद्देश्यसे व्यवहारिक परिचय होनेसे ही पूर्ण होता है।

राजधर्म

समाजसेवा ही राजधर्मका सार है। समाजने अपनी सेवा करानेके लिये ही राज्यसस्थाको जन्म दिया है। समाजमें सत्य या न्यायके शासनको सुरक्षित रखना रखाना ही समाजसेवा है और यही राजधर्म भी है।

धर्म राज्यवाद

राजा या राजकाज संभालनेवाले व्यक्तियोंके व्यक्तित्वको उच्छृंखल न होने देकर उसे सत्यनिष्ठ लोकमतके दबावसे समाजहितमें विलीन करके रखना ही धर्म राज्यवाद है।

नियन्त्रित राज्यतन्त्र तथा विकेन्द्रित सत्तावाद

नियन्त्रित राज्यतन्त्र तो वह है जिसमें राजव्यवस्थाके छोटे बडे प्रत्येक अंग प्रत्यंगमें प्रभुसत्ताका गंभीर उत्तरदायित्व व्याप्त या समाया हुआ हो। और विकेन्द्रित सत्तावाद वह है जिसमें शासनयन्त्र अनुत्तरदायी बनकर समाजके सिरपर चढ बैठा हुआ पिशाच बन गया हो। अनुत्तरदायी शासनयन्त्र ही विकेन्द्रित राजसत्तवाद है।

नौकरशाही

प्रजा ही प्रजातन्त्रकी प्रभुसत्ता है। प्रजातन्त्रमें प्रजा ही राजा है। यदि प्रजातंत्रकी प्रजा प्रमादी हो तो वह राजा होनेपर भी राज्यभ्रष्ट रहती है। यदि प्रजातंत्रकी प्रजा प्रमादी होकर अपनी प्रभुसत्ताको विकेन्द्रित हो जाने दे रही हो तो उसकी राजसत्ता भृत्यसत्ता या नौकरशाहीका रूप ले लेती है।

प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्रमें राजा नामवाले व्यक्तिका कोई स्थान नहीं है। प्रजाकी सामूहिक सदिच्छायें राज्यतंत्रके सिरपर सवार होकर बैठी रहें और उसके लाख चाहनेपर भी उसे तिलमात्र भी पथभ्रष्ट न होने दें यही प्रजातन्त्रकी परिभाषा है।

सार्वभौम धर्म

मनुष्यताकी रक्षा ही सार्वभौम धर्म है। दूसरे शब्दोंमें मानवमात्रमें जो असत्यका विरोध करनेवाली अनन्त शान्ति-मत्ता भरी पडी है। वही तो उसका सार्वभौम धर्म है।

(अर्थ)

मानवजीवनमें अर्थका स्थान

मानवदेह सत्यरक्षा या आत्मदर्शनका साधन है क्योंकि जीवनयापनके लिये उसे मिला हुआ अर्थ उसके देहकी रक्षाका एकमात्र अवलम्ब है इस दृष्टिसे उसके जीवनमें देहरक्षाके साधन अर्थका भी सत्य जितना ही महत्व है । सत्यानुगामी अर्थका मानवजीवनमें सत्यसे नीचा स्थान नहीं है । अन्यायोपार्जित अर्थका क्षुद्र जीवनमें स्थान होनेपर भी उसका विशुद्ध मानवजीवनमें कोई स्थान नहीं है ।

अर्थशास्त्रका स्वरूप

सत्य उपायोंसे उपार्जित अर्थ ही अर्थशास्त्रका स्वरूप है, कमसे कम शक्ति व्यय करके अधिकसे अधिक उपार्जन कर लेना अर्थशास्त्राभास है । जिस काममें जितनी शक्ति व्यय करनी न्यायसंगत हो उसमें उतनी अवश्य व्यय करना ही सच्चा अर्थशास्त्र है । संसारमें पूरी शक्ति व्यय न करके भी अर्थोपार्जनके बहुतसे गर्हित उपाय प्रचलित हैं परन्तु वे अर्थशास्त्र न कहाकर अनर्थशास्त्र कहाते हैं । मानवके पास आया हुआ सत्यहीन अर्थ अनर्थ होकर आता है । मानवकी मानवताको खाकर आनेवाला अर्थ मीठा हालाहल है । अर्थोपार्जनके उपायोंकी सत्यानुकूलता ही आर्य अर्थशास्त्रका स्वरूप है । उपायोंकी सत्यानुकूलता ही अर्थका शास्त्र या अर्थकी विद्या या अर्थकी कला है ।

अर्थशास्त्रका परिज्ञान

अपने सत्यानुमोदित उपार्जनको केवल सत्यके लिये व्यय करनेका अभ्यास ही मनुष्यको अर्थशास्त्रका महत्व दिखा या समझा सकता है । अर्थोपार्जन और उसके व्ययमें सामञ्जस्य या सन्तुलन बनाये रखना ही अर्थशास्त्रका दर्शन या अर्थशास्त्रका विज्ञान कहाता है ।

अर्थशास्त्रके अध्यापक और अध्येता

अपने अर्थोपार्जन तथा अर्थव्ययके सन्तुलनको सुरक्षित रखनेवाला ज्ञानी मानव ही अर्थशास्त्रका अध्यापक और इस प्रकारके अर्थशास्त्रके आचार्यकी सेवामें आत्मसमर्पण करके रहनेवाला शिक्षार्थी ही अर्थशास्त्रका अध्येता बननेका अधिकारी है ।

सम्पत्तिका सिद्धान्त

मानवमात्रपर जो संपत्ति है वह सत्यनारायणकी है । उसे उसको किसी भी गर्हित उपयोगमें लानेका कोई वैध अधिकार नहीं है । सत्य ही सम्पत्तिका अधीश्वर है । समाज ही सत्यका प्रतिनिधि है । इसलिये समाज ही सम्पत्तिका अधीश्वर और भोक्ता है । यही कारण है कि राष्ट्रपर विपत्तिके समय समाजको मानवकी सम्पत्तिको आत्मरक्षाके लिये छीन लेनेका अधिकार है । कोई भी व्यक्ति सम्पत्तिका स्वामी नहीं है । सम्पत्ति समाजका कल्याण करनेके लिये ही उपयुक्त हो सकती है । समाज कल्याण ही सत्यकी परिभाषा है । सम्पत्तिको समाज कल्याणके लिये समर्पित कर देना ही सम्पत्तिका सिद्धांत है । यही सम्पत्तिका सुखद सिद्धांत है । सम्पत्तिको व्यक्तिगत वस्तु मानने से ही मानवको समाजद्रोही बनाकर अत्याचारी बनाया है । उसे केवल व्यक्तिगत उपयोगमें लाना सम्पत्तिका सिद्धांत अर्थात् उसका उचित उपयोग नहीं है ।

(काम)

कामशास्त्र और विवाह

प्रियसे मिल जानेकी इच्छा ही काम है । काम आत्ममिलन तथा देहमिलन दो रूपोंमें प्रकट होता है । आत्माको तो स्वयं ही अपनेसे मिलनेकी शाश्वत इच्छा है । वह देहावरणके कारण अपने ही शाश्वत आत्मासे विच्छिन्न सा हो गया है । यह विच्छेद उसे सह्य नहीं है । इस आत्मविच्छेदकी असह्यता ही उसकी कामनाका रूप है । आत्ममिलनकी शाश्वत इच्छा ही मानवमनकी अशान्तिका मूल रूप है । आत्मा स्वयं ही अपना प्रेमास्पद है । इस दृष्टिसे मानवका जो विशुद्ध अभ्रान्त काम है वह तो उसकी आत्ममिलनेच्छा ही है । मानवका सच्चा काम उसका स्वाश्रित काम है इसमें वह स्वयं ही आराधक है और स्वयं ही आराध्य है । विशुद्ध अभ्रान्त काम ही प्रेम नामसे सम्मानित है । इसलिये है कि वह अद्वितीय सत्यस्वरूप आत्मतत्वको अपने अनन्य प्रेमपात्रके रूपमें प्रत्यक्ष देखा करता है । इस विशुद्ध कामके अतिरिक्त मानवकी जो अनात्ममिलनेच्छा या दैहिक मिलनेच्छा है यह उसका अशुद्ध अपरिशुद्ध भ्रान्त काम है । वह उसकी अनात्ममिलनकी इच्छा अज्ञानान्ध इच्छा है । वह काम नामसे निन्दित है उसे

प्रेम नहीं कहा जा सकता। काममें आत्ममिलनेच्छाके स्थानमें दैहिक मिलनेच्छा है। दैहिक मिलनेच्छा ही अनात्ममिलनेच्छा है। परन्तु आर्योंकी विवाह प्रथाने कामकी इस दैहिकमिलनेच्छाको भी पावनरूप देनेका उत्तम प्रयास किया है। उसके लिये उसने कामकी दैहिक मिलनेच्छाको समाजबन्धनमें संयत रख रखकर समाजबन्धन जनित संयम कालोंमें मानवको आत्मदर्शन या आत्ममिलनके अहैतुक शुभ क्षणोंको भोगनेका अवसर दे देकर उसे आत्मप्रेमका आस्वादन करानेकी व्यवस्था की है यह व्यवस्था ही कामधर्म, कामशास्त्र या विवाह है।

विवाहका भविष्य तथा पाश्चात्य कामवादकी स्थिति

विवाहकी प्रथा कौटुम्बिक बन्धनों तथा समाजके संरक्षक कर्तव्योंकी उत्पादिका है इसलिये इसमें मानवमनमें विशुद्ध प्रेमका उत्पादन ही विवाहका भविष्य रह जाता है। पाश्चात्य कामवाद कौटुम्बिक बन्धनोंमें आबद्ध रहनेका अनिच्छुक होनेसे विशुद्ध प्रेमके रूपमें परिणत होनेसे वंचित रह गया है। वह समाजबन्धनमें संयत रहनेका अनिच्छुक होनेसे अपने अनुयायी मानवको आत्मदर्शनके अहैतुक पवित्र शुभ क्षणोंका अवसर देनेके योग्य नहीं है। इसलिये वह आत्मप्रेमके आस्वादनका साधन बननेसे वंचित रह गया है। इस दृष्टिसे पाश्चात्य कामवाद पशुसुलभ कामकी श्रेणीमें सीमित रह गया है। पाश्चात्य कामवाद हमारे मोक्षसाधन त्रिवर्गमें गिना जानेयोग्य नहीं है।

(मोक्ष)

जीवनका लक्ष्य

प्रियमिलन या आत्ममिलन या आत्मसंभोग ही जीवनका लक्ष्य या मोक्ष है। कामनायें आत्ममिलनके प्रतिबन्ध हैं। कामनाओंके परित्यागसे मोक्ष—

मोक्षके प्रत्यक्ष दर्शनका काल

कामनाओंके परित्यागसे मोक्ष मनुष्यको स्वयंसिद्ध सत्यके रूपमें स्पष्ट दीखने लगता है।

मोक्षका साधन

प्रेम स्वयं ही प्रियमिलनकी स्थिति भी है और प्रियमिलनका साधन भी है प्रियमिलन ही मोक्ष है। प्रियमिलनरूपी मोक्षके लिये तो दृढ अटल लगनकी हो कि इसे पाकर छोडना है, एकमात्र आवश्यकता है साधनोंकी नहीं।

जीवन्मुक्ति

आत्मानन्दका जीवनमें आ विराजना ही जीवन्मुक्ति है। आत्मानन्द नामवाली जीवन्मुक्तिको मानवके व्यवहारमें अनासक्तिका रूप लेकर प्रकट होकर रहना चाहिये। यदि मानवके व्यवहारमें अनासक्तिरूपी जीवन्मुक्तिकी छाप नहीं है तो वह किसी भी रूपमें जीवन्मुक्त नहीं है।

जीव और ब्रह्म

मानवका देही तो ब्रह्म है और उसका देह जीव है। देह स्वबुद्धि अज्ञानी जीवकी स्थिति है। विदेह या देहातीत स्थिति ही ज्ञानी मानवका ब्रह्मत्व है। जीवत्व और ब्रह्मत्व दोनों मानवकी ही ज्ञाता ज्ञानमयी स्थिति हैं। इन दोनों स्थितियोंका मानवेतर सत्तासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञानकर्मका समुच्चय

कर्म करनेकी जो अव्यर्थ कला है वही ज्ञान है। ज्ञानका आधार कर्म ही है। कर्महीन ज्ञान असंभव कल्पना है। जिस कर्ममें ज्ञान नहीं है उसमें अज्ञानका रहना अनिवार्य है। ज्ञान ज्ञान दोनोंसे रहित कर्म केवल उस पशुदेहमें संभव है जो इन्द्रियोंसे यन्त्रके समान घुमाया, फिराया, चलाया जाता रहता है। जिसपर विवेकका कोई शासन नहीं होता। मानवदेहधारी चैतन्यसत्त्वकी ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जो कर्महीन हो। इसलिये कर्महीनता मृत्यु है।

भक्ति

मानवमात्रके आराध्य आत्मतत्त्वके साथ अनन्य प्रेम ही भक्ति है। भक्ति और प्रेम दोनों आत्ममिलनके ही दो भिन्न भिन्न नाम हैं।

अज्ञानसे ही बन्धन

मानवका जो आत्मविच्छेद है वही उसका देहबन्धनरूपी अज्ञान है। मानवका जो आत्ममिलन है वही उसकी देहबन्धनातीत मुक्ति है।

उपनिषद्--दर्शन

[श्री अरविंद]

अध्याय ५ वाँ

[गताङ्कसे आगे]

माया : विश्व-सृजनकारी तत्त्व (शक्ति)

तब हम कल्पना करें कि ब्रह्मने अपनेमें अपने इस प्रतिबिम्बको डाला है और इस क्रियामें वह अपनेको अपने सामने देखने लगा है और अपने सार-तत्त्वोंको गुणोंके रूपमें सोचने लगा है। वह जो कि सत्ता, चेतना, आनन्द है अब अपने आपको सत् (सत्तावान्) चेतन (चेतनावान्) आनन्दमय देखने लगता है। जब ऐसा हो जाता है तबसे विश्वसृष्टिका होना अनिवार्य हो जाता है; निर्गुण अपने आपको सगुण मानने लगता है। एक बार इस मूलभूत अवस्थाको स्वीकार कर लेने पर, अन्य सब कुछ विकासके कठोर तर्कके साथ साथ आता रहता है। वेदान्त इसे ही एकमात्र अभ्युपगमकी मांग करता है। कारण इस अभ्युपगमके एक बार मान लेनेपर हम यह देख सकते हैं कि निरपेक्ष ब्रह्म जब अपनेमें अपने इस ज्योतिर्मय प्रतिबिम्बको जिसे कि हम परब्रह्म कहते हैं, डालता है तो वह माया या भ्रमके इस महान् मूलतत्त्वको सक्रिय बनाकर, किस प्रकार इस व्यक्त जगत्के विकासका मार्ग तैयार करता है और इसकी आवश्यकता उत्पन्न करता है।

इस माया-तत्त्वकी क्रियाके द्वारा वह अपने आपको सक्रिय बना देता है और तब वह महान् परिवर्तन संभव होता है जिसे उपनिषदोंने कहा है ' एक बहु हो जाता है।' परन्तु इस एक मूलभूत अभ्युपगमको कल्पनामें लाना सरल नहीं है। इसके सुनते ही यूरोपीय मनमें तुरन्त प्रयोजन-सम्बंधी यह प्रश्न सशक्त होकर और भीषण रूप धारण करके उठेगा कि वह ऐसा क्यों करता है? प्रत्येक कर्मका कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है, तब ब्रह्मने किस प्रयोजनके लिए अपने आपको सगुण माना? प्रत्येक विकास किसी कामनासे प्रेरित होता है, इसमें वृद्धि होती है, वह किसी बोधगम्य लक्ष्यकी ओर गति करता है।

ब्रह्म चूंकि निरपेक्ष है, स्वयं पूर्ण है, तब वह किस वस्तु की कामना करता है, उसे किस वृद्धिकी आवश्यकता है अथवा वह किस अप्राप्त लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिए कर्म करता है? यह प्रयोजनवादी दृष्टिकोणसे प्रश्न है; विश्व-संबंधी जो भी सिद्धान्त मूलभूत एकत्वसे प्रारंभ करता है इसका यह सार प्रश्न है। यहां एक ऐसी खाई रह जाती है कि जिसे पार करना बुद्धिको असंभव ज्ञात पडता है। निःसन्देह कुछ दर्शन एक उद्देश्यवादी समाधान देकर इस पर पुल बांधनेका प्रयत्न करते हैं। उनकी युक्ति यह है कि निरपेक्ष ब्रह्म इस कारण अभिव्यक्तिके चक्रमेंसे होकर गति करता है क्योंकि तब वह नवीन अनुभवों और संस्कारोंके निधिसे समृद्ध होकर, प्रेम, ज्ञान और कर्मसे समृद्धतर होकर अपने मूल एकत्व पर पहुँचता है। यह सचमुच एक आश्चर्य-जनक बात है कि संसारमें कोई ऐसी बुद्धियां भी होंगी जो कि इस गंभीर भ्रमको दार्शनिक सिद्धान्त माननेमें गंभीरतापूर्वक संतुष्ट होंगी।

इससे अधिक अदार्शनिक, तर्कमें अधिक असंबद्ध युक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती। जब वेद हिरण्यगर्भ ब्रह्मके विषयमें– न कि निरपेक्ष ब्रह्मके विषयमें– यह कहता है– कि वह अकेला था और अपने अकेलेपनसे भयभीत हो गया तो वह एक साहसपूर्ण उत्प्रेक्षा करता है। परन्तु इसे भी काव्यमयी उत्प्रेक्षा ही कहा जा सकता है न कि कोई गंभीर तर्क या युक्ति। यह यूरोपीय विचार जो निरपेक्ष, निर्व्यक्तिक एकत्वको एक रिक्त अभाव मानता है उस तर्क-हीन प्रतिक्रम (Recoil) से अधिक नहीं है। इस भयानक निष्कर्षसे बचनेके लिए एक ऐसे एकत्वकी कल्पना की जाती है कि जो अपने एकत्वके साथ साथ अपने परम यथार्थ स्वरूप-में– न कि प्रपचमें– बहुविध भी हो, असंख्य स्मृतियोंको अपने गर्भमें रखता हो।

इस विचारकी ठीक युक्तिको समझना कठिन है कि एकमेव तत्व जब अपने एकत्वमें पुनः प्रवेश कर जाता है तो वह अपने अनुभवोंको विस्तृत रूपमें बनाये रखता है अथवा पिंडके रूपमें, गुदेके (लुगदीके) रूपमें या सारके रूपमें रखता है। परन्तु फिर भी इस विचारमें कुछ मौलिक असंगतियां है। वहां ऐसी कल्पना की जाती है कि निरपेक्ष कोई अपूर्ण पदार्थ है और उसमें अपनी अपूर्णताका भाव जाग्रत होता है और फिर वह व्यवस्थित रूपमें उसकी पूर्ति करनेके लिए प्रवृत्त होता है; इसलिए वह कामनाके आधीन और उस कालके आधीन है जिसमें कि वह अब च्युत हो गया है।

यहां दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्ममें ये नवीन संस्कार कहांसे आते हैं कि जो उसकी अपूर्णता की पूर्ति करते है? यह और भी अधिक महत्तर रहस्य है। यदि ये स्वयं उसके भीतरसे आते हैं तो ये उसके भीतर अन्तर्हित थे, पहलेसे ही विद्यमान थे किन्तु उसे अज्ञात थे। इसलिए हमें यह कल्पना करना पडता है कि चूंकि कोई दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं था कि जहांसे वह उन्हें उत्पन्न कर सके, अतः वह अपनेमें ही ऐसी वस्तुओंको उत्पन्न करता है कि जो पहले विद्यमान नहीं थी किन्तु अब हैं। यह दर्शन नहीं है अपितु धर्मशास्त्र है, तर्क नहीं है अपितु श्रद्धा है। श्रद्धाके रूपमें यह चल सकता है; ईश्वर सर्व शक्तिमान है इसलिए वह शून्यसे, अभावसे भावकी सृष्टि कर सकता है यह एक कोरा अन्ध विश्वास है जिसे स्वीकार करने या परित्याग करनेकी हरएकको स्वतंत्रता है, परन्तु यह तर्ककी सीमासे बाहर है।

इस अभ्युपगमके स्वीकार करनेमें सबसे पहले एक विनाशकारी आपत्ति जान पडती है; ऐसा प्रतीत होता है कि यह वस्तुतः सत्ताकी समस्याके मूलभूत प्रश्नकी टालमटोल करता है अथवा समस्याके प्रारंभको दो पद पीछे हटा देता है। कारण विश्वके संबंधमें जटिल समस्या यह समझनेमें कठिनाई है कि एकमेव तत्त्व बहु क्यों हुआ और कैसे हुआ और यह कहनेसे हमारी कठिनाई दूर नहीं होती कि निर्गुण अपने आपको सगुण माननेका संकल्प करता है और इससे वह बहु होने लगता है। यदि मान लें कि मायाके सिद्धान्तसे 'किस प्रकार, 'किस विधि' के प्रश्नका संतोषदायक रूपमें उत्तर मिल जाता है, तब भी 'क्यों' यह सब व्यापार है यह प्रश्न बना रहता है। मान लो कि विकासका लक्ष्य है अनन्तका अभिव्यक्तिके चक्रमेंसे होकर अपने स्वरूपमें लौटना; किन्तु इससे यह समाधान नहीं मिलता कि यह विकास प्रारंभ क्यों हुआ और इससे लाभ क्या है।

निरपेक्ष ब्रह्म अपने मुखको विकासकी ओर क्यों घुमाता है? इस प्रश्नका कोई उत्तर संभव नहीं जान पडता; निर्गुण क्यों अपने आपको सगुण माननेका संकल्प करता है और विकासके चक्रको घुमाता है इसका कोई प्रयोजन संबंधी हेतु देना– कमसेकम ऐसा हेतु देना– जो कि निरपेक्षताके मूलभूत अर्थका अत्यधिक विरोधी न हो– असंभव है। और केवल अदार्शनिक या सदोष दार्शनिक मन ही यह सोच सकता है कि वह प्रयत्नमें सफल हुआ है। परन्तु असंभवता मायाके सिद्धान्तको असिद्ध नहीं करती; कारण वेदान्ती 'क्यों' के प्रश्नका अखंडनीय प्रत्युत्तर देकर उसका निराकरण कर देता है। वह कहता है कि ब्रह्मके संबंधमें किया गया यह प्रश्न अस्वीकार्य और अप्रासंगिक है। वह चूंकि निरपेक्ष है अतः वह स्वरूपतः कार्य-कारण-भावसे जिसपर कि आवश्यकता, उपयोगिता, प्रयोजन संबंधी सम्पूर्ण विचार आश्रित हैं, अतीत है, और उसमें प्रयोजनकी कल्पना करना उसके परात्पर और निरपेक्ष स्वभावपर प्रश्न करना है, जो कार्यकारणभावसे अतीत है उसे किसी प्रयोजनके लिए कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है।

महाशक्ति अनन्तसे यह पूछना कि उसने अपनी अनन्तताको मायामें क्यों आवृत किया, अथवा यह आग्रह करना कि विश्वको दो विकल्पोंमेंसे कोई एक चुनना पडेगा– या तो उसकी कोई उपयोगिता हो, नहीं तो उसका अस्तित्व ही न हो– यह असंबद्ध प्रलाप है; इसमें पूर्ण बौद्धिक स्पष्टताकी कमी है। यहां 'क्यों' का प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु उपयोगिताके प्रश्नको दूर हटा देनेपर भी किस प्रक्रियासे वह विश्वकी सृष्टि करता है यह समझमें नहीं आता। आप कहते हैं कि निर्गुण जब अपने आपको गुण विशिष्ट देखना चाहता है तो यह उसकी माया है। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रक्रियाका स्वभाव क्या है? यह बौद्धिक है या इच्छामय? और किस प्रकार कोई बौद्धिक या इच्छामयी प्रक्रिया सुसंगत रूपमें निरपेक्षसे संबंधित की जा सकती है?– कमसेकम इस विषयमें कोई बौद्धिक समाधानकी आशा की जाती है। परन्तु वेदान्ती

आशाके औचित्यका यत्नपूर्वक प्रतिषेध करता है। यदि "माननेका संकल्प" इसे निर्वचन योग्य तथ्यका अक्षरशः वर्णन माना जाता और इसके शब्द ठीक ठीक दार्शनिक होते तो यह आशा उचित होती।

परन्तु ये शब्द स्पष्टतया काव्यमय हैं और इसलिये तार्किक दृष्टिसे अपर्याप्त हैं। इनका उपयोग केवल इस अभिप्रायसे किया गया है कि ये मायाके तथ्यको बुद्धिके सामने अपूर्ण और सर्वथा अपर्याप्त रूपमें उपस्थित कर दें, और अनन्तके साथ व्यवहारमें शान्त वाणी और विचारके लिए केवल यही संभव है। बुद्धि और इच्छाको जैसा हम समझते हैं उनकी कोई क्रिया वस्तुतः वहां नहीं हुई है। तब फिर प्रश्न है कि क्या हुआ है? माया क्या है? वह कैसे अस्तित्वमें आई?

वेदान्त इस प्रश्नका उत्तर अपनी प्रायिक दृढ सच्चाई और विचारकी अचल स्पष्टताके साथ देता है; वह कहता है कि हम यह नहीं बतला सकते, कारण न हम जानते हैं और न जान सकते हैं; कमसेकम हम बुद्धिग्राह्य रूपमें उसका निर्वचन नहीं कर सकते, और यह इस कारण क्योंकि मायाका जन्म, यदि कोई जन्म हुआ है तो, इस संसारकी दूसरी दिशामें, देश, काल और कार्यकारण-भावकी उत्पत्तिसे पहले हुआ है। थोडा विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस ज्योतिर्मय प्रतिबिम्बको हम परब्रह्म कहते हैं उसके होनेमें भी मायाकी अनिवार्यतया आवश्यकता है।

यह एक ऐसी वस्तु है जो कि कालसे पहले बहुत दूर अन्धकारमय अतीतमें और रसातलमें हुई है, यह ऐसी अवस्था, शक्ति या क्रिया है, (उसे जो कुछ भी नाम चाहे दे सकते हैं) जो कि उस निरपेक्षमें साक्षात् क्रिया करती है जो कि अस्तित्व रखता है किन्तु हम उसे अपने विचारमें नहीं ला सकते, जो कि तथ्य रूपमें केवल प्रत्यक्ष किया जा सकता है इसकी व्याख्या या इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। इसलिए हम कहते हैं कि माया एक ऐसी वस्तु है जो कि अनिर्देश्य है; इसका हम निर्वचन नहीं कर सकते, इसके विषयमें हम यह नहीं कह सकते कि यह है, कारण यह भ्रम है, और यह भी नहीं कह सकते कि यह नहीं है, कारण यह विश्वकी जननी (माता) है। हम केवल यही अनुमान कर सकते हैं कि यह कोई ऐसी वस्तु है जो कि ब्रह्म ही सत्तामें अन्तर्निहित है और इसलिए उत्पन्न न होकर नित्य होनी चाहिये, कालगत न होकर कालसे बाहर होनी चाहिए। अपने हेतुवाक्योंसे हम इतने ही विषयपर पहुंच सकते हैं। इससे अधिक जाननेका दिखावा करना असत्यता होगा।

तब भी माया केवल काल्पित वस्तुमात्र नहीं है और न इसकी सत्ता ऐसी है कि जो सिद्ध न की जा सके। वेदान्त यह सिद्ध करनेके लिए तैयार है कि माया है; वह यह दिखानेके लिये भी तैयार है कि माया क्या है, न कि चरम तत्त्वके रूपमें अपितु परब्रह्मके अन्तर्गत और विश्वमें अभिव्यक्त रूपमें। वह यह वर्णन करनेके लिए भी तैयार है कि उसने किस प्रकार विकासकार्य प्रारंभ किया, वह बौद्धिक भाषाके रूपमें यह भी उपस्थित करनेके लिए तैयार है कि माया विश्वकी सम्पूर्ण व्यवस्थाकी पूर्णतया संभव व्याख्या है, वह यह भी कहनेको तैयार है कि सत्ताके स्वभावके साथ और वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्यके माने हुए आधारोंके साथ पूर्णतया संगत यही एकमात्र व्याख्या है। वह केवल बातके लिए तैयार नहीं है कि वह मायाके चरम अनन्त स्वरूप और मूलको ऐसी ठीक ठीक भाषामें उपस्थित करे कि जिसे शान्त मन ग्रहण कर सके। कारण दार्शनिक असंभवताओंको संभव बनानेके लिए प्रयास करना एक बौद्धिक विकासता है जिसमें मनोरंजन करनेके लिए वेदान्तीके विचार अत्यधिक स्पष्ट हैं।

तब फिर माया क्या है? जहांतक हम बुद्धिसे सोच सकते हैं उसके अनुसार माया है परब्रह्मके स्वयं स्वरूपके अन्तर्गत एक आन्तरिक आवश्यकता, उसकी अपनी आवश्यकता। हम यह देख चुके हैं कि परब्रह्म हमें तीन विषयीगत भावोंमें और उनके अनुरूप तीन विषयरूप भावोंमें जो कि उसकी सत्ताके मूलभूत स्वरूप हैं, दृष्टिगोचर होता है। परन्तु परब्रह्म वह ब्रह्म है जैसा कि उसे जीवने अपने मूल कारणकी ओर पुनरावर्त्तन करते समय देखा है; ब्रह्म अपने संकल्पसे, मायाके रूपमें बहिर्गत हुआ, मायाके पर्दोंके साथ जो कि आधे उठे हैं पूरी तरह दूर फेंके नहीं गये हैं, अपने आपको देखता है। मायाके रूप दूर हो गये हैं किन्तु अपने मूल स्वरूपकी ओर जानेवाले जीवके पीछे ड्योढीके द्वारपर मायाका मूलरूप विद्यमान है।

जिस समय जीव ड्योढीके भीतरी सिरेपर पहुंच जाता है तभी वह पूरी तरह मायाके नियंत्रणसे बाहर होता है। और मायाका मूलरूप है, सत्ता, चेतना और आनन्दको जो कि यथार्थमें एक हैं, तीन रूप देना; यहां इनका एकत्व त्रित्वके रूपमें प्रतीत होता है और एकमेव मूलस्वरूप उसी समय अनेक गुणोंके रूपमें विभक्त हो जाता है। निरपेक्ष ब्रह्म भीतरी द्वारपर ज्योतिर्मय त्रिविध (सच्चिदानन्द स्वरूप) परब्रह्म है, वह निरपेक्ष होता हुआ अभिज्ञेय है; ड्योढीकी दहलीपर वह ऐसा परब्रह्म है जो कि मायाको देख रहा है; इससे अगले पदपर वह मायामें प्रवेश जाता है जहां कि द्वैत प्रारंभ हो जाता है। पुरुष प्रकृतिसे आत्मा भौतिक द्रव्यसे, शान्त शक्तिसे, अहंकार अनहंकारसे भिन्न हो जाते हैं, और जब प्रपंचोंमें अवतरण गहरा होता है तो एकमेव पुरुष अनेक जीवोंके रूपमें विभिन्न हो जाता है, एकमात्र प्रकृति असंख्य रूपोंमें विभक्त हो जाती है। यह मायाका विधान है।

परन्तु सबसे पहला पद प्रक्षेप, शुद्ध बुद्धिकी भाषामें बोलते हुए है मूल स्वरूपको तीन विषयीभूत और तीन विषयभूत गुणोंमें देखना,– सत्ता, चेतना, आनन्द और सत्य, ज्ञान, अनन्तता। जिस क्षण ऐसा होता है तो अनिवार्य आवश्यकतासे इनके विपरीत गुण असत्ता, अचेतना, दुख तीन द्रव्योंकी अपृथक्करणीय छायाओंके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। और इनके साथ साथ विषयी-भूत त्रय असत्य, अज्ञान, परिच्छिन्नता प्रकट हो जाते हैं। परिच्छिन्नताके लिए आवश्यकता है विभाजनकी और विभाजनके लिए काल और देशकी आवश्यकता है; देश और कालके लिए आवश्यकता है कार्य-कारण-भावकी, कार्यकारण भावके लिये; जिनसे कि निर्धारित प्रपंच उत्पन्न होते हैं; परिवर्तनकी आवश्यकता है।

जिस क्षण निर्गुण अनन्त सगुण ब्रह्मका रूप धारण कर लेता है तभी द्वैतके समस्त मूलभूत नियम उत्पन्न हो जाते हैं। ये यथार्थमें और चरम रूपमें अस्तित्व नहीं रखते क्योंकि ये परब्रह्मके निरपेक्ष स्वरूपके साथ असंगत है; कारण लौकिक क्षेत्रमें भी हम इस सत्यपर पहुंच सकते हैं कि केवल रूपका विनाश होता है अतः सर्वथा विनाश भ्रम है, किसी वस्तुका असत्, अभाव होना, शून्य होना असंभव है, और सनातन ब्रह्म नष्ट नहीं हो सकता; जिसकी सत्तामें चेतना और अचेतना एक हैं वह अचेतन नहीं हो सकता; जो अनन्त और परिच्छिन्नतासे रहित है वह दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। तथापि यही वस्तुएं जिनके संबंधमें हम यह जानते हैं कि ये अस्तित्व नहीं रख सकतीं, विचारमें, अनुभवमें आती हैं और इसलिए अपनी व्यवहारिक सत्ता रखती हैं और अनित्य (सापेक्ष) यथार्थता रखती हैं। कारण माया और उसके कार्योंका यह विरोधाभास है कि हम यह नहीं कह सकते कि वे सत् हैं, क्योंकि परमार्थमें वे असंभव हैं, और हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि हमें आन्तरिक (विषयी) रूपमें उनका अनुभव करना पडता है और जब ज्ञान बहिर्मुखी होता है तो हमें उनका विषयरूपमें अनुभव होता है।

निःसन्देह यह अपने आपको तात्त्वज्ञानिक जालमें फसाना है। परन्तु इस जालसे निकलनेकी चाबी सदा हमारे हाथोंमें है, वह चाबी यह स्मरण रखना है कि परब्रह्म स्वयं उस अनिर्देश्य निरपेक्ष ब्रह्मका एक पक्ष है जो कि चेतना और अचेतनासे सत्ता और असत्तासे, परिच्छिन्नता और अनन्तासे अतीत है और उसके ये छः गुण यथार्थमें छः नहीं है अपितु एक हैं, यथार्थमें ब्रह्मके गुण नहीं हैं, अपितु अपने एकत्वमें स्वयं ब्रह्म ही हैं। केवल जब हम उनकी गुणरूपमें कल्पना करते हैं तब हमें विनाश, अचेतना और परिच्छिन्नता और उनके विपरीरूप या विषय. रूप अनुरूपों (सत्ता, चेतना, आनन्द, सत्य, ज्ञान, अनन्त) को यथार्थतायें मानना पडता है।

परन्तु हमें जो उन्हें वैसा (यथार्थ रूपमें) मानना पडता है इसका कारण है स्वय ब्रह्ममें ही स्मरणातीत कालसे अन्तर्निहित कोई वस्तु वह है रहनेका, अस्तित्व रखनेका उसका अनन्त संकल्प (अनन्त रूप धारण करनेका संकल्प)। क्षणभरके लिये हम इस तात्त्वज्ञानिक कठिन भाषाको छोड देते हैं जो कि अनन्तताके इस चक्करदार किनारे पर हमारी चक्कर काटनेवाली बुद्धिको इधर उधर भटकाती और चकराती है। उपनिषदोंकी तीक्ष्ण प्रतीकात्मक शैलीमें हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि परब्रह्म निरपेक्ष ब्रह्मका स्वयं अपने द्वारा अपनेमें ज्योतिर्मय प्रतिबिम्ब है, और इसी प्रकार माया निरपेक्षके द्वारा परब्रह्ममें डाला गया अंधकारमय प्रतिबिम्ब है; ये दोनों ही यथार्थ हैं, क्योंकि ये नित्य हैं, किन्तु पूर्णतया यथार्थ तत्त्व न तो वह ज्योति है और न

अंधकार है अपितु वह परमार्थ तत्त्व है जिसे कि वे प्रपंचों के समान केवल प्रत्युपस्थित ही नहीं करते, अपितु एक अनिर्वचनीय प्रकारसे वे हैं ही। अतः यही परब्रह्मके साथ अपना विपरीरूप संबंधवाली माया है।

प्रपंचोंमें माया सैकड़ों वंचनात्मक (भ्रमजनक) रूपोंमें विश्वाकार हो जाती है; उन रूपोंकी जटिल नाना रूपतामें हम उस एक परमसूत्रको खोजनेका दीर्घकालसे निष्फल प्रयास किया करते हैं। पुराने मनीषियोंने अनेक मुख्य मुख्य सूत्रोंका अनुमान किया, किन्तु उनमेंसे एक भी उन्हें उस मायाके रहस्यमय प्रारंभिक बिन्दु (मूल स्थान) पर नहीं ले गया। अतः श्वेताश्वतरोपनिषद्ने कहा है, "उन्होंने ध्यान-योगका अनुष्ठान करके परमदेवको आत्माकी शक्तिको उसके स्वरूपकी क्रियाओंके गुणोंमें गहराईमें छिपे देखा। + देवात्म शक्ति, परब्रह्मकी शक्ति माया है और एक दूसरे वाक्यमें कहा गया है कि उसकी दो दिशायें हैं, सम्मुखी और पराङ्मुखी जिन्हें विद्या और अविद्या कहा गया है।

अविद्या सनातनसे विद्याको आवृत करनेका यत्न करती है और विद्या सनातनसे अविद्याको हटाकर उसका स्थान ग्रहण करनेका प्रयत्न करती रहती है। अविद्या परब्रह्मकी भ्रमों या प्रतिबिम्बोंको उत्पन्न करनेवाली शक्ति है, उन पदार्थोंकी सृजनकारी शक्ति है जोकि प्रतीत होते हैं परन्तु यथार्थमें नहीं हैं। विद्या परब्रह्मकी वह शक्ति है जो कि उसकी अपनी कल्पनाओंको दूर हटाती है और उसके यथार्थ और नित्य आत्मस्वरूपपर पहुंचती है। इन दो महाशक्तियोंका एक दूसरीपर क्रिया प्रतिक्रिया करना विश्वव्यापी क्रियाका रहस्य है। अविद्याकी शक्ति सत्ताके प्रत्येक स्तरपर दृष्टि-गोचर होती है, कारण सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्बोंकी एक परम्परा है।

सूर्य प्रातःकाल निकलता है, दोपहरको नीले आकाशके शिखरपर चढ़ता है और सायंकालको नीचे उतरता है और छिपते हुए प्रकाशके बादलोंको खींच कर ले जाता है। इस अखण्डनीय सर्वप्रमाणित तथ्यमें कौन सन्देह कर सकता है? प्रतिदिन असंख्य वर्षोंसे, विश्वभरमें करोड़ों मनुष्योंकी आंखोंने इन अद्भुत यात्राओंके सत्यको सम्मिलित और अप-रिवर्तनीय रूपमें प्रमाणित किया है। इस प्रकारके विश्व-व्यापी चाक्षुष प्रमाणकी अपेक्षा और कौनसा प्रमाण अधिक निश्चयात्मक हो सकता है? परन्तु यह सब चक्षुके क्षेत्रमें अविद्यासे उत्पन्न किया हुआ प्रतिबिम्ब सिद्ध हो जाता है।

विद्या आती है और जेल और स्तम्भसे अवरुद्ध न होती हुई हमें बतलाती है कि सूर्य हमारे आकाशोंमें कभी भी यात्रा नहीं करता; वह हमारे आकाशोंसे लाखों मील दूर है, और वह हम ही हैं जो कि सूर्यके चारों ओर घूमते हैं, न कि सूर्य हमारे चारों ओर। इतना ही नहीं, स्वयं वे आकाश भी, वह नीला आकाश जिसमें कविता और धर्मने इतने अधिक सौन्दर्य और आश्चर्यका अध्ययन किया है, केवल एक प्रतिबिम्ब (Image) है जिसमें कि अविद्या हमारे वातावरणको हमारी दृष्टिके क्षेत्रमें हमारे सामने उप-स्थित करती है। वह प्रकाश भी जो कि सूर्यसे हमारे ऊपर धारा-प्रवाहमें आता है और देशको भरता प्रतीत होता है एक प्रतिबिम्बसे अधिक नहीं सिद्ध होता।

विद्या अब अपने अद्भुत विरोधाभासोंको अनेक गुणा करनेकी स्वतन्त्रतापूर्वक अनुमति पानेपर, अन्तमें हमें यह विश्वास करनेको विवश करती है कि यह केवल भौतिक द्रव्यकी गति है जो कि स्पंदनकी एक विशेष मात्रापर हमें प्रभावित करती है और मस्तिष्कपर विशेष छाप डालती है। और इस प्रकार यह समस्त पदार्थोंको उस महान् वेश्व-आकाशके केवल प्रतिबिम्ब सिद्ध करती जाती है, जो (आकाश) कि केवल वही एकमात्र अस्तित्व रखता है। कैसे आश्चर्यकी बात है कि इन दृश्यमान पदार्थोंका यह अद्भुत भवन ऐसे रिक्त सारोंका बना हुआ है! इतना ही नहीं, यह भी प्रकट हो जायगा कि जो पदार्थ जितना ही अधिक रिक्त-सार प्रतीत होता है वह उतना ही अधिक चरम परमार्थ तत्त्वके समीप होता है। वेदान्ती कहता है कि यही जिसे विद्या, (विज्ञान) सिद्ध करती है, संक्षेपमें मायाका अर्थ है।

परन्तु यह स्वप्न न देखो कि विद्याका यहीं, इस भौतिक आकाशपर ही अन्त हो जायगा और हम उसके अनावर-णोंके अन्तपर पहुंच गये हैं। वह आगे बढ़ती जायगी और हमें बतलायेगी कि विश्वका यह आकाश भी केवल एक प्रतिबिम्ब है, यह इन्द्रियगोचर वस्तुओंका और इन्द्रियोंसे

+ ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥ १।३ ॥

अनुमेय पदार्थोंका विश्व केवल अनुवादोंका एक चुनाव है; यह एक उस बृहत्तर रूपवान् विश्वके अनुवादोंमेंसे एक चुनाव है जो कि उस भौतिक द्रव्यका बना है जो कि हमारी इन्द्रियोंसे ज्ञेय या अनुमेय द्रव्यकी अपेक्षा सूक्ष्म है। और जब विद्या उस सूक्ष्म जगत्में निरीक्षण और विश्लेषणके उपयुक्त उपकरणोंके साथ प्रवेश कर जायगी तो वह उस सूक्ष्म जगत्को भी कठोरतापूर्वक उस सूक्ष्म आकाशका प्रतिबिम्ब सिद्ध करेगी जिससे वह उत्पन्न हुआ है। उस सूक्ष्म विश्वके पीछे भी सत्ताकी एक गभीरतर और बृहत्तर किन्तु सरलतर अवस्था है जहां कि उन पदार्थोंकी अनियत विश्वात्मकता है जो कि अभीतक अपने कारणोंमें अन्तर्भूत है।

यहां विद्याको भौतिक द्रव्यके साथ अपना 'अन्तिम संबंध करके हमें यह दिखलाना होगा कि पदार्थोंकी यह अनियत विश्वात्मकता हमारे अपने आत्मामें रहनेवाले किसी पदार्थका केवल एक प्रतिबिम्ब है। इस बीचमें, जिस आत्माके साथ विद्या संबंध कर रही है, निरन्तर और बलपूर्वक हमें यह मनवानेका प्रयत्न करेगी कि वह सब जिसे हम अपनी आत्मा मानते हैं, वह सब जिसमें हमारी अविद्या संतोषपूर्वक निवास करती है, केवल कल्पना और रूप है। हमारे भीतर जो पशुभाव है वह आग्रह करता है कि यह शरीर ही यथार्थ आत्मा है और उसकी आवश्यकताओंकी तृप्ति करना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है। परन्तु विद्या (जिसके विषयमें प्रो० हेकेलकी विश्वकी पहेली अन्तिम वाक्य नहीं है) हमें सावधान करती है कि हम अपने आत्माका उन प्राथमिक पाशवरूपोंसे तादात्म्य न करें जो कि प्राणिक अन्तर्वेगोंके समूहके केन्द्र हैं। निश्चय ही यह न्यूटन, शेक्सपीयर, बुद्ध और संत फ्रांसिसका परमार्थतत्व नहीं है।

इसके अनन्तर हम प्राणिक अन्तर्वेगोंमें अपनी सत्ताके दृढ आधारको खोजते हैं। परन्तु इनके विषयमें भी विद्या यह निर्णय करती है कि ये भी अविद्याकृत भ्रम या प्रतिबिंब हैं; कारण यथार्थमें ये प्राणिक अन्तर्वेग अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते अपितु वे पाशवरूपोंके भौतिक समूह और हमारे भीतरकी कोई वस्तु जिसे हम मन कहते हैं - इन दोनोंके बीचमें स्थापित की हुई केवल एक कडी रूप है। विद्या हमें दीर्घकालतक इस भूलमें न रहने देगी कि मन भी एक प्रतिबिम्बसे कुछ अधिक है; यह प्रतिबिंब शरीरके भौतिक समुदाय (पिंड) और कोई वस्तु जो भौतिक संस्थानका शासन करती और अनुप्राणित करती है, इन दोनोंके मध्यमें होनेवाले संवेदनों और संवेदनोंके प्रति प्रत्युत्तर इन दोनोंके परस्पर कर्मसे उत्पन्न होता है।

यह शासकशक्ति जो कि मनपर क्रिया करती है एक ऐसा तत्व है जो कि विवेक, चुनाव, आदेश, व्यवस्था करती और प्रयोजन रखती है, जिसे वेदान्तने बुद्धि कहा है। अन्तमें यह सिद्ध होता है कि बुद्धि भी कोई स्वतंत्र तत्व नही है अपितु केवल एक प्रतिबिम्ब हैं, और विद्या अन्तमें हमें यह दिखलायगी कि शरीर, प्राण, मन और बुद्धि ये सब उसके प्रतिबिम्ब हैं जिसे दर्शनशास्त्र कहता है आनन्द, सत्ता रखनेका सुख या जीवित रहनेका संकल्प। और विद्या अन्तमें हमें यह प्रकाशित करेगी कि यद्यपि यह संकल्प अपने आपको असंख्य रूपोंमें विभक्त करता है जो कि जीवोंका रूप धारण करते हैं तथापि ये सब एकमात्र महान् वैश्व अस्तित्व रखनेके संकल्पके प्रतिबिम्ब हैं; जिस प्रकार कि समस्त भौतिक रूप एक महान् वैश्व भौतिक द्रव्यकी अभिन्न विश्वात्मकताके केवल प्रतिबिम्ब हैं, जिसे हम चाहें तो कारण-आकाश कह सकते हैं। वह संकल्प पुरुष है, वह वैश्वात्मकता प्रकृति है, और ये दोनों परब्रह्मके केवल प्रतिबिम्ब हैं।

इस प्रकार बहुत संक्षेपमें और अपर्याप्त रूपमें वेदान्तकी मायाका सिद्धान्त है, यहां केवल उसके कुछ मुख्य सिद्धान्तोंका निरूपण किया गया है, इसके लिए विश्लेषणात्मक विद्या (भौतिक विज्ञान) इसे बिल्कुल न जानती हुई, प्रमाणके विशाल समूहको बढाती जा रही है। यह विद्या (भौतिक विज्ञान) जिस प्रत्येक नवीन निश्चयताको बढाती है, उस समूहकी वृद्धि करती है, और जहां वह अपूर्ण है और अज्ञेयवादी होनी चाहिए वहां वेदान्त उसके विश्लेषणसे कोई सहायता नहीं लेता। विद्या (भौतिक विज्ञान) की पूर्तिका अर्थ है अविद्यापर अन्तिम विजय और मायाका पूरा अनावरण। (क्रमशः)

—अनु०- श्री. केशवदेवजी आचार्य

क्या हस्तसामुद्रिक शास्त्र है ?

: लेखक :

पं. गणेश रामचंद्र घाटेशास्त्री,

हस्तसामुद्रिक, मिरज

⊙

आजतक पिछले पचास वर्षोंके मेरे हस्तसामुद्रिकके धंधेमें मुझे जो अनुभव प्राप्त हुए, उनमें मेरे हरएक ग्राहकने मुझे ऊपरी दिया हुआ सवाल सबसे पहले पूछा है। उनके इस सवालसे मेरी हरबार जाँच हो गई है। मेरे इस अनुभवोंसे सिद्ध हुए प्रयत्नोंसे मैंने इस प्रश्नके यथोचित उत्तर देनेकी कोशिश की है। इसलिये मैं यहाँ उसी समस्याकी उलझन आज पाठकोंके सामने रख रहा हूँ।

सभी विद्वान् लोग मानते हैं कि, खगोलशास्त्र (Austronomy) यह शास्त्र है। जिसपर फलज्योतिष (Austrology) निर्भर रहता है। खगोलकी ग्रहमालाके परिणाम पृथ्वीके ऊपर होते हैं। जिसकी बदौलत अनाज और औषधियां पैदा होती हैं या बरबाद होती हैं। संग्राम छिड जाते हैं या शांतता फैल जाती है, यह कहा जा सकता है। इसी तरह मनुष्यके पैदा होनेके समय उसके जन्मकुंडलीमें जैसे ग्रह आये होंगे उसपर जन्म-मौत और उसके अनुभव वगैरह कहा जाता है। जिसे फलज्योतिष कहते हैं। इस फलज्योतिषके कई ग्रंथ पूर्वाचार्योंने रचे हैं। उनके मुताबिक अनुभव भी आने लगे इसीलिये इस शास्त्रमें हर कामकी शुरुआतके लिये ' मुहूर्त प्रकरण ' तैयार किया। उसके बारेमें भी प्रमाणित ग्रन्थ तैयार हुए। ये सभी ग्रंथ सर्वमान्य हो चुके हैं। इसके अलावा कई ग्रंथ परदेशियोंके आक्रमणमें, अग्निके मुखमें और भूचाल आदि आपदोंमें बरबाद हुए होंगे, यह बात तो अलग। तिसपर उन शास्त्रोंके मशहूर ग्रंथ पीढियोंसे कायम टिके हैं।

जिनकी पढाईका सिलसिला अभी जारी है। मगर सामुद्रिककी वैसी बात नहीं है। सामुद्रिक शास्त्रके संबन्धमें सर्वमान्य ग्रंथ तो नहीं दीख पडते। कुछ नाम सुने जाते हैं। वे ग्रंथ कहां है इसका कोई पता नहीं चलता। अगर कोई उनका पता देगा तो हम उन्हें धन्यवाद देंगे। हस्तसजीवनी, जैनसामुद्रिक, सामुद्रिकतिलक, प्रह्लादसामुद्रिक, वीर मित्रोदय, नारदसामुद्रिक वगैरह नाम सुने हैं। लेकिन ये ग्रंथ अभीतक मुझे उपलब्ध नहीं है। परंपरा भी बिलकुल नहीं। तो भी मैं अपने चार तपोंके मिहनतसे बता सकता हूँ कि पहले सामुद्रिक यह बडा शास्त्र माना जाता था। तफसील या सबूतके न होनेसे ऊपर जैसे सवाल लोग पूछा करते हैं। और इसीलिये इस बारेका सब साहित्य मैंने पचास सालोंमें जुटाकर इस सवालका जवाब देनेका साहस कर रहा हूँ।

फलज्योतिष यह खगोलशास्त्रका ही एक हिस्सा है। और खगोलशास्त्र यह शास्त्र है। इसलिये फलज्योतिष यह जिस तरह शास्त्र है उसी तरह हस्तसामुद्रिक यह भी शास्त्र ही है। क्योंकि उसके फल, काल और समयके मुता-

िक फलज्योतिष जैसे ही अनुभवके बाद सच मालूम पडते हैं। जिसका रेकार्ड मैंने अपने पास हिफाजतसे रखा है।

तारीख १ मार्च १९२५ ई. को सांगली रियासतके श्रीमान् राजासाहबसे मेरी मुलाकात उनके बंगलेपर हुई। जब रावसा. ही. डी. ऋषिजीके प्लँचेटके सहारे कुछ प्रयोग चल रहे थे और उसी वक्त उनमें जुदा जुदा शास्त्रविषयोंपर बहस हो रहा था। 'भविष्यशास्त्र' यह चर्चाका विषय था। मेरी बातचीतसे राजासाहबको समाधान हुआ, इसलिये आपने मुझे बरवस रख लिया। और कुछ सवाल पूछे। आपके कहनेका मतलब यह था कि सामुद्रिकसे भविष्य कहते वक्त फलज्योतिषका भी साथ चाहिये याने सामुद्रिकको फलज्योतिषकी भी जानकारी जरूरी है।

दरअसल सामुद्रिकशास्त्र यह स्वतंत्र शास्त्र है। और मेरा धंधा सिर्फ सामुद्रिकका है। और इसलिये कि, सामुद्रिकमें किसीकी भी मिलावट न होनी चाहिये ऐसी मेरी धारणा होनेके कारण मैंने राजासाहबसे कहा, 'आप राजा हैं। आपके राज्यशासनमें अनेकों मोहकमें हैं। जिनमें शिक्षा विभाग भी एक प्रमुख है। और उसमें गणित खास महत्व रखता है। गणितका सवाल अंकगणितके जरीये हल किया जाय या बीजगणितके जरीये। नतीजा तो एक ही होना चाहिये। ऐसा होते हुए भी अंकगणितसे हल करनेवाला बीजगणितका साथ लें या बीजगणितके जरीये हल करनेवाला अंकगणितका साथ ले लें ऐसा कोई नियम नहीं है। सुनते ही महाराज समझ गये, और बोले, 'फलज्योतिष यह अंकगणित है और सामुद्रिक बीजगणित। ठीक! मैं समझ गया। खुद लोकमान्य तिलकजीने मुझे प्रशस्तिपत्र देते हुये कहा है कि 'जहाँतक फलज्योतिष शास्त्र है वैसे सामुद्रिक भी। इस तरह आपने इस शास्त्रको सम्मानित किया है। उनके ही शब्द नीचे दिये हैं।

"I can Safely say that, according to this method the palmistry can be relied upon as much if not more than Austrology."

नाशिकके संस्कृतिज्ञानशालाके विद्यावाचस्पति आचार्य श्रीराम गोसावीजीकी पहली भेंट मिरजमें १९४० को हुई। उस समय वे सामुद्रिक जानना चाहते थे। लेकिन कुछ ज्योतिषज्ञोंने उन्हें बताया था कि फलज्योतिषकी जानकारीके सिवा सामुद्रिककी जानकारी आपको न होगी। इस लिये वे कुछ निराशसे हो गए थे। लेकिन मेरे पास पचास वर्षोंके भविष्यकथन सिर्फ हस्तसामुद्रिकका रेकार्ड और वह तो हरएकके स्वाक्षरी कबूलीका है, यह मालूम होते ही वे देखने आये और सामुद्रिक यह शास्त्र है इस बातको उन्होंने महसूस किया।

यहाँ मुझे कहते खुशी होती है कि सामुद्रिकको स्वतंत्र स्थान होना और रखना चाहिये इस मेरी धारणाको लोकमान्य तिलकजीने ताईद की और फलज्योतिषकी ओर बिलकुल न मुडनेकी सलाह दी।

फलज्योतिषको जिस तरह जन्मकुंडलीकी जरूरत है उसी तरह सामुद्रिकको साफसुथरे तलुएकी जरूरत है। अगर तलुएकी निशानियाँ, या सिरसे पैंडीतक कोई पूरा व्यक्ति मिल जाय तो उसका स्वभाव, उसके संस्कार, उसी तरह उसकी बिमारियाँ, उसका हस्ताक्षर, उसकी शिक्षा, उसमें कामयाबी, ब्याह-विवाह, स्त्रियोंके बयान, विवाहके तरीके संतान, बेरोजगार-हकीम, उसकी बढाघटी, दिवानी फौजदारी मुकदमे, नौकरी चाकरी उसमें मिलनेवाले ओहदे, वेतनोंके प्रमाण वगैरह छोटी बडी बातें बतायी जाती हैं। और वह सब सही निकलती है। मराठीमें इस मतलबकी कहावत है कि हाथकी कंगनके लिये आईनेकी जरूरत नहीं है। वैद्यकशास्त्र या कानूनीशास्त्र जिस तरह निष्णात डाक्टर या होशियार वकीलकी सहायता करता है उस तरह हस्तसामुद्रिकोंको उनका शास्त्र निर्णय देनेके काममें आता है। वैद्यकशास्त्र और कानूनशास्त्र अगर शास्त्र हैं तो फलज्योतिष और हस्तसामुद्रिक ये भी शास्त्र मानने पडेंगे। क्योंकि वे गणितशास्त्र और भूगोलशास्त्रपर अवलंबित है।

सिवा इसके, वैद्यकशास्त्र, कानून, फलज्योतिष वगैरहका जिस तरह इतिहास है, उसी तरह हस्तसामुद्रिकका भी है। उसका भी पुराने जमानेसे प्रचार दीख पडता है। हमारे पुराणग्रंथोंमें, श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णके पाँवोंपर जो चिन्ह थे। उनका बयान नीचेके श्लोकमें है।

संचिंतयेद्भगवतश्चरणारविंदं, वज्रांकुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यं। उत्तुंग रक्त विलस-

अब्जचक्रवालं, ज्योत्स्नाभिराहतमधुद्हृदयां-धकारम् ॥ १ ॥ (श्रीमद्भागवत स्कंध ३, अ. २८, श्लोक २१)

अर्थ- वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल आदि चिन्होंसे शोभित और ऊँचा, लाल और मांसल भगवान्‌के चरण अपने भक्तोंके हृदयमें छाया हुआ अधकार अपने तेजसे हटाते हैं। उन भगवच्चरणोंका ध्यान करना चाहिये।

ब्रह्मदेवने पृथु राजाका हाथ देखकर उसे अवतारपुरुष मान लिया, उसके बारेमें यूँ कहा है—

ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्यसुरेश्वरैः। वैन्यस्य (पृथु) दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिन्हं गदाभृतः ॥९॥
पादयोररविंदं च तं वै मेने हरेः कलाम् ॥
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिमनः ॥ १० ॥
(श्रीमद्भागवत स्कंध ४, अ. १५)

अर्थ- जगद्गुरु ब्रह्मदेव देवश्रेष्ठोंके साथ आया और उसने पृथु राजाने दायें हाथपर गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी निशानी जो चक्र वह देखा। और दोनों पाँवोंपर कमलचिन्ह देखकर यह साक्षात् हरिका एक अंश है, यह जान लिया। सिवा इसके, जिसके हाथपर चक्रचिन्ह स्पष्ट होता है वह भगवान्‌का अंश होता है। इससे पुराण कालके पहले सामुद्रिकशास्त्रकी प्रगति अच्छी हुई थी यह मानना पडेगा। पुराणकाल इनके पहले लगभग ५००० साल पीछे होगा ऐसा अनुमान तिलकजीने अपने गीतारहस्यमें निकाला है। इससे सामुद्रिककी प्राचीनता प्रतीत होती है। ई. स. पूर्व ३००० साल पहले चीनमें, २००० साल पहले यूनानमें और उसीके लगभग योरोप, रोम आदि देशोंमें हस्तसामुद्रिकको विद्या मानते थे। और लोग जानते थे। आजकल भी योरोपमें जर्मनी, फ्रांस और अमरीकामें इस विद्याका प्रसार और प्रचार बहुत ही जल्द हो रहा है। हस्तसामुद्रिकपर कई बडे बडे ग्रंथ रचे जाते हैं और उसके सस्करणोंके पीछे संस्करण निकाले जाते हैं। लेकिन हमारे देशमें तो इस विषयकी चाह होते हुए भी इसकी तरफसे मुँह मोड लिया जाता है।

"सामुद्रिक" शब्दकी मूल व्युत्पत्ति मेरी रायसे यह है। पहले समुद्र नामके एक ऋषि थे। इन्होंने पहले सामुद्रिक ग्रंथ लिखा। इसलिये "समुद्रेणकथितं, सामुद्रिकं" ऐसा शब्द हुआ होगा। उनके लिखे ग्रंथमें सिर्फ हस्तरेखाके बारेमें ही नहीं लिखा है बल्कि सभी शरीरका बयान है। सामुद्रिक शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति "मुद्रिकायाः सहितं" इस तरह लगायी जा सकती है। सामुद्रिकशास्त्रका आरंभ चिन्होंसे होगा यह श्रीमद्भागवतमें भगवान् कृष्णके पांवोंके चिन्होंकी बयानसे सिद्ध होता है। ये चिन्ह सभी शरीरपर होते हैं। ब्रह्मदेवने पृथुराजाके हाथोंपरके चिन्ह देखकर उसे भगवान् अंश मान लिया इससे तलुवेपर मार्ककी निशानियाँ होती है यह मानी हुई बात है।

हस्तसामुद्रिक

मेरे पास आजतकका जो हस्तसंग्रह है उसमें चार वर्षोंमें मुझे एक अत्यंत शुभचिन्ह मिला है। यह छायाचित्रके साथ आपके सामने पेश कर रहा हूँ। जिसको 'नेत्रचिन्ह' कहते हैं।

नेत्रचिन्हका सिक्का

सूर्यचंद्रलता नेत्रं, अष्टकोणं, त्रिकोणकं ॥
मंदिरं, गज, अश्वानां चिन्हं धनी सुखी नरः ॥

अर्थ- सूरज, चाँद, लता, आँख, अष्टकोण, त्रिकोण,

मंदिर, गज, घोडा इन चिन्होंके मालिक बहुत ही सुखी होते हैं।

ऊपरके तलुयेपर बुध और रविके पहाडी उभारोंके बीचमें नेत्रचिन्ह है, जो वर्तुलमें दिखाया है। और जो एक श्रीमान् और मालदार, पीढियोंसे भाग्यवान् आदमीके तलुयेपर हैं। इसके कई मकान बबईमें हैं और हरसाल उनकी संख्या एक एक करके बढती ही जाती है। इससे "नेत्रचिन्ह" का महत्त्व प्रतीत होता है।

फलज्योतिषमें जैसी कुडलीके ग्रहोंके स्थान, उनके आपसके योग, युति और प्रतियुति वगैरह कई बातोंपर सोचना पडता है, उसी तरह सामुद्रिकशास्त्रमें व्यक्तिके सभी अंगोंको गौरकर देखना पडता है। सब शरीरका गठन, उसका सत्त्व, गंध, उसके अंगों प्रत्यंगोंपरके चिन्ह वगैरहका पूरा परीश्रम करनेके लिये साल दो साल भी कम होंगे। सब शरीरकी सारभूत देवलिपी याने तलुयेपर होनेवाली रेखाएं। जिनका परीक्षण करके इस आदमीकी मौततकका भविष्य लिखनेमें कमसेकम १०-१५ घंटे जरूर लगते हैं। इस तरह किये हुए कामका समाधान कई विद्वानोंको हुआ, जिससे उन्होंने मुझे इस विषयपर पुस्तक लिखनेकी ताइद की। लेकिन मुझे अभीतक नये नये आनेवाले अनुभवोंसे कई अनुभव जमा करना जरूरी है। तो भी मैंने कई आपदोंमेंसे मेरे प्राणोंसे भी ज्यादह रेकार्ड जतन कर लिया है। महात्मा गांधीजीकी मौतके बाद महाराष्ट्रमें जो हलचल मची, उस समय मेरा यह रेकार्ड मिरजमें था। तो भी भगवान्‌की कृपासे, पचास सालोंकी तपश्चर्याका फल, यह बडा रेकार्ड, सुरक्षित रह गया है। इसीलिये ये सबूत पेश करके "हस्तसामुद्रिक यह शास्त्र है" यह सिद्ध करनेमें थोडा बहुत सफल हो रहा हूं। ऊपरके सभी विवेचनसे "हस्तसामुद्रिक यह शास्त्र है" जिसकी जानकारी आप लोगोंको हो जाय यही उम्मीद है।

यजुर्वेद अध्याय १९ वें का स्वाध्याय

[लेखक- श्री. अनंतानंद सरस्वती, वेदपाठी]

१६ वें मंत्रका देवता यज्ञ है ।। १६ ।।

आसन्दी रूपध्ं राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी। अन्तर उत्तर वेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ।।१६।।

पदार्थ— गृहस्थाश्रममें किन किन नाम रूपवाले पदार्थोंकी आवश्यकता पडती है सो इस मंत्रमें उपदेश है कि, हे मनुष्यों ! तुमको योग्य है कि, (आसन्दी) वर्तन विशेष जलादि रखनेके लिये वह उसका (रूपम्) सुन्दर रूप क्रियासे सिद्ध किया जाता है । (राजासन्द्यै) राजा-लोग जिसपर बैठते हैं उसका प्रत्यक्षरूप बरादरीके सदृश बनाओ, तथा उसमें स्वयं राजाके बैठनेके लिये (वेद्यै) यज्ञ वेदीके समान ऐसे रूपवाली बनवालेवे वह राजाको सुखप्रास करानेवाली, मान प्रतिष्ठाके साथ वर्तने योग्य होवे आगे (कुम्भी) कूपके समान अन्न धान्यका भरणधरण करनेवालोंका रूप यह ऐसा जाने उसी प्रकार (सुराधानी) सोम रस जिसमें धरा जावे वह गगरी वैसी होती है। (अन्तरः) अन्न दूध, दही, शहद, घृत, भल्लातकी सुंठी और द्राक्षादि फल जिनसे जीवन होता है, आयु बढता है उन पदार्थोंका सगतिकरण नाम अपने गृहोंमें संग्रह करो । इन सबका ज्ञान तुम सबको नहीं होता है तब इसके उत्तर का बोध (करोतरः) उन सबका निर्माता उत्कृष्ट कर्मकारी प्रजापति शिल्पक होता है इसे ही ऊपर प्रदर्शित आसन्दी आदिका निर्माता जानो वह उनको बनाना जानता है जैसे (भिषक्) रोगका निदान करके विद्वानवैद्यजी औषध संयुक्त करके मनुष्योंको सुखी करता है वैसे ही शिल्पी लोग सब संसारीजनोंको सुखी करते हैं तब उनकी पितृ-संज्ञा क्यों न होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य जिस जिस कार्यको करनेकी इच्छा करे उसके समस्त साधनोंको स्वयं बनावें, अथवा कर्मकारी पुरुषोंसे बनवाके इनका संचय करें ॥ १६ ॥

१७ वें मंत्रका देवता यज्ञ है, वाचकलुप्तालंकार है ॥ १७ ॥

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम् । यूपेन यूप आप्यते प्रणीतो अग्निरग्निना ।।१७।।

पदार्थ— हे मनुष्यों ! जैसे विद्वान् शिल्पी लोग शिल्प-यज्ञको (वेद्या) शिल्पविज्ञानके ऐरण, हतोडा, सन्नी वा करणी, बसोली आदि साधनोंसे (बर्हिषा) महापुरुषार्थसे सिद्ध किये गृहसे (बर्हिः) स्वीकार करने योग्य अति हित शीत, उष्ण, वर्षा आदि ऋतुओंमें सुखदायक गृहको (आप्यते) सब ओर से गृहस्थी लोग प्राप्त होते हैं जो यह है जिसमें (ऐन्द्रियम्) धन पशु धान्य आदि तथा यज्ञ वेदी ये सब इन्द्रियोंको सुख देनेवाले पदार्थ धरे जाते हैं (समाप्यते) सम्यक् प्रकारसे प्राप्त किये जाते हैं उन गृहोंमें तुम वसनेके योग्य हो कि, (यूपेन) लोहा, लकडी, पत्थर, चूना, मिट्टी और ईंट आदिके मिले जुले व्यवहारसे घरके सब अवयवोंको पालन करने योग्य गृहको सिद्ध करो वा कराओ, जिस प्रकार (प्रणीतः) प्रकर्षताके साथ (अग्निना) भौतिक अग्निसे सवर्षक यंत्रोंको तारके साथ सम्मिलित किया जाता है और विद्युत् अग्निको प्रकट किया जाता है वह गृहस्थाश्रमको अभ्युदय सिद्ध करता है वैसे तुम सब लोग सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राज-कीय उन्नति करो ॥ १७ ॥

भावार्थ— गृहका नाम बर्हिः है । बर्हि जो केश, और पुरुषार्थका भी वाचक शब्द है । जो पुरुष अपने कर्मकी सिद्धिके साधनोंको स्वयं सिद्ध करके पुन. उन साधनोंसे अपने और दूसरोंके कर्मोंको भी सिद्ध करते हैं वे पितर और जो दूसरोंसे अपने कार्योंको सिद्ध कराते हैं वे देव कहाते हैं ॥ १७ ॥

१८ वें मन्त्रका देवता गृहपति है ॥ १८ ॥

हविर्धानं यदश्विनाग्नीध्रं यत् सरस्वती इन्द्रायैन्द्रध्ं सदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः ।। १८ ।।

पदार्थ- हे चारों वर्णस्थ द्विजो और शूद्र जनो ! जैसे (अश्विना) विद्वान् और विषयी स्त्रीपुरुषोने मिलके (यत्) जिसमें (हविर्धान) रसोई बनानेका महानस रसोडा (कृतम्) चतुराईसे बनाया है तथा (यत्) जो बांस

आदिकी पलडी भोजन रखनेके लिये पात्रवत् बनाई है और (पत्नीशालम्) पति पत्नीके एकांत वास करनेके घर विशेषका (कृतम्) निर्माण किया है। तथा (सदः) जिस भवनमें सब साधारण व अपने संबन्धी लोग भी आकर रहते हैं उन सब (गार्हपत्यम्) गृहस्थका संयोगी धर्म है उसके बनानेवाले शिल्पकोंका सत्कार नित्य प्रति अपने गृहोंमें बुलाकर प्रेमभावसे किया करो जिससे ईश्वर प्रसन्न होके इन निवास स्थानोंमें तुम लोगोंको प्रसन्न रखे और तुम उनमें वास करते हुए (इन्द्राय) ऐश्वर्यसे सुखके भोगके (ऐन्द्रम्) ऐश्वर्य सम्बन्धी सब प्रकारसे भरपूर हो तो परस्पर उपकारी बनो ॥ १८ ॥

भावार्थ— इस मंत्रमें वाचकलुप्तालंकार है सो वाचक शिल्पी यज्ञका देवता है वह यज्ञ गृह और उसमें नाना प्रकारके सुख साधनोंका निर्माण करता है। अतः प्रच्छन्न रूपसे गृहस्थोंको उपदेश करता है कि, जैसे स्थूल देहधारी तुम हो वैसे हो मेरे औरस पुत्र शिल्पकार हैं तुम उनकी दयासे, विद्या बुद्धि और कर्म चेष्टासे ऐश्वर्यको सिद्ध करते हो उस ऐश्वर्यका उपयोग तुम अकेले ही मत करो किन्तु उपकारी शिल्पकारोंको साथ लेकर किया करो यह ही गार्हपत्य सर्वोत्तम धर्म है ॥ १८ ॥

१९ वें मंत्रका देवता यज्ञ है ॥ १९ ॥ अधिप्रजायक्ष।

प्रै॒षेभिः॑ प्रै॒षाना॑प्नोति आ॒प्रीभि॑रा॒प्रीर्य॒ज्ञस्य॑ ।
प्र॒या॒जेभि॑रनुया॒जान्व॑षट्का॒रेभि॒राहु॑तीः ॥१९॥

पदार्थ— (प्रैषेभिः) समाचार आदिके भेजने रूप कर्मोंसे वा तारयंत्रोंसे (प्रैषान्) भेजने योग्य तारयंत्रोंको और भृत्योंको [त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः] प्रशंसापूर्वक प्रेमसे कि, तू क्रांतदर्शी बुद्धिमान् चतुर है अतः तू दूत है हम आपका स्वीकार करते हैं। (आप्रीभिः) प्रशंसावचनोंका उच्चारण करके जो सबको सब ओरसे प्रसन्नता करने वाले व्यवहारका वा क्रियाओंका (आप्रीः) सर्वथा प्रीति करनेवाली परिचारिका स्त्रियोंसे रोगियोंकी सेवाको (प्रयाजेभिः) शिल्परूप प्रयाजकी उत्तमोत्तम कर्म साधनोंसे (अनुयाजान्) यज्ञ हवन ऋषि कर्म गृहनिर्माण कूपखनन आदि सुखद कर्मोंको और (यज्ञस्य) देवपूजा, संगतिकरण और दान इन तीनों कर्म रूप यज्ञकी (वषट्कारेभिः) अन्न, धन, वस्त्र, अथवा खीरके रूपकोंसे संगति करणकी सिद्धि स्वीकृत यंत्र कलाओंसे जिन यंत्रोंसे, (वष्ट वष्ट वषट् ऐसे ध्वन्यात्मक शब्द प्रतीत होते) दान देशकाल पात्रकी परीक्षा करके धनादि पदार्थोंसे (आहुतीः) बुलाकर सत्कार करना संयुक्त करना वा अग्निमें छोडने योग्य आहुतियोंको प्राप्त होता है वह सुखी रहता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— जो मनुष्योंमें सुशिक्षित वेदके शब्द अर्थ और संबंधके कर्मोंको करके सेवकोंसे युक्त स्वय अपने साधनों और उपसाधनोंवाला होता है वह स्वयं सुखी और श्रेष्ठ कर्मोंद्वारा औरोंको भी सुखी करनेमें समर्थ होता है वह शिल्पी ही हो सकता है ॥ १९ ॥

२० वें मंत्रका देवता यज्ञपान है ॥ २० ॥

प॒शुभिः॑ प॒शूना॑प्नोति पु॒रो॒डाशै॑र्ह॒वींष्या ।
छन्दो॑भिः सामिधे॒नीर्या॒ज्या॒भिर्व॑षट्का॒रान् ॥२९॥

पदार्थ— इस मन्त्रमें पशु आदि वाचक हैं और शिल्प शास्त्रके प्रणेता तथा उन शिल्पकारोंसे जो शिल्प कर्मको क्रियासे सीखनेवाले शिष्य लोग होते हैं वे लुप्त हैं अतः (पशुभिः) जैसे सद्गृहस्थ गौ आदि पशुओंके देखनेके व्यवहारसे (पशून्) गौसे अन्य भैंस वा गवय आदिके व्यवहारोंको जान लेता है। वैसे ही शिल्पविद्याको सीखनेवाले धीमान् ज्ञान कर्मके जिज्ञासु पुरुष अपने गुरुवर शिल्प शिक्षकके करते हुए कर्मको नेत्रोंसे देखकर शिल्पकर्मोंकी क्रियाको (आ) सब प्रकार आनन्दपूर्वक (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है। जैसे (पुरोडाशैः) रसोई घरमें रसोइये वा देवियोंसे पकाये हुए उत्तम पदार्थोंसे (हवींषि) देने ग्रहण करने योग्य भोजनोंको अथवा हवन करने योग्य मोहनभोग खिचडी आदि उत्तम पदार्थोंको खाता वा हवन करता है वैसे ही शिल्पकसे नाना विधि विधानसे सिद्ध किये कार्य साधक यंत्र सामग्रीको स्वयं निर्माण करनेवाले क्रिया कलापको सीखता और वह दूसरोंको भी सिखानेमें समर्थ होता है शिल्प कला; विना विद्वान्के सिखाये, विना देखकर ध्यानमें जमाये, कदापि साध्य नहीं हो सकती। जैसे (छन्दोभिः) गायत्री आदि छन्दोंकी विद्यासे साम गायन करनेवाला पुरुष उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन तीनोंके उच्चारण भेदोंके सहित सप्त सहज पंचम आदि स्वरोंको उच्चारण कर गानेसे गवैया गान्धर्व बन जाता और वह (सामिधेनी.) समिधाके समान ऋचाओंको प्राप्त होता

है तथा जिससे अग्नि प्रदीप्त हो उन सुन्दर समिधाओंको प्राप्त करके हवन कर्मको करनेवाला बनता है वैसे ही शिल्प विद्याका जिज्ञासु नाना प्रकारके कर्म साधनोंसे शिल्प कर्म करनेमें प्रवीण हो जाता है। और जैसे (याज्याभिः) संगतिकरणकी संधियोंके अवयवोंसे शिल्प यज्ञकी क्रियाओंसे (वषट्कारैः) यंत्रोंके अव्यक्त ध्वनियोंको ध्वन्यात्मक शब्दोंमें परिणत करके विविध प्रकारके यंत्रोंको करनेमें समर्थ हो जाता है वैसे ही जो धर्मयुक्त क्रियाओंको करते हैं शिल्पीलोग उनको भी (आ आप्नोति , प्राप्त होते हैं वैसे सबके सब काम सीखने चाहिये ॥ २० ॥

भावार्थ— जो इस संसारमें बहुत पशुओंकी रक्षा करता है वैसे ही शिल्पविद्यासे भी संसारका बहुत उपकार होता है उपकार कर्ममें शिल्पकारका पार करना अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि शिल्पके विना पशुरक्षण और यज्ञके पात्र आदिके विना यज्ञ भी नहीं हो सकता है तस्माद्धि शिल्पी ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति ॥ २० ॥

२१ वें मंत्रका देवता सोम है। भक्तिविशेषेति वा ॥ २१ ॥

धानाः क॒र॒म्भः सक्त॑वः परीवा॒पः पयो॒ दधि॑ । सोम॑स्य रू॒पꣳह॒विष॑ आ॒मिक्षा॑ वा॒जिन॒म्मधु॑॥२१॥

पदार्थ— इस मन्त्रका अर्थ ऋषिवर दयानन्दसरस्वतीजीने अधिप्रज्ञाको लक्ष्यमें लेकर किया है सो ठीक है। हम उपको अध्यात्ममें लेकर अर्थ करते हैं। अतः सोम देवताका तात्पर्य भक्तिविशेष विषय समझें। ईश्वरके लिये स्वात्मा बुद्धि और मनको (हविषः) दानवत् वा होमकी सामग्रीके सदृश समर्पण करने योग्य ध्यान योगरूप (सोमस्य) भक्तिकी अनन्य भावना द्वारा प्राणापानको खींचकर मस्तिष्कमें स्थिरताका अभ्यास करते करते समाधिरूप रसके (रूपम्) उभय आत्मस्वरूपको देखे, इस चित्तकी स्थिरताके प्राप्त करनेमें आत्मस्थ कामादिविकार (धानाः) ब्रह्माग्निके प्रकाश रूप ज्ञानसे भस्मके समान वा भूने हुए धानकी खीलोंके सदृश पुनः वपनके अयोग्य बन जाते हैं परन्तु प्राणायाम तथा प्रत्याहार करता हुआ (करम्भः) स्वात्मा मन आदिके मथनका साधन बनाते रहनेपर वैषयिक सम्पत्ति (सक्तवः) पिसकर अत्यन्त सूक्ष्म कराकर सदुपयुक्त बना लेवे, जिससे वे विकार (परीवाप) सब ओरसे उनका बीज बोनेके समान संस्कार भी आत्मामें न रह जावें। परन्तु इस प्रकारकी समाधि सिद्धिके हेतु मुमुक्षु योगीको (वाजिनम्) प्रशस्त अन्न चावल (पयः) वर्षाका जल वा गौका दूध (दधि) दही घृत (आमिक्षा) श्रीखंड दही भात मिश्री मिला हुआ भोजनका सेवन करना योग्य होगा और शरीरमें प्राणायाम करनेसे वायुका प्रकुपित होनेका सम्भव होता है तन्निवारणार्थ (मधु) शहदका सेवन करते रहना चाहिये। उनके गुणोंको जानो ॥ २१ ॥

भावार्थ— मुमुक्षु योगी और विज्ञान प्रिय लोग अपने इन्द्रिय मन बुद्धि और आत्माको प्राणायाम और योगाभ्याससे प्रत्याहार नाम बाह्य विषयोंको परे हटाता हुआ एक मात्र ईश्वर रूप अग्निमें झोंक देवे तथा स्थिर चित्त हो जावें तब ईश्वरकी गोदमें विराजमान हो जाता है और तभी स्वात्मा स्वरूपका बुद्धिसे परे केवल प्रज्ञान घन ब्रह्मका साक्षी बन जाता है उस अधिकरणमें यह जीवात्मा मोक्षका अधिकारी बनके विज्ञानको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो जाता है उन योनियोंको विज्ञान ही रुचिकर विषय बन जाता है। और वे सांसारिक भौतिक विषयोंसे निवृत्त होकर ऐसे बन जाते हैं जैसे भाडके बालू (रेत) में भुना हुआ धान्य उगनेमें असमर्थ बन जाता है। वे योगी संसारमें नपुंसकवत् विचरते हैं। वे ससारी लोगोंको स्वादु लगने लगते है ॥ २१ ॥

२२ वें मंत्रका देवता यज्ञ है (आत्मयज्ञरूप है)।

धा॒नाना॑ꣳरू॒पं कुव॑लं परीवा॒पस्य॑ गो॒धूमाः॑ । सक्तू॑नाꣳरू॒पम्बद॑रमुप॒वाकाः॑ कर॒म्भस्य॑ ॥२२॥

पदार्थ— हे मुमुक्षु योगी लोगों ! तुम प्राणायाम योगाभ्यासमें देखे जैसे (धानानाम्) भूंजे हुए जौ आदि अन्नका सौरभयुक्त फूला-सा (कुवलम्) कोमल और बेरके चमकदार मनोहर रूप होते हैं तथा (परीवापस्य) काम, क्रोध, लोभ मोह और अहङ्कारको जीतकर पिसान आदिका और (गोधूमाः) गेहूके (सक्तुम्) सत्तूको देखते हैं तो उन दोनोंके (रूपम्) एक समान रूप बन जाते हैं, वे दोनों योगी और विज्ञानी (बदरम्) बेरफलके समान सुन्दर वर्ण युक्त कान्तिमान् बन जाते हैं (करम्भस्य) वे दोनों कर्म विपाककी आभाको प्राप्त हुए मिलकर इस जनसमाजके लिये वैसे ही सिद्ध होते हैं जैसे जौ और गेहूके सत्तू दही मिले हुएका (उपवाका) समीप प्राप्त होकर देखनेमें वे पहिचान हो जाते हैं। देखे

तुम मुमुक्षु और योगी दोनों देव, पितर और चारों वर्ण तथा आश्रमोंके भेदभावोंको मत जानो, मनुष्यमात्रके लिये सुखकारी बन जाना चाहिये ॥ २२ ॥

भावार्थ— इस मंत्रमें रूपकालंकार है। विज्ञानप्रिय पितर वा शिल्पनिपुण ब्राह्मण और ऋतम्भरा प्राप्त योगी पुरुष ये दोनों ईश्वरको प्राप्त होकर दोनों ही प्राणीमात्रके हितैषी होते हैं; उनमें देव, असुर ब्राह्मण, क्षत्रिय और आश्रमोंके विषय अहंभाव वैसे ही मिट जाते हैं जैसे भूजे हुए जौ आदि अन्नका नाश हो जाता है वे सर्वप्रिय बन जाते हैं ॥ २२ ॥

२३ वें मंत्रका देवता सोम है (भक्तिकी चरमसीमा)

पर्यसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि । सोमस्य रूपं वाजिनꣳसौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥२३॥

पदार्थ— हे ईश्वरभक्त जनों ! तुम लोग ईश्वरभक्तिमें ऐसे विलीन हो जाओ जैसे (यत्-यवाः) जो जौ अन्न हैं इनको भूंजके वा कच्चोंको ही पीसके (पयस.) पानी वा दूधके साथ मिला देनेपर वे एक ही श्वेत (रूपम्) स्वस्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं केवल ज्ञानगम्य ज्ञानी लोगोंको ही ज्ञाननेत्रोंसे उनकी भिन्नता बनी रहती है, स्वरूपमें एक समान प्रतिभायुक्त होते हैं। वैसे ही (कर्कन्धूनि) मोटे पके हुए बेर वा श्वेतरंगके खरबूजेके गुद्देको पीसके पानीमें मन्थन किया जाता है तो वे (दध्नः) दहीके समान (रूपम्) रूप वाले देख पडते हैं। और जैसे (सोमस्य) प्रचुर श्रद्धा, प्रेम और विश्वासके साथ अनन्य भक्तिरसका (रूपम्) स्वात्मा सत् चित् स्वरूप ही है उसको ईश्वरके सत् चित् स्वरूपमें प्रविष्ट करे तो (आमिक्षा) दूध दहीके संयोगसे वह दूध दहीके ही रूपमें परिणत हो जाता है तथा दूध दहीके संयोगसे बने पदार्थके समान (सौम्यस्य) शुभ गुण युक्त सौम्य स्वभावका जो जनताको चन्द्रमाके समान शान्त शीतलताको देनेवाले (रूपम्) आनन्दस्वरूपको सिद्ध किया करो ॥ २३ ॥

भावार्थ— इस मंत्रमें वाचकलुप्तालङ्कार है। योगियोंको चाहिये अपने आत्माको कामादि विकारोंके कुसंस्कारोंसे परिष्कृत करके विज्ञानघन सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वरमें कारणदेह सहित विलीन हो जावे और जैसे ईश्वर सोमस्वरूप है वैसे ही आप भी उससे संयुक्त होकर सौम्य स्वभावपूर्ण आनन्द स्वरूप हो जावें ॥ २३ ॥

उक्त मंत्रमें दूध दही और सक्तूको मिलानेके विधानसे यह भी जाने कि, वात पित्त कफके सम विषम प्रकोपसे उत्पन्न हुए रोगोंके लिये भिन्न भिन्न औषधियोंके मिलानसे उन रोगोंका निवारण होता है मननशील वैद्य लोग जान सकते हैं ॥ २३ ॥

२४ वें मंत्रका देवता विद्वान् है ॥ २४ ॥

आ श्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावो अनुरूपः । यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा येयजामहाः ॥२४॥

पदार्थ— हे प्राप्तविज्ञानपुरुष ! अब तू अन्य मुमुक्षु जनोंको अष्टांग योगके रहस्योंकी शिक्षा वा विद्या (आ, श्रावय) सब ओरसे सुनाओ, हे हस्तक्रियामें कुशल कारीगर ! वा वैद्यवर ! तू अविद्वान् जिज्ञासु स्त्रीपुरुषोंको शिल्पविद्याको सुना जो सुननेके अधिकारी शिल्प और वैद्यकमें (स्तोत्रियाः) स्तुति करने योग्य हैं इनको (प्रत्याश्रावः) जैसे हो वैसे क्रिया कलापसे जो प्रतीक बनानेकी क्रिया है वह भी सुनाया करो वैसे ही राजके (अनुरूपः) अनुकूल साधन सामग्री द्रव्यमय यज्ञ और शिल्पमय यज्ञ इन दोनोंकी रूपरेखाको समझाते रहो वैसे ही (ये, यजामहाः) जो लोग पचमहायज्ञोंको करनेवाले गृहस्थाश्रमी द्विज हैं उनके प्रति यज्ञोंको सुनाया करो, (इति) इसी प्रकार (यजेति) संगतकरनेकी शिल्पविद्याकी क्रियाके अवयव जोड तोड विविध भेद हैं उन (प्रगाथाः) के जो अच्छे प्रकार गानवत् स्पष्ट कथन कर प्रकट करने योग्य बातें हैं उनको प्रत्यक्ष सुनाया कर यही (धाय्यरूपम्) मनुष्योंके परस्पर सब विद्याओंके धारण करनेके विधिका स्वरूप है और दूसरा मार्ग नहीं है ॥ २४ ॥

भावार्थ— ईश्वरका विज्ञानघनस्वरूप दयालु उपकारी स्वभाव है उसको प्राप्त होकर ही मनुष्य विज्ञानवान् बन जाता है अतः उस ईश्वरसे प्राप्तविज्ञानका श्रवण दूसरोंको भी कराया करो जिससे मानवसमाज अभ्युदय और निःश्रेयसका भागी बने ॥ २४ ॥

२५ वें मंत्रका देवता सोम (मेल मिलापका उपदेश है)

अर्धऋचैरुक्थानाꣳरूपं पदैराप्नोति निविदः । प्रणवैःशस्त्राणाꣳरूपं पयसा सोममाप्यते ॥२५॥

पदार्थ— जो विद्वान् मुमुक्षु और विज्ञानप्रिय योगी पुरुष (पयसा) जल क्रियाके साथ (सोमः) भांग, गांजा जौ दर्भ मूल और गौके दूध इनको विधिपूर्वक उबालकर धोकर पीसकर (आप्यते) पीता है, वही योगीजन (अर्द्ध ऋचैः) (अग्निमूइळेऽइम्) इस आश्री ऋचासे (उक्थानाम रूपम्) कथन करने योग्य (वृद्धिरादैच) इन सूत्रोंके रूप (अइउण्) जो चतुर्दश (१४) हैं उनको प्राप्त होता है और (पदैः) ' ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि विभ्रत. ' इन अथर्ववेदके पदोंसे दश लकार और सातों कारकोंके (रूपम्) स्वरूप जो सुबन्त तिङन्त नामक आख्यातपद हैं (निविदः) निश्चयसे विचारपूर्वक विदित हो जाते हैं। तथा (प्रणवैः) ओंकारसे, जो (अ उ म्) ओम् अव्ययपद । तथा ॐ ये तीन प्रकारके ओम् हैं उनसे (शस्त्राणाम्) त्रिशूल, खांडा, भाला, तलवार, चाकू, छुरी, आदि आयुधोंके रूपोंका बोध हो जाता है ॥ २५ ॥

भावार्थ— (अग्निम्) इस सुबन्तपदमें (अ ग्- न् इ-अ-म्) तीन स्वर और तीन ही व्यञ्जन वर्ण संगठित हो रहे हैं। उस अग्नि शब्दके परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि ये दो अर्थ होते हैं। तब अग्नि, अग्नि ऐसे दो पदोंका ग्रहण कर लिया जाता है उन दोनों पदोंमें अ इ, को पृथक् करके भौतिक अग्निके पदमेंसे अकारका छेदन कर लिया गया तो (उ+र्) वैसे उकार और रेफ दो वर्ण उपलब्ध हो जाते हैं। उससे अ इ उ उस र् रेफ और न् नकारको मिश्रण करके ण् वर्ण बनाया गया है उससे अ इ उ ण् सूत्र बना लिया है ॥१॥ वह अकार अनंत विराट् है तथा नित्य अजर अमर है उसको इकारके साथ मिलाप करके ए-(अ उ-ओ अ+ए=ऐ अ+ओ=औ+ग्+न् का मिश्रण ङ् तस्मात् (ए-ओङ् ॥ २ ॥ ऐऔच् ॥ ३ ॥ ये तीन सूत्र। वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ इस अष्टाध्यायीके प्रथम सूत्रका मूल हैं। जिसका अर्थ आ ऐ औ इन तीन वर्णोंकी वृद्धि संज्ञा होती है।

२ ये त्रिसप्ताः। जो तीन और सातका योग १० होता है सो लडादि लकार भवति भवतः भवन्ति आदि समस्त आख्यात त्रिकके रूप बनते हैं तथा सातों कर्त्रादि कारकोंके साथ तिया इक्कीस (७×३=२१) रूप बनते हैं। उन दोनोंके विधानसे सब वेद शास्त्रोंके रूपमें भरणपोषण हो रहे है। उसी प्रकार ओम् जाप करनेसे ईश्वरानुग्रहसे शस्त्रोंके रूप विदित हो जाते हैं। यह त्रिशूलका रूप है यह रूप खांडे का है तथाच यह भाला है इत्यादि वेदोंमें सब सत्य विद्यायें ओतप्रोत हो रही है ॥ २५ ॥

२६ वें मंत्रका देवता यज्ञ है। (ब्रह्मचर्यके भेद जानो)

अश्विभ्यां प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम् ।
वैश्वदेवꣳसरस्वत्या तृतीयमाप्तꣳसवनम् ॥२६॥

पदार्थ— जो ब्रह्मचारी योगाभ्यास प्राणायाम आत्मा मनःसंकल्पसे सूर्य और चन्द्रमाकी गौणाशिक्षासे सम्पन्न हो। २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है। वह उसका प्रथम वा (प्रातः सवनम्) प्रातःकालके सूर्यके सौम्य तेजके समान वेदके शब्दका सेवन करनेमें समर्थ होता है जिसकी योग्यता वेदकी चर्चा मात्र करनेसे हो जाती है। वह (इन्द्रेण) विद्युन्मय मनसे विश्वकर्मा, इन्द्रसे (ऐन्द्रम्) भौतिक बिजलीविद्याका ग्रहण करके ऐश्वर्यकारक अभ्युदयको प्राप्त कर सकता है जो पञ्चमहा-यज्ञोंसे लेकर अश्वमेध गोमेध यज्ञोंका आचार्य पद है उसको प्राप्त हो सकता है। दूसरा ३६ वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी (सरस्वत्या) ऋग्वेद यजुर्वेदकी सत्य वाणीको कण्ठस्थ और मनन करनेसे (माध्यन्दिनम्) मध्याह्न कालमें जैसे सूर्य चन्द्रके तेजको निस्तेज कर देता है और अपने प्रखर तेजःपुञ्ज प्रकाशसे स्वयं प्रकट रहता है वैसे ही वह स्वात्मा शरीरकी (सवनम्) आरोग्यता करने-वाला होकर वह शिल्पविद्याको सीखकर यज्ञ यावत् होमादि कर्मोंके करनेवाला हो जाता है और (तृतीयम्) तीसरा आदित्य ब्रह्मचारी ४८ वर्षका ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला सायंकालकी सूर्यकिरणें जैसे प्राणीमात्रको विश्रान्ति देने-वाली होती हैं वैसे वह चारों वेदोंकी वाचाका अधिष्ठान प्राप्त करके (वैश्वदेवम्) सम्पूर्ण विद्वानोंके सत्कार करनेमें समर्थ और सब राजा प्रजासे सम्मानित होकर आप्तपुरुष पदवीको प्राप्त होता है यही शान्तचित्त तीसरा सवन है।

भावार्थ— जो भूत, भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालोंमें सब मनुष्य आदि प्राणियोंका हित करते हैं वे ही वेदके विद्वान् लोग जगत्के हितकारी वा उपकारी बनते हैं

बिना शिल्पके चाहे वह लोह काष्ठमय हो वा आयुर्वेदविद्या हो कोई भी जगत्‌का उपकारी नहीं बन सकता ऐसे जानें ॥ २६ ॥

२७ वे मंत्रका देवता यज्ञ है (आयुरूप यज्ञ है)

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम् ।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति ॥ २७ ॥

पदार्थ— जो विज्ञानवेत्ता पदार्थविद्याविद् विद्वान् (वायव्यैः) वायुमें होनेवाले गुणों या वायु जिनका देवता दिव्यगुणोत्पादक है उन उन पदार्थोंसे अनेक शिल्पकर्म सिद्ध कर सकता है वे सब खेलनेके सामान (वायव्यानि) वायुमें या वायु गुणोंके द्वारा प्रवृत्त वा संचरित होनेवाले नानाविध पखे आदि बनाकर अग्नि जल आदिको उपयोगमें ले आनेमें (आप्नोति) समर्थ होता है। (स तेन) जल अग्नि वायुके विभागयुक्त कर्म ज्ञानसे (द्रोणकलशम्) जलको मापनेवाले यंत्र वायुके परिणामको दर्शानेवाले घटरूप कलशोंको (आप्नोति) प्राप्त होता है (कुम्भीभ्याम्) जल और धान्य रखनेके समान पात्रोंसे (अम्भृणौ) जिनसे जल और अग्नि धारण किये जाते हैं। अम्-इम्-उम् इस प्रकारके शब्द वा ध्वानियोंको धारण किया जाता है ऐसे बाष्प धारण करनेवाले (सुते) दो यन्त्रोंसे दो प्रकारके रसोंको यंत्र विशेषमें संयुक्त करना सहज होता है। (स्थालीभिः) उन यंत्रोंकी उपमा लोटोंसे (दो पात्रोंसे) दी जाती हैं जिनमें अग्नि द्वारा जल अन्न पकाया वा धर दिया जाता है उनसे (स्थालीः) स्थिरतामें विलीन होनेवाली क्रियाको (आप्नोति) प्राप्त होता है वही ऐश्वर्यका उत्पादक होता है ॥ २७ ॥

भावार्थ— वायुके गुणोंका ज्ञान प्राप्त करके उनसे जो वायुको धारण करके चलनेवाले पखे आदिकी रचना करें तो बहुत धनवान् बन सकते हैं तथा वैद्यलोग नाडीस्थ वायुके वात पित्त कफ गुणोंको भिन्न भिन्न भेदोंको जानकर औषधियोंका निर्माण कर सकते है। तथा पृथिवीमें सप्तधातु निहित रहते हैं उनके विभागोंसे धातुओंके ताम्बा जस्ता चांदी सोना आदिके अनेक भांडे द्रोण कलश आदिको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २७ ॥

२८ वें मन्त्रका देवता यज्ञ है (शिल्पकर्मका विषय है)

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहै स्तोमाश्च विष्टुतीः।
छन्दोभिरुक्था शस्त्राणि साम्ना वभृथ आप्यते ॥ २८ ॥

पदार्थ— हे मनुष्यो ! तुम लोगोंको जिन (यजुर्भिः) यजनीय शिल्पविद्याके (ग्रहाः) अवयवको ग्रहण करनेयोग्य साधनोंको जिनसे समस्त क्रिया काण्डका ग्रहण किया जाता है तथा उनके उपादेय व्यवहारोंको (ग्रहै.) ग्रहण किये हुए साधनोंको सिद्ध करके कार्य कुशल बनो। ऋग्वेदके (स्तोमा.) पदार्थोंके गुणोंकी जानकारीरूप प्रशंसाको समझो (च) और (विष्टुतीः) विविध प्रकारकी स्तुतियोंकी (छन्दोभिः) शुभ वैदिककर्मानुष्ठानोंसे तथा गायत्र्यादि छन्दोंके मननसे वा विद्वान् शिल्पी जिस प्रकार पदार्थोंके गुणोंकी व्याख्या कर उपदेश करें उससे (उक्था शस्त्राणि) कथन करने योग्य वेदके स्तोत्र और तलवार बन्दूक आदि शस्त्र (आप्यन्ते) प्राप्त होते हैं उनकी यथावत् क्रियाको हस्तगत करना चाहिये तथा (साम्ना) अध्यात्मविद्या सामवेदसे (अवभृथ.) आत्मिक संशोधन (आप्यते) प्राप्त होता है उनका उपयोग यथावत् करना चाहिये ॥२८॥

भावार्थ—कोई भी मनुष्य वेदाभ्यासके बिना या वेदार्थ सम्बन्धके कर्म करनेवाले शिल्प निपुण विद्वान्‌के बिना सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वेदोंकी विद्याओंको प्राप्त करने योग्य नहीं हो सकता। हां वेदज्ञ विद्वान् सामवेदकी स्तुति और उपासना द्वारा भक्ति विशेषसे भी वेदोंकी विद्याके सम्बन्धोंका ज्ञाता बन सकता है ॥ २८ ॥

श्री ऐलूष कवष शूद्र थे ?

(लेखक : श्री दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत, देहली)

वैदिकधर्मके स्वाध्यायशील पाठकोंको विदित होगा कि, वैदिकधर्मके ३०।२ अङ्कमें 'मेरा क्या महिदास शूद्र थे ?' यह निबंध प्रकाशित हुआ था, जिसकी आलोचना श्री शिवपूजनसिंहजीकुशवाहाने 'क्या ऋषि महिदास ब्राह्मण थे ?' इस शीर्षकसे वैदिकधर्म ३१।३ अङ्कमें की थी; इसमें मेरे प्रमाणोपपत्तियोंका कुछ भी प्रत्युत्तर न देकर कुशवाहाजीने प्राय. आर्य सामाजिक वा सुधारक विचारवाले व्यक्तियोंकी निष्प्रमाण तथा निरुपपत्तिक 'साध्य' साक्षियां देकर ऐतरेय ब्राह्मणके प्रवक्ता श्री महीदासको शूद्र सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी, पर निर्मूलता होनेसे वे उसमें सफल न हो सके। तथापि पाठक महोदयोंके सन्देह निवारणार्थ मैंने कुशवाहाजीके लेखकी सर्वाङ्गीण प्रत्यालोचना "वैदिकधर्म" के ३१।५ अङ्कमें कर दी थी। उसके अन्तमें मैंने श्रीकवष विषयक अपने निबंधकी जो 'वैदिकधर्मके' ३१।२ अङ्कमें छपा था आलोचनार्थ श्रीकुशवाहाजीको प्रेरणा की, और लिखा कि- आप उस आलोचनामें केवल श्रीसामश्रमीजीके पिछलगुवा वर्तमान अर्वाचीन विचारवालोंकी सम्मति न दें, क्योंकि उनके निष्प्रमाण तथा निरुपपत्तिक होनेसे उनसे कोई लाभ नहीं, उनका दिङ्मात्र निर्देश करके मैं उनको आलोचित कर ही चुका हूं, या आप सामश्रमीजीसे प्राचीन विद्वानोंका प्रमाण दें या फिर सायणादि भाष्यकार वा पुराणेतिहास आदिका प्रमाण दे, जिससे आपका पक्ष पुष्ट हो, पर आपने इस प्रेरणापर ध्यान नहीं दिया। आपने फिर इसमें भी वैसा ही व्यर्थका परिश्रम कर डाला है। मै आपके लेखकी प्रतीक्षा 'वैदिकधर्म' में कर रहा था, पर मुझे वहां न मिलकर दिल्लीके सार्वदेशिकके ३०।१२ अङ्कमें मिला। -

मैं वैदिकधर्मके स्वाध्यायशील पाठकोंको बता दूं कि- पथिकजीने मूल विषयपर विचार तो किया ही नहीं। केवल अर्वाचीन एवं साध्य साक्षियोंके बलपर निर्मूल बात कभी सिद्ध नहीं हो सकती। आपने जिनकी साक्षियां दी हैं, वे या तो आर्यसमाजी हैं, या सुधारक हैं; जिनकी शूद्र समाजसे आजकलके देशकालानुसार शास्त्रविरुद्ध भी सहानुभूति हैं, और कई लोग श्रीसामश्रमीजीके लेखसे भी प्रभावित होकर क्योंकि वे आजकालके शिक्षित समाजमें वेदके धुरन्धर पण्डित माने गये है- विना स्वयं विशेष अनुसन्धान किये उनके अर्थपर मोहित होकर स्वयं भी उनके पक्षके हो गये हैं। पर एक अनुसन्धानकर्ता तथा सत्यान्वेषी व्यक्तिका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह केवल दूसरोंकी बातपर पतित न होकर स्वयं भी इधर-उधरकी गवेषणा करे, मूल सूत्रोंका पर्यवेक्षण करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो समझना पडेगा कि- वह अनुसन्धानकर्ता नहीं वा सत्यान्वेषी नहीं; किन्तु वह पक्षपाती है वा किसी सङ्कुचित समाजका सदस्य वा प्रेमी है अथवा गतानुगतिक है वैसा होनेसे वह कभी मूल सत्यको नहीं प्राप्त कर सकता, यह अत्यन्त सुनिश्चित बात है।

यदि पथिकजी सचमुच ही अनुसन्धानकर्ता हैं तो उन्होंने श्री सत्यव्रत सामश्रमीजीके पिछलगुवाओंके ही लेख क्यों संगृहीत किये ? उससे पूर्वके लेख- जहां ऐलूष कवषका शूद्रत्व कहा हो क्यों नहीं संगृहीत किये ? इससे स्पष्ट है कि- यह पक्ष केवल श्रीसामश्रमीजीपर ही अवलंबित है। उनकी प्रमाणोपपत्तियोंका हमने समीक्षण कर दिया है। 'प्रधानमल्ल निबर्हण' न्यायसे उनके पीछेवालोंकी समीक्षा स्वयं हो गई। फिर आपने उन्हे मेरे समक्ष किसलिये उपस्थित किया ?

आरम्भमें आप लिखते हैं कि- "मैं एक सत्यान्वेषी व्यक्ति हूं; मुझे शास्त्रीजीके लेख पढनेसे ज्ञात हुआ कि- आप व्याकरणका लठ्ठ लेकर साधारण जनताकी आंखमें धूल झोंक सकते हैं।"

महाशय ! जब हमारा भारतीय वाङ्मय संस्कृत भाषामें है, तो वहां शब्दार्थ करनेके लिये संस्कृत व्याकरणका आश्रय क्या लेना पडेगा ? मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदका वा

किसी लौकिकशास्त्रका अर्थ जानना हो, वा किसी साधारण भी शब्दका अर्थ जानना हो, वहां क्या वेदाङ्ग व्याकरणका आश्रय नहीं लेना पडता। इस बातको लिखकर जहां आप व्याकरणकी निन्दा कर रहे हैं वहां "अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते" इस बातको क्या आप चरितार्थ तो नहीं कर रहे ?

महोदय ! यदि व्याकरणका परिनिष्ठित ज्ञान न हो तो "नताद् ब्राह्मणम्" इस वैदिक वाक्यमें स्कूलका ग्रामर पढा हुआ व्यक्ति "नताद्" को पञ्चमी समझ लेगा; जब कि व्याकरणानुसार यह द्वितीया है। व्याकरणका परिनिष्ठित ज्ञान न होनेपर 'देवानांप्रियः' इस अलुक् समासान्त शब्दका अर्थ कोई "विद्वानोंका प्यारा" कर देगा; जब कि- अलुक् समासमें इसका अर्थ 'मूर्ख' है।

केवल कोष ही लेकर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक, वेदका अर्थ किया जावे, इसीलिये 'दास्याः-पुत्र' इस अलुक् समासके प्रयोगका भी शूद्राका पुत्र अर्थ कर दिया जाय; तो फिर 'मातुर्दिधिषु मब्रवस्वसुर्जारः शृणोतुनः' (ऋ. ६।५५।५) इस मन्त्रका अर्थ आप अश्लील मान लेंगे ! महाभाग ! क्षमा कीजिये ! आपने "व्याकरणका लट्ठ" ये शब्द उचितताकी सीमाको अतिक्रमण करनेवाले लिख डाले हैं। आपने इस वाक्यसे मुझे गाली नहीं दी है; किन्तु विद्वानोंकी दृष्टिमें आपने आपको गाली दी है। तब फिर संस्कृत साहित्यमें व्याकरणानभिज्ञका कोई अधिकार भी नहीं रह जाता- यह बात नहीं भूलनी पडेगी। मैंने यदि यहां व्याकरणका गलत उपयोग किया हो तो मुझे अब भी निगृहीत किया जा सकता है; पर आप उसपर कुछ लिखें तो पता लगे कि मेरा पक्ष गलत है ? वा आप ही अबतक गलतफहमीमें रहे।

आगे आप मुझपर अन्य कृपा करते हैं कि- "कभी सूतजीको, कभी ऐतरेय महिदासको ब्राह्मण बनानेके लिये प्रयास करते हैं।" महाशय !

यह दोनों ब्राह्मण तो हैं ही; मैं इन्हें नया ब्राह्मण क्या बनाऊंगा हां ! जिन लोगोंने अछूतोद्धारके निरर्गल प्रेमी बनकर निष्प्रमाण बहुतोंको जिनमें सूतजी, श्रीमहीदास, श्रीकवष, श्रीवाल्मीकि, श्रीकक्षीवान् आदि हैं, शूद्र बना डाला हो, हमारा कर्तव्य हो जाता है कि- उस भ्रमको दूर करें। पहिले आपने सूतजीको लिया है; सो इसमें आप केवल एक आध प्रमाण देख लें, सुप्रसिद्ध 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में पहिले सङ्कर सूत आदि जातियोंका निरूपण किया है। फिर पुराणश्रुत सूतकी वर्णसङ्करता प्रसक्त होनेपर श्रीचाणक्यने उसका खण्डन किया है- 'पौराणिकस्तु अन्यः सूतो मागधश्च ब्रह्म क्षत्राद् विशेषः' (३।७।३१) अर्थात् पुराण-प्रवक्ता सूत तथा मागध वर्णसङ्कर नहीं, किन्तु सूत ब्राह्मण-श्रेष्ठ है और मागध क्षत्रिय-श्रेष्ठ है। पुराणोंमें भी यह स्पष्ट किया है, तब इसे ब्राह्मण क्यों न माना जाय ? इस विषयमें हिन्दीमें मेरा लेख 'कल्याण' (२०१६) में प्रकाशित हो चुका है; और संस्कृतमें 'संस्कृत रत्नाकर' जयपुर (१३।८-९-१०-११) अङ्कोंमें निकल चुका है ? इस विषयमें सप्रमाण लेखनी चलाना चाहें तो चला सकते हैं; आपको प्रत्युत्तर मिलेगा, पर अर्वाचीन आजकलके सुधारकोंकी साक्षीसे कुछ नहीं बनेगा। ऐतरेय महिदास पर तो हम सप्रमाणोपपत्तिक लिख ही चुके हैं। एक अन्य भी ऐतरेयकी ब्राह्मण-पुत्रताका प्रमाण देख लें। 'स्कन्दपुराण' के कौमारखण्डमें (४२ अध्याय) नारदने अर्जुनको सुनाया है 'माण्डूकिरिति विप्राग्र्यो वेदवेदाङ्गपारगः' (४२।२९) तस्यासीदितरा नाम भार्या साध्वी गुणैर्युता। तस्यामुत्पन्न सुतस्त्वैतरेय इति स्मृतः (३०) इत्यादि यहां ऐतरेयका पिता ब्राह्मण बताया गया है; उसकी स्त्रीका 'इतरा' यह नाम तथा उसे साध्वी व गुणयुक्ता बताया गया है। अतः कुशवाहाजीका पक्ष सर्वथा निर्मूल हो गया। बिना मूल बातोंका विचार किये आप उलाहना देनेमें अधिकृत कैसे हैं ?

आगे आप लिखते हैं- 'आप पं. सत्यव्रतजी सामश्रमी, पं. शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ, पं. भगवद्दत्तजी बी. ए. के सिद्धान्तोंको नहीं मानना चाहते' इसपर उत्तर यह है कि इनका पक्ष इस विषयमें भ्रान्त तथा निर्मूल है; तब उनके सिद्धान्तोंको क्यों माना जाय ? क्या आप इनकी सब बातें वा सिद्धान्त मानते हैं ? आगे आप ऐतरेय ब्राह्मणकी उक्त कण्डिका उपस्थित करते हैं; इसमें आपने 'दास्याः-पुत्रः' का अर्थ 'दासीपुत्र' कर डाला है, पर वहांका आप प्रकरण तथा स्वारस्य नहीं देखते। ऋषियोंने उसे गाली-प्रदानकी तरह 'दास्याः पुत्रः' शब्दसे अधिक्षिप्त

किया है। इस विषयमें व्याकरणका प्रमाण तो मैं गत निबन्धमें लिख ही चुका हूं कि- उक्त प्रयोग आक्रोश (निन्दा, झूठी बात) के लिये कहा जाता है। मैं निन्दाका लक्षण आपके स्वामीजीसे अभिमत लिख चुका हूं, पर आप व्याकरणके लठ्ठसे हडबडा गये। अब आपके समक्ष मधुर प्रमाण काव्य नाटकोंके उपस्थित करता हूं; जिनसे सिद्ध हो जावेगा कि- 'दास्याः पुत्रः' का अर्थ अलुक्समासमें गालिप्रदानमात्रमें विश्रान्त होता है। आप सावधान होकर सुनें।

श्रीकालिदास-प्रणीत 'अभिज्ञान-शकुन्तल' नाटकके द्वितीयाङ्कके एक संस्करणमें सेनापतिके लिये 'गच्छ भो ! **दास्याः-पुत्र** ! स्खलितस्ते उत्साहवृत्तान्तः' यहांपर विदूषक द्वारा उक्तपद कहना आक्रोश ही है तत्त्ववाद नहीं। क्या कुशवाहाजी 'दास्याः पुत्रः' शब्दसे सेनापतिको शूद्राका लडका मान लेंगे ? वस्तुत 'दास्याः पुत्र' यह शब्द गालि-प्रदान अर्थमें प्रयुक्त होता आ रहा है; जैसे कि, श्रीमान् अम्बिकादत्त व्याससे प्रणीत 'शिवराज विजय' के अन्तिम सप्तम निःश्वासमें 'मन्ये न कोपि जागर्ति सर्वे अत्यन्तगाढनिद्रया सुप्ता एते **दास्याः पुत्राः**' यहांपर गाली अर्थमें प्रयोग किया गया है। अथवा "जैसे मृच्छकटिकके प्रथमाङ्कमें विदूषकने धनको 'दास्याः पुत्रः' कहा है। देखिये ! 'एते खलु **दास्याः पुत्रा** अर्थाः' सो क्या श्रीकुशवाहाजी इस शब्दके प्रयोगमात्रसे धनको शूद्राका पुत्र मान लेंगे ? हन्त !!!"

इसी प्रकार उसी नाटकके तृतीयाङ्कमें विदूषक कहता है 'किमत्र उजयिन्यां कोपि चौरो नास्ति ! य एतद् **दास्याः पुत्रं** (सुवर्णभाण्डं) नापहरति' यहांपर पथिकजी 'दास्याः पुत्र' शब्दसे क्या सोनेके पात्रको किसी शूद्राका पुत्र मान लेंगे ? स्पष्ट है कि यहां सुवर्ण-भाण्डकी रक्षासे तङ्ग आकर विदूषकने उसे 'दास्याः पुत्रः' शब्दसे गाली निकाली है। उसी नाटकके पञ्चमाङ्कमें विदूषकने दुर्दिनके लिये कहा है '**दास्याः पुत्र** ! दुर्दिन (मेघाच्छन्नदिन !)' दुर्दिनके शूद्रापुत्र न होनेपर उसे वैसा कहनेमें उसका निन्दा अर्थमें पर्यवसान हो जाता है।

शकुन्तला नाटकके द्वितीयाङ्कमें विदूषकका सेनापतिके प्रति यह वाक्य 'त्वं तावद् **दास्या-पुत्रः** अटवीतः अटवीमाहिण्डमान. कस्यापि-जीर्ण-ऋक्षस्य मुखे निपतितो भव' यहांपर सेनापतिको तथा 'ही ही भोः ! **एष दास्याः पुत्रः** कुसुमरसपाटच्चरो दुष्टमधुकरः तत्रभवत्या वदन कमलमभिलषति' इस षष्ठ अङ्कके वाक्यमें भ्रमरको 'दास्याः पुत्र' कहा गया है। इसी तरह श्रीहर्षप्रणीत नागानन्द नाटकके तृतीयाङ्कमें 'प्रेक्षे तावत् किं **दास्याः-पुत्रा** मधुकराः करिष्यन्ति' भी जान लें। इससे न तो सेनापति ही किसी शूद्राका लडका बन जाता है न भौंरा ही। केवल इस प्रकारका शब्द निन्दा वाचकतामें पर्यवसित हो जाता है। अनुसन्धानकर्ताजी कह सकते हैं कि, 'ये जितने उदाहरणगर्भित प्रमाण दिये गये हैं, इनमें ब्राह्मणपात्र कोई नहीं है, जिसे 'दास्याः पुत्र' कहकर अधिक्षिप्त किया गया हो। तब 'कवष' को दास्या-पुत्र कहनेसे वह शूद्राका पुत्र ही प्रतिफलित होता है। ब्राह्मणोंके पुत्रको भला 'दास्याः-पुत्रः' कैसे कहा जावे ? इसपर हम उनके तोषार्थ ब्राह्मणके लिये प्रयुक्त किये गये '**दास्याः-पुत्रः**' शब्दका प्रमाण भी देते हैं। कृपया वे साम्प्रदायिक चश्मा उतारकर देखें। कविवर शूद्रक-प्रणीत 'मृच्छकटिक' के प्रथमाङ्कमें शकारने ब्राह्मण चारुदत्तके लिये 'कः स **गर्भदास्याः-पुत्रः**' कहा है। अष्टमाङ्कमें शकारने वसन्तसेनाको 'परित्रायतां **दास्याः-पुत्रो** दरिद्रचारुदत्तस्त्वाम्' इस वाक्यसे चारुदत्तके लिये उक्त शब्द कहा है। **चारुदत्त मृच्छकटिकमें ब्राह्मण पात्र है शूद्र पात्र नहीं।** जैसे उसके निर्भर्त्सनार्थ निन्दामें उसे 'दास्याः-पुत्र' कहा गया है; जैसे कि, उसी नाटकके पञ्चम अङ्कमें विदूषक कबूतर पक्षीको जो किसी वर्णसे सम्बन्धित नहीं- दास्याः पुत्र ! दुष्टपारावत ! इस वाक्यसे निन्दित करता है, वैसे ही कवषके लिये प्रयुक्त 'दास्याः-पुत्र' यह शब्द भी उसकी निन्दामें विश्रान्त है।

इस प्रकारके सैकडों वाक्य उपस्थित किये जा सकते हैं। ये वाक्य इसलिये प्रमाणित किये गये हैं कि, कहीं कुशवाहाजी हमें फिर न कह दें कि, 'आप व्याकरणका लठ्ठ लेकर साधारण जनताकी आंखमें धूल झोंकते हैं।' अब यह नाटक इतने सुगम हैं कि आपकी 'साधारण-जनता' की आंखमें धूल झोंकी ही नहीं जा सकती, न मेरे द्वारा, न आपके ही द्वारा। अब आप बताएं कि,

*

'दास्याः-पुत्र.' कहे जानेसे ब्राह्मण चारुदत्त और सूत्रधार द्वारा 'आ दास्याः-पुत्र! जू (चू) र्णवृद्ध' (मृच्छकटिक प्रथमाङ्क) उक्त शब्दसे कहे हुए ब्राह्मण जूर्णवृद्ध क्या शूद्राके पुत्र मान लिये जायँगे? यदि नहीं, तब 'दास्याः-पुत्र' शब्द कहनेसे ब्राह्मण ऐलूष कवष ही शूद्राके पुत्र कैसे बन जायँगे? आशा है कि- अनुसन्धानकर्ताजी अपने २७ विद्वानोंकी गतानुगतिकता न करते हुए अभी अन्य अधिक अनुसन्धान करेंगे। भ्रम तो बडे बडे विद्वानोंको भी हो जाता है। अथवा बहुतसे गतानुगतिकतामें भी प्रवृत्त हो जाते हैं- 'गतानुगतिको लोको न लोक. पारमार्थिकः'। वा कई विद्वान् साम्प्रदायिकतामें पडकर अशुद्ध पक्षको भी शुद्ध मानकर उपस्थित कर दिया करते हैं। जैसे कि- स्वामी दयानन्दजीने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाशमें लिखा है' तात्पर्य जिसके लिये वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसीके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं जो कि, वक्ताके अभिप्रायके विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मतवाले लोग। क्योंकि मतके अग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसकर नष्ट हो जाती है। (सत्यार्थ० भूमिका ४ पृष्ठ) इसीलिये 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय भी प्रचलित है; जब ऐसी बात है, तो श्रीसायणकी 'दास्याः-पुत्र' इत्युक्तिरधिक्षेपार्था यह बात व्याकरण तथा संस्कृत-साहित्यके अनुग्रह होनेसे सत्य ही सिद्ध हुई। आपने हमारे प्रमाण तथा उपपत्तियोंका जब कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया; तो आपका एतद्विषक पक्ष असिद्ध ही रहा।

'दास्या.- पुत्र' की गवेषणा हमने 'वैदिकधर्म' के पाठकोंके सामने रख दी। अब शेष शब्द बचा है, 'अब्राह्मणः' सो यह भी 'ब्राह्मण नहीं है' इस अर्थमें विश्रान्त नहीं है, किन्तु 'यह अप्रशस्त ब्राह्मण है' इस अर्थमें विश्रान्त है। यदि 'दास्याः-पुत्र' का यही सचमुच शूद्राका पुत्र यह अर्थ होता तो उसकी इसी शब्दसे अब्राह्मणता सिद्ध हो गई, तब फिर उसे अलगसे 'अब्राह्मण.' कहना व्यर्थ था; क्योंकि अब्राह्मण शब्दसे तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अर्थ भी निकल सकता है। पहिले शूद्र कहनेसे फिर अब्राह्मण शब्दका कहना तो सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। पर अलग लिखनेसे स्पष्ट है कि, दास्याः-पुत्रः कितवः- यह नीच ज्वारी अब्राह्मण.-अप्रशस्त ब्राह्मण है तब हम उत्कृष्ट ब्राह्मणोंमें यह दीक्षा कैसे ले सकते? यही वास्तविक अर्थ है। नञ्का अर्थ अप्रशस्त भी होता है जैसे कि, अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्य 'यहांपर गाय, घोडेकी प्रतियोगितामें शेष पशुओंको अपशु=अप्रशस्त-पशु कहा गया है जैसे कि, तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था. षट् प्रकीर्तिता'।

'नञ्' (पा० २.२।६) सूत्रमें 'महाभाष्य' में गुणहीन (गुणरहित) * के उदाहरणमें खडे होकर पेशाब करते हुए वा भोजन करते हुए ब्राह्मणको भी उसकी निन्दार्थ 'अब्राह्मण' शब्दसे कहा गया हैं, जैसे कि, 'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, यस्तिष्ठन् भक्षयति' इसपर हम श्रीकैयटकी साक्षी भी गत (३१।२) निबन्धमें दिखला चुके हैं कि, 'निन्दयाऽत्र 'अब्राह्मण' शब्दप्रयोगः'। इससे उसकी वास्तविक ब्राह्मणता खण्डित होनी इष्ट नहीं होती, इस प्रकार कवषको भी 'कितवत्व' के कारण निन्दासे ही 'अब्राह्मण कहा गया है। वास्तविक रूपमें नहीं, जिसके लिये सायणको भी लिखना पडा, कितवो द्यूतकारस्तस्माद् अब्राह्मणोऽयम्'। उसने 'दासीपुत्रत्वाद् अब्राह्मणोऽयं' नहीं कहा। इससे यह स्पष्ट है कि वह अप्रशस्त ब्राह्मण ही सिद्ध होता है।

गत निबन्धमें इसपर प्रकाश डालते हुए हमने वादिप्रतिवादिसम्मत स्वा. दयानन्दजीके बहुत ही मान्य महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिकी साक्षी भी दी थी कि 'चतुर्भिः प्रकारैः अतस्मिन् सः' इत्येतत् भवति=इससे उस पुरुषको वह-वह न होनेपर भी उस-उस शब्दसे प्रयुक्त किया जाता है, इससे महाभाष्यकारसे दिये गये उदाहरण भी दिये गये थे।

---

* मेरे गत कवषसम्बन्धी निबन्ध (३१।२) में ५६ पृष्ठमें 'गुणहीनके उदाहरणमेंके स्थानपर 'गुण होनेके उदाहरणमें' यह छप गया है, पाठकगण सुधार लें, अन्यथा भ्रम सम्भव है। ३१।५ अङ्कके लेखमें (३) भागमें निष्प्रमाण है के स्थानपर विद्यमान है' छप गया है, पाठकगण उसे भी सुधार लेवें।

यदि यहां आप व्याकरणका लट्ठ मानकर डरें, और साधारण जनताकी दुहाई दें, तो हम इस विषयमें तर्कशास्त्र 'न्यायदर्शन' का प्रमाण देते हैं, २।२।६३ सूत्रकी अवतरणिकामें श्रीवात्स्यायनने लिखा है, 'निमित्ताद्' अतद्भावेपि तद्वुपचारो दृश्यते खलु' अर्थात् वैसा न होनेपर भी पुरुषको कभी किसी निमित्तसे वैसा कहा जाता है। अब न्यायसूत्रकार वे निमित्त बताते हैं, 'सहचरण १, स्थान २, तादर्थ्य ३, वृत्त ४, मान ५, धारण ६, सामीप्य ७, योग ८, सन्धना ९, ऽऽधिपत्येभ्यो १०। ब्राह्मण १, मञ्च २, कट ३, राज ४, सक्तु ५, चन्दन ६, गङ्गा ७, शाटिका ८, अन्न ९, पुरुषेषु १०। 'अतद्भावेऽपि तदुपचारः' (२।२।६३) इसके सभी उदाहरण तो आप 'न्यायदर्शन' में देख सकते हैं; यहां प्रकृतोपयुक्त चतुर्थ अङ्कका निमित्त देख लीजिए, 'वृत्ताद्-यमो राजा, कुबेरो राजा इति, तद्वद् वर्तते' अर्थात् राजा सचमुच यमराज वा कुबेर तो नहीं होता, पर उन जैसा आचरण रखनेसे उसे यमराज वा कुबेर कहा जाता है; जिसका पर्यवसान तद्वृत्तामें हो जाता है; वैसे कवषके भी कितव (द्यूतकार) होनेसे अब्राह्मणोंवाला वृत्त (आचरण) होनेके कारण उसे अब्राह्मण कहा गया है, जिसका पर्यवसान वास्तविक अब्राह्मणतामें न होकर अब्राह्मणवत्ता= अब्राह्मण-सदृशतामें हो गया।

अथवा आप 'न्यायका लट्ठ' भी कहीं न मान लें, इस कारण आप लोगोंका प्रियप्रमाण ही इसमें दिया जाता है, 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' जो वेदको जाने, वह ब्राह्मण-शब्दवाच्य होता है। अब 'न ब्राह्मणः' यह विग्रह होकर 'अब्राह्मण' शब्द बना, अब इसका यह अर्थ हुआ कि, यह कवष 'अक्षैर्मा दीव्य' (ऋ० १०।३४।१३) इस वेदमन्त्रको भी नहीं जानता; वा उसका अनुसरण नहीं करता, तभी तो अभीतक वह कितव है, इसीलिये जब यह सूक्त कवषको दृष्ट हुआ, 'तत्र गावः कितव!' (ऋ १०।३४।१३) कितव शब्दसे संबोधित किया गया। अतः पारिभाषिकता वा लाक्षणिकता वा यौगिकतासे यह अब्राह्मण है, इस प्रकार निन्दावाचकता होनेसे उसकी ब्राह्मणताका निषेध न हुआ। इसीलिये महामहोपाध्याय श्रीमित्रमिश्रने अपने 'वीरमित्रोदयके 'उपनयनसंस्कार' के' उपनेय निर्णय प्रकरणमें (३२२ पृष्ठमें) लिखा है, दास्याः-पुत्रः कितवोऽब्राह्मण इति आक्षेपमात्रं न तु वस्तुगत्यैव तन्मातुर्दासीत्वम्, इति भाष्यव्याख्यानात्। इससे श्रीसायणसे प्रोक्त × 'दास्याः-पुत्र इत्युक्तिरधिक्षेपार्था'। कितवो-द्यूतकारः तस्माद् (द्यूतकारत्वाद्) अब्राह्मणोऽयम् ईदृशो नोऽस्माकं शिष्टानां मध्ये स्थित्वा कथं दीक्षां कृतवान्', इति तेषामभिप्रायः यह अभिप्राय ठीक ही सिद्ध हुआ। यह अर्थ सायणने कहीं नहीं लिखा कि, एक शूद्राका पुत्र हम ब्राह्मणोंमें क्यों घुस आया? बल्कि यह लिखा है कि, यह वैदिक आचारहीन ब्राह्मण हम आचारवान् ब्राह्मणोंमें कैसे घुस आया? श्रीकुशवाहाजीने भी अब्राह्मण 'शब्दका अर्थ अपने आचरणोंसे बहुत ही भ्रष्ट' (पृष्ठ १६३ में) लिखा है, इस उनके लिखे अर्थसे भी हमारे पक्षकी पुष्टि हो गयी। +

जबतक किसी इतिहाससे कवषको दासीका पुत्र सिद्ध न किया जावे; तबतक श्रीसामश्रमीजी तथा उनके पिछलगुआ श्री शिवपूजन सिंहजीका पक्ष असिद्ध ही रहेगा।

आगे जो "यथेमां वाचं" मन्त्रसे सभी शूद्रान्त्यज आदिकोंको वेदाधिकार बताया गया है- यह साध्य पक्ष है "सिद्ध नहीं, क्योंकि, यहां 'अहं' से परमात्माका ग्रहण नहीं। ईश्वर तो यहां देवता (उच्यमान) होनेसे प्रतिपाद्य है, प्रतिपादक नहीं। वेद अपना अधिकार द्विजको देता है, शूद्रादिको नहीं। जैसे कि- "स्तुता मया

× ऐतरेय ब्राह्मणमें तो 'दास्याः पुत्र' है ही अलुक्समासका प्रयोग। वहां तो व्याकरणानुसार आक्रोश स्पष्ट ही है। शाङ्खायन ब्राह्मणके 'माध्यमाः सारस्वत्यः सत्रमासत; तद्धापि कवषो मध्ये निषसाद। तं ह इमे उपोदुः, दास्या वै त्वं पुत्रोऽसि, न वयं त्वया सह भक्षयिष्यामः इति; सहक्रुद्धः प्राद्रवत्; सरस्वतीमेतेन सूक्तेन तुष्टाव तं ह इयम् (सरस्वती) अन्वियाय; यहां व्यवधान होनेपर भी उक्त शब्द आक्रोशार्थक ही है; इसमें यहां कहा गया हुआ, 'उपोदुः' शब्द ज्ञापक है।

+ इस विषयमें हमने बहुत स्पष्टता 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके तृतीय पुष्पमें की है, अनुसन्धानरसिक पाठकगण इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक बनें।

वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' (अथर्व० १९।७१।१) तब इस मन्त्रसे विरोध पड़नेसे 'यथेमां वाचं' का अर्थ वेदाधिकार प्रदानपरक करना अयुक्त है– यह पृथक् विषय है, अतः यहां विस्तार नहीं किया जा सकता। इसे यदि वे सम्यक् देखना चाहें; तो 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका तृतीय पुष्प मंगावें। मूल्य ३)। न जाने, श्री पथिकजी इस विषयको यहां लाये ही क्यों हैं? सामश्रमीजीने यदि उक्त मन्त्रका स्वामीजी-कृत अर्थ मान भी लिया है तो यह ठीक थोड़े ही हो जायेगा! यही बात श्रीभगवदाचार्यजीके विषयमें भी जान लें।

इस विषयमें, प्राचीन ऋषिमुनियोंके प्रमाण देने चाहियें, आजकलके शास्त्रविरुद्ध अछूतोद्धार प्रेमियोंके नहीं। स्वामी दयानन्दजीसे पूर्व किसी भी विद्वान्ने उक्त मन्त्रका अर्थ ऐसा नहीं किया। बल्कि पं. नरदेवजी शास्त्री वेद तीर्थने अपने 'आर्यसमाजका इतिहास' प्रथम भागमें (पृष्ठ १२२-१२३ में) इसका विरोध किया है। ब्रह्मपुरा-णके वचनमें 'द्विजका अर्थ ब्राह्मण है, ब्राह्मणके लिये इसका मुख्यतया प्रयोग आता है; उदाहरणोंकी इसमें कोई कमी नहीं, आपके मतके अनुसार वह शूद्र तो सिद्ध न हो सका, तब आप उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी सिद्ध करते रहें, तो आपका ही पक्ष खण्डित होता है। दास्या.-पुत्रका स्पष्ट अर्थ आक्रोशका है। "अब्राह्मणका" अर्थ अप्रशस्त ब्राह्मण" है यह हम सिद्ध कर चुके हैं। आपने इसका प्रत्युत्तर नहीं दिया। सायणाचार्य हमसे अधिक अनुस-न्धाता थे– अतः उनका अर्थ अयुक्त नहीं, जब कि– वह व्याकरणसम्मत तथा साहित्यसम्मत है जैसा कि, हम गत तथा इस निबन्धमें दिखला चुके हैं।

आगे आपने आर्यसमाजी विद्वानोंकी उसपर सम्मति दी है, इन सम्मतियोंका कोई भी महत्त्व नहीं; जब कि दास्याः-पुत्रः तथा अब्राह्मणका हम व्याकरण तथा साहित्य-द्वारा ठीक ठीक अर्थ बतला चुके हैं। ये लोग सामश्रमीजीके पिछलगुआ हैं जैसा कि हम गत (३।१२) निबन्धमें दिखला चुके हैं, "इसी (सामश्रमीजीके) मतको आजकलके विद्वान् श्री शिवशंकर काव्यतीर्थ, श्रीभगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर, श्री सातवलेकरजी, आदि बहुतोंने अपनाया है" तब आपका इन सम्मतियोंको रखना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं 'प्रधानमल्लनिबर्हण' न्यायसे श्री सामश्रमीजीके मतके निराकरणसे इनका भी निराकरण हो गया। तथापि इन सम्मतियोंमें यदि कोई विशेष बात आई होगी, तो उसपर विचार किया जायेगा।

(क) श्री निरञ्जनलाल गौतम विशारदका यह लेख कि, इलूषा नामक शूद्रदासीका पुत्र ऐलूष कवष' इसमें 'इलूषा' को स्त्रीका नाम बताना चिन्तनीय है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। यह तो उसके पिताका 'इलूष' इस प्रकार पुल्लिङ्गान्त नाम है, "इलूषस्य अपत्य ऐलूषः"। आपसे उद्धृत श्रीराजाराम शास्त्रीजीके प्रमाणमें "ऐलूषका पुत्र कवष" इस प्रकार यह शब्द पुल्लिंग माना है। आपसे उद्धृत श्रीनगेन्द्रनाथ वसुके लेखमें भी 'इसके पिताका नाम इलूष था' यह लिखा है। आचार्य चतुरसेन शास्त्रीने भी (आपसे उद्धृत अपने लेखमें) इसे इलूषका पुत्र माना है। देखिये आपसे उद्धृत उनका लेख। तब यह नाम स्त्रीका सिद्ध न हुआ। इसी प्रकार श्री क्षितिमोहन शास्त्रीका "इलूष एक शूद्र दासी थी। यह लिखना भी अयुक्त है क्योंकि स्त्रीका नाम अकारान्त न होकर आकारान्त (टाप्-प्रत्ययान्त) होता है। श्रीसायणाचार्यने भी इलूष-पुत्रस्य कवषस्य आर्षम्' (ऋ. १०।३०)

(ख) श्री रामप्रसाद बी. ए का यह लिखना निष्प-माण है कि, "मातङ्ग चाण्डालकुलसे ब्राह्मण हो गया, कवष ऐलूष दासीका पुत्र था" ये लोग स्वयं तो कुछ भी अनुसन्धान करते नहीं, केवल दूसरोंकी बात सुन सुनाकर उसपर विश्वास करके अपना भी मत उसमें दे दिया करते हैं। मातङ्ग चाण्डालतासे ब्राह्मण कभी भी नहीं बना। इन्द्रसे उसने कई बार तपस्या करके ब्राह्मणत्व मांगा, पर उसे निषिद्ध कर दिया गया और कहा गया कि ब्राह्मणत्व तो कई जन्मोंके बाद मिलता है देखिये इसपर 'महाभारत' (अनुशासनपर्व २८।२९ अध्याय) मातङ्गकी तरह कवष विषयक भी इनका मत निराधार है।

(ग) श्रीवामनसोमनारायण दलाल बी. ए. का यह कहना कि, 'सत्यकाम जाबालकी गाथा भी इसी बातको सिद्ध करती हैं– अयुक्त है क्योंकि वह भी जन्मसे ब्राह्मण था। "नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति (छान्दो० ४।४।५) यह बात ब्राह्मणके आतिरिक्त कोई अन्य नहीं कह

सकता; अतः यह ब्राह्मण ही है, ये शब्द हमारी बातको स्पष्ट कर रही है, इस विषयमें स्पष्टता पृथक् निबन्धमें ही की जावेगी। अथवा ' श्री सनातनधर्मालोक ग्रन्थमाला ' का तृतीय पुष्प देखें।

(घ) श्रीभगवद्दत्तजीका यह कहना कि, " एक अब्राह्मण भी मन्त्रोंका द्रष्टा बन गया। उसे ही ऋषियोंने वेदार्थ-द्रष्टा ब्राह्मण मानकर पुनः अपने यज्ञमें बुलाया, " चिन्तनीय है, मन्त्रोंका द्रष्टा तो ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रियादि भी संभव है, क्योंकि परमात्माकी कृपासे उसको प्रलयकालमें लुप्त मन्त्र प्रतिभात हो जाते हैं। ' जालबद्धा मत्स्या ऋषयः ' (निरुक्त ६।२७।१) यह इसमें निदर्शन है। पर ऋषियोंमें कोई शूद्रादि नहीं हुआ है। पहले श्रीभगवद्दत्तजीने कवषको 'मन्त्रोंका द्रष्टा' माना फिर उसे प्रतिनिर्देशमें ' वेदमन्त्रार्थ द्रष्टा ' कह दिया; यह परस्पर-विरोध है। वेदार्थ द्रष्टा होनेसे ऋषियोंने उसे ब्राह्मण मानकर बुला लिया ' यह भी बात ' वैदिक-गवेषक ' जीकी ठीक नहीं। ब्राह्मण तो वह पहिलेसे ही था। हाँ पहले मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं था। उस समय उन्होंने उसे यह कहकर बुला लिया कि—' विदुर्वै इमं देवाः, उप इमं ह्वयामहै ' अर्थात् इस कवषको देवता जानते हैं; यज्ञ भी हम उन्हीं देवताओंका कर रहे हैं; अतः ' इसे इस देव-यज्ञमें बुला लिया जाय ' इन शब्दों तथा श्रीभगवद्दत्तजीके शब्दोंमें आकाश पातालका अन्तर है।

(ङ) श्री सातवलेकरजीके लेख कि-' विद्वत्ताके कारण मनुष्यका सम्मान किस प्रकारका होता था, इसका यह अच्छा उदाहरण है; की आलोचना हमने ३१।२ अङ्क ५७-५८ पृष्ठमें आपसे पहले ही कर रखी है। उसका उद्धरण कुछ उपबृंहित करके दिया जाता है—

" यहां पर प्रष्टव्य यह है कि, वह (कवष) पहिलेसे ही विद्वान् था ? अथवा ऋषियोंसे बाहिर निकालनेके समयके कई मिनटोंमें विद्वान् हो गया ? यदि पहिलेसे ही वह विद्वान् था, तब उसको ' अब्राह्मण ' क्यों कहा गया ? यदि वह अभी इस निकालनेके समय (कई मिनटोंमें) विद्वान् हो गया; तो क्या यह सम्भव है ? हां; यह हम मानते हैं कि यज्ञमें पूर्व जो सम्बन्धित थे; वह सब ऋषि (ऋषिर्दर्शनात्,) स्तोमान् ददर्श- (निरुक्त २।११।१) थे, उस समयतक कवष मन्त्रद्रष्टा न होनेसे ऋषियोंकी पङ्क्तिमें बैठाने योग्य न समझा गया, इसलिये उसे यौगिक शाब्दिक ' अब्राह्मण ' (ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः न ब्राह्मण इति अब्राह्मणः, वेदमन्त्रका अद्रष्टा) कह कर निकाल दिया गया।

हाँ, दासीपुत्र शब्द तो अवश्य उसकी निन्दार्थ है। अन्यथा यदि दासी (शूद्रा) का पुत्र होनेसे उसको यज्ञमें सम्बन्धित करना उन ऋषियोंको अनिष्ट था, तो उसकी शूद्रपुत्रता तो अब भी तदवस्थ थी, अब भी वादियोंके अनुसार वह दासीका ही पुत्र था; किसी ब्राह्मणका पुत्र नहीं हो गया था, नहीं ऐसा होना सम्भव था, तो उसे क्यों दासी-पुत्रताके द्वेषी ऋषियोंने फिर यज्ञमें बुला लिया ? इससे ही स्पष्ट हो रहा है कि- ' दास्याः-पुत्र. ' यह शब्द उसके आक्रोशार्थ ही है। देवताओंकी कृपासे जब उसे कई वेदसूक्त अपोनप्त्रीय (ऋ. १०।३०) आदि प्रतिभात हो गये, तब उसपर देवताओंका अनुग्रह देखकर ÷ तथा तब उसे ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) जानकर यज्ञमें बुला लिया गया, इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं, क्योंकि— ऋषि होना अपने आधीन नहीं; जिसको वेदमन्त्र अतर्कित, समाधि आदिमेंका आनुषाङ्गिकतया प्रतिभात हो जावें, वही ऋषि माना जाता है, यास्क आदि भी ऋषि नहीं थे, मुनि थे। उनको कोई मन्त्र अतर्कित प्रतिभात नहीं हुआ। हां, उन्हें सम्मानके लिये ऋषि, महर्षि कह दिया जाता है, जैसा कि— ' यास्क ऋषिर्नवा ' इस विषयमें आपके मान्य श्रीसत्यव्रत सामश्रमीजीने ' निरुक्तालोचन ' में स्पष्ट किया है। सम्मानार्थं ऋषि श्रीटण्डन-

---

÷ उस पर देवोंका अनुग्रह यही है कि— जब उसे अत्यन्त प्यास लगी; तो उसे अपोनप्त्रीय सूक्त प्रतिभात हुआ, जिससे जल उसके पास आ गया। जब उसे देवताओंने द्यूतव्यसनी देखा; तो उसे द्यूतहानिसूक्त (ऋ. १०।३४) प्रतिभात हो गया; जिससे उसका यह व्यसन भी हट गया; उसके द्यूतक होनेसे ही उसे " दास्याः पुत्र " अब्राह्मण शब्दोंसे तिरस्कृत होना पड़ा। प्रसन्न देवताओंने जहां उसका यज्ञमें पुनः प्रतिष्ठापन रूप सम्मान कराया; वहीं उसका यह व्यसन भी हटवाया।

जीको भी वा श्रीमालवीय आदिको भी कह दिया जाता है। अस्तु।

(च) श्री विश्वबन्धुजी शास्त्रीका यह लिखना कि— 'ऐतरेय' में कवषका चरित्र अब्राह्मण और जुआरिया लिखकर फिर स्वीकार किया गया है कि— वह भी अपने परिश्रमसे ऋषि हो गया— विचारणीय है। अब्राह्मणसे ऋषि बन गया— इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। शास्त्रीजीने उसका ब्राह्मण होना नहीं दिखलाया, ऋषि होना दिखलाया है। ऋषि तो जालबद्ध मत्स्य भी हो चुके हैं, देवशुनी-सरमा भी, देखिये निरुक्त (११।२५।१) ऐतरेयालोचन (पृ० ३१) हां, उक्त वाक्यमें "अपने परिश्रमसे" यह शब्द चिन्तनीय है, इस निकालनेके समयके एक-आध घण्टेके अन्तरमें उसका परिश्रम ही क्या हो सकता था? उस मूल भूमिमें कोई गुरुकुल तो था नहीं; यह तो देवताओंकी अनुकम्पा उसपर हो गई कि— कई लुप्त वेदसूक्त उसको प्रतिभात हो गये।

(छ) स्वामी भगवोदयालजीके वाक्यमें— श्रवण द्रुपद आदिको नीचकुलसे ब्राह्मण हो जाना यह लेख निर्मूल है। श्रवण, द्रुपद आदिको कहीं भी ब्राह्मण नहीं बताया गया। देखिये इसपर रामायण और महाभारत। शेष कश्यप, द्रोण आदि तो जन्मसे ब्राह्मण थे; इनके पिता ब्राह्मण थे। कक्षीवान् भी ब्राह्मण पिताके पुत्र होनेसे जन्म-ब्राह्मण थे, जैसे कि— वेदने भी सङ्केत दिया है— 'कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः' (ऋ० ४।२६।१) विप्रः-ब्राह्मणः। उस विषयमें भी पृथक् निबन्धमें विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायेगा, अथवा इस विषयमें हमारा 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका शेषके भी पिता ब्राह्मण थे; अतः उनके लिये नीचकुल लिखना ठीक नहीं। हां कई ऋषिमुनियोंने अपने तपको सामर्थ्यसे पशुपक्षियोंमें भी पुत्र उत्पन्न किये हैं; तो बीजकी प्रधानतासे तथा उनकी तपःशक्तिसे क्षेत्रदोष उसमें बाधक नहीं बन सकता। पिता यदि उच्च वर्णका ब्राह्मणादि है, तो 'तस्मात् बीजं प्रशस्यते' (मनु० १०।७२) इस नियमसे 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' (मनु० २।२३८) निम्नकुलकी मातासे भी सन्तान पितृवर्णकी ही मानी जाती है। "यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्रीसंयुज्येत यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा। (मनु० ९।२२) यह मनुवचन भी इसमें स्मर्तव्य है। जैसे कि— 'ऐतरेयालोचनमें अधिक परममान्य श्रीसामश्रमीजीने भी माना है' एषाम् (वर्णत्रयोत्पन्न षट्पुत्राणाम्) अपसदत्वेपि द्विजत्वं न व्याहतम्। तदत्र तत्रैव—" सजाति जानन्तरजाः, षट्सुता द्विजधर्मिणः इति।" "षट्पुत्रा द्विजधर्मिण उपनेयाः" इति च तत्र कुल्लूकः। पुनस्ततस्तत्रैव तस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते।" (१०।७२) यदुक्तं 'न ब्राह्मण-क्षत्रिययो'... शूद्रा भार्योपदिश्यते, इत्यादि षट्-श्लोक्या, तन्नूनमपरिणीतसवर्णापरम् अतएव धीवरी- गर्भजस्य वेदव्यासस्य विप्रत्वमुपपद्यते।' (पृ. १३)

इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध हुआ। इस तरह यदि पिता ब्राह्मण हो, उसकी स्त्री शूद्रा भी हो, तो भी उसकी सन्तान बीजकी प्रधानतावश ब्राह्मण ही मानी जायेगी शूद्र नहीं। तब महिदास तथा कवषकी माता वादियोंके अनुसार शूद्रा होनेपर भी इनके पिताके ब्राह्मण होनेसे बीज-प्रधानतावश इन्हें ब्राह्मण ही माना जायेगा, शूद्र नहीं। आप इनका पिता शूद्र तो नहीं बता सके। अब भी आपको अवसर है कि— इनके पिताको शूद्र सिद्ध करें। इससे हमारा पक्ष कुछ भी क्षतिग्रस्त नहीं होता। परममान्य होनेसे आपको सामश्रमीजीका उक्त मत मान लेना चाहिये, पर हम यह मनुजीके शब्दोंसे ही कहते हैं कि, 'न ब्राह्मणक्षत्रिययोराप-द्यपि हि तिष्ठतोः। कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते' (३।१४) अर्थात् किसी भी वृत्तान्त, इतिहासमें भी ब्राह्मणकी शूद्रा स्त्री नहीं कही गई है। इस मनुके वचनानुसार हम कह सकते हैं और अनुसन्धान भी हमें यह बताता है कि, कवष तथा महिदास आदिकी माता भी शूद्रा नहीं थी। श्रीसामश्रमीजीका वेदव्यासकी माताको धीवरी कहना इतिहासका अनुसन्धान न करना है। वह तो उपरिचर वसुके वीर्यसे उत्पन्न हुई लडकी थी। उपरिचर वसु धीवर नहीं थे, 'हाँ; धीवरने उस कन्याको पाला अवश्य था। यदि धीवरके पालनेसे वह धीवरपुत्री हो जाय; तो पन्नाधाईसे पाले हुए उदयसिंह धाईके; आजकल मुसलमान दाई (धात्री) से पाले पोसे हुए हिन्दु लडके भी मुसलमानीके लडके माने जाने लगेंगे। वह उपरिचर वसुकी

कबकी थी; धीवरकी वीर्यज नहीं; इस विषयमें महाभारत (आदिपर्व ६३ अध्याय) देखना चाहिये । इस विषयमें धीवरने भी स्पष्ट ही कहा था, ' अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः । यस्य शुक्रात् सत्यवती संभूता वरवर्णिनी (आदि० १००।७९) अर्थात् सत्यवती उपरिचर वसुकी सन्तान है । इस विवेचनसे कुशवाहाजीका " पराशर, वसिष्ठ, प्रभृति ऋषि भी नीच कुलोत्पन्न होकर ब्राह्मण ऋषि आदि हुए ' यह अन्तिम वाक्य भी निरस्त हो गया ।

(ज) श्रीरजनीकान्त शास्त्रीका यह लिखना कि, ' ऋषियोंने इन्हें दासीपुत्र कह यज्ञसे निकाल दिया; तत्पश्चात् इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदका अध्ययन कर उसके नये-नये विषयोंको हृदयङ्गम किया, तब ऋषियोंने उन्हें सादर बुलाकर अपना आचार्य बनाया । ' ऐतरेय-ब्राह्मणसे विरुद्ध है, क्योंकि, यज्ञसे निकालनेके समय और फिर वापिस बुलानेके समय कोई साल छः महीनोंका अन्तर नहीं रहा कि- इस अवधिमें कवशने सम्पूर्ण ऋग्वेद पढ लिया । यहां तो मिनटोंकी बात थी, उस समय जो ऋषि उसे बाहिर निर्जल प्रदेशमें छोडने गये थे वे भी अभी वापिस नहीं गये थे । उन ऋषियोंके देखते ही देखते उस समय उसे ' अपोनप्त्रीयसूक्त स्वयं बिना पढे, बिना परिश्रम किये हुए, प्रतिभात मात्र हो गया और जल उसके पास आकर प्रवाहित होने लग गया । उन ऋषियोंने उसपर यह देवानुग्रह देखकर उस कवषको उसी हो रहे हुए यज्ञमें सम्बन्धितकर लिया । आश्चर्य तो यह है कि, ये लोग ग्रन्थकारके आशयके विरुद्ध गन्दी कल्पनायें कर रहे होते हैं; और श्रीकुशवाहाजी जैसे उसमें नतमस्तक हो जाते हैं । यह तो ' अपोनप्त्रीयसूक्तके प्रकट होनेका इतिहास बताया गया है ।

(झ) श्रीराजारामजी शास्त्रीका यह लिखना कि, ' वेदमें कोई ऐसा मन्त्र नहीं, जो शूद्रके अधिकारका बाधक हो ' यह ठीक नहीं; ' वेद-माता···द्विजानाम् ' (अ० १९।७१।१) यह मन्त्र शूद्रोंका वेदमें निराकरण कर रहा है । ' प्रत्युत यह बडा प्रबल साधक प्रमाण है कि, ऐलूषका पुत्र कवष ऋषि जो जन्मसे शूद्र है; वह ऋग्वेदके अपोनप्त्रीयसूक्तका मन्त्रद्रष्टा है ' यह भी शास्त्रीजीकी बात ठीक नहीं; क्योंकि उसकी शूद्रता सिद्ध नहीं । वेदान्तदर्शनमें तो स्पष्ट ही शूद्रका वेदमें अनधिकार माना गया है, तो वेदमें शूद्रका अधिकार कैसे हो सकता है ?

अन्य सम्मतियोंमें कोई विशेष बात न होनेसे उनपर लिखना व्यर्थ समझा गया है । सायणका सिद्धांत अटकलपच्चू नहीं; वह मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद तथा उसके इतिहाससे सुपरिचित था । श्रीकुशवाहाजी अन्तमें लिखते हैं, ' क्या इतने विद्वानोंने सायणभाष्यको नहीं देखा था ? ' हम कहते हैं, यदि उन्होंने सायणका भाष्य देखा भी हो, पर उनको व्याकरणका परिनिष्ठित ज्ञान न होनेसे वे ' दास्याः-पुत्रः ' इत्युक्तिरधिक्षेपार्था उसके इस भाष्यका भाव नहीं समझ सके क्योंकि, उनके आगे तो शूद्रता-दृष्टि नाच रही थी ।

अन्तिम वाक्यमें सिंहजी लिखते हैं कि, ' कवष ऐलूषकी गाथासे तो स्पष्ट है कि, एक दासीपुत्र, अब्राह्मण भी तप करके पढकर विद्वान् होकर ऋषितक बन सकता है ' यह बात आपकी व्यर्थ है कि, बाहिर निकालनेके कई मिनटोंमें ऋषियोंके देखते-देखते वह क्या पढ सकता था, वा क्या तपस्या कर सकता था, वा इतने समयमें विद्वान् कैसे हो सकता था ? वे ऋषि जो उसे निर्जन प्रदेशमें छोडने आये थे वैसे ही कहे हुए थे । यह तो दैवी घटना थी कि, उसे वेदसूक्त स्फुरित हो आया । ब्राह्मण तो वह पहिलेसे ही था । ऋषि दैवी कृपासे बनते हैं । यहांपर ब्राह्मण बननेकी बात कहीं लिखी ही नहीं । यदि शूद्र होता तो यज्ञमें पहिले ही न लिया जाता, क्योंकि, यज्ञिय वर्ण तीन होते हैं, ' ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञियाः ' (शतपथ ३।१।१।९) केवल उसे कितव (द्यूतकार) होनेसे निन्दित समझकर निकाला गया । जब दैवी कृपासे ' अपोनप्त्रीयसूक्त ' उसे प्रतिभात हो गया और जलोंने उसके पास आकर उसकी प्यास बुझा दी; तब ऋषियोंने उसपर देवानुग्रह समझकर कि, वे इसके कितवत्व दोषको नहीं लेते; उसे उन्होंने हो रहे हुए यज्ञमें वापिस बुला लिया । यह अन्तर बहुत थोडे समयका है; कुछ मिनटोंका, कोई सालोंका अन्तर नहीं कि, वह कहीं अध्ययन करने चला गया हो । ऐसा होता तो ऋषि लोगोंको क्या पता लगता कि, कहां है ! क्या तब उसे प्रचलित यज्ञमें बुलाया जा सकता ? क्या वह यज्ञ

कई सालों चलता रहा, वस्तुतः वादियोंकी यह कल्पनाएं निराधार हैं।

सर्वान्तिम आपका यह वाक्य कि, पराशर, वसिष्ठ, व्यास प्रभृति ऋषि भी तो नीच कुलोत्पन्न होकर ब्राह्मण और ऋषि आदि हुए ' इसपर आप यह जानें ' कि, इनके पिता ब्राह्मण थे। तब इनका कुल नीच कैसे कहा जा सकता है ? श्रीव्यासके पिता श्रीपराशर ब्राह्मण थे, माता उपरिचर वसुकी लडकी सत्यवती थीं। कैवर्तने उसे पाला अवश्य था; ' महाभारत ' आदिपर्व ६३ वें अध्यायमें यह कथा द्रष्टव्य है। उसीसे श्रीपराशरका ' दिव्यविधिसे ' संयोग हुआ। तब इसमें नीचकुलोत्पन्नताका प्रश्न ही नहीं हो सकता। बाकी है कि, लोक प्रसिद्धि, उसमें तो तिलका ताड हो जाता है। सीताके रावणके घरमें शुद्ध होकर रहनेपर भी तो; असत्प्रसिद्धि हो गई थी। एक सूक्ति इसलिये प्रसिद्ध है, ' जनानने कः करमर्पयिष्यति ' ? नैषध चरितमें प्रसिद्ध है, ' जनावनायोद्यमिन जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिब वदन् शिवन् ' (९।१२४) अर्थात्, लोग लोगोंकी रक्षा करनेवाले विष्णु को तो जनार्दन और प्रलय करनेवाले रुद्रको ' शिव ' कहते है।

व्यासजीका निरूपण तो हो चुका; श्रीपराशर शक्ति नामक ऋषिके वीर्यसे अदृश्यन्ती नामक स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए ' परासु स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः। गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इतिस्मृत (महाभारत आदिपर्व १७८-१८०।३)। निरुक्तमें भी लिखा है ' पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे ' (६।३०।२) ' आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत। शक्तेः कुलकरं (पराशरं) राजन्! द्वितीयमिव शक्तिनम् ' (महा० १।१७८।१) यहां भी कोई नीचकुलकी बात नहीं। आप इतिहासका अनुसन्धान किया करें। असत्प्रसिद्धिकी ओर न दौड पडा करें।

शेष रहे वसिष्ठजी; उनकी उत्पत्ति मित्रावरुण देवद्वारा देवाप्सरा उर्वशीके मनसे हुई है। यही बात वेद कहता है, ' उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ ! उर्वश्या ब्रह्मन् ! मनसोधिजाता ' (७।३३।११) ' अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः ' (ऋ. ७।३३।१२)। यही बात पुराणेतिहासमें भी आई है, मित्रावरुणज तेज आविश त्वं महायशः। अयोनिजस्त्वं भविता तत्रापि द्विजसत्तम ! ' (वाल्मी० उत्तर० ५६।१०) ' मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः ' (श्रीमद्भागवत ९।१३।६) सो यहां भी नीचकुल सर्वथा नहीं है; देवयोनि तो मनुष्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट ही होती है, अतः नीचकुलकी कुछ भी बात नहीं। मनुस्मृतिके अनुसार तो मनुसे वसिष्ठकी मानसिक उत्पत्ति है (१।३५) अतः श्रीकुशवाहाजीका परिश्रम निर्मूल है। इसी प्रकार ऐलूष कवष भी ब्राह्मण कुलके ही हैं केवल इनमें द्यूतप्रियता थी, सो वह भी ' अक्षैर्मा दीव्यः ' (१०।३४) इस सूक्तके दर्शनके समयमें, क्योंकि, इस सूक्तके ऋषि भी ऐलूष कवष ही हैं, हट गई। उसी द्यूत-क्रीडाके प्रिय होनेसे ही कवषको निन्दार्थवादसे दास्याः-पुत्रः, तथा ' अब्राह्मण ' कहा गया, वास्तविक नहीं। अर्थवादका शब्दार्थमें पर्यवसान न होकर उसका विवक्षितार्थ निन्दारूप लिया जाता है वास्तविक नहीं। इसपर अधिक ज्ञानार्थ ' वैदिकधर्म ' के पाठक हमसे ' श्रीसनातन-धर्मालोक ' ग्रन्थमालाका तृतीयपुष्प तीन रुपयेमें मंगावें। इति।

समालोचना

वेदवाणी मासिकका वेदाङ्क

[वेदवाणी मासिक। संपादक- श्री. पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। व्यवस्थापक- श्री. प. युधिष्ठिर मीमांसक। वेदवाणी कार्यालय। पो भजमनगढ पैलेस मोतीझील, बनारस नं ६। वार्षिक मूल्य ५) विदेशमें ६)]

वेदज्ञानके प्रचारके लिये 'वेदवाणी' मासिक है। और उसका यह वार्षिक 'वेदाङ्क' है। इसमें २५।३० वेदविद्या पारंगतोंके लेख हैं, इसकारण लेखोंमें विविधता है। प्रथम पृष्ठपर संपादकने यह मंत्र दिया है—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियं इन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधां अयासिषं स्वाहा। यजु ३२।१३

'इन्द्रके वाछनीय प्रिय अद्भुत सभापतिके पास मैं मेधाकी याचना करता हूं।' यह इस मंत्रका सरल अर्थ है। पर इस वेदाङ्कमें जो अर्थ दिया है वह यह है- " हे सभापते विद्यामय न्यायकारिन्! हमको सभासद, सभाप्रिय, सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो। ऐसी इच्छावाले आप हमको कीजिये। किसी एक मनुष्यको हम लोग राजा कभी न बनावें, किन्तु आपको ही हम लोग सभापति, सभाध्यक्ष तथा राजा माने इ०। "

'किसी एकको हम लोग राजा कभी न बनावें, परंतु आपको हम लोग राजा मानें।' इस वाक्यमें जो परस्पर विरोध है वह विद्वान् संपादकके ध्यानमें नहीं आया। यदि किसी एकको राजा नही मानना है, तो 'आप (अकेले) को हम राजा मानें यह कैसे हो सकता है। परंतु यही संपादककी शैली है।

आगे पृ. ११ पर 'यजुर्वेदके पुरुषसूक्तपर विचारधारा' इस शीर्षकके नीचे श्री. पं. श्याम बिहारीलालजी वानप्रस्थी ज्वालापुरका लेख है। पुरुषसूक्त तो ऋग्वेदमें भी है और अथर्ववेदमें भी है। पर यहां विचार यजुर्वेदके पुरुषसूक्तपर लेखकने किया है। लेख दो पृष्ठोंका है, पुरुषसूक्तके मंत्र यजुर्वेदमें २२ हैं, ऋग्वेदमें १६ हैं, अथर्ववेदमें १६ हैं। इनमें मंत्रक्रममें भेद भी है, शब्दोंके भेद भी हैं। 'पुरुषसूक्तपर विचाराधारा' प्रवाहित करनेवाले इस विद्वान् लेखकने एक ही मंत्र दिया है वह यह है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यातिष्ठत् दशांगुलम् ॥ १ ॥

'सहस्रबाहुः पुरुष' यह अथर्ववेदका पाठ है और 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' यह ऋग्वेदका पाठ है। यह पाठभेद लेखकने दिया नहीं। इसका सरल अर्थ यह है– " हजारों सिरोंवाला, (हजारों बाहुवाला) हजारों आंखोंवाला और हजारों पावोंवाला एक पुरुष है। वह भूमिके चारों ओर घेरकर दशांगुल विश्वके बाहर भी है। "

विद्वान् लेखकने यह अर्थ दिया नहीं परंतु लिखा है कि– " सब जंगम जगत् पुरुषके भीतर है, अर्थात् वह आधार है और जगत् आधेय है। " मंत्रका अर्थ तो यह नहीं है। मंत्रका अर्थ हमने ऊपर लिख दिया है। पुरुष शब्दका अर्थ यहां परमात्मा है और वह हजारों मस्तकों, बाहुओं, नेत्रों, और पावोंवाला है। अर्थात् पृथ्वीपर जितने प्राणी हैं उनके जितने सिर, नेत्र, मुख, नाक, कान, बाहु, छाती, पेट, हाथ पांव हैं वे सबके सब उसके हैं। इसका स्पष्टीकरण करनेकेलिये पुरुषसूक्तमें यह मन है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद् बाहू राजन्यः कृत।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

'ब्राह्मण इसका मुख है, क्षत्रिय इसके बाहु, वैश्य इसके ऊरू और शूद्र इसके पांवके स्थानमें हुआ है'। इस मन्त्रसे इस पुरुषकी-परमात्माकी-ठीक कल्पना आ सकती है। पर इस महत्त्वके विषयका एक भी अक्षर न लिखते हुए आधार और आधेय' की बातें विद्वान् लेखक लिख रहे हैं और मंत्रोंके अंक देकर अर्थात् मंत्र बिलकुल न देकर इन मंत्रोंमें 'योग' है, इनमें मौलिक सिद्धान्त है ऐसा लिखकर लेख समाप्त किया है। यदि इसमें योगविद्या है तो वह यहां लिखनी चाहिये थी। वह बिलकुल लिखी नहीं। पाठक कौनसा बोध इस लेखसे प्राप्त करेंगे यह समझमें नहीं आता। इस सूक्तमें 'योग' है इतना कहनेकी अपेक्षा वह 'योग' बताते तो पाठकोंपर उपकार होता।

इसके पश्चात् श्री डा. सत्यकामजी भारद्वाजका 'विराट् तथा पुरुष' यह मननीय लेख है। पर यह लेख इतना सूक्ष्म विचारोंसे भरा है कि यह विषय वे १००० पृष्ठ लिखकर समझाते तो भी साधारण पाठकोंके समझमें नहीं आता। इस विद्वान् लेखकसे हमारी नम्र सूचना यह है कि वे एक ही वेदका विषय लें और उसीपर जितना विवरण लिखना आवश्यक है ऐसा वे समझें, उतना लिखें। जिससे पाठकोंके मनमें कुछ न कुछ ज्ञान उतरेगा। और वेदका ज्ञान कैसा है वह सबको ज्ञात होगा। अथवा अगला वेदवाणीका संपूर्ण वेदाङ्क इनके ही लेखोंसे प्रकाशित किया जावे।

त्रैतवाद

आगे पृ २० पर पं. जगदीशचन्द्रजी वेदान्तवाचस्पतिका लेख 'वेदमें त्रैतवाद' शीर्षकका है। वेदमें त्रैतवाद है इसमें संदेह नहीं है। इस विषयके दो मंत्र लेखकने दिये हैं। पर आर्यसमाजका स्थापन होकर ८० वर्ष हो चुके हैं और अब भी त्रैतवाद पर लेख लिखनेकी आवश्यकता रही है?

त्रयः केशिनः (ऋ. १।१६४।४४) इस मंत्रसे वेदने त्रैतवाद बताया है।

एकत्वं अनुपश्यतः (यजु. ४०।७) इस मंत्रसे वेदने एकत्ववाद बताया है।

ईशा वास्यं इदं सर्वं (यजु. ४०।१; ईश १) ईश इन सबमें वसता है। इसमें 'ईश तथा इदं' ये पदार्थ हैं, अर्थात् यह द्वैतवाद है।

इस तरह वेदमें '**एकत्व, द्वैत और त्रैत**' है। इस कारण ही इन तीनोंमें भेद नहीं है। (१) प्रकृति, जीव तथा ईश्वर यह त्रैत है। (२) पुरुष और प्रकृति यह द्वैत है, पर पुरुषमें ईश्वर और जीव हैं, इसलिये इस द्वैतमें भी तीन पदार्थ हैं (३) और '**त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म एतत्**' तीनोंका जहां विंदन होता है उसका नाम ब्रह्म है। यह एकत्व है पर इसके भी तीन पदार्थ हैं। अर्थात् त्रैत, द्वैत वा अद्वैत अथवा एकत्वमें तीन पदार्थ हैं ही। यह एक दृष्टिकोणसे त्रैत, द्वैत, या एकत्व कहा जाता है। किसी भी मतमें त्रैतका नाश नहीं है, परंतु तीनोंकी सत्ता है। यह सत्य दृष्टि पाठकोंके पास पहुंचानेके लिये ही लेख लिखने चाहिये। इस कारण तीनों पक्षोंमें तीन पदार्थ हैं। यह सत्य दृष्टि पाठक ले और यह वाद स्थायी रूपसे एक ओर किया जाय। पाठकोंको व्यर्थके वादोंमें अटकाये रखना विद्वान् लेखकोंके लिये योग्य नहीं। पाठकोंके पास वेदके उपयोगी ज्ञानके विषय पहुंचने चाहिये।

वेदोंमें इतिहास

'वेदोंमें इतिहास' इस विषयपर विद्वानोंमें श्रेष्ठ प्रो. विश्वनाथजी विद्यालंकारका लेख पृ. २४ पर इसी अंकमें छापा है। डेढ पृष्ठमें यह लेख समाप्त हुआ है और यास्काचार्य वेदमें इतिहास नहीं मानते, यह लेखकने इस लेखमें सिद्ध किया है। इस लेखपर विद्वान् संपादकजीने छः पंक्तियोंकी टिप्पणी देकर लेखका अभिनंदन भी किया है। आश्चर्य यह है कि यास्काचार्य अपने निरुक्तमें (१) नैरुक्त, (२) आध्यात्मिक, (३) आधिदैविक, (४) आधिभौतिक, (५) याज्ञिक, (६) ऐतिहासिक ऐसे अनेक पक्ष देते हैं। कृपा करके वेदवाणीके संपादक या पं. विश्वनाथजी यह बतावें कि निरुक्तकार नैरुक्तपक्षसे भिन्न सभी पक्षोंका खंडन करते हैं, या केवल '**ऐतिहासिकपक्ष**' का ही खंडन करते हैं। संस्कृत न जाननेवाले पाठकोंके आंखोंमें ये विद्वान् कबतक धूली फेंकते रहेंगे? और ऐसा करनेसे लाभ क्या है? निरुक्तमें जो अनेक पक्ष वेदार्थ करनेवालोंके दिये हैं, उन सबका निरुक्तकारने खंडन किया है ऐसा कहना साहस है और यदि सब पक्षोंका खंडन उसने नहीं किया तो केवल एक ही इतिहास पक्षका खंडन उसने किया ऐसा किस आधारसे कहा जा सकता है।

वास्तविक बात यह है कि निरुक्तकार अपने समयके सब पक्षोंको अपनी टीकामें उद्धृत करता है, साथ साथ नैरुक्तोंका पक्ष भी रखता है। अन्य पक्षोंका निरुक्तकारने खंडन किया यह सिद्ध करनेके लिये एक वचन तो ये लेखक दें। निरुक्तपक्ष देनेसे ही यदि अन्य पक्षोंका खंडन हुआ ऐसा माना जाय, तो 'आध्यात्मिक' आदि सभी पक्षोंका खंडन होगा और श्री महर्षि स्वामी दयानंद महाराजने जो अपूर्व वेदभाष्यकी पद्धति जगत्के सामने रखी, उसीका खंडन होगा, क्योंकि उनके भाष्यका आधार अध्यात्मपक्ष ही विशेष कर है। ये पंडित आवेशमें आकर ऐसा न करें इतनी ही प्रार्थना है।

इसके पश्चात् श्री. डा. वासुदेवशरण अग्रवालजीका 'सविता' विषयक महत्त्वपूर्ण तथा खोजपूर्ण लेख है। यह लेख पढनेसे वेदविद्याका प्रकाश पाठकोंको मिल सकता है। इसके पश्चात् 'वेदार्थमें स्वरकी आवश्यकता' यह पं. युधिष्ठिरजी मीमांसकजीका बडा उपयोगी लेख आया है। वेदका अर्थ करनेमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरोंकी अत्यंत आवश्यकता है यह लेखकने उत्तम रीतिसे सिद्ध किया है। पर कोई आर्यसमाजी जिस समय वेद पाठ करता है उस समय वह स्वरका उच्चारण ठीक ठीक नहीं करता यह भी सत्य बात है। सब प्रांतोंके आर्यसमाजी हमने देखे हैं। एकको भी स्वरोच्चारण ठीक करते हुए हमने आजतक देखा नहीं। इतना ही नहीं परंतु इस लेखके लेखक और वेदांकने मुख्य संपादक भी ऋग्वेद और अथर्व वेदके मंत्रोंको शुद्ध स्वरोंके साथ बोल नहीं सकेंगे। पर वे वेदपाठ तो करते ही हैं। यदि वेदपाठके लिये शुद्ध स्वरकी आवश्यकता है तो अशुद्ध स्वरका उच्चारण करनेसे अर्थका अनर्थ होगा ही। फिर इसकी व्यवस्था आर्यसमाजमें कौन करेगा? पर ये लेख स्वयं करनेके लिये लिखने नहीं हैं। ये लेख तो दूसरोंके लिखे ही लिये हैं।

श्री स्वामी श्रद्धानंदजी गुरुकुल कांगडीमें थे, उस समय हमने महाराष्ट्रसे एक उत्तम ऋग्वेदी घनपाठी लाकर गुरुकुलमें सस्वर ऋग्वेद पढानेके लिये रखा था। श्री स्वा० श्रद्धानदजीने उसको एक वर्ष गुरुकुलमें रखा, पर ब्रह्मचारी गणोंमें से एक भी सस्वर वेदपाठ सीखनेके लिये तैयार नहीं हुआ। और दूसरा भी कोई नहीं आया। यह देखकर श्री स्वामीजीने उसको दूर किया। यह है स्वयं सस्वर शुद्ध वेदपाठ करनेकी स्थिति। मैं उस समय गुरुकुल कांगडीमें अध्यापक था और मेरे ही प्रयत्नसे यह सब हुआ था। सस्वर वेदपाठ नयी पिढीमें होगा ऐसी आशा हमें नहीं है, फिर शुद्ध स्वरका महत्व कितना भी क्यों न हो! दूसरे लोग शुद्धस्वरसे वेदपाठ करें। शुद्धस्वरका उच्चारण करनेका बंधन हमपर नहीं है ऐसा माननेवालोंकी संख्या अधिक हो गयी है। इसका यह परिणाम है।

इसके अनंतर पृ ४० पर "वैदिक वराहका वैज्ञानिक स्वरूप" यह लेख पं. भगवद्दत्तजीका है। पं. भगवद्दत्तजी सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् हैं और उनकी विद्वत्ता इस लेखमें उत्तम रीतिसे प्रकट हो रहा है।

पृ. ४५ पर पं. ईश्वरचन्द्र शर्मा दर्शनाचार्यजीका "वैदिक नामोंमें योग और रूढीके बलाबलाका विचार" शीर्षकका एक उत्तम और अतिविस्तृत लेख पढने योग्य है। विद्वान् लेखकने इस लेखमें यह बताया है कि वेदमंत्र अश्लील दीखनेवाले भी कितने उत्तम ज्ञान बतानेवाले हैं। ऐसे विद्वान् आर्यसमाजमें हैं। यदि श्री. आर्यप्रतिनिधि सभा अथवा श्री सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि-सभा पं. ईश्वरचन्द्र शर्मा तथा पं. भगवद्दत्तजीको तथा जो ऐसे उच्च विद्वान् हैं उनको जितना चाहिये उतना वेतन देकर एक स्थान पर बिठलाये और वेदका अर्थ इनके द्वारा करावे और उसको 'वेदका माननीय अर्थ' करके प्रकाशित करे, तो तो कितने विवाद कम हो सकेंगे। प्रतिनिधिसभा क्यों यह नहीं करती यह अपने कारणों सहित वह प्रकाशित करे। पं. ईश्वरचन्द्र शर्माजी बंबईमें जैनोंको उनके दर्शन पढाते हैं और अपनी आजीविका चलाते हैं और पं. भगवद्दत्तजी अपने उत्तम रिसर्चके कारण डी. ए. वी. कालेजसे दूर हुए थे। ये विद्वान सालमें दो चार मंत्रोंके अर्थ प्रकाशित करते हैं तब मालूम होता है कि वैदिक ज्ञानका दीव प्रकाश दे रहा है। पर सालभर फिर अन्धेरा रहता है। ऐसी संशयास्पद अवस्थामें ८० वर्ष चले गये। ऐसे श्रेष्ठ पंडित होते हुए भी वेदका सरल और प्रमाण मानने योग्य अर्थ प्रकाशित नहीं होता इसका अर्थ क्या है? प्रतिवर्ष हम वेदाङ्कमें देखते हैं कि सायनकी यह गलती है, महीधरका यह भ्रम है, युरोपीन पडित ये ये गलतियां कर रहे हैं। यही वाक्य हम और कितने वर्ष पढते रहें? गलतियां पढनेसे सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। सौं पुरुषोंके चेहरोंकी कुरूपताका वर्णन पढनेसे एक भी सुन्दर मुख तैयार नहीं हो सकता। इसलिये यह ऐसा लेखन कबतक हम पढते रहें? इसका उत्तर ये विद्वान् दें या सार्वदेशिकसभा दे।

आगे 'ऋग्वेदमें अश्वमेध' नहीं है ऐसा लेख पं. गंगाप्रसादजी उपाध्यायका है। उसके पश्चात् पं. भगवद्दत्त जी वेदाङ्कारका एक लेख 'वेदोंके ऋषि' विषयपर है (पृ ५९) लेखकने स्वयं तथा वेदांकके विद्वान् संपादकजीने इसके प्रारंभमें ऐसा लिखा है कि "लेखक इसका उत्तरपक्ष वेदवाणीमें प्रकाशनार्थ भेजेंगे, यह केवल पूर्व-

पक्षके रूपमें ही प्रकाशित किया जा रहा है।' उत्तरपक्ष इसीके साथ प्रकाशित हो जाता तो अच्छा होता। लेखकका अन्तिमवाक्य इस लेखके अन्तमें यह हैं- "अन्तमें हमारा यही निवेदन है कि जिन साधनोंका अवलंबन कर ऐतिहासिक लोग वेदोंमें इतिहास आदिका वर्णन व उन्हें ऋषि रचना मानते हैं, उन्ही साधनोंको ग्रहणकर उनका खण्डन अतिदुष्कर है।" पर इस पक्षका खंडन वे अपने अगले लेखमें करेंगे ऐसा उन्होंने ही कहा है। अतः हमें कुछ देर ठहरना आवश्यक है।

इसके अनंतर डा विश्वनाथप्रसादजी वर्माका 'वेदका विराट् राजनीतिक दर्शन' नामक लेखक है। यह डेढ पृष्ठका ही लेख है विराट राजनीतिका दर्शन डेढ पृष्ठमें कितनासा हो सकता है' परतु यह लेख पढने योग्य है तथा इस विद्वान् लेखकका एक ग्रंथ 'राजनीति और दर्शन' प्रकाशित हुआ है। पाठक देखना चाहे तो इसका भी अवलोकन करें। पृ. ७८ पर पं वीरेन्द्रजी शास्त्रीका 'अश्वि. देवता' शीर्षकके नीचे एक लेख है इस लेखमें 'इतिहासाभास' के कुछ उदाहरण विद्वान् लेखकने दिये हैं—

१ च्यवानको युवा बनाना।
२ तौग्र्य भुज्युको समुद्रजलसे बचाना।
३ विश्पलाके लिये लोहेकी जंघा देना।
४ शयुके लिये धेनुको दुधारू बना देना।
५ अन्धे ऋज्राश्वको नेत्र देना।
६ लगडे परावृजको पैर देना

लेखकने २० उदाहरण दिये हैं। हमने केवल ६ ही यहां रखे हैं। 'अश्विनौ' देवता मुख्यतः 'वैद्य' देवता हैं। ये दवोके वैद्य हैं। वैद्यने किसी वृद्धको तरुण बनाया, अन्धेके आंख ठीक किये और वह अन्धा देखने लगा, किसीके टूटे टांगको लोहेकी टांग लगादी, दूध न देनेवाली गौको दुधारू बनाया, लंगडेको चलने फिरने योग्य बनाया तो उसमें आश्चर्य क्या है। वैद्योंका यह कार्य ही है जो अश्विनौ देवताके मंत्रोंमें वर्णन किया है। वेद इन शास्त्रोंको, इस विज्ञानको, बता रहा है। विज्ञानको बताना होतो ऐसा ही बताना पडेगा। इसपर इतनी सिरफोडी क्यों की जाती है, लेखकने एक सूक्त भी अर्थके साथ दिया है

युवं च्यवान सनयं यथा रथं
पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः। ऋ. १०।३९।४

"(युवं) तुम दोनोंने पुराने रथके समान, (च्यवानं) च्यवनको चलने फिरने योग्य (युवानं) तरुण (तक्षतुः) बनाया।" वेदमें वृद्धको तरुण बनानेकी विद्या है। इस विद्यासे अश्विदेवोंने एक वृद्धको युवा बनाना।

परंतु लेखकको यह सरल अर्थ पसंद नहीं है, वे विद्वान् लेखक 'च्यवान' का अर्थ 'कर्तव्यच्युत, पतित, वृद्ध तथा रोगी' करते हैं। इतना अनर्थ करनेका कारण क्या है इसका पता नहीं लग सकता। मंत्रका मुख्य वाक्य 'पुनः युवानं तक्षथु.' है इसका अर्थ 'पुनः तरुण बनाया' ऐसा स्पष्ट है। तरुण शब्दकी सापेक्षतासे इसकी पूर्व अवस्था 'वृद्ध' ही होनी चाहिये। 'रोगी, पतित या कर्तव्यच्युत' नहीं हो सकती।

कर्तव्यच्युतको पुनः तरुण बनाना,
रोगीको पुनः तरुण बनाया,
पतितको पुन तरुण बनाया,
वृद्धको पुनः तरुण बनाया

इनमें अन्तिम वाक्य ही शुद्ध भाववाला है और वही वेदमंत्रका आशय है, पर लेखक 'इतिहासके भूतसे' इतने घबराये हैं कि वे विचारे च्यवनको कर्तव्यच्युत, पतित तथा रोगी बनानेसे भी डरते नहीं। वेदने 'च्यवन वृद्ध था' इतना ही कहा है और औषधि योजनासे वह तरुण बन गया ऐसा कहा है। वेदको शुद्ध बनानेवाले ये लोग वेदका संरक्षण कर रहे हैं, या वेदको बिगाड रहे हैं, इसका विचार जो कर सकते हैं वे अवश्य करें।

वेद परमात्मा निश्वास है। उसको जैसा है वैसा ही रहने दें। उससे जो बोध प्राप्त हो सकता है वही लें और अपनी जीवनी कृतार्थ करें। 'वृद्धको तरुण बनाया' यह वेद है (१) कर्तव्यच्युतको तरुण बनाया, (२) रोगीको तरुण बनाया या पतितको तरुण बनाया ये अर्थ अवैदिक हैं। इस तरह लेखक अपने मनके भावोंको वेदपर न लगा दें। इस तरहके प्रयत्नसे वेदकी बहुत हानि हुई है। पंडितोंको ऐसा करना उचित नहीं है।

वेदके जो आर्य पंडित हैं उनको श्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि-सभा एक स्थानपर बिठलावे और उनसे वेदका एक सरल अर्थ लिखावे। उसको जहांतक शुद्ध किया जा सके, वहांतक शुद्ध करे और उसको प्रकाशित करे। इस

समय अंधाधुंदी जो चल रही है वह बड़ी हानिकारक है। आर्यसमाजमें प्रविष्ट सज्जनको संस्कृत सीखना आवश्यक होता है और सब आर्य संस्कृत जानते तो ऐसी अंधाधुंदी नहीं मचती। पर बहुत ही थोडे आर्य संस्कृत जानते हैं। इस कारण जो आडंबर मचाता है उसका लोग सुनते हैं। पंडितोंके लिये भी त्रैतवाद, श्राद्ध, वेदमें इतिहास ये ही चर्चाके विषय गत अस्सी वर्षोंसे हैं। वेदमें सैकडों उत्तम उत्तम विषय हैं, राज्यशासन, सेनारचना, कुटुंबसंस्था, अध्ययन, गृहनिर्माण, नगररक्षण आदि सहस्रों विषय वेदमें हैं, पर कोई इनका विवरण नहीं करता, जो उठता है वह त्रैतवादपर लिखता है जैसा दूसरा विषय ही वेदमें नहीं है। यह भयानक स्थिति है। यह दूर होनी चाहिये। यह वेदांक इस स्थितिका उत्तम नमूना है। अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। संक्षेपसे यह समालोचना इसलिये की है कि पाठक भ्रममें न पडें और ऐसे लेखोंसे वेदका उद्धार होगा ऐसा न मानें। वेदके सरल अर्थको इन लोगोंने क्लिष्ट बनाया है। वेद मनुष्यमात्रके लिये ईश्वरका संदेश है। अतः वह क्लिष्ट नहीं होना चाहिये। वेद सरल ही है परन्तु पंडित उसको क्लिष्ट बना रहे हैं। पाठक सावध रहें।

वैदिक धर्मका अनुष्ठान

इस समालोचनासे यह बात पाठकोंके ध्यानमें आजायगी कि ईर्ष्याद्वेषके झंझटोंमें पंडित लोगोंने पाठकोंको व्यर्थ डाला है और इससे वैदिक धर्मके सच्चे अनुष्ठानसे आर्य जनता वंचित रही है। वेद कहता है कि—

> ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।
> अथर्व १०।७।१७

"जो साधक मनुष्य शरीरमें ब्रह्मको जानते हैं, वे परमेष्ठी प्रजापति-परमात्माको जानते है।" यह वेदका भारी अनुष्ठान है, इसमें अपने शरीरमें कौनसे देवता कहां है इसको प्रथम जानना चाहिये।

> तस्माद् वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते।
> सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥
> अथर्व ११।८।३२

'इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है क्योंकि सब देवताएं, गौवें गोशालामें रहनेके समान, इस मानवी देहमें रहती हैं।' अपने देहमें सब देवताएं कहां कौनसी देवताएं हैं, यह यथावत् जानना चाहिये। और इससे यह समझना चाहिये कि यह अपना शरीर देवताओंका मन्दिर है, यह तुच्छ नहीं है। इसका परिणाम यह है कि इससे हम अपना आरोग्य स्थिर रख सकते हैं और दीर्घजीवन भी इससे हम प्राप्त कर सकते हैं देखिये—

> इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गात्
> अपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीः
> अन्तर् मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ यजु ३५।१५

(१) जीवोंके लिये यह (सौ वर्षोंकी) आयुष्यकी मर्यादा मैंने दी है। (२) कोई अधम बनकर इस (आयुष्यरूपी) धनको न कम करे। (३) सब मनुष्य सौ वर्षोंकी दीर्घ आयुष्यकी मर्यादातक जीवित रहें। (४) मृत्युको पर्वतके नीचे (पृष्ठवंशरूपी पर्वतके नीचे) अन्तर्हित रखें अर्थात् पृष्ठवंशकी धारणासे मृत्युको दूर रखें।" दीर्घायुकी प्राप्ति, आरोग्यप्राप्ति तेजस्वी बुद्धिमत्ताकी प्राप्ति आदि इस पृष्ठवंशमें स्थित देवताओंके उपासना अनुष्ठानसे मनुष्यको होती है। इस महान् अनुष्ठानके लिये मनुष्यको पृष्ठवंशमें ३३ देवतायें कहां कैसी हैं, जिसमें 'शिरो ब्रह्म' कैसा है, वहां ब्रह्मसभा मेरु पर्वत (पृष्ठवंश) पर कैसी है, वहां सब देवताओंके अंश कैसे हैं, यह सब वैदिक विषय जानना चाहिये। पर अनेक पंडित वेदके विषयोंपर लिखते हैं तो भी इस विषयको अबतक किसीने देखा भी नहीं है। ३३ देवताएं कौनसी हैं इसका भी ज्ञान किसीको नहीं है। उनसे शक्ति प्राप्त करनेका अनुष्ठान तो दूर हो रहा है। इस संशोधनपर कई पंडित लगे। पर लगे कैसे? उनको त्रैतवाद, इतिहासवाद, आदि झगडोंसे फुरसत ही कहां मिलती है? चतुर्वेद भाष्यकार पं. जयदेव शर्माजीने पूर्वोक्त मंत्रका अर्थ ऐसा किया है- "(मृत्युं) मृत्युको और मारनेके कारणरूप शत्रु और हिंसक जीवोंको भी (पर्वतेन) पालन पोषण सामर्थ्योंसे युक्त राजा द्वारा तथा पर्व, अध्यायों और काण्डोंसे युक्त वेदके ज्ञानकाण्ड द्वारा और पर्व अर्थात् बाण आदिसे युक्त सेना द्वारा (अन्तः दधतां) दूर करें।" (जयदेवशर्मा-भाष्य यजु)

'पर्वत' का अर्थ यहां 'पृष्ठवंश' है। उसके अन्दर जो ३३ देवताओंके अंश हैं उनको अनुकूल करनेसे मृत्यु अन्तर्धान होता है, दूर होता है। पर पं जयदेव शर्माने इसका अर्थ राजा, वेद और सेना किया है। और सब वैदिक अनुष्ठानके मारका नाश किया है। ऐसा ही चारों

वेदोंके भाष्योंमें सर्वत्र है। जबतक ३३ देवताओंका निर्णय नहीं होता और जबतक पंडित मनमाने अर्थ करनेसे अपना सर्वज्ञत्व समझते हैं तबतक ऐसा ही होगा। परमेश्वर करे और यह आपत्ति शीघ्र दूर हो जाय और वैदिक धर्म एक जीवित और जाग्रत जीवनका धर्म बने।

'पुरुषमें ब्रह्मदर्शन' करनेको वेद कहता है, 'पुरुष-शरीरमें सब देवताएं हैं। जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं।' यह वेदका कथन अनुभवमें आना चाहिये। ३३ देवताओंके नाम भी आज कोई जानता नहीं, यदि कोई जानता हो तो हमें बतावे। चार वेदोंके भाष्य बने हैं पर मुख्य बातका पता ही नहीं है !!! अपने शरीरमें ३३ देवताएं हैं, इनमेंसे वेदमंत्रोंमें ८।१० देवोंके नाम दिये हैं, उपनिषदोंमें १०।१२ देवताओंके नाम हैं, श्रीमद्भागवतमें १४।१५ देवताओंके नाम हैं। पर ३३ देवताओंकी खोज अबतक हुई नहीं। वेदमंत्रोंमें किसी स्थानपर होंगे, पर पंडित उस समय ढूंढ सकेंगे कि जिस समय वे इन शुष्क-वादोंसे मुक्त हो जायंगे। विशेषांकोंमें ये विषय लिखे जाने चाहिये। पर कोई खोज करनेवाला ही लिख सकेगा, जो सर्वत्र शुष्कवाद ही देखता है वह क्या लिख सकेगा? ८० वर्ष वेदधर्मका डंका बजाते रहनेपर भी हम वहीं हैं जहां थे और जबतक मनमाने अर्थ करनेमें गौरव माना जाता है तबतक यही अवस्था रहेगी।

आ गा मी प री क्षा यें

आगामी संस्कृतभाषा परीक्षाओं की तारीखें निम्नप्रकारसे निश्चित की गई हैं-

१— सीधे बैठनेके लिये प्रार्थनापत्र तारीख— १० जनवरी १९५७

२— आवेदनपत्र भरनेकी अन्तिम तारीख — २० जनवरी १९५७

३— परीक्षा दिनाङ्क— तारीख— १६-१७ फरवरी १९५७

मन्त्री— अखिल भारतीय संस्कृतभाषा प्रचार समिति,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, जि. सूरत

परीक्षा विभाग :

आ व श्य क सू च ना यें

ता. २२-२३ सितम्बर १९५६ की परीक्षाओंका परिणाम सभी केन्द्रोंको भेज दिया गया है। परीक्षार्थी अपना परीक्षाफल अपने स्थानीय केन्द्रव्यवस्थापकसे प्राप्त कर लें। परीक्षाफल विषयक पत्रव्यवहार केन्द्र व्यवस्थापक द्वारा करना आवश्यक है। परीक्षार्थी सीधे पारडी कार्यालयसे इस सम्बन्धि कोई भी पत्रव्यवहार न करें।

प्राप्तांक— सितम्बर ५६ को ली गई परीक्षाओंमें जो उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण परीक्षार्थी अलग-अलग प्रश्नपत्रोंके प्राप्तांक मगवाना चाहें, तो उन्होंने अपना पूरा नाम, परीक्षाका नाम, परीक्षा क्रमसंख्या, केन्द्र नाम, महिना, वर्ष आदिकी आवश्यक जानकारीका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ता. २५ दिसम्बर ५६ तक चार आने शुल्कके साथ प्रार्थनापत्र भेजना चाहिये।

पुनर्निरीक्षण— जो परीक्षार्थी अपनी उत्तर पुस्तकोंका पुनर्निरीक्षण करवाना चाहें, उन्होंने ता. २५ दिसम्बर ५६ तक प्रार्थनापत्र केन्द्रव्यवस्थापक द्वारा पारडी कार्यालय भेजना चाहिये।

प्रार्थनापत्रपर अपना पूरा नाम, परीक्षाका नाम, परीक्षा क्रम संख्या, प्रश्नपत्र संख्या, तथा केन्द्रनाम आदिका संपूर्ण विवरण अवश्य लिखकर भेजना चाहिये। प्रार्थनापत्रके साथ ही प्रत्येक उत्तर पुस्तकके आठ आनेके हिसाबसे निरीक्षण शुल्क भेजना अनिवार्य है। शुल्क तथा आवश्यक जानकारीके अभावमें उत्तर-पुस्तकोंका पुनर्निरीक्षण नहीं किया जायगा।

सूचना— पुनर्निरीक्षणमें केवल इतना ही देखा जायगा कि प्रत्येक प्रश्नके उत्तरके प्राप्तांक दिये गये हैं या नहीं और दिये गये प्राप्तांकोंका योग बराबर है या नहीं।

प्रमाणपत्र— दिसम्बर ५६ को ली गई परीक्षाओंके प्रमाणपत्र ता. ३१ दिसम्बर ५६ तक सभी केन्द्रोंमें भेज दिये जायेंगे।

केन्द्र-खर्च— सितम्बर ५६ की परीक्षाओंका केन्द्र-खर्च दिसम्बर ५६ के अन्ततक भेज दिया जायगा।

विशेष सूचना— सितम्बर ५६ को ली गई वेद-गीता-उपनिषद, साहित्यप्रवीण, साहित्यरत्न तथा साहित्याचार्यकी परीक्षाओंका परिणाम ता. २५ दिसम्बर १९५६ को प्रकाशित किया जायगा। इनका परिणाम सभी केन्द्रोंको २५ दिसम्बर ५६ तक भेज दिया जायगा और उनके द्वारा निश्चित तिथि एवं समयपर प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षा मन्त्री

उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको अभिनन्दन

प्रारम्भिणी, प्रवेशिका, परिचय तथा विशारद परीक्षाओंमें अच्छे अङ्क प्राप्त करके उत्तीर्ण होनेवाले परीक्षार्थियोंको संस्कृतभाषा प्रचार समिति द्वारा (स्वाध्याय मण्डल द्वारा संचालित) पुस्तकरूपमें पारितोषिक देना निश्चय किया है। जो परक्षार्थी अपने केन्द्रमें सर्वप्रथम आये हैं उन्हें यह पारितोषिक दिया जायगा। पारितोषिककी पुस्तकें यथा समय केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेजदी जावेंगी। प्रमाणपत्र वितरणोत्सवके समय केन्द्रव्यवस्थापक महानुभाव समितिकी तरफसे पारितोषिक पुस्तकोंका वितरण करेंगे।

२१-२३ १९५६ सितम्बर ई. की संस्कृत परीक्षाओंके

पुरस्कृत परीक्षार्थियोंके नाम तथा केन्द्र

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
चोर्ट्ला	शान्तिलाल जोशी	चीनुलाल शाह	ईश्वरलाल कोठारी	
सोनगढ		शरदचन्द्र संघराजका.		
दुण्डाव	रामजीभाई पटेल	त्रिभोवनभाई पटेल	रणछोडभाई पटेल	
लाडोल	कान्तिलाल पटेल	कीर्तिकुमार शाह	फकीरभाई पटेल	नारणभाई पटेल
,,	रसिकलाल शाह			
देग्रोज	गोविन्दभाई पटेल	जसवन्तगिरि गोस्वामी		
वापी	प्रमोदराय देसाई	शान्ताबहन देसाई	अम्बेलाल शाह	
धरमपुर	कुमुदबहन भगवते	कु कुमुद वसानी	शांतिलाल मेराई	भूपेन्द्र पुरोहित
,,	वीरेन्द्र वसाणी			
,,	बाबूलाल भरुचा			
कडी	नाथालाल पंचाल	दशरथगर गोस्वामी		
बगवाडा	विजयाबहन पटेल	खडुभाई पटेल		
कीम	अमरामभाई पिंजारा	बसीर अहमद कानुगो		
चिखली	सामजीभाई माहला	भीखुभाई शुमेकर		
ओरणा	विजयप्रसाद देसाई			
उनावा	शिवाभाई पटेल	माणिलाल पटेल		
बोरिआवी	रमेशभाई पटेल			
लांभवेल	किरीटकुमार पटेल	कांतिलाल पटेल		मनुभाई पटेल
हांसोट		कु. अरुणाबाला शेठ—	परभुभाई पटेल	
विसनगर न्यू. स.	जयन्तिलाल पटेल	अम्बालाल पटेल	कु लीलावती दंडवते	
सूपा	महेन्द्रकुमार पटेल			
नारगोल ता. वा	मजुलाबेन देसाई			
काविठा	अम्बालाल पटेल	हीराभाई पटेल	डाह्याभाई शाह	
आणंद शा. हा.	इन्दुप्रसाद दवे		इन्द्रवदन पटेल	

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
मलाड	जसवंती गांधी	परिमल कवि	परेशकुमार व्होरा	
,,	नीलकंठ धोलकीया			
पाटण मो. दो.	पोपटलाल त्रिवेदी	शंकरलाल ठक्कर	वासन्तीबेन सोनी	
मांडवी	ऊर्मिलाकुमारी चौहान		शांताबेन शाह	
पडुसमा	सेधाभाई पटेल	गोविंदलाल लिंबाचीया		
साबरमती	उषा चिटणीस	कु. उषा पाठक		शंकरभाई पटेल
,,	केशवलाल पटेल			
मणुन्द	केशवलाल परमार			
नडियाद	प्रकाशचन्द्र महेता			
पिलवाई	बेहेचरभाई पटेल	अम्बालाल पटेल		
नावली	जशभाई काछीया			
सांधियेर	बाबूभाई मकवाणा		कृष्णकान्त उपाध्याय	
कलोल	रश्मिनकुमार पचाल		गोविंदभाई आर्य	
बेचराजी	खेमचन्द्रभाई सोलंकी	मानाभाई पटेल		
व्यारा	बालुभाई राणा	मनाभाई गामित	मधुसूदन शुक्ल	
उमरेठ	इन्दुवदन शाह	रमेशचन्द्र सप्तर्षि		
ओड	रमणभाई पटेल			
,,	करीमभाई वहोरा			
आमलसाड	गांडाभाई पटेल	अरविन्द वशी	कु. जसुबहन नायक	
सरढव	रामाभाई पटेल			
अहमदाबाद (कांकरिया)	सुरेश जानी	कु. पन्ना नाणावटी		
डुंगरी	भगुभाई पटेल			
डभोई	आशुतोष महेता	मुकुन्दभाई शाह	जयवन्तकुमार मरके	खोडाभाई पटेल
भरुच	मीनाक्षी पड्या	गोकलभाई मक्त	वीरबाला मोदी	
नवसारी	जयन्तिलाल मोदी	बालजीभाई चौधरी	चिमनलाल गांधी	
चांदोद	रसिकलाल गुर्जर		प्रह्लाद दवे	
हारीज	उत्तमलाल शाह	पोपटलाल पूजारा		
भावनगर	नारणभाई मकवाणा	ओधवजी पटेल	अरविन्दकुमार रावल	
रणुंज	बबलभाई चौधरी			
वाघोडिया	भारतसिंह चौहाण			
बोरसद	महिजीभाई पढीयार	नटवरलाल बारोट		
,,	कालाभाई रोहित			
महेमदाबाद	बंसीलाल शाह			
,,	अमृतलाल पटेल			
राजपीपला	गजेन्द्रकान्त	हरेन्द्रप्रसाद भट्ट		

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
सिद्धपुर	रसिकलाल जानी.	कान्तिलाल पटेल	डाह्याभाई पटेल	
पाटण न्यू हा.	ठाकोरलाल खत्री		शांतिलाल मेडा	
महोलेल	चंपकभाई पटेल			
राजपारडी		कनैयालाल दीक्षित		
वरधरी	सुरेशचन्द्र भट्ट			
,,	कालीदास वाळंद			
धीनोज	खेमाभाई पटेल	हरजीवनभाई चावडा	रसिकलाल सोनी	
पालीताणा	चोईथराम घामेजाणी			
बिलीमोरा	भीखाभाई टंडेल	नगीनभाई पटेल		
खंभात	चन्दुलाल पटेल	नटवरलाल पटेल	प्रभाकर वैद्य	
बलसाड	जीतेन्द्रराय देसाई	प्रकाशचन्द्र देसाई	भारतकुमार देसाई	
डांगरवा	कांतिलाल पंड्या	देशाभाई प्रजापति	नटवरभाई प्र. पटेल	
गवाडा	चन्दुलाल रावल			
वालोड	सनत्कुमार पंड्या	किरीटकान्त शाह		
		कु. प्रज्ञा देसाई		
सूरत	मनहरलाल जरीवाला	इन्द्रवदन वैद्य	जगदीप शाह	
विसनगर ना. वि.	भालचन्द्र शाह	प्रफुलचन्द्र शाह	ईश्वरलाल शाह	
		मनुभाई सुथार		
देहगी	हरदेवचन्द्र खत्री			
लांघनज	बालकृष्ण लिंबाचीया	भलाभाई सोलंकी		
गढत	नटवरलाल पंचाल			
सोखडा	अश्विनकुमार पटेल			
सिनोर	सुरेशचन्द्र शाह	सूर्यकान्त पटेल		
झारोला	मगनभाई बारोट	घनश्याम बारोट		
आबूरोड	कुमारी गुलाब			
,,	कमलेन्द्रकुमारी गुप्ता			
,,	शंकरलाल मंगल			
,,	मनमोहन सक्सेना			
वाडिया	कंचनभाई बारीया			
जेतलपुर	चन्द्रकान्त शाह	चुनीलाल पटेल		
मोडासा	शिवशंकर पढ्या	रमाकान्त भट्ट		
मोभारोड	प्रवीणभाई पटेल	अम्बालाल पटेल		
बडौदा	कु. उषा एनापुरे	आनन्द देशपांडे		
		सुशील चोकसी		
आनंद पा. हा.	कु. उषावदन पटेल			
भनसुरा	रणछोडभाई पटेल	रामचन्द्र पटेल		

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
बारडोली	निर्मलाबहन उपाध्याय			
नायगांव	कु. रजनी देसाई		अविनाश परूळकर	विनायक ठाणेकर
महेसाणा	मणीलाल पटेल			
गोंदिया	हंसाराम टेकाम	श्रीराम ठाकूर	रामनारायण शर्मा	शंकरलाल शर्मा
राजनांदगांव	संजयकुमार झा			
नागपूर सु.म.	सौ. सुलभा बोरीकर	अरुण कुलकर्णी	कु. शशिकला कोरडे	दामोदर इन्दूरकर
भंडारा	कु. रजनी तोये	नामदेव खोबरागडे	शिवदास बोन्द्रे	
अमडापूर	रमेश चिटणीस			
उमरेड न्यू आ.	हरिहर फटिंग	सीताराम झाडे		
जगदलपुर	गंगाराम ध्रुव		भोलानाथ साव	
लोणार शि. हा.	वसंत देशपांडे	जनार्दन मापारी		
करकंब	जीवराज जैन		•	
वणी स. हा.	रामकृष्ण बत्रा	कु पुष्पा चन्ने		
हिंगणघाट	गोदावरी नाकाडे	सुधीर नागले	चन्द्रशेखर ढोले	
अमरावती वि. सं.	श्रीनारायण चांडक	कु. ज्योति सराफ	रामकृष्ण हिर्लेकर	
यवतमाळ ग. हा.	पुष्पा देशमुख	कु. विमल देशपांडे	कु. आशा देशपांडे	उषा गोखले
नवरगांव	यशवंतराव खुने			
,,	रामराव खुने			
नागपूर प. हा.	श्रवणकुमार गौर		विश्वेश्वर मेंढी	कु पुष्पा जोशी
बुलढाणा	कु. सरस्वती नारखेडे	कु. उषा दंडे	कु. शकुन्तला देशपांडे	श्रीकिसन ब्राजू
तेल्हारा	बेताळ पन्हाळकर			
होशगाबाद	प्रेमनारायण पचौरी			
लाखनी	वातू गिन्हेपुंजे			
,,	पिसाराम चेटुले			
चान्दूर रेल्वे	सीताराम भूत	देविदास गुलबे		
धामणगांव	कु. इंदिरा सोळंके	वसंत चिचमलातपुरे	हनुमन्त महाजन	हरिश्चन्द्र बुधलानी
कारंजा जे. सी.	कु. रत्नमाला ताम्बेरे	गजानन मांडेकर	राजाराम पवार	
भाटापारा	श्यामप्यारे अवस्थी	बालकिशन अग्रवाल	चांदरतन मूंधडा	रामप्यारे अवस्थी
नागपूर न. वि.	सौ. निर्मला कुरोडे	सुमन सराफ	मोहन कालीकर कु. सरोज अलोणी	प्रभाकर मसे
,,	लक्ष्मीकान्त कुरोडे			
वरोरा	आशा वसे			
लोणार वि. वि.		पुंडलिक घुगे	वसंत देशमुख	मधुकर टांगे
पेडगांव		दिगंबरदास उपाध्ये		

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
पातुर्डा	श्रीकृष्ण वानखेडे	पिरदान चांडक		
,,	विठ्ठल घाटे			
,,	मधुकर जोशी			
किनगांवजट्ट	विष्णू देशपाण्डे	धनंजय मोळकर		
यवतमाल म्यु. हा.	बंडू मेहुणकर	कृष्णा देवगडे		
अपालिंगा	सुग्रीव शेंद्रे	गोविंद कुलकर्णी		
,,	शेषराव जगताप			
,,	सोपान वाघे			
पनागर	अभयकुमार जैन	फूलसिंह साहू		
मालेगांव	नारायण तिवारी		श्रीराम जोशी	
उमरेड प.हा.	अरविंद पिंपळकर	कु. नलिनी डोके		
चांदा	शिवाजी गुरुमुखी	कु. पुष्पा जोशी	मधुकर भोगावार	कु शोभा देवईकर
नांदूर	कु. नलू शुक्ल	महादेव पाटील		
वणी शि. प्र.	प्रभाकर सरपटवार	कु. कुमुद कोंडावार		
पवनी	मुरलीधर कुंभारे	कु. लीलावती दुधमांडे		
खामगांव	अरविंद संगतई	राधाकृष्ण पुरोहित		
दिग्रस	कृष्णा सारफळे	बाबाराव डगळे	रामलाल बानपुरे	
,,	प्रभाकर खेडकर			
बुरहानपुर	अशोककुमार पटेल	रमेशचन्द्र शाह	हरेन्द्रनाथ व्यास	
धरणगांव	नामदेव कोलते			
मंगरूळपीर	कु. सुधा कुलकर्णी			
,,	पूर्णमल व्यास			
मेहेकर	राजहंस बिडवई	कु. मालती केदार		
बैतूल	रामेश्वर भावसार	कु. लीला पांडरीपांडे		
अकोला	कु. सावित्री भाटिया	कु. मंदाकिनी राजूरकर		कु. शशिकला अमरावतीकर .
नेरपरसोपन्त	गोविन्द हुसळकार			
नन्दुरबार	मोहनसिंग रघुवंशी	बेबी पटेल		
बामणोद	वामन जंगले		रामा मिरूड	
हरदा	अरुणकुमार अग्रवाल	रामशंकर		
साखरखेर्डा	बालाजी गोरे	दिगंबर माघी	श्रीकृष्ण कुलकर्णी	
देऊळगांवराजा	दिगंबर देशपांडे			सौ. रमा जोशी
नरसिंहपुर	मोहनलाल सोनी	रघुवीरसिंह पटेल		नारायण चिंचालकर
तुमसर	गजानन मकरंदे	महादेव मोटे		
शेलूबाजार	मधुकर सपकाळ			
आकोट	कु. कुसुम सरोदे	कु. उषा सहस्रबुद्धे		

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
मलकापूर	कु. स्नेहलता सोमण	सुमतिचन्द्र जैन		
चिखली	रंगराव काहोडे			
वर्धा ग. हा	कु. सुनन्दा वेरकर	कु. सुहासिनी बर्वे		
,,	कु. पुष्पा			
,,	कु. प्रभा देशपाण्डे			
देवळी	शंकर जोशी			
,,	कु. ताई धांडे			
,,	आनंदराव उंबरकर			
उडिपि	के. नादिराज पुराणिक	ए. सीताराम शर्मा	नारायण आचार्य	
,,	ए. लक्ष्मीनारायण भट्ट			
कासारबोरी	रतन शेवलीकर	सुरेश तेल्हारकर		
,,	पंडितराज भांबीकर			
,,	अमृतराज मराठे			
परतूर	मधुकर पाठक	पांडुरंग देशपांडे		
सेलू	शांतिलाल छाबडा	भास्कर जोशी		
कुकनूर	लीलावती सरमुकदम	धीरेन्द्राचार्य कट्टी		
उटकूर	यम् किष्टय्या			
केंदिला	बी. निर्मलेश्वर शर्मा	एम. के. शंकर भट्ट	पार्वतीदेवी बडेकिल	शिरंकला ईश्वर भट्ट
धर्माबाद	मुरलीधरराव पाठक	अनन्त संगमवार		
गेवराई	मधुकर बनसोड			
नारायणपेठ	बी. शेषगिरीराव	वसन्त गोडबोले		
परळीबैजनाथ	लक्ष्मीनारायण			
,,	भास्कर तुळजापुरकर			
वाशी	विश्वास कुलकर्णी	रामकृष्ण कुलकर्णी		
,,	मधुकरराव मार्कण्डे			
गंगाखेड			मारुती धानुरकर	
मानवत	मधुकर पुराणिक	यशवन्त कुलकर्णी		
जोगीपेठ	जि. दुर्गय्या			
पोलंगल	पंढरीनाथ महाजन			नागनाथ इनामदार
,,	एस. विठ्ठल			
तुळजापुर	सौ. सरस्वतीबाई कवठेकर	कु. लीला कवठेकर		
,,	कु. प्रेमा देशमुख			
,,	कु. नलिनी पंढरपूरकर			
,,	श्रीधर कवठेकर			
,,	बाबुराव नवगीरे			

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
अम्मैबलम्	सीताराम पाडि	टि. शंभू हेब्बार		पि. विघ्नराज भट्ट
कल्वाकुर्ति	के. श्रीनिवास रेड्डि	बी. रामाचारी अध्या		
परेण्डा	जगन्नाथ पाटील	सिद्धलिंग स्वामी		
औरंगाबाद	कु. वनमाला देशपाण्डे	सौ. लीला जोशी	कु. जयवंती कापडीया	
,,	कु. शान्ता जोशी			
निजामाबाद्		कु. मीनाक्षी इनामदार		
जालना सं. वि	राम ब्रह्मचारी	मदनलाल मूथा		
वेंगुर्ला	शशिकान्त रडकेर			
पैठण	भानुदासराव बडसल	कु. चंचला देसरडा		
,,	पुरुषोत्तमराव कानडे			
उस्मानाबाद	रामचन्द्र हंगेळे			सौ. कुसुमबाई मेस
जालना श्री. वि.	रामदास कौडगांवकर	कु. कमल जड		वासुदेव कवीश्वर
चन्द्रुगोंड	अप्पोज्वालसु अहल्यादेवी			
शाहपुर	श्रीमती गिरजाबाई	सदाशिव भट्ट	शरणप्पा मास्तर	
काहळा	सकळप्पा			
बीड	अनन्त मुळे			
,,	जयराम मुळे			
फरूखनगर	पि. श्रीशैलम्			
चकलाआंबा		व्यंकटराव कंपू		
दुलेन्दु	खादर शरीफ	रंगु. जगन्नाथाचारी	नल्लानी जगन्नाथाचार्युलु	
घाटबोरळ	रामचंद्र कांबळे	नागप्पा कत्ते		
आष्टी	प्रभाकरराव हयातनगरकर			
किशनगढ	पदमचन्द पाटनी		चेतनप्रकाश पाटनी	
बडवाहा	शिवनारायण गुप्ता	वेदप्रकाश शर्मा		
,,	सहदेवसिंह इनामदार			
जुलवानिया	मधुसूदन उपासनी			
भीकनगांव	जीवनलाल जैनी			
खरगोन	गणपति महाजन			
महिदपुर	दुर्गाशंकर शर्मा			
काखेरी	मालिकसिंह रेखी	रतनलाल मसन्द		
शिवपुरी	संतोषकुमार महेता			
त्रिशिरःपुरी	व कृष्ण	कु. जयम्मालू		सु. नटराज
सोनकच्छ	बालाराम महेता			
मंडलेश्वर	लीलाधर पंडित	देवीदास पाठक		

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
रतलाम	प्रह्लादचन्द्र अग्रवाल			
वर्धा	कु. विमल पाडळकर	सौ. प्रभावतीबाई कुलकर्णी		
,,	हेमचन्द्र कस्बे			
बरई	भवानीशंकर शर्मा			
गढ़ीहाथीशाह	राजवीरसिंह	शिवराजसिंह राजपूत		
		भगवानसिंह		
उन्नाव	छोटेलाल सिंह	शरणस्वरूप पाण्डेय		
महुवा	पूरणप्रकाश बसल	भगतीलाल गुप्त		
		प्रभातालाक शर्मा		
गांधीनगर	थांवर			
जयपुर	अजित लिमये			
रसीदपुर	मूलचन्द मीना	पूरणमल शर्मा		
,,	कैलाशचन्द्र शर्मा			
मद्रास	पी वी पद्मावती	एन बी. वेदावाल		
बमनाला	शिवराम सोहनी	द्वारकाप्रसाद वर्मा		
नाथद्वारा	हरिकान्त त्रिपाठी			
जोधपुर	शकुन्तला माथुर	सत्यनारायण		
इन्दौर	कु प्रेमकान्ता वर्मा			
अजमेर	गोपालकृष्ण मित्तल	वीररत्न आय		
सेंधवा	रमेशचन्द्र शर्मा	वसन्त बागदरे		
नैरोबी	तिलोत्तमा			
,	चन्द्रकान्ता सोनी			
,,	श्रीमती इंन्दिरा			
पावंजे	यस राजगोपाल शास्त्री			

Regd .No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्यायमंडल' (पारडी) [जि० सूरत]

अंक ११

वर्ष ३७

नवम्बर १९५६ कार्तिक २०१३

वैदिक धर्म

[नवम्बर १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३७ **वैदिक धर्म** अंक ११

क्रमांक ९५

कार्तिक, विक्रम संवत् २०१३, नवम्बर १९५६

बलवान् पुत्र हो

आ नो विश्वाभिरूतिभिः सजोषा ब्रह्म जुषाणो हर्यश्व याहि।
वरीवृजत् स्थविरेभिः सुशिप्राऽस्मे दधद् वृषणं शुष्मामिन्द्र ॥

ऋ. ७।२४।४

हे (हरि-अश्व) उत्तम घोडोंको जोतनेवाले (सुशिप्र) उत्तम शिरस्त्राण धारण करनेवाले इन्द्र! (विश्वाभि ऊतिभिः सजोषाः) संपूर्ण संरक्षणोंके साधनोंसे युक्त रहनेवाला तू (स्थविरेभिः वरीवृजत्) वृद्ध निपुण श्रेष्ठ वीरोंके साथ रहकर शत्रुका नाश करता है। (अस्मे वृषणं शुष्मं दधत्) हमें बलवान् तथा सामर्थ्यवान् पुत्र हो। (ब्रह्म जुषाणः नः आ याहि) इस ब्रह्मस्तोत्रका श्रवण करनेके लिये हमारे समीप आ॥

इन्द्र उत्तम घोडोंको अपने रथको जोतता है, सिरपर उत्तम शिरस्त्राण धारण करता है। सब संरक्षणके साधनोंसे सदा सुसज्ज रहता है। उत्तम वृद्ध वीरोंके साथ रहकर शत्रुका नाश करता है। वह स्तोत्र सुननेके लिये हमारे पास आवे। हमें उत्तम बलवान् पुत्र हो।

स्वाध्यायमण्डल वृत्त

१ **योगमहाविद्यालय**- योगमहाविद्यालयके आसनों और सूर्यनमस्कारोंके वर्ग चल रहे हैं। अब वृष्टि कम हो चुकी है और थोडी थोडी ठंडी शुरू हुई है। ये दिन प्रातः काल व्यायाम करनेके लिये उत्तम हैं। इसलिये जो अपने शरीरका स्वास्थ्य सुधारना चाहते हैं, वे शीघ्र आ जांय और योग व्यायामका अभ्यास करके अपना शरीर सुधारें।

२ **वेदमहाविद्यालय**- वेदमहाविद्यालयके वर्ग आगामी महिनेसे शुरू होंगे। आनेवाले विद्यार्थियोंके पत्र आ गये हैं।

३ **गायत्रीजपका अनुष्ठान**- गतमासमें जो प्रकाशित हुआ था उसके आगे नीचे लिखे अनुसार जपसंख्या हुई है-

१ तुलशा- श्री रामकृष्ण अध्यापक, तुलशा, कोटा, राजस्थान	१,०७,१३६
२ होशियारपूर- श्री बूधरामजी सूद, कुथियाला	१,००,०००
३ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१,५०,०००
४ पारडी- स्वाध्याय मण्डल	३,०००
संयोग	३,६०,१३६
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	१,१८,५६,८०५
कुल जपसंख्या	१,२२,१६,९४१

गायत्री महायज्ञ

हमने गायत्री जपका अनुष्ठान शुरू किया था। वह सहयोगियोंकी सहायतासे संपूर्ण हो रहा है। २४ लाखका एक इस तरह पांच पुरश्चरण हुए हैं। अब गायत्री महायाग एक दो महिनोंकी फुरसदसे करनेका विचार है। दिन निश्चित करनेका विचार चल रहा है। सब कार्यकर्ताओंसे पत्रोंके उत्तर आनेपर दिनका निश्चय करेंगे। कुछ भी हुआ तो भी ३ माससे अधिक समय नहीं जायगा। यह गायत्री महायज्ञका अनुष्ठान तीन दिनमें होगा।

गुजरात और महाराष्ट्रका संस्कृत भाषा संमेलन

गुजरात और महाराष्ट्रकी मिलकर संयुक्त संस्कृत भाषा संमेलनका अधिवेशन और वैदिक धर्म परिषद् भी इसी गायत्री महायज्ञके दिनोंमें होगा।

इस विषयमें इन कार्योंमें जो भाग लेनेवाले होंगे वे हमारे पास अपनी सूचनाएं भेजें और वे इस कार्यमें किस भागको अपने ऊपर लेकर निभा सकते हैं इसकी भी सूचना दें।

व्ययकी व्यवस्था

यह तीन दिनका कार्य है। इसका आनुमानिक व्यय पांच सात हजार रु. होगा। कदाचित अधिक भी होगा। हरएक आनेवाले पूरे तीन दिन यहां रहें इसकी आवश्यकता नहीं। जो अपनी अनुकूलतासे आ जांय और अपनी अनुकूलतासे रहे।

संस्कृत प्रचारका कार्य करनेवाले जितने आ सकते हैं उतने अवश्य आ जाय।

व्ययमें सहायता

ऊपर कहा है इस सब यज्ञकार्य और प्रचार कार्यके लिये ६ हजारसे ८ हजारतक व्यय होगा। यह पहिले हाथमें आना चाहिये। इसलिये जो इस धर्मकार्यमें आर्थिक सहायता दे सकते हैं वे स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंद्वारा एकत्रित करके म. आ. से नीचे लिखे पतेपर जल्दी भेजें। क्योंकि आर्थिक सहायतापर ही यह सब पुण्य कर्म निर्भर रहनेवाला है।

इस समयतक सहायता प्राप्त—

१- श्री बूधरामजी सूद कुथियाला होशियारपुर	१५) रु.
२- श्री दां. वा. जोशी, पुणे	५)
३- श्री रामकृष्ण दालभाई, सांगीर कोटा	२१)
४ गुप्त दान-	२५)
	६७) रु.

निवेदनकर्ता

श्री. दा. सातवळेकर

अध्यक्ष- अखिल भारतीय संस्कृत प्रचार समिति,

स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

शान्ति—प्रवाह

(लेखक : पं. श्री रामावतारजी, विद्याभास्कर, रतनगढ)

⊙

१. शान्ति क्या है ?

प्रेम-पात्रसे मिलन ही शांति है।

२. प्रिय-मिलनकी स्थिति क्या है ?

प्रेम क्या है ? और प्रेम-पात्र कौन है ? इन दोनों बातोंका यथार्थ ज्ञान हो जाना ही प्रिय मिलनकी स्थिति और यही शान्ति भी है।

३. प्रिय-मिलनका सुख कब असम्भव है ?

प्रियसे मिले बिना प्रियमिलनका सुख असम्भव है।

४. प्रियसे मिलन कब असम्भव है ?

प्रियको प्रत्यक्ष देखे बिना उससे मिलन असम्भव है।

५. प्रियसे मिले बिना रहना कब असम्भव है ?

प्रियको एक बार देख लेनेपर उससे मिले बिना रहना असम्भव है।

६. प्रियसे पृथक् होना कब असम्भव है ?

प्रियसे एक बार मिल लेनेपर फिर उससे पृथक् होना असम्भव है।

७. विच्छेद या वियोगको कहां स्थान नहीं है ?

सच्चे प्रेममें विच्छेदको स्थान नहीं है।

८. प्रेम क्या है ?

प्रेमी तथा प्रेमपात्रका विच्छेद रहित मिलन ही प्रेम है। प्रेमपात्रको अपने वशीभूत रखना ही प्रेम है। अत्यर्थ आकर्षण ही प्रेम है।

९. किसका विरहातुर होना असम्भव है ?

सच्चे प्रेमीका विरहातुर होना संसारकी असम्भव घटना है।

१०. स्वविरोधी बात क्या है ?

सच्चा प्रेमी भी हो और अपने प्रेमपात्रके विरहसे कातर भी हो यह स्वविरोधी बात है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमपात्रसे अलग रह ही नहीं सकता।

११. प्रेमके मिथ्या होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है ?

प्रेमी कहलानेवालका प्रियविरही होकर रहना, प्रिय विरहको समाप्त न कर सकना, उसके प्रेमको मिथ्या सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण है।

१२. प्रियको कौन त्याग बैठा है ?

जो प्रिय विरही होनेपर भी अपनेको प्रेमी कहलाना चाहता है वह अप्रियको ही प्रिय समझनेकी भ्रान्ति कर रहा है और अप्रियको ही अपनानेके कारण प्रियको जानबूझकर त्याग बैठा है।

१३. अप्रियका मोहजाल या अप्रियके मोहजालमें फंसे रहना क्या है ?

अपने प्रेमपात्रके अपरिचयका अर्थ किसी अप्रियका मोहजाल है। यही अप्रियके मोहजालमें फसे रहना या अप्रियकी कामनामें उलझे रहना है।

१४. चक्षुष्मान कौन है ? अभ्रान्त कौन है ? तथा शक्तिमत्ता क्या है ?

प्रेम चक्षुष्मान है। प्रेम अभ्रान्त है। प्रेम शक्तिमत्ता है।

१५. अन्धा कौन ? भ्रान्तिपूर्ण कौन ? तथा निर्बलता क्या है ?

काम अन्धा है। काम भ्रान्तिपूर्ण है। काम मानवकी निर्बलता है।

१६. प्रेम तथा कामका तुलनात्मक रूप क्या है ?

प्रेम ज्ञान है जब कि काम मनुष्यका अज्ञान है। प्रेम सुखमय है जब कि काम मानवकी दुःखदायी मनोदशा है।

१७. ज्ञान अज्ञान क्या है ?

अपने वांछनीयको जान लेना ज्ञान है अवांछनीयको अपनाना मनुष्यका अज्ञान है।

१८. वांछनीयको जाननेके लिये क्या जानना अनिवार्य है ?

अपने वांछनीयको जाननेके लिये वांछा करनेवालेका अपने आपको अर्थात् अपने स्वरूपको ज्ञान लेना अत्यावश्यक तथा अनिवार्य है। जो वांछनीयको जानना चाहता है उसका अपने आपसे पूर्ण परिचित होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

१९. स्वभावसिद्ध प्रेम क्या है ?

अपने स्वरूपको ज्ञान लेनेकी अत्याज्य अनिवार्य वांछा ही स्वभावसिद्ध प्रेम है। हम कौन हैं ? जाननेसे ही हम क्या चाहते हैं यह भी जानना अनिवार्य हो जाता है।

२०. मनुष्यका प्रेमपात्र कौन है ?

मानवका स्वरूप ही उसका प्रेमपात्र है।

२१. अभ्रान्त प्रेमी कौन है ?

स्वरूप मिलनके अखंड सुखका आस्वादन करनेवाला ज्ञानी हृदय ही अभ्रान्त प्रेमी है।

२२. मिलन और प्रेमका भेद क्या है ?

विच्छेद राहित्य ही मिलन है। विच्छेद विद्वेष ही प्रेम है।

२३. प्रेम क्या है ?

ज्ञान ही प्रेम है। पात्रापात्रकी निर्भ्रान्तता ही प्रेम है।

२४. ज्ञानीका प्रेमपात्र कौन है ?

ज्ञान ही ज्ञानीका प्रेमपात्र है।

२५ प्रेमीका प्रेमपात्र कौन है ?

अपना प्रेम या अपना ज्ञान ही प्रेमीका प्रेमपात्र है।

२६. ज्ञानीका स्वरूप क्या है ?

ज्ञान ही ज्ञानीका स्वरूप है। ज्ञानके अतिरिक्त उसका और कोई स्वरूप नहीं है।

२७ प्रेमीका स्वरूप क्या है ?

आत्मप्रेम ही प्रेमीका स्वरूप है।

२८. प्रेमिकता क्या है ?

प्रेमस्वरूपता ही प्रेमिकता है।

२९. प्रेमी बन जाना क्या है ?

ज्ञानी हो जाना ही प्रेमी बन जाना है। अपने स्वरूपसे परिचित हो जाना ही अपने स्वरूपका प्रेमी बन जाना है।

३०. प्रियमिलन क्या है ?

प्रेमी बन जाना ही प्रियमिलन है।

३१. प्रेमपात्रकी योग्यता क्या है ?

प्रेमीके अनुकूल होना ही प्रेमपात्रकी योग्यता है।

३२ प्रेमीकी योग्यता क्या है ?

प्रेमपात्रको प्रेमसे वशीभूत रखना ही प्रेमीकी योग्यता है।

३३ अनुकूलता क्या है ?

अविरोध ही अनुकूलता है।

३४. किससे बढकर अनुकूल दूसरा नहीं है ?

अपने आपसे बढकर अपना अनुकूल दूसरा नहीं हो सकता।

३५. अपने आप अपने अनुकूल न होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है ?

अपनेसे पृथक् किसी प्रेमपात्रको ढूंढनेमें रहना अपने आप अपने अनुकूल न होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

३६. प्रेम विमुखताका स्वरूप क्या है ?

प्रेमपात्रको ढूंढते फिरना ही प्रेम विमुखताका स्वरूप है।

३७ प्रियमिलनकी स्थिति क्या है ?

प्रेमपात्रकी ढूढका समाप्त हो जाना ही प्रियमिलनकी स्थिति है और यही उसके प्रेमी होनेका चिन्ह भी है।

३८. प्रियमिलनका सरल स्वाभाविक स्वतःसिद्ध सफल उपाय क्या है ?

किसी दूसरेको अपना बनानेकी दुराशाके चक्करमें न पडकर स्वयं अपने अनुकूल बन जाना ही प्रियमिलनका सरल स्वाभाविक स्वतःसिद्ध सफल उपाय तथा प्रेमपात्रकी ढूंढकी चरमनिवृत्ति है।

३९. अपने वशका स्वभाव क्या है ?

अपने आप अपने अनुकूल बन जाना ही अपने सामर्थ्याधीन स्वभाव है।

४०. शक्तिसे बाह्य स्वभाव विरोध क्या है ?

किसी दूसरेको अपने अनुकूल बनाना चाहना शक्तिबहिर्भूत स्वभाव विरोध है।

४१. कर्तव्य क्या है ?

जो अपने सामर्थ्यके अधीन है वही कर्तव्य है। इस दृष्टिसे स्वयं अपने अनुकूल बन कर रहना ही मनुष्यका कर्तव्य है।

४२. अकर्तव्य क्या है ?

शक्ति बहिर्मूत चेष्टा करना मनुष्यका अकर्तव्य है। इस दृष्टिसे दूसरोंको अपने अनुकूल करनेकी कुचेष्टा अकर्तव्य है।

४३. प्रेमके स्वरूप प्रेमके रूपमें परिणत हो जानेकी स्थिति क्या है ?

स्वरूप परिचय हो जाने मात्रसे प्रेमीका प्रेम अनिवार्य रूपसे स्वरूप प्रेमका रूप ले लेता है।

४४. प्रेम तथा प्रियमिलन क्या है ?

स्वरूप प्रेम ही यथार्थ प्रेम है तथा मनुष्यका प्रेमस्वरूप हो जाना ही उसका प्रियमिलन नामक व्यापार है।

४५. प्रेमी, प्रेमपात्र तथा प्रेममें क्या भेद है ?

प्रेमी, प्रेमपात्र तथा प्रेम एक ही मानसिक स्थितिके भिन्न भिन्न नाममात्र हैं।

४६. प्रेम, प्रेमका लक्ष्य और प्रेमी क्या है ?

मनकी प्रेममयी स्थिति प्रेम भी है, प्रेमका लक्ष्य भी है और प्रेमी भी है।

४७. ज्ञान क्या है ?

मनका अपने स्वरूपसे परिचित हो जाना ही ज्ञान है। ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञाताकी एकता ही ज्ञान है।

४८. प्रेम तथा ज्ञानका भेद क्या है ?

ज्ञान ही प्रेम है तथा प्रेम ही ज्ञान है।

४९. शुद्ध मन किसका प्रेमी है ? प्रेम क्या है ?

शुद्ध मन अपनी शुद्धताका ही प्रेमी है। मनकी शुद्धताको न बिगडने देनेका स्वभाव ही प्रेम है।

५० मनुष्यका स्वरूप क्या है ?

देहका स्वामी देही ही मनुष्यका स्वरूप है। देहका स्वामी देही ही स्वयं मनुष्य है। देह मनुष्य नहीं है।

५१. देहका स्वामी देही कौन है ?

अविकृत, [निर्विकार] शुद्ध मन ही देहका स्वामी देही है।

५२. देहका दास कौन है ?

विकृत अशुद्ध मन देहका दास है।

५३. देह क्या है ?

इन्द्रियां ही देह हैं।

५४. मन क्या है ?

या तो इन्द्रियोंका प्रभु या उनका दास बन जानेकी स्वतंत्रता ही मन है।

५५. मनुष्यका स्वरूप क्या है ?

जितेन्द्रिय मन मनुष्यका स्वरूप है।

५६. मनुष्यको स्वरूपच्युति या उसका विकृत रूप क्या है ?

इन्द्रियासक्त मन मानवकी स्वरूप विच्युति या उसका विकृत रूप है।

५७. मनकी स्वरूपावस्था क्या है ?

मनका विकारोंमें न फंसकर अविकृत रहना ही मनकी स्वरूपावस्था है।

५८ सत्य प्रेम ज्ञान मनुष्यता ईश्वरता या प्रियमिलनरूपी शान्ति क्या है ?

मनका स्वरूपस्थ रहना ही सत्य प्रेम ज्ञान मनुष्यता ईश्वरता या प्रियमिलनरूपी शान्ति है।

५९. मनकी अविकृत [निर्विकार] अवस्था क्या है ?

सत्य ही मनकी शुद्धताके रूपमें मनकी अविकृत अवस्था है।

६०. मनका आराध्यदेव क्या है ?

शुद्धतारूपी सत्य ही मनका आराध्यदेव सुखस्वरूप प्रेमपात्र तथा ईश्वर है।

६१ मनका प्रतारक परिहरणीय शत्रु कौन है ?

अशुद्धतारूपी जो असत्य है वही मनको सुखेच्छाके रूपमें अनन्त दुःखजालमें फंसाये रखनेवाला मनका प्रतारक शत्रु है।

६२ ज्ञान क्या है ?

मनकी शुद्धतारूपी सुखमयी स्थितिको प्रत्यक्ष समझ जाना ही ज्ञान है।

६३. अज्ञान क्या है ?

अशुद्ध मनकी जो मनुष्यको अंधेरेमें जा पटकनेवाली अंधी सुखेच्छा है वही अज्ञान है।

६४. अपना ही पूरा हुआ दुःखजाल क्या है ?

सुखाभाव या सुखेच्छा दोनों ही सुखविमुखता है और दोनों ही सुखविमुखताके रूपमें अपनेको बांध डालनेके लिये अपना ही पूरा हुआ दुःखजाल है।

६५. दुःखनिवृत्ति क्या है ?

सुखेच्छाको त्याग देना ही दुःखनिवृत्ति है।

६६. दुःखनिवृत्ति नामक कर्तव्यका रूप क्या है?

शुद्ध मनका जो आत्ममिलन है वही उसका स्ववशवर्ती दुःखनिवृत्ति नामक कर्तव्य है।

६७. आत्ममिलन कब होता है?

जब मनुष्यका शुद्ध मन सुखेच्छा त्याग देता है उस समय आत्ममिलन नामक घटना होती है।

६८. सामर्थ्य बाह्य अकर्तव्य क्या है?

स्वेच्छासे रचे हुए अज्ञानके ताने बानेसे पूरे हुए दुःख जालमें स्वेच्छासे उलझे रहकर असंभव सुखोंको ढूंढमें जीवनके क्षणिक सुअवसरको नष्ट करते रहना सामर्थ्य बाह्य अकर्तव्य है।

६९. ज्ञानीकी सफलता क्या है?

स्वभावसे (आदतन) सुखी ज्ञानीका सुख किसी फलमें न उलझ कर कर्तव्यपालनतक सीमित रहता है। अर्थात् अपना कर्तव्य करना ही ज्ञानीके लिये सुखदायी स्थिति है। इस प्रकार ज्ञानीको सुख देनेवाला उसका कर्तव्य स्वयं ही उसकी सफलता है।

७०. अज्ञानीकी विफलता क्या है?

स्वभावसे (आदतन) असुखी (सुखवियुक्त) अज्ञानी सच्चे सुखोंसे संबंध न रखकर मिथ्या सुख ढूंढते फिरनेके रूपमें दुःखमय अकर्तव्य किया करता है। उसका मिथ्यासुखान्वेषणरूपी दुःखमय अकर्तव्य स्वयं ही उसे सुखसे वंचित रखनेवाली उसकी निष्फलता है।

७१. शुभ अशुभ कर्मोंकी जननी क्या है?

शुभ भावना शुभ कर्मोंकी तथा अशुभ भावना अशुभ कर्मोंकी जननी है।

७२ ज्ञानीकी कर्तव्यनीति क्या है?

कर्म करनेसे पहलेसे ही अपने शुभ भावनारूपी मधुर फलास्वादनसे परिपूर्ण तृप्तावस्थामें कृतार्थ रहकर शुभ कर्म नामक कर्तव्य करना ही ज्ञानीकी कर्तव्यनीति है।

७३. कर्तव्यकी सफलता या उसकी जननी क्या है?

शुभ भावना ही स्वयं कर्तव्यकी सफलता या उसकी जननी है। शुभ भावनाके अतिरिक्त कर्तव्यकी सफलता नामकी कोई स्थिति नहीं है।

७४ अज्ञानीकी कर्मनीति क्या है?

अपने अशुद्ध भावनारूपी कटु फलास्वादनसे दुःखी (विषादग्रस्त) रहकर कुकर्म नामक अकर्तव्य करना अज्ञानीकी कर्मनीति होती है।

७५. अकर्तव्यकी असफलता क्या है?

अकर्तव्य करानेवाली दुर्भावना ही अकर्तव्यकी असफलता है। दुर्भावनाके अतिरिक्त अकर्तव्यकी असफलता नामक कोई स्थिति नहीं है।

७६. कर्तव्यकी ग्राह्यता और अकर्तव्यकी त्याज्यता किसमें रहती है?

भावनामें ही कर्तव्यकी ग्राह्यता रहती है। कर्तव्य करनेके लिये उसकी प्रेरक भावनाको अपनाना पडता है और अकर्तव्य त्यागनेके लिये उसकी प्रेरक भावनाको त्यागना पडता है।

७७. कर्तव्य अकर्तव्यका व्यावहारिक स्वरूप क्या है?

शान्त रहना कर्तव्य है और अशान्त होना अकर्तव्य है।

७८. मनुष्यका आराध्यदेव क्या है?

शान्ति ही मनुष्यका आराध्यदेव ईश्वर है।

७९. अशान्तिका निकृष्ट रूप क्या है?

अशान्ति आसुरिकता है। वह ईश्वरविमुखताके रूपमें आसुरिकता है।

८०. शान्तिस्वरूप ईश्वर मनुष्यके पास किस रूपमें उपस्थित रहता है?

शान्तिस्वरूप ईश्वर कर्तव्यरूपमें मनुष्यका अत्याज्य कर्म बन बन कर उसके पास उपस्थित होता है। इस दृष्टिसे कर्तव्यपालन ही ईश्वर पूजन हो जाता है।

८१. शान्ति क्या है?

कर्तव्यको प्रत्येक क्षण असाधारण प्रेमपात्रके रूपमें स्वीकार करना शान्ति है।

८२. अशान्ति क्या है?

कर्तव्यभ्रष्टता अशान्ति है।

८३. कर्तव्य क्या है?

असत्यका प्रबल विरोध ही कर्तव्य है।

८४. अकर्तव्य क्या है।

सत्यद्रोह मानवका अकर्तव्य है।

८५. असत्यविरोधका मधुर रूप क्या है?

असत्यका विरोध प्रियमिलनके रूपमें मधुर शान्ति है।

८६. सत्यद्रोहका कटु रूप क्या है?

सत्यद्रोह प्रिय वियोगके रूपमें कटु अशान्ति है।

८७. सत्यासत्यका सनातन संग्राम क्षेत्र क्या है ?
मानव हृदय सत्यासत्यका सनातन संग्राम क्षेत्र है ।

८८. सत्य क्या है ?
जितेन्द्रियता ही सत्य है ।

८९. असत्य क्या है ?
मनुष्यका इन्द्रियाधीन हो जाना असत्य है ।

९०. मानवका स्वभाव क्या है ?
जितेन्द्रियता मानवस्वभाव है ।

९१ दानवोंका स्वभाव क्या है ?
इन्द्रियासक्ति दानवोंका स्वभाव है ।

९२. देव और असुर कौन है ?
जितेन्द्रिय लोग देव हैं इन्द्रियोंके दास असुर हैं ।

९३. देवासुर संग्रामका व्यावहारिक रूप क्या है ?

देवासुर संग्राम मानव मनमें निरन्तर चलनेवाला संग्राम है । इस मानसिक देवासुर संग्राममें विजयी तथा विजित दोनों प्रकारके परस्पर विरुद्ध स्वभाव रखनेवाले मनुष्योंकी लक्ष्य विरोधके कारण उत्पन्न हुई शत्रुता ही मानव समाजमें देवसुर संग्रामका रूप लेकर सदासे प्रकट रहती आ रही है ।

९४. देवचरित्र तथा असुर चरित्रका भेद क्या है ?
अपने व्यावहारिक जीवनमें समाजकी शान्तिको सुरक्षित रखनेका पूरा ध्यान रखना देवचरित्र तथा उसमें शान्तिका हरण करनेवाले उपायोंका प्रयोग करना असुरचरित्र है ।

९५. व्यक्तिगत या सामूहिक कल्याणका परस्पर कैसा संबंध है ?

क्योंकि व्यक्ति समाजका अविभाज्य अंग है इसलिये व्यक्तिका व्यक्तिगत कल्याण अपने समाजके सामूहिक कल्याणसे अभिन्न संबंध रखता है ।

९६. व्यक्तिके व्यक्तित्वके विस्तारकी सीमा कहां तक है ?

क्योंकि व्यक्तिका देही भी वही सत्यस्वरूप अद्वितीय आत्मा है तथा व्यक्तियोंके सामूहिक रूप समाजका देही भी वही सत्यस्वरूप अद्वितीय आत्मा है क्योंकि समाज व्यक्तियोंका ही सामूहिक रूप है इसलिये व्यक्तिका व्यक्तित्व अपने पांच भौतिक देहतक सीमित न रहकर समग्र समाजतक विस्तृत रहता है । मनुष्यको अपने व्यक्तित्वके इसी महा विस्तारको समझना और अपनाना है ।

९७. मानव हृदयकी दैवी संपत क्या है ?
अपने व्यक्तित्वको अपने समाजके विराट् सत्यस्वरूप आत्मतत्वमें व्याप्त रखने और देखते रहनेका उदार दृष्टिकोण ही मानव हृदयकी सत्यभक्त दैवी संपत्ति या ज्ञान है ।

९८. आसुरी संपत क्या है ?
अपने व्यक्तित्वको अपने मिट्टीके खुनके देहके ही भोग सुखमें सीमित रखनेवाली भ्रान्त स्वार्थान्ध दृष्टि ही मानव हृदयकी सत्यद्रोही आसुरी संपत या अज्ञान है ।

९९. आध्यात्मिकता तथा आसुरिकता क्या है ?
ज्ञान ही आध्यात्मिकता है । अज्ञान ही आसुरिकता है ।

१००. व्यक्तिकी कर्तव्य बुद्धिका अभ्रान्त दृष्टिकोण क्या है ?

समाजके कल्याणको अपना ही कल्याण समझना व्यक्तिकी कर्तव्य बुद्धिका अभ्रान्त दृष्टिकोण है ।

१०१. अपनी मनुष्यतापर न्याय करना किसे कहते हैं ?

दूसरोंसे अपने लिये जो व्यवहार चाहा जाय दूसरोंको भी अपनेसे वही पानेका अधिकार दे देना व्यक्तिका अपनी मनुष्यतापर न्याय करना कहाता है और वह अपने इसी रूपमें उसका आत्म कल्याण भी है ।

१०२ मनुष्यकी ही विशेषता क्या है ?
अपने भोग्यपर आक्रमण न होने देना तो जीवमात्रका स्वभाव है परन्तु दूसरोंके अधिकारोंपर आक्रमण न करना मनुष्यकी ही विशेषता है ।

१०३. समाजद्रोही असुर कौन है ?
जो नरपशु दूसरोंके अधिकारपर आक्रमण करता है वह समाजद्रोही असुर है ।

१०४. समाज बन्धन क्या है ?
व्यक्ति और समाजके हानिलाभोंको अभिन्न समझ जाना ही समाज बन्धन है । मनुष्यमें इस प्रकारके विवेकका जाग खड़ा होना ही मानव हृदयकी दैवी संपत्ति आध्यात्मिकता मनुष्यता या नैतिकता आदि उदार नामोंसे विख्यात समाज बन्धन है ।

१०५. मनुष्यता क्या है ?
समाजमें दैवी शक्तिको विजयी तथा आसुरी शक्तिको पराभूत रखना ही मनुष्यता है ।

१०६. व्यक्तिका मनुष्योचित अत्याज्य कर्तव्य क्या है ?

अपने व्यक्तिगत कल्याणको समाज कल्याणमें विलीन करके समाजके असुरविरोधी संगठनोंमें स्वभावसे सम्मिलित रहना ही व्यक्तिका मनुष्योचित अत्याज्य कर्तव्य है।

१०७. सच्ची आध्यात्मिकता या मानव जीवनका एकमात्र लक्ष्य क्या है ?

अपने समाजकी शान्तिको सुरक्षित रखना ही आध्यात्मिकता है और यही मनुष्य जीवनका एकमात्र लक्ष्य भी है।

१०८. शान्ति क्या है ?

अशान्तिका दमन ही शान्ति है।

१०९. अशान्ति दमन क्या है ?

शान्तिस्वरूप आत्मतत्वके मानव देह धारण करनेके अभिप्रायको सिद्ध करनेवाले कर्तव्य ही अशान्ति दमन हैं। वे अशान्ति दमनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

११० आध्यात्मिकताका ध्येय तथा ईश्वर क्या है ?

शान्ति ही आध्यात्मिकताका ध्येय है और शान्ति ही मनुष्यका आराध्य अद्वितीय सत्यस्वरूप ईश्वर है।

१११. कौन किसका अनिवार्यरूपसे स्वभाव वैरी है ?

अपने हृदयमें निरन्तर होते रहनेवाले देवासुर संग्रामके विश्वविजयी वीरका समाज ही शान्तिके शत्रुओंका स्वभाव वैरी होना अनिवार्य है।

११२. आध्यात्मिकता तथा आसुरिकताका रूप क्या है ?

असुरदमन ही आध्यात्मिकता है। असुर दमनमें उदासीनता असुरोंकी अनुकूलताके रूपमें आसुरिकता है।

११३. विश्वविजयी ज्ञानी किसमें तत्पर रहता है ?

अखंड शान्तिमें आरूढ विश्वविजयी ज्ञानी प्रतिक्षण मन वचनकर्मसे असुर विरोधरूपी सत्यकी सेवामें तत्पर रहता है।

११४. ज्ञान या संतपन क्या है ?

सत्यसे तो प्रेम और असत्यसे द्वेष ही ज्ञान या सन्तपन है।

११५. सन्त और पापीका स्वरूप क्या है ?

सन्त मूर्तिमान सत्य है। पापी मूर्तिमान असत्य है।

११६. सन्तका स्वभाव क्या है ?

असुरविजयी सन्त स्वभावसे सत्यका द्रोह करनेवाले शान्तिसे द्वेष रखनेवाले पापी असुरोंका शत्रु होता है।

११७. आसुरी चाटुकारिता क्या है ?

समाजकी शान्तिके शत्रु पापीके साथ प्रेमका संबंध जोडनेकी नपुंसक कल्पना आसुरी चाटुकारिता है। यह चाटुकारिता उसे पाप करनेके लिये अधिकाधिक प्रोत्साहित करती है।

११८. किसका पापी बनना अनिवार्य होता है ?

पापीसे प्रेमका संबंध जोडनेवालेको अपने प्रेमपात्र पापीकी अनुकूलता करनी ही पडती है। यों पापीके प्रेमीका पापी बनना अनिवार्य होता है।

११९. आदर्श समाज कौन है ?

जो समाज समाजद्रोही असुरोंका संहार करता रहता और इस संहारसे समाज हृदयकी शान्ति निर्झरिणीको सुप्रवाहित रहनेका सुदृढ प्रबन्ध करके रखता है वही समाज आदर्श समाज है।

१२०. आदर्श राष्ट्र कौन है ?

आदर्श समाज ही आदर्श राष्ट्र है। आदर्श समाज ही दैवी राजशक्तिको जन्म देनेवाला आदर्श राष्ट्र है।

१२१. आदर्श राष्ट्र सेवक कौन है ?

जो शान्तिका अनन्य उपासक है वही आदर्श राष्ट्रसेवक है।

१२२. अखंड शान्ति या अभ्रान्त आध्यात्मिकता क्या है ?

राष्ट्रसेवा ही अखंड शान्ति है राष्ट्रसेवा ही अभ्रान्त आध्यात्मिकता है।

उपनिषद्--दर्शन

[श्री अरविंद]

अध्याय ४ था

[गताङ्कसे आगे]

परब्रह्म

अभीतक महान् परमार्थ तत्त्वको मानव आत्माके दृष्टिकोणसे, जब कि वह परमतत्त्वमें समाप्त होनेवाले विकासमें ऊर्ध्वकी ओर यात्रा करता है, देखा गया है। अब उस निरपेक्ष तत्त्वको अभिव्यक्तिके चक्रके दूसरे सिरेसे दृष्टिगोचर करना अधिक सुविधाजनक होगा, यह सिरा वह है जहांसे कि, एक विशेष अर्थमें, विकास प्रारंभ होता है और संसारका जो महाकारण (कारण रूपधारी परब्रह्म) है वह अपने मुखको उस विश्वकी ओर किये होता है जिसे कि वह शीघ्र सृष्ट करेगा।

सबसे पहले तो, निश्चय ही, वह निरपेक्ष तत्त्व है जो कि निरुपाधिक, अव्यक्त, अचिन्त्य है, जिसके विषयमें निषेधात्मक वचनोंके सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब वह निरपेक्ष तत्त्व अभिव्यक्तिकी ओर अपना पहला पद बढाता है तो वह अपनेमें अपनी अनन्त अचिन्त्य सत्ताकी ज्योतिर्मयी छाया उत्पन्न करता है जो कि परब्रह्म, अथवा यदि हम कहना चाहें तो, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मात्मा, कवि, द्रष्टा, प्रज्ञान, कारण, स्रष्टा, पुराण-पुरुष होता है। यहां यह बात ध्यानमें रखनेकी है छाया उत्पन्न करनेकी उपमा तुच्छ और असंगत है किन्तु इससे अच्छी दूसरी उपमा है भी नहीं। उसका वर्णन स्वयं वेदान्त केवल दो त्रिकोंमें कर सकता है, वे त्रिक हैं प्रमातृगत और प्रमेयगत- (सच्चिदानन्द) सत्, चित, आनन्द और सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम्।

सच्चिदानन्द, परब्रह्म शुद्ध सत्, निरपेक्ष सत् है। वह सत् है क्योंकि केवल वही अस्तित्व रखता है, दूसरा कुछ भी ऐसा नहीं है जो कि परम यथार्थता रखता है अथवा जो उसकी आत्म-अभिव्यक्ति न हो। और वह निरपेक्ष सत् है, क्योंकि वही केवल अस्तित्व रखता है और दूसरा कुछ भी यथार्थ अस्तित्व नहीं रखता; वह अपने अस्तित्वको अपने द्वारा, अपनेमें और अपने लिए रखता है। उसके अस्तित्वका कोई कारण नहीं हो सकता और न कोई उद्देश्य ही हो सकता है; उसमें वर्धन या ह्रास भी नहीं हो सकते; कारण वर्धन तभी हो सकता है जब कि बाहरसे किसी वस्तुको उसमें जोड़ा जाय और ह्रास तब जब कि उसमेंसे कोई अंश निकल कर दूसरेमें चला जाय, किन्तु ब्रह्मसे बाहर कुछ भी नहीं है। उसमें किसी प्रकारका भी परिवर्तन नहीं हो सकता।

कारण यदि उसमें परिवर्तन होगा तो वह काल और कार्यकारण भावके आधीन हो जायगा; उसके अवयव नहीं हो सकते; कारण तब वह देशके नियमके आधीन हो जायगा। वह देश, काल और कार्यकारण भावकी कल्पनाओंसे अतीत है, वह अभिव्यक्तिकी उपाधियोंके रूपमें प्रपञ्च रूपसे इन्हें उत्पन्न करता है, परन्तु ये अपने कारणको सोपाधिक नहीं बना सकते। अतः परब्रह्म निरपेक्ष सत् है।

परब्रह्म शुद्ध चित् भी है। हमें इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि हम ब्रह्मकी परम चेतनाको हमारी अपनी विचार और ज्ञान करनेकी प्रणाली वाली चेतना माननेके भ्रममें न पड जावें, अथवा उसे आलंकारिक भाषामें केवल वैश्व सर्वज्ञ मन अथवा ऐसे ही किसी नामसे न पुकारें। मन, विचार, ज्ञान, सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, अविद्या केवल वे रूप हैं जिन्हें कि चेतना विविध प्रकारकी उपाधियोंमें और विविध प्रकारके आधारोंमें धारण करती है। परन्तु ब्रह्मकी शुद्ध चेतनाका भाव हमारी विचार-कल्पनासे परे है।

दर्शन शास्त्रने यह बतलाकर बहुत अच्छा कार्य किया है कि चेतना अपने सारतत्त्वमें केवल प्रमात्री है; हमें बाहरी पदार्थोंकी चेतना नहीं होती; हमें केवल अपने मस्तिष्कोंमें कुछ प्रत्यक्षों और संस्कारों (प्रभावों) की चेतना होती है; हम अपनी इन्द्रियोंके पृथक् पृथक् या सम्मिलित व्यापारसे उन्हें बाहरी नाम और रूप प्रदान करते हैं और

पदार्थोंका स्वभाव ही इस प्रकारका है कि कालके अन्ततक हम इन संस्कारों और प्रत्ययोंके सिवाय और कुछ भी नहीं जान सकते। यह तथ्य असंदिग्ध है, यद्यपि जडवाद और विज्ञानवाद इसकी व्याख्या एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत रूपोंमें करते हैं। हम अन्तमें यह जान लेंगे कि यह अवस्था अनिवार्य है, क्योंकि चेतना वह मूलभूत पदार्थ है जिससे कि सम्पूर्ण विश्व उद्भूत होता है, यहांतक कि सम्पूर्ण विश्वको उस निरपेक्ष चेतनाका विकार या भ्रष्ट रूप कहा गया है।

अद्वैतवादी इस विषयमें यह कहते हैं कि सच्ची व्याख्या विकार नहीं है अपितु अध्यारोप है; यह अध्यारोप है, प्रथम आत्मामें अनात्माका, आन्तरिकमें बाह्यका, और फिर विकासके द्वारा प्रकट हुए नवीन और अधिकाधिक ... टेक रूपोंका। इस विषयमें यह जानना निःसन्देह आवश्यक है कि ये तात्त्वज्ञानिक व्याख्यायें हैं और जब हम इनके सूक्ष्म भेदोंको, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर भेदोंको पूरी तरह जान लेते हैं और अपने आपको अनन्त भावोंके किनारे (अन्त) पर ले जाते हैं तो कमसेकम वहां हमें ठहर जाना होगा। तब हम अपने मस्तिष्कोंके जालमें बधे होते हैं और इस देहमें अपने पार्ठोंको अनन्त सागरके ऊपर फैलानेके लिए रस्सेको नहीं काट सकते। यदि हम इस तथ्यको अस्पष्ट रूपमें अनुभव कर सकें कि समस्त चेतना अन्तमें आत्म-चेतना ही है तो यह पर्याप्त होगा।

उपनिषद् हमें यह बतलाते हैं कि ब्रह्म कोई ऐसी अन्ध वेग शक्ति नहीं है जो कि स्वभावतः यन्त्र रूपसे, जड रूपसे क्रिया करती हो, और न वह जड शक्तिका कोई अचेतन कारण है; ब्रह्म चेतन है अथवा इसकी अपेक्षा स्वयं चित् है और सत् भी है। इससे अवश्यम्भावी रूपमें यह परिणाम निकलता है कि सत् और चित् यथार्थमें एक ही हैं; सत् चित् है और उसे चित्से पृथक् नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक रूपमें हम यह मान सकते हैं कि सत्ता चेतनासे उद्भूत होती है या उसमें परिसमाप्त होती है या उसमें और उसके द्वारा अपना अस्तित्व रखती है; किन्तु परिसमाप्ति केवल अपने छिपे हुए उपादानमें लौटना है, एक ऐसा विकास है जो कि बीजमें छिपा है।

अतः इन सब तीन दृष्टिकोणोंसे चेतना अन्तमें सत्ताकी अवस्था है; ये मानसिक आवश्यकताके तीन भिन्न पक्ष हैं; हमारी मानसिक आवश्यकता हमें यह कल्पना करनेसे रोकती है कि मद्रा सत्को अपने सारतत्वमें यह ज्ञान न हो कि वह है। निःसन्देह हम यह विश्वास कर सकते हैं कि वस्तुओंका स्वरूप इससे विपरीत है; सत्ता अचेतनासे उत्पन्न होती है और कुछ समयके लिए चेतनाका रूप धारण करके फिर अचेतनामें निवृत्त हो जाती है; अतः चेतना केवल अचेतनाका एक रूप है, नित्य और अचेतनका एक मोह या क्षणिक विकार है। इस प्रकार चेतना, बुद्धि, मन, विचार और ज्ञान सभी माया हैं और अचेतन द्रव्य या शून्य ही एकमात्र सनातन परमार्थ तत्त्व है। परन्तु शून्यवादीका सत्ताका निषेध करना समस्त तर्क और विचारका व्याघात करना है, एक तात्त्वज्ञानिक आत्म-हत्या है जिसके द्वारा दर्शनशास्त्र अपने उदरको अपने ही छुरेसे काटता है।

जडवादीका यह निष्कर्ष कि नित्य अचेतन द्रव्य ही परमार्थ तत्त्व है शून्यवादीकी अपेक्षा दृढतर आधारपर प्रतिष्ठित जान पडता है; कारण हमारे पास यह निरीक्षित तथ्य है कि विकास निर्जीव द्रव्यसे प्रारंभ होता प्रतीत होता है, और चेतना ऐसी प्रतीत होती है कि वह जड द्रव्यमें स्वल्प कालके लिए प्रकट होती है और फिर उसमें ही विलीन हो जाती है, उसका अस्तित्व क्षणिक ही रहता प्रतीत होता है। इस युक्तिके उत्तरमें भी वेदान्त उत्तरोंकी पलटन भेज सकता है। जडवादीका यह कथन कि नित्य अचेतन द्रव्य (प्रकृति) बिना किसी नित्य चेतन परमार्थ तत्त्व (पुरुष) के अपना अस्तित्व रखती है, अद्वैतवादीके मायाके विरोधाभासकी अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक है और हमें ऐसे निष्कर्षपर ले जाता है जो कि मनके लिये अकल्पनीय है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि जडवादीका निष्कर्ष निरीक्षित तथ्योंसे निर्विवाद रूपमें सिद्ध हो गया है; इसकी अपेक्षा तथ्य हमें इससे सर्वथा विपरीत निष्कर्षपर ले जाते प्रतीत होते हैं; कारण किसी ऐसी वस्तुकी सत्ता जो कि यथार्थमें अचेतन हो और जिसके मूलमें कोई छिपी हुई चेतना न हो, केवल एक निजी कल्पना है; क्योंकि हम निश्चित रूपसे यह नहीं कह सकते कि निर्जीव पदार्थ सर्वथा निर्जीव हैं, और एक तथ्य ऐसा है जिसे हम निश्चित रूपमें और निर्विवाद रूपमें जानते हैं, वह है हमारी अपनी चेतना और सजीवता। निर्जीव द्रव्यके व्यापारोंमें हम सर्वत्र बुद्धिकी क्रियाओंको देखते हैं, वह बुद्धि कुछ साधनोंके द्वारा क्रिया

करती है और उन साधनोंका उपयोग किसी लक्ष्यके लिए करती है; और किसी अचेतन द्रव्यका बुद्धिपूर्वक साधनोंका उपयोग करना विरोधाभास है जिसके समर्थनमें अणुमात्र भी प्रमाण नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः योगके द्वारा जो विश्वका अधिक व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है वह ऐसी वैश्व बुद्धिको सर्वत्र क्रिया करती हुई प्रकट करता है।

अतः ब्रह्म चित् है, और एक बार इसे मान लेनेपर यह परिणाम निकलता है कि वह अपनी परात्पर यथार्थता (अपने परभावमें) निरपेक्ष चित् होना चाहिये। उसकी चेतना उसकी सत्ताके समान स्वयं अपनेसे है और स्वविषयक है, कारण ब्रह्मसे पृथक् और दूसरा कुछ भी नहीं है; इतना ही नहीं, अपितु ब्रह्मकी चेतना ब्रह्मके किसी एक अवयवका दूसरे अवयवके द्वारा ज्ञानरूप नहीं है अथवा सम्पूर्ण ब्रह्मके द्वारा उसके अवयवोंका ज्ञान रूप नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी परात्पर सत्ता एक और सरल है, निरवयव है। अतः उसकी चेतना उन नियमोंसे क्रिया नहीं करती जिनसे कि हमारी करती है; वह विषयीको विषयसे, ज्ञाताको ज्ञेयसे भिन्न करके क्रिया नहीं करती; वह तो अपने शुद्ध और निर्विशिष्ट स्वरूपमें, नित्य और अपरिछिन्न रूपमें केवल है; अशुद्ध और विशिष्ट सत्ताओंमें यह बात लेश मात्र भी नहीं पाई जा सकती।

परब्रह्म, अन्तमें, शुद्ध, निरपेक्ष आनन्द है। जिस प्रकार सत् और चित् एक ही हैं, इस ही प्रकार सत् और चित् आनन्दसे भिन्न नहीं हैं, जिस प्रकार सत् चित् है और चित्से पृथक् नहीं किया जा सकता, इस ही प्रकार चेतन सत् आनन्द है और आनन्दसे पृथक् नहीं किया जा सकता, मेरे विचारमें इसकी संप्रतीति हमें भौतिक स्तरपर सान्त सत्तामें और जीवनकी संकीर्ण चेतनामें भी होती है। कमसे कम चेतन सत्ता सुखके बिना विद्यमान नहीं रह सकती; यहां तक कि अत्यन्त दुःखी चेतन प्राणीमें भी सत्ता धारण करनेमें सुखका अनुभव होना चाहिये, चाहे वह सुख सरसोंके दानेसे भी छोटा क्यों न जान पड़े; जिस दुःखमें सुखका लेश भी न हो, जो केवल दुःख ही हो उसका अनिवार्य और तुरत परिणाम होता है आत्म-हत्या और विनाश।

जीवित रहनेकी इच्छा-चेतन सत्ताकी आत्म-परिरक्षणकी कामना एवं सहज बुद्धि, प्रकृतिका किसी विशेष प्रयोजनके लिए केवल व्यवस्था करण नहीं है, अपितु मूलभूत तत्त्व है और बिना किसी उद्देश्यके है, प्राणी जो अपने मूल तत्त्वमें और सर्वदा सुखका अनुभव करता है जीवित रहनेकी इच्छा उसका केवल देह और रूप है। जीवित रहनेकी इच्छाका किसी भी दूसरी वस्तुके लिए बलपूर्वक त्याग नहीं कराया जा सकता; इसका स्थान यदि कोई ग्रहण कर सकती है तो अधिक पूर्णतासे और व्यापक रूपमें रहनेकी इच्छा ही कर सकती है; और अधिक पूर्णतासे एवं व्यापक रूपमें रहनेकी इच्छा एक ओर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और अभीप्साका कारण है और दूसरी ओर प्रेम, आत्मत्याग और आत्म-विजयका। यहांतक कि आत्म-हत्या अपनी परिछिन्नताके विरोधमें उनकी विद्रोह है; यह विद्रोह कम अर्थपूर्ण नहीं है, क्योंकि यह ज्ञानरहित है।

सत्ताका सुख केवल व्यापक सत्ताके महत्तर सुखमें ही लीन होना स्वीकार कर सकता है; धर्म, ईश्वरके प्रति अभीप्सा केवल इस सनातन प्रारंभिक शक्तिकी परिपूर्णता है, अपने पृथक् और परिसीमित हर्षको अनन्त सत्ताके पूर्ण आनन्दमें लीन करनेकी कामना है। व्यक्तिगत रूपमें रहनेकी इच्छा व्यक्तिगत सत्ताके सुखका मूर्त्त रूप है और व्यक्तिगत सत्ता समस्त जीवोंका बाहरी, व्यावहारिक आत्मा है; किन्तु अनन्त भावमें रहनेकी इच्छा हमारे भीतर सीधे उस परात्पर, परम आत्मासे आ सकती है जो कि हमारा यथार्थ आत्मा है; और यह इच्छा ही हमें अमृतत्वकी ओर ले जाती है। अतः ब्रह्म जहां अनन्त चेतन सत् है, साथ ही वह अनन्त आनन्द भी है; और ब्रह्मका आनन्द अपने स्वरूपमें और अपने विषयमें, दोनों रूपोंमें अनन्त है।

दुःखकी मिलावट या सहविद्यमानतासे यह सूचित होता है कि दुःखका कारण या तो वही है जो आनन्दका कारण (ब्रह्म) है अथवा उस कारणसे भिन्न है; दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्ममें साक्षात् विभाग, संघर्ष, विरोध, कोई असमंजस और आत्मविनाशी तत्त्व मानना पड़ेगा। परन्तु विभाग और विरोध संबंधके आश्रित होते हैं, अतः संबंधरहित निरपेक्षमें नहीं रह सकते। ठीक प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि दुःख परिच्छिन्नताका परिणाम है। जब कामना और अन्तर्वेगोंकी तृप्ति पूरी न होकर सीमित होती है, अथवा जो भौतिक या मानसिक पदार्थ उनका विषय

होता है, वह जब किसी विजातीय वस्तुसे बाधाग्रस्त होता है, भीतर ही दबा दिया जाता है, विभक्त होता है अथवा दूर हटा दिया जाता है केवल तभी दुःख होता है। जहां परिच्छिन्नता नहीं है वहां दुःख नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मका आनन्द अपने स्वरूपमें निरपेक्ष है।

ब्रह्मका आनन्द अपने विषयमें भी निरपेक्ष है, कारण विषयी और विषय एक ही हैं। वह ब्रह्मकी अपनी सत्ता और चेतनाका स्वरूप भूत है; वह आनन्द न ब्रह्मके भीतर किसी कारणसे जन्य हो सकता है और न बाहरसे, कारण ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और वह अवयव रहित और विभाग रहित है। इस विषयमें कुछ मनुष्य हमें यह विश्वास कराना चाहेंगे कि स्वयं-सत् आनन्द असंभव है; कारण, दुःखके समान आनन्द भी किसी ऐसे विषय (पदार्थ) से जन्य होना चाहिये जो कि विषयीसे भिन्न हो, अतः यह परिच्छिन्नतापर निर्भर करता है। परन्तु इस भौतिक और जागृत जगत्में भी कोई भी गंभीर अनुभव हमें यह दिखला देगा कि एक सुख ऐसा है जो कि अपने परिपार्श्वोंसे स्वतंत्र होता है और अपने स्थैर्य और पोषणके लिए क्षणिक या बाहरी पदार्थोंपर निर्भर नहीं करता। जो सुख दूसरोंपर निर्भर करता है वह गंदला और अस्थिर होता है और ह्रास और विनाशकी निश्चिततासे दूषित होता है।

जब मनुष्य बाहरसे अपने आपको निवृत्त करके अपनी अधिकाधिक गहराईमें प्रवेश करता है तब वह उस शान्तिके अधिकाधिक समीप पहुंचता है जो कि बुद्धिसे परे है। इसके समान ही महत्त्वपूर्ण तथ्य अतितृप्तिमें पाया जाता है; अति तृप्तिका प्रधान नियम यह है कि सुखका क्षेत्र जितना ही कम सीमित और अधिक आन्तरिक होता है उतना ही वह अतितृप्ति और घृणा की पहुंचसे दूर होता है। शरीर सुखसे शीघ्र ही अतितृप्त हो जाता है, भावावेग, जो कि कम सीमित और अधिक आन्तरिक हैं, हर्षकी अधिक गहरी घूंट पी सकते हैं; मन, जो कि भावावेगोंकी अपेक्षा अधिक व्यापक है और अधिक आन्तरिकतामें समर्थ है, अतितृप्तिसे और भी अधिक दूर रहता है और आत्मसात् करनेकी अवि श्रान्त शक्ति रखता है; बुद्धि और उच्चबुद्धिके सुख, जहां कि हम बहुत दुर्लभ और व्यापक वातावरणमें गति करते हैं, कदाचित् ही नीरसताका अनुभव करते हैं, और जब कभी करते हैं तो शीघ्र ही अपने आपको सुधार लेते हैं। अनन्त आत्मा, जो कि हमारी आन्तरिकताकी चरम सीमा है, आध्यात्मिक आनन्दसे लेशमात्र भी घृणा नहीं करता और अपने आनन्दमें अनन्ततासे कममें संतुष्ट नहीं होता। इस आरोहण करती हुई क्रम परम्पराका तर्कसंगत अन्त है परात्पर और निरपेक्ष परब्रह्म जिसका आनन्द अन्तरहित, स्वयं-सत् और शुद्ध है।

अत: उपनिषदोंका त्रिक यह है, निरपेक्ष (परम) सत्, निरपेक्ष सत् होनेके कारण वह निरपेक्ष चित् (परम) है, निरपेक्ष चित् होनेसे वह निरपेक्ष (परम) आनन्द है।

दूसरा त्रिक है सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम्। यह त्रिक पूर्व त्रिकसे भिन्न नहीं है, केवल उसकी प्रमेय रूप अभिव्यक्ति है। ब्रह्म सत्य या यथार्थता या परमार्थ तत्त्व है, कारण सत्ताके प्रभातृगत भावको जब प्रमेय (विषय) रूपमें दृष्टिगोचर किया जाता है तो वह प्रमेय रूप ही सत्य या यथार्थता है। जो पदार्थ मूलभूत रूपमें अस्तित्व रखता है वही यथार्थ और सत्य होता है, और ब्रह्म चूंकि निरपेक्ष सत् है इसलिये वह निरपेक्ष सत्य और यथार्थता भी है। दूसरे समस्त पदार्थ केवल सापेक्ष यथार्थ हैं; वे निश्चय ही सभी भावोंमें मिथ्या नहीं हैं, कारण वे परमार्थ तत्त्वकी प्रतीतियां हैं; किन्तु वे अनित्य हैं और इसलिए स्वयं चरम सत्य, परम सत्य नहीं है।

ब्रह्म ज्ञान है, कारण चेतनाके प्रमातृगत भावको जब प्रमेय रूपमें दृष्टिगोचर किया जाता है तो उसका प्रमेयरूप ही ज्ञान होता है। ज्ञान शब्दका दार्शनिक परिभाषामें एक विशेष अर्थ होता है। किसी पदार्थके साथ संयोगके द्वारा उत्पन्न जो अनुभव होता है उसे संज्ञान कहते हैं, उससे ज्ञान भिन्न होता है। ग्रहणशील और केन्द्रीभूत इच्छासे जो प्रत्यक्ष होता है और जिसमें मस्तिष्ककी आज्ञा रहती है उसे आज्ञान कहते हैं, उससे ज्ञान भिन्न होता है। किसी प्रयोजनको सामने रखते हुए जो अनुभव होता है उसे प्रज्ञान कहते हैं, उससे ज्ञान भिन्न होता है। दो पदार्थोंमें विवेक करते हुए जो अनुभव होता है उसे विज्ञान कहते हैं, उससे भी ज्ञान भिन्न होता है। अतः ज्ञान वह होता है जो कि बिना किसी माध्यमके उपयोगके साक्षात् होता है। ब्रह्म निरपेक्ष ज्ञान है, ऐसा ज्ञान है जो कि साक्षात्

(सीधा) स्वयं सत् है, आदि मध्य और अन्तसे रहित है, जिसमें ज्ञाता ही ज्ञान और ज्ञेय होता है।

अन्तमें, ब्रह्म अनन्त है; वह हर प्रकारसे अनन्त है। नि.सन्देह उसकी अनन्तता उसकी निरपेक्ष सत्ता और चेतनामें भी अन्तर्भूत रहती है; परन्तु सीधे उसका उद्भव उसके निरपेक्ष आनन्दमें होता है, कारण, जैसा कि हम देख चुके हैं, आनन्द प्रमेय रूपमें परिच्छिन्नताका अभाव है। अतः आनन्दके प्रमातृगत भावको अब प्रमेय रूपमें दृष्टिगोचर किया जाता है तो वह प्रमेय रूप ही अनन्तता है। इसे दूसरे शब्दोंमें स्वतन्त्रता या अमरता भी कहा जा सकता है। विश्वके समस्त पदार्थ देश, काल और कार्य-कारण भावके विचारों, आरोपित नियमों और परिच्छिन्नताओंसे बद्ध हैं; केवल ब्रह्म ही ऐसा है कि जिसमें निरपेक्ष स्वतंत्रता रहती है, कारण उसका देश या कालमें कोई आदि, मध्य या अन्त नहीं है, और अक्षर होनेके कारण कार्यकारण भावमें भी आदि, मध्य या अन्त नहीं है। कालके दृष्टिकोणसे ब्रह्म नित्य या अमर है, देशके दृष्टिकोणसे वह अनन्त या विभु है, कार्यकारण भावके दृष्टिकोणसे वह निरपेक्ष स्वतंत्रता है। एक शब्दमें वह अनन्त है, परिच्छिन्नतासे रहित है। [क्रमशः]

अनु०- श्री केशवदेवजी आचार्य

सबके एक ईश्वरका वैज्ञानिक परिचय

(लेखक : धर्मभूषण श्री रणछोडदास 'उद्धव', साहित्यरत्न)

महामना मदनमोहन मालवीयजीने लिखा है कि—
जगत् में सबसे उत्तम और अवश्य जानने योग्य कौन है ? ईश्वर। आपका लिखना यथार्थ है, किन्तु जगत्में जगदीश्वरके विषयमें भिन्न भिन्न मतावलंबियोंके द्वारा झगडे हुए हैं एवं समय-समय पर होते रहते हैं, इसीलिये आपने ही अपनी पुस्तकके अंतमें धर्मशील जनसे यह अपेक्षा की है कि, 'समस्त जगत्को यह विश्वास करा दें कि सबका ईश्वर एक ही है और वह अंशरूपसे न केवल सब मनुष्योंमें किन्तु समस्त जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग और विटप-सबमें समानरूपसे अवस्थित है और उसकी सबसे उत्तम पूजा यही है कि हम प्राणीमात्रमें ईश्वरका भाव देखें, सबसे मित्रताका भाव रखें और सबका हित चाहें। सर्वजनीन प्रेमसे इस सत्य ज्ञानके प्रचारसे ईश्वरीय शक्तिका संगठन और विस्तार करें। अगत्से अज्ञानको दूर करें, अन्याय और अत्याचारको रोकें और सत्य, न्याय और दयाका प्रचार कर मनुष्योंमें परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढावें।' राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी भी अपने अनुभवकी देन दे गये हैं कि—

'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्।'

अतएव इन महानुभावोंकी शुभेच्छानुसार राष्ट्रधर्म प्रेमी बुद्धिमानोंकी सेवामें ईश्वर विषयक कुछ वैदिक विज्ञानकी दृष्टिके विचार एवं प्रमाण निवेदन कर देना चाहता हूं।

ईश्वर न मानना भ्रम है

जो लोग ईश्वरको बिलकुल नहीं मानते हैं, वे भ्रममें हैं। क्योंकि वे भी अपना अस्तित्व यानी जीवित रहना चाहते हैं, ज्ञान एवं जानना चाहते हैं और आनंद भोगना तो चाहते ही हैं। इन्हीं तीनोंको शास्त्र 'सत्, चित् और आनंद' अर्थात् सच्चिदानंदस्वरूप ईश्वर मानता है। अतएव मानवमात्रका उद्देश ईश्वर प्राप्ति ही हो जाता है। ईश्वर न माननेवाले लोग उक्त दृष्टिसे जरा बुद्धिको स्थिर कर सोचेंगे तो वे ईश्वरको माननेवाले ही ज्ञात होंगे। जगत्में सच्चिदानंदस्वरूप ईश्वरको न माननेवाला कोई मनुष्य हो ही नहीं सकता। अज्ञानयुक्त ज्ञानसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि-'मैं ईश्वरको नहीं मानता हूं।' ऐसे लोग अपने जन्म और जीवनको भी दोषरूप मानते हैं, ज्ञान-विज्ञानकी अवहेलना करते हैं एवं दुःख ही उनका उद्देश हो जानेसे जगत्से भी घृणा करते हैं। अतः वे उक्त प्रकारसे विचार करके अपने भ्रमको त्याग दें।

ईश्वरको माननेवाले मत

ईश्वरको माननेवाले मतोंमें भी कुछ ईश्वरको दूर मानते हैं और संसारको त्याज्य मानते हैं। कुछ व्यापक ईश्वरवादी ईश्वरको सर्वत्र तो मानते हैं परन्तु विश्वसे पृथक् मानते हैं एवं जगत्को मिथ्या माननेसे त्याज्य समझते हैं। वैदिकधर्मी ईश्वरको विश्वरूप मानते हैं और संसारयात्रा आनंदपूर्वक करते हैं। वे द्वन्द्वभावको त्याग कर अनन्यभाव धारण करते हैं एवं चारों वेदोंके महावाक्य स्वरूप 'पुरुष एवेदं सर्वं' अर्थात् 'पुरुष ही यह सब है' अर्थात् संपूर्ण विश्व ईश्वरका ही रूप है ऐसा मानते हैं एवं तदनुसार मानवमात्रको नारायणका स्वरूप समझकर स्वकर्मद्वारा उसकी सेवा करते हैं। वैदिक ईश्वरके विषयमें वेदभाष्यकार पूज्य पंडित श्री. दा. सातवलेकरजीने 'ईश्वरका साक्षात्कार' नामक सुंदर और सरल भाषामें ग्रंथ लिखा है। तीन रुपये इसकी कीमत है तथा करीब १०० वेदमंत्रोंका विवेचन करके इस विषयको सप्रमाण सिद्ध किया है। इसका अनुशीलन कर एकतत्वका दर्शन करना मानवके लिये अत्यंत आवश्यक है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे उस ग्रंथको पढकर अवश्य लाभ उठावें।

ईश्वर दर्शन

हिन्दी गीता विज्ञानभाष्य भूमिकामें पं. मोतीलालजी शर्मा भी ईश्वरदर्शनके विषयमें लिखते हैं कि- "उदाहरण

के लिये अध्यात्म संस्थाको अपने सामने रखिये। इस संस्थामें आत्मा और शरीर यह दो भाग हैं। आत्मा इस शरीरका प्रभु है, ईश्वर है। यही दो विभाग आपको आधिदैविक संस्थामें मानने पड़ेंगे। महाविश्व इसका शरीर है। विश्वके पर्वमें स्थित रहनेवाला क्षराक्षरगर्भित वही अव्यय इसका आत्मा है। दोनोंकी समष्टि ईश्वर है। हम जिस महाविश्वके दर्शन कर रहे हैं, वह साक्षात् ईश्वरके दर्शन हैं। शरीर ही चक्षुका विषय बनता है। आत्मा आँखसे देखनेकी वस्तु नहीं है। इस दृष्टिसे विश्वरूप ईश्वरके शरीरके दर्शन करना ईश्वरका प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसी विश्वशरीरके कारण उसे विश्वात्मा, विश्वेश्वर, जगदाधार, जगन्नियन्ता, जगदीश्वर, विश्वम्भर इत्यादि उपाधियोंसे विभूषित किया गया है।

ईश्वर ज्ञानप्रधान है, जगत् विज्ञानप्रधान है, मध्यस्थ जीव उभयात्मक अर्थात् ज्ञानविज्ञानवाला है। ज्ञानप्रधान आत्मा भगवान् है। यह उस छोरमें है, यही प्रथम पर्व है। विज्ञानप्रधान विश्व अन्तिम पर्व है। यह विश्व ही उस ज्ञानमूर्ति भगवान्की उपनिषद् अर्थात् बैठनेकी जगह है। यदि आप भगवान्से साक्षात्कार करना चाहते हैं तो आपको विश्वलक्षण उपनिषद्की ही आराधना करने पड़ेगी। निराकार भगवान्की प्राप्ति साकार विश्वकी उपासनासे ही होगी। वह आपको मिलेगा अवश्य, परंतु यहीं, इसी शरीरमें, इसी विश्वमें, विश्वान्तर्गत इन्हीं भौतिक पदार्थोंमें। श्रुतिमें कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
केन ३।१२

इसके अनुसार वह इन्हीं मूर्तोंमें प्रतिष्ठित है। बुद्धियोग ही उसके दर्शनका उपाय है।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्मा-
ल्लोकादमृता भवन्ति। केनोपनिषद् २।१३

धीर-बुद्धियोगी इन भूतोंमें ही उसे पाकर मुक्त होते हैं। यदि आपने यहीं, इसी शरीरसे उसे प्राप्त न किया तो विनाश है। इसी जगह ढूंढिये। मिलेगा, अवश्य मिलेगा। यदि आपने यहीं उसे पा लिया तो आपका जीवन धन्य है।

उपर्युक्त वैदिक दोनों पंडित (श्री सातवलेकरजी और मोतीलालजी) में ईश्वरदर्शन सिद्धान्तकी एक वाक्यता पाई जाती है। दोनों विद्वान् महाशय जीवित अवस्थामें ही ईश्वरके दर्शन होना आवश्यक समझते हैं, एवं उस ईश्वरको प्रकट बताते हैं। विचार करनेसे यह ज्ञात हो जाता है कि जगत्में जगदीश्वरको गुप्त रखनेसे ही 'गुरुडम्' फैलता है। नामधारी गुरुलोग भोले भक्तोंको अपने काल्पनिक तर्कजालमें डालकर तन-मन-धनादिका हरण किया करते हैं। एवं इस 'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः' वाली अन्धपरंपराको ही गुप्त ज्ञानमार्ग मानते हैं। वे लोग कहते हैं– ब्रह्म परोक्ष है। वैदिक कहते हैं– ब्रह्म साक्षात् प्रत्यक्ष है। अस्तिका किसे बोध नहीं ? यह अस्ति ही तो ब्रह्म है। महर्षि कठ कहते हैं—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति॥
कठोप० २।३।१२-१३

अर्थात् 'वाणी, मन और चक्षुके द्वारा यह प्राप्त करना अशक्य है। 'वह है' ऐसा कहनेवालेके सिवा अन्य स्थानमें वह कैसे मिल सकता है ? 'वह है' इस रूपसे ही उसे जानना योग्य है तथा दोनोंके तत्वज्ञानसे भी उसको जान सकते हैं। 'अस्ति'– "है" ऐसा जाननेपर उसका तत्वस्वरूप प्रसन्न होता है।'

अवैदिक गुरु कहते हैं—

'भोजन जो कुछ मिले, सो खावे, प्राणनका पालन हो जावे।' 'सब जग झूंठी माया साधो।'

वैदिक ऋषि कहते हैं—

अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्, न क्वचिदप्यलं बुद्धिमादध्यात्।

"तुम्हारे पास जो वस्तु नहीं है, उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करते रहो। कभी अलं (संतोष) मत करो।" बढे चलो, भूमाकी उपासना करते रहो। अस्ति ब्रह्मका रूप अहां भूमा एवं बडा है, नास्तित्व वहां अल्पतासे संबंध रखता है। आस्तिकदर्शनके अनुसार भूमा ही सच्चा सुख है एवं अल्पता ही दुःख है। जैसे कि—

यो वै भूमा तत्सुखं, यदल्पं तद्दुःखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्व। छां. उपनि. ७।२३।१

इत्यादि उपनिषदके सिद्धान्तसे स्पष्ट है। भूमा बहुत्व- का नाम है। इस बहुत्वका एकमात्र अस्तिलक्षण आत्माके साथ ही संबंध है। अल्पता कमी है। इसकी स्थितिका संबंध नास्तिलक्षण विश्वसंपत्तिके ही साथ है। 'इदमस्ति' (यह है) इस अस्तिज्ञानका परिचय देनेवाला एकमात्र सूर्यदेवता है। सूर्यदेवता ही अस्तिभावकी प्रतिष्ठा है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तो संपूर्ण अस्तिप्रपञ्च नास्तिभावमें परिणत हो जाता है। विश्वसत्ताकी भी प्रतिष्ठा यही सूर्य है एवं हमारी आत्मसत्ताका आश्रय भी यही सूर्य है। जैसा कि—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ. १।११५।१)

इत्यादि श्रौत सिद्धान्तोंसे स्पष्ट है।

जगदीश्वर सूर्य है

सचमुच यह बडा ही चमत्कार है कि जो आत्मा हमारे अस्तिलक्षण आत्माकी प्रतिष्ठा है, वही आत्मा नास्तिलक्षण शरीर किंवा भौतिक पदार्थोंकी भी प्रतिष्ठा है। वही सूर्य अपने एक रूपसे हमारा आत्मा बना हुआ है, वही सूर्य एक दूसरे रूपसे भौतिक पदार्थोंका उत्पादक बनता हुआ हमारा शरीर बना हुआ है। सूर्यके यही दोनों विरुद्ध रूप क्रमशः मित्र और वरुण नामसे प्रसिद्ध हैं।

पहले सूचित किया है कि ईश्वर ज्ञानप्रधान है और जगत् विज्ञानप्रधान है। सूर्य इन दोनोंका समन्वय सिद्ध कर रहे हैं। ज्ञान और विज्ञानका एकीकरण अर्थात् आत्मा एवं विश्वका सम्मिश्रण होना चाहिये। विश्वविज्ञान उत्तम, परंतु जब उसके मूलमें आत्मा प्रतिष्ठित रहे। आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ, परंतु विज्ञान- मूल विश्वविभूति नष्ट न हो तब। पूर्व अर्थात् भारत केवल ज्ञानके पीछे पडा है और पश्चिम केवल विज्ञानपर पागल हो गया है। दोनों ही ईश्वरके आधे-आधे अंगको मानते हैं अतएव दोनों आधे ईश्वरवादी हैं। अवश्य ही हमें उस उपायका अन्वेषण करना पडेगा, जिसके प्रभावसे विश्वशक्तिका दुःख आक्रमण न करे एवं विश्वसंपत् संबंधी सुख न हटे। वह उपाय है एकमात्र ज्ञान एवं विज्ञा- नकी समष्टिरूप बुद्धियोग।

बुद्धि और सूर्य

यह बुद्धियोग सम्यक् प्रकारसे सर्वरूपी सूर्य भगवान्‌का ध्यान करनेसे प्राप्त होता है, यह हमने 'साक्रिय-संध्या- साधन' में सूचित किया है, क्योंकि स्वय परब्रह्मके एवं ईश्वरात्माके अव्यय, अक्षर और क्षर यह तीन रूप हैं। विश्वदृष्टिसे वही तीन संस्थाएँ क्रमसे अव्यक्तसंस्था, व्यक्ताव्यक्तसंस्था तथा व्यक्तसंस्था इन नामोंकी अधिकारिणी हैं। स्वयंभू और परमेष्ठी यह पर्व अव्यक्त- संस्थासे संबंध रखता है, सूर्य व्यक्ताव्यक्तसे संबध रखता है एवं चन्द्रमा और पृथ्वी व्यक्तसंस्थासे संबंध रखते हैं। प्रथम संस्था अव्ययप्रधान है, दूसरी अक्षरप्रधान है एवं तीसरी क्षरप्रधान है। अव्ययप्रधान संस्थामें अमृतकी प्रतिष्ठा है, क्षरप्रधान संस्थामें मृत्युकी प्रतिष्ठा है और अक्षरप्रधान संस्थामें अमृत तथा मृत्यु दोनोंकी प्रतिष्ठा है। अध्यात्मसंस्थामें प्रत्यगात्मा अर्थात् आध्यात्मिक ईश्वर, शारीरक आत्मा एवं जीवात्मा और शरीर ये तीन विभाग हैं। इन तीनोंका आधिदैविक संस्थाओंसे संबंध है। अव्ययसंस्था प्रत्यगात्माकी प्रतिष्ठा है। अक्षरसंस्था शारीरक आत्माकी प्रतिष्ठा है और क्षरसंस्था शरीरकी प्रतिष्ठा है। जबतक जीवात्मा क्षरसंस्थामें रहता है, तबतक इसे जन्ममृत्युके प्रवाहमें प्रवाहित रहना पडता है। क्षर- संस्थासे अलग होकर जब यह अक्षरसंस्थामें चला जाता है तो क्षरग्रंथिसे मुक्त हो जाता है, यही इसकी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्यलक्षण अपरामुक्ति है। उसी बुद्धियोगकी कृपासे जब यह उस परलक्षण अव्यय- संस्थामें चला जाता है तो—

> परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति।
> परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तोंके अनुसारपर अव्ययमें लीन होता हुआ परामुक्तिको प्राप्त हो जाता है। सीधी भाषामें यह कि जबतक जीवात्मा चन्द्रगर्भिता पृथिवीके आकर्षणमें है तबतक यह बद्ध है, मृत्युभावसे युक्त है। सूर्यमें पहुँच- नेके अनंतर यह मुक्त है एवं सूर्यके ऊपर जानेपर यह ब्रह्ममें लीन है। वह बुद्धि वाङ्मयी प्रकृति ही है। सोलह कला- वाले पुरुषकी बाहरकी प्रकृति प्राण, आप, वाक्, अन्न और अन्नाद भेदसे पांच भागोंमें विभक्त है। इन पांचों प्रकृतियोंसे क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और पृथिवी इन पांच पुरोंका विकास होता है। ये ही

पाँचों आधिदैविकपर अध्यात्मसंस्थामें अंशरूपसे स्थित होकर **अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन** एवं **प्राणात्मा** इन नामोंसे प्रसिद्ध होते हैं। इस स्थितिसे पाठकोंको यह विदित हो गया होगा कि वाङ्मयी तीसरी प्रकृति ही सूर्यरूपमें परिणत होकर बुद्धि नामसे प्रसिद्ध होती है।

भगवान् सूर्य

सूर्यसे ऊपर परमेष्ठी एवं स्वयंभूमें अमृततत्त्वकी प्रधानता है, सूर्यसे नीचे पृथिवी एवं चन्द्रमामें मृत्युतत्त्वकी प्रधानता है तथा बीचके सूर्यमें अमृत और मृत्यु इन दोनोंका संबंध है- "**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।**" अमृत ज्ञान है, विद्या है। मृत्यु कर्म है, अविद्या है। सूर्यमें दोनोंका संबंध है, इसलिये सारी बुद्धिमें भी विद्या और अविद्या इन दोनों धर्मोंकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। विद्या और अविद्या दोनों ६-६ भागोंमें विभक्त है। विद्याके ६ रूप **ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, यश** और **श्री** इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। अविद्याके ६ रूप **अज्ञान, आसक्ति** एवं **रागद्वेष, अभिनिवेश** एवं **आवेश, अस्मिता** एवं **अविकास, अपयश** और **अलक्ष्मी** इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। ६ हों विद्याभाग भग नामसे प्रसिद्ध हैं और ६ हों अविद्याभाग मोह नामसे कहे गये हैं। जैसा कि कहा है-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

उक्त ६ भागोंमेंसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चारों भगोंकी विकासभूमि सूर्य है एवं चारोंके विरोधी अभिनिवेश, अज्ञान, आसक्ति और अस्मिता ये मोहलक्षण चारों अविद्याभाग भी सूर्यसे ही संबंध रखते हैं। यश और अपयशका चन्द्रमासे संबंध है तथा लक्ष्मी और अलक्ष्मीका आपोमय परमेष्ठी मंडलसे संबंध है। अध्यात्मके अनुसार लक्ष्मीरूप कांतिका और श्रीहीनताका स्थूल शरीरसे संबंध है तथा यश और अपयशका मनसे संबंध है। बाकी चारों भगों और मोहोंका बुद्धिसे संबंध है। कारण स्पष्ट है कि सूर्य ही बुद्धिका उत्पादक है, चन्द्रमा ही मनको पैदा करनेवाला है और परमेष्ठीका आप अर्थात् पानी ही "**अद्भ्यः पृथिवी**" इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार पृथिवी बना है। पृथिवी ही स्थूल शरीरका उत्पत्तिस्थान है। सूर्योपनिषद्में भी सूर्यको जगत्की उत्पत्तिका हेतु होनेका वर्णन है—

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि च।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च॥ ६॥

अर्थात् 'सूर्यसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, सूर्यसे पोषण पाते है तथा सूर्यमें लीन होते हैं, जो सूर्य है वह मैं ही हूं।' उक्त प्रमाणसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, रक्षणकर्ता विष्णु और प्रलयकर्ता शिव भी सूर्य ही सिद्ध हो जाते हैं। सूर्य अपने अमृत और मृत्यु भागसे विश्वके प्रकाशक बने हुए हैं। जब तक सूर्य हैं, तभीतक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन प्रलयका साम्राज्य हो जायगा। "यह विद्या (ज्ञान) है और यह अविद्या (कर्म) है" इस प्रकारसे संसारमें समष्टि और व्यष्टि रूपसे जिस ज्ञान और कर्मका साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानघन सूर्य भगवान्की महिमा है। '**अहं सूर्य इवाजनि।**' इस प्रकार विद्या और अविद्या रूपसे हम विज्ञानात्मा सूर्य भगवान्के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

अध्यात्ममें ईश्वर दर्शन

उक्त सूर्यविकसित विश्वरूप ईश्वरकी ईश्वरता **ज्ञान, कर्म** और **अर्थ**भेदसे तीन तन्त्रोंमें विभक्त है। इन तीनों ऐश्वर्योंसे ईश्वर सबका ईशिता (स्वामी-अध्यक्ष) बनता हुआ संपूर्ण विश्वमें विकसित हो रहा है। ऐश्वर्यशाली इसी ईश्वरके अंशका नाम जीवात्मा है, अतएव इसमें भी उन ईश्वरीय धर्मोंका आगमन स्वतः सिद्ध है। वेदने ईश्वरकी ईश्वरताके संबंधमें जहां ज्ञान, कर्म और अर्थ ये तीन तंत्र माने हैं, वहां उपवेदभूत आयुर्वेदमें इन्हीं तीनोंको काल, कर्म और अर्थ नामोंसे कहा है। मन ही कालात्मक शिव है, यही कालचक्र है, शिरोयन्त्र ही इसकी प्रतिष्ठा है। प्राण ही कर्म है, यही ब्रह्मा है, हृदययन्त्र ही इसकी प्रतिष्ठा है तथा वाक् ही अर्थ है, यही विष्णु है, नाभियन्त्र ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अध्यात्मसंस्थाके तीनों यन्त्रोंके द्वारा हम ईश्वरकी ईश्वरताके साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

मन प्राणवाङ्मय ईश्वर प्रजापति जैसे ज्ञानसे **सर्वज्ञ**, क्रियासे **सर्वशक्तिमान्** एवं अर्थसे **सर्ववित्** बनता हुआ सर्वमूर्ति या पूर्णमूर्ति बन रहा है, इसीप्रकार उसका अंश

मनःप्राण वाङ्मय जीवप्रजापति भी " पूर्णमदः पूर्णमिदम् " " यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह " " योऽसौ, सोऽहम्- योऽहं सोऽसौ " इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार ईश्वरकी ज्ञान, क्रिया और अर्थ इन तीनों विभूतियोंसे पूर्ण है। हमारे और इसके मध्यमें अस्मिताका आवरण आ गया है। इसीलिये हम अपने अंशीकी ईश्वरताको भूल रहे हैं। हम भूल जाते हैं कि- सूर्य हमारे सामने है, त्रैलोक्य इसके प्रकाशसे प्रकाशित है ' सूर्य आत्मा ' इस सिद्धान्तसे हम उसीके एक अंश हैं- अवयव हैं। हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि यदि हमें हमारे वास्तविक इतिहासका पता लग जाता है तो हमारे आत्मामें अपने आप नवीन बलका संचार हो जाता है। उदाहरणके लिये आजके भारतवर्षको ही लीजिये। हमें अपने मौलिक रहस्यरूप सत्य इतिहाससे वंचित रखते हुए आरंभसे ही मिथ्या इतिहासोंके द्वारा हमारे यह संस्कार बना दिये गये कि- " हम पहले- पूर्वयुगमें मूर्ख थे, असभ्य थे, जंगली थे, जड पदार्थोंकी उपासना करनेवाले थे एवं विज्ञानशून्य थे। " परिणाम यह हुआ कि आज इस मिथ्या संस्काररूप अस्मिताके आवरणसे हम उस पूर्व ऐश्वर्यको भूलते हुए भ्रमवश अस्मिता- प्रचारकोंका ही गुणगान करने लगे। भारतके इतिहासपर जयपुरके राजपंडित महामहोपदेशक स्वर्गीय श्री मधुसूदनजी ओझाके ' इन्द्रविजय ' ' विज्ञानविद्युत् ' आदि ग्रन्थ इतिहास एवं विज्ञानप्रेमियोंको अवश्य देखने चाहिये। उनसे अवश्य आत्मामें अपूर्व विकासका अनुभव होगा और ईश्वरसे अनन्यता होगी।

सबका ईश्वर या आत्मा सूर्य ही है

' ईशावास्यमिदं सर्वम्० ' (यजुर्वेद ४०।१) ' यह सब ईशकी सत्तासे युक्त है, अतः उससे त्यक्त भागका ही भोग करो, अन्य वस्तुकी इच्छा मत करो। ' क्या संसारमें कोई ऐसा पदार्थ है जो ईश्वरसत्तासे पृथक् हो जाय ? जब कि " ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। " ' ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें है। " " ब्रह्मैवेदं सर्वम् " ' ब्रह्म ही यह सब है ' इत्यादि सिद्धान्त सर्वत्र मानते हैं, तो ऐसी अवस्थामें " तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा " ' उससे त्यक्तसे पालन कर ' यह कैसे कहा गया ? इस प्रश्नका समाधान ' प्रवर्ग्यविद्या ' में किया है। यज्ञपुरुषमें आहुत होनेवाला अन्न ' ब्रह्मौदन ' और ' प्रवर्ग्य ' भेदसे दो प्रकारका है। ब्रह्मौदन (ब्रह्मके खानेके भात) से यज्ञपुरुष अपना स्वरूप सुरक्षित रखता है एवं प्रवर्ग्य (त्यक्त) से संपूर्ण विश्वप्रजाको उत्पन्न करता है। यह प्रवर्ग्य ईश्वर प्रजापतिका यज्ञ है। प्रजापतिकी प्रजामें प्रजापतिकी सत्ता नहीं है किन्तु प्रजामें प्रजापतिके यज्ञकी सत्ता है। जो स्थिति देशाधिपतिकी है, वही स्थिति विश्वाधिपतिकी है। प्राजापत्यतन्त्र ही राजतन्त्रकी प्रतिष्ठा है। प्रजाकी सारी संपत्ति आखा राजाकी मानी जाती है, परंतु प्रवर्ग्यरूपसे। राजकोष (खजाना) मात्र ही राजाका ब्रह्मौदन है। ग्राम, नगरादि प्रवर्ग्य हैं। इनमें राजाकी सत्ता व्याप्त है। राजाके द्वारा त्यक्त इसी प्रवर्ग्यका सारी प्रजा भोग करती है। यही ' तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा ' का उत्तर है।

यह प्रवर्ग्यभाग " उच्छिष्ट " नामसे प्रसिद्ध है। यही सबका उपादान अर्थात् मुख्य कारण है। इसी आधार पर " उच्छिष्टात् सकलं जगत् " यह कहा जाता है। हिरण्यगर्भमूला सृष्टिके अनुसार विश्वकेन्द्रस्थ सूर्यको सबका संचालक माना जाता है। यज्ञप्रजापति सूर्यात्मक बनकर ही विश्वप्रजाका निर्माण करता है। कारण यही है कि षोडशीपुरुष नामसे प्रसिद्ध चिदात्माका सूर्यमें ही विकास होता है। पारमेष्ठ्य सोम इसमें निरंतर आहुत होता रहता है। इसी आधारपर सूर्यके लिये " सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम् " (शत० २।५।६।५) कहा जाता है। इस यज्ञपुरुषका स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

चत्वारिशृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वेशीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ ऋ० ४।५८।३

' इसके चारों वेद सींग (यज्ञके रक्षक) हैं- " सैवा त्रयी विद्या यज्ञः " (शत० १० कां०), प्रातःकालका सूर्यतेज गायत्र है, मध्याह्नका तेज सावित्र है एवं सायंकालीन सूर्यका तेज सारस्वत है। प्रतिष्ठास्वरूप ये ही तीन सवन इसके पांव हैं। (ये तीनों सूर्यकी कांतियां क्रमशः गायत्री, सावित्री और सरस्वती देवियां हैं।) पूर्वोक्त ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य ये दो मस्तक हैं। खगोलविद्याके

अनुसार सौरमण्डल-गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन सात छन्दों (अहोरात्रवृत्त या पूर्वापर वृत्त) पर स्थित है। क्रांतिवृत्तस्वरूप एक पहियेवाले सुनहरी (हिरण्मय आग्नेय) रथका एक अश्व है। उसीके वृत्तभेदसे सात नाम हैं। 'एको अश्वो वहति सप्तनामा०' (ऋक् सं. १।१६४।२) के अनुसार उक्त छन्द ही सात अश्व हैं। ये ही छन्दोमूर्ति सात अश्व इसके सात हाथ हैं। मंत्र, कल्प यानी विधान और ब्राह्मण इन तीन मर्यादाओंसे बंधा हुआ यह सूर्य 'चित्रं देवाना-मुद्गात्०, (यजु. सं. ७।४२) के अनुसार संपूर्ण देवता-ओंका संचालक होता हुआ महादेव है। "आ यं गौः पृश्निरक्रमीत्" (यजु० ३।६) के अनुसार पृश्नि (सप्त-वर्णात्मक) गोमूर्ति-वृषभमूर्ति यज्ञपुरुष मर्त्य प्रजामें प्रविष्ट हो रहा है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः सं० ७।४२) के अनुसार यही यज्ञमूर्ति वृषभ सबका आत्मा बना हुआ है। उक्त 'चत्वारि शृंगा०' मंत्र अनु-गम मंत्र है अतः इसके कई अर्थ होते हैं।

ईशसत्ता अन्दर और बाहरके संबंधसे दो प्रकारसे विश्वके पदार्थोंमें स्थित रहती है। ईश्वरका जो अंश प्रवर्ग्य बनकर जीवसंस्थाका उपादान बन जाता है, वह ईश्वरसत्ता 'अन्तर्यामसत्ता' कहलाती है, एवं व्यापकसत्ताका जो संबंध प्रवर्ग्यरूप जीवोंके साथ होता है वह सत्तासंबंध 'बहिर्याम' नामसे कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें अश्वौ-दनरूप ईश्वरसत्तासे सारे जीव या सारे पदार्थ व्याप्त हैं, इसीलिये तो 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस वाक्यका सम-न्वय हो जाता है, एवं प्रवर्ग्यरूपसे सब पदार्थ उसकी सत्तासे भिन्न हैं अतः 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इसका विरोध नहीं होता।

'सूर्य आत्मा०' के अनुसार पार्थिव प्राणियोंकी आत्म-सत्ताके अधिष्ठाता भगवान् भास्कर ही हैं। "बृहद्धतस्थौ भुवनेष्वन्तः" (ऋक् सं० १।७।९) "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" (शत० ९।१-२।४०) इत्यादि श्रुतिसिद्धान्तके अनुसार विश्वके केन्द्रमें बृहतीछन्द नामसे प्रसिद्ध विषुव किंवा विष्वद्वृत्त (इक्वेटर लाइन) पर स्थिर रूपसे तप रहे हैं। विज्ञानशास्त्रके अनुसार सूर्यमें ज्योति, गौ और आयु इन तीन मनोता (उन-उन पदार्थोंमें उन उन मंडलोंके मन ओतप्रोत हैं।) देवताओंकी सत्ता मानी जाती है। ये तीनों मनोता क्रमसे देवसृष्टि, भूतसृष्टि और आत्म-सृष्टिके संचालक बनते हैं। ज्योतिर्भागसे ३३ प्रकारके देवोंका विकास होता है। यही देवयज्ञराशि "ज्यो-तिष्टोम" नामसे प्रसिद्ध है। पंचविधभूतोंका जनक गोतत्व है। यही "गोष्टोम" यज्ञका अधिष्ठाता है। ३६००० भेदवाला बृहतीप्राणयुक्त आयुभाग आत्म सृष्टिका कारण बनता हुआ "आयुष्टोम" यज्ञके स्वरूपका आधार बनता है। सूर्यमें १२ प्राणोंकी सत्ता मानी जाती है। वही १२ प्राण "द्वादश-आदित्य" नामसे प्रसिद्ध हैं। अथवा पृथक् पृथक् नाम, रूप और कर्मयुक्त बारह प्राण समष्टिको ही सूर्य कहते हैं। इन प्राणोंमें सबसे श्रेष्ठ अधिष्ठाता प्राण "इन्द्र" कहलाता है। "मघवा" नामसे प्रसिद्ध यही सर्वश्रेष्ठ सूर्यका इन्द्रप्राण आयुरूपमें परिणत होकर आत्माकी प्रतिष्ठाभूमि बनता है। इसी आधारपर इन्द्र-प्रतर्दन संवादमें इन्द्रके लिये—

"तं मामायुरमृतमित्युपास्व" (कौ० उपनिषद् ३।२) यह कहा गया है। आयुस्वरूप बनानेवाला यह इन्द्रप्राण उसी बृहतीछंद (विष्वद् वृत्त) पर स्थित है। अतएव महर्षि महीदासने इस इन्द्रप्राणको "बृहती प्राण" नामसे व्यवहृत किया है, (ऐ आ २।३) इस प्राणका वर्तनी (पात्र) मन और वाक् है। बिना मन और वाक्के वह एकक्षण भी नहीं रह सकता। मनके संबधसे सौर प्राण ज्ञानशक्तिका अधिष्ठाता बनता हुआ पार्थिव प्रजामें ज्ञानका प्रसार करता है। इसी अभि-प्रायसे इन्द्र प्राणघन सूर्यके लिये "धियो यो नः प्रचोदयात्" (यजु. सं० २२।९) "आदित्य उद्गीथ" (छां. उ. २ प्र. २० खं. इत्यादि कहा जाता है। प्राण-मय होनेसे सौर इन्द्र क्रियाशक्तिका अधिष्ठाता बनता हुआ पार्थिव प्रजामें क्रियाशक्तिका प्रसार करता है। इसी आधारपर "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" (प्रश्नो-पनि० १।८) यह कहा जाता है एवं वाङ्मय होनेसे सौर इन्द्र अर्थशक्तिका अधिष्ठाता बनता हुआ अर्थशक्तिका संचालक बनता है। इसी वाक्कलाको लक्ष्यमें रखकर "वाग्वा इन्द्रः" (कौ० २।७) "वाक् पतङ्गाय धीयते" (यजु ३।६) इत्यादि कहा जाता है। इस

प्रकार आयुरूप आत्मस्वरूप बनानेवाले सौर इन्द्रका मन-प्राण-वाङ्मयत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। मन-प्राण वाङ्मय आयुसे आत्मसृष्टि होती है। अतएव आत्माका "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (बृ. उ १,५।३) यह लक्षण किया जाता है, इसलिये सबका आत्मा सूर्य ही है।

सूर्यसदन

भारतमें पहले दिव्यप्राणकी परीक्षाके लिये सिन्धु सरस्वतीके तटपर बसी हुई सरस्वती नगरीमें विशाल सूर्य-सदन था। उस स्तूपाकार शिलामय सूर्यमंदिरमें वैज्ञानिक महर्षि वसिष्ठादि सूर्यसंज्ञक दो चक्रवाले यंत्रसे सूर्यज्योतिकी परीक्षा करते थे। सूर्यविज्ञानसे आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धियाँ संपादन की थी। विज्ञानशालाकी सूर्यप्रतिमासे अन्य देवोंकी प्रतिमापूजाका आरंभ हुआ था। किन्तु सूर्यचक्र तो विज्ञानार्थ ही था। पूज्य प मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति प्रणीत 'इन्द्र विजय' ग्रन्थमें वैदिक प्रमाण देते हुए इस विषयको विस्तारसे लिखा है। उसमें सूचित किया है कि—

> जगति हि सृष्टिविधाने यद्वैचित्र्यं प्रदृश्यते क्वापि।
> तस्यैष एव सूर्यः कारणमस्तीति सिद्धान्तः ॥१७॥
>
> (पृ. ४६)

'जगत्में सृष्टिविधानके विषयमें कहीं भी जो विचित्रता दीखती है उसका कारण यह सूर्य ही है, यह सिद्धान्त है।' आकाशके सूर्यमें कौन कौनसे पदार्थ हैं और उनसे कैसे विश्व उत्पन्न होता है? यहां नाना भेद कहाँसे पैदा हुए? कैसे यहाँ वायु बहता है एवं कैसे बद हो जाता है? कैसे यहां मेघ वृष्टिके लिये आते हैं और चले जाते हैं? यह सब जाननेके लिये भूमिपर सूर्यकी स्थापना करके दो चक्रोंके प्रभावसे सब पदार्थोंकी परीक्षा करते थे। दोनों चक्रोंसे सूर्य किरणोंको संश्लेषण-विश्लेषण करके नाना भाववाले सब विज्ञानको यहॉ प्राप्त किया था। (इन्द्र विजय विज्ञानभवन तृतीय प्रसंग पृ ४६ श्लोक १८ से २१) भगवान् इन्द्र एक सूर्यचक्र स्वर्गमें ले गये थे एवं वहॉ स्थापित करके भूमिपर शांति की थी तथा अपनी कीर्ति बढाई थी। उक्त ग्रन्थके पृष्ठ ६६ पर लिखा है—

> इत्थं भगवानिन्द्रः स्वर्गेप्येकं स सूर्यमारोप्य।
> कीर्तिं स्वामप्रथयद् भूमौ शांतिं च संस्थाप्य ॥७॥

मानवीय मत मार्तण्डको मानते हैं।

'इंद्रविजय' ग्रन्थके द्वितीय प्रसङ्गमें विदेशियोंका मत-खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि— 'भारतीय आर्य परदेशसे यहॉ नहीं आये हैं और उनका लक्षण लिखा है—

> ओंकार एष येषामविशेषान्मंत्र आराध्यः।
> येषां भिन्नमतानामप्यत्रास्त्येकबन्धुत्वम् ॥
> येषां शास्त्रं वेदश्चातुर्वर्ण्ये विभाजितो धर्मः।
> धेनुर्गङ्गाराध्या तेषां देशोऽस्ति भारतं वर्षम् ॥१॥

'जिनका सामान्य ओंकार उपासनामंत्र है, भिन्नमत होते हुए भी जिनका परस्पर बन्धुत्व है, जिनका शास्त्र वेद है, जिनका धर्म चार वर्णोंमें विभाजित है एवं गो और गंगाकी भक्ति करते हैं, उनका भारतवर्ष देश है।' शास्त्रार्थमहारथी पं. श्री माधवाचार्यजीने भी अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीन दोषोंसे रहित हिंदूका लक्षण लिखा है। यथा—

> ओंकार मूल मन्त्राढ्य' पुनर्जन्मदृढाशयः।
> गोभक्तो भारतगुरु हिंदु हिंसनदूषकः ॥ १ ॥
>
> (माधव दिग्विजय)

अर्थात् 'ओंकारको मूल मन्त्र माननेवाला, पुनर्जन्म विश्वासी, गोभक्त, जिसका प्रवर्तक भारतीय हो और हिंसाको निन्द्य माननेवाला 'हिंदू' कहा जाता है।' उक्त लक्षण सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध-इन पांचों संप्रदायोंमें समान रीतिसे घटित होते हैं। आर्य और हिदूके लक्षणोंमें पहला लक्षण 'ओंकार मंत्र' माना है। ओंकार सूर्यकी मूर्ति है। इसी ओंकारसे त्रैलोक्यका विकास हुआ है। यही चर और अचरकी प्रतिष्ठा है। छांदोग्य उपनिषद् १-५-१ में कहा है कि—

> 'आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।'

इसमें ओंकारको सूर्य सिद्ध किया है। उक्त पाँचों हिंदू-मत ओंकारको मानते हैं। सनातनी प्रत्येक मंत्रके साथ

ओंकारका योग आवश्यक मानते हैं। अत उनका यह परम पवित्र सर्ववेदबीजभूत प्रधान मंत्र है। आर्य-समाजी तो 'ओं' के सर्वाधिक उपासक हैं, स्वामी श्री दयानंदजीने सत्यार्थप्रकाशमें इसे परमात्माका निज नाम माना है। उनका ध्वज भी 'ओ' से चिह्नित होता है। सिक्खोंके धर्म ग्रंथमें सर्व प्रथम '**एक ओंकार सद्गुरु प्रसाद**' यही मंगलाचरण मिलता है। जैनियोंका गुरुमंत्र '**ओंनमो अरिहंताणम्**' इत्यादि है। बौद्धोंका भी प्रधानमंत्र '**ओं मणिपद्मे हुम्**' है, इस प्रकार सभी 'ओं' को मूलमंत्र मानते हैं एवं 'ओ' सूर्यमूर्ति होनेसे उक्त हिंदुमत सूर्योपासक सिद्ध हुए। हिन्दू ही नहीं मुसलमान और ईसाई आदिके धर्मग्रन्थोंसे भी ईश्वर सूर्य ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि **अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टिका मौलिक या आदिधर्म है।** इस विषयकी खोज भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे भी अनेक विद्वानोंने की है, उनमेंसे श्री गणपतराव बा. गोरे, ३७३ मंगलवार 'बी' कोल्हापुरके '**कुरान बाइबलमें सूर्योपासना**' आदि अनेक लेखोंमेंसे कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। कुरानमें अल्लाहका स्वरूप सत्य कहा है—

"**अल्लाह हु वल हक़।**" (कुरान ३१।३०)

'वह अल्लाह हक़ (सत्य) है।' ऋग्वेद ४।३।१२ में परमात्माको '**सत्यः**', ऋ. १।१६४।४६ में '**एकं सत्**' और कई स्थानोंपर '**सत्यम्**' भी कहा है। 'अल्ला' शब्द संस्कृत है, इसका अर्थ माता है। 'अललाति' के अनुसार इसका अर्थ- 'ससारके लिये वा संसारमें सर्वत्र परिपूर्ण रहनेवाला तथा ससारकी आवश्यकताओंको बराबरी रखनेवाला होता है। 'यह सूर्यकी शक्ति **सूर्या** भी है, और इसीलिये स्त्रीलिंगी है! अल्लाह यानी खुदा-खुद+आ=प्रतिदिन स्वयं आनेवाला=सूर्य।

'ला, इलाह, इल्, अल्लाह' यानी इलाके बिना अल्ला नहीं, (उषाके बिना सूर्य नहीं) इडा-इला अर्थात् मैत्रावरुणी-सूर्यकी पुत्री उषा ही है। (वैदिक धर्म मासिक वैशाख सं० २००६ पृ० १७३ से १८१ तक) कुरानमें परमात्माका नाम रब्ब भी है, जिसका अर्थ सिन्धी तथा मराठी भाष्यकारोंने पालनकर्ता किया है। यह रब्ब शब्द 'रवि' (सूर्य) शब्दका ही बिगडा हुआ रूप है! सूर्य इस प्रकारसे 'पालनकर्ता' प्रसिद्ध है। (वैदिकधर्म वर्ष २५, अं० ३, पृ० १६५)।

बाइबलका सोनेका बछडा=वेदका सोनेका अण्डा सूर्य है। निर्गमन ३२।२४ के अनुसार सोनेका बछडा हारूनने अग्निमें डालकर निकाला और फिर उसकी हवन द्वारा पूजा आरंभ हुई। वेदने इसे सोनेका अण्डा=सूर्य कहा है और उससे सृष्ट्युत्पत्ति निम्नप्रकार बताकर उसकी हवनद्वारा पूजा करना भी सिखाया है—

हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ऋषिः। कः (प्रजापतिः) देवता।
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ. १।१२१।१

अर्थ— जिस प्रकार प्रतिदिन सूर्यदेवसे पूर्व उषाकाल आता है, उसी प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व कई लाखों वर्षोंका उषाकाल अरुण=हारुन आया था। इस उषारूपी अग्निमें वह सोनेका बछडा=अण्डा पकता वा बनता रहा। तत्पश्चात् जब वह बछडा वा अण्डा अरुणाग्निमें ढलकर तैयार हुआ तो मंत्र कहता है कि (हिरण्यगर्भः) वह सोनेका अण्डा (समवर्तत) [आकाशमें अपनी कीलपर] चक्कर काटने लगा। (भूतस्य जातः) फिर वह चराचर सृष्टिको उत्पन्न करके (एकः पतिः आसीत्) उसका एक ही स्वामी था। (सः पृथिवीं उत इमां द्यां दाधार) उसने [हमारी] पृथिवीको और इन [मंगल, बृहस्पति आदि आठ] ग्रहोंको धारण किया। अत (कस्मै देवाय) उस प्रजापालक देवके लिये हम (हविषा विधेम) हवन-यज्ञ करके उपासना करें॥ १॥

सूर्यकी उपस्थितिमें ही प्रातः सायं हवन करनेका विधान है, रातको नहीं! इससे स्पष्ट होता है कि हवन सूर्यके लिये ही किया जाता है। इसी कारणसे हिंदुओंमें रातको मरे हुएको प्रातःकाल जलानेकी प्रथा है। बाइबलके निर्गमन ३२।५-६ से भी पता चलता है कि पूर्व काल में इस बछडेकी पूजा यहूदी भी होमसे करते थे।

ऋग्वेद १।१२३।११ का वचन है—

'**सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषा।**'

अर्थ—(मातृमृष्टा) माताद्वारा अनुलेपन की गई (सुसंकाशा योषा इव) सुदर्शनीय युवा स्त्रीके समान [उषा] यहाँका स्त्रीलिंगी योषा शब्द बाइबलमें जाकर किस प्रकार पुल्लिंगी बनकर ईसाके अर्थोंमें प्रयुक्त है, सो अब देखिये— " मर्यम वही थी जिसने प्रभु [ईसा] पर सुगंधित तेल लगाया और उसके चरणोंको अपने बालोंसे पोंछा । बाइबलके योहन ११।२ का आधार ऋ. १।१२३। ११ है। वेदका स्त्रीलिंगी योषा बाइबलमें आकर यीशु योषा वा ईसा पुरुषलिंगी शब्द बन गया है ।

" मर्यमका अपने केशोंसे अपने पुत्र [सूर्य] के चरण पोंछना " इस वाक्यका अर्थ है " उषाका अपनी किरणोंसे सूर्यके चलनेके साधनोंको शुद्ध और पवित्र बनाना। " वैज्ञानिकोंका कथन है कि सूर्य काले रंगका है, परन्तु वह एक चमकीली वायुसे सदा आवृत्त रहनेके कारण चमकता रहता है ! वेद इसी चमकीली वायुको उषा कहता है। (वैदिकधर्म वर्ष २५, अं. ११ पृष्ठ ५५५ से ५६० तक)

उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रके ईश्वर सूर्य ही हैं । ॐ, अग्नि, अल्ला, ईसा, ऋषभ, बुद्ध, गणपति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गायत्री, सावित्री, सरस्वती, लक्ष्मी, काली, राम, कृष्ण, गोविंद, रवि और रब ये सब सूर्यके एवं उनकी शक्तियोंके ही नाम हैं । अतः बिना इस एक ईश्वरको स्वीकार किये संसारमें, समाजमें, राष्ट्रमें एवं व्यक्तिमें शांति स्थापित नहीं हो सकती । तथा बिना ईश्वरको माने एवं बिना उसकी आज्ञापालन किये मित्रता, समता, दया और प्रेमके भाव प्रकट नहीं हो सकते और न बिना इन भावोंके ससारकी व्यवस्था ही हो सकती है । इसके लिये ईशविद्याप्रकाशक वेदमंत्रोंका मनन करना मानवका प्रमुख कर्तव्य है । कमसे कम ईशोपनिषद् जैसे कुछ सूक्तोंका स्वाध्याय तो अवश्य करें । उनसे निज कर्तव्यका बोध होगा, कर्तव्यपालनमें दृढता होगी, अकर्मण्यता दूर होगी, हम सब एक ईश्वरके पुत्र हैं यह ज्ञात होगा एवं उक्त उद्देशोंको लक्ष्यमें रखकर स्वशक्तिके अनुसार स्वकर्ममें निष्काम बुद्धिसे प्रवृत्ति होगी तथा उसके प्रचारसे यहाँ व वहाँ सर्वत्र सच्चा सुख और शाश्वत शांति प्राप्त होगी । अतः सब मानव मिलकर स्तुति करें, जिससे वह सूर्यदेव सुमति प्रदान करे ।

रघुपति राघव राजाराम । ऋषभ, बुद्ध, ओं.
गोविंद, श्याम । ईश्वर, अल्ला, ईसा नाम ।
सबको सन्मति दे रविधाम ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

वेदकाल विमर्श

(लेखक श्री. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, बनारस)

⊙

वेदोंके निर्माण कालका निर्णय करना कठिन कार्य है। विद्वानोंकी गहरी छानबीन करनेपर भी वेदोंकी भाषाकी कठिनता तथा प्राचीनताके कारण आज भी यह प्रश्न इदमित्थं रूपसे निर्णीत नहीं हो पाया है।

वेद निर्माणकालके सम्बन्धमें दो मत विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं- एक भारतीय और दूसरा पाश्चात्य।

१- भारतीय दृष्टिसे वेद अपौरुषेय नित्य कालातीत एवं ईश्वरीय ज्ञान है। सृष्टिके आरंभमें ईश्वर मानवजातिके विकास तथा सर्वविध कल्याणके लिए इस ज्ञानको प्रेरित करता है। अत. इसका अस्तित्व सृष्टिके आरम्भ कालसे ही रहता है। सृष्टिके समान यह भी अनादि और अनन्त है। इसलिए वेद रचनाके कालके निरूपण करनेका अवसर ही नहीं आता।

हां, द्वापरके अन्तमें वेदव्यासजीने सुविधाके लिए वेदको चार भागोंमें विभक्त करके उनका ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामकरणमात्र कर दिया हैं- जिसका स्पष्ट उल्लेख है।

" वेदं विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इतीरितः "। इस प्रकार व्यासजी वेदनिर्माता नहीं हैं किन्तु विभागकर्ता हैं।

२- आधुनिक ऐतिहासिक वेदको मानवकृत साहित्य विशेष समझकर उसकी रचनाका समय निश्चित करनेका भगीरथ प्रयास करते हैं।

सबसे पहले १८५९ में प्रसिद्ध जर्मनी विद्वान् प्रो० मैक्समूलरने इस प्रश्नके निर्णयका प्रथम प्रयास किया। उनके मतानुसार उपनिषदोंमें अहिंसा सिद्धान्तपर विशेष रूपसे जोर दिया गया है और भगवान् गौतमबुद्धकी आलोचनाके प्रधान विषय यज्ञको नये ढांचेमें ढालनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। इससे मालूम होता है कि बुद्धकालके कुछ ही वर्ष पूर्व उपनिषदोंकी रचना हुई होगी।

वैदिक साहित्यकी बुद्ध धर्मके उदयसे पूर्व भाविताको आधार शिला मानकर मैक्समूलरने अपना सिद्धान्त स्थिर किया है। उन्होंने वैदिक युगको चार कालोंमें विभक्त किया हैं-१- छन्दकाल, २- मन्त्रकाल, ३- ब्राह्मणकाल, ४- सूत्रकाल। प्रत्येक युगकी विचारधाराके उदय तथा ग्रन्थ निर्माणके लिये उन्होंने दो दो सौ वर्षोंका काल माना है। बुद्धकी मृत्यु ई० पू० ४८३ में हुई थी। अतः बुद्धके प्रथम होनेसे सूत्रकालका प्रारम्भ छ. सौ वर्ष ई० पू० माना है। जिसमें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रोंकी रचना हुई। इसके पूर्व दो सौ वर्ष ब्राह्मण काल था। जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थोंका निर्माण तथा उपनिषदोंका विवेचन हुआ। इससे दो सौ वर्ष पूर्व १००० ई० पू० के लगभग यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका समय बताया है। इससे दो सौ वर्ष पूर्व ऋग्वेद के लिये १२०० ई० पूर्वके करीबका समय निश्चित किया है।

परन्तु मैक्समूलरने स्वयं स्वीकार किया है कि यह सिद्धान्त कालका द्योतक नहीं है, किन्तु कमसे कम उतने वर्षोंका तो वह साहित्य होना ही चाहिए। मैक्समूलरके मतसे विवेचकोंको पूर्ण सन्तोष नहीं है, क्योंकि प्रत्येक साहित्यके विकासके लिये दो सौ ही वर्ष लगे होंगे यह कल्पना ठीक नहीं। कोई साहित्य दो सौ वर्षसे कम समयमें भी बन सकता है तो कोई दो सौसे अधिक समयमें तैयार हुआ होगा।

किसी विद्वानकी चलाई कल्पना चाहे अत्यन्त निराधार ही क्यों नहीं हो जब एक बार चल पडती है तब बर्षाती पहाडी नदियोंके समान रोके नहीं रुकती. विभिन्न विघ्न-बाधाओंको दूर हटाती हुई वह आगे बढती ही जाती है। ठीक यही घटना मैक्समूलरकी कल्पनाके साथ घटी है। इनके सिक्का माननेवाले विद्वानोंने इसे एक मान्य वैज्ञानिक कल्पनाके रूपमें ग्रहण कर लिया है।

दूसरी बात यह है कि १० वर्ष पीछे १८८९ में अपने जिफर्ड व्याख्यानमालाके अवसरपर मैक्समूलरने स्वयं माना है कि इस भूतलपर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रोंकी रचना इसी वर्षमें की गई है- इत्यादि।

प्रोफेसर बूलरने मैक्समूलरके मतका विवेचनात्मक खण्डन करते हुए कहा है कि ऋग्वेद ई० पू० १२०० के बहुत पहलेका होना चाहिए।

वेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट ऋतु सूचक, नक्षत्र निर्देशक तथा मृगशिरा नक्षत्रमें वसन्त सम्पात आदि ज्योतिष सम्बन्धी सूचनाओंके आधारपर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने कुछ मन्त्रोंका अर्थ लगाकर वेदोंका निर्माण काल ई० पू० चार हजार पूर्व माना है। जर्मनी विद्वान् याकोबीने तर्क पूर्ण युक्तियोंसे तिलकके मतका स्पष्ट समर्थन किया है।

परन्तु जिन मन्त्रोंके आधारपर तिलकका सिद्धान्त स्थिर किया गया है उन मन्त्रोंके अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानोंने उन मन्त्रोंका अर्थ दूसरी तरहसे करके तिलकके अर्थको अमान्य कर दिया है।

जर्मनीके विद्वान् वीन्टरनीजने भारतके बाहर पाये गये वैदिक संस्कृतिके चिन्होंके आधारपर ई० पू० ३००० वर्ष ऋग्वेदको स्थिर किया है। इस प्रकार भिन्न भिन्न विद्वानों ने केवल तर्कके बलपर अपना अपना विभिन्न मत स्थिर किया है।

इन सभी सिद्धान्तोंके विपरीत डॉक्टर अविनाशचन्द्रदास वेदोंमें निर्दिष्ट अनेक भूगर्भ शास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्त तथा आर्यावर्तके चतुर्दिक समुद्रोंकी स्थितिकी सहायतासे सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद ई० पू० लाखों वर्ष पूर्वका होना चाहिए। डॉक्टर कर्ने तथा बाबू सम्पूर्णानन्दजीने भी दासके मतका ही समर्थन किया है।

वेद निर्माणकाल निर्णयसम्बन्धी इन विभिन्न विचारधाराओंपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि अभीतक इस बारेमें निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वास्तवमें वेद समय निश्चित करना कोई साधारण बात नहीं है। इस दिशामें पाश्चात्य विद्वानोंका प्रयास बहुत ही स्तुत्य है इसमें कोई सन्देह नहीं, फिर भी उन्होंने बहुत स्थानोंपर भूलें भी की हैं जो सर्वथा अवांछनीय और अनुपेक्षणीय हैं। अब भारत स्वतन्त्र है, भारतीय विद्वानोंको भी अपनी लेखनी उठानी चाहिए और वेदोंके वास्तविक रहस्यको सामने रखकर सर्वसाधारणका कल्याण करना चाहिए।

वैदिक ऋषियोंके
वैज्ञानिक संशोधन पद्धतिकी अपूर्वता

[लेखक— प्रो. के. अ. पटवर्धन, एम् एस् सी., इंदौर]

(•)

पिछले अध्यायमें हमने प्रथम यह दिग्दर्शित करनेका प्रयत्न किया है कि समाजशास्त्रकी शास्त्रीय उपपत्ति निर्माण करनेकी आवश्यकता पाश्चात्य राष्ट्रोंके तत्ववेत्ताओं तथा शास्त्रज्ञोंको साधारणतः पिछली शताब्दिमें ही प्रतीत हुई दिखाई देती है और वे उस विषयपर अभीतक किसी प्रकारके निश्चित स्वरूपके शास्त्रीय निर्धार प्रस्तावित करनेमें सफल नहीं हो पाए हैं। इसके विपरीत प्राचीन पौर्वात्य शास्त्रज्ञ तथा तत्ववेत्ताओंको इसी प्रश्नको हल करनेकी आवश्यकता हजारों वर्ष पूर्व ही प्रतीत हुई थी और उस विषयके शास्त्रीय निष्कर्षको अनुभवात्मक ज्ञानके कसौटी पर परीक्षण कर उस प्रश्नको उन्होंने सुलझा लिया था और उन निष्कर्षोंपर आधारित समाज रचना कर उस प्रयोगकी सफलता सारे विश्वके सामने सिद्ध कर दिखा दी थी। इस विवेचनके सन्दर्भमें व्यक्तिवाद, समाजवाद और साम्यवादके मूलतत्वोंका विवरण करते हुए यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि भिन्न भिन्न पाश्चात्य राष्ट्रोंमें उपर्युक्त विचारधाराओंमेंसे किसी एक तत्वप्रणालीपर आधारित जिस समाजरचनाके पुरस्कार किये जा रहे हैं तथा उन इन विचारोंपर आधारित समाजरचनाको अन्य राष्ट्रोंपर लादे जानेके प्रयत्न किये जा रहे हैं वे सारे अभी भी प्रयोगात्मक रूपके ही हैं, उनकी युक्तायुक्तता तथा इष्टानिष्टता आगे जाकर इतिहास सिद्ध करनेवाला है। वैदिक वाङ्मयके परिशीलनसे हमें स्पष्ट रूपसे अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि हमारे यहां उस पुरातनकालके तत्ववेत्ता तथा शास्त्रज्ञोंके सामने भी समाजरचना शास्त्र विषयक ऐसे जटिल प्रश्न उपस्थित हुए थे और उन्होंने इसके हल शास्त्रीय प्रयोग तथा अनुभवात्मक ज्ञानसे ढूंढ निकाले थे।

अब इस स्थानपर एक विलक्षण समस्या हमारे राष्ट्रीय वृत्तिके बडे बडे नेताओंके सामने उपस्थित होती है। वे परंपरागत सांस्कृतिक तथा धार्मिक भावनावश कदाचित यह माननेको तैयार हो जाते हैं कि हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि महान विद्वान् होंगे या थे और उन्होंने आत्मसंयमन एवं इन्द्रिय निग्रहद्वारा ब्रह्मात्मैक्य या आत्मौपम्य दृष्टि प्राप्त कर ली होगी परंतु मानव इतिहासके उस प्रारम्भकालमें उनके सामने ऐसे जटिल प्रश्न क्योंकर आए होंगे और यदि आए भी हों तो उन्होंने इन प्रश्नोंको आयद बुद्धिको साम्यावस्थासे प्राप्त अंतर दृष्टिसे उनके निष्कर्ष वैदिक वाङ्मयमें ग्रथित कर दिये होंगे। वे उन्हें शास्त्रीय प्रयोगात्मक रूपसे, उस पुरातनकालमें छुडा ही कैसे सकते थे। पाश्चात्य तत्ववेत्ता तथा शास्त्रज्ञोंका तो इतना भी माननेको तैयार न होना स्वाभाविक है। उनमेंसे एक उच्चतम कोटिके शास्त्रज्ञ श्री ज्यूलियन हक्स्ले महोदयके सामने यह प्रश्न रखे जानेपर उन्होंने जो दो वाक्योंमें इसका उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

" I am interested to hear that the Vedic Rishis were interested in the same problems as I, but must differ from you in that they certainly could not have solved them since the necessary facts were not known. "

अर्थात् उनका कहना है कि मानव इतिहासके उस प्रारंभ कालमें जब कि किसी प्रकारकी साधन सामग्री उपलब्ध होना ही शक्य न था तो उस कालके ऋषिमुनियोंने ऐसे प्रश्न हल कर लिये थे यह मानना केवल कठिन ही नहीं तो असंभवसा है।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट होगा कि ' समाजवादी समाजरचना ' विषयक वैदिक ऋषियोंके निष्कर्ष स्पष्ट करनेके प्रथम यह अत्यधिक आवश्यक है कि हम प्रथम यह सिद्ध करें कि हमारे प्राचीनकालके वैदिक ऋषि केवल आध्यात्मिक एवं शाब्दिक तत्वज्ञानके पुरस्कर्ता न थे तो वे उस कोटिके शास्त्रज्ञ थे और उन्होंने उन ही सारे प्रश्नोंपर शास्त्रीय

निष्कर्ष ढूंढ निकाले थे जो आजके शास्त्रीय युगके संसारके शास्त्रज्ञोंके सामने जटिल प्रश्नके स्वरूपमें उपस्थित हैं।

मानवके सांस्कृतिक इतिहासके बिलकुल प्रारंभकालमें तत्त्वसंशोधनकी शुरुवात सर्वसाधारणतः सृष्ट पदार्थोंके बाह्य स्वरूपसे ही हुई होनी चाहिये ऐसे अनुमान किया जा सकता है। किसी एक प्रश्नकी पूर्तताके लिये दूसरा और दूसरेकी पूर्तताके लिये तीसरे प्रश्नका संशोधन करना सहज गतिसे प्राप्त होता है। इस जगत्के प्राचीन तथा अर्वाचीन आस्तिक तत्त्ववेत्ताओंके तत्त्वसंशोधनका प्रारंभ इसी प्रकारसे हुवा होना चाहिये ऐसा दिखता है, परन्तु यहां इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार करनेकी आवश्यकता है कि मानवी मनमें तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न ही क्योंकर हुई ? इस प्रश्नका एक उत्तर कुछ विद्वानों द्वारा यह दिया जाता है कि उपभोग साधनोंकी समृद्धि होनेपर कुछ लोगोंकी तो भी पूर्ण तृप्ति हो जाती है और इस तृप्तिके कारण विषयोपभोगोंसे उनका मन दूसरी ओर आकर्षित होकर उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि उपभोग्य वस्तुओंके अतिरिक्त सृष्टिमें और भी कुछ है या नहीं ? और इस प्रकारकी जिज्ञासामेंसे ही उनके तत्त्वसंशोधनकी शुरुवात होती है।

मानवके तत्त्वसंशोधनका प्रारंभ कहांसे होता है इस प्रश्न विषयक उपर्युक्त विचारसरणी सारे तत्त्ववेत्ताओंको ग्राह्य नहीं है। उनकी समझमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही मनुष्यको तत्त्वजिज्ञासाकी ओर ले जाता है, अर्थात् तत्त्वजिज्ञासाका उगम दुःखमूलात्मक ही है। साथ ही साथ यह भी देखा गया है कि अर्वाचीन जगत्में तत्त्वज्ञानके जो अनेक सांप्रदाय प्रचलित हुवे हैं उनमेंसे अधिकांश तत्त्ववेत्ताओंको अपना मार्ग भौतिक शास्त्रोंमेंसे ही निकालना पडा है और इसी कारण जडवाद, अज्ञेयवाद, उत्क्रांतिवाद, संशयवाद इत्यादि अनेक सांप्रदायोंका प्रचार व प्रसार हुवा है। इन सारे तत्त्ववेत्ताओंने यही माना है कि तत्त्वजिज्ञासाका प्रादुर्भाव दुःखमूलात्मक ही है। इस विषयमें ऋषिप्रणीत वेदान्त विद्याके सूक्ष्म निरीक्षणसे स्पष्ट प्रकाश पडेगा कि आर्योंके तत्त्वजिज्ञासाका प्रारंभ कहांसे और कैसे हुवा।

आज हम देख रहे हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक युगमें भी जागतिक व्यवहारमें मानवी प्राणी कितना भी विजई हुवा दिखाई देता हो तो भी वह सर्वशक्तिमान है ऐसा हम नहीं कह सकते। साधन सामग्रीकी विपुलता ज्ञानविज्ञानमें प्रगतिके कारण मानवी प्राणीके सामर्थ्यमें कई गुना बाढ हो गई है ऐसा इस शास्त्रीययुगमें प्रतीत होना संभव है। तथापि ५००० वर्ष पूर्वके पुरातनकालमें मानवप्राणी जितना असमर्थ था उतना ही आज भी वह है केवल असमर्थताके प्रदर्शित होनेके प्रकार बदले हैं इतना ही कहा जा सकता है। मनुष्य प्रयत्न करते हुए इसके सामर्थ्यकी कक्षाके बाहरकी बातोंसे जब उसके प्रयत्नोंमें बाधा उत्पन्न होती है तब अपजय या अपयशके डरसे उसमें सहजगतिसे ही मददकी अपेक्षा उत्पन्न होती है। विद्युत्, मेघ, सूर्य, अग्नि, वायु, पानी, पृथ्वी आदिसे उसके मार्गमें बराबर संकट आते रहते हैं और ऐसी परिस्थितिमें वह हतबुद्ध या कर्तव्यमूढ बने बगैर नहीं रहता क्योंकि विद्युत्, सूर्य इत्यादि देवता उसकी पहुंचके बाहर रहती हैं और इस कारण ऐसे समय वह प्रार्थना करने लगता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्राप्त संकटको पार करनेके प्रयत्नोंको छोड केवल उपासनात्मक प्रार्थना करने लगता है परंतु अपने प्रयत्नोंको पूर्णतया यशप्राप्ति हो जाय इस मर्यादित हेतुसे ही हमारे यहांके वैदिक ऋषियोंने इन देवताओंको प्रार्थनात्मक स्तुति की हुई है ऐसा प्राचीन वैदिक सूक्तोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है और वैदिक ऋषियोंके हृदयमें उत्पन्न यह देवता बुद्धि ही आर्योंके वेदान्तविद्याका बीज या मूल हैं। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि आर्योंके तत्त्वजिज्ञासाका प्रारंभ प्रत्यक्ष सुख-दुःखात्मक कारणोंसे उत्पन्न नहीं हुवा है वरन देवता बुद्धि ही वेदान्त विद्याका उगमस्थान है यही सिद्ध होता है। इस प्रकार यद्यपि पाश्चात्योंके मतानुसार मानवके भौतिक उत्क्रान्तिको स्पर्धा और जीवनकलह कारणीभूत हुए हैं ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है तथापि देवता बुद्धि तथा तदनुसंगिक यज्ञधर्म ही आर्योंके तत्त्वजिज्ञासाके प्रथमावतारके प्रारंभको कारणीभूत है यही निर्विवादात्मक रूपसे सिद्ध होता है, और यही कारण है कि वैदिक वाङ्मयके अति प्राचीन भाग (मंत्र या संहिता) में विद्युत्, मेघ, सूर्य, अग्नि, वायु, पानी, पृथ्वी आदि सृष्टिगत शक्तियों (देवताओं) के सूक्त पाए जाते हैं। सृष्टि निरीक्षणपूर्वक इन दैवी शक्तियोंके विचारोंके साथ साथ यदि इन संशोधकोंका लक्ष मानवी शरीरकी ओर गया हो तो कोई आश्चर्यकी

बात नहीं है तथापि ब्रह्मांडके सामान्य रूपरेखाकी ओर दुर्लक्ष कर पिंडका विचार करना शक्य ही नहीं है यह इन संशोधकोंकी धारणा हुई होनी चाहिये यह तैत्तिरीय उपनिषद्के पहले अनुवाक् तथा और भी स्थानोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है। आर्योंके तत्त्वजिज्ञासाके इस प्रारंभकालके हमारे द्रष्टा ऋषियोंने पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टि निरीक्षणपूर्वक उन सारी दैवी शक्तियोंकी प्रार्थना की हुई दिखाई देती है जिनके द्वारा उन्हे इच्छित फल प्राप्यर्थ्य किये गए भिन्न भिन्न प्रयत्नोंमें सफलता प्राप्त हो। इसीको वैदिक वाङ्मयके इतिहासका मन्त्रकाल कहा जा सकता है। इस कालके वैदिक ऋषियोंने दीर्घकाल पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षण कर जिस प्रकारके कार्यके प्रयत्नोंमें सफलता प्राप्यर्थ्य जो दैवीशक्ति कार्यक्षम हो सकती थी उसी शक्तिकी प्रार्थना की हुई दिखाई देती है, और सृष्टिके सूक्ष्म निरीक्षण पूर्वक यह ज्ञान प्राप्त किया होनेके कारण ही इन ऋषियोंको द्रष्टा ऋषि यह सार्थ संज्ञा प्राप्त है और यह ज्ञान पूर्णतया शास्त्रीय ज्ञानकी कक्षामें ही आता है। आधुनिक कालमें प्रयोगात्मक प्रक्रियाओंसे प्राप्त शास्त्रीय निष्कर्षोंकी तीन अवस्था होती हैं। प्रथम प्रयोगशालाओंमें किये गए प्रयोग (Experiment), दूसरे इन प्रयोगोंद्वारा प्राप्त होनेवाली प्रक्रियाओंका निरीक्षण (Observation), और तीसरा इस निरीक्षणसे प्राप्त निष्कर्ष (Result) आर्योंके पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टि निरीक्षणपूर्वक प्रस्थापित किये गए सिद्धांत पूर्णतया शास्त्रीयस्वरूपके है। उनकी प्रयोगशाला सृष्टिचक्र थी और सृष्टिमे होनेवाली प्रक्रियात्मक घटना उनके प्रयोग थे। इन घटनाओंका दीर्घकालतकका सूक्ष्म निरीक्षण यह उनकी दूसरी अर्थात् निरीक्षणकी अवस्था थी और इन सारी प्रक्रियाओंसे उन्होंने निकाले हुए निष्कर्ष यह तीसरी अवस्था थी। ये निष्कर्ष त्रिकालाबाधित स्वरूपके होनेसे उन्हें उन्होंने सूक्त रूप मन्त्रोंमें संग्रहित कर रखा था। यही मन्त्रभाग है जिसे मुंडकोपनिषद्में आंगिरस ऋषिने अपरा विद्या अर्थात् विज्ञान या (Science) यह संज्ञा प्रदान कर वह ब्रह्मविद्याका ही अंग है ऐसा स्पष्ट शब्दोंमें शौनक ऋषिको समझाया है।

इस प्रकारके शास्त्रीय निरीक्षणात्मक कार्यसे प्रचुरमात्रामें ज्ञानसंग्रह होनेके पश्चात् पदार्थोंका संशोधन, उनका लक्षण तथा उनका वर्गीकरण इत्यादि शास्त्रीय पद्धतिसे सिद्धांतोंकी रचनाका कार्य बादके ऋषि करने लगे और तब किस मंत्रकी कौनसी देवता इस विषयकी चर्चा तथा वादविवादोंकी शुरुवात हुई। इस वादविवादमें उपासनाकी दृष्टिसे कौनसी देवता सभोंमें श्रेष्ठ है यह प्रश्न सहजगतिसे उत्पन्न हुवा और इस प्रश्नके छुडानेके हेतुसे किये गए संशोधनोंके परिणत स्वरूप ही ब्रह्मसिद्धांत निष्पन्न हुवा यही स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मयमें देवता यह संज्ञा पिंडब्रह्मांडमेंकी कार्यकारी शक्तिको दी हुई है। उसका तात्त्विक स्वरूप इस प्रकारका है कि यहां सामर्थ्यके उत्पत्तिस्थान या उगमस्थानको देवता यह संज्ञा प्राप्त है। देवता यह शब्द केवल शक्तिका ही बोधक नहीं है परंतु चैतन्यका और शक्तिका अंश उस सामर्थ्यके मूलमें होता है अर्थात् चैतन्यके अंशसे युक्त ऐसा जो सामर्थ्यका केन्द्रस्थान या उगमस्थान वही देवता है और इस प्रकारकी देवता शब्दकी व्याख्या उपनिषदोंको संमत है यही सिद्ध होता है। अस्तु।

वैदिक वाङ्मयमें उपर्युक्त विवेचनमें निर्देशित ब्रह्मसिद्धांत सापेक्षतया ही क्यों न हो, जिन वाक्योंसे स्पष्ट रूपमें दिखाया जाता है उन्हें महावाक्य कहते हैं और ऐसे महावाक्य बहुतसे पाए जा सकते है परंतु हमारे शास्त्रकारोंने इनमेंसे चार महत्त्वपूर्ण महावाक्य छांट निकाले हैं, इनमेंसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' यह एक महावाक्य है और वह एक प्राचीन मंत्र है ऐसा सूक्ष्म निरीक्षणसे ठहरता है। इस प्रकार हमारे यहां प्राचीनकालमें ही देवता काण्डसे तत्त्वजिज्ञासा प्रारंभ हुइ और वह परब्रह्म स्वरूपतक पहुंची। इस वाक्यसे ब्रह्मका लक्षण या व्याख्या की हुई है। सत्य व ज्ञान ये ब्रह्मके स्वरूप होते हुए वह ब्रह्म अविनाशी है ऐसा इस लक्षणका अभिप्राय है। सत्य व ज्ञान इन शब्दोंसे यद्यपि ब्रह्मका स्वरूप दर्शाया हुवा हो तथापि वे उसके गुण हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। सर्व प्रकारके ज्ञानको कारणीभूत होनेवाली संवेदना शक्ति वही यहां ज्ञान शब्दसे विवक्षित है ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार भावरूप होते हुए जिसका नाश कभी भी नहीं होता वह सत्य है। इस प्रकार इन दो शब्दोंसे जो भी ब्रह्मके स्वरूपका बोध होता हो तो भी वह ब्रह्मके अंशका ही बोधक है क्योंकि ब्रह्म अनंत अपार है यह बात तीसरे

शब्दसे दर्शाई हुई है। यही वेदान्त शास्त्रका अद्वैत सिद्धांत है। पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंने पिछले कई सदियोसे पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका जो संशोधनात्मक अभ्यास किया है उसके फलस्वरूप वे आज बीसवी सदीमें इसी निष्कर्षको पहुंचे हैं।

"The conception of the body in space among objective things and consciousness which apprehends space but does not seem to occupy it, as being merely two distinct and infusible aspects of one substance, one mind-body is called and has been called since the time of Spinoza, monism. Spinoza's monism is the flat opposite of the extreme dualism of Discartes. It is a conception most prevalent among biological workers and it dominates the thought of the threefold author of this work. Modern biology is steadily moving towards this newer conception of a single universal world stuff with both material and mental aspects is which, so far as we know, life is the crowning elaboration and human thought, feeling and willing the highest expression yet attained" Science of Life, by Wells & Huxley.

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरणसे स्पष्ट होगा कि वैदिककालके हमारे प्राचीन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने पिंडब्रह्मांड स्वरूप नाम रूपात्मक दृश्यसृष्टि उस व्यापक, ज्ञानमय तथा सत्य ऐसे परमात्म स्वरूपमें समाविष्ट है यह तत्त्वज्ञान जैसे आधिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे उसका अभ्यासात्मक तपश्चर्यासे प्राप्त कर लिया था, उसी प्रकार पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भी अपने अविश्रांत परिश्रम और प्रयोगात्मक संशोधनोंसे उसी तत्त्वज्ञानके प्राप्त करनेमें आज समर्थ हुए दिखाई दे रहे हैं। कमसे कम पांच हजार वर्षोंके कालका अन्तर होनेके कारण कदाचित शब्द या वाक्य रचनामें भेद भले दिखाई दें परंतु दोनोंके निकाले हुए निष्कर्ष एक ही प्रकारके होते हुए प्रयत्न भी साधारणतः एक ही पद्धतिसे किये गए प्रतीत होते हैं। पिंडब्रह्मांड स्वरूप दृश्यसृष्टिके मूलतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) को पहुंचनेकी यह एक पद्धति है जिसमें कार्यकारणका अभेद मान्य करके ही अवशिष्ट इस नातेसे कारणका विचार किया होता है। इस रीतिमें पदार्थोंके अवयवोंका पृथक्करण करते करते आखीरमें जिसका पृथक्करण करने नहीं आता इस प्रकारका निरवयव तत्त्व अवशिष्ट रहता है और वही मूलतत्त्व-ब्रह्मतत्त्व - Single Universal world stuff है। पृथक्करणमें अवशिष्टत्वसे प्राप्त यह ब्रह्मदृष्टि कार्यकारणके अभेदसे सारी सृष्टिको लागू हो सकती है। अवशिष्ट रहा हुवा यह मूलतत्त्व सारे विकारों, तथा सारे गुणधर्मोंसे अलिप्त रहता है। उत्पन्न होना, बाढ होना, परिपक्व होना, घिसना, नाश होना इत्यादि कोईसे विकार इस मूलतत्त्वको स्पर्श नहीं कर सकते। निर्विकार, निरामय ऐसे इस मूलतत्त्वसे ही सारी चराचर पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टि विस्तार पाई हुई है और यही कारण है कि पिंडब्रह्मांडका अभ्यासात्मक विचार करे बगैर जिज्ञासू विद्यार्थिको गत्यंतर नहीं है और इसी कारण हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने तथा अधुनिक पाश्चात्य विद्वान् शास्त्रज्ञोंने इसी मार्गका अवलंब किया दिखता है और उसे परिश्रमपूर्वक कर उस मूल तत्त्वतक पहुंचनेमें सफलता प्राप्त कर ली।

आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञ पिंडब्रह्मांड स्वरूप (Nature & Man) दृश्य सृष्टि (Objective world) का अभ्यास कर यद्यपि उपर्युक्त निष्कर्षपर पहुंचे हैं तथापि उनके तत्त्व जिज्ञासाकी परिसमाप्ति यहीं स्थगित न रहनेके कारण आज उनके सामने कुछ जटिल प्रश्न उठ खडे हुए हैं जिन्हें हम उन्हींके शब्दोंमें उद्धृत करते हैं।

"We have studied life objectively, using that word as it has been used since the days of Kant. It has been the spectacle of its evolution & behaviour, that has engaged out attention We have avoided any element of introspection in out view. But as we have studied the behaviour of creatures, the questions of feeling & knowing and thinking and willing have come nearer and nearer to us & the fact that we feel & think & know & will begins now to force itself upon our attention. The contrast and the relations between the world of feeling within, the subjective world & the

world of exterior reality, the objective world can no longer be disregarded. They must now be discussed. They have to be discussed, they have to be stated, but let us say clearly they connot be explained. This duality of all our individual universes, this contrast of objective and subjective, is an inexplicable duality, so perhaps it will always remain."

इन उद्धरणोंका हम यहां अर्थ नहीं देते। उद्देश यह है कि कोईभी भी दो भाषाओंको लें तो उनमें बिलकुल एकसा अर्थके शब्द मिलना कठिन हो जाता है। व्याकरणकी दृष्टिसे वाक्य रचना तथा उनकी भिन्न भिन्न सांस्कृतिक परंपरा तथा रूढियोंके कारण यही मानना पड़ेगा कि एक भाषामें उद्धृत किये गए जटिल प्रश्नोंके विचार दूसरी भाषामें पूर्णतया तथा सूक्ष्म रूपसे उद्धृत करना केवल कठिन ही नहीं, तो असंभव ही हो जाता है। इस कारण उचित यही है कि वाचक उपर्युक्त उद्धरणका मतितार्थ अपनी अपनी बुद्धिसे प्राप्त कर ले।

वैदिक वाङ्मयका सूक्ष्म दृष्टिसे यदि निरीक्षण किया गया तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसके इतिहासमें एक समय ऐसा ही था जैसा आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको उनके आधिभौतिक शास्त्रोंकी प्रगतीमें प्राप्त हुवा है। पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टिका शास्त्रीय संशोधन करते करते पाश्चात्य शास्त्रज्ञ जिस मूलतत्वतक पहुचे है और जिसे वे Single Universal world stuff कहते हैं उसीको हमारे पूर्वकालीन ऋषियोंने एकमेवाद्वितीयम्-ब्रह्मतत्व कहकर बोधित किया है। उस समय हमारे पौर्वात्य तत्वज्ञ एवं शास्त्रज्ञोंके सामने भी उसी प्रकारके प्रश्न निर्माण हुए थे जैसे उपर्युक्त विवरणमें विदृर्शित पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके सामने आज उपस्थित हैं। इसके कुछ उदारण वैदिक वाङ्मयसे देवे तो विषय और स्पष्ट होगा।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा
कर्मणा वा ॥ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कल ध्यायमानः ॥ मुडक. ३।१।८

अर्थ— वह (परमात्मा) आंखोंसे दिखता नहीं, वाणीसे भी बताते नहीं आता, अन्य इद्रियोंसे तपश्चर्यासे अथवा केवल कर्मसे प्राप्त होने जैसा नहीं है। ज्ञानके प्रसादसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुवा हो ऐसा ध्याननिष्ठ पुरुष ही उस निरअवयव परमात्माको देखता है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥

केन १-३,४

अर्थ— उस आत्मतत्वतक दृष्टि पहुंचती नही, वाणी पहुचती नही, मन पहुचता नहीं। जिस रीतिसे उसे कोई सिखावे वह रीति भी हमें नहीं समझती। वह समझनेसे परे है किंवा न समझनेसे परे है। वे ऋषि उस तत्वको हमें स्पष्ट कर समझा गए उन पूर्वाचार्योंसे हमने सुना है।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येनवागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

केन. १-५,६,७,८,९

अर्थ— जो वाणीसे प्रगट नहीं किया जा सकता (परंतु) जिसको (प्रेरणासे) वाणी प्रगट होती है वही ब्रह्म है ऐसा तू समझ। जिसका सेवन इन्द्रिय करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार ६,७,८,९ मंत्रमें मन, चक्षु, श्रोत्र और प्राणके विषयके मत्र हैं। उपर्युक्त उद्धरण उसी असहाय परिस्थितिके निदर्शक हे जो इक्स्ले साहबके शब्दोंमें दिग्दर्शित की गई है। अस्तु।

पदार्थका ज्ञान सामान्य व विशेष ऐसी दोनों पद्धतियोंसे संपादन करना होता है। उसी प्रकार पदार्थकी व्याख्या भी दो प्रकारकी होती है, और इन्हे हमारे शास्त्रकारोंने स्वरूप लक्षण और व्यावर्त लक्षण ऐसे दो नाम दिये हुए हैं। पदार्थके गुणधर्म बोधक व्याख्याको स्वरूप लक्षण कहा जाता है, और जिस व्याख्या द्वारा पदार्थोंका भेद समझता है उसे व्यावर्त लक्षण कहते हैं। तात्पर्य, यह कि पदार्थके ज्ञान प्राप्तिकी सामान्य व विशेष पद्धति तथा ऊपर बताई हुई दोनों प्रकारकी व्याख्या ये सारी बातें पदार्थके गुणधर्मपर ही अवलंबित रहती हैं और ये सारे गुणधर्म इन्द्रियोंद्वारा ही समझना शक्य होता है। परंतु जो वस्तु आंखोंसे दिखती नहीं, कानोंसे सुनाई देती नहीं, शब्दोंद्वारा जिसका वर्णन करने नहीं आता, श्वासोच्छ्वासके भी जो काममें नहीं आती किंबहुना ऊपर बताए हुए सामान्य व विशेषके

योगसे मनको भी जिसका विचार करने नहीं आता वह वस्तु दूसरेको समझाना अशक्य है ऐसा ही उपर्युक्त मन्त्रोंसे यद्यपि स्पष्ट है तथापि इतनेहीसे वह वस्तु अप्रमेय है ऐसा ठहराते नहीं आता यह हमारे ऋषियोंका स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण मत है। यहां यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अज्ञेयकी जगह अप्रमेय इस शब्दकी योजना ऋषिने की है।

प्रत्यक्ष प्रमाणसे न समझनेवाली वस्तुको ही अप्रमेय कहते हैं और हमारी इन्द्रियां ही प्रत्यक्षकी प्रमाण होती हैं, ब्रह्म वस्तु इन्द्रिय ग्राह्य न होनेसे अप्रमेय है ऐसा श्रुतिने कहा है परंतु ब्रह्म इंद्रिय ग्राह्य न भी हो तो भी वह बुद्धि ग्राह्य अवश्यमेव है ऐसा ' अतिमुच्यधीराः ' इस पदमें प्रथम ही दूसरे मन्त्रमें श्रुतिने स्पष्ट शब्दोंमें समझाया है। उपर्युक्त विवरणमें आए हुए जटिल प्रश्नोंको हल कर उसका समर्पण उत्तर प्राप्त करनेके हेतु हमारे शास्त्रज्ञ किस विचारसरणीके कारण सफल हुए हैं और उस विचारसरणीकी शुरुवात कहांसे हुई है यह स्पष्ट किया गया है, और ज्ञान संपादनके कार्यमें पाश्चात्य भौतिक शास्त्रज्ञोंके आगे हमारे वैदिक विज्ञानवेत्ता जो गए हैं उसकी शुरुवात भी इसी विचारधारामें पाई जाती है। इस प्रकारके स्पष्ट संकेत दशोपनिषदोंमें कई पाए और बताए जा सकते हैं उनका यहां निर्देश करना व्यर्थ ही है।

उपर्युक्त विवरणमें ' सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म ' इस महा वाक्यका विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया हुवा है कि इस तत्वको खोज निकालनेमें पौर्वात्य प्राचीन वैदिक ऋषि तथा आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञ किस प्रकार सफल हुए हैं। आगे चलकर यह सारी चराचर सृष्टि एवं सारा विश्व ही ब्रह्म है यह बात दूसरे महावाक्य ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' का स्पष्टीकरण छांदोग्य (३।१४।१) में करते हुए आगे इसी मन्त्रमें बताया है कि इस सारे विश्वरूप ब्रह्मकी शांत चित्तसे उपासना कर क्योंकि- तत्-ज-ल-अन्-यह विश्व तत्-ज उस ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाला, तत्-ल उसी ब्रह्ममें लय पानेवाला तथा तत्-अन्-उसीकी सहायतासे चलनेवाला यह सारा विश्व ब्रह्म ही है। इन दोनों महावाक्योंके समर्थक आजके आधुनिक शास्त्रज्ञ भी हैं। हमारे वैदिक ऋषियोंका तत्वसंशोधन इसके आगे भी चालू रहा और छांदोग्योपनिषद्के छटे अध्यायमें श्वेतकेतुको उसके पिताने नदी-समुद्र, पानी-निमक आदि अनेक दृष्टांत देकर बाह्य सृष्टिके मूलमें जो मूलतत्व है वह और-तत्वमसि- तू (त्वम्) याने तेरी देहमें जो आत्मतत्व है वह ये दोनों एक ही है यह स्पष्ट किया है।

तत्वमसि यह वैदिक वाङ्मयका तीसरा महावाक्य है जिसमें स्पष्टरूपसे समझाया है कि यदि तूने अपने आत्माको जान लिया तो सारे जगत्के जड या मूलमें क्या है वह आप ही आप तुझे मालूम हो जावेगा। इस स्पष्टीकरणमें ' तत्वमसि ' इस सूत्रकी कई बार पुनरावृत्ति की हुई दिखती है। इसके उपरान्त फिर बृहदारण्यक (३-५-८) और (४-२-४) में चौथे महावाक्य ' अहं ब्रह्मास्मि ' में मैं ही परब्रह्म हूँ इसे सिद्ध करते हुए स्पष्ट किया है कि मैं परब्रह्म हूं यह जिसने जान लिया उसने सब कुछ जान लिया। उपर्युक्त विवरणमें विश्लेषण किये गए वैदिक वाङ्मयके चार महावाक्योंके स्पष्टीकरणका तात्पर्य रूपसे यही सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वनियामक, सर्वप्रकाशक और आनंदघन ऐसा सदपब्रह्म यही जीवात्मा होते हुए इसके ज्ञानसे ही जीवको पूर्णता प्राप्त होती है, और वह कृतार्थ होता है। यही हमारे ब्रह्मविद्याका अद्वैत सिद्धांत है। इस सिद्धांतको शास्त्रीय संशोधनसे खोज निकालनेमें वैदिक ऋषियोंने पिंड ब्रह्मांडात्मक सारी सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षण कर अभ्यासात्मक तपश्चर्यासे ही इस ज्ञानको प्राप्त किया है यह स्पष्ट है। बाह्य चराचर सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षणात्मक अभ्याससे ही ब्रह्मांडका मूल तत्व जो ब्रह्म (Universal world stuff) इसको खोज निकाला है। इसे हमारे वाङ्मयमें क्षराक्षर विचार यह संज्ञा प्राप्त है। पिंड या शरीरके अभ्याससे हस्तपादादि इन्द्रियोंसे चढते चढते प्राण, चेतन, मन, बुद्धि, अहकार इन परतंत्र तथा एकदेशीय कार्यकर्ताओंके परे रहकर उनके व्यापारोंका एकीकरण करनेवाली और उनके व्यापारोंको दिशा लगानेवाली तथा उनके कार्योंको नित्य साक्षीभूत रहनेवाली ऐसी इन सबसे अधिक व्यापक और समर्थ शक्ति इस चेतना विशिष्ठ सजीव देहमें आत्मतत्वके रूपसे स्थित है। यह तत्व सिद्धांत रूपसे स्पष्ट किया हुवा है और इसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार कहते हैं। क्षराक्षर तथा क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार पूर्ण रूपसे 'गीता रहस्य ' में श्री लोकमान्यने अधुनिक दृष्टिकोन लेकर स्पष्ट किये होनेके कारण तथा वह एक विस्तृत विषय होनेके

कारण उसका विवेचन व्यर्थ होते हुए असंभव सी है। पिंड ब्रह्मांड इन दोनोंके मूलतत्व इस प्रकार पृथक् पृथक् निश्चित होनेके उपरान्त फिर और आगे तत्व संशोधनकी जिज्ञासासे अभ्यासात्मक तपश्चर्या कर हमारे प्राचीन शास्त्रज्ञ यह सिद्धांत प्रस्थापित करनेमें सफल हुए हैं कि ये दोनों तत्व एक ही है– जो पिंडी सो ब्रह्मांडी–अर्थात् जो पिंडमें (शरीरमें) है वही ब्रह्मांडमें है और इस प्रकार आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म ये सारे एक स्वरूप ही हैं यह निश्चित किया है। यही वेदांतशास्त्रका रहस्य तथा उसकी अपूर्वता है।

आत्मा और ब्रह्म इनका स्वरूप एक ही है यह सिद्धांत केवल शास्त्रीय युक्तिवादसे ही हमारे प्राचीन ऋषियोंने ढूँढ निकाला है ऐसा समझना गलत होगा। क्योंकि आध्यात्मशास्त्रमें शास्त्रीय पद्धतिसे ही कोई अनुमान निश्चित करते नहीं आता तो उसे अनुभवात्मक आत्मप्रचीतीकी जोड देनी पडती है। आधिभौतिक शास्त्रोंमें भी अनुभव पहले आता है और बादमें उसकी उपपत्ति मालूम पडती है या ढूँढ निकाली जाती है ऐसा ही साधारण नियम देखनेमें आता है। इसी न्यायसे ब्रह्मात्मैक्य की भी बुद्धिगम्य शास्त्रीय उपपत्ति निकलनेके सैंकडों वर्ष पहले हमारे प्राचीन ऋषियोंने 'नेह नानास्ति किंचन' (बृहदारण्यक ४।४।१९) याने सृष्टिमें दिखाई देनेवाला अनेकत्व सत्य न होते हुए उसके मूलमें चारों ओर एक ही अमृत, अव्यय नित्य सत्य तत्व है ऐसा प्रथम अंतरदृष्टिसे निर्णय कर फिर बादमें बाह्य सृष्टिका नामरूपोंसे आच्छादित अविनाशी ब्रह्मतत्व और शरीरका बुद्धिसे परे रहनेवाला आत्मतत्व ये दोनों एक जिनसी अमर और अव्यय हैं यह बात शास्त्रीय प्रयोगोंसे खोज निकाली थी, यही हमारे वेदान्तशास्त्रका रहस्य होते हुए हमारे वैदिक संशोधन पद्धतिकी विशेषता तथा अपूर्वता है जिसे आंग्ल भाषामें Ultra super method of scientific Research कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरणमें शास्त्रप्रचीति और आत्मप्रचीति ये वाक्य आए है। इनका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। श्रुतिका सुसंबद्ध वाक्यार्थ, उसके मुख्य सिद्धांतोंकी बौद्धिक युक्तिवादसे सिद्ध होनेवाली उपपत्ति तथा दृष्टांत रूपसे उपर्युक्त दोनों बातोंको समर्थक हों ऐसे व्यावहारिक नियमोंका अनुभव इन तीनों मार्गोंका सुसंगत रूपसे मेल मिलाकर किये हुए विवेचन द्वारा जो विषय बुद्धिको पूर्णरूपसे पटता है वही शास्त्रप्रचीति है। इस प्रकार शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होनेपर तुलना, पिंडब्रह्मांडका निरीक्षण तथा वैयक्तिक और सामाजिक आचरण इन साधनोंसे पूर्वोक्त शास्त्रीय ज्ञानका जो अनुभव आता जाता है वही आत्मप्रचीति है। प्रत्येक ज्ञानको दो अवस्था– परोक्ष और अपरोक्ष– प्राप्त होती हैं। ब्रह्मज्ञानको भी परोक्षसे अपरोक्षमें जाना पडता है।

परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्षतया शाब्दिक ज्ञान ऐसा अर्थ समझना चाहिये। आगे उसी ज्ञानको जब अनुभवकी स्थिति प्राप्त होती है तब उसे अपरोक्ष कहते हैं। प्रथम शास्त्रोंद्वारा जो ब्रह्मज्ञान होता है (जैसा हमारे अधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको प्राप्त है) वह परोक्ष या शाब्दिक ज्ञान होनेके कारण उसे सचमुच स्थैर्य प्राप्त नहीं होता। जब उसे अनुभवकी स्थिति अर्थात् अपरोक्ष अवस्था प्राप्त होती है तब वह ज्ञान स्थिर होता है। इस स्थित्यंतरको ज्ञानका परिपाक कहते है। यह परिपाकका काल साधकके प्रयत्नोंपर अवलंबित रहता है। उपनिषदोंमें बताया ही हुआ है कि–

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

अर्थात् शाब्द और पर ऐसी दो तरहसे ब्रह्मका अध्ययन करना होता है। मनुष्य शाब्द ब्रह्ममें निष्णात होनेपर ही वह अपरोक्ष अवस्था प्राप्त कर 'पर' ब्रह्म स्वरूप प्राप्त कर सकता है।

उपनिषद्कर्ता ऋषियोंने उपनिषदोंमें ब्रह्मसिद्धांतको सांगोपांग मांडकर ब्रह्मविद्याका स्वरूप स्पष्ट और परिपूर्ण किया और इस ब्रह्मविद्याके कारण ही वैदिक धर्म तेजस्वी होकर वही सारे जगत्का मार्गदर्शक हुआ ऐसा वैदिक संस्कृतिके प्राचीन इतिहाससे सिद्ध होता है। ब्रह्मविद्याके दो अंग हैं। परा और अपराविद्या। ब्रह्मविद्याके केवल स्वरूपका जिससे ज्ञान होता है वह पराविद्या है और पिंडब्रह्मांडका तथा शरीर तथा सृष्टिके स्थूल व सूक्ष्म स्वरूपका जिसमें विवेचन पाया जाता है वह अपराविद्या (विज्ञान या (Science) है और इस अपराविद्यामें चारों वेद और छ: ही वेदांगोंका मुण्डकोपनिषद्कर्ता ऋषिने समावेश किया है यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात अधुनिक विद्वानोंके सामने रखना आवश्यक है।

कठ (१-२-१८) के अनुसार एकंदर पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टि आत्मतत्वकी ही बनी हुई है यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा है और इस आत्मतत्वका कहीं आरंभ नहीं होता न कहीं उसका अन्त ही होता दिखता है। इसी प्रकार कठ (३-१-२) में यह सर्व पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टि उस सत्य तथा व्यापक ऐसे परमात्म तत्वमें ही समाविष्ट है यह स्पष्ट किया है इस कारण यदि ब्रह्मतत्त्वका अभ्यास करना हो तो वह पिंडब्रह्मांडका निरीक्षण तथा उसकी सहायताहीसे करना होता है यह सिद्ध है, और इसी कारण पिंडब्रह्मांड ही ब्रह्मतत्वके शास्त्रीय संशोधनका केन्द्रस्थान है यह स्पष्ट ही है। इस पिंडब्रह्मांडात्मक बाह्य दृश्य सृष्टिका निरीक्षण-युक्त संशोधन करना ही अपराविद्या, विज्ञान या (Science) है। कठोपनिषद्के दूसरे अध्यायके पहली वल्लीके बहुतांश मंत्रोंमें 'एतद्वैतत्' ये शब्द आए हैं। उनका उद्देश इतना ही है कि पिंडब्रह्मांडमें दिखाई देनेवाले भिन्न भिन्न स्वरूप बताकर उनका मूलतत्वसे एकीकरण किया जाय और इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मतत्वके ज्ञान संपादन करनेकी शास्त्रीय पद्धति पूर्णरूपसे ध्यानमें आ जाय।

शब्दादि विषय तथा उनका व्यवहार और जागृति और निद्रा इत्यादि सर्व प्रकारका ज्ञान जीवात्माको जिसके कारण प्राप्त होता है तथा इस क्षेत्रज्ञ जीवात्माको जो देखता है वही ब्रह्म है यह मन्त्र ३,४,५ में बताया है और अगले तीन मन्त्रोंमें सृष्टिका आदिकारण, सूर्य मण्डलका आधार, और अग्नि इन्हे परमात्माके स्वरूप बताकर उनका भी मूल ब्रह्मतत्वसे एकीकरण दिखा दिया है। श्रुतिमें आए हुवे इस प्रकारके वर्णनसे वेदान्त ग्रन्थकारोंने व्यष्टि समष्टिकी उपपत्ति बिठाई है अर्थात् जीवात्माका इस क्षेत्र या शरीरसे कर्ता, ज्ञाता, साक्षी इत्यादि प्रकारोंसे जैसा संबंध आता है वैसाही परमात्माका ब्रह्माण्डसे संबंध रहता है ऐसा इस व्यष्टि समष्टिके उपपत्तिका तात्पर्य है।

वैदिक ऋषियोंने उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्याशास्त्रकी रचना कर अभ्युदयपूर्वक निश्रेयस प्राप्तिका राजमार्ग सबको खुला कर दिया है, समाज किंवा समष्टि ही अभ्युदयका क्षेत्र होते हुए व्यष्टि किंवा व्यक्ति निश्रेयसको पात्र हुआ करती है। समाज या राष्ट्रका उत्कर्ष हुए बगैर व्यक्तिका पूर्ण अभ्युदय होना शक्य ही नहीं है यह अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार व्यष्टि समष्टिका मेल बिठाकर अभ्युदय व निश्रेयस परस्परानुकूल हों ऐसा मेल इस औपनिषदिक ब्रह्म-विद्याने इतने उत्कृष्टतासे मिलाया है कि वैदिक धर्म, वैदिक तत्वज्ञान ये दोनों एक दूसरेसे सुसंगत और एक दूसरेको कैसे पोषक हैं यह स्पष्ट कर दिया है। वेदान्त शास्त्रमें 'धर्म' शब्दका अर्थ अंग्रेजी भाषाके Religion इस शब्दसे बिलकुल ही स्पष्ट नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद्के (१-४-१४) में धर्म शब्दका वैदिक अर्थ स्पष्ट किया हुवा है।

> यः वै सः धर्मः तत् वै सत्यम्। तस्मात् सत्यं
> वदन्तम् धर्मम् वदति' इति आहुः धर्मम् वा
> वदन्तम् 'सत्यम् वदति' इति (आहुः)।
> हि एतत् तत् एव उभयम् भवति॥

अर्थ— जो यह धर्म है वही सत्य है। इस कारण सत्य बोलनेवालेको वह धर्म बोलता है ऐसा कहते हैं, तथा धर्म बोलनेवालेको वह 'सत्य बोलता है' ऐसा कहते हैं क्योंकि धर्म व सत्य एक ही तत्व हैं।

उपर्युक्त विवेचनमें शास्त्रप्रचीति और आत्मप्रचीति अर्थात् अपराविद्या और पराविद्या या ऑब्जेक्टिव्ह Objective और सब्जेक्टिव्ह Subjective अभ्यास द्वारा सिद्ध किया हुवा अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत 'जो पिंडी सो ब्रह्मांडी' उच्चकोटिके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके उस विधानका संपूर्णतया खंडन करता है जो ऊपर दिये हुए एक उद्धरणमें इन शब्दोंमें है—

"This duality of all our individual universes, this contrast of Objective and Subjective, is an inexplicable duality, so perhaps it will always remain."

आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्व है तथापि पिंड और ब्रह्मांड इनको व्यापे हुए इस तत्वको पिंडकी अपेक्षासे आत्मा और ब्रह्मांडकी अपेक्षासे ब्रह्म ये नाम दिये जाते हैं। इस सिद्धांतमें केवल इतना ही साम्य नहीं है तो शास्त्रीय संशोधन द्वारा वैदिक ऋषियोंने निर्णयात्मक रूपसे यह भी सिद्ध किया है कि ब्रह्मांडमें सृष्टिचक्रका व्यापार चालू रहनेमें जो जो देवता (शक्ति) कार्यक्षम रहती हैं वे ही देवता (शक्ति) अंशात्मरूपसे पिंड या शरीरके

धारणपोषणमें कार्यक्षम रहती हैं, और इसी संशोधनका परिणत स्वरूप ही जो पिंडी सो ब्रह्मांडी यह सिद्धांत है। यद्यपि आज अधुनिक शास्त्रज्ञोंने ब्रह्मांड स्थित शक्तियोंका तथा पिंड या शरीरशास्त्रका सूक्ष्म अभ्यास कर उसके भिन्न भिन्न अंगोंकी रचना तथा उनकी कार्यक्षमताका ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथापि यह अभ्यास एकांगी होनेके कारण अपूर्ण ही है ऐसा ही मानना पडेगा।

इसके विपरीत वैदिक ऋषियोंने प्रथम इस प्रकारका पृथक् पृथक् अभ्यास कर बादमें पिंड और ब्रह्मांड स्थित देवताओंके स्थान तथा उन उन स्थानोंमें होनेवाली क्रियाओंका सामंजस्य प्रस्थापित कर, ' जो पिंडी सो ब्रह्मांडी ' यह सिद्धांत जो पूर्णरूपेण सिद्ध किया है यही वैदिक विज्ञानकी विशेषता तथा अपूर्वता है। इसको एक छोटासा उदाहरण देकर और स्पष्ट करेंगे। ब्रह्मांड स्थित पंचमहाभूतोंमें स्थूल पृथ्वी और आकाशको छोड आप, तेज और वायू यही मूल कार्यकारी शक्ति (देवता) हैं और इन्हींके कारण सारे सृष्टिचक्रमें स्थित्यंतर हुवा करते हैं यह सब जानते हैं। पिंड या शरीर भी इन्हीं पंचमहाभूतोंसे बना होनेके कारण इस पार्थिव शरीरमें भी अंशात्मक रूपसे इन्हीं तीनों शक्तियों (देवताओं) द्वारा स्थित्यंतर होते होने चाहिये। इस ' पिंडी सो ब्रह्मांडी '-सिद्धांतके आधारपर ही सारे आयुर्वेद शास्त्रमें वात, पित्त, कफ, (वात-वायूका परिणत स्वरूप, पित्त-तेजका परिणत स्वरूप और कफ-आपका परिणत स्वरूप,) को ही प्रमुख मानकर सारे शास्त्रकी रचना की हुई है। अस्तु।

शास्त्रप्रचीतिको लगनेवाला पिंडब्रह्मांड स्थित बाह्य नामरूपात्मक वस्तुओंका ज्ञान अधुनिक शास्त्रज्ञों तथा वेदकालीन ऋषियोंने अपराविद्या, विज्ञान, (Science) के अभ्यासले प्राप्त करनेके प्रयत्न किये हैं परन्तु आत्म प्रचीतिको लगनेवाली पराविद्या (Subjective Sciences) को प्राप्त करनेके लिये लगनेवाले साधन तथा उसके मार्गोंको खोज निकालनेका संशोधनात्मक कार्य जो वैदिक ऋषियोंने कर इसमें सफलता प्राप्त कर ली है इससे पाश्चात्य शास्त्रज्ञ पूर्णतया अपरिचित हैं और यही बात वैदिक विज्ञानकी श्रेष्ठता तथा अपूर्वताकी द्योतक है। इस आत्मप्रचीतिको प्राप्त करनेको लगनेवाली सर्वगुणसंपन्न शुद्ध बुद्धि करनेके साधनोंमें इन्द्रियनिग्रह तथा मनोनिग्रह संपन्नताकी जैसी आवश्यकता है वैसे ही अपराविद्याका विज्ञानशास्त्र भी एक महत्वपूर्ण साधन है यह वैदिक ऋषियोंका महत्वपूर्ण सिद्धांत वैदिक वाङ्मयके परिशीलनसे स्पष्ट होता है।

बुद्धिके सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये आत्मसंयमन तथा ज्ञान-विज्ञानका अभ्यास इन दोनोंकी अत्यंत आवश्यकता होती है क्योंकि आत्मसंयमनके बिना बुद्धिपर ज्ञानविज्ञानका संस्कार नहीं हो सकता और ज्ञानविज्ञानके बिना केवल आत्मसंयमनसे बुद्धि सर्वगुणसंपन्न तथा निर्दोष नहीं हो सकती। बुद्धिके सारे दोष नष्ट होकर उसमें सद्गुणोंका संवर्धन होकर उसके पूर्ण शुद्ध स्वरूपमें ही साक्षात्कार हो सकता है। वैदिक वाङ्मयमें तथा अधुनिक विद्वानोंको समझ सके ऐसे श्री लोकमान्यजीने अपने गीता रहस्य ग्रन्थमें इसका संपूर्ण विचार किया होनेसे जिज्ञासू विद्यार्थीने उस ग्रन्थका अभ्यास करना आवश्यक है क्योंकि वह संपूर्ण विषय पूर्णतया बुद्धिग्राह्य है।

यहां हम केवल इतना ही बताना चाहते हैं कि इस प्रकारके ज्ञानसामर्थ्य प्राप्त करनेके हेतु लगनेवाले वैयक्तिक और सामाजिक आचरणके सद्य:स्थितिमें परिवर्तन करना पाश्चात्योंको कष्टप्राय ही है परंतु यदि वे चाहें तो उसे वैदिक वाङ्मयके परिशीलनसे प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। वैदिक संस्कृतिके इतिहाससे स्पष्ट होता है कि हमारे पूर्वजोंको अपरा और पराविद्या पूर्णरूपेण प्राप्त थी। उसकी परंपरा आज यद्यपि नष्ट हो गई हो तथापि उनको प्राप्त करनेको लगनेवाली पार्श्वभूमि आज भी अस्तित्वमें है। दीर्घकालके विस्मरणसे उसमें दोष आ गए हैं। स्वतंत्र भारतमें यदि पूर्ण संकल्पयुक्त तथा शास्त्रशुद्ध प्रयत्न किये गए तो हमारे पूर्वजोंने संग्रहित की हुई ज्ञान राशी पुनःश्च प्राप्त कर सकते हैं और उस ज्ञानसे पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको प्रभावित कर उन्हें इस ज्ञानभंडारकी सहायतासे मानव हितार्थ उसका उपयोग करनेको प्रेरित कर सकते हैं।

महान् भारत

[लेखक : डॉ. राममूर्ति श्रीराम मिश्र]

जयभारत ! जय ! जय ! महान
वैदिक मन्त्रोंसे वन्द्यमान
पृथ्वीतलमें, अम्बरतलमें
सागरतलमें व रसातलमें
प्रकृतिस्थलमें व वनस्थलमें
रङ्गस्थलमें हृदयस्थलमें
सौन्दर्यसुधा ऋतुधामसदा
रविशशिकिरणोंसे दीप्यमान (जय०)

मृत्युदेवको जहां जीतकर
ऋषियोंने अमृतपान किया
हालाहल महाभयंकरका
शिवशंकरने जलपान किया
चेतनको जड कर देते थे
जडको करते चेत महान् (जय०)

कभी देवतागण भारतमें
आनेको अकुलाते थे
इन्द्रसदश देवेन्द्र जहांपर
मदत मांगने आते थे
था अश्वमेधके यज्ञोंसे
सारा भूतल गुञ्जायमान (जय०)

करामात थी अजब हाथमें
जब यों हाथ हिलाते थे
जिन्दोंको कर देवे मुरदा
मुरदोंमें जीवन लाते थे
यह मृत्युदेवके भवनोंमें भी
स्वागतसे था जेगीयमान (जय०)

यही भूमि थी ऋषिमुनियोंकी
कंचन यहां बरसते थे
लोग विदेशी सुन सुन करके
दर्शन अर्थ तडपते थे
उस विचित्र रचनाकारकी
रचनाओंसे शोभायमान
जयभारत ! जय ! जय ! महान् ।

आयुर्वेद महाविद्यालय

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि २९ अगस्त ५६ श्रीकृष्ण जन्माष्टमीके शुभावसरपर गुरुकुल झज्जरमें आयुर्वेद महाविद्यालयका उद्घाटन श्री डा० के. एल्. श्री माली, उप शिक्षामन्त्री भारत सरकारके करकमलोंद्वारा विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ।

आयुर्वेद महाविद्यालयमें प्रवेश चालू है। प्रवेशार्थी शीघ्र ही अपना प्रार्थनापत्र आचार्यके नाम भेजकर प्रवेश आज्ञा प्राप्त करें।

१- इस आयुर्वेद महाविद्यालयमें शुद्ध आयुर्वेदके पठन- पाठनका प्रबन्ध किया गया है।

२-अध्ययन शुल्कादिका सभी व्यय न्यूनतम है।

३- महाविद्यालयका अध्ययन काल चार वर्ष है।

४- इसकी उपाधि (डिग्री) को सरकार द्वारा मान्यता होगी।

५- प्रवेशार्थी अविवाहित होना चाहिये। और आयु १५ वर्षसे न्यून न हो।

६- विज्ञान वा संस्कृत लेकर मैट्रिक पास तथा प्रभाकर, शास्त्री, स्वाध्याय मण्डल किल्ला पारडीकी संस्कृत विशारद, विरजानन्द संस्कृत परीषदकी "संस्कृत प्रवीण" आदि परीक्षा उत्तीर्ण छात्र प्रविष्ट हो सकते हैं। विशेष जानकारीके लिये कार्यालयसे पत्रव्यवहार करें अथवा स्वयं आकर मिलें।

निवेदक
श्री भगवानदेवजी आचार्य,
पो० गुरुकुल झज्जर, जि० रोहतक

योगके मौलिक सिद्धान्त

[लेखक श्री वेदानन्द शास्त्री, देहली]

⊙

सभी प्रकारकी चित्त-वृत्तियोंको केन्द्रित करना 'योग' है। चित्त-वृत्तियोंको स्थिर करनेका साधन शरीरकी स्वस्थता, वैराग्य, जप, तप, औषध, आसन और प्राणायाम है।

योगारूढ व्यक्तिका परम लक्ष्य ब्रह्मदर्शन है, वह समाधि द्वारा प्राप्त होता है। वहां पहुंचनेपर जो अवस्था होती है, वह अद्भुत है। समाधिमें योगीका बाह्य जगत्से सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाता है। वह एक दूसरे ही लोकमें विचरण करता है। समाधि-अवस्थामें सब बन्ध स्वतः लग जाते हैं। गुदा-द्वार ऊपर खिंच जाता है, उदर पृष्ठवंशकी ओर धंस जाता है, दोनों ओष्ठ भीतरकी ओर सिकुड़ जाते हैं, हृदय स्तब्ध हो जाता है। आंखें चाहे खुली भी हों, अपना कार्य बन्द कर देती हैं; निमेषोन्मेष सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय भी अपना कार्य बन्द कर देती है। विचारोंकी शृङ्खला केन्द्रीभूत होकर ऐसी कुण्ठित हो जाती है मानो, मूर्च्छा व्याप्त हो गई हो। समाधि और सुषुप्तिमें केवल इतना अन्तर रह जाता है कि सुषुप्ति ज्ञान-शून्य है और समाधिमें ज्ञान-आलोक प्रकाशित रहता है। प्रतिदिन नये-नये अनुभव आविष्कृत होते हैं। पुस्तकस्थ ज्ञान तथा समाधिस्थ ज्ञानकी यदि तुलना की जाय, तो योगीको उस समय आकाश पातालका अन्तर प्रतीत होता है।

समाधिस्थ-ज्ञान वह वास्तविक ज्ञान है, जिसमें तर्क-वितर्क तथा संशय-प्रणाली सर्वथा शान्त हो जाती है। प्रत्यक्षके सामने अनुमानकी अपेक्षा नहीं रहती। यदि इस प्रत्यक्ष-ज्ञानको पुस्तकरूपमें ग्रथित किया जाय, तो वह दूसरोंके प्रत्यक्षमें न आनेके कारण तर्क-वितर्क, संशय, अनुमान-प्रमाण आदिका विषय बन जाता है। यह सब कुछ होनेसे यथार्थ ज्ञान कोसों दूर पहुंच जाता है। हां, तर्क-वितर्क, संशय आदिका समाधान हो जानेसे व्यक्ति किसी स्वच्छ तथा स्पष्ट मार्गका दर्शन अवश्य करता है, परन्तु क्रियात्मक रूप न देनेके कारण वह ज्ञान आनन्ददायक तथा सुखकारक नहीं हो सकता। क्रियात्मक रूप देनेमें उसे एक कठोर परिश्रम करना पड़ेगा। यदि मैं यह कह दूं कि परमात्माका ही जिसपर अनुग्रह होगा, वह ही उसमें समर्थ है, अनुचित न होगा। यही कारण है कि अच्छेसे-अच्छे वैरागी भी तनिक-सी सांसारिक फिसलनसे फिसलते देखे गये हैं। प्रत्यक्षमें चाहे वे योगी ही कहलाएं, वास्तवमें उनका अन्तरात्मा जानता है कि वे क्या हैं।

एक सच्चे योगाभ्यासीको अपना शरीर तपकी भट्टीपर पकाना पड़ेगा। जो बातें उसे लक्ष्यके अन्तमें प्राप्त होंगी, पुस्तकोंके अवलोकन या गुरुकी देखरेखमें वे उसे कृत्रिम रूपमें प्रारम्भसे ही कार्यरूपमें परिणत करनी पड़ेगी।

सबसे प्रथम मैं पातञ्जल योगके यम-नियमकी ओर संकेत करूंगा। यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका समावेश है, नियमोंमें शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान आते हैं। इनकी परिभाषाओंका अवलोकन तो दूसरे ग्रन्थोंमें कीजिए, यहां मैं केवल इतना बताना चाहता हूं कि इन यम-नियमोंका पालन समाधि-अवस्थामें स्वतः होता रहता है। एक योगारूढ व्यक्तिके लिये यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि वह अपने हाव-भाव तथा विचार-धारा पहलेसे ही अपनी लक्ष्य-सिद्धिपर केन्द्रित कर दे। कहनेका तात्पर्य यह है कि सफलताकी कुञ्जी यम-नियमोंके पालनमें ही निहित है। यम-नियमोंका पालन किये बिना चित्त-वृत्ति स्थिर करनेका चाहे कितना भी यत्न किया जावे, निरोध स्थायीरूप धारण नहीं कर सकता। कुछ व्यक्ति यम-नियमकी महत्ता न समझ सीधे एकान्तमें रहनेसे ही इनकी साधना समझ बैठते हैं, पर यह सर्वथा अयुक्त है। यम सामाजिक हैं तथा नियम वैयक्तिक। अतः अहिंसा,

सत्य, अस्तेय, अपरिग्रहरूप यमोंका पालन समाजमें रहकर ही परिपक्व किया जाना चाहिए; क्योंकि इनका समाजसे सम्बन्ध है। वे लोग योग प्रक्रियामें प्रथम स्थानपर प्रतिपादित-सामाजिक यमोंकी अवहेलना कर वैयक्तिक नियमों- (शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) के पालनकी दृष्टिसे सीधे ही एकान्त सेवनका विचार कर बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि यथावसर प्रलोभनोंके समुपस्थित होनेपर पतितावस्था अपना नग्न चित्र खींच बैठती है। इसीलिए भगवान् मनु भी पतञ्जलि ऋषिकी भांति ही यमके पालनपर विशेष बल देते हैं।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो न नियमान् केवलान् भजन्॥

इन सबके साधनेके लिए वैराग्यवान् बनना पडेगा और यह धारणा दृढ करनी होगी कि संसार-मार्ग यदि यह है, तो योग मार्ग सर्वथा इससे विपरीत है। इससे भी पूर्व यह दृढ विश्वास करना होगा कि इस मेरे शरीरके साथ जन्म होते ही आयु और भोग निश्चित हो गये हैं, वे मिलकर रहेंगे। इनके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। मृत्यु-भय हटाना पडेगा, शरीर पालनकी चिन्ता छोडनी होगी। यदि इन दोनोंकी उलझनके सुलझानेमें लगेगा, तो ये सुलझेंगी भी नहीं और लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जायगा। यह एक तथ्य है इससे एक अनुभवी इनकार नहीं कर सकता। यदि किसीने साथ-साथ दोनों कार्य करके देखने हों, तो अवश्य देखे। अन्तमें पश्चात्तापके अतिरिक्त हाथ कुछ न पडेगा। इस प्रसङ्गमें यह कहना भी अनुचित न रहेगा कि वह स्वयंको योग-मार्गका यथार्थवेत्ता समझते हुए भी क्रियात्मक रूप उसे न दे सकेगा और क्रियात्मक रूप दिये बिना अप्रत्यक्ष ईश्वरके दर्शन कहां ?

क्रियात्मक रूप देनेमें शरीरकी स्वस्थता अत्यन्त आवश्यक है। शरीरका सम्पूर्ण रूपेण स्वस्थ रहना, विचारोंकी एकाग्रतापर अवलम्बित है। विचारोंकी एकाग्रता वैराग्य-बिना सम्पादन नहीं की जा सकती और वैराग्य संसारकी उलझनों तथा शरीरकी समस्याओंमें पडकर परिपक्व नहीं किया जा सकता। अतः एक साधकको यह धारणा दृढ बना लेनी पडेगी कि विषय परिस्थितियोंके आ जानेपर भी उसे मृत्युसे भय नहीं होगा, भोजनाच्छादनकी अनुपलब्धिमें उसकी चिन्ता नहीं होगी। जीवन-तरङ्गें आज समाप्त हों या कालान्तरमें यह विचार हृदयसे निकालना होगा।

इससे दो लाभ होंगे- प्रथम तो वह इस धारणाके बलवती होनेपर अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होगा, दूसरे यदि इस विचार-धाराके रहते हुए प्राणान्त भी हो गया, तो पुनर्जन्ममें निर्बाध रूपसे योग-पथका अनुगामी बन जायगा। इस धारणाके किये बिना चाहे सहस्रों जन्म व्यतीत हो जायें, मुक्ति तो मिलेगी नहीं; सांसारिक बन्धन मिल जाय तो कह नहीं सकते।

इतने दृढ निश्चयके उपरान्त एक साधकको योगपथका अनुगामी बनना चाहिए। फिर देखिये उसके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधानका पालन कितनी सुगमता वा अनायासतासे होता है। तथा इनकी साधनासे शरीरका सौष्ठव व ब्रह्मतेज कैसे देखते ही बनता है !

अब साधक आसनपर बैठने योग्य हुआ। योग एक विचित्र साधना है; उसके पूर्वापरका निर्देश करना बडा कठिन है। जैसे समाधि अवस्थाके अनुरूप साधकको अपनी विचार-धारा कृत्रिमरूपमें प्रथमतः ही बना लेनी पडती है; ठीक उसी तरह यम-नियमोंके पालनसे आसनकी सिद्धि तथा आसनके निरन्तराभ्याससे यम-नियमोंका पालन अनायास होता रहता है।

समाधिके लिए आसनोंमेंसे पद्मासनका ही अभ्यास करना अभ्यासीके लिए हितावह है। चाहे यह आसन प्रारम्भमें कुछ कठिन जान पडे व थोडे कालतक ही बैठा जाय; पर अभ्यासका विषय इसे ही बनाना उचित रहेगा। इस आसनमें पैरोंके परस्पर बन्ध जानेसे शरीर ऐसा बन्ध जाता है कि किसी समय अचानक समाधिकी अवस्था आजानेपर, शरीरका भान न रहनेसे साधक गिरनेसे बच जाता है, जो कि उस अवस्थामें बडा आवश्यक है। अन्यथा किये गये सम्पूर्ण परिश्रमपर पानी फिर जानेकी सम्भावना है- उस समय प्राण, सुषुम्णा-मार्ग द्वारा अपना मार्ग निश्चित रूपसे बना रहा होता है; यदि आसनके विचलित होने वा प्राण निकल जानेके भयसे साधक स्थिर न रह सका, तो प्राण-मार्ग अर्थात् सुषुम्णा-द्वार न खुल सकेगा। इस सुषुम्णा-द्वारका खोल लेना ही योगीके लिए योगकी सफलतामें पहुं-

जानेकी प्रथम सीढ़ी है। सुषुम्णा-द्वारा खुलनेपर ही योगीका मार्ग निष्कण्टक व संशय-रहित बन पाता है। इस समय विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि अब वह ऊर्ध्वरेता बन गया है और वीर्य-पात अब नहीं होने देगा।

अब लेखक इन पंक्तियोंद्वारा पाठकोंको एक दूसरी विचार-धारामें ले जाना चाहता है- ब्रह्मचर्यका संरक्षण किये बिना सुषुम्णा-द्वार नहीं खुल सकता; उसके खुले बिना ब्रह्मचर्यमें स्थिरता नहीं कही जा सकती। इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ब्रह्मचारी कहलाना अलग बात है; पर ब्रह्मचर्यका पालन करना दूसरी बात है। योग तो सच्चे ब्रह्मचारीकी खोजमें रहता है, वह कृत्रिम ब्रह्मचारीको अपना विश्वासी नहीं बनाता।

वीर्यकी कमी प्रमेह, स्वप्न दोष या किसी अन्य प्रकारसे ही सही. आखिर कमी तो है ही। इस कमीके रहते हुए साधकका केवल ज्ञानमात्रसे योग-मार्गमें बढ़ना इस जन्म में तो सफलताके दर्शन करा नहीं सकता, दूसरे जन्ममें भी यदि ब्रह्मचर्य-संरक्षणका पुजारी बना रहा, तो सफलता उसके हस्तामलक है।

वीर्यकी कमीसे उत्पन्न हानियोंका प्रसंगवश यहां विश्लेषण करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। जो सुषुम्णा-द्वारके उद्घाटनमें सर्वथा बाधक है। वीर्यमें बड़ी भारी गरमी है, जो शरीरके ताप-मानको स्थिर रखती है। उस विचित्र गरमीके रहते हुए गर्मीके दिनोंमें गरमीका, सर्दियोंमें सर्दीका और वर्षाऋतुमें पानीके प्रभावका अनुभव नहीं होता अर्थात् कोई भी ऋतु उसे हानि नहीं पहुचाती तथा अति सरलतासे उसका वर्ष व्यतीत हो जाता है। उदाहरणार्थ-पन्द्रह-सोलह वर्षीय बालकोंको लीजिए उनके चढ़ते हुए यौवनके ब्रह्मचर्यकी गर्मीमें वह शक्ति निहित है जो उन्हे पानीमें बहुत समयतक घुमा सकती है, ठण्डक उन्हें हानि नहीं पहुंचाती। गरमीकी गरम हवाएं उन्हें कुछ नहीं कहतीं, छातीकी वे आवश्यकता नहीं समझते। सरदीमें थोड़े कपड़ोंसे उनकी शीत-निवृत्ति हो जाती है तथा बीमारीके शिकार भी नहीं हो पाते। ऐसे बालक उत्साह-पूर्ण समस्त कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। इसी तरह अब दूसरी ओर दृष्टिपात कीजिए- चरित्र-हीन बालक अनेक रोगोंसे ग्रसित, डरपोक, कमजोर, तथा अनुत्साही देखे जाते हैं।

कभी-कभी इसके विपरीत भी देखनेमें आ सकता है अर्थात् सच्चरित्र होते हुए भी मनुष्य रोगी बना रह सकता है; परंतु इस प्रसंगमें तो हमने यही देखना है कि उसके शरीरमें परमशक्ति वीर्यकी मात्रा कितनी है ! यदि रोगी रहनेके कारण भोजनकी अव्यवस्थासे उसकी धातुएं की वृद्धि अवरुद्ध हो गई है, तो वही बात फिर सामने आ खड़ी होगी, जिसका दिग्दर्शन पूर्व करा दिया गया है। अतः धातु-दौर्बल्य चाहे किसी भी कारण क्यों न हो, वह शरीरके तापमानमें ह्रासका कारण अवश्य बनेगा। इस ताप-मानको बनाए रखनेके लिए ही व्यक्ति भिन्न भिन्न उपायोंका आश्रय लेते हैं, जो अर्थसे ही पूर्ण किये जा सकते हैं। बस समझ लीजिए- अनेक प्रकारकी भोग-विलासकी सामग्रीका संचय यहींसे प्रारम्भ होता है। योग-पथके एक सच्चे अनुयायीके लिए यह एक गहरी खाई है; यदि समय रहते इसे न संभाला जाय, तो इसे पुनः भरना दूभर हो जाता है।

ऐसे व्यक्तियोंको सभी ऋतुएं प्रतिकूल दीख पड़ती हैं। ऋतुएं तो पूर्ववत् ही है, हां, उसके शरीरमें परिवर्तन अवश्य हो चुका है, जिसे वह समझ नहीं पाता। आप यह जानते ही है कि वात, पित्त, कफ तीनों पदार्थ शरीरके स्तम्भभूत हैं; इनकी समानतामें शरीर स्वस्थ रहता है और उसकी मोटी पहिचान नासिकोंके दोनों स्वरोंका समान चलना है। धातु-क्षीणतामें गरमी अर्थात् पित्तकी कमी हो जाती है और वातप्रधान होने लगता है। इस वायुकी प्रधानतामें मनुष्यको कब्ज रहना प्रारम्भ हो जाता है, पेटमें गैस बनने लगती है, सिरमें दर्द व चक्कर प्रारम्भ हो जाते हैं, जोड़ोंमें दर्द, आंखकी ज्योतिमें कमी, शरीरमें भारीपन, तथा प्यास अधिक सताने लगती है। एक साधकके लिए ये सभी बातें उसकी साधनामें विघ्न हैं। इस अवस्थामें स्वप्नदोष और भी अधिक मात्रामें प्रारम्भ हो जाते हैं। ध्यान दीजिए- कब्जका और स्वप्नदोषका पारस्परिक सम्बन्ध है। जिसे स्वप्न दोष या किसी तरह भी धातुकी क्षीणता होगी उसका पेट कभी सर्वथा मलरहित नहीं हो सकता— शौच खुलकर नहीं आता- शौच साफ होनेमें देर लगेगी। शौचके समय जोर लगाना या मलाशयमें मल होनेके कारण स्वप्न दोषका हो जाना दोनों ही हानिकारक हैं। कब्जसे धातु-क्षीणता और धातु-दौर्बल्यसे कब्ज, ये दोनों एक दूसरेमें वृद्धि करते रहते हैं अन्ततः परिणाम यह होता है कि

कब्जकी शिकायत बहुत बढ जाती है और बवासीरके मस्से अपने पैर जमाने लगते हैं।

दूसरी ओर वातप्रधान हो जानेसे शरीर-सन्धियोंमें दर्द प्रारम्भ हो जाते हैं। जितनी मात्रामें इस नवयुवकको भोजन करना चाहिए था, पेटमें गैस भरी रहनेसे उसमें कमी आ जाती है। भोजनकी कमीका दूसरा कारण प्यासकी अधिकता भी है। कहनेका तात्पर्य यह है कि आमाशयका कुछ भाग गैसने और कुछ पानीने पूर्ण कर दिया, अब भोजनके लिए स्थान बहुत कम रह जाता है; अतः भूख न लगनेके उपद्रव खडे हो जाते हैं। और प्रधानरूपसे इस अन्नके बने हुए शरीरमें जबतक उचित मात्रामें खाद्य पदार्थ न पहुंचाया जावे, धातुके ह्रासको ही जन्म देता रहेगा। वे व्यक्ति बडे सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें कब्ज न रहनेसे अपान वायु निःसरण होता रहता है और मलाशयमें मल एकत्रित नहीं होने पाता। उन्हें भूख भी खूब लगती है और धातुओंकी वृद्धि दिन-प्रति दिन अपना साम्राज्य शरीरमें जमाने लगती है।

एक योगाभ्यासी व्यक्तिके लिए यह मल-बद्धता-दोष सर्वथा असह्य है। वह नियमित समयपर अभ्यासीको आसनपर आसीन नहीं होने देता। यदि समयका व्यतिक्रम करके उपासक बैठता भी है, तो अधिक देरतक बैठनेकी क्षमता उसमें नहीं होती। गुदा-द्वारका भंवर ऊपरकी ओर आकुञ्चित हो जानेसे प्राणायामके समय मूलबन्ध ठीक तरहसे नहीं लगता। उड्डियान बन्ध-बन्धनमें भी कमी आ जाती है। इन दोनों बन्धनोंके बिना प्राणोंका ऊर्ध्वगमन असंभव है। बिना ऊर्ध्वगति हुए, वीर्य भी ऊर्ध्वगामी नहीं बन सकता और सुषुम्णा-द्वारके खुले बिना एक साधक अपने पथमें सफलताके साथ आगे पग नहीं रख सकता। उसकी उन्नति स्तब्ध रहती है।

थोडा अब इधर ध्यान दीजिए- सब दार्शनिक व उपनिषत्कार यह स्वीकार करते आये हैं कि जहां मन होता है वहां प्राण स्वतः पहुंच जाते हैं। यदि हम किसी समय अपने मनको कुवासनामें लगाते हैं, तो प्राणकी गति एकदम नीचे हो जाती है। वह प्राण मूत्रेन्द्रियको सख्त व कडा कर देता है; प्राणके साथ-साथ वीर्यकी भी अधोगति हो जाती है। वह शरीरसे किसी न किसी रूपमें बाहर निकल जाता है। इसके ठीक विपरीत-यदि मनको भृकुटीमें स्थिर करके प्राणकी गति ऊर्ध्व बना दी जावे, तो वीर्यकी गति ऊर्ध्वगामी हो जायगी। जैसे प्राण मूत्रेन्द्रियमें आकर अपनी क्रिया प्रारम्भ करता है, ठीक वैसे ही सद्विचारों द्वारा पृष्ठवंशके अन्तर्गत सुषुम्णा नाडीमें प्रविष्ट होकर पृष्ठवंशको सीधा व कठोर बना देता है।

इस समय उपासक पर्याप्त समयतक अपने एक ही आसनसे स्थिर बैठ सकता है। वीर्य ऊर्ध्वगामी रहनेसे मस्तिष्ककी ओर प्रवाहित रहता है, सिरमें चक्कर व दर्द कभी नहीं होता; मस्तिष्क सदा तरोताजा व बुद्धि प्रखर रहती है। परन्तु यह सब कुछ प्रयत्नपूर्वक और धैर्यके साथ ही निरन्तर अभ्याससे किया जा सकता है। धातु-प्रधान शरीरवाले स्त्री-पुरुष इस अवस्थाको थोडे ही कालमें प्राप्त कर लेते हैं; पर दूसरोंके लिए कोई अवधि निर्धारित नहीं की जा सकती। यह धातुओंकी न्यूनाधिकतापर अवलम्बित है। अतीतकी घटनाओंको विस्मृत करके ज्ञान होनेपर यदि दृढताके साथ साहसी व्यक्ति अपनी कमीको पूर्ण करनेमें कटिबद्ध हो जायें, तो सफलता उनके समीप ही है।

धातु-क्षीणतासे अस्थियोंके टेढा होनेमें कारण

पहले निर्देश किया गया है कि वीर्यमें बडी गरमी है, जो शारीरिक ताप-मानको स्थिर न रहनेसे शरीरमें ठण्डका आवास रहने लगता है। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त भी है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी प्रकृतिकी ओर ही आकर्षित होता है। उदाहरणार्थ- अग्नि-शिखाको कितना भी नीचे कीजिए सूर्यकी ओर ऊपर ही जायगी, चाहे सूर्य दृष्टिगत हो या न हो। ऊपर फैंका हुआ मट्टीका ढेला नीचे ही आयेगा, क्योंकि उसकी प्रकृति पृथिवी नीचे है; ठीक इसी प्रकार पानीका आकर्षण भी पानीकी ओर ही होता है और अन्ततः वह समुद्रमें पहुंच जाता है।

हमारा शरीर भी पञ्चभौतिक है; यदि इसमें पित्त (गरमी) का साम्राज्य रहे तो वीर्यरूपी गरमी बढती रहती है। वीर्याभावमें यदि वातप्रधान हो जाय, तो वातका साम्राज्य जड पकडने लगेगा। इस वातकी प्रधानतामें प्यास अधिक सतायेगी; पानी अधिक पीनेसे शरीरमें पानीकी मात्रा अधिक पहुंच जायेगी। अन्तःस्थित जल बाहरसे और अधिक पानी खींचनेकी चेष्टा करेगा; अतः प्यास शान्त नहीं होगी। शरीरके भीतर अधिक गई हुई

पानीकी मात्रा शरीरको शीतल बनाए रक्खेगी। इस शीतलताके निवारणार्थ जनसाधारण कपड़ोंका व गरम पदार्थ भक्षणके भिन्न भिन्न उपाय करते हैं, पर वीर्यकी गरमीके मोटे सिद्धान्तको नहीं समझते। धातुक्षीणतामें जहां ये उपद्रव खड़े होते हैं, वहां शीतप्रधान (वायुप्रधान) शरीरकी अस्थिमें सिकुड़ जाती है और टेढी भी हो जाती हैं। धातु-क्षीणता जब सीमाका उल्लंघन कर जाती है, तब शरीरमें आकस्मिक अधरंग या लकवा मार जाता है या हाथ-पैरोंकी अंगुलिमें एक दूसरेपर चढ़ने लगती हैं। किसी किसीके शरीरमें कम्पन ही प्रारम्भ हो जाते हैं। साधक थोड़ी बहुत साधना अवश्य करते हैं; अतः उनके जीवनमें यहांतक नौबत नहीं आने पाती; परन्तु धातु-दौर्बल्यसे पृष्ठ-वंश अवश्य टेढ़ा होता है; पृष्ठवंशके साथ-साथ सम्बंधित अन्य अङ्ग भी टेढ़े हुए होते हैं, जिनका पता नहीं लग पाता। विशेषज्ञ ही उन्हें जान सकते हैं। डाक्टरों वैद्योंकी यहां पहुंच नहीं है। योगके लिए कैसे शरीरकी आवश्यकता है, वे यह नहीं जान पायेंगे।

मैं इसे कुछ और अधिक स्पष्ट करनेकी चेष्टा करूंगा। पृष्ठवंशके सीधा होनेका यह तात्पर्य नहीं कि वह झुकानेसे भी नहीं झुकाता। यदि ऐसा हो, तो समस्त सांसारिक कार्य-प्रणाली समाप्त हो जाय।

यह पृष्ठवंश सभीका टेढ़ा होता है, बालकोंका भी होता है; परन्तु दोनोंमें अन्तर इतना है कि बालकके पृष्ठवंशकी टेढको यदि उसे ब्रह्मचर्य-संरक्षण द्वारा सावधानीसे संभाल लिया जाय, तो सुगमतासे सीधा किया जा सकता है। जैसे पौदेकी हरी शाखको सावधानीसे संभालते रहनेपर सीधी भी रहती है और लचकीली भी बनी रहती है। किन्तु यदि वह सूख जाय तो उसे पूर्वावस्थामें लानेके लिए विशेष क्रियाकी अपेक्षा है। यह भी संभव है कि वह पुनः हरी ही न हो, ठीक इसी प्रकार धातुओंकी क्षीणतासे अस्थियें ऐसी सिकुड़ व सूख जाती हैं कि उन्हें फिर उसी अवस्थामें लानेके लिए विशेष चिकित्साकी अपेक्षा रहती है। कम सूखी और सिकुड़ी हुई अस्थिका थोड़े उपचारसे अपनी अवस्थामें आ जाती हैं, परन्तु इनके अधिक सिकुड़ जाने (लकवा आदि मार जाने) पर औषधोपचारका बाह्य विषय बन जाती हैं। इनकी चिकित्सा नहीं हो पाती। ऐसे व्यक्तिको आजीवन कष्टके दर्शन करने पड़ जाते हैं। उसका जीवन पराधीन बन जाता है। आपने देखा या सुना होगा— वैद्य एवं डाक्टर लोग ऐसे रोगोंकी चिकित्सा करते हुए भस्मों व गरम औषधियोंका प्रयोग इसीलिए करते हैं कि ठण्डके कारण सिकुड़ी हुई अस्थियां गरमी पाकर सीधी हो जायें।

कुछ व्यक्तियोंकी ये विपरीत धारणाएं हैं कि गरम पदार्थ साधकके लिए अपथ्य स्वरूप हैं, वे उत्तेजना पैदा करते हैं। वस्तुतः ऐसे भाव अन्तःपटलपर अङ्कित हो जानेसे ही उन्हें वैसा होने लगता है। जो इससे विपरीत भावना करेंगे और अपने संस्कारोंको बलवान पवित्र बनाएंगे, उनके लिए वे पदार्थ अमृततुल्य सिद्ध होंगे। ये पदार्थ शरीरगत वायुको साथ ही साथ बाहर निकालते हुए शरीरको स्वस्थ रखते हैं। एक ही पदार्थ साधारण व्यक्तियोंके लिए भोगका और साधकके लिए योगका साधन बना करता है। भस्में शक्ति बढ़ाकर जहां एक व्यक्तिके लिए भोगका साधन बनती हैं, वहां एक साधकके लिए शरीर-दोषोंको भस्म कर अन्न-दूध-घृतके प्रचुर प्रयोगसे वीर्य-संवर्धनका साधन बन योगके मार्गको अग्रेसर करती हैं। शरीरके अवयवोंको सुचारू रूपसे सुव्यवस्थित रखनेके लिए ही ऋषि-महर्षियोंने भस्मोंका प्रचलन किया था। ऋषि-पदवीपर आसीन होकर आप उनसे क्या यह आशा कर सकते हैं कि उन्होंने अपने लिए इनका निर्माण या आविष्कार न कर भोगी-विलासी व्यक्तियोंके लिए ही इनकी उपयोगिता समझी हो।

शरीर-संरक्षणके लिए कुछ दवाइयां भी हैं, एक मालिशका तैल ऐसा है, जो साधारणतया मालिशसे वातज रोगोंके लिए तो महौषध है ही, पर उसके द्वारा विशेष रूपसे चिकित्सा करनेपर लकवेतक ठीक होते देखे गये हैं। लकवे आदि रोगोंमें उससे केवल नलोंपर ही मालिश की जाती है और वह भी केवल अंगूठेसेही। कितनी बार अंगूठा नलपर कितने बलसे लगाना है, यह भी निश्चित किया जाता है। लेखक इस विधिसे परिचित है, पर रोगीको उसमें ऐसा कड़ा पथ्य करना पड़ता है, जो साधारण व्यक्तियोंके लिए असह्य है। सात दिनतक पानी न पीना, स्नान तो दूर रहा-पैर भी पानीसे न लगने देना और बिना नमकका भोजन करना; तिसपर भी भस्में और ऊपरसे खिलाना। इतना सबकुछ होते हुए भी पेशाब थोड़ी मात्रामें आता ही रहता है। अधिक मात्रामें हड्डियोंमें पहुंचा हुआ पानी बाहर

निकल जाता है और शीतलतासे अकडी हुई अस्थियां उष्ण होकर सीधी हो जाती हैं। शरीर गत बादी बाहर निकल जाती है। कब्जकी शिकायत दूर होने लगती है। शरीर निर्मल निर्दोष बन जाता है।

इसी तरह 'ओजोलोन' एक विशेष औषध है, जो वीर्यवर्धक तथा बुद्धिवर्धक है। शरीरके किसी भी स्थलमें कैसा भी दर्द हो उसके सेवन करनेसे सर्वथा निर्मूल हो जाता है। कब्जको हटाती हुई स्वप्नदोषको दूर करती है। इसके सेवनसे दुबले-पतले शरीर सुगठित और चरबीवाले सुव्यवस्थित हो जाते हैं। कभी-कभी इसका सेवन करना व्यक्तिको रोगी होनेसे बचाता है। बालक इसका सेवन करते हैं, तो मेधावी व पराक्रमी बनते हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष सभी अवस्थाओंमें इसका सेवन कर सकते हैं। ऐसी औषधियें भी किसीके लिये योगका और किसीके लिए स्वास्थ्य व शरीर संरक्षणका साधन बनी रहती हैं। पन्द्रह वर्षतकका पुराना गलित कुष्ठ भी इसके निरन्तर छः मासतक सेवन करनेसे सर्वथा ठीक होता देखा गया है।

शरीरका सौष्ठव व संगठन शरीरसे पसीना निकलते रहने पर भी स्थिर रहता है। जिन्हें धातु-दुर्बलताका रोग लग गया है उनके शरीरसे पूरी मात्रामें पसीना निकलना बन्द हो जाता है। वे रोगके ग्रास बन जाते हैं। अतः साधकके लिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि वह जहां आहारका ध्यान रक्खे, वहां विहारसे भी मुख न मोडे। व्यायामोंमें सबसे अच्छी व्यायाम आसनोंकी है; किन्तु कई एक साधक उन्हें वास्तविक रूपमें करना नहीं जानते। यदि वे जानुशीर्षासन करते हैं, तो उन्हें आधे घण्टेतक जानु परसे सिर नहीं उठाना चाहिए। उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि जमीनसे पैर उठाये बिना वह अपने मस्तकको जानुसे आगे बढाकर पिण्डलीतक पहुंचाये और पेट, छाती सभी अवयव टांगोंसे सटा दें— दोनोंके मध्यमें अन्तर रहने न पावे। इस तरह दस-पन्द्रह मिनिट करनेसे पसीनेकी धाराएं प्रवाहित होने लगेंगी। शरीरमें फुर्तीलापन समावेश हो जायगा और शरीर हलका प्रतीत होगा। अतः कोई भी आसन करते समय शीघ्रता करना लाभदायक नहीं है। जानुशीर्षासन व अन्य आसनोंसे रीढकी हड्डी सीधी होने लगती है। रीढके सीधी हो जानेपर मस्तकको पिण्डली-तक ही नहीं, और भी आगे पहुंचा सकेंगे, परन्तु इन सब चीजोंका अभ्यास धीरे-धीरे ही बढाना होता है। प्रसन्न करनेसे हानिकी संभावना रहती है। इस मार्गके अभ्यासीको एक दिनमें पारङ्गत हो जानेकी भावनाको ताकमें रख देना चाहिए। साधककी साधनाका क्रम धीरे-धीरे उन्नतिकी ओर अग्रेसर हुआ करता है। इस पथमें धैर्यवानकी अधिक आवश्यकता है।

बहुतसे साधु अब भी धूनी तपते हैं, पहले यह प्रथा अधिक थी। जबसे लोगोंने इसे ढोंग बताना प्रारम्भ किया है, यह निर्मूलसी होती जा रही है। किन्तु इस प्रणालीमें एक रहस्य है, जिसे समझ लेना हितप्रद होगा। जो साधु आजकल धूनी तपते हैं, वे इसे योग समझते हैं और अतएव यह अनपढ साधुओंमें ही सीमित रह गई है। विद्वान् साधु इसे हेयकी दृष्टिसे देखते हैं। मेरी दृष्टिसे जैसे प्राणायाम आदि योगके अंग हैं, धूनी तपना भी योगका एक अंश ही है। यह ऋषियोंकी योग-पद्धतिमें योगका एक साधन है। जैसे प्राणायाम करने, आसनपर बैठने, व्यायामके आसन करने व अन्य कार्य करनेसे शरीरमेंसे प्रस्वेद प्रवाहित होकर गर्मीका आधान, वीर्यकी स्थापना, वायुका निःसरण और शरीरका सौन्दर्य बढता है; ठीक उसी तरह धूनी तपनेसे शरीरके दोष निर्मूल होकर नाडियोंमें प्राणका संचार होता है। हड्डियोंमें गरमी पहुंचती है; वे सिकुडी हुई सीधी हो जाती हैं। उनसे अलग हुआ मांस पुनः चिपटने लगता है और शरीर सुगठित कडा बन जाता है। वैद्य महानुभाव जानते हैं कि गरम भरमें खिलाकर प्यास लगनेपर एकदम पानी नहीं दिया जाता; क्योंकि भरमें हड्डियोंमें गरमी पहुंचाकर अस्थिगत जलको सुखाती हैं और उनकी अकडन हटाती हैं। इसी प्रकार धूनी तपनेवाला साधक कोष्ठ शुद्धि करके बीचमें बैठता है। भोजन व पानीका कंधन करता है। सात-सात, चौदह-चौदह दिनतक भी वह धूनी तपता है। शरीर बहुत जोखिममें न चढा जाय; दिनभरमें पाव-डेढ पाव दूध पी लेता है। इससे उसके शरीरमें अधिक मात्रामें गया हुआ पानी अग्निके तापसे पसीने द्वारा बाहर निकल जाता है और अस्थियें सीधी होकर योगके योग्य शरीर बन जाता है। यह धूनी-तपनका कार्य योग्य गुरुकी देखरेखमें हो सके, तो अच्छा है। (क्रमशः)

मस्तिष्क या ब्रह्मरन्ध्र

(लेखक : श्रीमद् योगिराज, राजवैद्य श्री. गोपाल चैतन्यदेव, बम्बई)

⊙

मनुष्यका मस्तिष्क या दिमाग शरीरके जिस अंगमें है, उसे सिर, माथा या अंग्रेजीमें Head कहते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिसे मस्तकका परिचय दिया जानेपर भी शास्त्रकर्ताओंके मतानुसार उसका सूक्ष्मतत्त्व और ही प्रकारका है। जैसे मित्र, सखा, सुहृद्, बन्धु आदि शब्दोंका भावार्थ एक ही होनेपर भी तत्त्वज्ञानी या स्थितप्रज्ञकी दृष्टिमें इन शब्दोंके अर्थ विभिन्न भेदभावके सूचक हो सकते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टिसे जैसे 'सुहृद्' शब्द इन सबमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मस्तकके पर्यायवाची शब्दोंमें 'मस्तिष्क' सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। अंग्रेजीमें जैसे 'हेड्' और 'ब्रेन' दोनों भिन्न विषय माने गये हैं, उसी प्रकार 'सिर' और 'मस्तिष्क' भी भिन्न वस्तु है।

शरीरके साथ आत्माका जो संबन्ध है, ठीक वही संबन्ध सिरके साथ मस्तिष्कका है। आत्मा-रहित शरीर जिस प्रकार निर्जीव या मृत होता है, उसी प्रकार मस्तिष्क शून्य सिर या मस्तक भी निर्जीव पशुवत् अज्ञान है। सूक्ष्म विचार करनेपर अनुभव होगा कि शुद्ध अविकृत मस्तिष्क परमात्मा तुल्य है। किंतु पाश्चात्य चिकित्सकोंके मतानुसार किसी जीवके मस्तिष्क या उसके किसी अंशको काटकर शरीरसे अलग कर देनेपर भी उसे कोई कष्ट नहीं हो सकता। यह उनका अनुभूत सिद्धान्त है।

इसका भावार्थ तो यह होता है कि जैसे सर्वशक्तिमान परमात्मा समस्त विश्वके उपकरणोंकी उत्पत्तिमें सदा सर्वदा मग्न रहनेपर भी निर्लिप्तावस्थामें विराजमान रहता है, और किसी देश या लोकमें प्रलय या सर्वनाश हो जानेपर भी उसकी स्थितिमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता; ठीक उसी प्रकार मस्तिष्कका कोई अंश या संपूर्ण भाग काटकर निकाल देनेसे भी उसमें कोई दर्द या वेदना नहीं होती और वह पूर्णतया निष्क्रिय रहता है। किंतु यथार्थमें इस बातको स्वीकार करना कठिन हो जाता है। क्योंकि जहाँसे बुद्धि, धृति, धी, स्मृति आदि शुभ वृत्तियोंका ही नहीं, अशुभ-वृत्तियोंका भी उद्भव होता है, उस स्थानको काटकर नष्ट कर दिया जाय तो इस अहंकारी जीवका अस्तित्व ही कैसे रह सकता है? क्योंकि बिना मस्तिष्कके हम मृत या निर्जीव हो जानेपर संसारका कोई भी काम नहीं कर सकते। हमारे लिए संसार जड़वत् हो जायगा। अतएव अंधेकी तरह इस पाश्चात्य सिद्धान्तको मान लेना हमारे लिए- अभिमानी मानवके लिए असंभव जैसा ही है।

दूसरी और विशेष, विषय यह है कि- उनके मतसे स्नायुमण्डलके द्वारा शरीरके प्रत्येक अंशके साथ मस्तिष्कका संयोग होता है। इसे हम शरीर-रूपी राज्यकी राजधानी कह सकते हैं। अतः राज्यमें कोई घटना या उलट फेर होने पर उसका संवाद स्नायुमण्डल द्वारा उसी क्षण (बेतारके तार या रेडियोकी तरह) मस्तिष्कमें पहुंच जाता है। इसी प्रकार मनुष्यके आँख, नाक, कान, हाथ-पाँव आदि सभी इन्द्रियाँ एवं शरीरके अणु-परमाणुतक सभी मस्तिष्ककी आज्ञाका पालन करते हैं। एक श्रेणिके स्नायुओं-द्वारा शरीरके संवाद यदि मस्तिष्कमें पहुंचते हैं, तो दूसरी श्रेणीके स्नायु-द्वारा वह शरीरके अवयवोंको उचित आदेश देता रहता है। इस प्रकार मस्तिष्क ही सब प्रकारकी मानसिक वृत्तिका केन्द्रस्थल है।

मानसिक वृत्तियोंमेंसे प्रधान वृत्तियाँ निम्न प्रकारकी होती हैं—

(१) इन्द्रियज्ञान या अनुभूति (Sensation)- अर्थात्, चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रियोंकी सहायतासे प्राप्त बाह्य जगत्की अनुभव-जन्य मानसिक अवस्थाको 'अनुभूति' कहते हैं।

(२) ज्ञान (Intellect)- अर्थात्, स्मृति-शक्ति,

विचारशक्ति, अथवा जो मानसिक वृत्तिसे सदृश या विसदृश Resembling या Opposite) भाव उपलब्ध कर सकता है । इसीका नाम 'ज्ञान' या 'धारणा' है। किंतु यह सांसारिक ज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं ।

(३) भाव (Emotion)- अर्थात् विस्मय, भय, प्रेम क्रोध, स्नेह आदि मानसिक वृत्तियाँ 'भाव' के नामसे संबोधन 'की जाती हैं।

(४) इच्छा (Will)-अर्थात् जिस मानसिक वृत्तिसे हम कोई काम कर सकते या उससे निवृत्त हो सकते हैं, उस दृढ संकल्पका नाम ही 'इच्छा शक्ति' है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि शरीरके प्रत्येक क्षुद्रतम अंशके साथ भी मस्तिष्कका स्नायुमंडल-द्वारा संयोग है। अतः यदि किसी कारणसे शरीरके किसी अंशके साथ मस्तिष्कका सम्बन्ध छिन्न हो जाय तो वह अंश या अवयव एकदम अनुभूति शून्य (Benumbed) हो जाता है। किंतु आश्चर्यकी बात यह है कि पाश्चात्य मतानुसार मस्तिष्क शरीरके अन्यान्य स्थानोंके लिए इतना चैतन्यमय होनेपर भी स्वयं जड या चेतनाहीन है! क्योंकि इन्होंने परीक्षा करके यह निर्णय दिया है कि यदि किसी जीवके मस्तिष्कको काटकर निकाल दिया जाय या उसका कोई अंश छिन्न कर दिया जाय तो उसे किसी प्रकारका दर्द या कष्ट अनुभव नहीं होता !

अर्थात् उनके मतसे जब मस्तिष्क चेतनाशून्य जडवत् पदार्थ है, और उसे काट देनेसे कोई कष्ट अनुभव नहीं होता; तब ऐसा अचेतन पदार्थ संपूर्ण मानसिक वृत्तियोंका आधार कैसे हो सकता है ? अथवा अचेतन पदार्थोंमें अनुभूति या भावोद्रेक कैसे हो सकते हैं ? साथ ही स्नायुओंके द्वारा संपूर्ण शरीरका संवाद आहरणकर अन्य स्नायुओंद्वारा उचित आदेशका किस प्रकार परिवेशन किया जा सकता है ? अर्थात् यह सब परस्पर विरुद्ध-मत ही प्रमाणित होता है; और इसका उत्तर भी पाश्चात्य विद्या-संपन्न प्रगतिशील विज्ञानशास्त्री ही दे सकते हैं ! हम तो इसे गोरखधन्धा ही मानते हैं और—

मस्तिष्क या ब्रह्मरंध्र

को सदा चैतन्ययुक्त परमात्माका निवासस्थान ही समझते हैं । हमारे सनातन धर्मानुसार मस्तिष्कका स्थान शरीरस्थ अष्टमचक्र या गुरुस्थान अथवा शतदलकमल माना गया है, और उसे योगिवृन्द ब्रह्मरंध्र कहते हैं । इससे ऊपर नवमचक्र सहस्रदलकमल छत्राकार विराजमान है। इनकी व्याख्या, लेखसे विशेष संबन्ध न रखनेसे नहीं की जा रही है। फिर भी इतना तो कह देना ही पडता है कि, उक्त शतदलकमल या ब्रह्मरंध्रका नाम ही मस्तिष्क या ब्रेन (Brain) है। योगशास्त्रानुसार इसी स्थानमें कोटि सूर्य सदृश महातेज स्वरूप जो बिन्दु विराजमान है वही बिन्दु परम शिवके नामसे जगदुत्पत्तिकारि, पालक एवं संहारकर्ता परमात्मा माना जाता है । उसीको जगदीश्वर या सद्गुरु भी कहते हैं। सन्तसमाज उस सद्गुरुका ध्यान इस प्रकार करते हैं—

> ॐ ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
> द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यं ।
> एकं नित्यं विमलमचलं सर्वदा साक्षिभूत,
> भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

इसका शब्दार्थ स्पष्ट ही है । फलतः जो वस्तु या विषय त्रिगुणरहित है वह जडवत् ही हो सकती है और इस दृष्टिसे पाश्चात्य विज्ञानशास्त्रियोंके मतसे स्थूलरूपमें मेल भी हो जाता है। अर्थात् उनके मतसे मस्तिष्क जैसे जडवत् हैं, उसी प्रकार उक्त मंत्र या श्लोकमें दिये गये त्रिगुण-रहित एवं द्वन्द्वातीत शब्दोंका स्थूल अर्थ भी जडवत् ही होता है और उसमें सुख-दुःखका अनुभवजन्य ज्ञान न होनेसे सर्वसाधारण या तत्वज्ञानशून्य मानव उसे जडवत् मानते हैं । किंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है ।

उक्त ब्रह्मरंध्र या मस्तिष्क सदा सर्वावस्थामें सचेतन रहता है । केवल सविकल्प या निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें ही ज्ञानरूपसे परमसुखमें निमग्न रहनेसे बाह्य जगत्के साथ कोई सबन्ध न रहनेके कारण उसे सुख-दुःखका ज्ञान नहीं होता, उसी अवस्थाको जो भी द्वन्द्वातीत एवं त्रिगुणरहित कहते हैं; तथापि वह अवस्था भी सदा चैतन्यमय ही होती है- बाह्य जगत्के लिए नहीं: वरन् अन्तर्जगत्के लिए। यह है समाधि अवस्थाकी बात । किन्तु साधारण अवस्था, अर्थात् हम जैसे अज्ञान मानवके लिए वह अवस्था संभव नहीं । अर्थात् हम न तो द्वन्द्वातीत हैं और न त्रिगुण-रहित ही। हमें तो सुख-दुःखका ज्ञान

सदैव रहता ही है। और यह ज्ञान होता है मस्तिष्क या ब्रह्मरंध्रके द्वारा। ऐसी दशामें जब कि मस्तिष्कके द्वारा ही सब विषयोंका ज्ञान होता है, उसे जडवत् कैसे माना जा सकता है? क्योंकि जड वस्तु तो किसी बातको अनुभव कर ही नहीं सकती। अर्थात् चैतन्यमय वस्तुओंके अनुभवका साधन केवल मस्तिष्क ही है।

इन संपूर्ण तर्कवितर्कको त्यागकर स्वाभाविक विषयपर ध्यान देनेसे सर्वसाधारणको मानना ही पडेगा कि शरीरमें केवल मस्तिष्क ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानेन्द्रिय है। अतएव मस्तिष्कको स्वस्थ रखनेसे ही मानव समस्त विद्या, कला एवं कार्योंमें सिद्धि लाभ कर सकते हैं। अतः संसारके किसी भी विभागमें अपने जीवनकी उन्नति करनेके लिए सर्वप्रथम मस्तिष्कका स्वस्थ, शुद्ध बुद्धिकेन्द्रका आश्रय लेना ही पडता है। मस्तिष्ककी स्वस्थताके बिना संसारमें किसी भी संयोगमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

(२)

प्राच्य और पाश्चात्य अर्थात् आयुर्वेदिक एवं डॉक्टरी मतानुसार यदि हमारे मस्तिष्ककी बनावटका विवेचन किया जाय तो लेखका कलेवर बहुत बढ जायगा। साथ ही उससे चिकित्सक-वर्गको लाभ होनेपर भी सर्वसाधारणके लिए वह समझमें आ सकना असंभव होगा। अतएव इस बातको छोडकर मूलतत्त्वको ही लिया गया है।

ज्ञान और बुद्धिका आधार (केन्द्र)

मानवके स्थूल शरीरमें केवल मस्तिष्क ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानेन्द्रिय होनेके कारण वह समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ माना गया है। वैसे तो सभी प्राणियोंके शरीरमें इसका अस्तित्व पाया जाता है; किन्तु मानवकी भांति उनमें ज्ञान एवं बुद्धिका विकास नहीं दिखाई देता। जब कि मानव-मस्तिष्कमें ज्ञान-बुद्धिका तारतम्य प्रत्यक्ष रूपमें दिखाई देता है। अर्थात् एक मानव अपनी प्रखर बुद्धिके प्रभावसे सर्वोच्च न्यायाध्यक्ष बन जाता है, जब कि दूसरा मानव मस्तिष्क रहते हुए भी ज्ञानबुद्धिके अभावमें नरपशु बनकर साधारणसे लोभमें आकर नरहत्यातक करनेमें नहीं हिचकता। कोई भी असत् कार्य करते नहीं डरता।

वर्तमानयुगके राष्ट्रपिता महात्मागांधी स्थिर बुद्धि एवं विशुद्ध ज्ञानके ही प्रभावसे सत्य और अहिंसाके द्वारा महान् कूटनीतिज्ञ अंग्रेजी शासनको भारतसे हटा सके। इस विषय पर धार्मिक और सांसारिक दृष्टिसे विवेचन किया जानेपर जो तत्त्वनिष्कर्ष हो सकता है, वह भी विचारणीय ही होगा।

पाश्चात्य जगत्में ज्ञान एवं विद्याका अनुशीलन और विकास विशेष रूपसे हुआ है सही, किन्तु उसके उद्गम स्थानमें धार्मिक तत्त्व न रहनेसे वह ज्ञानबुद्धि मानव समाजको शांतिसुखमें पर्यवसित न कराते हुए मारकाट एवं ध्वंसकी ओर ही प्रवृत्त कर रहे हैं। अदूरदर्शी एवं भोग-परायण विषयलोलुप मानव यदि उक्त परम सुख-शांति एवं आनन्दको प्राप्त करना चाहें तो उन्हें मानना ही पडेगा कि पाश्चात्य जगत् असत् प्रवृत्ति एवं अधार्मिक भावनासे प्रभावित है।

परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें "स्थित-प्रज्ञ" के लक्षण जो बतलाये हैं, उन्हें जबतक आचरणमें नहीं लाया जायगा तथा सदाचार-रूपी वर्मसे वह अपनेको आच्छादित नहीं कर लेगा, तबतक सुख-शांतिकी आशा कभी सफल नहीं होगी।

प्रातःस्मरणीय महात्मा गांधी सदाचारसंपन्न एवं स्थित-प्रज्ञ महामानव थे और उन्होंने सत्य एवं अहिंसारूपी अभेद्य कवच धारण करके ही कूटनीतिज्ञ अंग्रेजी शासनके मायाजालसे भारतमाताको बन्धनमुक्त कराया। क्योंकि जहां सत्य और अहिंसा हैं वहाँ सदाचार एवं धर्मका रहना अनिवार्य ही होगा। साथ ही वह सज्जन अन्तमें "स्थित प्रज्ञता" भी अवश्य प्राप्त करेगा। अन्ततः उसके द्वारा संसारका सब प्रकार हितसाधन ही होगा।

किन्तु इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये भी विद्या-बुद्धि एवं ज्ञानकी आवश्यकता तो अनिवार्य ही होगी और उसकी पूर्तिका केन्द्रस्थान मस्तिष्क ही हो सकता है। यही कारण है कि वंशानुक्रमसे उत्पन्न शिशुके मस्तिष्कमें भी वही धारा प्रवाहित दिखाई देती है। जैसे डॉक्टरका पुत्र डॉक्टरी या चिकित्साके संस्कार लेकर जन्मेगा और वैज्ञानिकका पुत्र विज्ञानका। किन्तु कहीं कहीं इसके विपरीत उदाहरण भी देखनेमें आते हैं। किन्तु उन्हें औसत् या प्रतिशतकी दृष्टिसे नगण्य ही कहा जा सकता है।

शिशुजन्मसे ही पिताके शुक्रगत गुणदोषका अंशी

भावलाभ करके भी वातावरण, संगदोष, शिक्षा-दीक्षा, गुरु-प्रभाव आदिके कारण अपने भावी जीवनका तो निर्माण करता ही रहता है। अतएव इन कारणोंसे वंशानुक्रम एवं धारायें व्यतिक्रम होना असंभव नहीं। हम धर्मप्राण भारतीय इसे अपने पूर्वजन्मके संस्कार मान बैठते हैं; और वास्तवमें यह कोई बुरी बात भी नहीं। क्योंकि ऐसे भी उदाहरण विद्यमान है कि दुष्ट दुराचारी पुरुषके पुत्र धार्मिक एवं ज्ञानसंपन्न होते हैं और धार्मिक पुरुषोंके पुत्र अत्यंत नीच एवं दुराचारी। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर इसके केन्द्रस्थलमें दो बातोंका पता लगता है- प्रथम तो जन्म-जन्मान्तरके संस्कार, दूसरे संगदोष एवं शिक्षा-दीक्षा। किंतु इन समस्त धार्मिक तत्वोंके विवेचनका यह स्थान नहीं है। क्योंकि इस लेखमालाका उद्देश्य मानव-मस्तिष्ककी उन्नति साधनाके उपायोंपर ही प्रकाश डालनामात्र है। यद्यपि उर्वर भूमिमें पुष्ट एवं स्वस्थ बीज बोनेसे उसमें अंकुर भी उत्तम ही निकलेंगे; फिर भी उसपर वातावरण एवं सूर्य-किरण, जलसिंचन, सेवासुश्रूषा आदिका प्रभाव पडता ही है और वह यथासमय सुदृढ वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है। साथ ही उत्तम फलफूलसे शोभित होकर सबको आनंद देता है।

ठीक इसी तरह ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके चरणोंमें बैठकर ब्रह्मचर्यकी रक्षा करते हुए विद्यालाभ कर जो व्यक्ति गृहस्थाश्रममें प्रवेश करेगा, अर्थात् आवश्यक शक्ति प्राप्त कर लेनेके बाद वैवाहिक बन्धनमें बंधकर विधिपूर्वक स्वधर्म-पालन करेगा, उसकी सन्तान कदापि दुराचारी नहीं हो सकती। क्योंकि वह माता-पिताके उत्तम रज-वीर्य एवं सदाचारके संस्कारोंके कारण उत्तम मस्तिष्कवाली ही होगी। और यदि वह भी ब्रह्मविद्गुरुके समीप पहुँचकर विद्या-बुद्धि एवं ज्ञानार्जन तथा सदाचार आदि सद्गुणोंसे शोभित हो जाय; तो उसके द्वारा जगत्का जितना कल्याण होगा, उतना ही वह आत्मज्ञान प्राप्त कर परमशान्तिको भी सुलभ कर सकेगा। पूर्वकालमें ऐसा संभव था। किंतु आज तो न वैसे गुरुगृह या गुरुकुल ही हैं और न ब्रह्मनिष्ठ, सत्यधर्मा, स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही। इसीसे देश और समाजकी यह अधोगति हो रही है।

पूर्वकालमें परीक्षा-विधि इस प्रकार की थी कि देशदेशांतरके विद्वानोंके सामने खुली सभामें विद्यार्थियोंको सबके समक्ष परीक्षा देनी पडती थी और किसी भी विषयका उत्तर देनेमें विद्यार्थीको यदि एक भी अंक (मार्क) कम मिलता था तो वह अनुत्तीर्ण कर दिया जाता था। अर्थात् उसे सभी विषयोंमें पूर्ण अंक प्राप्त करने पडते थे। अतः जो कम अंक प्राप्त करता था, वह उतने ही अंशमें उस विषयमें अज्ञान माना जाता था। ऐसी दशामें उस विषयका ज्ञान न होनेसे उसे अनुत्तीर्ण ही किया जाता था। किंतु वर्तमानकालमें तो प्रत्येक विषयके सौ अंकों (मार्क) मेंसे यदि ३० या ३३ अंक भी कोई प्राप्त कर ले तो उत्तीर्ण मान लिया जाता है। अर्थात् वह ७० प्रतिशत उस विषयमें अज्ञान ही होता है। यही परीक्षाक्रम प्रायः आजकल सर्वत्र देखनेमें आता है।

किंतु प्राचीन भारतके तक्षशिला और नालंदा आदि विश्वविद्यालयोंके वर्णन जिन लोगोंने पढे हैं, उन्हें उपर्युक्त कथनकी सत्यता प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार अन्यान्य सज्जन भी स्थितप्रज्ञकी तरह विचार करनेपर सत्यता जान सकेंगे।

ऐसा पाप हमारी भारत संतानके अंतस्थलमें बहुत समयसे जड जमाकर बैठ गया है। अर्थात् अस्थिर चित्तवाले, असयमी एवं भोगलोलुप, स्वार्थपरायण अंग्रेजी शासनने जबसे भारतमें पदार्पण किया; तभीसे हमारा पतन आरंभ हो गया। संगदोष एक महान् दोष है, और उसके सभी असद् गुणोंको सहर्ष ग्रहण करके हमें तीव्रगतिसे रसातलकी ओर दौडते चले जा रहे हैं। किंतु उनके कितने सद्गुणोंको हमने ग्रहण किया है ? यह एक गंभीर विचारणीय प्रश्न है।

इसी प्रकार तत्वदर्शीकी दृष्टिसे इस विषयका विचार करनेपर सभीको यह माननेके लिए विवश होना पडेगा, कि हमारे विद्यार्थियोंके उपर्युक्त पतन या निम्नस्तरके ज्ञानका मूल कारण मस्तिष्ककी निर्बलता ही हो सकती है। क्योंकि पूर्वकालके विद्यार्थियोंके मस्तिष्क सतेज एवं सूक्ष्म-बुद्धि-संपन्न थे। उनकी धी-बुद्धि, श्रुति-स्मृति एवं ज्ञान आदि सभी सद्वृत्तियोंके अधीन होनेके साथ ही वे ब्रह्मविद्, स्थितप्रज्ञ सद्गुरुके आदेश-उपदेशानुसार चलते थे। इसी लिए उनमें सद्गुणोंका विकास होता था। सत्संग ही इसका मूलाधार था।

सद्गुरु जानते हैं कि किस प्रकारसे शिष्यके मस्तिष्कका उत्कर्ष हो सकता है। वे इसका सूक्ष्म तत्व भी जानते थे, इसी कारण सब प्रकारकी असत् प्रवृत्तियोंके केन्द्रस्थानको परित्याग कर अरण्यवासी हो जाते थे और अपने सद्गुणोंसे विद्यार्थियोंको सुशोभित करनेका सदैव ध्यानपूर्वक प्रयत्न करते थे। साथ ही वे विद्यार्थियोंके मस्तिष्ककी वृत्तियोंके उत्कर्षके लिए केवल विद्याभ्यास ही नहीं कराते थे, वरन् साथ साथ ब्रह्मचर्यकी रक्षाका भी पूरा ध्यान रखते थे। फिर भी केवल इस विषयका उपदेश देनेसे काम नहीं चल सकता, अतएव मानसिक वृत्तियोंके उत्कर्षके लिए यौगिक आसन, प्राणायाम आदिका भी अभ्यास कराते थे। इससे एक ओर जहाँ शरीर सुदृढ, सबल एवं कांतिमान बनता था, उसी प्रकार दूसरी ओर उनकी मानसिक वृत्तियाँ, आध्यात्मिकताकी ओर प्रभावित भी होने लगती थी। इस प्रयत्नमें विद्यार्थी एवं गुरु दोनों ही सफल होते थे।

आसनके पश्चात् जब प्राणायाम किया जाता है, तब कुंभकके समय रक्ताभिसरण-क्रिया तीव्रतर होकर आपाद-मस्तक गतिशील हो जाती है। इससे शरीर सर्वांग-अणु परमाणु तक पुष्ट-बलिष्ट हो जाते है। और उसके फलरूप ब्रह्मरन्ध्रस्थ मस्तिष्कके सर्वतंतु एवं उनके केन्द्र भी स्वस्थ और सबल हो जाते हैं।

जब विद्यार्थीवृन्द जब ब्रह्मांध्रमें कोटि सूर्यके समान उज्वल एवं शरद-पूर्णिमाके चन्द्रकी तरह शीतल शतदल कमलपर श्री श्रीसद्गुरु देवकी अतिशुभ्र धवलवर्ण मूर्ति या रूपका ध्यान करते हैं और उसमें वे अपनेको 'लय' कर देते हैं, तभी श्रीमद्गुरुदेवके स्नेहाशीर्वादकी वर्षा उन विद्यार्थियोंके मस्तकपर निश्चित रूपसे होती है। साथ ही उनके वरदहस्त द्वारा विद्यार्थियोंका सब प्रकार मंगल-कल्याण भी होता है। ऐसी दशामें विद्यार्थियोंका मस्तिष्क भी प्रबलतम होगा ही यह निश्चित है।

भक्तके भगवान् !

[लेखक : श्री. दलियाराम काश्यप एम्. एस्. सी.]

⊙

मैं ईश्वर विश्वासी था सो वहां लाहौरमें इतनी आगवा छुरोंकी वारदातें सुनकर भी वहांसे घबराकर शीघ्र निकल न सका चाहे कहो कि मैं दुनियादारीसे इतना अनभिज्ञ था।

मैं लुधियानेमें पधारे हुए एक महात्मा गुरुवर दण्डी स्वामीका प्रिय वत्स हूं। मुझे लाहौरमें एक रात स्वप्न आया जैसे मैं उक्त स्वामीजीवाले बगीचेमें फिर रहा हूं दो साधु मेरे साथ हैं वे आपसमें बात करते हैं कि "कहीं कोई घात न हो जाये या कर दे"। इतनेसे मुझे शक पड़ गया कि स्वामीजी लुधियाने बुला रहे हैं अब अधिक देर हमारा लाहौर रहना ठीक नहीं। खतरनाक है।

एक स्वप्न मुझे अपने स्वर्गीय मंझले भ्राताजीका भी आया। उससे भी मुझे लाहौर अब छोड़ ही डालना उचित है यही विचार पैदा हुआ।

इन बातोंसे पहिले मेरे एक योगी मित्रने तामनासा भी दिया था कि प्रोफेसर साहिबको तो लाहौरसे ही विशेष प्रेम है इससे भी मुझ शकसा पड़ा था।

पर एक पीताम्बरधारी नंगे पाओंवाले ब्रह्मचारीसे साधुने तीन बातें मुझे १६ अगस्त सन् १९४६ से ३,४ मास पहिले ही कह दी थीं—

(१] कि इन्हीं नौ रातोंमें रामराज्य हो जायगा। सो १६ अगस्त ४६ से वाईसरायकी कौंसलमें कोई अंग्रेज न रहा सभी कौंसलर हिन्दुस्तानी ही हो गये।

(२) कि मुसलमानोंको हिस्सा देकर जुदा करना पड़ेगा। सो १४ अगस्त १९४६ को पाकिस्तान बन गया।

(३) कि ये जो जायदादें दिखाई दे रही है ये नहीं रहेगी। सो इलाकेके ही आबादीको Shift होना पड़ा। रिसायतें, जागीरें, भूमियें आदि धड़ाधड़ मलकियत बदल रही हैं।

अस्तु। एक शाम अपने आंगनमें खाटके ऊपर शामके ५,६ बजे लेटा हुआ मैं सामनेकी बिल्डिंगमें भी Refrogee मुस्लिम आये देख बोल उठा कि सब दोस्त चाहे, गुरु चाहे, चेले कायर निकलें, हमें यहीं छोड़कर भाग निकले लेकिन और हमारे पाओंको गोंद लगा गये कि जा न सकें।

अगली प्रातः सुबह सात ही बजे मेरे हरनियाका शिकंजा पड़ गया। जिन्दगी मौतका सवाल बन गया अब और भी घबराऊं कि रात भक्तोंको गालियां दी थी सो आज ही फंस गया।

परन्तु १ बजेके पीछे हमारे सबसे बड़े भ्राताजीके साले श्री. मा. ला. रतनचन्द्रजी वहां पहुंच गये कि मैं आपको निकाल ले जानेको आ गया हूं। मैं और मेरी धर्मपत्निने कहा कि ऐसी हालतमें हम कैसे जा सकते हैं। जब कि हिलाजुला भी जाना इतना कठिन है, वह बोले ट्रकमें लिटा कर ले जावेंगे। अभी थोड़ी देरमें तय्यारी कर लें ट्रक ३ बजेतक आनेवाला है जरा उधर अपने काम गया है। जब हमने अधिक न की जो आप रोने लग गये कि ऐसी जलती आगमें अपने बच्चोंको मिलने जानेके बिना मैं सीधा आपको लेने आया हूं, मैं तो आ गया अगर अब भी आप नहीं जाते तो मैं भी नहीं लौटूंगा।

अब यहांपर ईश्वरका रंग देखिये। किसीने कहा आगेवाली दवाई अगर मिल जाती तो, आराम आ जाता; पता नहीं मनोहरलाल कहां रख बैठा। बड़े भाईसाहिब बोल उठे वह तो हमारी चिमनी पोसपर पड़ी है तुरन्त वहांसे लाकर मुझे दी गयी। मेरा शिकंजा खुल गया मैं राजीखुशी होकर ट्रकमें सवार हो लाहौरको छोड़ कलवाले (भक्तोंको डरपोक कहनेवाले) समयसे कहीं पहिले पाकिस्तानसे निकल चुका था।

चिरकाल पीछे पता लगा कि वह शिकंजा खोलनेवाली दवाई न थी वह तो सिगरेट छुड़वानेवाली दवाई थी। इससे ईश्वरकी और भी अधिक अनुग्रह तथा कृपा सिद्ध होती है कि दवाईका केवल बहाना बनाकर कृपा कर डाली।

अब उस दशामें हम अपने साथ क्या ला सकते थे। मेरी सारी ईश्वरभक्ति, रीसर्च आदिकी कविता आदि सारी लिखित वहां रह गयी थी सो अमृतसरमें मुझे लोग कहा करें कि आपकी तो सारी उम्रकी कमाई वहीं रह गयी। मेरा उत्तर होता था "जिस भगवान्के वे गीत हैं यदि उसको उनकी जरूरत नहीं तो मुझे उससे अधिक चिन्ता कैसे हो सकती है। वह जाने उसका काम। मुझे क्या।"

इतनेमें एक दिन वहीं मास्टरजी अपने भानजे प्रिय महेशचन्द्रके साथ गये। वहांसे लगभग १/१० भाग उस कवि·

लाका ले आये तब सब कहने लगे कि आप तो पहिले ही कहते थे सो ईश्वरने कर दिया। यह प्रिय महेश वा उनके मामाजी द्वारा भगवान्की दूसरी कृपा हुई।

फिर हमारे ऊपर कुछ विशेष विपत्ती वहीं आई कि जिन सम्बन्धियोंने हमारी दस दर्जेकी सेवा की थी उनकी कठिनाईको देखते हमें एक रजाई बनानेका सोचना पडा। हमने एक चन्दा मोल लिया और स्यात् दर्जीसे सिला लिया। इतनेमें हमें पता लगा कि जो आर्डीनेंसका पारसी अफसर हमें लाहौरसे लाया था वह कुछ बिस्तर लाया है। हम हैरान रह गये जब वह हमारी ही रजाईयां निकल पडीं। सो वह सिलाई किया चन्दा भरवाना ही पडा फिर पीछे किसी काममें लाया गया। सो यह भगवान्की तीसरी कृपा देखिये कि रजाईकी जरूरत पडी तो झट रजाईयां भेज दीं।

अब उन दिनों आपसमें तनाव बहुत था। गाडियां काट कर खाली कर दी जाती सो हम अमृतसरमें ही १½ मास फसे बैठे रहे चाहे घरमें ही थे। लुधियानेमें हमारा बच्चा वा सम्बन्धि अभी चिन्तित् ही थे सो अन्तमें एक रात ९ बजेके लगभग घबराकर अपनी पुत्री तथा दामादके नाम एक पोस्ट कार्ड बडे बारीक अक्षरों विस्तृत वृत्तान्त देकर लिखा कि पाकिस्तानसे तो किसी न किसी तरह निकल आये हैं पर अब यहांसे निकलनेकी सूरत कोई बनती नहीं लगती।

अब यहां ईश्वरकी चौथी कृपा देखिये कि मुझे वहांसे निकालनेव ले बाहर ही बैठे थे जो अमानुषीय शक्ति वा बुद्धिका प्रयोग कर अगले ही दिन हमें अमृतसरसे दोपहरको घरसे रातको स्टेशनपर तडके ३ बजे वहांसे चल अगले रात लुधियानेमें ले पहुंचे। उनकी हिम्मतकी काफी स्तुति नहीं की जा सकती ईश्वर उनको सिला देता है।

वह कार्ड तीसरे रोज लुधियानेसे यह Crosswise लिखकर पोस्ट किया गया कि " Thanks को Divinity in Vira and Durga Das " etc. धन्यवाद जो भगवान् वीरा तथा दुर्गादासमें प्रकट है। मैं लुधियाना पहुंच गया हूं। अर्थात् जब मनुष्य सर्वथा निराश, अशक्त हो जाता है ईश्वर तुरन्त प्रकट हो जाते हैं।

लुधियानेमें मैं उन दिनों सख्त बीमार रहा करता था घरवालोंको फिकर पडा कि सख्त सर्दी अगर इसे लग गयी तो और मुसीबत बनेगी सो उन्होंने गरम कोटका कपडा स्यात् ३२ रु. का खरीद लिया मैं न न करता रहा परन्तु जब स्यात् दर्जीको दिये कुछ दिन हुए मैंने अभी नाप दिया भी न होगा कि पाकिस्तानसे वा अमृतसरसे मेरा गर्म कोट पहुंच गया। सब हैरान कि कैसे भाईसाहिब तथा उनके सुपुत्र आदिके द्वारा भगवान् हर वस्तु यथा समय स्वयं ही पहुंचाता जा रहा है।

अब हमारा जेवर भी वहीं था उसके बिना हम क्या थे क्योंकि Cash नकदी हम पुराने ब्राह्मणोंकी तरह हमारे पास कब रहा करती थी सो सब हमें कहते तो मेरा उत्तर होता वह तो लडकियोंकी है। हमारे होती तो हमें चिन्ता होती हमें उसकी क्या चिन्ता है सो यह ईश्वरकी पांचवीं कृपा हुई कि हमारे पूज्य बडे भ्राताजी अपने प्रिय सुपुत्रके साथ अपनी बीमार जान सख्त खतरेमें डालकर बहुत खर्च करके पाकिस्तान जाकर वह गहना निकालकर लाये। इन भाईयादिकने सारी उमर हमारा गुजारा करवाया है और वहीं उनका सुपुत्र अब वैसा ही कर रहा है सो इनका ऋण मुझसे वा मेरे बच्चोंसे कभी चुकाया नहीं जा सकता। जितना ईश्वर, ईश्वरके नाम, ईश्वरके गुण, ईश्वरके ज्ञान सम्बन्धि लेख, अनुवाद, भक्तिकाव्य, रीसर्च आदि मेरी जीवनकी कमाई है सबका श्रेय उन्हींपर है यदि वह Support न करते तो ईश्वरभक्त, आर्यसमाजी, वेदान्ती, वेद, विज्ञान, इस्लाम आदिवालोंकी मैं कोई सेवा न कर सकता।

इस ईश्वरकी पांचवी कृपाके बारेमें एक सुन्दर स्वप्न लिखता हूं। मेरी धर्मपत्निको मेरे स्वर्गीय पिताजी धनकी थैली दे गये वह इसे जहां भी रखले वहीं वह उनके बस इसी मधुर ध्वनिसे उसकी जाग खुल गयी। अगले ही दिन भाईसाहिब (जो वास्तवमें आयुभर हमारे पिता ही बने रहे) जेवर लेकर हमारे घर पहुंच गये। धन्य भगवान्! धन्य भाईसाहिब!

अब ऐसा ही एक और दिव्य स्वप्न सुनिये और इसका हल ढूढ निकालकर मुझे लिखना—

मेरी एक लडकी ही सुसराल थी। तीन कंवारी कन्याएं मेरे पास। मेरे सुसरालके दो मकान हैं। इसमेंसे कोई लडका हमारे मकानमें कोई उनके मकानमें सोई पडी थीं। रातको तीनों लडकियोंको जुदी जुदी जगह सोई हुईयोंको वहीं एक स्वप्न आया कि वीरजी अर्थात् उपरोक्त प्रिय महेशचन्द्र लुधियाने हमारे घर (देहलीसे) आये हैं सो अगले ही दिन वह पहुंच गये।

परीक्षा विभाग :

आवश्यक सूचनायें

परीक्षा परिणाम—

ता. २२–२३–२४ सितम्बर १९५६ को ली गई संस्कृतभाषा परीक्षाओंका परीक्षा–परिणाम ता. २० नवम्बर १९५६ को प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षा परिणाम केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेज दिया जायगा और उनके द्वारा निश्चित तिथि एवं समय पर प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षार्थी अपना परीक्षाफल अपने केन्द्रव्यवस्थापकसे प्राप्त करें। परीक्षाफल विषयक पत्रव्यवहार केन्द्रव्यवस्थापक द्वारा होना चाहिये। परीक्षार्थी सीधे पारडी कार्यालयसे इस सम्बन्धमें कोई भी पत्रव्यवहार न करें।

प्रमाणपत्र—

सितम्बर १९५६ को ली गई परीक्षाओंके प्रमाणपत्र ता ३१ दिसम्बर १९५६ तक सभी केन्द्रोंमें भेज दिये जायेंगे।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

गढ़ी हाथीशाह

मंत्रीजीने गत प्रमाणपत्र वितरणोत्सवकी प्रकाशित रिपोर्ट पढकर सुनाई। इसके बाद आज दिनांक २८–९–५६ को कार्यवाही प्रारम्भ हुई।

श्री गंगासहायजी व्याख्यानदाता गवर्नमेन्ट कॉलेज आगराके नेतृत्वमें सभा स्थापित हुई। सर्वप्रथम कृष्णास्वरूप घनेतराम विद्यार्थियोंने मंगलगान गाया। इसके बाद श्री रामप्रशादजीने संस्कृतमें प्रार्थना करनेके बाद अपने भाषणमें बताया कि संस्कृत भाषा ही एक ऐसी भाषा है जो सर्व प्रकारका उद्धार कर सकती है, महाकाव्य जितने भी हैं वे सब सस्कृत भाषामें ही हैं और बिना संस्कृतका ज्ञान प्राप्त किये ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसके बाद रामस्वरूपजीने बताया कि किसीकी संस्कृति संस्कृत भाषापर ही निर्भर है। इसके ज्ञान प्राप्त करनेसे रहन सहन, आचार विचार शुद्ध होता है। श्री राममूर्तिजीने चरित्र व अनुशासनपर प्रकाश डालनेके बाद संस्कृति व संस्कृतभाषाको सर्व उन्नत बनानेका भाषण दिया। इसके बाद केन्द्रव्यवस्थापक श्री गोवर्धनदास शर्माने बताया कि जिस प्रकार सस्कृत हमारी मातृभाषा है उसी प्रकार हिन्दी भी हमारी राष्ट्रभाषा है। दोनोंका ज्ञान प्रत्येक जनके लिये आवश्यक है।

"संस्कृतभाषा न कठिना यदा संस्कृतभाषा जनभाषा भविष्यति तदैव सा भारतराष्ट्रस्य अखिलस्य बोधभाषापि भविष्यति इत्यत्र नास्ति संदेह।" सस्कृत नष्ट हुई भाषा नहीं है बल्कि जीवित भाषा है। विवाहके समय श्लोक संस्कृतमें ही उच्चारण किये जाते हैं। यह भाषा एक ऐसी भाषा है कि देशको पतनकी ओर जानेसे बचायेगी। इसलिये प्रत्येकको इसका ज्ञान होना चाहिये। इसके बाद सभापतिजीका भाषण हुआ। उन्होंने सस्कृतके अर्थ बताये सम्+कृत=शुद्ध किया हुवा– ऐसा वाक्य बोलना चाहिये– सस्कृत अन्तर राष्ट्रीय भाषा थी। संस्कृतके ही रूपान्तर दूसरे भाषाओंके शब्द हैं। इसी भाषासे अन्य भाषाओंका प्रादुर्भाव हुआ है। दूसरे देशोंकी पहिले संस्कृतसे मिलती जुलती भाषा ही थी। संस्कृतभाषा हमारी जननी है इस-

लिये प्रत्येकको इसका ज्ञान होना चाहिये और रक्षा करनी चाहिये। श्री नेतरामजी प्रधान अध्यापक गढी संस्कृत भाषाकी प्रचार सभामें बडे प्रेमसे भाग लेते हैं। इनको केन्द्रव्यवस्थापककी ओरसे अति धन्यवाद है और आशा है कि वे इसी प्रकार भाग लेते रहेंगे। इसके बाद सभापति द्वारा प्रमाणपत्र वितरण किये, केन्द्रकी ओरसे तीन पुस्तक रूपमें पुरस्कार दिये गये सभापतिकी ओरसे मिष्टान्न वितरण हुआ- मंगलगानके बाद सभा समाप्त हुई।

औरंगाबाद

दिनांक ८-१०-५९ को सायं ७ बजे १० तक यह कार्यक्रम स्थानीय आर्यसमाजमें बडे उत्साहके साथ सम्पन्न हुआ। अध्यक्ष स्थान **श्रीमान् रामचंद्रराव माजरंकर प्रिंसिपल बी. एड. कालेज**ने अलंकृत किया। प्रमुख वक्ताओंमें श्रीमान् **मनोहरशास्त्रीजी**, श्रीमान् ग. ना. थत्ते जी, प्रिंसिपल गवर्नमेंट कॉलेज प्राध्यापक श्रीयुत तेलंगजी एम. ए. तथा केन्द्रव्यवस्थापक **श्री ज्ञानेन्द्रजी शर्मा** थे।

उत्तीर्ण छात्रोंको प्रमाणपत्र एवं पुरस्कार वितरण श्रीमान् पं. महेशचंद्रजी शास्त्री विद्याभास्कर परीक्षामंत्री, संस्कृत विश्वपरिषद् बम्बईके करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

वक्ताओंने अपने भाषणोंमें अत्यन्त सरसतापूर्वक संस्कृत भाषाके आधुनिक महत्त्वपर अपने विचार व्यक्त किये। श्री **पं. महेशचन्द्रजी शास्त्री**ने भारतमें होनेवाले संस्कृत प्रचार कार्यका विवरण देते हुए अपने भाषणमें **श्री. पं. सातवलेकरजीके** सा० [illegible] इस कार्यके निमित्त लगे हुए तपस्वी एवं अध्यवसायी जीवनका बडे गौरवके साथ वर्णन किया। आपने कहा कि पूज्य पं. जीने संस्कृतके प्राचीन ग्रंथरत्नोंके अनुसंधानका जो कार्य किया है वह संस्कृत प्रचारके कार्यके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अंकित करने योग्य है। भारतीयोंको उनके इस अद्वितीय कार्यका अधिकाधिक सम्मान करके उनके इस सांस्कृतिक पुनरुद्धारके कार्यमें अपना सहयोग मुक्तहस्तसे देना चाहिये। भाषण जारी रखते हुए आपने कहा मराठवाडेके विभिन्न स्थानोंमें तथा औरंगाबाद नगरमें संस्कृत प्रचारकार्यके लिये अनुकूल वातावरण एवं उत्साह दिखाई दे रहा है, इसका अधिकांश श्रेय श्री पं. ज्ञानेन्द्र शर्माको ही देना चाहूंगा। मैं जानता हूं कि ज्ञानेन्द्रजी शर्माके प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप गत ३-४ वर्षोंसे इस प्रान्तमें संस्कृत भाषाका प्रचारकार्य दिनप्रतिदिन वृद्धिंगत होता जा रहा है। आप जैसे उत्साही कार्यकर्ताओंके कारण प्रचारकार्यकी यह ज्योति उज्ज्वलसे उज्ज्वलतर होती जायगी, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

" संस्कृत विश्वपरिषद् " द्वारा जो प्रचारकार्य हो रहा है, उसमें आप सबका सहयोग अपेक्षित है, इस परिषद्के अध्यक्ष हमारे श्रद्धेय राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद हैं तथा कार्याध्यक्ष उत्तर प्रदेशके राज्यपाल माननीय के. एम. मुंशीजी हैं। इस परिषद् द्वारा भारतमें तथा उससे बाहर भी प्रचारकार्य किया जा रहा है।

" संस्कृतभाषाके प्रचार-कार्यको चतुर्दिक इस प्रकार अभिवृद्ध होते देखकर किस भारतीयको प्रसन्नता न होगी ? मैं इस कार्यमें लगे व्यक्तियोंका अभिनन्दन करता हूं। "

इसके पश्चात् माननीय परीक्षामंत्री श्री प. महेशचन्द्रजी शास्त्रीकी सेवामें एक अभिनंदन पत्र केन्द्र तथा स्थानीय संस्कृत प्रेमी सज्जनों द्वारा समर्पित किया गया।

अपने अध्यक्षीय भाषणमें श्रीमान् मांजरंकरजीने बडी सरलतासे संस्कृत भाषाके महत्त्वपर अपने विचार व्यक्त किये। श्रोताओंने मंत्रमुग्ध होकर आपका भाषण सुना।

कार्यक्रमके अन्तमें श्रीमान् ठा. संग्रामसिंहजी चौहान, प्रधान आर्यसमाजने आगतजनोंका आभार माना तथा संस्कृत प्रचारके इन संगठित प्रयत्नोंके लिये अपनी हार्दिक शुभकामना व्यक्त की।

श्री मनोहरशास्त्रीजी द्वारा शान्तिपाठ उपरांत सभाका कार्य पूर्ण हुआ।

श्री शास्त्रीजीको दूसरा अभिनंदन पत्र इससे पूर्व स्थानीय हैद्राबाद हिंदी प्रचार सभाद्वारा सभाके कार्यालयमें समर्पित किया गया।

अभिनंदन पत्रके बाद केन्द्रव्यवस्थापक श्री पं. ज्ञानेन्द्र शर्मा केन्द्रका त्रैवार्षिक कार्य विवरण पढकर सुनाया।

जालना

श्रीरामसंस्कृतमहाविद्यालय— रंगारखिडकी— आलनानगरे- संस्कृत परीक्षाकेन्द्रे छात्रसभ्याख्यानमाला।

शारदोत्सवः महता समारोहेण कृतः। अयमुत्सवः ६।१०।५६ दिनाङ्कमारभ्य १२ दिनाङ्कपर्यन्तः समभवत्। अस्मिन् उत्सवे संस्कृतमहाराष्ट्रभाषायां त्रीणि व्याख्यानानि हिन्दीभाषायां एकं च समभवन्। व्याख्यानं दातुं बहिर्ग्रामात् हैदराबादनिवासिनः (डायरेक्टर, अभिलेखा) श्री. र. मु. जोशीमहाभागाः मुम्बापुरीनिवासिनः श्री महेशचन्द्रशास्त्रिणः इगतपुरीनिवासिनः काव्यतीर्थस्मृतितीर्थसंपन्नाः मोरेश्वरशास्त्री जोशी महोदयाः तथैव च नागपुरनिवासिनः संस्कृतभवितव्यवृत्तपत्रस्य संपादकाः श्री. स. प. गानू महाशयाः, एम्. ए. एल् एल. बी. पदवीधारिणः, श्री. भा. ग. देशपांडे महाभागाः विधिज्ञाः इति प्रमुख वक्तारः समागच्छन्। सर्वैः एतेषां व्याख्यानस्य सम्यक् लाभः गृहीतः। तथा च १२ दिनाङ्के स्वाध्यायमंडल किल्लापारडी संस्कृतपरीक्षाणां प्रमाणवितरणसमारम्भः कृतः। तस्मिन्नेव काले छात्रेभ्यः छात्रीभ्यश्च पारितोषिकानि अपि वितीर्णानि ततः प्राचार्यैः श्रीरामसंस्कृतविद्यालयस्य संस्कृतपरीक्षाकेन्द्रस्य च इतिवृत्तं तथा च आगताः संदेशाः च वाचिताः।

तेच यथा

१ टि म. विद्यापीठ, पुणे
२ व्ही. राघवन्, प्रो. मद्रास युनिव्हर्सिटी
३ के. टी. मंगलमूर्ती जस्टीज उपकुलपति नागपुर विद्यापीठ
४ चीफ मिनिस्टर वेस्ट बंगाल कलकत्ता
५ के. एम् मुन्शी, राज्यपाल उत्तर प्रदेश
६ अजितप्रसाद जैन, दिल्ली
७ विमलाबाई मेलकोटे, हैद्राबाद
८ भाऊसाहेब हिरे, मुंबई
९ पं. श्री. दा. सातवळेकर, पार्डी
१० टी. टी. कृष्णम्माचारी, दिल्ली
११ पं. गोविन्द वल्लभजी पंतजी, दिल्ली
१२ सुनीतिकुमार चतर्जी, कलकत्ता
१३ दिगंबरराव बिंदु, हैद्राबाद
१४ बी. रामकृष्ण रत्न, हैद्राबाद
१५ रघुनाथ परांजपे, उपकुलपति पुणे विद्यापीठ, पुणे
१६ डॉ. भगवंतम्, उ. युनिव्हर्सिटी
१७ डॉ. ज. ह. दवे, प्रधानमन्त्री सं. वि. प.

इत्यादि प्रमुखाः आसन्।

कविकुलगुरुकालीदासजयन्तीनिमित्तं व्याख्यायमानाः श्रीमहेशचन्द्रशास्त्रिणः इति अवदन् "संस्कृतात् नरः उन्नतिं करोति। तस्मादेव च आधिभौतिकं विज्ञानं लभते देवताप्रसादमपि च महाराष्ट्रभाषायाः जननी संस्कृतभाषा एव महाराष्ट्रभाषायां यत्प्रचलितं साहित्यशास्त्रं दृश्यते। तत् सर्वं संस्कृतमूलमेव। इत्थं बहुधा संस्कृतस्यमहत्वं प्रतिपादितं तैः महाभागैः।"

संस्कृतदिननिमित्तं भाषणं कुर्वाणाः श्री. मोरेश्वरशास्त्री जोशी महोदयाः अभाषन्त—

"भारते बहुविधाः भाषाः सन्ति किन्तु एकाऽपि भाषा संस्कृतसम्बन्धं विहाय न स्थिता। यथा गालीशब्दः उर्दुभाषायामपि विद्यते। तस्य शब्दस्य सस्कृते यः अर्थः सः एव उर्दुभाषायामपि विद्यते। एवं चलधातुः तेलगुभाषायां हिन्दीभाषायां च तथा च संस्कृतभाषायामपि च विद्यते। किन्तु संस्कृतभाषायां यः तस्य अर्थः। स एव तेलगुभाषायां हिन्दीभाषायां विद्यते। इति विविधैः उदाहरणैः संस्कृतभाषायाः अन्यभाषयासम्बन्धं प्रतिपाद्य अवसाने संस्कृतेः रक्षणं संस्कृतभाषां विना न भविष्यति।

अतः सर्वैः स्वपुत्राः स्वपुत्र्यश्च संस्कृतं पठितुं प्रवर्तनीयाः। इति निवेदितम्।"

बी. ए. ऑनर्स पदवीविभूषिताः संस्कृतभवितव्यवृत्तपत्रस्य संपादकाः श्री. स. प. गानू महोदयाः एवं समभाषन्त। वयं सर्वे मिलित्वा एव संस्कृतस्य उन्नतिं कर्तुं भृशं प्रयतनीयाः। आङ्ग्लैः अत्र आगत्य संस्कृतस्य अवनतिः कृता ते च "संस्कृतभाषा मृता अस्ति" इति मुहुर्मुहुः निवेद्य संस्कृतभाषायां अभिरुचिं अनाशयन्। वयं च स्वाभिमानशून्याः कृताः। आँग्लभाषा च सर्वत्र प्रसारिता। वयं तु स्वातन्त्र्यं लब्ध्वा अपि इदानीमपि संस्कृतस्य उन्नतिं न कुर्मः एतद् भारतस्य अतीव दुर्दैवमस्ति। अतः परं लोकजागृतिः अवश्यं करणीया। तथा एव संस्कृतस्य उन्नतिः भविष्यति खलु नात्र संदेहः। यैः वाक्पाटवं साधितम्। तैः संस्कृतप्रचारकार्यं करणीयम्। यैः लेखनकला संपादिता। तैः

संस्कृत संस्कृतभाषया एव लेखाः लेखनीयाः। यैः लेखनकला न संपादिता वाक्पाटवं च न साधितम्। तैः संस्कृते लिखितानि नाटकानि अभिनेयानि रामरक्षास्तोत्रादीनि च गेयानि एवं कृते सति संस्कृतभाषायाः उन्नतिः सुखेनैव स्यात्। अनन्तरं प्रमाणवितरणप्रसङ्गे श्री गोविन्दशास्त्री महोदयैः संस्कृतभाषया एवं भाषणं अकारि।

स्वाध्यायमंडल किल्ला-पारडी परीक्षाः सरकारमान्याः सन्ति अपि च सुलभाः विद्यन्ते। अतः आगामिन्यः स्वाध्यायमंडल किल्ला-पारडी परीक्षाः अवश्यं देयाः छात्रैः छात्रीभिश्च। इदं न विस्मरणीयम्। स्वाध्यायमंडल किल्ला-पारडी परीक्षासु नियुक्तानियानि पुस्तकानि। तेषु पुस्तकेषु एकं पाठं वाचित मात्राः छात्राः छात्र्यश्च परीक्षां दातुं स्वयमेव समुत्सुकाः भवन्ति। यतः पुस्तकेषु क्लिष्टतालेशोऽपि यत्र कुत्रापि न दृश्यते। अतस्ते मन्यन्ते स्वाध्यायमंडल किल्ला-पारडी परीक्षासु उत्तीर्णासु वयं संस्कृतभाषया वक्तुं शक्नुमः इति। अहो धन्या खलु स्वाध्यायमंडल किल्ला पारडी संस्था। यतस्तया बालानां बालिकानां च चित्तं अनेनैवमार्गेण आकर्षितम्। अस्तु सर्वान् छात्रान् छात्र्यश्च सविनयं विज्ञापयामि। यत् संस्कृतभाषाध्ययनार्थं सर्वैः स्वाध्यायमण्डलस्य संस्कृतपरीक्षया एव प्रयतनीयम्। एवं तेषां भाषणे समाप्ते पारितोषिक वितरणसमारम्भः सञ्जातः तस्मिन् समारम्भे आचार्यैः साभारपुरःसरं अभिनन्दनं कृतम्। अन्ते सभा समाप्ता।

कुर्ली

ता. २८-१०-५६ रविवार प्रातः ८ से १० तक यह समारम्भ मनाया गया। अध्यक्ष श्रीमान् ला. दीवानचन्द्जी गुप्ता ने अलंकृत किया।

प्रमुख वक्ताके रूपमें श्री पं. महेशचन्द्रजी शास्त्री परीक्षामंत्री सं. वि. परिषद् ने हिन्दी एवं संस्कृत प्रचारके महत्त्वको बताकर आधुनिक शिक्षाप्रणालीमें सुधारकी आवश्यकतापर अपने विचार प्रकट किये।

केन्द्रव्यवस्थापक तथा विद्यालयके आचार्य श्री विजयकुमारजी त्यागी ने विद्यालयका विवरण प्रस्तुत किया।

उत्तीर्ण छात्रोंको अध्यक्ष महोदयके करकमलों द्वारा प्रमाणपत्र एवं पुरस्कार बांटे गये।

धन्यवाद एवं शान्तिपाठके पश्चात् कार्यक्रम समाप्त हुआ।

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ है। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा. व्य
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३	॥)
३	सामवेद	४)	१)
४	अथर्ववेद (समाप्त होनेसे पुनः छप रहा है।)		
५	यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
७	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१।)
८	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१।)
९	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
१०	यजुर्वेद वा० सं० पादसूची	१॥)	॥)
११	यजुर्वेदीय मैत्रायणीयमारण्यकम्	॥)	=)
१२	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)

दैवत-संहिता

१	अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	४)	१)
२	इन्द्र देवता मंत्रसंग्रह	३)	॥)
३	सोम देवता मंत्रसंग्रह	२)	॥)
४	उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	१)	।)
५	पवमान सूक्तम् (मूल मंत्र)	॥)	=)
६	दैवत संहिता भाग २ (छप रही है)	६)	१)
७	दैवत संहिता भाग ३	६)	१)

ये सब ग्रंथ मूल मात्र हैं।

८	अग्नि देवता— [मुंबई विश्वविद्यालयने बी. ए. ऑनर्स के लिये नियत किये मंत्रोंका अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ संग्रह]	॥)	=)

सामवेद (कौथुम शाखीय)

१	ग्रामेगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः-आरण्यक गानात्मकः प्रथमः तथा द्वितीयो भाग	६)	१)
२	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (ऋग्वेदके तथा सामवेदके मंत्रपाठोंके साथ ६७२ से ११५२ गानपर्यंत)	१)	।)
३	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (केवल गानमात्र- ६७२ से १०१६)	॥)	=)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	।)
२ मेधातिथि ,, ,,	२)	।)
३ शुनःशेप ऋषिका दर्शन	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप ,, ,,	१)	।)
५ कण्व ,, ,,	२)	।)
६ सव्य ,, ,,	१)	।)
७ नोधा ,, ,,	१)	।)
८ पराशर ,, ,,	१)	।)
९ गोतम ,, ,,	२)	।=)
१० कुत्स ,, ,,	२)	।=)
११ त्रित ,, ,,	१॥)	।-)
१२ संवनन ,, ,,	॥)	=)
१३ हिरण्यगर्भ ,, ,,	॥)	=)
१४ नारायण ,, ,,	१)	।)
१५ बृहस्पति ,, ,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी ,, ,,	१)	।)
१७ विश्वकर्मा ,, ,,	१)	।)
१८ सप्त ,, ,,	॥)	=)
१९ वसिष्ठ ,, ,,	७)	१॥)

यजुर्वेदका सुबोधभाष्य

अध्याय	१— श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥)	=)
अध्याय	३०— मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२)	≡)
अध्याय	३२— एक ईश्वरकी उपासना	१॥)	=)
अध्याय	३६— सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१॥)	=)
अध्याय	४०— आत्मज्ञान-ईशोपनिषद्	२)	।=)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	१।)

Regd .No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

वर्ष ३७

अंक १०

अक्टूबर १९५६ ❀ आश्विन २०१३

वैदिक धर्म

[अक्टूबर १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३७ वैदिक धर्म अंक १०

क्रमांक ९४

आश्विन, विक्रम संवत् २०१३, अक्टूबर १९५६

विजयका मुख्य सूत्र

आभि क्रत्वेन्द्र भूरध ज्मन् न ते विव्यङ् महिमानं रजांसि ।
स्वेना हि वृत्रं शवसा जघन्थ न शत्रुरन्तं विविदद् युधा ते ॥

ऋ. ७।२१।६

हे इन्द्र ! (त्वं क्रत्वा) तू अपने ही पुरुषार्थसे (ज्मन् अभि भूः) पृथिवी-परके सब शत्रुओंका पराभव करता है । (अध ते महिमानं) और तेरी महिमाको (रजांसि न विव्यक्) ये सारे लोक नहीं जान सकते । तूने (स्वेन शवसा हि) अपने निज सामर्थ्यसे ही (वृत्रं जघन्थ) वृत्रको मारा । (शत्रुः युधा) शत्रु युद्ध करके (ते अन्तं न अविदत्) तेरे अन्तको नहीं प्राप्त कर सका । तेरे बलको नहीं जान सकता ।

(१) अपने प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करना, (२) अपनी शक्तिका पता किसीको न लगे ऐसी शक्ति अपने पास रखना, (३) अपने बलसे शत्रुका वध करना और (४) शत्रुको युद्धमें अपनी शक्तिका पता न लगे ऐसी अपनी शक्ति गुप्त रखना । इससे विजय प्राप्त होता है ।

स्वाध्याय-मण्डल वृत्त

१ योग-महाविद्यालय- वृश्चिकाल समाप्त होता है इस कारण अब इस विद्यालयमें आसनाभ्यास करनेवाले आने लगे हैं। आसन, सूर्यनमस्कार, तथा अन्य शरीर सुधार करनेके व्यायामके वर्ग नियमित रूपसे शुरू हुए हैं। यहां १५ दिन, एक मास तथा तीन मासके व्यायाम-शिक्षणविभाग हैं। जो लाभ लेना चाहते हैं, वे आकर लाभ उठावें।

वेद्-महाविद्यालय- बाहर गावोंसे आनेवाले अभी-तक नहीं आ पहुंचे। आगामी मासमें आनेके पत्र आ गये हैं। देशमें अतिवृष्टि आदि आपत्तियोंके कारण सबको जो कष्ट हो रहे हैं, वे वेदमहाविद्यालयके लिये भी हैं।

३ गायत्री-जपका अनुष्ठान- गत मासमें नीचे लिखे अनुसार अनुष्ठान होनेके पत्र हमारे पास पहुंचे हैं—

१ रामेश्वर- श्री रा. ह. रानडे	६१,०००
२ बडौदा- श्री बा. का. बिद्वांस	१,७५,०००
३ वाशीम- श्री आ. श्री. गुंडागुळे	१,१२,०००
४ बंगार्डी- श्री ग. अ. मेहेंदळे	३,५००
५ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	३,१००
संयोग	३,५४,६००
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	१,१६,०२,२०५
कुल जपसंख्या	१,१९,५६,८०५

अनेक जपानुष्ठान करनेवालोंके पाससे अभीतक जप-संख्या आयी नहीं जो आगामी मासमें दी जायगी।

४ गायत्री-महा-यज्ञ- जपानुष्ठान सम्पूर्ण होनेके पश्चात् अर्थात् दो तीन महिनोंके नंतर 'गायत्री-महायज्ञ' का अनुष्ठान किया जायगा। यह गायत्री महायज्ञ करके ही गायत्री जपानुष्ठानकी समाप्ति की जायगी। इसके पश्चात् इसी तरह गायत्री जपानुष्ठान करनेका पुनः विचार सर्व संमतिसे हुआ तो पुनः जपानुष्ठान होगा। नहीं तो नहीं होगा। अब केवल इस यज्ञके लिये तीन मास ही हैं।

गायत्री महायज्ञके समय यहां 'संस्कृतभाषा परि-षद्' करनेका विचार है। इस विषयमें जैसा निश्चय होगा वैसा पत्रक छापकर सब लोगोंके पास भेजा जायगा। सब स्थान स्थानके जपकर्ताओंको इस विषयका सब कार्यक्रम प्रथमसे सूचित किया जायगा। क्योंकि उन सबकी सहाय-तासे ही यह अनुष्ठान हो गया है।

गायत्री महायज्ञके लिये व्यय होगा ही। यज्ञके लिये गायका शुद्ध घी, हवन सामग्री, तिल, चंदन तथा ऋतुके अनुसार सब हवनके लिये सामान लगेगा। श्रद्धालु पुरुषोंसे दानके रूपमें रकमें आने लगी हैं—

१ पूना- श्री शं. वा. जोशी	५) रु.
२ कोटा- श्री रामकृष्ण दालभाई संगीर कोटा, राजस्थान	२१)
३ गुप्त दान-	२५)
	३१)

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

संप्रदायवाद

[लेखक— प्रो. के. अ. पटवर्धन, एम्. एस्. सी., इंदौर]

आज यदि हम राष्ट्रोंके सामनेकी समस्याओंको खोजने लगें तो दिखाई देगा कि प्रत्येक राष्ट्रके सामने एक दो समस्या इतनी जटिल रहती हैं कि उनकी उग्रताके कारण सारे राष्ट्रका लक्ष्य उनकी ओर केन्द्रित रहता है। हमारे नवोदित स्वातंत्र्य प्राप्त भारतके सामने भी एक दो जटिल समस्या हैं, जिनको सुलझानेके लिये हमारे नेता भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। उनमेंसे एक है संप्रदायवादका उन्मूलन और दूसरी है समाजवादी समाज रचनाका निर्माण। इस छोटेसे लेखमें संप्रदायवादके विषयमें जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई है, उसे भारतीय नागरिकके नाते जनताके सामने रखना हम हमारा कर्तव्य समझते हैं।

साधारणतः संप्रदाय इस शब्दसे धार्मिक संप्रदायोंका ही निर्देश होता है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है। तथा वाद इस शब्दसे विचार भिन्नता या मत भिन्नता ही अपेक्षित है। भिन्नत्व यह प्रक्रिया ऐसी है, जो आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे सिद्ध हुए उत्क्रान्तितत्वकी जड या बुनियाद ही है; क्योंकि भिन्नत्व (Variation) के बिना नैसर्गिक छंटनी (Natural Selection) नहीं हो सकती और इन दोनों प्रक्रियाओंकी कार्यक्षमता हुए बिना उत्क्रान्ति शक्य ही नहीं होती। यह आजके विज्ञानने सप्रमाण सिद्ध किया हुआ है। आज पृथ्वीतलपर दो ढाई सौ करोड व्यक्ति हैं; परन्तु इनमेंकी कोई भी दो व्यक्ति एकसी नहीं है। जिस प्रकार यह बात शारीरिक रचनामें देखी जाती हैं, उसी प्रकार यह बात मानसिक विचारशीलतामें पाई जाना कोई आश्चर्यकारक घटना नहीं है। इससे यही स्पष्ट है कि इस पृथ्वितलके किसी भी दो व्यक्तियोंमें संपूर्णतया तथा हरएक विषयपर एक जैसी विचारसरणी या विचारप्रणाली नहीं हो सकती, अथवा होना संभव नहीं है। अस्तु।

हम कोई भी धार्मिक संप्रदाय लें, तो सामान्यतः उसके दो भाग हुआ करते हैं। उसमें पहला तत्वज्ञानका और दूसरा आचरणका। पहलेमें पिंडब्रह्मांडके विचारसे परमेश्वर स्वरूप क्या निष्पन्न होता है, यह बताकर मोक्ष किसे कहना चाहिये, इस प्रश्नका उनके दृष्टिकोणसे निर्णय किया हुवा होता है, और दूसरेमें इस प्रकारके मोक्ष प्राप्तिके हेतु साधन या उपाय इस दृष्टिसे मनुष्यने इस जगत्में कैसे रहना और अपने दैनिक व्यवहारमें कैसे बरतना इसका संपूर्ण निरूपण किया हुवा होता है। इसी प्रकार किसी भी धार्मिक संप्रदायको हम देखें, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके आदेश कुछ प्रमाणभूत ग्रन्थोंके अनुरूप तथा पूर्णतया उनपर आधारित ही रहते हैं, क्योंकि ऐसा न हुवा, तो उस संप्रदायके आदेश अप्रमाणित ठहरकर लोगोंको अमान्य होना संभव होता है।

पुरातन वैदिक कालमें भारतको साधारणतः इस भूभागके अधिकांश देशोंसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें संबंध होते हुए बौद्धिक तथा राजनैतिक क्षेत्रमें भी नेतृत्व प्राप्त था। उस समयमें अपने यहां अर्थात् भारतमें ' संप्रदाय ' अस्तित्वमें नहीं थे। और न उस समय यहां किसी प्रकारके संप्रदायवादका ही प्रादुर्भाव हुवा था। ज्ञानविज्ञानसे प्रचुर मात्रामें परिपूर्ण वैदिक तत्वज्ञानको जिन महानुभावोंने बौद्धिक कष्टकर अपनाया हुवा था, उन्हें ' वैदिक ' या ' देव ' की संज्ञा प्राप्त थी और वे ही सच्चे ' सत्यानुयायी ' या ' धर्मानुयायी ' हैं, ऐसी मान्यता थी। इसके विपरीत जिन्हे बौद्धिक कष्टकर अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करना कठिन प्रतीत होता था, और जो केवल आधिभौतिक तत्वावधानपर ही अपना जीवन व्यतीत करते थे, वे अवैदिक या असुर इस नामसे संबोधित होते थे।

यदि हम भारतके प्राचीनतम इतिहासका सिंहावलोकन करें, तो स्पष्ट होगा कि श्री रामचन्द्रजीके कालके पूर्व यहां यज्ञयागादि कर्मोंकी प्रथा प्रचलित नहीं थी; परन्तु केवल

वैदिक मंत्रोंसे परमेश्वरकी अथवा उनकी विभूतियोंकी स्तुति करनेकी परंपरा तथा अग्निकी उपासना रूढ थी। इस प्रकारके अनुमानको मुंडकोपनिषद् (१-२-१) के मंत्रमें समुचित आधार मिलता है! श्री रामचन्द्रजीके लंकातकका सारा दक्षिण देश पादाक्रान्त करनेपर ही भरत खंडमें आर्योंकी सार्वभौम सत्ता स्थापित हुई और भारतवर्षमें आर्य धर्म प्रचलित हुवा, और वास्तवमें तत्पश्चात् ही आर्योंकी राष्ट्रोन्नतिकी शुरुवात हुई।

प्रथम यज्ञयागरूप श्रौतधर्मकी सहायतासे उन्नतिका कार्य प्रारंभ हुवा, और फिर तत्वज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजकारण, व्यापार आदि तात्विक और व्यावहारिक शास्त्रीय ज्ञानके मधुर मिलनसे वैदिक संस्कृतिका भाग्यरवि उत्कर्षके मध्याह्नको पहुंचा और साधारणतः त्रेतायुगीन रामचन्द्रजीके रामराज्यके समयसे द्वापर युगके श्रीकृष्णचन्द्रके धर्मराज्यके समयतक वैदिक संस्कृतिकी यह उत्तम स्थिति अविच्छिन्न रूपसे कायम रही। एक प्रकारसे तो यों कहा जा सकता है कि श्री रामचन्द्रजीका (त्रेतायुगीन) काल श्रौतधर्म तथा वैदिक संस्कृतिके उत्कर्षके आरंभका दर्शक, तथा श्रीकृष्णजीका (द्वापरयुगीन) काल उसी श्रौतधर्म तथा वैदिक संस्कृतिके अपकर्ष या अवनतिका दर्शक कहा जा सकता है।

यह समूचा काल अनुमानतः दो ढाई हजार वर्षका होना असंभव नहीं है। इस कालखंडके इतिहाससे प्रतीत होता है कि इतने बडे कालखंडमें वैदिक तत्वज्ञानपर आधारित भारतीय संस्कृतिका प्रभाव संपूर्ण जगत्‌पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें दृष्टिगोचर होता था, तथा इस कालखंडमें संपूर्ण भारतवर्षमें वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृतिके अन्तर्गत किसी भी सांप्रदायिक पंथ या सांप्रदायिक वादके निर्माणका कोई नाम निर्देश नहीं दिखाई देता था।

इसी दृष्टिकोणको सामने रखते हुए, यदि हम भारतवर्षके आजतकके इतिहासको देखें, तो प्रतीत होगा कि साधारणतः गौतम बुद्धके कालसे इस बीसवीं सदीतक एक-दो ढाई हजार वर्षका कालखंड होता है और इसीको हम उपलब्ध इतिहासका समय कह सकते हैं। परन्तु यह दो ढाई हजार वर्षका काल ही भारतीय संस्कृतिका सारा आयुष्य है, ऐसा कोई नहीं कह सकता। गौतम बुद्धके कालके पूर्व स्मृति काल तथा वैदिक काल ऐसे दो बडे बडे कालविभाग हो गए हैं, ऐसा इतिहासके परिशीलनसे स्पष्ट दिखाई देता है। वैदिक कालका अन्त और स्मृतिकालका प्रारंभ दर्शानेवाला श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ है, और इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके ग्रन्थसे ही स्मृतिकालका प्रारम्भ होकर गौतम बुद्धके कालके समय यह स्मृतिकाल समाप्त होता है ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

यदि हम किसी भी राष्ट्रके इतिहासका अवलोकन करें, तो स्पष्ट होगा कि उसमें उत्कर्षापकर्ष हुवा ही हैं। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी उन्नति और अवनतिमें इतना ही फर्क होता है कि यदि राष्ट्रकी आध्यात्मिक नैतिकताकी धारणाका स्तर ऊंचा हुवा, तो उस राष्ट्रके उत्कर्षका काल अधिक समयतक टिकता है और उसके अपकर्षके कालमें उसकी स्थिति हीन कोटिको नहीं पहुंचती, तथा उस अपकर्षका कालमान अल्प समय तक ही रहता है। यही नियम जो राष्ट्रके इतिहासमें देखा जाता है, वही नियम राष्ट्रके अंदरके समाज, समाजमें पाये जानेवाले कुटुंब, तथा कुटुंबमें पाई जानेवाली व्यक्तियोंके जीवनको भी एकसा ही लागू होता है। व्यक्तिके उत्कर्षापकर्ष यदि दस-बीस वर्षोंमें देखे जा सकते हों, तो कुटुंबोंके दो-तीन पीढियोंमें, समाजके सदियोंमें तथा राष्ट्रके सहस्र वर्षोंकी अवधिमें परिशीलनसे देखे जा सकते हैं।

हम उपर्युक्त विवरणमें ही स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतके इतिहासके ज्ञान-विज्ञानसे परिपूर्ण वैदिक तत्वज्ञानके कालमें आज हम जिन्हें संप्रदाय कहते हैं, वे नहीं थे। अपवाद रूपमें सांख्योंकी निर्माण की हुई संन्यासमार्गीय विचारधारा सामान्य रूपसे वैदिक कालके अंतमें कुछ प्रभावित होती दीखती है; परंतु ब्रह्मसूत्रोंके तथा भगवद्गीताके सूक्ष्म परीक्षणसे स्पष्ट हो जाता है कि अल्पकालमें ही वह भारतीय वैदिक संस्कृतिमें विलीन नहीं हुई तो आर्य संस्कृति खाकर उसे पूर्ण रूपसे हजम भी कर गई। और आज दिखाई देनेवाला सांख्योंका यह अवशेष वैदिक संस्कृतिके एक अंगके रूपमें ही रह गया है।

भारतीय इतिहासके प्राचीन कालमें प्रचलित इस वैदिक धर्मका स्वरूप केवल यज्ञप्रधान ही नहीं था; वरन् इस संस्कृतिके गूढ तत्व क्या हैं, इस विषयक उस प्राचीन कालमें ही उपनिषदोंमें सूक्ष्म विचार किया जा चुका है। परंतु उपनिषदोंके निरूपण भिन्न भिन्न ऋषियोंने किये होनेसे

इनमें अनेक तरहके विचार होनेके अतिरिक्त उनमेंके कई परस्पर विरुद्ध हैं ऐसा औपनिषद् कालके बहुत समय पश्चात् लोगोंको प्रतीत होने लगा। इस प्रकारका ऊपर ही ऊपर दिखाई देनेवाले संशयात्मक शंकाओंका निरसन करके जब सारे औपनिषदिक वचनोंकी एक वाक्यता तत्कालीन विद्वान् श्री बादरायणाचार्यजीने वेदांत सूत्रोंमें कर दी, तब उपनिषदोंके बराबर ही वेदांतसूत्र भी धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाने लगे। इन्हींको ब्रह्मसूत्र, शारीरसूत्र तथा उत्तर मीमांसा ये संज्ञायें प्राप्त हैं।

इतने पर भी वैदिक संस्कृतिके तत्वज्ञानका विचार केवल इन दो निवृत्तिपर ग्रन्थोंसे पूर्ण नहीं होता, इस प्रकारकी धारणाके कारण प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक भगवान् व्यासजी निरूपित श्रीमद्भगवद्गीताके निर्माणसे जब वैदिक तत्वज्ञानकी अपूर्णता निकाल दी गई, तब उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिपादित तत्वज्ञानकी पूर्ति करनेवाले ग्रन्थके नाते श्रीमद्भगवद्गीता भी इन्हीं दोनों ग्रन्थोंके समान सर्वमान्य और प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाने लगा और अंतमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इन तीनोंको प्रस्थान त्रयी यह संज्ञा प्राप्त होकर ये वैदिक संस्कृतिके तथा वैदिक धर्मके सर्वमान्य तथा प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाने लगे।

इस प्रकारके ज्ञानविज्ञानसे परिपूर्ण वैदिक तत्वज्ञानके कालमें, (आजके तत्ववेत्ताओं तथा शास्त्रज्ञोंको प्रतीत होनेवाले जटिलसे जटिल प्रश्न उदाहरणार्थ जीव, जगत् व परमेश्वर तथा उनके पारस्परिक संबन्ध), जीव, जगत्, परमेश्वर तथा इनके पारस्परिक संबंधके विषयका केवल शाब्दिक एवं संपूर्ण शास्त्रीय या परोक्ष ज्ञान ही वैदिक विद्वानोंको उपलब्ध न था; परन्तु उस परोक्ष या अप्रत्यक्ष ज्ञानका परिपाक होकर उसे अपरोक्ष या प्रत्यक्ष अनुभवकी स्थिति हमारे वैदिक ऋषियोंको उनके जीवनमें ही प्राप्त हो चुकी थी। इस कारण इस विषयमें किसी प्रकारका संदेह या संशयात्मक विचारसरणीको कोई स्थान ही न था। इतना ही नहीं वरन् इस ज्ञान विज्ञानयुक्त तत्वज्ञानपर आधारित जो उच्च कोटिकी समाजरचना उन्होंने कर दिखाई थी, उसीको आज पांच हजार वर्ष बाद भी हम रामराज्य या धर्मराज्यसे संबोधित करके उसे उच्चतम कोटिकी समाजरचना मानते हैं।

भारतीय युद्धतक आर्यावर्तकी वह वैभवशाली स्थिति कायम थी। भारतीय युद्धमें यद्यपि आर्योंकी भयंकर प्राणहानि हुई तो भी वे परायोंसे सहजमें जीते जानेवाले नहीं थे, यह संसारके अन्य राष्ट्रोंको पूर्ण विश्वास था। इस प्रकार भारत अकुतोभय हो जानेके कारण भारतीयोंकी 'बाहरी देशोंसे संबंध रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है' ऐसी धारणा हुई होनी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकारकी विचारसरणीके कारण भारतीय जनता ज्ञानविज्ञानमें निर्बल होने लगी होगी। सृष्टि निरीक्षण यह विज्ञानके समान ही पिंड ब्रह्मांडात्मक अध्यात्मज्ञानका सर्वश्रेष्ठ साधन है, इस केनोपनिषद्के सीखकी हमें स्मृति ही न रही। प्रवास तथा सृष्टि निरीक्षणके अभावके कारण बुद्धिवाद पिछड़ता गया और उसकी जगह भावनाने आक्रमण कर लिया। विज्ञान विषयक सारे प्रयोग तथा उस संबंधि सारी बातें जादूके प्रयोग हैं, ऐसा माना जाने लगा। पुराणग्रन्थोंमें निरूपित अस्त्रविद्याके वर्णन पढ़ें, तो इस कथनकी सत्यता प्रकट हो सकती है। इस प्रकारके बौद्धिक कष्ट करनेको असमर्थ समाजमें ज्ञानरहित कर्मठताका प्रभाव बढ़ता होना चाहिये ऐसा अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

शककालके आरंभसे या साधारणतः चन्द्रगुप्तके कालसे हिंदुस्थानका सिलसिलेवार इतिहास उपलब्ध है। इस ऐतिहासिक कालमें हिन्दुस्थानके उत्कर्षापकर्ष कई बार हुए हों, तो भी साधारणतः उसका ऱ्हास ही होता गया है ऐसा ही मानना पड़ता है। और पिछले बारह-तेरह सौ वर्षोंमें तो हिंदू-संस्कृति इतनी निस्तेज हो गई कि उसका चारों ओरसे पराभव ही होता गया और यह बात इतनी पराकाष्ठातक पहुंची कि इस प्रकारकी हीन दीन अवस्था और इतने बड़े कालतक अन्य किसी राष्ट्रकी हुई दिखाई नहीं देती। वास्तविक देखा जाय तो ब्रह्मतेजसे सजी बजी यह वैदिक संस्कृति इतनी तेजोहीन कैसे हुई, इस विषयमें किसी भारतीयको सखेदाश्चर्य होना स्वाभाविक ही है। वैदिक ऋषियोंने राष्ट्रोन्नति (अभ्युदय) व मोक्ष (निःश्रेयस्) इन दोनोंके प्राप्त्यर्थ ही ब्रह्मविद्या-शास्त्रकी रचना की थी और इतना ही नहीं वरन् इसी ब्रह्मविद्या-शास्त्र पर आधारित समाज रचना कर उसकी सफलता सारे जगत्को बता दी थी। जिस ब्रह्मविद्याने व्यक्ति व राष्ट्र इनका व्यावहारिक तथा

पारमार्थिक उत्कर्ष प्राचीन कालमें दिखा दिया था, वही ब्रह्मविद्या शास्त्र आज भी भारतवर्षमें विद्यमान होते हुए वह व्यक्तिको मोक्षदायक हुआ (भारतके असंख्य साधू-संतोंके जीवन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।) परन्तु वह राष्ट्र तथा समाजकी दृष्टिसे हितकारक या उपयुक्त नहीं हो पाया है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। अस्तु।

इस प्रकारकी पराकाष्ठाके अपकर्षोंकी कारणभूत परंपरा ढूंढ कर उसपर मीमांसा करनेका यह स्थान नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिसे बौद्ध धर्मके न्हासके पश्चात् जो जो भी संप्रदाय हिन्दुस्थानमें प्रचलित हुए, उनमेंसे प्रत्येक संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्यको इन सारे संप्रदायोंके निर्माणके पूर्व ही 'धर्म ग्रन्थ' इस नाते प्रमाणभूत हुए। 'प्रस्थानत्रयी' के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर उनपर आधारित अपना ही संप्रदाय सत्य ठहरता है, तथा अन्य संप्रदाय इन ग्रन्थोंको सहमत नहीं है, ऐसा सिद्ध करके बताना ही क्रम प्राप्त हो गया। इस प्रकार एक ही प्रस्थान त्रई पर आधारित (मानो प्रस्थान त्रई कोई जादूकी पिटारी है) चार प्रमुख संप्रदाय- १ श्री. शंकराचार्यका अद्वैत, २ श्री. रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत, ३ श्री. मध्वाचार्यका द्वैत तथा ४ श्री. वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैत— निर्माण हुए। सांप्रदायिक दृष्टिकोणसे प्रस्थान त्रई पर इस प्रकारके भाष्य तथा टीका ग्रन्थ लिखनेका प्रघात शुरू होनेके कारण भिन्न भिन्न विद्वान्, शास्त्री तथा पंडित इन्हीं तीनों ग्रन्थोंके अपने अपने सांप्रदायिक भाष्योंके आधारपर ही अपनी अपनी साम्प्रदायिक विचारधाराका प्रतिपादन करने लगे और उन उन संप्रदायोंमें उन्हींके भाष्य तथा टीका ग्रन्थ अधिकाधिक मान्य होते गये।

इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर देखें, तो यही प्रतीत होगा कि जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्मरूप अपने पितासे जितना चाहिये उतना ही वैचारिक संपत्तिका हिस्सा लेकर कुछ विविध कारणोंसे विभक्त हुए पुत्र ही हैं। अर्थात् वे पराये नहीं हैं, वरन् तत्पूर्वके ब्राह्मण धर्मकी अपने यहीं उत्पन्न हुई उसकी शाखायें ही हैं यह बात अब पूर्ण रूपसे सिद्ध हो चुकी है और इस प्रकार वे भी संप्रदायोंकी कक्षामें आते हैं ऐसा समझनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकारके मूल वैदिक तत्त्वज्ञान एवं वैदिक संस्कृतिपर आधारित जितने भी संप्रदाय निर्माण हुए हों, तो भी जीव, जगत्, परमेश्वर और इनके पारस्परिक संबंध आदि कुछ विशिष्ट बातोंको छोडकर बाकीकी सारी बातें इन सारे सांप्रदायोंमें एकसी ही दिखाई देती हैं और इस कारण प्रस्थान त्रईपर जो सारे भाष्य या टीका ग्रन्थ हैं, उनमें मूल ग्रन्थोंके अधिकांश एवं निन्यानवे प्रतिशत मंत्रों, श्लोकों तथा वाक्योंका अर्थ एकसा ही लगाया हुआ प्रतीत होता है। जो कुछ भी भेद रहता है, वह उन इस प्रतिशत वाक्यों या वचनोंसंबंधी या उनसे संबंधित विषयोंपर होता है; जो जीव, जगत्, परमेश्वर तथा उनके पारस्परिक संबंध विषयक हों। इसी दृष्टिसे यदि और विकसित क्षेत्रका सूक्ष्म निरीक्षण करें, तो यही प्रतीत होगा कि इस पृथ्वीतलपर जितने भी धार्मिक संप्रदाय फैले हुए हैं, उन सबके अधिकांश वचनोंमें एक वाक्यता ही होती है। जो कुछ भी अन्तर होता है, वह उन्हीं थोडे विषयोंमें पाया जाता है, जिनका संबंध जीव, जगत्, परमेश्वर और उनके पारस्परिक संबंध विषयक हों। अस्तु।

भारतवर्षके इस ऐतिहासिक कालखंडमें केवल उपरि-निर्दिष्ट चार प्रमुख संप्रदायोंका ही निर्माण हुवा है, ऐसा नहीं है, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य कई-शैव, विष्णु, शाक्त, गाणपत्य, दत्त आदि-पौराणिक देवताओंके संप्रदाय निर्माण हुए और इसके भी आगे जाकर जितने भी साधू, संत आदि भारतवर्षमें हुए हैं, उन सबके भी संप्रदाय हमारे यहां अस्तित्वमें हैं। प्रत्येक संप्रदायकी तत्वप्रणालीमें विचार भिन्नताके कारण उनके आचार धर्ममें भी भिन्नत्व आना स्वाभाविक है। तथा इन सारोंके परिणामस्वरूप राष्ट्रके सामाजिक जीवनको यदि छिन्न भिन्न परिस्थिति प्राप्त हुई हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसी विपन्नावस्थामें यदि परायोंने आक्रमण कर सारे राष्ट्रको आज हजार बारह सौ वर्षोंसे दास्यत्वकी शृंखलामें जकड रखा हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज भी जो हमें स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, वह कोई हमारा कर्तृत्वका फल नहीं है। वह तो विजेता राष्ट्रोंकी कमजोरियोंका परिणाम है और इसी कारण वह खंडित है। अस्तु।

उपर्युक्त सारे विवरणका तात्पर्य यह है कि वैदिककालमें ज्ञान-विज्ञान पूर्वक ही ब्रह्मविद्या शास्त्रके अध्ययनकी परंपरा जो अस्तित्वमें थी, उसमेंसे बादमें विज्ञान-शास्त्रोंकी अध्ययन-परंपरा कम होती होती अन्तमें संपूर्णतया बंद हो गई।

और इस प्रकार आज भी वैदिक ऋषियोंने सहस्रों वर्षोंकी अभ्यासात्मक खडतर तपस्यासे प्राप्त किया हुवा वैदिक (वेद शब्दका अर्थ है पूर्णज्ञान) संपत्ति भंडार अस्तित्वमें होते हुए भी उस खजानेके तालेकी हमारी वैज्ञानिक कुंजी खो गई है। अपने सौभाग्यसे पाश्चात्य विद्वान् ऋषि मुनियोंने जो अविश्रांत तपस्यासे वैज्ञानिक संशोधन किये हैं, उनके द्वारा या उनकी सहायतासे हमारे पूर्वजों द्वारा खोजे हुए वैदिक-विद्वानपर प्रकाश पड सकता है और इस प्रकार वैदिक सपंति भंडारकी कुंजी प्राप्त की जा सकती है।

एक प्रकारसे आज यह परिस्थिति है कि हम भारतीयोंके पास ब्रह्मविद्याको लगनेवाली परा विद्या या अध्यात्मज्ञानकी पार्श्वभूमि अस्तित्वमें हैं; परंतु उसकी पूर्ति करनेका साधन जो अपरा विद्या आधिभौतिक ज्ञान वह नष्ट हो गया है। पाश्चात्योंके पास आज आधिभौतिक ज्ञान या अपरा विद्या प्रचुर मात्रामें है; परंतु उनके जीवनमें उन्हें अध्यात्मज्ञानका अभाव है। यही कारण है कि श्री ज्यूलियन हक्स्ले जैसे विद्वान् स्पष्ट शब्दोंमें आज यह कह रहे हैं कि, मनुष्य आजतक उत्क्रांत होता हुआ चला आया है और अब उसके आगेकी पूर्ण गतिका मार्ग खोजकर निश्चित करना उसीके *हाथमें है। इस मार्गकी दिशाका निश्चय तबतक नहीं हो* सकता जबतक एक दो जटिल प्रश्न शास्त्रीय रीतिसे नहीं छुडा पावे। उसमें एक जीव, जगत् तथा उनके पारस्परिक संबंधोंके विषयका प्रश्न है। यह वही प्रश्न है, जिसका समुचित शास्त्रीय उत्तर वैदिक वाङ्मयमें है; परंतु वह आज आधुनिक वैज्ञानिक संशोधनोंकी सहायतासे ही प्राप्त किया जा सकता है।

वैदिक ऋषि ज्ञान-विज्ञानमें पारंगत होनेके कारण उन्हें वह ज्ञान प्राप्त था। बादमें एवं ऐतिहासिक कालमें विज्ञान शास्त्रोंके अभ्यासकी परंपरा हमारे अध्ययनसे नष्ट हो जानेके कारण हमारा वह ज्ञान लुप्त हो गया और इसी कारण हमारे राष्ट्रमें भिन्न भिन्न संप्रदायोंका निर्माण हुवा। अब स्वतंत्र भारतमें हमारे विद्वानोंका लक्ष्य इस महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर आकर्षित हुवा है यह सौभाग्यकी बात है। और आशा है कि संप्रदायवादके प्रश्नको शास्त्रीय पद्धतिसे राष्ट्रीय स्तरपर लेकर यदि उसे छुडानेका प्रयत्न किया गया, तो वह अपने राष्ट्रको तो हितकारक होगा ही, परन्तु उससे संसारके अन्य राष्ट्रोंको भी लाभ उठानेकी संधि उपलब्ध होगी।

भारतके सेनानी !

[लेखक : डॉ. राममूर्ति श्रीराम मिश्र]

⊙

उठो उठो तुम भारतीय ! ओ ! भारतके सेनानी
किसी जमानेमें तेरी भी थी अलमस्त जमानी
महाकुम्भकरणी निद्रामें वर्ष सहस्र किया विश्राम
चक्रवर्तिपद तुमने खोया जो था भूतलपर अभिराम
तक्षशिला अरु नालन्दासे थे असीम विद्याके केन्द्र
तुम्हें मान महनीय गुरु निज नवते थे सब इन्द्रनरेन्द्र
किन्तु तुम्हारी दशा आज क्यों है अतिशय मुरझानी —उठो०

भूतल पर था एक मात्र ही राजनीतिप्रेरक चाणक्य
बृहस्पती था अर्थशास्त्रका नवता था विक्रम आदित्य
सभी विश्वके राजागण जिसके दर्शनको आते थे
पाटलीपुत्रकी परमकुटीके जनको शीश नवाते थे
लेकर शिक्षादीक्षा उससे करते भारतकी मेहमानी —उठो०

प्रान्त प्रान्तमें लडकर तुमने अबतक शोर मचाया
भाषा भाषा चिल्ला करके कितना भतभेद बढाया
जातिवाद अरु प्रान्तवादको अब भी नहीं मिटाओगे
अन्दरोन्दर लडकर कैसे भारतको ऊंचे लाओगे
देखो ! देखो ! सन्मुखमें है, खडी शत्रुसेनानी —उठो०

जहां कर चुका शासन सुन्दर है अशोक सम्राट महान
जिसके महत्वको अब भी गाते लंका चीन और जापान
सकल विश्व उद्धार हेतु था जन्मा जहां बुद्ध भगवान
" राम " " कृष्ण " की जन्मभूमिमें भी तू है अतिशय हैरान
स्वर्गीय तपस्वी नेताओंकी पद्धति है अपनानी. —उठो०

एक तुम्हारा वर्ग बने अरु एक तुम्हारा बने समाज
एक तुम्हारी मातृभूमि हो एक तुम्हारी हो आवाज
विविध प्रान्तमें रहने पर भी लिपी हमारी एक रहे
सभी विश्वतक रहा तुम्हें है करनेको अगवानी।
उठो ! उठो ! ओ भारतीय ! तुम भारतके सेनानी —उठो०

उपनिषद्–दर्शन

[श्री अरविंद]

अध्याय ३ रा

[गताङ्कसे आगे]

निरपेक्ष ब्रह्मका स्वरूप

इन चार महान् ज्योतियोंके प्रकाशमें देखनेपर उपनिषदोंके वचन एक पूर्ण सामंजस्यके अन्तर्गत और क्रमबद्ध हो जाते हैं। मैक्समूलर जैसे यूरोपीय पंडितोंने इन श्रुतियोंमें विजातीय विचारोंका समूह देखा है; उनकी दृष्टिमें यह समूह ऐसा है कि जिसमें उच्च विचार बालकोचितके साथ धक्कम धक्का करता है, सुन्दर भद्देके साथ हाथमें हाथ मिलाकर चलता है, अत्यन्त क्षुद्र तुच्छतायें, अत्यन्त दुर्लभ और अत्यन्त गंभीर दार्शनिक अन्तर्भावोंके साथ हिल मिल गये हैं। इसलिये उन पंडितोंने इन श्रुतियोंके विषयमें कहा है कि ये मानवजातिकी बाल्य अवस्थाकी तुतलाहट हैं। उन पाश्चात्योंकी दृष्टिमें आरण्यकके महर्षि अनुप्रेरणायुक्त बालक, प्रतिभायुक्त मूढ हैं।

परन्तु उनका यह मत स्वभावतः सन्देहपूर्ण है। यह संभव नहीं जान पड़ता कि जो मनुष्य चरमकोटिकी और अत्यन्त कठिन बौद्धिक समस्याओंका ऐसे प्रभुत्व, सूक्ष्मता और अन्तर्दृष्टिके साथ विवेचन करते हैं वे ऐसे विषयोंमें, जिनके लिये बहुत निम्नकोटिकी शक्तियोंकी आवश्यकता है, केवल मूर्खता प्रदर्शित करेंगे। इस कम उन्नत क्षेत्रमें उनके वचन चाहे सत्य हों या भ्रान्तियुक्त, परन्तु यह भलीप्रकार माना जा सकता है कि उन्होंने उनके अर्थ और तात्पर्यका पूरीतरह स्पष्ट ज्ञान रखते हुए उन्हें प्रकट किया है।

आधुनिक विज्ञानके अनेक सुप्रतिष्ठित परिणाम उस बुद्धिको, जो कि उन साधनोंसे सर्वथा अनभिज्ञ है जिनसे वे उन परिणामोंपर पहुंचते हैं, ऐसे भद्दे हास्यास्पद और लड़कपनवाले प्रतीत होंगे कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता; ऐसी बुद्धिके अनुसार यदि वे बाल मानवकी तुतलाहट न भी हों तो कमसेकम ऐसे मानवकी तुतलाहट अवश्य होंगे जो कि बुढापेके कारण सठिया गया है। किन्तु केवल थोडेसे ठीक ठीक ज्ञानसे यह प्रकट हो सकता है कि ये भद्दी तुच्छतायें भलीप्रकार सुनिश्चित और अकाट्य सत्य हैं।

उपनिषदोंके विषयमें यथार्थता यह है कि वे अपने सभी अंगोंमें पूर्णतया युक्तियुक्त, सुसंगत और एक जातीय हैं, यद्यपि इनकी भाषा कल्पनाप्रवण है और कहीं कहीं उसमें प्रतीकका अंश भी है। निःसन्देह वे यह कार्य नहीं करते कि इस बहुविध विश्वके विविध रूपोंकी उपेक्षा करके समस्त वस्तुओंका एक नाममें अन्तर्भाव कर दें और इस प्रकार सुसंगतिकी कृत्रिम भावना उत्पन्न कर दें। कारण वे ऐसे तात्त्वज्ञानिक शास्त्र नहीं हैं कि जिनका लक्ष्य हो गणितिक अमूर्तता या रेखागणितिक सूक्ष्मता और संगति। ये पर्यवेक्षणों और आध्यात्मिक अनुभवोंके महानिधि हैं; इनमें इन पर्यवेक्षणों और अनुभवोंसे निकाले गये महान् परिणाम और सामान्यकरण हैं। इन्हें ऐसी भाषामें उपस्थित किया गया है कि जिसमें विवादसे सावधान होनेका विचार या तार्किक व्याघातोंसे बचनेकी चिंता नहीं है।

तथापि समस्त सत्य पर्यवेक्षण और सच्चे अनुभवमें जो संगति होनी चाहिये वह इनमें विद्यमान है। वे स्वाभाविक रूपमें और बिना किसी पूर्व निश्चित उद्देश्यके अपने आपको एक विशाल वैध सत्यके भीतर क्रमबद्ध करते हैं; यह विशाल वैधसत्य कुछ विशेष संरचक, व्यापक, सामान्य सिद्धान्तोंमें परिवर्धित किया गया है और इन सामान्य सिद्धान्तोंमें सामान्य ऐक्य सत्य है और साथ ही अनन्त विविधताओंके लिये और यहांतक कि सिद्धान्त विरोधोंके लिये भी स्थान है। दूसरे शब्दोंमें उनमें तार्किक संगति होनेकी अपेक्षा वैज्ञानिक संगति है।

उस कट्टर तार्किकको, जो कि अपने शाब्दिक तर्ककी तंग जेलमें बद्ध है, उपनिषद् आदिम और मूलभूत असंगतिपर प्रतिष्ठित जान पडते हैं। इन श्रुतियोंमें अनेक वाक्य ऐसे हैं जो कि परात्पर ब्रह्मकी अज्ञेयतापर आश्चर्यजनक रूपमें बल देते हैं। यह स्पष्ट रूपमें कहा गया है कि ब्रह्मके समीप न मन पहुंच सकता है न इन्द्रियां और शब्द उसके वर्णन करनेके प्रयत्नमें असफलता होकर लौट जाते हैं। × इसके अतिरिक्त उस निरपेक्ष और परात्पर तत्वको हम उसके यथार्थ स्वरूपमें नहीं जान सकते और न उसकी यथार्थताकी दूसरोंको शिक्षा देनेका कोई ठीक मार्ग या संभवतः कोई भी मार्ग जान सकते हैं। + और यहांतक भी कहा गया है कि निषेधात्म भाषामें ही उसके स्वरूपका निर्दर्शन कराया जा सकता है और उसके लक्षणके संबंधमें जो भी प्रश्न किये जाते हैं उन सबका एकमात्र सच्चा उत्तर है "नेति नेति"* वह न यह है न वह है।

ब्रह्मका न लक्षण हो सकता है (अनिर्देश्य, अलक्षण) न वर्णन हो सकता है (अनिर्वचनीय), न बुद्धिसे ज्ञान हो सकता है (अज्ञेय)। और इन सब वचनोंके होते हुए भी उपनिषद् निरन्तर यह कहते रहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सच्चा ज्ञानका विषय (पदं) है और सम्पूर्ण श्रुति वास्तवमें ब्रह्मके, संभवतः लक्षण करनेका तो नहीं, किन्तु कमसेकम उसके स्वरूपको, स्वभावको बतलानेका, उसका एक भाव, और यहांतक कि सविवरण भाव प्रकट करनेका प्रयत्न है।

इनकी असंगति यथार्थ होनेकी अपेक्षा प्रातीतिक है। ब्रह्म अपने चरम यथार्थ स्वरूपमें परात्पर, निरपेक्ष और अनन्त है; परन्तु इन्द्रियां सांत हैं और उनसे प्राप्त सामग्री (ज्ञान) से व्यवहार करनेवाली बुद्धि भी सांत है; वाणी भी बुद्धिकी न्यूनताओंके कारण सीमित है। इसलिये ब्रह्म अपने स्वरूपमें बुद्धिके लिये अज्ञेय और वाणीकी वर्णन शक्तिसे अतीत होना चाहिये, किन्तु वह ऐसा अपने चरम यथार्थ स्वरूपमें है अपने पक्षों (रूपों) या अभिव्यक्तियोंमें नहीं है। अज्ञेय वादी वैज्ञानिक भी यह विश्वास करता है कि कोई ऐसा महान् चरम परमार्थ तत्व होना चाहिये जो कि मनुष्यको अज्ञात और संभवतः अज्ञेय है, जिससे यह विश्व उद्भूत होता है और जिसपर यह सब प्रपंच आश्रित है; परन्तु वैज्ञानिक इस परमतत्वके केवल चरम स्वरूपको ही अज्ञेय मानता है न कि विश्वमें इसकी अभिव्यक्तिको।

उपनिषद् भौतिक विश्लेषणकी अपेक्षा एक गंभीरतर साधनका उपयोग करते हुए ज्ञानके जाल (क्षेत्र) को आधुनिक अज्ञेयवादियोंकी अपेक्षा अधिक विस्तारमें फैलाते हैं, किन्तु अन्तमें उनकी भावना प्रायः समान ही हो जाती है; वह केवल इस महत्वपूर्ण अंशमें भिन्न है कि उपनिषद् यद्यपि परात्पर ब्रह्मको सांत ज्ञानकी परिभाषामें अनिर्वचनीय मानते हैं किन्तु उसे अनुभव गम्य और प्राप्त योग्य ॰ मानते हैं।

ब्रह्मकी अनुभूतिके लिये पहला महान् पदप्रक्षेप यह है कि प्रपंचात्मक विश्वमें जो उसकी अभिव्यक्ति है उसे जानना; कारण यदि केवल ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ तत्व है तो प्रपंचात्मक विश्व जो कि स्पष्टतया किसी ऐसे तत्वकी अभिव्यक्ति है जो नित्य है, केवल ब्रह्मको ही अभिव्यक्ति हो सकता है किसी दूसरेकी नहीं; और यदि हम इस प्रपंचात्मक विश्वको पूरीतरह जान लें तो हम ब्रह्मको किसी सीमातक और एक विशेष प्रकारसे जान लेते हैं; निःसन्देह यहां हम उसे जैसा वह अपनी निरपेक्ष सत्तामें है वैसा तो नहीं जान सकते, किन्तु जैसा वह प्रपंचात्मक अभिव्यक्तिकी उपाधियोंमें है, वैसा जान लेते हैं।

यूरोपीय विज्ञान जहां केवल स्थूल द्रव्यके प्रपंचको जाननेका यत्न करता है, योगी इससे आगे जाता है। उसका यह कथन है कि उसने एक ऐसे सूक्ष्म द्रव्यके

× यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ तैत्तिरीय २।४ ॥

+ न तत्र वाग्गच्छति नो मनः।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् । केन १।३ ॥

* बृहदारण्यक २।३।६ ॥

॰ अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ कठ २-३-१३

विश्वका आविर्भाव किया है जो कि स्थूल द्रव्यके विश्वके भीतर और बाहर व्याप्त है। यह विश्व वह है कि जिसमें आत्मा निद्राकी अवस्थामें अंशतः और स्वल्पकालके लिये जाता है, परन्तु अधिक पूरीतरह और अधिक दीर्घकालके लिये मृत्युके द्वारसे प्रवेश करता है; यह सूक्ष्म विश्व ही वह उपादान है जहांसे सम्पूर्ण चैत्य क्रियायें उद्भूत होती हैं। और इस विश्वको स्थूल द्रव्यके विश्वसे जोड़नेवाली शृंखला प्राण और मनके व्यापारोंमें मिलती है।

योगीका यह कथन पूर्णतया निश्चयात्मक है और उपनिषद् उसे ऐसे सुनिश्चित और निर्विवाद तथ्यके रूपमें मानकर चलते हैं जो कि केवल अटकल, अनुमान या कल्पनाकी सीमाओंसे सर्वथा परे है। परन्तु योगी इससे भी आगे जाता है और यह घोषित करता है कि एक तीसरा विश्व भी है जो कि कारण द्रव्यका बना हुआ है और जो सूक्ष्म और स्थूल दोनों विश्वोंके भीतर और बाहर व्याप्त है; और यह विश्व ऐसा है कि जिसमें आत्मा अत्यन्त गाढ निद्रामें और मरनेके अनन्तर जो मनुष्यकी दशा होती है उससे परे बहुत दूरकी अवस्थामें प्रवेश करता है; यह कारण विश्व ही वह उपादान है जिससे यह सम्पूर्ण प्रपंच उद्भूत होता है।

यदि हम उपनिषदोंको समझना चाहते हैं तो हमें इन वचनोंको जो कि हमें विस्मयमें डालनेवाले हैं, कमसे कम अस्थायी रूपमें मान लेना होगा; कारण वेदान्तकी सम्पूर्ण योजना इनके ऊपर ही बनी है। ब्रह्म अपने आपको इनमेंसे प्रत्येक विश्वके रूपमें अभिव्यक्त करता है। वह कारण द्रव्यके विश्वमें कारण, आत्मा और अनुप्रेरक रूपमें अभिव्यक्त करता है जिसे काव्यमयी भाषामें प्राज्ञ या ज्ञानी कहा जाता है। सूक्ष्म द्रव्यके विश्वमें वह स्रष्टा, आत्मा और धाता (धारण करनेवाला) के रूपमें अभिव्यक्त होता है, जिसे काव्यमयी भाषामें हिरण्यगर्भ, प्राण और रूपका धारण करनेवाला स्वर्णमय गर्भ कहा जाता है। और स्थूल द्रव्यके विश्वमें वह शासक, पथ प्रदर्शक, आत्मा और सहायकके रूपमें अभिव्यक्त होता है, जिसे काव्यमयी भाषामें विराट् (ज्योतिर्मय और शक्तिमान्) कहा जाता है। और इन अभिव्यक्तियोंमेंसे प्रत्येकमें वह मानव आत्माके द्वारा ज्ञात और अनुभूत किया जा सकता है।

इन विलक्षण वचनोंके सत्यको मान लेनेपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि परमात्मा और मनुष्यमें क्या संबंध है? हम इस पक्षको पहले ही सुनिश्चित रूपमें उपस्थित कर चुके हैं कि मनुष्यके भीतर परमात्मा तादात्म्यरूपसे वही है जो कि विश्वके भीतर रहनेवाला परमात्मा है और यह तादात्म्य निरपेक्ष ब्रह्मके ज्ञानके लिये एक बहुत उत्तम चाबी है। क्या यह पक्ष निरपेक्ष ब्रह्म और मानव आत्माके मध्यसे उन भेदोंका निराकरण नहीं कर देता जो कि त्रिविध अभिव्यक्तिके स्वभावमें उपलक्षित होता है?

एक ओर परमात्मा और मानव आत्मामें पूर्णतम तादात्म्यका सुनिश्चित और अनुभूत तथ्यके रूपमें कथन किया गया है; दूसरी ओर विशालतम भेदका समान रूपमें भली भांति निश्चित और अनुभूत तथ्यके रूपमें कथन किया गया है; इन परस्पर विरोधी वक्तव्योंमें संगति नहीं हो सकती। परन्तु फिर भी वेदान्त उत्तर देता है कि ये दोनों ही तथ्य हैं; तादात्म्य वस्तुओंके पारमार्थिक स्वरूपमें तथ्य है; भेद उनके प्रतीयमान रूपमें, प्रपंचात्मक जगत्‌में तथ्य है; कारण व्यावहारिक प्रपंच अपने रूपमें केवल प्रतीतिमात्र है और जीवात्मा और विश्वात्माका भेद वह मूलभूत प्रतीति है जो कि शेष समस्त प्रतीतियोंको संभव बनाता है। जैसे जैसे ब्रह्मकी अभिव्यक्ति बढ़ती है तो यह भेद भी बढ़ता जाता है।

स्थूल द्रव्यके जगत्‌में यह भेद पूर्णताको पहुंच गया है; यहां भेद ऐसा तीक्ष्ण है कि भौतिक इन्द्रियोंवाले प्राणीके लिये यह कल्पना कर सकना असंभव है कि परमात्माका उसके अपने आत्मासे किसी प्रकारका संपर्क है; दीर्घकालीन विकासकी प्रक्रियासे चलनेपर उसे वह प्रकाश प्राप्त होता है जिसमें किसी प्रकारका तादात्म्य उसकी कल्पनागत हो सकता है। हमारा मन स्थूल द्रव्यरूप उपाधिसे ग्रस्त होनेके कारण उसकी मूल भावना द्वैतरूप होती है; यहां ज्ञाता ज्ञेयसे भिन्न होना चाहिये और ज्ञानके सदा नवीन माध्यम और साधनोंके अनुसंधान उन्नयन और पूर्णतम उपयोगमें ही मनुष्यकी सम्पूर्ण बौद्धिक उन्नति है। निःसन्देह जिस चरम ज्ञानपर ज्ञाता पहुंचता है वह उसे अपनेमें और परमात्मामें तादात्म्यरूप मूलभूत सत्यको प्रदान करता है; किन्तु स्थूल प्रपंचके क्षेत्रमें यह तादात्म्य कभी भी बौद्धिक विभावनासे अधिक नहीं हो सकता, यह कभी भी वैयक्तिक अनुभवसे प्रमाणसिद्ध नहीं किया जा सकता।

दूसरी ओर प्रेम और श्रद्धासे युक्त उच्च कोटिकी सहानुभूतिके द्वारा इसकी संप्रतीति की जा सकती है, यह संप्रतीति या तो मानव जातिके और दूसरे सब साथियोंके प्रति प्रेमके द्वारा अथवा सीधे ईश्वरके प्रति प्रेमके द्वारा की जा सकती है। तादात्म्यकी यह संप्रतीति उन धर्मोंमें बहुत बलवती है जो कि अधिकतर प्रेम और श्रद्धाकी भावना पर प्रतिष्ठित हैं।

ईसाई धर्मका संस्थापक कहता है कि मैं और मेरा पिता एक हैं; बौद्धधर्म कहता है कि मैं, मेरा भाई-मनुष्य और मेरा भाई-पशु एक हैं; संत फ्रांसिसने कहा है कि वायु मेरा भाई है; और जल मेरी बहिन है; और हिन्दू भक्त जब बैल को कोडा लगते देखता है तो उसके शरीरपर कोडेका चिन्ह आजाता है और वह पीडासे गिर जाता है। परन्तु एकत्वकी संप्रतीति जबतक केवल संप्रतीति या भावना है तबतक ज्ञानमें परिणत नहीं होती; इसलिये धर्म यद्यपि भावावेगमें हो तादात्म्यका भाव रखते हैं किन्तु बुद्धिके क्षेत्रमें कट्टर द्वैतमें या किसी ऐसे दूसरे रूपमें परिणत हो जाते हैं जो अद्वैत नहीं है। इसलिये द्वैतवाद केवल मोह नहीं है, यह एक सत्य है, किन्तु प्रपंचगत सत्य है वस्तुओंका पारमार्थिक सत्य, चरम सत्य नहीं है

जीवात्मा जब ज्ञानके साधनोंका आविर्भाव करने और उन्हें पूर्ण बनानेके कार्यमें अग्रसर होता है तो वह सूक्ष्म प्रपंचके विश्वमें प्रवेश करता है। यहां परमात्मासे उसे विभक्त करनेवाला भेद कम तीक्ष्ण होता है; कारण भौतिक द्रव्यके बंधन हलके हो जाते हैं और विभाग और विषमताके अधिकरण जो देश और काल हैं उनके भारकी तीव्रता कम हो जाती है। यहां व्यक्ति महान् समष्टिके साथ एक विशेष प्रकारके ऐक्यका अनुभव करने लगता है; वह अपना विस्तार और उत्कर्ष करते हुए यह अनुभव करने लगता है कि मैं विश्व-आत्माका एक अंश हूं; किन्तु यहां तादात्म्यका भाव पूरा नहीं होता और न पूरा हो ही सकता है।

इस सूक्ष्म विश्वमें मनके लिये आधारभूत विभावना द्वैताद्वैत होती है; ज्ञाता ज्ञातसे सर्वथा भिन्न नहीं होता, ज्ञाता अपने आपको ज्ञातके सदृश और उस ही द्रव्यका परन्तु उसकी अपेक्षा हीन, लघु और उसपर आश्रित अनुभव करता है। उसके एकत्वके भावमें सादृश्य और समद्रव्यत्व हो सकते हैं किन्तु पूर्ण एक द्रव्यत्व और पूर्ण तादात्म्य नहीं होते।

सूक्ष्म विश्वसे जीवात्मा अपना विकास करता हुआ ऊपरको तबतक उठता रहता है जबतक कि वह कारण द्रव्यके विश्वमें प्रवेश करनेमें समर्थ होता है; वहां वह मूल कारणके समीप उपस्थित होता है। इस विश्वमें ज्ञानके माध्यम और साधन लुप्त होने लगते हैं; मन अपने मूल कारणसे प्रायः सीधा संबंध रखने लगता है और जीवात्मा एवं परमात्माका भेद बहुत अधिक पतला हो जाता है। परन्तु फिर भी, यहां भी भेदकी एक दीवार रहती है, यद्यपि वह पतली होते होते अन्तमें अधिकतम पतले पेपरके समान पतली हो जाती है।

ज्ञाता यह जानता है कि वह परमात्माके समान-कालवाला और समान-सत्तावाला है, वह यह भी अनुभव करता है कि वह सर्वव्यापी है, कारण जहां परमात्मा है वहां वह भी है; इसके अतिरिक्त वह प्रपंचकी दूसरी दिशामें है और इच्छानुसार विश्वको अपने बाहर या अपने भीतर देख सकता है। परन्तु अभीतक भी यह आवश्यक नहीं है कि उसने परमात्माको पूरीतरह अपना आत्मा अनुभव कर लिया हो, यद्यपि यह पूर्ण अनुभूति अब पहली बार उसकी पहुंचके भीतर है। इस विश्वमें मनके लिये आधारभूत प्रत्यक्ष भेदाभेद है, किन्तु अभेद, अद्वैतका उच्चतम प्रत्यक्ष यहां संभव हो जाता है।

और जिस समय यह प्रत्यक्ष केवल संभव ही नहीं रहता अपितु उसके अधिकारमें हो आता है तब क्या दशा होती है? उस समय जीवात्मा पूर्ण अनुभूतिमें प्रविष्ट होकर जीवात्मा या व्यक्तिगत आत्मा नहीं रहता अपितु सनातन परमब्रह्ममें लीन हो जाता है और वही अखंड, अनादि, अव्यय अविकार्य ब्रह्म हो जाता है (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)। वह कार्यकारणभाव और प्रपंचसे अतीत हो गया है और अब केवल उसके बंधनमें नहीं रहता जो केवल प्रातीतिक है।

हिन्दू धर्ममें इसे लय कहा जाता है और उपनिषदों और बौद्ध तत्वज्ञानमें संसारसे निर्वाण। यह स्पष्टतया ऐसी स्थिति है जिसका वर्णन करनेमें शब्द असफल हो

जाते हैं; कारण शब्दोंकी रचना संबंधोंको अभिव्यक्त करनेके लिये हुई है और जहां संबंध नहीं हैं वहां वे अर्थ-हीन होते हैं; इसलिये वे ऐसी स्थितिका सफलतापूर्वक वर्णन नहीं कर सकते जो कि पूर्णतया शुद्ध, निरपेक्ष और संबंध रहित है। यह कोई ऐसी स्थिति भी नहीं है कि जिसे मनुष्यकी सीमित और सांत बुद्धि इस स्तरपर क्षण भरके लिये भी समझ सके। इस परा स्थितिकी दुर्बोधता स्वभावतः हमारी वर्तमान मानवताकी अशिक्षित कल्पना शक्तिके लिये एक बड़ी बाधा है; कारण यह कल्पना शक्ति इन्द्रियजन्य संवेदन, भावावेग और बौद्धिक ज्ञानको आधार बनाकर किया करती है।

अत जिस आनन्दमें इन्द्रियां, भावावेग और बुद्धिके लिये स्थान नहीं है उससे अनिवार्य रूपमें विमुख हो जाती है। निश्चय ही हम यह चिल्लाते हैं कि जिस स्थितिमें संवेदन और सुखके इन कारणों और साधनोंका निर्वाण या अन्त हो जाता है, वे निश्चल हो जाते हैं, वह स्थिति परमानन्द नहीं है अपितु पूर्ण शून्यता, अत्यन्त विनाश या विलोप है। वेदान्त इसका उत्तर देते हुए कहता है, " यह भ्रान्ति है, एक दयनीय निकृष्ट भ्रान्ति है। तब उस उच्चतम स्थितिमें इन्द्रियोंका अन्त क्यों हो जाता है ? " इसका कारण यह है कि इन्द्रियोंको इसलिये विकसित किया गया था कि जिससे इनके द्वारा बाहरी सत्ताका ज्ञान किया जा सके, परन्तु जहां बाह्यताका अन्त हो जाता है वहां इन्द्रियोंके लिये कोई कार्य नहीं रहता, इसलिये उनके अस्तित्वका अन्त हो जाता है।

भावावेगोंका विषय भी बाहरी होता है और उन्हें अपने हर्षके लिये दूसरे पदार्थकी आवश्यकता होती है, अतः तभी-तक उनका अस्तित्व रहता है जबतक हम अपूर्ण रहते हैं। इस ही प्रकार बुद्धि भी तभीतक रहती है और अपना कार्य करती है जबतक कोई वस्तु उससे बाहरी और अगृहीत होती है। परन्तु जो परम है, उच्चतम है उसके लिये कुछ भी अगृहीत (अज्ञात) नहीं है, उच्चतम अपने हर्षके लिये किसी दूसरेपर निर्भर नहीं करता। अतः वह न भावावेग रखता है न बुद्धि, और जो उस परम, उच्चतममें लीन हो जाता है और वही हो जाता है वह भी उस उच्चतम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेपर उन्हें क्षणभरके लिये भी नहीं रख सकता।

उसकी असीमतामें सीमित इन्द्रियोंका न रहना कोई हानि या विनाश नहीं है, अपितु ऐसी सत्तामें परिपूर्णत्व, संवर्द्धन है जो अपनी अनंततामें आनंदित होती है। उसकी पूर्णतामें हमारे खण्डित और क्षणिक भावावेगोंका लीन हो जाना हमें नीरस शून्यमें नहीं ले जायगा अपितु असीम आनन्दमें ले जायगा। हमारी विभक्त और श्रमशील बुद्धि के दमनसे जो ज्ञानकी समाप्ति होती है वह हमें गाढ अंधकार और शून्यतामें नहीं ले जायगी अपितु अनन्त चैतन्यके ज्योतिर्मय आह्लादमें ले जायगी।

हमारा निर्वाण सत्ताका विलोप नहीं है अपितु उसका पूरा " पूर्णत्व " है। और जब यह हर्षप्रद भावात्मककी कसौटीपर कसी जाती है तो निश्चय ही यह न्यायसंगत और यहांतक कि अखंडनीय घोषित की जानी चाहिये। कारण बुद्धिकी अन्तिम मुक्ति ऐसे बिन्दुपर हो सकती है जहां ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात एक हो जाते हैं, कारण वहां ज्ञान अनन्त, प्रत्यक्ष और माध्यमसे रहित होता है। और जहां यह अनन्त और निर्दोष ज्ञान होता है वहां अनन्त और निर्दोष सत्ता और आनन्द होने चाहिये। परन्तु इस भूमिकाकी अवस्थायें इस प्रकारकी हैं कि हम इसके विषयमें केवल यही कह सकते हैं कि " वह है; " हम उसका शब्दों में निर्वचन नहीं कर सकते, कारण इस बुद्धिसे उसकी अनुभूति नहीं कर सकते। आत्माकी अनुभूति केवल आत्मासे ही हो सकती है; अनुभूतिके लिये कोई दूसरा उपकरण नहीं है।

यहां यह आपत्ति उठाई जाती है कि यह माना कि ऐसी स्थिति विचारमें संभव है-और तुम्हारे हेतु वाक्योंसे प्रारम्भ करनेपर यह अनिवार्य रूपमें परिणाम निकलता है कि यह निश्चित रूपमें संभव है, परन्तु संभावना और वस्तु है और वस्तुतः होना और बात है। इसलिये इस बातका क्या प्रमाण है कि वस्तुतः इसका अस्तित्व है ? तुम्हारा योग ही ऐसा कौनसा प्रमाण दे सकता है कि जिससे हमें यह सिद्ध हो जाय कि इसका अस्तित्व है ? कारण जिस समय जीवात्मा परमात्माके साथ एक हो जाता है तो उसका विकास समाप्त हो जाता है और वह अपने अनुभवोंको कहनेके लिये संसारमें नहीं लौटता।

इस प्रश्नके उत्तर देनेमें दो कठिनाइयां हैं; प्रथम कठिनाई यह है कि यदि भाषा इसके लिये लेशमात्र भी ठीक ठीक प्रयास करती है तो उसे इतना अधिक अमूर्त और कोमल

हो जाना पडता है कि वह दुर्बोध हो जाती है, दूसरी कठिनाई यह है कि इसमें जो अनुभव अन्तर्गत हैं वे हमारे वर्तमान विकासकी सामान्य अवस्थासे इतना अधिक दूर हैं और इतने कम व्यक्तियोंको और इतनी दुर्लभतासे प्राप्त होते हैं कि अहेतुक विश्वास और यहांतक कि सुनिश्चित प्रकथन भी प्रायः अक्षम्य जान पडते हैं ।

परन्तु फिर भी, रूपकमयी भाषाका उपयोग करते हुए, अथवा संतपालके शब्दोंमें, मूर्खके समान बोलते हुए, इस विषयपर यदि कुछ भी कहना संभव है तो उसे रेखाङ्कित करनेका साहस किया जा सकता है। इसलिये सत्य ऐसा जान पडता है कि आत्माकी इस अन्तिम या चतुर्थ स्थिति में भी भूमिकायें और श्रेणियां हैं जिनकी संख्याके संबंधमें अनुभव भिन्न भिन्न प्रकारका होता है; किन्तु स्थूलरूपमें हम यह कह सकते हैं कि ये तीन हैं; पहली भूमिका वह है जब कि हम ब्रह्मकी ड्योढीके प्रवेशद्वारपर खडे होते हैं और भीतर की ओर देखते हैं; दूसरी भूमिका वह है जब कि हम ड्योढी के भीतरी सिरेपर खडे होते हैं और वस्तुतः ब्रह्मके सामने सामने होते हैं; तीसरी भूमिका वह है जब कि उस पवित्रोंमें पवित्र तत्वमें प्रवेश कर जाते हैं।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस भाषाका मैं प्रयोग कर रहा हूं वह रूपकमयी है, अतः अक्षरार्थपर कठोरतापूर्वक बल नहीं देना चाहिये। अस्तु, पहली भूमिकाका मनुष्यके अनुभवमें आना भली भांति संभव है और उससे मनुष्य जीवन्मुक्त होकर, अबकी वह जीवन धारण करता है परन्तु अपने अन्तरात्मामें संसारके बंधनसे मुक्त होता है, लौटता है। दूसरी भूमिकाके एक बार प्राप्त हो जानेपर, यदि वह उच्च कोटिका बुद्ध या जगद्वतार नहीं है तो साधारणतया मनुष्य नहीं लौटता। तीसरी भूमिकासे कोई भी नहीं लौटता और न यह शरीरमें रहते हुए प्राप्त होने योग्य है ही। जीवन्मुक्त जिस ब्रह्मका अनुभव करता है, जिसे वह ड्योढीके प्रवेशद्वारसे देखता है, वह है जिसे हम प्रायः परब्रह्म कहते हैं और जिसके विषयमें वेदान्तमें उच्च कोटिके वर्णन किये गये हैं। इसलिये ब्रह्मकी पांच अवस्थायें हैं।

प्रथम विराट् ब्रह्म जो कि जागृत विश्वका प्रभु है; दूसरे हिरण्यगर्भ जो कि स्वप्न विश्वका प्रभु है; तीसरे प्राज्ञ या अव्यक्त जो कि अव्यक्त या सुषुप्त विश्वका प्रभु है; चौथे परब्रह्म जो कि उच्चतम (पर) है; और पांचवा इस उच्चतम (पर) से भी उच्च (परात्पर) है, वह अज्ञेय है। अज्ञेयके विषयमें विशेष कहना लाभदायक नहीं है, किन्तु परब्रह्मके विषयमें कुछ कुछ मानव बुद्धिको बोध कराया जा सकता है, कारण यदि शिथिल रूपकोंके उदार उपयोगका निषेध न किया जाय तो वह अशतः वाणीके क्षेत्रमें लाया जा सकता है।

—अनु० श्री. केशवदेवजी आचार्य

(क्रमशः)

' सर्वतंत्र-सिद्धान्त ' का वितण्डावाद

[लेखक : श्री वि. वा. ऋषिमित्र शास्त्री, साहित्यरत्न]

इसी जुलाई (ज्येष्ठ) मासके 'वैदिक धर्म 'में १८ पृष्ठोंमें ' सर्वतंत्र-सिद्धान्त ' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। इसके लेखक हैं, शिवपुरी (मध्यभारतके) श्री नाथूलालजी वानप्रस्थी। इस पूरे लेखके पढनेपर इसके लेखकका अल्पश्रुतत्व, अनुभवशून्यता या जान-बूझकर आंख मूद लेनेकी प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। यही भावना इस पत्रके विद्वान् संपादक, जिनके पाण्डित्यके लिये मेरे हृदयमें पर्याप्त सम्मानका स्थान है, के लिए भी उत्पन्न होती है। वैसे मुझे इस बातका भी पता है कि श्री पं. सातवलेकरजी अब प्रायः अस्वस्थ रहते हैं; किन्तु उसमें उनको जागरूक अध्ययन व श्रमवृत्तिपर प्रभाव नहीं पडता है। इसीलिए इन विचारोंका आरोप उनपर भी करना पडता है। नहीं तो पत्रकारकी दृष्टिसे उनके मतभेदका परिचय वहीं मिल जाता।

लेखकका अल्पश्रुतत्व

इस सम्पूर्ण लेखपर विहंगमावलोकन करनेपर इसके लेखकके विषयमें तीन प्रकारकी भावनायें उत्पन्न होती है- १- या तो लेखक अल्पश्रुत है, पर अपनेको लालबुझक्कड सिद्ध करनेके लिये आजतक किसीकी भी कल्पनामें न आया हुआ महर्षिका त्रैतवाद और अद्वैतवाद- विरोधी आशय सर्वप्रथम प्रकट किया है। केवल आर्य समाजके ही विद्वान् नहीं अपितु अन्य विद्वान् भी महर्षिको विशिष्ट द्वैवादी या त्रैतवादी मानते हैं। इसके लिए महर्षिके विषयमें स्व० बा० रामदासजी गौड कृत महान ग्रंथ ' हिन्दुत्व ' लेखकको देखना चाहिये। लेखकने त्रैतवादके विरुद्ध जितनी युक्तियां प्रस्तुत की हैं, सारी हेत्वाभास है। महर्षिके सत्यार्थ प्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें उनका त्रैतवाद-सम्बन्धी आशय सूर्य प्रकाशके समान स्पष्ट परिलक्षित होता है। लेखकने शायद आठवें समुल्लासमें सांख्यसूत्र ' मूले मूलभावादमूलं मूलम् ' की व्याख्या ही नहीं देखी है। वहां स्पष्टतया महर्षिने ईश्वरजीव और प्रकृतिका अनादि होना कहा है। लेखमें लेखकने कारणरूप प्रकृतिसे कार्यरूप प्रकृतिके स्वरूपको देखकर प्रकृतिको अनादि नहीं माना है। और इसी प्रकार शरीर-वियोगको 'जीवका नाश ' माना है। जो स्पष्ट उसके अल्पश्रुतत्वका प्रमाण है। उसे 'ऋग्वेदादि ' में ' अद्भ्यः संभृतः ' मन्त्रका संस्कृत भाष्य तथा ' इयं विसृष्टि० ' का भी संस्कृत भाष्य देखना चाहिये।

विधर्मियोंका एजेन्ट ?

दूसरी भावना लेखके पढनेसे यह होती है कि लेखक ईसाईयों व मुसलमानोंका एजेण्ट है। क्योंकि लेखकके पडोस (मध्यप्रदेश) में ईसाईयोंने अपना विशाल जाल किस प्रकार फैला रखा है, इसका पूरा परिचय इसी १८-७-५६ के पत्रोंमें ' नियोगी समिति ' ने दिया है। आज ईसाईयोंके एजेण्ट घर घर घूम घूमकर 'दुःखसे छुडाने' का प्रलोभन देकर ईसाई बना रहे हैं। पर लेखकको शुद्धीकरण तो खलता है; और ईसाई तथा मुसलमान बनाना नहीं खलता है। इससे लेखकका इष्ट यही प्रतीत होता है कि आर्य समाजी लोग तो शुद्धि बन्द कर दें। और ईसाई तथा मुसलमान अपना धर्मान्तरका कार्य प्रगतिशील बनाये रखें। इससे जो आशय निकलता है; वह मेरे अभिप्रायकी पूर्णतया पुष्टि करता है। लेखक या तो इतना अल्पश्रुत है कि वह ईसाई जनके ' ईसाकी शरणमें जानेपर ही तुम्हारे पाप क्षमा होंगे, अन्यके नहीं ' इसे भी नहीं जानता है। इसी प्रकार मुसलमानोंका भी विचार है कि मुहम्मद और इस्लामपर विश्वास न रखनेवाला काफिर है; और काफिरकी हत्या करके मनुष्य करजी बनता है। सोचिये, है न लेखकका विचार 'केर (केलाका पत्ता) बेरको संग ' में करनेका। मुसलमान और ईसाई तो अपने इन्हीं विचारोंपर टिके रहें और तुम आकर उनके जूतोंकी ठोकरें खाओ। इससे बढकर बुद्धिका दिवालियापन और क्या होगा। किन्तु एजेण्ट तो अपनी इष्ट ही बात करता है; उसे दूसरे पहलूसे कोई मतलब थोडे ही है। यह सब एजेन्सीके रूपमें कहा गया है।

'ग्रामकामं च गोपालम्?'

तीसरी भावना नीतिशास्त्रोंमें कथित 'ग्रामकामं च गोपाळं वनकामं च नापितम्०' है जिसका अभिप्राय अधिकारकी शक्ति न होते हुए भी अधिकारसे सम्बद्ध काम करना है, स्मरण हो आती है। ऐसा मैंने इस कारण कहा है कि लेखकने दार्शनिक बातोंकी चर्चा तो की है, पर वह दार्शनिक चर्चाको पात्र नहीं है। क्योंकि उसने एक ओर तो हेत्वाभाससे महर्षि न तो त्रैतवादी थे और न अद्वैतवादी ही थे; सिद्ध करनेका स्वयं प्रयास किया है किन्तु क्या वे द्वैतवादी थे? या अन्य कुछ? इसपर कुछ भी नहीं कहा है। सच पूछिये तो सारा लेख ही वितण्डावादसे भरा हुआ है। सारी युक्तियां थोथी हैं और स्थापनायें भी थोथी ही हैं। मुझे समझमें नहीं आता, श्री पं. सातवलेकरजी जैसे विद्वानकी आंखोंमें कैसे ये युक्तियां और विचार जांच गये? इस लेखने उनका महान अपयश फैलाया है।

महर्षिका अद्वैतवाद-खण्डन

मेरे उक्त दृष्टिकोण कुछ लोगोंको अनुचित प्रतीत होंगे किन्तु कुछ गम्भीरतासे विचार करनेपर इसी विचारपर शायद सबको आना पडेगा। क्योंकि जिस महर्षिने अपने जीवनमें पचासों प्रतिमापूजकों, ईसाईयों तथा मुसलमानोंसे शास्त्रार्थ किया और खण्डनात्मक उनके प्रवचनोंकी तालिका बनाई जाय तो सैकडों तक पहुंच जायेगी। देवेन्द्र बाबू कृत बृहद् जीवन चरित्रके प्रथम और द्वितीय दोनों भागोंमें नवीन वेदान्ती (अद्वैतवादियों) को महर्षिने अद्वैतवाद कैसे मिथ्या है, का विचित्र उपाय प्रयोग किया था। जब महर्षि बुलन्द शहरमें थे, एक नवीन वेदान्ती बडा हठ करने वाला था, आया, उसने महर्षिसे अद्वैतवादपर चर्चा की। किन्तु जब वह अपनी युक्तियोंके प्रयोगमें असफल हो गया तो अन्तमें कहा- 'आप चाहें जो कुछ कहें, और भले ही मैं सिद्ध नहीं कर सकता हूं। पर यह जगत् मिथ्या है; और सिवाय ब्रह्मके और कुछ नहीं है।' इसपर महर्षिने कुछ कहा नहीं, पर उसके गालपर एक अच्छीसी चपत जड दी। वह जाट बहुत अप्रसन्न हुआ तो महर्षिने कहा- "जब तुम्हीं कहते हो कि जगत् मिथ्या है और सिवाय ब्रह्मके और कुछ नहीं है तो किसने चपत लगाई?" इसी समय उक्त क्षत्रसिंहकी आंखें खुल गईं। और उसने महर्षिके पांव पकड लिये। (प्रथम भाग, पंचम अध्याय)

इसी प्रकार एक और वेदान्ती महर्षिसे शास्त्रार्थ करने आया; और अपनेको ब्रह्म कहने लगा। महर्षिने कहा झूठ क्यों बोलते हो? ब्रह्मने तो सारा जगत् निर्माण किया है तुम तो एक मक्खी भी नहीं बना सकते हो। (द्वितीय भाग, अध्याय इक्कीस)

प्रतिमा-पूजनके विरुद्ध महर्षि

इसी प्रकार महर्षिके उपदेशोंको सुनकर न जाने कितने प्रतिमापूजकोंने अपनी मूर्तियां नदियों, तालाबों आदिमें फेंक दी, और गलेमें बंधी कंठी तोड डाली। इसी जीवन चरित्रके अठारहवें अध्यायके अनुसार एक व्यक्तिने महर्षिको मूर्तिपूजाका खण्डन न करें तो उनका सम्मान महाराजा काश्मीर करेंगे। इसपर महर्षिने कहा- "मैं राजाको खुश करूं कि ईश्वरको?" मैं ईश्वर (वेद) की आज्ञाके विरुद्ध कुछ भी नहीं करूंगा और किसी भी व्यक्तिसे डरूंगा भी नहीं। एक अन्य जीवन चरित्रमें महर्षि यदि प्रतिमा-पूजनका खण्डन न करें तो उन्हें लाखोंके मठका स्वामी बना दिया जानेका प्रलोभन दिया गया। किन्तु महर्षिने कहा- मैं राज्य छोड सकता हूं पर खण्डन नहीं। इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जो स्पष्ट बतलाते हैं कि महर्षि प्रतिमा-पूजकोंके साथ किसी प्रकारकी शर्त रखकर समझौता करनेवाले थे ही नहीं।

लेखकका अधूरा ज्ञान

लेखकने अपने सुरसा लेखमें एक स्थानपर 'महर्षिके पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थका भी उल्लेख किया है। किन्तु उन्हें यह पता ही नहीं कि थियोसोफिकल सोसायटीके अनादर्श विचारोंके कारण 'महर्षिने उसका कैसा भण्डाफोड किया' इसका कुछ विवरण उक्त ग्रन्थमें ही है तथा विस्तृत तो द्वितीय भाग जीवन चरित्रमें है। इसी प्रकार ब्रह्म समाजके लोगोंसे भी ऐकमत्य क्यों नहीं हो सका इसका कारण भी उक्त विस्तीर्ण जीवन चरित्रमें मिलता है। सत्यार्थ प्रकाशमें भी ब्रह्म समाज व प्रार्थना समाजके विचारोंका और आदर्शोंका महर्षिने खण्डन किया है। महर्षिके ग्रन्थों और प्रवचनोंसे स्पष्ट लक्षित होता है कि वे सिद्धान्तके नामपर किसीसे भी किसी भी तरहका सौदा करनेको तैयार नहीं थे। फिर भी लेखकने सौदा करके अपनेको नवीन वेदान्तियों, मुसलमानों तथा ईसाईयोंमें मिल जानेके आशयको महर्षिका आशय सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। यह किस कोटिका विचार है, इसे विज्ञ पाठक विचारें।

महर्षि शुद्धिके पक्षपाती थे

उक्त जीवन चरित्रानुसार महर्षिके उपदेशों और प्रवचनोंके प्रभावसे अनेक व्यक्तियों और व्यक्ति समूहोंका ईसाई मुसलमान होना रुक गया। कहते हैं महर्षि दयानन्दजीने भी एक मुसलमानकी शुद्धि की थी, जिसका नाम अलखधारी रखा गया था। पुनश्च महर्षिके जीवनकालमें ही अनेक आर्य समाजोंमें शुद्धीकरणका कार्य सामूहिक रूपसे होने लग गया था, फिर पता नहीं कैसे लेखकने शुद्धियोंको भी महर्षिके विचारोंसे विरुद्ध सिद्ध करनेकी कोशिश की है। वस्तुतः बात यह है कि लेखक यह नहीं विचार करता मिलता है कि उसकी बात और युक्तिमें तथ्यता एवं सुसंबद्धता है या नहीं? प्रत्युत वह मनमाने ढंगसे जहां जैसा चाहता है, लिखता चला जाता है। नहीं तो आर्य समाजके ७ वें नियमके अनुसार कैसे ईसाईयोंकी अस्पताल आदि योजनाकी पुष्टि कर सकता था। लेखकने ईसाईयोंके इन कार्योंकी सराहना की है, जब कि इस कार्यके पीछे उनका मुख्य ध्येय ईसाईकरण छिपा हुआ है, इसे प्रत्येक दूरदर्शी और अनुभवी जानता है।

महर्षिके सम्बन्धमें अपप्रचार

'वैदिक धर्म' जिसमें विचार्य लेख प्रकाशित हुआ है, आर्य जगत्के बाहर उसके पाठकोंकी संख्या अधिक है। अतः लेखकने भिन्न आर्य समाजियोंमें महर्षिको स्वाध्यायरहित सिद्ध करनेका भी प्रयत्न किया है। इसके कुछ स्पष्ट उदाहरण उसीके लेखसे प्रस्तुत किये जाते हैं– १–पचासों स्थानोंमें 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' शब्दका प्रयोग करके इसका जो अभिप्राय लेखकने निकाला है, उसे ही महर्षि सम्मत सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, जो महर्षि जैसे महा विद्वानके ज्ञान पर कालिमा लगानेके तुल्य है। २– इसी सनकमें लेखककी समझ यह प्रतीत होती है कि अद्वैतवाद, त्रैतवाद व द्वैतवादके समान एक चतुर्थ पन्थ 'सर्वतंत्र-सिद्धांतवाद' है, महर्षिको यही इष्ट था, जो किसी साधारण भी स्वाध्यायीके विचारमें उपहासास्पद विचार है। अर्थात् लेखक स्वयं जैसे यह नहीं जानता कि जगत्के विषयमें द्वैत, अद्वैत और त्रैतके अतिरिक्त अन्य कोई आस्तिक पक्ष हो ही नहीं सकता, महर्षि भी इस अर्थको नहीं जानते थे, यह उसने अपने लेखसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। पाठक सोचें, महर्षिके लिये कितने बड़े अपयशके फैलानेका काम लेखकने किया है।

३– महर्षिने अपने ग्रन्थों, विशेषकर सत्यार्थ प्रकाशमें अनेक स्थानोंपर 'सृष्टि (स्वायंभव मनु) से लेकर पाण्डवोंतक आर्योंका चक्रवर्ती (अखण्ड) राज्य रहा' लिखा है। किन्तु प्रस्तुत लेखमें 'वह (महर्षि) समझते थे कि इस भारतवर्षमें रामराज्यके पश्चात् महाराज अश्वपतिसे लेकर महाभारत पूर्वतक विश्वमें शान्ति रही।' लिखा है, यहां लेखकका अभिप्राय चक्रवर्ती राज्यसे भी है। आगे 'महात्मा बुद्धने सार्वभौम सर्व हितकारी धर्मकी स्थापना की' आदि वर्णियोंसे बौद्ध मतको भी महर्षि सम्मत सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है। रामके पश्चात् अश्वपति राजाकी स्थितिका आधार पुराणोंमें नहीं है। यह विचार भी असत्य है। इससे महर्षिके विषयमें (जो आर्य समाजके विचारोंसे अपरिचित हैं, के हृदयोंमें) कैसे विचार उत्पन्न होंगे? क्या इससे महर्षिके प्रति सद्भावना कम न होगी?

४– आर्याभिविनयके २–४ के अनुसार लेखकने महर्षि ब्रह्म और जीवमें जन्य–जनक भाव मानते थे। यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, जो सारे दर्शनोंके विरुद्ध विचार है। इसे भिन्न-आर्य पढकर सोचेगा कि महर्षिको जीव और ब्रह्मका भी कितना अपूर्ण ज्ञान था? यद्यपि आर्याभिविनयके उक्त स्थल पर ऐसी कोई भी बात नहीं है। पाठक! इस सर्वतन्त्र–सिद्धांतको सोचें, कैसा है।

लेखकका मतिभ्रम

इस प्रकार लेखकने महर्षिके विषयमें कितना मतिभ्रम उत्पन्न किया है, यह अवर्णनीय है। यहां केवल ४ ही 'स्थाली पुलाक' दृष्टिसे उसके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अन्तमें उसने सार्वदेशिक सभाके सन्मुख करयुगल मुकुलित करके उसका नाम भी 'सार्वभौम सार्वजनिक आर्य प्रतिनिधि सभा' रखनेकी प्रार्थना की है। वह कहता है कि आर्य समाजमें दुराचारी और लड़ाऊ तो अधिकारी हैं, किन्तु अद्वैतवादी सदाचारी होकर भी आर्य समाजका सदस्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रायः सारा लेख ही वितण्डावाद एवं मतिभ्रमसे भरा हुआ है।

यजुर्वेद अध्याय १९ वें का स्वाध्याय

वेदार्थ परिचय । लेख २ रा

[लेखक- श्री. अनंतानंद सरस्वती, वेदपाठी]

इस वेदार्थ परिचय लेखमें पहिले प्रथमाध्यायसे लेकर १९ वें अध्यायोंकी संगति परमर्षि दयानन्द सरस्वतीजीने लिखी है, पाठक वेदप्रेमी भाईलोग इनके वेदको लेकर ही पढ जावें तो ही इस १९ वें अध्यायके श्रुतिध्येयका सरलतासे सत्यानृतका पूर्ण बोध हो सकेगा। परन्तु इस अध्यायसे पूर्व १८ वें अध्यायके संगतिकरण ऋषिलिखित वाक्योंको लिखना साक्षेप प्रतीत होता है, अतः नीचेमें लिखते वा उद्धृत वा प्रतिलिपि रखते हैं, पाठकजन स्थिर चित्त और शांत मस्तिष्कसे स्थिर बुद्धिहोके पढेंगे तो आशय स्पष्ट होगा। १८ वें अध्यायकी संगतिके शब्द निम्न हैं।

इस १८ वें अध्यायमें गणितविद्या राजा, प्रजा और पढने, पढाने द्वारे पुरुषोंके कर्म आदिके वर्णनसे इस अध्यायमें कहे हुए अर्थोंकी पूर्व अध्यायमें कहे हुए अर्थोंके साथ संगति है यह जानना चाहिये।

अब इन ही वाक्योंद्वारा ऋषियोंने प्रत्येक अध्यायकी सङ्गति दर्शाई है। आगे १९ वें अध्यायकी संगतिको देखिये।

इस अध्यायमें सोमादि पदार्थोंके गुण वर्णनसे इस अध्यायके अर्थोंके पूर्व अध्यायके साथ संगति है।

तब अनुक्रमसे देखा जावे तो प्रथमाध्यायकी देवता 'सविता' है (सविता कस्मात् प्रसविता कर्मसाधनानां तेभ्यो धनानां वा यः स हि भवति सवितेति वेति।)

अध्याय २ में प्रजापतिः प्रथमर्षिः। देवता १ मंत्रकी यज्ञ है। तब सविता, यज्ञ। (३) के प्रथम मंत्रमें आंगिरस ऋषिः। देवता अग्नि है। ४ थे मंत्रकी देवता आपः औषधीः। तब सविता यज्ञ अग्नि आपः अग्निः। अध्याय (५) में गौतमर्षिः। देवता विष्णुः। अध्याय (६) में आगस्त्यर्षिः। देवता सविता। विष्णु विद्वांसः, त्वष्टादयः। अध्याय (७) में गौतमर्षिः। देवता प्राणः, आत्मान्ताः। अध्याय (८) में आङ्गिरस ऋषिः।

अध्याय (८) में आङ्गिरस ऋषिः। बृहस्पतिः देवता। मंत्रस्थ दिवु धातुके अर्थकी प्रशंसा नाम विषयका आङ्गिरस ऋषिने निर्णय दिया है। (८)

अध्याय (९) इन्द्राबृहस्पती ऋषिः। देवता सविता मंत्र (१) का तथा (२) रे का ऋषि बृहस्पति इन्द्र, देवता, अध्याय (९) का है—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥

अध्याय (१०) में वरुण ऋषिः। देवता आपः। अध्याय (११) में प्रजापति ऋषिः। सविता देवता है। अध्याय (१२) वत्सप्री। देवता पितरः अग्निर्वा। अध्याय (१३) वत्सारः ऋषिः देवता अग्निः। आदित्यः आपः प्राणाः। अध्याय (१४) में उशनाः ऋषिः। देवता अश्विनौ। मंत्र २४ वें की देवता ऋभवः है। अध्याय (१५) में परमेष्ठी ऋषि.। देवता अग्निः। अध्याय (१६) में परमेष्ठी वा कुत्स। देवता रुद्रः। अध्याय (१७) में मेधातिथिः। देवता मरुतः। मंत्र १७ से ३३ तककी देवता विश्वकर्मा है। (१८) और (१९) वें उन दोनोंका विषय ऊपर दिखा ही दिया है। इसपर संगति विवेचन करना है।

अथदैवत्यार्थ परिचयः।

अध्याय (१८) के मंत्र १८ और ६०-६४-६५ तकका ऋषि विश्वकर्मा तथा देवता अग्निः। ३८ वें मंत्रकी देवता ऋतविद्या विदितवान्। ६२ का विश्वकर्मा अग्निर्वा। अध्याय (१९) प्रजापतिः। सोमो देवता।

इस सोम शब्दके अर्थके साथ साथ इस मंत्रके अर्थसे पूर्व ऋषिवर लिखते हैं कि, अब उन्नीसवें अध्यायका आरम्भ है। इसके प्रथम मंत्रमें मनुष्योंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये क्या करना चाहिये इस विषयका उपदेश है॥ १९॥ वह मंत्र निम्न है।

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना...मधुमता सृजामि ।
सं सोमेन सोमोऽस्यश्विभ्यां सुत्राम्णे पच्यस्व॥

पदार्थः— हे वैद्यराज ! जो तू (सोमः) सोमके सदृश ऐश्वर्ययुक्त (असि) है । उस (त्वा) तुझको ओषधियोंकी विद्यामें (सं-सृजामि) अच्छे प्रकार उत्तम शिक्षायुक्त करता हूं ।

यहां सोमका अर्थ वैद्यके साथ सम्बन्धमें किया है । दूसरे मंत्रका भी (सोमः) प्रेरणा करनेवाला विद्वान् ही किया है । तीसरे मन्त्रका (सोमः) सोमलतादि ओषधियोंका गुण, चौथे मंत्रका (सोमः) सोमादि ओषधिगण है । और पांचवें मंत्रका (सोमः) ओषधियोंका रस । ऐसे यह सोमदेवताके अर्थ किये हैं । छठे मत्रकी देवता इन्द्र है ।

उक्त पांच मंत्रोंमें वैद्य, (१) औषधि, जो तीव्र हों, मधुर हों, स्वादिष्ट हों, रोगोंको (२) विनाश करनेवाली हों और वे किन किन लोगोंके लिये (३) तैयार की जावें उनके नामोंका भी निर्देश किया है । तथा वे नाम ये हैं— (अश्विभ्याम्) विद्यायुक्त स्त्रीपुरुषों सहित (पच्यस्व) पका, (सरस्वत्यै) उत्तम शिक्षित वाणीसे युक्त स्त्रीके अर्थ (४) [पका] (सुत्राम्णे) सबको दुःखसे अच्छे प्रकार बचानेवाले (इन्द्राय) ऐश्वर्ययुक्त पुरुषके लिये (पच्यस्व) पका ॥ १ ॥

इस मंत्रके स्वाध्यायके अनंतर मुख्यतया प्रायः चार हैं । वैद्यकशास्त्र, औषधी, और उस शास्त्रकी परम्परा तथा उनके ज्ञाता वैद्यराज इनका निर्माता प्रथम ईश्वर ही इस मंत्र प्रामाण्यसे मननकर निश्चय होता है । दूसरे ईश्वरसे आरम्भ होके पश्चात् वह वैद्य स्वयं जिसके आत्मामें ईश्वरने, मेधा बुद्धिकी स्थिति और उसको ईश्वरने (सरस्वत्यै) आयुर्वेद विद्या वाणी वाचाके लिये चिदाभास युक्त किया है, वह पुरुष अपने स्वीकृत पूर्व जन्मके संस्कारोंकी प्राबल्यताके गुण कर्म स्वभावानुसार किसी साकार गुण कर्म स्वभावयुक्त गुरु पुरुषको ढूंढेगा यह गुरुपरम्पराके स्वभाविक धर्मोंका प्रलय हो रहा है । जब वह उस ईश्वर सृष्ट वैद्यराजजीको प्राप्त कर लेता है तब वह उस वैद्यकशास्त्र और सोमादि औषधियोंको तथा वे कैसे साधनोंसे सिद्ध की जाती हैं और वे किस किस स्त्रीपुरुषके लिये बनाई जावें इन सब प्रश्नोंका पूर्व वैद्यराज उसको क्रिया व्यापार द्वारा प्रत्यक्ष करा देवे यह वैद्यविद्याका गौरव है कि, वेदमें सब सत्य विद्यायें हैं ।

इस संसारमें उस गुरुपरम्परासे प्रचलित हुई । शिल्प कलायें वा जो भी प्रत्यक्षका विषय है उन सबका आदिमूल परमेश्वर है, उन सबका सनातन गुरु वह प्रभु ही है ।

स एष पूर्वेषां गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

यह रोगशास्त्रमें श्रोत्रियवर्य परमर्षि पतञ्जली महामुनिजीने ईश्वरको (एषः) पदसे स्वात्मामें उस ओ३म् पद वाच्य निराकार केवल ज्ञान आत्माधिकरणमें स्थितिवान् उनके अपने स्वात्मासे अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं कि, हे मुमुक्षु यो● जिज्ञासुवो ! वह जो, यह हमारा अन्तर्यामीश्वर है उसके ओ३म् का जप करनेसे भी परमात्मा दया करता है, योग इच्छुकको इच्छाको अवश्य पूरी करता है । वही हम नूतन और हमारेसे पूर्व अङ्गिरा ऋषि महातपस्वी विज्ञानवान् था और पूर्व सृष्टिमें भी (यथापूर्वम कल्पयत् ।) जैसे अधुना है वैसा ही पूर्व कल्पमें भी मनुष्योंको वेद वैद्यक और नाना विध योगादि आत्मविद्याका प्रकाश भी यह ही है । वही तुम्हारा भी बन सकता जो तुम यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा इन सातोंको शुद्ध सत्यभावमें सिद्ध कर लिया तो तुम्हारी समाधीको भी सिद्ध कर देगा। क्योंकि ईश्वर अंतर्यामी हमारे आत्मामें है । तब हमारा आत्मा ही अचलोऽयं सनातनः उसमें स्थित ममात्मा नित्य है तो उसको अशरीरी होने संयोगवियोग कालावच्छिन्न वस्तु है ।

काल उसको किसी भी वस्तुसे पृथक् देशकालमें पृथक् नहीं कर सकता । न वह अनन्त होनेसे किसी पदार्थसे वह अलग है, भिन्नता केवल सत्, चित्त, आनंद पदोंसे निश्चय हम प्रत्येक आस्तिक स्वयं ही करते हैं कि, प्रकृति, परमाणु (ऐटम्), जीवात्मा और स्वयमीश्वर ये तीन पदार्थ वा वस्तु सत्य हैं तभी ईश्वरकी महत्ता है कि, वह अरूपम स्पर्शमव्यय तथा अरसमें गन्ध है अर्थात् जड तत्त्वसे वह सर्वथा अज्ञेय है उनका ज्ञाता जीवात्मा भी सत्य है । तब 'जन्मादि अस्य यतः' जिस भगवान्ने इस सूर्यादि जगत्को सृजा वा निर्माणका संग्रह किया है वह योग बिना जाना ही नहीं जा सकता है, यह वेदकी सचाई है । अतः वैद्यके

आत्मामें ईश्वर है, ऐसे धारणा हो। न की तत्त्विक विपर्य, विकल्प, अविद्यामय जड कारण परमाणु वा उसीका विकार पाषाण, काष्ठ, लोष्ठ आदिको किसी पुरुष विशेष पुरुषका स्वरूप दिये हुए कार्यमें ईश्वर बुद्धिवालेको महाज्ञान होता है। वह तो तामस, ज्ञान तामस जिसके आत्मा बुद्धिमें ज्ञान तामसी है तो उसके कर्म सात्विकी होना निसर्गतः कर्ता तामस उच्यते तस्यैव च कर्म, धर्म, काम, मोक्ष सब अनर्थक सिद्ध हो जाते हैं ॥ १ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया। तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! त्वत्प्रसादात्परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ९ ॥

जड गुणकर्म स्वभावी लोगोंकी स्वभाविकी मनःप्रवृत्तिमें श्रद्धा विश्वास रखते और ईश्वरको भी अपने भीतर ही जानते होंगे तभी मानते भी हैं। पर वह तर्क योग वेद प्रमाणके विपर्य वा विकल्प मनके धर्मका प्रत्यक्ष है न की आत्मिक विज्ञानसे वह सत्य सिद्ध हो सकती है। पृथिवी ही अनित्य है तब जड मूर्ति नित्य कैसे माने बैठे हैं यह तो मानवजातिमें मानवत्वको अपमान हो रहा है।

आयुर्वेदमें उसको मेधा अपराधी बताया है।' न त्यजति दुर्मेधा बुद्धि.सा पार्थ तामसी ' इति गीता। उस जडधीको सोम रस न देना चाहिये।

विजया मत देतगवारन्। विजया नामक भाङ्ग ये सोमके ७२ भेदोमेंसे तामसी सोम ओषधिमेंसे रजोगुण (१) आधिष्ठानके नीचेमें और तमोगुणके (१) प्रथमसे संयुक्त हो रहा है। वहांके विज्ञानको दर्शानमें सधन विद्वान् भ्रही भी सेवन करते हैं। तस्मादपि के जडधिय ही है। जो जड वस्तुकी स्वन्तःकरणमें अवधारणा करके कहते हैं कि, ईश्वर मेरेमें है। यहां तुम ईश्वरमें होते हुए भी तुम्हारी धारणानुसार देखेंगे तो तुम तुम्हारे ईश्वरमें नहीं हो सकते जो चित्र यहां तार्किक बुद्धिके प्रकोटमें दीखते उसका नाम है पश्यन्ती मध्यमा वाचा है। वहां मेधाका ही स्थान विद्यमान् हो रहा है। उनका जन्म दिव्य नहीं है उससे वे तामसी जनाः ॥ १ ॥

सोम रसपानके अधिकारी वे ही पुरुष स्त्री भी हो सकते हैं जो ब्रह्मचारी योगी। विद्वान् पण्डित लोग परन्तु वैद्यं पानरतम् त्यजेत कहा है पर वह तो कदाचित असुर वचन हो। जो वैद्योंको सोमपानका निषेध करता है क्योंकि बुद्धियोंकी सिद्धि जन्मतः प्रथा विद्या पढके भी पुरुष बुद्धिमान् नहीं बन सकता है उनको सोमरस दो, वह सौत्रामणी यज्ञोपवीत धारी अग्रजा पञ्चजना महाशयः धनको उत्पन्न करनेवाले वेदके शब्द, अर्थ और सम्बन्धोंको कार्यमें समन्वित करके प्रत्यक्ष करानेवाले पंचपितर हैं। पौराणिक पोंगापन्थने यह तो भयंकर अपराध किया है कि जीविन रक्षक सत्यस्य पतयः वेदके रक्षक ब्राह्मणोंके स्थानमें दशद्रविड और पंचगौड ऐसे दो नामोंसे, नर्मदाके उत्तरमें पंचगौड और नर्मदाके दक्षिणमें पंचद्रविड नामसे, भाट लोगोंने स्वशरीरको ब्राह्मण शरीर समझने लग गये हैं। वस्तुतः ये लोग क्षत्रियोंके वंशका रक्षण रामायण, महाभारत तथा स्वकपोल कल्पना और मनोघडन्त भागवत् पुराणकी रक्षा करते उसीकी कथा सुना सुनाके क्षत्रिय वंशको भी पोपोंने इसी भागवत पुराणमें ही फसा लिया हुआ है। वे वेद विरोधी कुतर्की, और वर्णाश्रमोंके सबे उच्छेदक भारतमें ये ही हैं। अस्तु। शिल्पके बिना किसीका पालन पोषण होना सर्वथा असंभव है। पौराणिकपर पितृद्रोहका अपराध लगा हुआ है।

यदि पोपलोग अपनी पोपलीलासे निवृत्त होनेकी सद्भावनाऐ धारण करके वेदको पढें और एक ही वैदिक संस्कार विधिसे समान संस्कार करने लग जावें तो अपराधसे भी विमुक्त हो सकते हैं अन्यथा भारतमें वे विदेशी हैं, विधर्मी हैं। इनको सरकारी नौकरी देना देशको उपद्रवोंका केन्द्र बना देखेंगे ॥ १ ॥

जैसे सज्जन अपनी सज्जनताको नहीं छोडता है वैसे ही दुष्ट अपनी परीक्षा करके भी सज्जनताको नहीं छोड करता है। साक्षरका विपर्य ही राक्षस शब्दवत् सदाचार, दुराचार या भ्रष्टाकारको पसंद करनेवाले ही तो राक्षस बन जाते हैं।

छिठे मंत्रमें इंद्रदेवता भी आया है। सोमरसपानसे मेधाबुद्धि प्राप्त होती है, जिससे जीवात्माकी शेष विज्ञान द्वारा मायामय प्रपंचको प्रयुक्त करनेमें उत्साहित हो जाता है। जो ' अहं भूमिमददामार्याय। ' यह ऋग्वेदके वागांभृणी सूक्तका वचन है। वेदमें ईश्वरने एक देवीको अपनी ज्योतिमय शक्तिको प्राप्त होके अपनी प्रतिनिधानी बना लिया है और अपनी ओरसे जनताको उपदेश किया है कि मैंने एक ही आर्यके लिये यह भूमि भूलोक दिया है।

यहां तर्कसे काम लेना है कि वह आर्य इस विद्यमान् प्रजामें वर्तमान है या उसका अभाव है। हां, दयानन्द ऋषिके पूर्वमें अभाव कहनेको भी सत्य मानते थे परन्तु अब नहीं वह आर्य ऋभुः, विश्वकर्मा, अग्नि, अङ्गिरा, सविता, त्वष्टा और सोम्यासः, अग्निष्वात्ताः आदि पितर हैं और वे जीवितोंके जीवित पितावत् पालक हैं। उन पालकोंको मुर्दावत् पोपोंने विकल्प पक्ष बना लिया है। वह पितर विषयक विपरीत तामसी ज्ञान है। उसमें आसुरी राक्षसी बुद्धिका निश्चय है। जिसमें आत्मस्व प्राप्ति नहीं दीखती वह आर्य नहीं बनाती है। आर्य तो शिल्पी होता है जो दी हुई भूमिके गुणधर्मोंको जानता और उसको स्वयं उपयोगी बनाके औरोंके लिये भी उपयुक्त बनानेवाला है वह आर्यमूल है। शेष भूमिपर अधिकार प्राप्तिके हेतुसे अपना नाम उस आर्यके साथ आर्य ही कहना पडा था यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। इन पितरोंको वैद्यलोग सोमरस पिलाते थे। स्वयं भी पीते थे। तथा इन्द्र ऐश्वर्यसम्पन्न जन ही सोमरसको पीते थे। क्योंकि सोमरस स्निग्ध घृत, दूध, दही उत्तम पदार्थ खानेमें प्रवृत्ति करता है। तस्मात् साहुकार लोग भारतमें अब भी पीते हैं सोमकी चाह मुख्य राजधानी हैं जो प्रथम तो गोदुग्ध प्रथम सोमः। 'द्वितीये यवसुष्यते। तृतीयं दर्भ जो पृथिवीपर सबसे पूर्व उगा है। चौथे भंग विजया और पांचवां सोम गुळवेल गिलोय वा सोमलता सप्त सरोवर काश्मीरमें, मान सरोवर और पंचनद बाहावलपुरके पास सिन्धु नदीमें प्राप्त है। वह भी सोम है जो विज्ञानकी वृद्धि करके दर्शाती है।

इति सोमो देवता स्वाध्यायः ॥ १ ॥

अथेन्द्रो देवता ॥ २ ॥

पदार्थ— (कुविदङ्ग) हे (अङ्ग) मित्र (ये) जो (बर्हिषः) अन्नादिकी प्राप्ति करानेवाले (यवमन्त.) यव आदि धान्ययुक्त किसान लोग [कृषिकसे किसान शब्द बना है] (नम उक्तिम्) अन्नादिकी वृद्धिके लिये उपदेश (यजन्ति) देते हैं। (एषाम्) इनके पदार्थोंका (इहेह) इस संसार और इस व्यवहारमें तू (भोजनानि) पालन वा भोजन आदि (कृणुहि) किया कर (यथा) जैसे ये किसान लोग (यवम्) यवको (चित्) भी (वियूय) भूषादिसे पृथक् कर पूर्वापरकी योग्यतासे (दान्ति) दातीसे काटते हैं वैसे तू इनके विभागसे (कुवित्) बड़ा बल प्राप्त कर जिस (ते) तेरी उत्पत्तिका (एषः) यह (योनिः) कारण है उस (त्वा) तुझको (आश्विभ्याम्) प्रकाश भूमिकी विद्याके लिये (त्वा) तुझको (सरस्वत्यै) कृषि कर्म प्रचार करनेहारी उत्तम वाणीके लिये (त्वा) तुझको (इन्द्राय) शत्रुओंके नाश करनेवाले (सुत्राम्णे) अच्छे रक्षकके लिये (त्वा) तुझको (तेजसे) प्रगल्भताके लिये (त्वा) तुझको (वीर्याय) पराक्रमके लिये (त्वा) तुझको (बलाय) बल सामर्थ्यके लिये जो प्रसन्न करते हैं वा जिनके लिये तू (उपयामगृहीतः) श्रेष्ठ व्यवहारोंसे स्वीकार किया हुआ (असि) है। उनके साथ तू भी विहार कर ॥१॥

यह ऋषिवरका भाषा भाष्य है।

ऋषिवरने इस उपरोक्त मंत्रमें उपमालंकार बताया है। उसका उपमेय इन्द्र है, इस विषयको समझ लेना चाहिये। तब इन्द्रके लिये उपमा देकर करते हैं कि, हे इन्द्र! (अङ्ग) स्वात्मामें ओम्के संक्षिप्त अम् भागका चिंतन सतत करता हुआ ज्ञान गमन कर सदा मुझ ईश्वरको प्राप्त मेरे अंग रोगी प्राकृतिक बन्धनसे मुक्त आत्मन्! तू इस भूमिपर मेरे गुण, कर्म और स्वभावोंका साक्षी पुरुष है अतः तू भी विश्वकर्मा है।

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँऽअसि ॥

यह ऋचा ऋग् और सामवेदमें है। इसमें इन्द्र विश्वदेव विश्वकर्माको महान् बताया है और समासांत पद रचना करनेपर महेन्द्र, देवेन्द्र, महादेव और विश्वकर्मा ये नाम निष्पन्न हो जाते हैं। यह इन्द्र उपमेयके लिये प्रमाण दिया है।

ईश्वरका उस इन्द्र विश्वकर्माको उपदेश है कि हे भाई! तू शिल्पकर्मका व्यवहार करके हल आदि कृषियंत्रोंका निर्माण कर और (ये) जो (बर्हिषः) गृहोंमें बसनेवाले लोग अन्नादि अन्नादिकी प्राप्ति करानेवाले (यवमन्तः) यव आदि धान्ययुक्त किसान लोग तुमको (नमउक्तिम्) अन्नादि देकर नम्र भावसे परिभाषण करनेवाली वाणीका व्यवहार करते हैं (यजति) तुम्हारा पूजन करके, तुम्हारे पास बैठके, और अन्नादिका दान दक्षिणा देते हैं। तू (एषाम्) इनके कमाये यव आदि पदार्थोंका (इहेह) इस

जीवन और इस शिल्पकर्म व्यवहारमें ही स्थिर है। हे तू (भोजनानि) धनका पालन करता हुआ इन ही धान्योंका भोजन (कृणुहि) किया कर वह अमृत भोजन होगा। और (यथा) जैसे ये किसान लोग खेतीके अन्नोंको (यवम्) जौको (चित्) भी (वियूय) तुषादिसे पृथक् कर (अनुपूर्वम्) बाहते, बोते, सींचते, निराई करते और पश्चात् वे उनको दातीसे (दान्ति) काटते हैं वैसे ही तू इनके विभागसे (कुवित्) कुछवत बडा बल प्राप्त कर जिस (ते) तेरी उन्नतिका (एषः) यह सरल, सीधा (योनिः) परस्पर मेल जोलसे कार्य करते रहनेका कारण है उस तुझको (अश्विभ्याम्) प्रकाशमय कर्म भूमिकी विद्याके लिये (त्वा) तुझको (इन्द्रायत्वाय) ऐश्वर्यसे भरपूर शत्रुओंके नाश करनेवाले राजाके लिये (त्वा) तुझको (सरस्वत्यै) कृषि कर्म प्रचार करनेवाली उत्तम वाणीके अक्षर वर्ण विन्यासके लिये (त्वा) तुझको (सुत्राम्णे) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों यज्ञोपवीत धारण करनेवाले अच्छे अच्छे रक्षकके लिये (त्वा) तुझको (बलाय) प्रजा धर्म कर्मकी रक्षार्थ बलके वा पराक्रमके लिये (त्वा) तुझको (तेजसे) प्रगल्भताके लिये (त्वा) तुझको (वीर्याय) पराक्रमके लिये अपनी इच्छाओंको पूरण करके जो तुमको प्रसन्न करते हैं उन सबके कर्मोपयोगी साधनोंका निर्माण करता है ' यस्मात्वां उपयामगृहीतः ' जिससे तू इस इन्द्र पदमें श्रेष्ठ व्यवहारसे स्वीकार किया हुआ (असि) है उसके साथ ही तू भी विहार कर ॥ ६ ॥

इस अलङ्कारके उपमा भागसे उपमेय इन्द्र देवताको भलि प्रकार समझ लिया होगा। इसके आगे मंत्रमें कुछ शब्द वा पद भी ऐसे आये हैं जिनकी तर्कसे इन्द्र देवताका स्पष्टीकरण करनेकी अपेक्षा प्रतीत होती है जो इस प्रकारसे जाने। ऋषिवाने (बर्हिषः) पदका अर्थ ' अन्न आदिकी प्राप्ति करानेवाले ' यहां यद्यपि अन्नादिकी ठोस कार्यकी दृष्टिसे किसान लोग ही हलादिसे क्षेत्रको जानते और अन्नको काटते, उपनते और गृहोंमें लाते हुए दीखते हैं। तथापि उनके साधनोंको विश्वकर्मा वंशज वा उनसे अन्य वर्णस्थ शिल्पविद्याको सीखे हुए शिल्पकार लोग हलादिको बनाके देते हैं तब ही वे किसान (बर्हिषः) धान्योंके उत्पादक बने हुए हैं। इससे विश्वकर्मा स्वयं कृषि कर्म करनेका कष्ट न उठावें किंतु उनपर जो पैतृक भाव पूर्णतासे उपकार किया है उस उपकारसे वे उपकृत होके वे स्वयं प्रसन्न चित्तसे तुमको (नमउक्तिम्-यजन्ति) नम्र भाव होके अन्नादि पदार्थोंको नम्र वाणीको बोलते हुए, देकर पूजन करें, सत्कार करें। तुम इसी खेतमेंसे आये अन्नका ही (इहेह) इस शिल्पकर्म व्यवहार और लग्न, विवाह आदि सामाजिक व्यवहारमें भी (भोजनानि-कृणुहि) भोजन करें। वही अन्न तुम्हारे धर्म, अर्थ, काम और अन्तमें मोक्ष इन चारों फलोंकी प्राप्ति करानेवाला सिद्ध होगा।

भावार्थः— जो राजपुरुष कृषि आदि कर्म करने, राज्यमें, उस कृषिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका देश विदेशोंमें क्रयविक्रय व्यापार करनेवाला वैश्यवर्ण, कर देने, और शिल्पकर्ममें परिश्रम करनेवाले मनुष्योंको प्रीतिसे धर्मानुसार रखते और सत्य विद्या वेदका उपदेश करते हैं वे राजादि सब प्रजा इस संसारमें सौभाग्यवाले होते हैं ॥ ६ ॥ इति इन्द्रः ॥ २ ॥

परीक्षा विभाग :

आ व श्य क सू च ना यें

परीक्षा परिणाम—

ता. २२-२३-२४ सितम्बर १९५६ को ली गई संस्कृतभाषा परीक्षाओंका परीक्षा-परिणाम ता. २० नवम्बर १९५६ को प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षा परिणाम केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेज दिया जायगा और उनके द्वारा निश्चित तिथि एवं समय पर प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षार्थी अपना परीक्षाफल अपने केन्द्रव्यवस्थापकसे प्राप्त करें। परीक्षाफल विषयक पत्रव्यवहार केन्द्रव्यवस्थापक द्वारा होना चाहिये। परीक्षार्थी सीधे पारडी कार्यालयसे इस सम्बन्धमें कोई भी पत्रव्यवहार न करें।

प्रमाणपत्र—

सितम्बर १९५६ को ली गई परीक्षाओंके प्रमाणपत्र ता. ३१ दिसम्बर १९५६ तक सभी केन्द्रोंमें भेज दिये जायेंगे।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

अम्मेम्बलम्

इस केन्द्रमें १९५६ फरवरी महीनेमें प्रचलित संस्कृत परीक्षाओंमें उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंका "प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव समारम्भ" दिनांक २०-९-५६ बृहस्पतिवार अपराह्न तीन बजे अम्मेम्बल सोमनाथ संस्कृत पाठशाला भवनमें श्रीयुत अम्मेम्बल चिदानन्द चूर्य, अध्यक्ष, कुर्नाडु पंचायत बोर्ड- इन सज्जनकी अध्यक्षतामें हुआ। प्रमाणित प्रचारक श्रीमान् तेक्कुञ्जे शंकर भट्टजीने संस्कृतभाषाके महत्वके बारेमें भाषण दिया। श्री. अध्यक्षजी प्रमाणपत्र वितरणके बाद बोले कि- "हम सभी भारतीय देवभाषा संस्कृतका अभ्यास करें और उसकी अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करेंगे।"

केन्द्रव्यवस्थापक श्री. टि. एस. शंकर भटजीके आभार प्रदर्शनके बाद, मंगलगान, जन-गण-मन गानेके साथ सभा समाप्त हुई।

अहमदाबाद केन्द्र

आचार्य श्री. ठाकोरलाल श्रीपतराय ठाकोरकी संमतिसे यहाँकी दीवान बल्लुभाई माध्यमिक शाला (कांकरिया) में इस वर्ष स्वाध्यायमंडल, पारडी द्वारा संचालित अखिल भारतीय संस्कृतभाषा प्रचार समितिकी परीक्षाओंके केन्द्रकी स्थापना की गई। सितंबर ५६ की परीक्षाओंमें इस केन्द्रसे ११७ परीक्षार्थी बैठे। संस्कृतभाषाका व्यवस्थित प्रचार करने तथा परीक्षाओंका कार्य सुचारु रूपसे चलानेके लिए केन्द्रिय कार्यकारिणी बनाई गई। जिसमें निम्नलिखित विद्वानोंका समावेश होता है:—

१- प्रो. रा. ब. आठवले, एम. ए. [अध्यक्ष] संस्कृत विभागाध्यक्ष:—
   एल्. डी. आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद
२- महामहोपाध्याय श्री. राजनाथ पाण्डेय, व्याकरणाचार्य, सा० रत्न
३- श्री. रामेश्वरप्रसाद एस्. पालीवाल, साहित्याचार्य, सा० रत्न
४- प्रो. सी. एल् शास्त्री, एम्. ए., प्राध्या. सेन्टझेवियर्स कॉलेज, अहमदाबाद
५- श्री नरोत्तम शास्त्री, [केन्द्रव्यवस्थापक]

वैदिक व्याख्यान माला
३२ वाँ व्याख्यान

ॐ

वैदिक देवताओंकी व्यवस्था

देवताओंकी व्यवस्था

वेदमंत्रोंमें अग्नि, इन्द्र, मरुत्, वरुण आदि अनेक देवताएं हैं। ये सब देवताएं परस्पर संपूर्णतया पृथक् पृथक् हैं अथवा इनका कोई परस्पर संबंध है, जिस संबंधसे वे परस्पर निगडित हैं, इसका विचार करना है। अग्नि देवताको लेकर हम इसीका विचार करेंगे और देखेंगे कि यह अग्नि देव कहां और किस रूपमें रहता है और इसका अन्यान्य देवताओंके साथ संबंध है वा नहीं, और यदि संबंध है, तो वह किस तरहका संबंध है। इन देवताओंके संबंधमें अथर्ववेदमें ऐसा वर्णन किया है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

अथर्व. १०।७

'भूमि जिसके पांव हैं, और अन्तरिक्ष पेट है, तथा द्युलोकको जिसने अपना मस्तक बनाया उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।'

'सूर्य जिसका नेत्र है, पुनः नया नया होनेवाला चन्द्रमा भी जिसका दूसरा नेत्र है तथा अग्निको जिसने अपना मुख बनाया है उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।' तथा और देखिये—

'यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥ अथर्व १०।७।३४

'वायु जिसके प्राण अपान हैं, अंगिरस जिसके चक्षु हैं, जिसने दिशाओंको अपने श्रोत्र–कान– बनाया उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है।' इस तरह इन मन्त्रोंने जो कहा है वह यह है। इसकी ऐसी तालिका बनती है—

द्यौः	मूर्धा (सिर)
सूर्यः	चक्षु (नेत्र)
अंगिरसः	,, ,,
दिशाः	कान
अन्तरिक्षं	उदर (पेट)
चन्द्रमाः	नेत्र
वायुः	प्राण
अग्निः	वाणी (मुख)
भूमिः	पांव

इस तरह ये नव देवताएं परमात्माके विश्वशरीरके अंग और अवयव हैं, यह इस वर्णनसे स्पष्ट हुआ। ये देवताएं परमात्माके अवयव हैं अतः वे उससे पृथक् नहीं हैं। इस विषयमें और ये मंत्र देखने योग्य हैं—

कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा। कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कंभस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्। कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥

अथर्व. १०।७।२-३

'इसके किस अंगसे अग्नि प्रकाशता है, इसके किस अंगसे वायु बहता है, इसके किस अंगसे चन्द्रमा कालको मापता है? बडे आधारस्तंभ परमात्माके अंगको (अपनी गतिसे) मापता है।'

'इसके किस अंगमें भूमि रहती है, इसके किस अंगमें अन्तरिक्ष रहा है, इसके किस अंगमें द्युलोक स्थित है और द्युलोकसे जो ऊपरका द्यु है वह इस परमात्माके किस अंगमें रहा है।' तथा और देखिये—

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ॥१२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ॥१३॥
अथर्व. १०।७

'जिसमें भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ आश्रय लेकर रहे हैं, जिसमें चन्द्रमा, सूर्य और वायु रहे हैं। जिसके अंगमें सब तैंतीस देव रहे हैं।' तथा—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥
अथर्व० १०।७।२७

'तैंतीस देव जिसके अंगमें गात्ररूप बनकर रहे हैं। इन तैंतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।'

इस तरह तैंतीस देव परमेश्वरके विश्वरूपी शरीरमें अंग और अवयव बनकर रहे हैं। इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माका यह विश्व शरीर है और इस शरीरमें ये तैंतीस देव इसके अपने शरीरके अंग बनकर रहे हैं। ये देव परमात्माके विश्वरूपी शरीरके अंग हैं, गात्र हैं अथवा अवयव हैं। अग्नि उसका मुख है, सूर्य उसका नेत्र है, दिशाएं उसके कान हैं। इस तरह अन्य देव इसके अन्य अवयव हैं। इस रीतिसे अग्निका वर्णन जो वेदमंत्रोंमें है वह परमात्माके मुखका वर्णन है, और किसीके मुखका वर्णन किया तो वह उस पुरुषका ही वर्णन होता है। किसी भी अवयवका वर्णन किया तो उस अवयवी पुरुषका वर्णन होता है। इस कारण अग्निका वर्णन परमात्माके-ज्येष्ठ ब्रह्मके मुखका वर्णन है, अतएव यह वर्णन परमात्माका ही वर्णन है। इसलिये 'अग्नि' का अर्थ 'आग' या केवल Fire कहना अशुद्ध है। यह तो परमात्माके मुखका वर्णन है, अतः यह वर्णन परमात्माका ही वर्णन है।

इस विषयमें और भी विचार होना चाहिये। हम परमात्माके अमृतपुत्र हैं। वेदने 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ १०।१३।१) कहा है और इस तत्त्वको बतानेवाले मन्त्र भी हैं। देखिये—

१ प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
१ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोकमासते ॥१०॥
३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
४ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
५ या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
६ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ॥ ३१ ॥
७ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
अथर्व. ११।८

'प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अविनाश, विनाश, व्यान, उदान, वाणी, मन इन (दस देवों) ने संकल्पको इस शरीरमें लाया है' ॥ ४ ॥

'जो ये दस देव देवोंसे उत्पन्न हुए, वे अपने पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं वे किस लोकमें बैठ रहे हैं?' ॥ १० ॥

'इकट्ठे सेंचनेवाले ऐसे प्रसिद्ध वे देव हैं कि जिन्होंने ये सब संभार तैयार किये हैं। इन्होंने सब मर्त्यको सिंचित करके ये देव इस पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं' ॥ १३ ॥

'इन्होंने हड्डीकी समिधा बनायी, आठ प्रकारके जलोंको टिकाया। वीर्यका घी बनाकर ये देव पुरुष शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं' ॥ २९ ॥

'जो जल थे, जो देवताएं थीं, जो विराट् थी वे सब ब्रह्मके साथ इस शरीरमें प्रविष्ट हुए। इस शरीरमें अधिष्ठाता प्रजापति हुआ है' ॥ ३० ॥

'सूर्य चक्षु हुआ, वायु प्राण हुआ इस तरह देव यहां आकर रहने लगे' ॥ ३१ ॥

'इसलिये ज्ञानी निःसन्देह इस पुरुषको 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानता है। क्योंकि सब देवताएं यहां गौवें गोशालामें रहनेके समान रहती हैं' ॥ ३२ ॥

इस तरह यह वर्णन मनुष्य शरीरका वेदमें किया है, इसमें निम्न स्थानमें लिखि बातें हैं—

१– प्राण, अपान, नेत्र, कान, व्यान, उदान, अविनाश व विनाश ये शरीरमें आयें और इनके कारण मनमें संकल्प विकल्प उठने लगे हैं।

२– दस देवोंने अपने दस पुत्रोंको उत्पन्न किया, यहां इस शरीरमें उन दस पुत्रोंको स्थान दिया और वे अपने स्थानमें विराजते रहे।

३- इस मर्त्यदेहमें देवोंने जीवनका जल सींचन किया और पश्चात् वे इस शरीरमें आकर रहने लगे।

४- इस पुरुषमेधमें हड्डियोंकी समिधाएं बनायीं, रेतकी आहुति बनायी और इस यज्ञमें देव इस शरीररूपी यज्ञशालामें आकर बैठे हैं।

५- जो जल आदि देवताएं हैं, वे सब देव ब्रह्मके साथ शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। शरीरका पालक प्रजापति हुआ है।

६- सूर्य आंख बनकर और वायु प्राण बनकर इस शरीरमें रहने लगे हैं।

७- इसलिये इस बातको जाननेवाला ज्ञानी इस पुरुषको 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानता है, क्योंकि सब देवताएं, गौवें गोशालामें रहनेके समान यहां रहती हैं।

यहां यह बात सिद्ध हुई कि जिस तरह परमात्माके विश्वशरीरमें जैसी सबै ३३ देवताएं हैं उसी तरह जीवात्माके इस मानवी शरीरमें भी उन सब ३३ देवताओंके अंश हैं। परमात्माके विश्वदेहमें प्रत्येक देवता सम्पूर्ण रूपसे है, पर इस मानवदेहमें अंशरूपसे है। पूर्व स्थानमें दिये मन्त्रमें ३३ देवताएं अंगोंके गात्रोंमें रहती हैं ऐसा कहा, वैसी ही जीवात्माके इस शरीरमें भी ३३ देवताएं हैं, परन्तु अंशरूपसे हैं।

यही वर्णन ऐतरेय उपनिषद्में अधिक स्पष्ट रीतिसे कहा गया है—

देवोंके अंशावतार

अग्निः वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्।
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
आदित्यः चक्षुः भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्।
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्।
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्।
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।
मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्।
आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

ऐतरेय उ. १।२।४

१ 'अग्नि वाणीका रूप धारण करके मुखमें प्रविष्ट हुआ।'

२ 'वायु प्राण बनकर नाकमें प्रविष्ट हुआ।'

३ 'सूर्य आंख बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ।'

४ 'दिशाएं श्रोत्र बनकर कानोंमें बसने लगीं।'

५ 'औषधि वनस्पतियां केश बनकर त्वचामें रहने लगीं।'

६ 'चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें रहने लगा।'

७ 'मृत्यु अपान बनकर नाभीमें रहने लगा।'

८ 'जल रेत बनकर शिश्नमें रहने लगा।'

इस तरह अन्यान्य देवताएं अंशरूपसे इस शरीरके अन्यान्य भागोंमें रहने लगीं अर्थात यह शरीर देवताओंका मन्दिर है। यहां जो शरीरका वर्णन है वह देवसंघका वर्णन है। इसलिये कहा है कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।

अथर्व० १०।७।१७

'इस मानव शरीरमें जो ब्रह्मको देखते हैं वे परमेष्ठी प्रजापतिको जान सकते हैं।' क्योंकि इस शरीरमें जैसी व्यवस्था है, वैसी ही विश्वमें व्यवस्था है। तथा जैसी विश्व शरीरमें व्यवस्था है वैसी ही इस शरीरमें व्यवस्था है।

सब बडे देव परमात्माके विश्व शरीरमें हैं और उनके अंशरूप देव ईश्वरके अमृतपुत्रके शरीरमें-मनुष्य शरीरमें- हैं। इन देवोंसे ही यह शरीर बना है। इन देवोंके सिवाय यहां कुछ भी नहीं है। पंचमहाभूत ये पांच देव हैं। ये पंचमहाभूत जैसे विश्व शरीरमें हैं वैसे ही इस मानव शरीर में हैं। दोनोंमें 'बडे देव और अंशरूप छोटे देव' इतना ही फरक है। बडे हुए तो भी वे देव ही हैं और अंश हुए तो भी वे देव ही हैं।

यह शरीर पांचभौतिक है इसका अर्थ ही यह है कि ये पांचों देव एक विशेष व्यवस्थामें यहां निवास कर रहे हैं। यही बात विश्वमें है। बडे छोटेपनको छोड दिया जाय तो दोनों स्थानोंकी व्यवस्था समान ही है।

परमेश्वर मेरा पिता है और उसका मैं पुत्र हूं। पिता-पुत्रके शरीरोंकी व्यवस्था समान ही होती है। एक बडा होता है, और दूसरा छोटा होता है। परंतु पिताके देहमें जैसी ३३ देवताएं होती हैं वैसी ही पुत्रके देहमें होती हैं।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

इस व्यवस्थाको शास्त्रीय परिभाषामें पिण्ड ब्रह्माण्ड व्यवस्था कहते हैं। मनुष्यका शरीर 'पिण्ड' है और विश्वको 'ब्रह्माण्ड' कहा जाता है। पिण्ड छोटा है, ब्रह्माण्ड विशाल

है। पर जो पिण्डमें होता है वही विस्तृत रूपमें ब्रह्माण्डमें होता है।

अग्नि, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि देव जैसे इस ब्रह्माण्डमें हैं वैसी ही रीतिसे वे अंशरूपमें इस शरीरमें भी हैं।

हमने इस समय 'अग्नि' देवताको ब्रह्माण्डमें देखा और पिण्डमें वाणीके रूपसे मुखमें हमने देखा। अर्थात् शरीरमें अग्नि मुखमें वाणीके रूपमें है और विश्वमें अग्नि परमेश्वरका मुख है। इस तरह अग्नि केवल 'आग (Fire)' नहीं है, परंतु वाणी (शब्द) भी अग्नि ही है।

पिण्ड और ब्रह्माण्डके बीचमें एक और ईश्वरका स्वरूप है वह 'मानव समष्टि' है। इसका वर्णन वेदमें इस तरह किया है—

मानव समष्टि

मानव समष्टि भी पुरुषका एक रूप है। इसका वर्णन ऐसा किया है—

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः। ऋ १।५९।७

अग्निका नाम 'वैश्वानर' है और वैश्वानरका अर्थ 'विश्वकृष्टि' है। 'विश्व कृष्टि' का अर्थ सर्व मनुष्य है। 'वैश्वानर' का अर्थ भी सब मनुष्य है। इस विषयमें भाष्यकार ऐसा लिखते हैं—

विश्वकृष्टिः। कृष्टिरिति मनुष्य नाम।
विश्वे सर्वे मनुष्याः यस्य स्वभूताः स तथोक्तः॥
ऋग्वेद सायनभाष्य १।५९।७

वैश्वानरः सर्वनेता। विश्वकृष्टिः विश्वाः
सर्वाः कृष्टीः मनुष्यादिकाः प्रजाः।
ऋग्वेद दयानन्द भाष्य १।५९।७

अर्थात् "वैश्वानर, विश्वकृष्टिः" का अर्थ 'सर्व मानव' है। 'विश्वचर्षणि' का भी वही अर्थ है। सर्व मानव समाजरूपी यह अग्नि है। इसका स्पष्ट भाव इन पदोंका अर्थ देखनेसे मालूम होता है। परंतु अधिक स्पष्ट करनेके लिये वेदमंत्र ही देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋ १।९०।१२; वा. यजु. ३१।११

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
अथर्व. १९।६।६

'इस पुरुषका मुख ब्राह्मण है, बाहू क्षत्रिय हुआ है, ऊरु अथवा इसका मध्यभाग वैश्य है और इसके पांव शूद्र हैं।'

चार वर्णोंका यह राष्ट्र पुरुष है। यह भी परमात्माका एक रूप है। विश्वपुरुषमें अग्नि परमात्माका मुख है, इन्द्र बाहू है, मध्य अन्तरिक्ष है और पांव पृथिवी है। इसकी तालिका ऐसी बनती है—

विश्वपुरुषः	राष्ट्रपुरुषः	व्यक्तिपुरुषः
अग्निः	ब्राह्मणः	मुख
जात-वेदाः	वक्ता	वाणी
इन्द्रः	क्षत्रियः	हाथ
अन्तरिक्षं	वैश्य	मध्य, पेट, ऊरू
पृथिवी	शूद्रः	पांव

यहां यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक देवता विश्वपुरुषमें रहती है, राष्ट्रपुरुषमें उसका स्वरूप भिन्न होता है और वही देवता व्यक्तिमें भी होती है। हमारा प्रचलित विषय अग्नि देवता है। विश्वमें वह अग्नि है, व्यक्तिमें वह वाणीके रूपमें है और राष्ट्रमें वही वक्ता अथवा पंडितके रूपमें है। तीन स्थानोंमें अग्निके ये तीन रूप हैं। अग्निके वर्णनमें हम ये रूप देख सकते हैं।

'ब्राह्मण इसका मुख है, क्षत्रिय बाहू हैं, वैश्य इसका पेट है और शूद्र इसके पांव हैं।' यह वर्णन मानव समाजरूपी जनता जनार्दनका है। यह वेदोंमें वर्णन है। परमेश्वरका मुख अग्नि है, अग्नि वाणीके रूपसे मानव व्यक्तिमें रहा है और ब्राह्मणमें वही वाणी प्रवचन सामर्थ्य रूपसे रहती है। ये तीनों अग्निके रूप तीनों स्थानोंमें रहते हैं।

अधिदैवत, अधिभूत, अध्यात्म

व्यक्तिके अन्दरका जो वर्णन होता है इसको 'अध्यात्म' कहते हैं देखिये—

तदेतत् चतुष्पाद् ब्रह्म वाक् पादः, प्राणः पादः,
चक्षुः पादः, श्रोत्रं पादः इत्यध्यात्मम्॥
छां. उ ३।१८।२

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणः।
छां. उ. १।५।३

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्। छां. उ. ३।१८।१

यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयः।

यश्चायमध्यात्मं रैतसः तेजोमयः।
यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयः तेजोमयः।
यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयः।
यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषः।
यश्चायमध्यात्मं श्रौत्रः।
यश्चायमध्यात्मं मानसः।
यश्चायमध्यात्मं शाब्दः।
यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशः।
यश्चायमध्यात्मं मानुषः। बृह उ २।५।१-१२

ये उपनिषद्वचन देखनेसे प्रतीत होता है कि शरीरमें रहनेवाले वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, रेत, शब्द, मन, हृदय, अर्थात् मनुष्य शरीरके अन्दर दीखनेवाली अवयवोंमें रहने वाली शक्तियां अध्यात्म शक्तियां हैं। शरीरके अन्दर आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियां, प्राण आदि शक्तियां अध्यात्म कहलाती हैं।

प्रस्तुत विचार हम अग्निका कर रहे हैं। यह अग्नि अध्यात्ममें वाणी या शब्द है। अग्निका आध्यात्मिक स्वरूप वक्तृत्व है।

अग्निका आधिदैवत स्वरूप अग्नि, तेज, आदि तेजोगोल हैं। अधिदैवतका रूप देखिये—

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति।
अथाधिदैवतं आकाशो ब्रह्म।
छांदोग्य ३।३।१, ३।१८।१

अधिदैवत पक्षमें सूर्य, आकाश ये देवता आधिदैवतामें आती हैं। अग्नि, विद्युत, सूर्य, नक्षत्र, वायु, चन्द्रमा यह अधिदैवत है।

अथाधिदैवतं अग्निः पादो वायुः पाद
आदित्यः पादः दिशः पाद इत्यधिदैवतं।
छां. उ. ३।१८।२

अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा इत्यादि देवताएं आधिदैवतमें आती हैं। यहांतक अध्यात्मसे व्यक्तिके शरीरकी शक्तियोंका बोध हुआ और अधिदैवतसे विश्वव्यापक अग्नि आदि शक्तियोंका बोध हुआ। अधिभूतसे प्राणीयोंका बोध होता है।

यः सर्वेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं ... इत्याधिभूतम्। बृह. उ. ३।७।१५

'सब प्राणी जिसका शरीर है वह अधिभूत है।' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मिलकर जो होता है वह अधिभूत है। इसीको हम 'जनता जनार्दन' कह रहे हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताके इन तीन क्षेत्रोंमें तीन स्वरूप होते हैं—

अध्यात्म क्षेत्रमें अग्निका स्वरूप शब्द है।
अधिभूत ,, ,, ,, वक्ता है।
अधिदैवत ,, ,, ,, आग है।

अग्निके ये स्वरूप ध्यानमें धारण करनेसे ही अग्निके मंत्रोंका ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। केवल आग या Fire इतना ही इसका अर्थ लेनेसे अग्निका संपूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। वैदिक कल्पना संपूर्ण रीतिसे ध्यानमें आ गई तो ही वेदमंत्रोंका अर्थ साकल्यसे समझमें आ सकता है।

यहां हमने केवल अग्निके रूप तीनों क्षेत्रोंमें कैसे हैं यह देख लिया। इतनेसे ही कार्य नहीं हो सकता। अग्नि, इन्द्र, मरुत् आदि देवताओंके रूप तीनों क्षेत्रोंमें कैसे हैं यह भी समझना चाहिये। यहां हम संक्षेपसे यह बताते हैं—

अधिदैवत	अधिभूत	अध्यात्म
विश्व	राष्ट्र	व्यक्ति
अग्नि	ज्ञानी	वाणी, वक्तृत्व
इन्द्र	सेनापति	बाहुबल
मरुत्	सैनिक	प्राण
अश्विनौ	चिकित्सक	श्वासोच्छ्वास
नास-त्य	आरोग्यरक्षक	नासिकास्थानमें रहनेवाले प्राण
सोम	सोमरसनिष्पादक	उत्साह
ऋभवः	कारीगर	कौशल्य
बृहस्पतिः	ज्ञानी	ज्ञान
पुरुषः (विश्व)	पुरुषः (समाज)	पुरुषः (व्यक्ति)

इस तरह अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिये। इस विषयमें सब विद्वानोंको उचित है कि वे देवताओंके मंत्र देखकर देवताके तीनों क्षेत्रोंमें जो रूप हैं उनकी खोज करें। चारों वेदों, सब ब्राह्मणों और आरण्यकोंमें ३३ देवताओंके तीनों क्षेत्रोंके रूप क्या हैं वे स्पष्टतया किसी भी स्थानपर दिये नहीं हैं। वेदमंत्रोंमें आठ दस देवताओंके

स्थान दिये हैं, वे भी पूर्णतया नहीं, आरण्यकों और उपनिषदोंमें दस बारह देवताओंके स्थान निर्देश हैं, श्रीमद्भागवतमें १५।१६ देवताओंके स्थान निर्देश हैं। पर किसी भी स्थानपर ३३ देवताओंके स्थान निर्देश नहीं हैं। पर देवता ३३ हैं और वे तीन स्थानोंमें ग्यारह ग्यारह हैं ऐसा यजुर्वेदमें कहा है—

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।

वा० यजु २०।११

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामेकादश स्थ। अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ वा० यजु. ७।१९

' देव ३३ हैं और वे भूस्थानमें ११, अन्तरिक्ष स्थानमें ११ और द्युस्थानमें ११ मिलकर तैंतीस हैं। ' इनमें भी एक देव अधिष्ठाता है और दस देव उनके सहकारी हैं। इस तरह यह व्यवस्था है।

ये जो तैंतीस देव हैं, वे ऐसे ही व्यक्तिके शरीरमें हैं और राष्ट्रशरीरमें भी हैं और वहां भी ग्यारह ग्यारहके तीन विभाग हैं। इस विषयकी खोज होनी है। पर पूर्वोक्त तीनों स्थानोंपर ये देवगण हैं इसमें संदेह नहीं है।
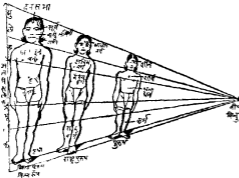
विराट्-राष्ट्र-व्यक्ति-वीर्यबिन्दु

इस चित्रसे स्पष्ट दिखाई देगा कि विराट् पुरुषका अंश राष्ट्र पुरुष है अर्थात् विश्वपुरुषमें यह राष्ट्रपुरुष शामील है। तथा राष्ट्रपुरुषका अंश व्यक्तिपुरुष है और व्यक्ति राष्ट्रपुरुषमें शामील है। इसी तरह व्यक्तिका सार उसका वीर्य बिन्दु है। वीर्य बिन्दुमें पुरुषकी सब शक्तियां संकुचित रूपमें रहती हैं। इसी वीर्य बिंदुसे अन्दरकी सब शक्तियां विकसित होकर पुनः पुरुष बनता है।

इसीको ' वृक्ष-बीज ' न्याय कहते हैं। वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष यह क्रम अनादिकालसे चलता आया है। बीजमें संपूर्ण वृक्ष सकुचित रूपमें समाया है, उसी बीजसे पुनः उन सुप्त शक्तियोंका विकास होकर वैसा ही वृक्ष बनता है।

ऐसा ही वीर्य बिन्दु विकसित होकर मनुष्य बनता है। एक वीर्य बिंदुमें सब शक्तियां रहती हैं। ऐसा ही मनुष्य शरीर यह ईश्वरके विश्वशरीरका एक बिंदु-सार बिन्दु-है। इसीलिये विश्वकी सब देवताएं इसमें अंशरूपसे रहती हैं। परमेश्वरके विश्वदेहमें अग्नि, वायु, सूर्य, आदि प्रत्यक्ष हैं और इस मानवदेहमें अंशरूपसे वे सब देव रहते हैं। विश्वरूपका महान् स्वरूप और मानवदेहका अणुस्वरूप विचारमें न लिया जाय, तो दोनों स्थानोंकी देवताएं एक ही हैं। अग्नि विश्वरूपमें तथा मानवरूपमें एक ही है। इसलिये वेदके मंत्रोंमें अखण्ड अग्नि लिया है, इसमें विश्वरूपका अग्नि आ गया, व्यक्तिरूपमें रहनेवाला अग्नि भी आ गया।

वेदमंत्रकी दृष्टिसे दोनों अग्नि ही हैं, परंतु हमारे दृष्टिबिंदुसे जो इनके रूपमें भासमान अन्तर है वह पूर्वस्थानमें बताया ही है।

यहांतक तत्त्व प्रतिपादनकी दृष्टिसे वर्णन किया, इसमें देवताओंके अर्थके क्षेत्रकी व्याप्ति कैसी है, यह स्पष्ट हुआ है। इस कारण जो अग्नि देवताको केवल ' आग या Fire ' मानते हैं वे मंत्रके रहस्य अर्थका ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये देवताको संपूर्ण रूपसे ध्यानमें धारण करना चाहिये और मंत्रका अर्थ देखना चाहिये। तथा तीनों क्षेत्रोंमें उस अर्थको घटाकर उस अर्थका भाव समझना चाहिये।

अग्निके गुणोंका दर्शन

' अग्नि ' यह पद ' अग्निदेवता ' का बोधक है। इसका अर्थ लौकिक भाषामें आग या Fire ऐसा समझा जाता है। मान लीजिये कि बडी अंधेरी रात्र है, उस समय मार्ग

दीखता नहीं, कहां पत्थर हैं, गढे हैं, कहां विषैले जानवर हैं, कहां भय है इसका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि अंधेरेने सब घेरा है। कुछ भी दीखता नहीं। ऐसी अवस्थामें लकडी जलाकर अग्नि किया तो सब दीखने लगता है। मार्ग कौनसा है, वह कैसा है, अग्निके प्रकाशसे सब दीखने लगता है। इस तरह अग्नि मार्गदर्शक है, मार्ग दिखाकर आगे जानेका सुन्दर मार्ग दिखाता है, आगे अग्रभागमें चलाता है, इसलिये इसका मूल नाम 'अग्र-णी' है। अग्रणीका छोटा रूप 'अग्नि' हुआ है।

निरुक्तकार यास्काचार्य कहते हैं कि " अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति। " (निरुक्त) इस आगको अग्नि क्यों कहते हैं क्योंकि वह 'अग्र-णी' है, आगे मार्गदर्शन करके आगे ले जाता है। अग्रतक चलाता है।

'अग्-र णी' पदसे 'र' कारका लोप होकर 'अग्नि' पद बना है। आगे चलानेवाला इस अर्थका यह पद है। अग्रभागतक संभालकर यह ले चलता है, मार्ग दर्शाकर आगे चलाता है। अन्ततक सहायता करता है। अतएव यह अग्रणी है।

राष्ट्रमें 'अग्रणी' ही राष्ट्रके लोगोंको आगे चलाता है, इस कारण वह अग्निकी ही विभूति है। वक्ता भी अग्रणी है क्योंकि वह अपने वक्तृत्वसे जनताको मार्गदर्शन करता है। अग्नि मुख है और मुख वक्तृत्व करके अनुयायियोंको मार्गदर्शन करता है। इसके उपदेशानुसार चलकर अनुयायी लोग जहां पहुंचना है, वहां पहुंच जाते हैं। यह अग्निके साथ अग्रणीका संबंध देखने योग्य है।

जो अन्धेरेमें अग्नि कार्य करता है वही उपदेशक अपने प्रवचनसे करता है और राष्ट्र नेता वही उपदेश करके अपने अनुयायियोंको इष्ट स्थानपर पहुंचाता है। इन तीनों स्थानोंमें अग्निका संचालन समान ही है। यही 'अग्नि' के अन्दरका रहस्यार्थ है। यह अर्थ बतानेके लिये 'अग्निः कस्मात् अग्रणीः भवति' ऐसा यास्कने कहा है। तीनों स्थानोंमें तीन प्रकारका मार्गदर्शन है, तीनों क्षेत्रोंमें तीन प्रकारका अज्ञान है, अतः तीनों प्रकारका मार्गदर्शन आवश्यक है। अग्निका अर्थ केवल 'आग या Fire' लेनेसे यह गूढ अर्थ मालूम नहीं हो सकता। इसलिये वेदका अर्थ इन तीनों क्षेत्रोंमें देखनेका अध्ययन करना आवश्यक है।

मेरा यह कहना नहीं है कि वेदके प्रत्येक पद, वाक्य और मंत्रके तीन या अधिक अर्थ होते हैं, परंतु जहां होते हैं, वे हमारे अज्ञानके कारण हमसे दूर रहें, यह उचित नहीं है। इस कारण हमें इस आर्ष पद्धतिका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और इस पद्धतिसे विचार करनेका अवलंबन करना चाहिये।

अपां न-पात्

अब और एक उदाहरण देखिये। 'अपां न-पात्' यह पद देखिये। सायणने इसका दो प्रकारसे भाव दिया है—

१ अपां न पातयिता।

२ अद्भ्य ओषधय ओषधिभ्योऽग्निः।

अर्थात् (१) जलोंको न गिरानेवाला, अग्नि जलकी भाप बनाता है और उनको ऊपर ले जाकर मेघमंडलमें रखता है। जलोंको न गिरानेका अग्निका यह गुण है। इसलिये मेघ बनते हैं। सब भूमंडलपर जो जल है उसको ऊपर ले जाकर मेघमंडलमें रखनेका अग्निका कार्य प्रत्यक्ष दीखनेवाला है। (२) दूसरा अर्थ भी 'जलोंका नप्ता, पौत्र अग्नि है।' जलसे वृक्षरूप पुत्र उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे अग्नि उत्पन्न होता है। इस तरह जलके पुत्रका पुत्र अर्थात् नप्ता या पौत्र अग्नि है। सायन इतने अर्थ देता है।

'अपां न-पात्' जलोंको नीचे न गिरानेवाला, जलोंको ऊपर ले जाकर ऊपर रखनेवाला यह इस पदका अर्थ प्रत्यक्ष दीखनेवाला है। यह तो अधिदैवत क्षेत्रका अर्थात् देवताओंके क्षेत्रका अर्थ हुआ।

दैवत क्षेत्रमें जो जल या 'आप्' तत्त्व है वही व्यक्तिके शरीरमें वीर्य होकर रहा है। इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्में कहा है " आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्। " 'जल रेत (वीर्य) बनकर शिश्नमें प्रविष्ट हुआ है।' जो बाह्यविश्वमें आप् तत्त्व है वही शरीरमें वीर्य है।' इसलिये इस अर्थको लेकर 'अपां न-पात्' का अर्थ शरीरमें क्या होता है वह देखते हैं। 'वीर्यको न गिरानेवाला, ब्रह्मचर्य पालन करके ऊर्ध्वरेता बननेवाला।'

इस तरह 'अपां न-पात्' का अर्थ ठीक 'ऊर्ध्व-रेता' है। जलोंको ऊपर खींचनेवाला, वही वीर्यको ऊपर आकर्षित करनेवाला है। योगशास्त्रमें ऊर्ध्वरेता बननेकी जो विधि है वह ऊर्ध्व आकर्षण विधि ही कहलाती है। प्राणा-

यामसें रेचक करनेके समय मनसे वीर्यस्थानकी नसनाडियोंका ऊर्ध्व भागकी ओर आकर्षण करना होता है। इस रीतिसे प्राणायाम तथा इस तरहका ऊर्ध्व आकर्षणका अभ्यास करनेसे मनुष्य ऊर्ध्वरेता बनता है।

'अपां न-पात्' का 'वीर्यको न गिराना' ऊर्ध्व आकर्षण करके ऊपर खींचना यह अर्थ अध्यात्मक्षेत्रमें अर्थात् व्यक्तिके शरीरके क्षेत्रमें होता है। यह अर्थ इस पदका होता है यह सत्य है। यदि 'जल वीर्य बनकर शरीरके मध्यमें रहा है' यह ऐतरेय उपनिषद्का कथन सत्य है और यदि अथर्ववेद मंत्रका कथन 'रेतका घी बनाकर सब देव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं' यह कथन सत्य है, तो इस अपां-न पात का यह अर्थ सरल है इसमें संदेह नहीं है। शरीरमें अग्नि उष्णताके रूपमें है, जाठर अग्नि अन्नका पाचन करता है। इस तरह अनेक स्थानोंमें अग्निके अनेक रूप हैं। यदि हम इन अग्नियोंको अपने अधीन करके रखेंगे तो प्राणायामादि यौगिक साधनोंसे वीर्यका अधःपतन न होकर ऊर्ध्व स्थानमें आकर्षण होकर साधक ऊर्ध्वरेता बन सकता है और इससे सौ सवासौ वर्षोंतक साधक स्वस्थ, नीरोग, कार्यक्षम और प्रभावशाली रह सकता है।

योगशास्त्रमें अनेक साधन इस सिद्धिके लिये लिखे हैं। और इनको करनेवाले भी अनेक लोग आज हैं। 'अपां नपात्' का अर्थ तरुणोंको जीवन व्यवहार आनन्दमय और तेजस्वी बनानेमें सहायक होगा और लाभदायक भी होगा इसमें संदेह नहीं है।

३३ देव शरीरमें हैं

पूर्व स्थानमें दिये अथर्ववेदके मंत्रमें कहा है कि 'रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषं आविशन्' वीर्य बिन्दुमें सब देवताओंके अंश रहते हैं और उस वीर्य बिन्दुके विकसित होकर शरीर बननेसे उस शरीरमें ३३ देवताओंके अंश विकसित होते हैं।

ये ३३ देवताओंके शरीरमें स्थान जानने चाहिये। सिरसे लेकर गुदातक पृष्ठवंशमें ३३ मांस ग्रंथियां हैं। गुदासे प्रथमकी ७।८ सख्त हड्डी जैसी बनी हैं, पर उसके ऊपरकी ग्रंथी अच्छी अवस्थामें हैं। योगके चक्र नामसे ये प्रसिद्ध, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार ये आठ चक्र इस समय भी योगी लोग ध्यानधारणाके लिये उपयोगमें लाते हैं। वेदमें कहा है—

> अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
> अस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।
> तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
> तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
>
> अथर्व १०।२।३१।३२

'देवोंकी पुरी अयोध्या आठ चक्रोंवाली और नौ द्वारोंवाली है, इसमें सुनहरी कोश हृदयकमल है जो तेजसे घिरा हुआ स्वर्ग ही है। इस तीन आरोंवाले और तीन आधारवाले सुनहरी कोशमें जो आत्मवान् यक्ष-पूज्य देव है, उसको निःसंदेह ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।'

अष्टचक्रा नगरी

इस मंत्रमें आठ चक्रों और नौ द्वारोंवाली ब्रह्म नगरी अयोध्या नामसे देवोंकी नगरीका वर्णन है। आठ चक्र ऊपर बताये हैं और दो आंख, दो कान, दो नाक, मुख, शिश्न और गुदा ये नौ द्वार हैं। द्वारावती– या द्वारका यही नगरी है। यहां ३३ देव रहते हैं इसलिये इसको 'देवानां पूः' देवोंकी नगरी कहा है। देवताएं इसमें रहती हैं। ३३ देवताएं विश्वान्तर्गत देवताओंके अंश यहां रहते हैं। ये देवताओंके अंश विदृति द्वारसे अन्दर प्रवेश करते हैं और मस्तकमेंसे मस्तिष्क द्वारा पृष्ठवंशमें आकर यथाक्रम निवास करते हैं।
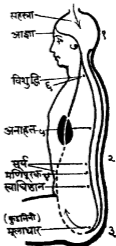
योगशास्त्रमें यद्यपि आठ ग्रंथियोंका वर्णन है और ऊपरके मंत्रमें भी आठ चक्रोंका वर्णन है, परंतु पृष्ठवंशमें ३३ चक्र हैं। पृष्ठवंशके तीन भाग हैं ऐसी कल्पना कीजिये। प्रति

विभागमें ग्यारह, ग्यारह देवताएं हैं । इस तरह ३३ देवताएं शरीरमें कार्य करती हैं। पृष्ठवंशमें रहकर शरीरके अपने अपने विभागमें इनका कार्य होता रहता है। वेदमें तथा योगग्रंथोंमें इनको चक्र कहा है। इस प्रत्येक चक्रमें अनेक मज्जातंतु आये हैं और इनके द्वारा शरीरभर ये चक्र कार्य करते हैं । यदि किसी ग्रंथीपर असाधारण दबाव आ जाय तो वह ग्रंथी कार्य नहीं करती और उस भागको लकवा हुआ ऐसा कहा जाता है ।

इन्द्र-ग्रंथी

मस्तकमें 'इन्द्र ग्रंथी' है। इसको अंग्रेजीमें 'पीनियल ग्लांड' कहते हैं। इसका वर्णन 'सा इन्द्रयोनिः' ऐसा उपनिषदोंमें किया है। इससे जीवनरसका स्राव होता है । योगसाधनमें इसपर मन-संयम करनेसे जीवनरसका जो स्राव होता है, उसको अधिक प्रमाणमें प्राप्त करनेसे मनुष्य दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है। ऐसा फल लिखा है और वह सत्य है ।

सूर्यचक्रमें मनका संयम करनेसे वह्नि जाग्रती होती है जिससे पाचन शक्ति बढती है, अनाहत चक्रपर संयम करनेसे हृदयकी शक्ति बढती है। इस तरह इन चक्रोंपर संयम करनेसे इनमें शक्तिकी उत्तेजना होती है जिससे साधकको लाभ होते हैं ।

देवताओंका शरीरमें प्रवेश

जो ३३ शक्तियां बाहरके विश्वमें हैं, उनके ही अंश शरीरमें पूर्वोक्त स्थानोंमें रहे हैं। इनको 'पिता और पुत्र' कहा है। विश्वके बडे देव पिता हैं और शरीरके अन्दर रहनेवाले उनके पुत्र हैं, उनके अंश हैं ।

इन अंशोंपर अर्थात् जहां जो अंश पृष्ठवंशमें रहता है उसमें उस देवतांशपर मन एकाग्र करनेसे उस देवता ग्रंथीमें बाह्य देवताकी शक्तिका संचार होता है और उस ग्रंथीकी शक्ति बढती है ।

जिस तरह प्राणायामसे वायुकी शक्ति प्राप्त होकर प्राणका बल बढता जाता है, सूर्यपर टकटकी थोडी थोडी करनेसे नेत्र शक्ति बढती है। इसी तरह अन्यान्य शरीरके केन्द्रोंकी शक्तियां भी बढायी जा सकती हैं। उन उन चक्रोंमें मनः संयम तथा वहांकी देवताका स्मरण वा ध्यान करनेसे वहांकी शक्ति बढती है। यह बात काल्पनिक नहीं है। प्रत्यक्ष प्रयोगसे यह साक्षात् प्रत्यक्ष होनेवाला ज्ञान है ।

इस कारण शरीरमें जो ३३ देवताएं हैं, उनका संबंध बाहरकी ३३ देवताओंके साथ है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। अन्न, जल, वायु, अग्निके संबंध तो हरएक जान सकता है। इसी तरह अन्यान्य देवताओंके संबंध भी अनुभव किये जा सकते हैं ।

शरीरमें देवताओंका स्थान

मनुष्योंके संघ होना स्वाभाविक ही है। और प्रत्येक संघमें उस उस देवता विशेषकी शक्ति विशेष प्रमाणसे विकसित हुई होती है। इस कारण वहां उस देवताकी विभूति है ऐसा माना गया है वह योग्य ही है।

अस्तु। इस तरह व्यक्तिमें, समाज या राष्ट्रमें तथा विश्वमें ये देवताएं हैं, अतः उनका अस्तित्व वहां देखना योग्य है और मंत्रोंके वर्णन उन स्थानोंमें घटाकर देखना भी योग्य है। यह ज्ञान आज हमें अपरिचितसा लगता होगा, अथवा खींचा तानीका भी दीखता होगा, परंतु हमारे अज्ञानके कारण ही यह ऐसा बना है। इस कारण हमें मननपूर्वक यह ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये।

अतः यह ३३ देवताओंका शरीरमें निवास और उनके पितारूपी बाह्यदेवोंका उनसे संबंध यह कोई ख्याली कल्पना नहीं है। ध्यानधारणासे यह परस्पर संबंध प्रत्यक्ष होने वाला है और इस ज्ञानसे मनुष्य अपनी स्वास्थ्य बल तथा दीर्घायु भी प्राप्त कर सकता है।

यदि यह ध्यानमें आगया तो अधिभूत क्षेत्रमें भी वे ही देवताएं हैं, यह ध्यानमें आना असंभव नहीं है। जो व्यक्तिमें है, वही समुदायमें है, क्योंकि व्यक्तियोंका ही समुदाय बनता है।

इसलिये (१) ज्ञानप्रधान समुदाय, (२) बल या शौर्यवीर्य प्रधान समुदाय, (३) कृषिकर्म या क्रयविक्रय करनेवाला समुदाय और (४) कर्मप्रधान समुदाय ऐसे जो जनसंघके चार वर्ग माने गये हैं, वे प्रत्येक मनुष्यमें वे गुण हैं, इसलिये गुणप्रधान

यहांतक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे विचार हुआ, अब हम मन्त्रोंके अभ्यास इस दृष्टिसे कैसे करने चाहिये, इसका विचार करेंगे। प्रथम कुछ विशेष मंत्र देखिये—

पहिला मानव अग्नि

त्वां अग्ने प्रथमं आयुं आयवे।
देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम्॥ ऋ. १।३१।११

'हे अग्ने! (त्वां प्रथमं आयुं) तुझ पहिले मानवको (आयवे) मनुष्यमात्रके लिये (नहुषस्य विश्पतिं) मानवी प्रजाके पालन करनेके लिये (देवाः अकृण्वन्) देवोंने बनाया।' पहिला मनुष्य जो जन्मा वह अग्नि ही था। इसी विषयमें और भी देखिये—

त्वं अग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषि ··अभवः।
ऋ. १।३१।१

'हे अग्ने ! तू पहिला अंगिरा ऋषि हुआ था।' तथा—

त्वं अग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविः। ऋ. १।३१।२

'हे अग्ने ! तू अंगिरसोंमें पहिला कवि हुआ है।'

पहिला मानव, पहिला अंगिरा ऋषि यह अग्नि था। यह एक कल्पना वेदमंत्रोंमें है। यह यहां प्रथम देखने योग्य है। तथा और—

अग्निं धीषु प्रथमम्। ऋ. ८।७१।१२

'बुद्धियोंमें पहिला अग्नि' यह अग्नि आत्मा ही है। इसीके संबंधमें अब यह मन्त्र देखिये—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता। ऋ. ६।१।१

'हे अग्ने ! तू पहिला मनोता है' अर्थात् जिसका मन इसमें ओतप्रोत हुआ है ऐसा है। यह आत्माग्नि ही है आत्माके आधारसे ही मन रहता है। तथा—

अयं होता प्रथमः पश्यतेमं।

इदं ज्योति अमृतं मर्त्येषु॥ ऋ. ६।९।४

'यह पहिला होता है, इसको देखो। यह मर्त्योंमें अमर ज्योति है।' मर्त्य शरीरमें अमर ज्योति आत्मा ही है।

धीषु प्रथमं अग्निं। ऋ ८।७१।१२

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता। ऋ ६।१।१

इदं ज्योतिः अमृतं मर्त्येषु॥ ६।९।४

इन तीन मंत्रोंमें जो वर्णन है वह अमर आत्माका ही वर्णन स्पष्ट है। अग्निको ही ब्रह्म या परमात्मा वेदमें माना है। देखिये—

तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वा. यजु ३२।१

'वह ब्रह्म ही अग्नि है, वह ब्रह्म ही यह आदित्य है, वही ब्रह्म वायु है, वही ब्रह्म चन्द्रमा है, वह ब्रह्म ही शुक्र है, वह ब्रह्म ही ज्ञान है, वह ब्रह्म ही जल है, वह परमात्मा ही प्रजापति है।'

इस तरह वेदने स्पष्ट कहा है कि अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, जल आदि सब देव ब्रह्म ही हैं। अर्थात् ब्रह्म ही इन रूपोंमें हमारे सामने और हमारे चारों बाजूमें है। यह विश्वरूप ब्रह्मका, परमात्माका ही रूप है। गीतामें, उपनिषदोंमें, वेदोंमें जो विश्वरूप कहा है वह यही रूप है।

यही विश्वरूप परमात्माका, परब्रह्मका सब रूप है। उपनिषदोंमें कहा है कि—

सर्वं खलु इदं ब्रह्म। छां० उप० ३।१४।१

'निःसंदेह यह सब ब्रह्म है।' वेदमन्त्रमें भी यही कहा है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋग्वेद ६।४७।१८

'इन्द्र अपनी अनन्त शक्तियोंसे बहुरूप बना है।' इन्द्रने अपनी शक्तियोंसे अग्नि, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि अनन्तरूप धारण किये हैं। यह सब वर्णन अग्नि, वायु आदि देवताओंको ब्रह्मका रूप कहता है। इसी तरह व्यक्ति, राष्ट्र, विश्व भी परब्रह्मके ही रूप हैं। इसीमें प्रकृतिका जड भाग, आत्माका चेतनरूप, आत्माका अंशरूपी जीवभाव, और परमात्माका ब्रह्मभाव समाविष्ट हुआ है।

त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। श्वेत० उ०

'प्रकृति, जीव और परमात्मा जिस समय इकट्ठे मिलते हैं, उस मीलनको ब्रह्म कहते है।' और यह मीलन ही सदा शाश्वत है।

इससे स्पष्ट होता है कि अग्नि ब्रह्म है केवल आग Fire ही नहीं है। युरोपीयन जिस समय Fire बोलते हैं उस समय उनके सामने केवल आग ही आती है, परंतु वैदिक ऋषि जिस समय 'अग्नि' कहते हैं, उस समय उनके सामने वह परब्रह्म परमात्माका रूप होता है और इस रूपमें व्यक्तिमें वक्तृत्व, राष्ट्रमें ज्ञानी और विश्वमें तैजस पदार्थ तथा जीवात्मा आदि तैजस तत्त्वका विश्वरूप आता है। यह दृष्टिका बिंदु ही विभिन्न है। इसलिये वैदिक शब्द जिस समय युरोपीयन देखते हैं उस समय उनके सामने स्थूल वस्तु खडी होती है, परंतु वे ही पद वैदिक परंपरासे देखनेवालेके सामने आते हैं, उस समय 'वे ही पद अद्भुत दिव्य भाव दिखानेवाले प्रतीत होते हैं।' इसके कुछ उदाहरण यहां दिखाते हैं।

अग्निमंत्रोंको देखकर युरोपीयन कहते हैं कि 'आर्य लोग आगकी पूजा करते थे।' उनको अग्निपदमें आगके विना दूसरा कुछ भी दीखता नहीं है। परंतु वेदका कहना इस विषयमें स्पष्ट है—

इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुः

अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः ॥ ऋ. १।१६४।४६

' एक ही सत् वस्तु है, ज्ञानी लोग उसी एक सद्वस्तुका अनेक प्रकारोंसे वर्णन करते हैं। वे उसी एक सत्य वस्तुको-उसी एक ब्रह्मको अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य सुपर्ण, गुरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं। ' अर्थात् वेदमें जो अग्नि, वायु, इन्द्र, आदि देव हैं वे मुख्यतः उस एक सद्वस्तु-ब्रह्म-के ही नाम हैं और इन नामोंसे उसी एक सद्वस्तुका वर्णन होता है। यह एक मुख्य विषय है। युरोपीयनोंकी दृष्टिसे और ऋषियोंकी दृष्टिमें यह फरक है यह सबसे प्रथम ध्यानमें रखना चाहिये।

हम अब अग्निके जो विशेषण आये हैं, जो इस अग्निका वर्णन यहां इन मंत्रोंमें कर रहे हैं, उनको देखेंगे और वे आगमें सार्थ होते हैं, या इनसे कुछ और भी बोध मिलता है इसका विचार करेंगे।

अपां न-पात्— व्यक्तिमें इसका अर्थ रेतको न गिरानेवाला, जीवनको न गिरानेवाला, ब्रह्मचर्य पालनका अनुष्ठान करनेवाला। अग्निके विषयमें इसका अर्थ जलोंको न गिरानेवाला, अर्थात् जलोंको ऊपर ही ऊपर मेघमण्डलमें धारण करनेवाला है। यहां ऊपर उठानेवाला, गिरावट न करनेवाला यह अर्थ है जो बोधप्रद है। राष्ट्रके विषयमें इसीका अर्थ ' शत्रुपराभवकी शक्ति (सह.), सामर्थ्य (ओजः), सुख, क्षात्रबल, यश, अन्न, तेज, वीर्य, जीवन, कर्म आदिमें गिरावट न करनेवाला। राष्ट्रमें ये गुण बढने ही चाहिये। निघण्टुमें (२।१२) ये अर्थ दिये हैं।

१ सहसः सूनवे अग्नये नव्यसीं तव्यसीं वाचः धीतिं मतिं प्रभरे— बलको प्रसवनेवाले, अग्रणीके लिये मैं नवीन बलवर्धक वाणीकी धारणावती मतिको-बुद्धिको-विशेष रीतिसे भर देता हूं।

यहां ' सहसः सूनुः ' पद महत्वका है। ' बलका पुत्र ' ऐसा इसका सरल अर्थ है। ' सहः ' का अर्थ ' बल, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, शत्रुका आक्रमण होनेपर अपने स्थानपर स्थिर रहनेका सामर्थ्य '। और ' सूनु ' का अर्थ ' पुत्र ' है, इसका तात्पर्य ' प्रसव करनेवाला, ऐश्वर्य बढानेवाला है। ' षु प्रसव-ऐश्वर्ययोः ' यह धातु इसमें है। अर्थात् ' बलका प्रसव करनेवाला और बलका ऐश्वर्य बढानेवाला ' यह इसका भावार्थ हुआ।

जो अग्रणी अपने अनुयायियोंका सामर्थ्य बढाता है और उनका ऐश्वर्य उत्कर्ष युक्त करता है वह प्रशंसा करने योग्य है। ऐसे अग्रणीके लिये हम नवीन सामर्थ्यको बढानेवाला, धारणा शक्ति बढानेवाला स्तोत्र गाते हैं।

यहां नवीन रचना करना और सामर्थ्य बढानेवाली रचना करना ऐसा कहा है। जो लेख लिखते हैं उनको उचित है कि वे अपनी लेखन रचनामें नवीनता रखें और सामर्थ्य बढानेवाली वह रचना हो। सामर्थ्य घटानेवाली, और किसी दूसरेसे ली हुई न हो। अपनी बुद्धिसे, अपने मननसे नयी की हुई अपनी रचना हो और जो उस काव्यका गान करे उसका सामर्थ्य उससे बढे ऐसी रचना हो।

वेदमंत्रमें जो वर्णन आता है वह इस तरह अपने जीवनमें ढालना चाहिये।

२ अपां-न-पात् ऋत्वियः प्रियः होता वसुभिः सह पृथिव्यां न्यसीदत्— जीवनको न गिरानेवाला, ऋतुके अनुसार कर्म करनेवाला, प्रिय, ज्ञानियोंको बुलानेवाला वसुओंके साथ पृथिवीपर बैठे।

' वसु ' का अर्थ ' बसानेवाला, पृथ्वीपरका निवास सुखमय करनेवाला ' है। इस भूमिपरका मानवोंका निवास जिनसे सुखमय हो सकता है वे वसु हैं। ये वसु आठ हैं। इनके साथ वह नेता यहां रहे।

' *ऋत्वियः* ' ऋतुके अनुकूल आचरण करनेवाला, वसंत, ग्रीष्म ये जैसे ऋतु हैं वैसे ही बाल्य, कौमार, तारुण्य, वृद्धत्व, जरा ये भी मनुष्यके जीवनमें ऋतु हैं। इन ऋतुओंमें जैसा आचरण करना चाहिये वैसा आचरण जो करता है वह ' ऋत्वियः ' कहलाता है।

' **होता** ' उसको कहते हैं कि जो ' आह्वाता ' अर्थात् दिव्यजनोंको बुलाता और अपने साथ रखता है। सदा अपने साथ दिव्यजनोंको रखनेवाला। जिसके साथ सदा दिव्यजन रहते हैं।

' ऋतुके अनुसार आचरण करनेवाला, विबुधोंको अपने साथ रखनेवाला अत एव सबको प्रिय नेता अनेक धनोंको साथ रखकर यहां रहे। ' कैसा उत्तम उपदेशपर यह अर्थ है।

न यो वराय मरुतां इव स्वनः
सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति
योधो न शत्रून् स वनान्यृञ्जते ॥ ऋ. १।१४३।५

'(य. वराय न) जो निवारण करनेके लिये अशक्य है जैसा (मरुतां स्वनः) वायुओंका शब्द, (सृष्टा सेना इव) शत्रुपर भेजी सेना, (यथा दिव्या अशनि) जैसी आकाशकी बिजली। (योधः शत्रून् न) योद्धा जैसा शत्रुओंका नाश करता है (स वनानि ऋञ्जते) वह अग्नि वनोंको जलाता है, खाता है। (अग्नि. तिगितैः अत्ति भर्वति) अग्नि तीक्ष्ण दांतोंसे शत्रुको खाता है और शत्रुका नाश करता है'॥५॥

इस मंत्रमें 'शत्रुके द्वारा निवारण करनेके लिये अशक्य' ऐसे सामर्थ्यका वर्णन है और इसके लिये आदर्श ये बताये हैं—

१ मरुतां स्वनः— झंझावातका प्रचण्ड शब्द ऐसा है कि जिसको रोकना अशक्य है।

२ सृष्टा सेना इव— शत्रुपर हमला करनेके लिये सुसज्ज होकर जानेवाली सेना रोकनेके लिये अशक्य होती है। अपने राष्ट्रकी सेना ऐसी चाहिये।

३ यथा दिव्या अशनिः— जैसी आकाशकी बिजली रोकी नहीं जा सकती।

४ योधः शत्रून् न— जैसा योद्धा शत्रुओंका नाश करता है उस समय रोका नहीं जा सकता।

इसी तरह (५) अग्निः वनानि ऋञ्जते— अग्नि वनोंको जलाता है, अग्निः तिगितैः अत्ति भर्वति— अग्नि अपने तीक्ष्ण दांतोंसे वनोंको खाता है और उनका नाश करता है।

इसमें 'सृष्टा सेना इव' तथा 'योधः शत्रून् न' ये दो वाक्य राष्ट्रकी सैन्यव्यवस्था कैसी होनी चाहिये इसका उपदेश दे रहे हैं। जैसी आकाशकी विद्युत् जिस पर गिरती है, उसका नाश करती है, वैसी हमारी सेना होनी चाहिये। जिसपर हमला करे वह शत्रु पूर्णतया विनष्ट हो जाय। जो उदाहरण दिये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता होता है। 'अग्नि' का अर्थ 'अग्रणी' है और वह अपने अनुयायियोंको ऐसा तैयार करे यह भाव इस मंत्रमें है। अग्नि और लकडीका शत्रुत्व है। दोनों एक स्थानपर प्रेमसे तथा मित्रभावसे नहीं रह सकते। दोनों एक स्थानपर आ गये तो अग्नि लकडीको खा ही जायगा। इसलिये यह वर्णन शत्रुके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये यह बतानेके लिये बडा उपदेश दे रहा है। अग्निका जैसा बर्ताव लकडीके साथ होता है, वैसा हमारा बर्ताव शत्रुके साथ होना चाहिये। इतना वीर्य, पौरुष और सामर्थ्य अपने वीरोंमें रहना चाहिये।

अप्रयुच्छन् न प्रयुच्छद्भिरग्ने
शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टे
ऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः ॥ ऋ. १।१४३।८

१ अप्रयुच्छन् अप्रयुच्छद्भिः शिवेभिः शग्मैः पायुभिः नः पाहि— स्वय प्रमाद न करता हुआ तू प्रमादरहित, कल्याणकारक, सुखकारी, संरक्षणके साधनोंसे हमारा सरक्षण कर। राष्ट्रीय संरक्षण करनेके साधन उत्तमसे उत्तम चाहिये, उनमें प्रमाद नहीं होने चाहिये, उन साधनोंमें न्यूनता नहीं रहनी चाहिये। तथा उन साधनोंको- उन शस्त्रास्त्रोंके बर्तनेवाले वीर भी प्रमाद न करनेवाले होने चाहिये। तभी उत्तम संरक्षण हो सकता है।

१ अदब्धेभिः अदृपितेभिः अनिमिषद्भिः नः जाः परि पाहि— न दबनेवाले, न पराभूत होनेवाले और आलस्य न करनेवाले साधनोंसे हमारे पुत्रपौत्रोंका सरक्षण कर। यहां भी राष्ट्रका संरक्षण करनेवाले वीर कैसे चाहिये और संरक्षणके साधन कैसे चाहिये इसका उत्तम वर्णन है। न वीर शत्रुके दबावके नीचे दबें, न शत्रुसे पराभूत हों और आलस्यमें समय भी व्यतीत न करें। यह राष्ट्रसंरक्षणका आदर्श इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है।

शत्रु लकडियोंके समान है और हमारे राष्ट्रके वीर अग्निके समान हैं। इतना समझनेसे सब भाव समझमें आ जायगा। अग्निके वर्णनमें ऐसे गूढ अर्थ भरे हैं। अग्निका वर्णन केवल आगका वर्णन करनेके लिये ही नहीं है, परंतु मानवोंको श्रेष्ठ बननेके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता है उन गुणोंको इस तरह अग्निके वर्णनमें बताया है।

सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदीदितिं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥
ऋ. ३।९।१

'(सखायः मर्तासः) एक कार्यमें लगे मनुष्य हम सब (अर्वा न-पातं) जीवनको अधःपतित न करनेवाले (सुभग सुदीदितिं) उत्तम भाग्यवान् और उत्तम तेजस्वी (सुप्रतूर्तिं अनेहसं) उत्तम तारक और निष्पाप (त्वा देवं) तुझ देवको (ऊतये ववृमहे) हमारे रक्षणके लिये हम स्वीकारते हैं।'

अपने रक्षण करनेके लिये जिसको नियुक्त करना है उसमें अधःपतित जीवन न हो, तेजस्विता हो, तारण करनेका सामर्थ्य हो, उसमें पाप न हो। ऐसे संरक्षकको अपनी सुरक्षाके लिये नियुक्त किया जावे। कितना महत्त्वपूर्ण यह उपदेश है। जिसका जीवन अधःपतित हो, जो दीन हो, निस्तेज हो, जिसमें तारण करनेका सामर्थ्य न हो, जो पापी हो, ऐसे नीचको अगर संरक्षणके कार्यमें नियुक्त किया जाय तो वही मारक सिद्ध होगा। इस दृष्टिसे यह मंत्र कितना उत्तम बोध दे रहा है, देखिये। इस मंत्रका यह उपदेश सरल है और इसमें खींचातानी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अग्निके गुण ऐसी शैलीसे वर्णन किये हैं कि उससे अग्निका भी वर्णन होता है और साथ साथ राष्ट्रके रक्षकोंको भी उपदेश मिलता है।

> अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भि मनुष्येभिरग्निः॥ ऋ. ३।२९।२

(गर्भिणीषु सुधितः गर्भ इव) गर्भ धारण करनेवाली स्त्रियोंमें जैसा गर्भ उत्तम रीतिसे धारण किया होता है, उस प्रकार (जातवेदाः अरण्योः निहितः) जातवेद अग्नि दो अरणियोंमें रहता है। यह अग्नि (जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः) जाग्रत रहनेवाले अन्न पास रखनेवाले मनुष्योंको (दिवे दिवे ईड्यः) प्रतिदिन स्तुति करने योग्य है।

यहां प्रथम गर्भिणीयोंमें सुव्यवस्थित रहे गर्भके समान अरणियोंमें अग्नि रहा है ऐसा कहा है। दो अरणियां स्त्री और पुरुषकी प्रतीक हैं और उनका पुत्र अग्नि है। दो अरणियां लकडीकी होती हैं, उनसे अति तेजस्वी और शौर्य, वीर्य और तेज संपन्न अग्निरूपी पुत्र होता है। इस तरह माता और पिताकी यह महत्वाकांक्षा हो कि हमारा पुत्र भी ऐसा तेजस्वी, वीर्यवान्, प्रकाशमान और शत्रुको जीतनेवाला हो। मातापिताके सन्मुख यह आदर्श यहां रखा है। लकडियां- दोनों अरणियां-निस्तेज होती हैं, प्रकाशरहित होती हैं, परंतु वे तेजस्वी और वीर्यवान परम पूजनीय पुत्रको उत्पन्न करती हैं। स्त्रीपुरुष इस तरह गर्भका पालन करें और ऐसे उत्तम पुत्रको उत्पन्न करें। यह कितना उत्तम उपदेश है ?

जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः अग्निः दिवे दिवे ईड्यः— जागृत रहकर अन्न पास रखनेवाले मनुष्योंने यह अग्नि-यह पुत्र-प्रतिदिन अन्नके साथ प्रशंसा करने योग्य है। मातापिता प्रतिदिन पुत्रकी सेवा, शुश्रूषा करनेके लिये जागृत रहें, प्रतिदिन योग्य अन्न उसे अर्पण करें और उस पुत्रको योग्य अन्न देकर उसको बढावें। यहां 'ईड' धातु है। यह प्रशंसार्थक है वैसा यह अन्नवाचक भी है। इडा, इरा, इला ये पद अन्नवाचक हैं। इस कारण 'अग्निं ईडे' का अर्थ अग्निको मैं खानेके लिये देता हूं और प्रशंसा भी करता हूं।

पुत्रके लिये माता और पिता योग्य अन्न दें और उसकी प्रशंसा भी करें। प्रतिदिन उसकी सेवा भी योग्य अन्न समर्पण करके करें। यहां अग्निके वर्णनसे पुत्रके उत्तम पालन करनेका उपदेश है।

यहां अग्निका नाम 'जातवेदाः' है। जिससे वेद प्रकट हुए वह जातवेदा है। उत्तम ज्ञानी यह इसका अर्थ है। पुत्रको जातवेदा बनाना चाहिये। जितना अधिक ज्ञान उसको प्राप्त हो उतना उत्तम प्रबंध कर उसको उत्तम ज्ञानी बनाना चाहिये।

> मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम्। यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम् ॥ ५ ॥ ऋ. ३।२९।५

'हे (नरः नरः) नेता लोगो ! (कविं) ज्ञानी (अद्वयन्तं) अनन्यभाव धारण करनेवाले (प्रचेतसं) विशेष चिन्तन करनेवाले (अमृतं) अमर, सदा उत्साही (सुप्रतीकं) उत्तम सुन्दर (यज्ञस्य केतुं) यज्ञके लिये ध्वज जैसे (सु-सेवं अग्निं) उत्तम सेवा करने योग्य अग्निको-तेजस्वी पुत्रको-(मन्थत जनयत) मन्थनसे उत्पन्न करो।'

मातापिताको यह उत्तम उपदेश है कि वे ऐसा यत्न करें कि अपना पुत्र ज्ञानी, अनन्यभाव धारण करनेवाला, सुविचारी, मननशील, सदा उत्साही, जो कदाचित् भी

मरियलसा नहीं होगा, उत्तम सुन्दर रमणीय, शुभकर्म करनेवाला, उत्तम सेवा करनेवाला अथवा उत्तम सेवा करने योग्य तेजस्वी बने। ये गुण पुत्रमें हों ऐसा यत्न करना मातापिताका कर्तव्य है।

यज्ञभूमिमें अग्नि

यहां यज्ञभूमिके विषयमें थोडासा कहना आवश्यक है। यज्ञभूमिका चित्र पञ्चकोश तथा अपने शरीरके आधारपर आधारित है। यहां जाठर अग्नि है, प्रजनाग्नि है। उत्तर-वेदी यह मस्तक है। यज्ञमंडपका चित्र और शरीरकी तुलना यहां करने योग्य है। शरीरमें आत्मा, बुद्धि आदि जहां हैं वह वैसी ही संकेतरूपसे यज्ञशालामें अग्नियां हैं। आहवनीय अग्नि जाठर अग्नि है। शरीरमें, अध्यात्ममें जो गुप्त रीतिसे अन्दर ही अन्दर चल रहा है, वह बाहर बतानेके लिये यज्ञशालाका नकशा रचा है। और जिस समय यज्ञ बंद हुए उस समय देवताके मंदिर उसी यज्ञशालाके स्थान पर रचे गये हैं।

मुख्य अग्निके स्थानपर वहां देवताकी मूर्ति रखी, अग्निके स्थानपर घीका दीप आया, और हवन सामग्रीका सुगंध बतानेके लिये अगरकी बत्ती आगयी। यज्ञमें घीकी आहुतियां देते हैं वहां घीके दीपमें घी जलने लगा और सुगंधित सामग्रीके स्थानपर अगरबत्ती जलने लगी। इस तरह देवता मंदिर यज्ञशालाका प्रतीक ही है।

यह यज्ञशाला शरीरान्तर्गत आत्मा, बुद्धि आदिका कार्य बतानेके लिये थी, वही कार्य बतानेके लिये देवता मंदिरमें आत्माके स्थान पर देवतामूर्ति रखी, हवनका कार्य घृतदीप और अगरु बत्तीने किया। इस तरह यह योजना शरीर और आत्माका स्वरूप बतानेके लिये थी। पर अब वह विपरीत बनगयी है यह हमारा दोष है।

अर्थात् यज्ञ भी आत्माका कार्य बतानेके लिये था। इसलिये इसको ' यज्ञस्य केतुः ' कहा है। केतु सूचक होता है। केतु देखकर केतुके स्थानपर क्या हो रहा है इसकी सूचना मिलती है। आत्मा इस शरीरमें शतसांवत्सरीक यज्ञ सत्र
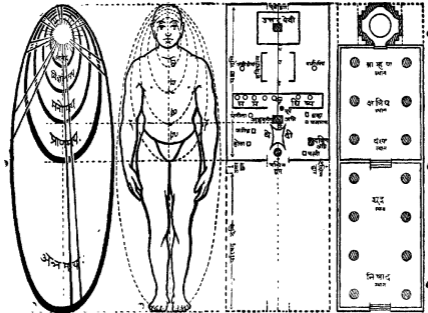
करनेके लिये आया है। इस यज्ञमें विघ्न करनेवाले राक्षस चारों ओर बैठे हैं। इन राक्षसोंको दूर करके इसने यह शतसांवत्सरीक यज्ञ करना है। शरीरका जीवन आत्मासे सूचित होता है। यह जीवित है या नहीं है यह दूरसे ही पता लगता है। कुत्ता या गीधको दूरसे ही पता लगता है कि यह प्राणी जीवित है वा प्रेत है। यह केतु कुत्ते और गीधको दूरसे ही दीखता है। इस कारण जीवित प्राणीके पास वे आते नहीं, परंतु प्रेतपर वे स्वयं विना डर आक्रमण करते हैं। इससे इस शतसांवत्सरीक यज्ञका यह केतु कैसा है यह ध्यानमें आ सकता है।

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो
नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि
वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि ॥ ऋ॰ ३।२९।११

'यह अग्नि (गर्भः) गर्भमें आता है तब (आसुरः) प्राणको चलानेवाला होनेके कारण (तनू-न-पात् उच्यते) शरीरोंको न गिरानेवाला कहा जाता है। (यत् विजायते) जब यह जन्मता है तब यह (नराशंसः) मानवोंद्वारा प्रशंसा करने योग्य (भवति) होता है। (यत्) जब यह (मातरि अमिमीत) माताके उदरमें था तबतक उसको (मातरि-श्वा) माताके अन्दर श्वास लेनेवाला कहा जाता था। (सरीमणि) जब यह हलचल करता है उस समयमें (वातस्य सर्गः अभवत्) वायुका सर्ग होता है। प्राणकी गति अधिक होती है।'

यहांके कई शब्द महत्वके हैं। पहिला 'तनू-न-पात्' शरीरोंको न गिरानेवाला यह है। यह आत्मा शरीरोंको गिराता नहीं। शरीरोंको धारण करता है। यह शरीरमें रहकर शरीरोंको धारण करता है। यह शरीरमें न रहा तो शरीर गिरते हैं, मरते हैं।

'मातरि-श्वा' यह पद भी महत्वका भाव बताता है। माताके अन्दर गर्भ अवस्थामें जबतक यह रहता है तबतक वहां माताके पेटमें ही श्वासोच्छ्वास करता है।

जब (सरीमणि) यह बाहेर आकर हलचल करने लगता है तब (वातस्य सर्गः) प्राण वायुकी हलचल शुरू (अभवत्) होती है। इसके पश्चात् (नर-आशंसः भवति) लोग इसकी प्रशंसा करने लगते हैं, क्योंकि यह विद्वान होता है, अच्छे कर्म करने लगता है। इसके कर्मोंको देखकर सब लोग इसकी प्रशंसा करते हैं।

इस तरह अनेक बोध अग्निके वर्णनसे मिलते हैं। अग्नि अरणियोंके अन्दर गर्भ रूपसे रहता है तो उस समय 'वह लकडीके शरीरको धारण करता है, इस कारण उसको 'तनू-न-पात्' कहते हैं। जब यह प्रकट होता है तब सब ओरसे प्रकाशित होता है। तब सब ऋत्विज उसकी स्तुति करते हैं इसलिये उसको नराशंस कहते हैं। इस तरह ये पद अग्नि पर लगते हैं और मनुष्यपर भी लगते हैं।

इस तरह अग्नि मंत्रोंका मनन होना चाहिये। जिससे वैदिक ज्ञान जीवित और जागृत है ऐसा प्रतीत होगा।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ भग० ११।६

अर्थ— श्री भगवान् कृष्ण अर्जुनको कहने लगे (पार्थ) हे पृथापुत्र अर्जुन ! (मे) विराट् रूप मुझ परमात्माके (नानाविधानि) भिन्न भिन्न प्रकारवाले (दिव्यानि) दिव्य रूप (नानावर्णाकृतीनि च) और नाना वर्णोंवाले और नाना आकृतियोंवाले (शतशः अथ सहस्रशः) सैकडो और हजारों प्रकारवाले (रूपाणि) रूपोंको (पश्य) देख ॥ ५ ॥

(भारत) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (आदित्यान्) अनेक सूर्योंको (वसून्) आठ वसुओंको (रुद्रान्) शङ्करादि एकादश रुद्रोंको (अश्विनौ) अश्विनी कुमारोंको (तथा मरुतः) तथा मरुद्गणोंको (पश्य) देख और (अदृष्टपूर्वाणि बहूनि) पहले न देखी हुई बहुत प्रकारवाली (आश्चर्याणि) आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली (रूपाणि) मूर्तिको (पश्य) देख ॥ ६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

दर्शं[1] नु विश्वदर्शतं[2] दर्शं रथमधि क्षमि[3] ।
एता जुषत मे गिरः ॥ ऋ. १।२५।१८

अर्थ– हे जीवात्माओ ! ऐ ऋषियो ! (विश्वदर्शतं) विश्वमें दर्शनयोग्य अथवा सब तत्त्वज्ञानियोंसे देखने योग्य भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सर्वत्र विश्वरूपसे प्रगट हुए हुए (मम) मुझ परमात्माके स्वरूपको (नु) निश्चयसे (दर्शं) देख " यहाँ लोट्, लिङ् दिया हुआ है । (अधि क्षमि) इस पृथिवीपर (रथं) नाना वर्णो और नाना आकृतियोंवाले आदित्यवसु मरुद्गणादि देहोंको (अधि दर्शं) अधिकतासे देख (एतम्) इन कही हुई (मे गिरः) मुझ परमेश्वरकी वाणियोंको (जुषत) सेवन करो अर्थात् पालन करो ॥ १८ ॥

तुलना– गीतामें अर्जुनको भगवान् कृष्णने विराट् रूप प्रगट करके कई प्रकारकी आश्चर्यमय व्यक्तियोंको और अनेक रूपवाली मूर्तियोंको, और सूर्यादियोंका अपनेमें देखनेके लिये कहा देख मेरे ईश्वररूपको देख और पहचान ।

वेदमें भी परमात्माने यही कहा है, हे जीवात्माओं मुझमें विश्वरूपको देखो और विश्वमें नाना रूपोंवाला मुझे देखो और मेरी वाणियोंका सेवन करो । मनुष्य परमात्माके स्वरूपके दर्शन करनेका प्रयत्न करे ।

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ भग. ११।७

अर्थ– हे (गुडाकेश) हे घुंघराले वर्तुलाकार केशोंवाले अर्जुन ! तथा हे निद्राको भी वश करनेवाले अर्जुन ! (इह मम देहे) इस दृश्यमान मेरे देहमें अर्थात् विराट् रूप देहमें (सचराचरम्) स्थावर जंगमके साथ (एकस्थं) एक ही स्थानमें वर्तमान (कृत्स्नं जगत्) सारे जगत्को (अद्य) आज (पश्य) देख । (यत् च अन्यत्) और इससे भिन्न अर्थात् शत्रु पराजयको (द्रष्टुं इच्छसि) देखना चाहता है । उसे भी देख ॥ ७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जाता-
न्यभ्यस्मि मह्ना । ऋतस्य मा प्रदिशो
वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥

ऋ. मं. ८।१००।४

अर्थ– हे (जरितः) मेरी स्तुति अर्थात् परमात्म स्तुति करनेवाला ! जीवात्मन् ! (अयं अस्मि) यह मैं परमात्मा विराट् रूपमें तेरे सामने खडा हूं । (इह) इस मेरे विराट् रूप देहमें (मा पश्य) मुझे देख । मैं विराट् स्वरूप ही (विश्वा जातानि) सारे उत्पन्न हुए हुए स्थावरजंगम भूतमात्रको (मह्ना) अपनी महिमासे अर्थात् अपने बडप्पनसे परमेश्वरत्वसे (अभ्यस्मि) दबा लेता हूं । (मा) मुझ परमात्माको (ऋतस्य प्रदिशः) सत्यस्वरूपके उपदेष्टा अर्थात् ज्ञानीजन (वर्धयन्ति) अपने स्तोत्रोंसे बढाते हैं और (आदर्दिरः) सबमें आदरणीय मैं (भुवना) संसारमें उत्पन्न हुए हुए तुझ भक्तके शत्रुओंको (दर्दरीमि) अत्यन्त फाड देता हूँ अर्थात् नाश कर देता हूँ अतः तू अपने सब शत्रुओंको नाश हुआ हुआ मुझमें देख ॥ ४ ॥

तुलना– गीतामें श्रीकृष्णजीने अर्जुनको इसी कृष्णस्वरूप देहमें विराट् रूपकी अवस्थामें सारे चराचर जगत्को दर्शाया, तथा दुर्योधनादि शत्रुओंको कृष्ण देहमें प्रवेश करते हुआ दिखाया ।

---

(१) दर्शम्= " दृशोरिरितो वा " इतिच्लेरङ् " ऋदृशोऽङि गुणः " इति गुणः ।
(२) विश्वदर्शतम्= दृशोर्भस्मृदृशि " इत्यादिना औणादिक. अतच् । "
(३) क्षमि= " आतोधातोः " इत्यत्रात इतियोगविभागात् आकारलोपः ।

वेदमें परमात्माने अपने स्तोता भक्तको यही कहा है। मेरे विराट् रूपमें सारे चराचर जगतको देख। और ज्ञानीजन भी इसी जगत्को मेरा स्वरूप जानते हुए मेरे विराट् रूपकी सेवा करते हैं और कामक्रोधादि सांसारिक शत्रुओंका नाश करके मुझे प्राप्त होते हैं।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

भग. ११।८

अर्थ– हे अर्जुन! तू (अनेन एव स्वचक्षुषा) इन ही अपनी चर्मचक्षुसे (मा) मेरे दिव्य स्वरूपको (न तु द्रष्टुं शक्यसे) देखनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता अतः (ते) तुझे (दिव्यं चक्षुः ददामि) अप्राकृत तेजोमय नेत्रोंको देता हूँ। (मे) मेरे (ऐश्वरं योगं) ईश्वरसंबन्धी स्वरूपको (पश्य) देख। क्योंकि चर्मचक्षुसे दिव्य वस्तु देखी नहीं जा सकती। प्राकृतिक नेत्रोंसे प्राकृतिक वस्तु देखी जाती है और दिव्य नेत्रोंसे दिव्य वस्तु देखी जा सकती है, मेरा दिव्य स्वरूप है, अतः उस दिव्य स्वरूपके लिये दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ ॥ ८॥

वेदगीता (मंत्र)

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष। एकं यदुद्रा न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥ ऋ. ५।८५।६

अर्थ– हे जीवात्मन्! कोई प्राकृतिक पुरुष (कवितमस्य) अत्यन्त क्रान्तदर्शी सच्चिदानंद स्वरूप परमात्माकी (इमां) इस विराट् स्वरूप (महीं) बडी (मायां) दिव्य शक्तिवाली मूर्तिको चर्मचक्षु अर्थात् प्राकृतिक चक्षुसे (नकिः) नहीं (आदधर्ष) धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होता अर्थात् देख नहीं सकता। (ऊ नु) मंत्रमें दोनों शब्द पादपूर्तिके लिये हैं। (एनीः) शुभ कर्ममें चलनेवाले (आसिञ्चन्ती) स्नेहात्मक दिव्य नेत्रसे सिञ्चन करते हुए (अवनयः) भगवद्भक्तिके पात्ररूप भक्त-जन (समुद्रं) सारा चराचर जगत् जिसमें भली प्रकार गमन करता है ऐसे परमेश्वरको (पृणान्ति) अपनी भक्तिसे तृप्त करते हैं अर्थात् परमात्माको प्रसन्न करते हैं (यत्) जिस कारणसे (एकं) परमात्माके दर्शनात्मक मुख्य कर्मको (उद्रा) जलात्मक अर्थात् प्राकृतिक नेत्रसे (न पृणान्ति) धारण करने अर्थात् देखनेके कर्मको पूर्ण नहीं कर सकते। यद्वा—

वेदगीता (मंत्र)

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति। दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥

अथर्व. ४।२०।१

अर्थ– (देवि!) हे ज्योतिर्मय दिव्य दृष्टे! तू आप अर्थात् जिसे दिव्य दृष्टि मिल जाए वह (तत् आपश्यति) उस सारे दिव्यादिव्य पदार्थोंको देखता है। (प्रति पश्यति) प्रत्येक दिव्य पदार्थके प्रति दिव्य दृष्टिसे देखता है (परा पश्यति) वह दूरसे दूर भी दिव्य दृष्टिसे देख लेता है। (पश्यति) सब पदार्थोंको अच्छी रीतिसे देख लेता है। (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, और भूमिको (सर्वं पश्यति) सब देख लेता है ॥ १ ॥

तुलना– गीतामें दर्शाया है कि चर्मचक्षुः से प्राकृतिक पदार्थ देखे जाते हैं और दिव्य नेत्रोंसे अर्थात् दिव्य दृष्टि ज्ञानमय दृष्टिसे दिव्य पदार्थ देखे जाते हैं। वेदमें भी कहा है कि उस पूर्णानंदकंद ज्ञानघन परमात्माके दिव्य स्वरूपको इस चर्ममय चक्षुसे नहीं देखा जा सकता, ज्ञानी लोग उसे दिव्य दृष्टिसे देखते हैं। दिव्य दृष्टिवाला मनुष्य दिव्य दृष्टिके द्वारा, समीप और दूर, स्थूल और सूक्ष्म सब पदार्थोंको देखकर तृणसे लेकर भूमि, वायु, अन्तरिक्ष और पांचों तत्त्वोंको जानकर पुनः परमात्मज्ञान भी पा लेता है।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधाऽनुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ भग. ११।११

अर्थ– सञ्जयने राजा धृतराष्ट्रको कहा– हे राजन्! धृतराष्ट्र! (महायोगेश्वरः) योगमाया, महायोग=महाशक्तिका स्वामी, अथवा कर्मयोग, उपासनायोग, ज्ञानयोग, इन तीनों महायोगोंके स्वामी (हरिः) भय और पापके हरनेवाला श्रीकृष्ण (ततः) फिर (एवं उक्त्वा) ऐसे पहिले कहे हुए अर्थात् पहिले बताए हुए ऐश्वर रूपको कहकर (पार्थाय) अर्जुनको (ऐश्वरं रूपं) परमात्मसंबंधी अर्थात् विराट् स्वरूप (अनेकवक्त्रनयनम्) अनेक मुख और अनेक नेत्रोंवाले (अनेकाद्भुतदर्शनम्) अनेक आश्चर्यकारी रूपोंको (अनेकदिव्याभरणं) बहुत

प्रकारके सुन्दर सुन्दर भूषणोंवाले (दिव्यानेकोद्यतायुधम्) अच्छेसे अच्छे अनेक अस्त्रशस्त्रोंको उठाए हुए (दिव्यमाल्याम्बरधरम्) अच्छेसे अच्छे फूलोंकी माला पहिने हुए और सुन्दर सुन्दर वस्त्र पहिने हुए (दिव्यगंधानुलेपनम्) दिव्य दिव्य सुगंधियोंका देहपर लेपन किये हुए (सर्वाश्चर्यमयं) सारे आश्चर्यमय (विश्वतोमुखम्) चारों ओर मुख धारण करनेवाले (अनन्तम्) आद्यन्तसे रहित अर्थात् अपरिछिन्न (देवम्) ज्योतिःस्वरूप ईश्वर रूपको (दर्शयामास) दिखाया॥ ९,१०,११॥

वेदगीता (मंत्र)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिंसर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

यजु ३१।१, ऋ. १०।९०।१

अर्थ– (सहस्रशीर्षा) सारे चराचर जगत्का समष्टि और व्यष्टिरूप विराट् नामक परमात्माको देह अर्थात् विराट् पुरुष हजारों सिरोंवाला है (सहस्राक्षः) और हजारों नेत्रोंवाला है और (सहस्रपात्) हजारों पाऊंवाला है क्योंकि जगत्में सब प्राणियोंके हाथ, पांव, सिर, नेत्र, भुजा इसीमें हैं, अतः यह पुरुष हजारों सिर, हाथ, पाऊंवाला है (सः) वह परमपुरुष (भूमिं) ब्रह्माण्ड गोलक रूपको (विश्वतः वृत्वा) चारों ओर घेरकर (दशांगुलम्) दशांगुल परिमित देशको (अत्यतिष्ठत्) अतिक्रमण करके ठहरा हुआ है। दशांगुल शब्द केवल उपलक्षण मात्र है। वह परमपुरुष ब्रह्माण्डसे बाहर भी व्यापक है।

यद्वा—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

ऋ. १०।८१।३, यजु. १७।१९

यद्वा—

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः। सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः॥

अथ. १३।२।२६

अर्थ– (यः) जो परमपुरुष परमात्मा (विश्व चर्षणी) समस्त जगत्का द्रष्टा, और चारों ओर नेत्रोंवाला (विश्वतो मुखः) चारों ओर मुखवाला और (विश्वतो बाहुः विश्वतः पाणि) जिसके चारों ओर बाहु और हाथ हैं (विश्वतस्पात्) जिसके चारों ओर पाऊं है (विश्वतः पृथः) जो चारों ओर व्यापक है (स एकः देवः) वह एक ही प्रकार मन सर्वद्रष्टा परमात्मा (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीको अर्थात् आकाश और पृथिवीमें वर्तमान सब प्राणी और अप्राणियोंको (पतत्रैः) अपने कर्मशील मार्गोंसे (सं जनयन्) भली प्रकार उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्यां) अपनी बाहुओंसे, अपने हाथोंसे (धमति=सं भरति) भली प्रकार भरणपोषण करता है। जैसे उपनिषद्में कहा है– "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा। मुण्डको. २।१।३,४

अर्थ– इसी परमात्मासे प्राण, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल, सबके धारण करनेवाली पृथिवी, यह सब उत्पन्न होते हैं। अब विराट् रूप क्या है इसपर कहते है अग्नि मूर्द्ध है, सूर्यचंद्र दो नेत्र हैं, दिशाएं श्रोत्र हैं, और वेद वाणी है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष हृदय है, पांव पृथिवी है। यह सर्व भूतान्तरात्मा है।

तुलना– श्रीकृष्णने अर्जुनको विराट् रूप दिखाया है, जिसमें अनेक मुख, हजारों विविध रूपोंवाले और आश्चर्यमय मूर्तियोंवाले तथा अनेक प्रकारके अस्त्रशस्त्रोंसे सजे हुए स्वरूपोंको, और सूर्यचंद्र, तारागणादि समूह दिखाया। वेद और उपनिषद्में भी परमात्माका विराट् रूप हजारों सिरों, हजारों पाऊं, हजारों भुजाएं, चारों ओर मुखवाला स्वरूप, तथा सूर्यचंद्रको नेत्र रूप, हृदय आकाश, दिशाओंको श्रोत्ररूपमें बताया है।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ भग० ११।१३

अर्थ– (यदि) अगर (दिवि) अन्तरिक्षमें (सूर्य सहस्रस्य) हजारों सूर्योंकी (भाः) तेज अथवा प्रकाश (युगपत्) इकट्ठी ही (उत्थिता भवेत्) उठ खडी हो, (सा) वह प्रभा (तस्य महात्मनः) उस महात्मा विराट् रूपके (भासः) प्रकाशके (सदृशी) बराबर (स्यात्) संभव है कि बराबर हो

जाए ॥ १२ ॥ (तदा) तब (पाण्डवः) पांडवपुत्र अर्जुन (देवदेवस्य) प्रकाशकोंके प्रकाशक परमात्माके (तत्र शरीरे) उस विराट् रूप शरीरमें जगत् (एकस्थं) एक स्थानपर स्थित हुए हुए (अनेकधा) अनेक प्रकारसे (प्रविभक्तम्) भिन्न भिन्न प्रकारसे विभक्त हुए हुए (कृत्स्नं जगत्) सारे जगत्को (अपश्यत्) देखा ॥ १३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः । न त्वा वज्रिन् त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ ऋ. ८।७०।५, अथ. २०।८१।१

अर्थ– (इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (यद्) यदि (ते) तेरी समता अथवा तुलना पानेके लिये (द्यावः) प्रकाशात्मक आकाशमें रहनेवाले चंद्रतारादिक पदार्थ (शतं) सैकडों भी मिलकर (स्युः) इकट्ठे हों, (न अष्ट) तेरी समता नहीं पा सकते । (उ ते शतं भूमीः) सैकडों भूमियें भी इकट्ठी (स्युः) होवें तो भी (न अष्ट) समताको नहीं पा सकते । (वज्रिन् !) हे वज्रकी तरह तीक्ष्ण पापपुण्य फल देनेवाले परमात्मन् (सहस्रं जातं सूर्याः) हजारों सूर्य उत्पन्न भी (त्वा न अन्वष्ट) तेरी समता नहीं पाते । (रोदसी) पृथिवी और आकाश हजारों मिलकर भी तेरी समता नहीं पाते ॥ ५ ॥ जैसे—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्याय एभ्यो लोकेभ्यः ॥ बृहदा०

अर्थ– (तत्र) उस परमात्माके सामने (सूर्य न भाति) सूर्य नहीं प्रकाशता अर्थात् परमात्माकी ज्योतिः के सामने सूर्य तुच्छ वस्तु है । चंद्र और तारा भी उसके सामने नहीं प्रकाशते । बिजलियें भी प्रकाश नहीं कर सकती फिर यह अग्नि उसके सामने कैसे प्रकाश कर सकता है । वह परमात्मा पृथिवीके अन्तरिक्षसे, दिशाओंसे और इन सब लोकोंसे बडा है, तथा च— " यस्य भासा सर्वमिदं विभाति " जिस परमात्माके प्रकाशसे यह सारा ब्रह्माड प्रकाशित होता है ।

तुलना– गीतामें भगवान्का विराट् रूप दिखाया और उसी रूपमें सारे ब्रह्माडको भिन्न रूपमें विभक्त किया हुआ दिखाया, तथा उस विराट् रूपके प्रकाशके सामने हजारों सूर्यका प्रकाश कुछ नहीं कर सकता था । वेदमें बताया है कि सैंकडों आकाश ईश्वरकी अनन्तताको, सैकडों भूमियें और उसके वासी चित् शक्तिके जीवोंद्वारा माप नहीं सकते । सैंकडों सूर्य, और चंद्रमा तारागण, विद्युत्, पार्थिवाग्नि परमात्माके तेजकी समता नहीं कर सकते । वह ज्योतियोंका भी प्रकाशक है ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ भग० ११।१४

अर्थ– (ततः) फिर (स धनञ्जय.) दिव्य दृष्टिवाला अर्जुन (विस्मयाविष्टः) विस्मित हुआ हुआ (हृष्टरोमा) पुलकित रोंगटोंवाला (देवं) अपनी ज्योतिः से प्रकाशमान श्रीकृष्णजीको (शिरसा प्रणम्य) सिरसे प्रणाम करके अर्थात् झुककर (कृताञ्जलि.) दोनों हाथोंको जोडकर (अभाषत) बोला ॥ १४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु । नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः ॥ ऋ. १०।७९।१

अर्थ- हे परमात्मन् ! दिव्य दृष्टिवाले आपके भक्त मैंने (मनुष्यासु प्रजासु) मानुषी प्रजामें अर्थात् प्राणप्राणि मात्रमें (अमर्त्यस्य) अमरण स्वभाववाले परमात्म रूपसे वर्तमान (अस्य) इस विराट् रूपकी (महतो महित्वम्) बडोंसे बडी महिमाको (अपश्यं) देखा । (अस्य) इस विराट् रूपके (नाना हनू) नाना प्रकारके मुखोंके दो जबडे (विभृते) भिन्न स्थित हुए हुए (संभरेते) सम्यक्तया जगत्की रक्षा और पालना करते हैं । (ते) विराट् रूप भगवान्के वे दोनों हनु अर्थात् जबडे (असिन्वती) प्रातः और सायंकाल भोजन न करनेवाले (बप्सती) स्वयं भोजन रहित भी दोनों हनु स्तोता भक्तको ग्रहण करते हुए (भूरि) अत्यन्त जैसे हो वैसे ही (अत्तः) भोजन कर लेते हैं अर्थात् संसारमें मुक्त कर देते हैं ॥ १ ॥

तुलना– गीतामें अर्जुनने परमात्मा (कृष्ण) के विराट् रूपको देखकर विस्मित हो गया, तथा प्रसन्नतासे रोंगटे हो गए, प्रणाम कर हाथ जोडकर प्रार्थना करने लगा । वेदमें भी भगवद्भक्तने अविनाशी, सर्वव्यापक परमात्माके विराट् रूपको देखा । और उसमें दो जबडोंवाले भिन्न भिन्न प्रकारके मुखोंको देखा वह जबडे स्वयं तो दिनरात कुछ नहीं खाते । पर अपने भक्तोंको

ग्रहण कर लेते है, अर्थात् भक्तोंको मुक्त कर देते है ऐसा कहा है।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
भग० ११।१५

अर्थ- अर्जुनने श्रीकृष्णजीसे प्रार्थना करके कहा (देव) हे प्रकाशस्वरूप! (तव देहे) तेरे शरीरमें (भूतविशेषसंघान्) देवतिर्यगादि प्राणियोंके समूहको (सर्वान् देवान्) तथा इन्द्रयमादि सब देवताओंको (कमलासनस्थं ब्रह्माणं) कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माको तथा (ईशं) महादेवको (च) और (सर्वान् ऋषीन्) नारदादि सब ऋषियोंको (दिव्यान् सर्वान् उरगान्) दिव्य रूप सब सर्पोंको (पश्यामि) देखता हूं॥ १५॥

वेदगीता (मंत्र)

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यंञ्च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कंभं तं ब्रूहि॥

अथर्व. १०।७।२२

अर्थ- हे जीवात्मन् (यत्र) जिस परमात्माके विराट् स्वरूपमें (आदित्याः) सूर्यादि प्रकाशक चंद्र, विद्युत्, तारा, अग्नि, तथा (च रुद्राः) और एकादशरुद्र तथा (वसवः) आठ वसुगण (समाहिताः) भली प्रकार स्थित है। (च यत्र) और परमात्माके जिस विराट् स्वरूपमें (भूतं च) उत्पन्न हुआ हुआ जगत् (भव्यं च) और आगे उत्पन्न होनेवाला जगत् (च सर्वे लोकाः) और सारे लोकलोकान्तर (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तं) उसे (स्कंभं) ब्रह्म (ब्रूहि) कह। तथा च-

वेदगीता (मंत्र)

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता। यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कंभं तं ब्रूहि॥

अथर्व. १०।७।१२

अर्थ- जिस परमात्माके विराट् स्वरूपमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चंद्र, सूर्य, वायु स्थित हैं, उसे ब्रह्म कह।

तुलना- गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णके विराट् रूपमें प्राणि, अप्राणिमात्रको और ब्रह्मा, शिवादि देवताओं और ऋषियोंको वासुकी आदि सर्पोंको देखा। वेदमें भी परमात्माके विराट् रूपमें सूर्यादि प्रकाशकग्रह तथा एकादशरुद्र आठ वसु, सारे लोक-लोकान्तर, भूमि, आकाश, अग्नि, चंद्रमा, सूर्य, वायु स्थित कही हैं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥
भग० ११।१६

अर्थ- (विश्वेश्वर!) हे समान विश्वके स्वामिन्! तथा सर्वाधिपते! (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं) अनेक भुजा, उदर और नेत्रोंवाले और (अनन्तरूपं) अनन्त रूपोंवाले (त्वा) तुझे (सर्वतः पश्यामि) चारों ओर देखता हूं। (विश्वरूप) हे सर्वस्वरूप! (पुनः) फिर (तव) तेरे (न आदि) न आदिको (न मध्यं) न मध्यको (न अन्तं) न अन्तको (पश्यामि) देखता हूं॥ १६॥

वेदगीता (मंत्र)

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा॥

ऋ. १।२५।११

अर्थ- (चिकित्वान्) ज्ञानी, दिव्य दृष्टिवाला योगी (अतः) इस परमात्माके विराट् स्वरूपमें (विश्वानि अद्भुतानि) सब अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रादि आश्चर्य करनेवाले कर्म (कृतानि) पहिले सृष्ट्युत्पत्तिमें किये तथा (च) और (कर्त्वा) आगे आश्चर्यमय किये जानेवाले कर्मोंको (अभिपश्यति) संमुख देखता है।

तुलना- वेदमें और गीतामें विराट् रूपका वर्णन है जिसमें अर्जुन तथा ज्ञानी योगी उसी विराट् रूपमें अनेक स्वरूप, विविध प्रकारकी आश्चर्य करनेवाली वस्तु तथा भूमि, अन्तरिक्ष, सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, वायु आदिको देखा और कहा कि मैं आपके विराट् रूपमें सारे ब्रह्माण्डको देख रहा हूं।

---

(१) चिकित्वान्= किति-ज्ञाने लिटः क्वसुः " अभ्यासहलादिशेषचुत्वानि। " वस्वेकाजाद्घसामिसि इति नियमादिडभावः। ह्रस्वाऽनुनासिकावुक्तौ संहितायाम्।

(२) कर्त्वा= कृत्यार्थे तवैकेन् केन्यत्वनः, इति करोतेस्त्वन् " शेश्छंदसि बहुलम् " इति शेर्लोपः।

वेदमें परमात्माने अपने स्तोता भक्तको यही कहा है। मेरे विराट् रूपमें सारे चराचर जगतको देख। और ज्ञानीजन भी इसी जगत्को मेरा स्वरूप जानते हुए मेरे विराट् रूपकी सेवा करते हैं और कामक्रोधादि सांसारिक शत्रुओंका नाश करके मुझे प्राप्त होते हैं।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

भग. ११।८

अर्थ- हे अर्जुन! तू (अनेन एव स्वचक्षुषा) इन ही अपनी चर्मचक्षुसे (मा) मेरे दिव्य स्वरूपको (न तु द्रष्टुं शक्यसे) देखनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता अतः (ते) तुझे (दिव्यं चक्षुः ददामि) अप्राकृत तेजोमय नेत्रोंको देता हूँ। (मे) मेरे (ऐश्वरं योगं) ईश्वरसंबन्धी स्वरूपको (पश्य) देख। क्योंकि चर्मचक्षुसे दिव्य वस्तु देखी नहीं जा सकती। प्राकृतिक नेत्रोंसे प्राकृतिक वस्तु देखी जाती है और दिव्य नेत्रोंसे दिव्य वस्तु देखी जा सकती है, मेरा दिव्य स्वरूप है, अतः उस दिव्य स्वरूपके लिये दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ ॥ ८॥

वेदगीता (मंत्र)

इमामू नु कुवितमस्य मायां मही देवस्य नकिरा दंधर्ष। एकं यदुद्रा न पृणन्त्येनीं-रासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥ ऋ. ५।८५।६

अर्थ- हे जीवात्मन्! कोई प्राकृतिक पुरुष (कवितमस्य) अत्यन्त क्रान्तदर्शी सच्चिदानंद स्वरूप परमात्माकी (इमां) इस विराट् स्वरूप (महीं) बड़ी (मायां) दिव्य शक्तिवाली मूर्तिको चर्मचक्षु अर्थात् प्राकृतिक चक्षुसे (नकिः) नहीं (आदधर्ष) धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होता अर्थात् देख नहीं सकता। (ऊ नु) मंत्रमें दोनों शब्द पादपूर्तिके लिये हैं। (एनीः) शुभ कर्ममें चलनेवाले (आसिञ्चन्ती) स्नेहात्मक दिव्य नेत्रसे सिञ्चन करते हुए (अवनयः) भगवद्भक्तिके पात्ररूप भक्तजन (समुद्रं) सारा चराचर जगत जिसमें भली प्रकार गमन करता है ऐसे परमेश्वरको (पृणन्ति) अपनी भक्तिसे तृप्त करते हैं अर्थात् परमात्माको प्रसन्न करते हैं (यत्) जिस कारणसे (एकं) परमात्माके दर्शनात्मक मुख्य कर्मको (उद्रा) जलात्मक अर्थात् प्राकृतिक नेत्रसे (न पृणान्ति) धारण करने अर्थात् देखनेके कर्मको पूर्ण नहीं कर सकते। यहा—

वेदगीता (मंत्र)

आ पंश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति। दिवंमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥

अथर्व. ४।२०।१

अर्थ- (देवि!) हे ज्योतिर्मय दिव्य दृष्टे! तू आप अर्थात् जिसे दिव्य दृष्टि मिल जाए वह (तत् आपश्यति) उस सारे दिव्यादिव्य पदार्थोंको देखता है। (प्रति पश्यति) प्रत्येक दिव्य पदार्थके प्रति दिव्य दृष्टिसे देखता है (परा पश्यति) वह दूरसे दूर भी दिव्य दृष्टिसे देख लेता है। (पश्यति) सब पदार्थोंको अच्छी रीतिसे देख लेता है। (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, और भूमिको (सर्वं पश्यति) सब देख लेता है ॥ १ ॥

तुलना- गीतामें दर्शाया है कि चर्मचक्षुः से प्राकृतिक पदार्थ देखे जाते हैं और दिव्य नेत्रोंसे अर्थात् दिव्य दृष्टि ज्ञानमय दृष्टिसे दिव्य पदार्थ देखे जाते हैं। वेदमें भी कहा है कि उस पूर्णानंदकंद ज्ञानघन परमात्माके दिव्य स्वरूपको इस चर्ममय चक्षुसे नहीं देखा जा सकता, ज्ञानी लोग उसे दिव्य दृष्टिसे देखते हैं। दिव्य दृष्टिवाला मनुष्य दिव्य दृष्टिके द्वारा, समीप और दूर, स्थूल और सूक्ष्म सब पदार्थोंको देखकर तृणसे लेकर भूमि, वायु, अन्तरिक्ष और पांचों तत्त्वोंको जानकर पुनः परमात्मज्ञान भी पा लेता है।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ भग. ११।११

अर्थ- सञ्जयने राजा धृतराष्ट्रको कहा- हे राजन्! धृतराष्ट्र! (महायोगेश्वरः) योगमाया, महायोग=महाशक्तिका स्वामी, अथवा कर्मयोग, उपासनायोग, ज्ञानयोग, इन तीनों महायोगोंके स्वामी (हरिः) भय और पापके हरनेवाला श्रीकृष्ण (ततः) फिर (एवं उक्त्वा) ऐसे पहिले कहे हुए अर्थात् पहिले बताए हुए ऐश्वर रूपको कहकर (पार्थाय) अर्जुनको (ऐश्वरं रूपं) परमात्मसंबंधी अर्थात् विराट् स्वरूप (अनेकवक्त्रनयनम्) अनेक मुख और अनेक नेत्रोंवाले (अनेकाद्भुतदर्शनम्) अनेक आश्चर्यकारी रूपोंको (अनेकदिव्याभरणं) बहुत

प्रकारके सुन्दर सुन्दर भूषणोंवाले (दिव्यानेकोद्यतायुधम्) अच्छेसे अच्छे अनेक अस्त्रशस्त्रोंको उठाए हुए (दिव्यमाल्याम्बरधरम्) अच्छेसे अच्छे फूलोंकी माला पहिने हुए और सुन्दर सुन्दर वस्त्र पहिने हुए (दिव्यगंधानुलेपनम्) दिव्य दिव्य सुगंधियोंका देहपर लेपन किये हुए (सर्वाश्चर्यमयं) सारे आश्चर्यमय (विश्वतोमुखम्) चारों ओर मुख धारण करनेवाले (अनन्तम्) आद्यन्तसे रहित अर्थात् अपरिछिन्न (देवम्) ज्योतिःस्वरूप ईश्वर रूपको (दर्शयामास) दिखाया॥ ९,१०,११॥

वेदगीता (मंत्र)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳविश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

यजु ३१।१, ऋ. १०।९०।१

अर्थ- (सहस्रशीर्षा) सारे चराचर जगत्का समष्टि और व्यष्टिरूप विराट् नामक परमात्माको देह अर्थात् विराट् पुरुष हजारों सिरोंवाला है (सहस्राक्षः) और हजारों नेत्रोंवाला है और (सहस्रपात्) हजारों पाऊंवाला है क्योंकि जगत्में सब प्राणियोंके हाथ, पांव, सिर, नेत्र, भुजा इसीमें है, अतः यह पुरुष हजारों सिर, हाथ, पाऊंवाला है (सः) वह परमपुरुष (भूमिं) ब्रह्माण्ड गोलक रूपको (विश्वतः वृत्वा) चारों ओर घेरकर (दशांगुलम्) दशांगुल परिमित देशको (अत्यतिष्ठत्) अतिक्रमण करके ठहरा हुआ है । दशांगुल शब्द केवल उपलक्षण मात्र है । वह परमपुरुष ब्रह्माण्डसे बाहर भी व्यापक है ।

यद्वा—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहु-
रुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति
सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

ऋ. १०।८१।३, यजु. १७।१९

यद्वा—

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वत
स्पाणिरुत विश्वत स्पृथः । सं बाहुभ्यां
धमति संपतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥

अथ. १३।२।२६

अर्थ- (यः) जो परमपुरुष परमात्मा (विश्व चर्षणी) समस्त जगत्का द्रष्टा, और चारों ओर नेत्रोंवाला (विश्वतो मुखः) चारों ओर मुखवाला और (विश्वतो बाहुः विश्वतः पाणि) जिसके चारों ओर बाहु और हाथ हैं (विश्वतस्पात्) जिसके चारों ओर पाऊं है (विश्वतः पृथः) जो चारों ओर व्यापक है (स एकः देवः) वह एक ही प्रकार मन सर्वद्रष्टा परमात्मा (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीको अर्थात् आकाश और पृथिवीमें वर्तमान सब प्राणी और अप्राणियोंको (पतत्रैः) अपने कर्मशील मार्गोंसे (सं जनयन्) भली प्रकार उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्यां) अपनी बाहुओंसे, अपने हाथोंसे (धमति=सं भरति) भली प्रकार भरणपोषण करता है । जैसे उपनिषद्में कहा है - " एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी " अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा । मुण्डको. २।१।३,४

अर्थ- इसी परमात्मासे प्राण, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल, सबके धारण करनेवाली पृथिवी, यह सब उत्पन्न होते हैं । अब विराट् रूप क्या है इसपर कहते हैं अग्नि मूर्द्धा है, सूर्यचंद्र दो नेत्र हैं, दिशाएं श्रोत्र हैं, और वेद वाणी है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष हृदय है, पांव पृथिवी है । यह सर्व भूतान्तरात्मा है ।

तुलना- श्रीकृष्णने अर्जुनको विराट् रूप दिखाया है, जिसमें अनेक मुख, हजारों विविध रूपोंवाले और आश्चर्यमय मूर्तियोंवाले तथा अनेक प्रकारके अस्त्रशस्त्रोंसे सजे हुए स्वरूपोंको, और सूर्यचंद्र, तारागणादि समूह दिखाया। वेद और उपनिषद्में भी परमात्माका विराट् रूप हजारों सिरों, हजारों पाऊं, हजारों भुजाएं, चारों ओर मुखवाला स्वरूप, तथा सूर्यचंद्रको नेत्र रूप, हृदय आकाश, दिशाओंको श्रोत्ररूपमें बताया है ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ भग० ११।१३

अर्थ- (यदि) अगर (दिवि) अन्तरिक्षमें (सूर्य सहस्रस्य) हजारों सूर्योंकी (भाः) तेज अथवा प्रकाश (युगपत्) इकट्ठी ही (उत्थिता भवेत्) उठ खडी हो, (सा) वह प्रभा (तस्य महात्मनः) उस महात्मा विराट् रूपके (भासः) प्रकाशके (सदृशी) बराबर (स्यात्) संभव है कि बराबर हो

*

जाए ॥ १२ ॥ (तदा) तब (पाण्डवः) पांडवपुत्र अर्जुन (देवदेवस्य) प्रकाशकोंके प्रकाशक परमात्माके (तत्र शरीरे) उस विराट् रूप शरीरमें जगत् (एकस्थं) एक स्थानपर स्थित हुए हुए (अनेकधा) अनेक प्रकारसे (प्रविभक्तम्) भिन्न भिन्न प्रकारसे विभक्त हुए हुए (कृत्स्नं जगत) सारे जगत्को (अपश्यत) देखा ॥ १३ ॥

वेदगीता (मन्त्र)

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः । न त्वा॑ वज्रिन् त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥ ऋ. ८।७०।५, अथ. २०।८१।१

अर्थ- (इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (यद्) यदि (ते) तेरी समता अथवा तुलना पानेके लिये (द्याव.) प्रकाशात्मक आकाशमें रहनेवाले चंद्रताराादिक पदार्थ (शत) सैंकडों भी मिलकर (स्युः) इकट्ठे हों, (न अष्ट) तेरी समता नहीं पा सकते । (उ ते शतं भूमीः) सैंकडों भूमियें भी इकट्ठी (स्युः) होवें तो भी (न अष्ट) समताको नहीं पा सकते । (वज्रिन् !) हे वज्रकी तरह तीक्ष्ण पापपुण्य फल देनेवाले परमात्मन् (सहस्रं जातं सूर्याः) हजारों सूर्य उत्पन्न भी (त्वा न अन्वष्ट) तेरी समता नहीं पाते । (रोदसी) पृथिवी और आकाश हजारों मिलकर भी तेरी समता नहीं पाते ॥ ५ ॥ जैसे—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ बृहदा०

अर्थ- (तत्र) उस परमात्माके सामने (सूर्य न भाति) सूर्य नहीं प्रकाशता अर्थात् परमात्माकी ज्योतिः के सामने सूर्य तुच्छ वस्तु है । चंद्र और तारा भी उसके सामने नहीं प्रकाशते । बिजलियें भी प्रकाश नहीं कर सकती फिर यह अग्नि उसके सामने कैसे प्रकाश कर सकता है । वह परमात्मा पृथिवीके अन्तरिक्षसे, दिशाओंसे और इन सब लोकोंसे बडा है, तथा च— " यस्य भासा सर्वमिदं विभाति " जिस परमात्माके प्रकाशसे यह सारा ब्रह्मांड प्रकाशित होता है ।

तुलना- गीतामें भगवान्का विराट् रूप दिखाया और उसी रूपमें सारे ब्रह्मांडको भिन्न रूपमें विभक्त किया हुआ दिखाया, तथा उस विराट् रूपके प्रकाशके सामने हजारों सूर्यका प्रकाश कुछ नहीं कर सकता था । वेदमें बताया है कि सैंकडों आकाश ईश्वरकी अनन्तताको, सैकडों भूमियें और उसके वासी चित् शक्तिको जीवोंद्वारा माप नहीं सकते । सैंकडो सूर्य, और चंद्रमा तारागण, विद्युत्, पार्थिवाग्नि परमात्माके तेजकी समता नहीं कर सकते । वह ज्योतियोंका भी प्रकाशक है ।

**ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ भग० ११।१४**

अर्थ- (ततः) फिर (स धनञ्जय.) दिव्य दृष्टिवाला अर्जुन (विस्मयाविष्टः) विस्मित हुआ हुआ (हृष्टरोमा) पुलकित रोंगटोंवाला (देवं) अपनी ज्योति से प्रकाशमान श्रीकृष्णजीको (शिरसा प्रणम्य) सिरसे प्रणाम करके अर्थात् झुककर (कृताञ्जलि.) दोनों हाथोंको जोडकर (अभाषत) बोला ॥ १४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अप॑श्यमस्य मह॒तो म॑हि॒त्वमम॑र्त्यस्य॒ मर्त्या॑सु वि॒क्षु । नाना॒ हनू॒ विभृ॑ते॒ सं भ॑रेते॒ असि॑न्वती॒ बप्स॑ती॒ भूर्य॑त्तः ॥ ऋ. १०।७९।१

अर्थ- हे परमात्मन् ! दिव्य दृष्टिवाले आपके भक्त मैंने (मनुष्यासु प्रजासु) मानुषी प्रजामें अर्थात् प्राण्यप्राणि मात्रमें (अमर्त्यस्य) अमरण स्वभाववाले परमात्म रूपसे वर्तमान (अस्य) इस विराट् रूपकी (महतो महित्वम्) बडीसे बडी महिमाको (अपश्यं) देखा । (अस्य) इस विराट् रूपके (नाना हनू) नाना प्रकारके मुखोंके दो जबडे (विभृते) भिन्न स्थित हुए हुए (संभरेते) सम्यक्तया जगत्की रक्षा और पालना करते हैं । (ते) विराट् रूप भगवान्के वे दोनों हनु अर्थात् जबडे (असिन्वती) प्रातः और सायंकाल भोजन न करनेवाले (बप्सती) स्वयं भोजन रहित भी दोनों हनु स्तोता भक्तको ग्रहण करते हुए (भूरि) अत्यन्त जैसे हो वैसे ही (अत्तः) भोजन कर लेते हैं अर्थात् संसारमें मुक्त कर देते हैं ॥ १ ॥

तुलना- गीतामें अर्जुनने परमात्मा (कृष्ण) के विराट् रूपको देखकर विस्मित हो गया, तथा प्रसन्नतासे रोंगटे हो गए, प्रणाम कर हाथ जोडकर प्रार्थना करने लगा । वेदमें भी भगवद्भक्तने अविनाशी, सर्वव्यापक परमात्माके विराट् रूपको देखा । और उसमें दो जबडोंवाले भिन्न भिन्न प्रकारके मुखोंको देखा वह जबडे स्वयं तो दिनरात कुछ नहीं खाते । पर अपने भक्तोंको

ग्रहण कर लेते है, अर्थात् भक्तोंको मुक्त कर देते है ऐसा कहा है।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

भग० ११।१५

अर्थ- अर्जुनने श्रीकृष्णजीसे प्रार्थना करके कहा (देव) हे प्रकाशस्वरूप ! (तव देहे) तेरे शरीरमें (भूतविशेषसंघान्) देवतिर्यगादि प्राणियोंके समूहको (सर्वान् देवान्) तथा इन्द्रयमादि सब देवताओंको (कमलासनस्थं ब्रह्माणं) कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माको तथा (ईशं) महादेवको (च) और (सर्वान् ऋषीन्) नारदादि सब ऋषियोंको (दिव्यान् सर्वान् उरगान्) दिव्य रूप सब सर्पोंको (पश्यामि) देखता हूं॥ १५॥

वेदगीता (मंत्र)

यत्रा॑दि॒त्याश्च॑ रु॒द्राश्च॒ वस॑वश्च स॒माहि॑ताः।
भू॒तं च॒ यत्र॒ भव्यं॑ च॒ सर्वे॑ लो॒काः प्रति॑ष्ठिताः
स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि॥ अथर्व. १०।७।२२

अर्थ- हे जीवात्मन् (यत्र) जिस परमात्माके विराट् स्वरूपमे (आदित्याः) सूर्यादि प्रकाशक चंद्र, विद्युत्, तारा, अग्नि, तथा (च रुद्राः) और एकादशरुद्र तथा (वसवः) आठ वसुगण (समाहिताः) भली प्रकार स्थित हैं। (च यत्र) और परमात्माके जिस विराट् स्वरूपमें (भूतं च) उत्पन्न हुआ हुआ जगत् (भव्यं च) और आगे उत्पन्न होनेवाला जगत् (च सर्वे लोकाः) और सारे लोकलोकान्तर (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तं) उसे (स्कंभं) ब्रह्म (ब्रूहि) कह। तथा च-

वेदगीता (मंत्र)

यस्मि॒न् भूमि॑र॒न्तरि॑क्षं॒ द्यौर्यस्मि॒न्नध्याहि॑ता।
यत्रा॒ग्निश्च॒न्द्रमाः॒ सूर्यो॒ वात॑स्तिष्ठ॒न्त्यार्पि॑ताः
स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि॥ अथर्व. १०।७।१२

अर्थ- जिस परमात्माके विराट् स्वरूपमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चंद्र, सूर्य, वायु स्थित हैं, उसे ब्रह्म कह।

तुलना- गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णके विराट् रूपमें प्राणि, अप्राणिमात्रको और ब्रह्मा, शिवादि देवताओं और ऋषियोंको वासुकी आदि सर्पोंको देखा। वेदमें भी परमात्माके विराट् रूपमें सूर्यादि प्रकाशकग्रह तथा एकादशरुद्र आठ वसु, सारे लोक-लोकान्तर, भूमि, आकाश, अग्नि, चद्रमा, सूर्य, वायु स्थित कही हैं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

भग० ११।१६

अर्थ- (विश्वेश्वर !) हे समान विश्वके स्वामिन् ! तथा सर्वाधिपते ! (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं) अनेक भुजा, उदर और नेत्रोंवाले और (अनन्तरूपं) अनन्त रूपोंवाले (त्वा) तुझे (सर्वतः पश्यामि) चारों ओर देखता हूं। (विश्वरूप) हे सर्वस्वरूप ! (पुनः) फिर (तव) तेरे (न आदि) न आदिको (न मध्यं) न मध्यको (न अन्तं) न अन्तको (पश्यामि) देखता हूं॥ १६॥

वेदगीता (मंत्र)

अतो॒ विश्वा॒न्यद्भु॑ता चिकि॒त्वाँ अ॒भि प॑श्यति।
कृता॑नि॒ या च॒ कर्त्वा॑॥ ऋ. १।२५।११

अर्थ- (चिकित्वान्) ज्ञानी, दिव्य दृष्टिवाला योगी (अतः) इस परमात्माके विराट् स्वरूपमें (विश्वानि अद्भुतानि) सब अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रादि आश्चर्य करनेवाले कर्म (कृतानि) पहिले सृष्ट्युत्पत्तिमें किये तथा (च) और (कर्त्वा) आगे आश्चर्यमय किये जानेवाले कर्मोंको (अभिपश्यति) संमुख देखता है।

तुलना- वेदमें और गीतामें विराट् रूपका वर्णन है जिसमें अर्जुन तथा ज्ञानी योगी उसी विराट् रूपमें अनेक स्वरूप, विविध प्रकारकी आश्चर्य करनेवाली वस्तु तथा भूमि, अन्तरिक्ष, सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, वायु आदिको देखा और कहा कि मैं आपके विराट् रूपमें सारे ब्रह्माण्डको देख रहा हूं।

---

(१) चिकित्वान्= किति-ज्ञाने लिटः क्वसुः " अभ्यासहलादिशेषचुत्वानि। " वस्वेकाजाद्घसामिति इति नियमादिडभावः। रुत्वाऽनुनासिकावुक्तौ संहितायाम्।

(२) कर्त्वा= कृत्यार्थे तवैकेन् केन्यत्वनः, इति करोतेस्त्वन् " शेश्छंदसि बहुलम् " इति शेर्लोपः।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्। पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ भग० ११।१७

अर्थ- हे भगवन्! (तेजोराशिं) अपने तेजके समूहवाले (सर्वतः दीप्तिमन्तं) और चारों ओर प्रकाशज्वालासे देदीप्यमान (दीप्तानलार्कद्युतिं) अत्यन्त जलते हुए अग्नि और सूर्य जैसे प्रकाशवाले (अप्रमेयम्) प्रमाणसे बाहर अर्थात् अपरिच्छिन्न (समन्तात् दुर्निरीक्ष्यं) चारों ओर कठिनतासे देखने योग्य (किरीटिनं) मुकुटधारी (गदिनं) गदाधारी (चक्रिणं) सुदर्शन चक्रधारी (त्वां) तुझे (पश्यामि) मैं देखता हूँ ॥ १७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

त्वमिन्द्राऽभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥

ऋ. ८।९८।२, अथर्व. २०।६२।६

अर्थ- (हे इन्द्र!) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (त्वं) तू (अभिभूः असि) सब सूर्याग्न्यादि तेजस्वी पदार्थोंको दबानेवाला है अर्थात् आप सबसे अधिक तेजस्वी हैं। (त्वं) तूने (सूर्यम्) सूर्यको (अरोचयः) अपने प्रकाशसे प्रकाशित किया (त्वं विश्वकर्मा) तू ही जगत्‌के बनानेवाला है अर्थात् विश्वरचना ही तेरा कर्म है। (विश्वदेवः) सबका प्रकाशक और सबका पूज्य है (महान् असि) बडेसे बडा और पूज्य है॥ २

तुलना- गीतामें श्रीकृष्णजीके विराट् स्वरूपमें तेजस्वियोंसे तेजस्वी स्वरूपको चारों ओर ज्वालासे प्रकाशमान, सिरपर मुकुट, हाथमें गदा और चक्र धारण किये हुए देखा।

वेदमें भी यही कहा है परमात्मा अपने तेजसे सबको दबा रहा है, सूर्यको प्रकाश देनेवाला परमात्मा विश्वकर्मा, और विश्वदेव वही है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ भग० ११।१८

अर्थ- हे भगवन् कृष्ण! (त्वं) तू (अक्षरं) निरवयवतासे तथा निराश्रयतासे तथा अक्रिय होनेसे, अव्यय और अनन्त होनेसे अक्षर ब्रह्म है। (त्वं) तू (परमं वेदितव्यम्) भक्तजनोंसे अत्युत्कृष्ट तू ही जानने योग्य है (त्वं) तू (अस्य विश्वस्य) महदादि स्थूलपर्यन्त इस विश्वका (परं निधानं) उत्तमस्थानि जगद्बीज है। (त्वं) तू (अव्ययः) अविकारी है (शाश्वतधर्मगोप्ता) वेदधर्मका रक्षक तू है (त्वं) तू (सनातन पुरुषः मे मतः) तू नित्य पुरुष अर्थात् पुराण पुरुष मुझसे माना गया है॥ १८॥

वेदगीता (मंत्र)

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः। स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः॥

अथर्व. ११।२।११

अर्थ- (पशुपते!) हे जीवमात्रके स्वामिन् परमात्मन्! (तव अयं) तुझ परमात्माका यह विराट् देह (उरुः) परम महान् है (कोशः) सकल प्राण्यप्राणियोंका मूल बीज रूप है। (वसुधान) और जीवोंके वासस्थान सूर्य पृथिव्यादि जिसमें धान है अर्थात् कणरूप हैं। (यस्मिन्) जिस विराट् देहमें (इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) यह दृश्यमान सारे लोक अन्दर वास करते हैं (ते नमः अस्तु) हे परमात्मन्! आपको नमस्कार। (परः) दूसरे (क्रोष्टारः) शोर मचानेवाले स्यारादि तथा (अभिभाः) अपने बल और तेजके प्रभावसे दूसरेके बल और तेजको दबानेवाले सिंहादि जीव, तथा (श्वानः) कुत्ते (अघरुदः) पापाचरणके कारण अत्यन्त क्रूर शोर मचानेवाले जीव और (विकेश्यः) विविध प्रकार भयंकर बालोंवाले अथवा बालोंसे रहित मुंडे हुए सिरोंवाले ये सब तुझमें विद्यमान हैं जिनसे मुझे भय लगता है अतः वे (परः यन्तु) मेरे आंखोंसे दूर हों। अतः (सः) वह सच्चिदानन्द परमात्मा (नः मृड) हमें सुखी कर॥ ११॥ यथा उपनिषदोंमें भी है- " एतद्वै तदक्षरं गार्गि " " अव्यक्तात्तु परः पुरुषः " " स आत्मा स विज्ञेयः " " प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् " इति ब्रह्मसूत्रे। " न सन्नासन्न सदसदिति आत्मन् एव त्रैविध्यं सर्वत्रयोनित्वमपि " " एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषो लोकानामसंभेदाय " " अयमात्मा ब्रह्म " इत्यादि उपनिषद्‌के वचनोंसे और ब्रह्मसूत्राधारसे परमात्मा सबसे महान् है।

तुलना- गीतामें अक्षरब्रह्म, सारे संसारका मूल बीज, अविकारी और वेदधर्म और वेदमर्यादा रक्षक सनातन परम पुरुष कहा है। वेद और उपनिषद्‌में भी परमात्माको महान्‌से महान् सारे चराचर जगत्‌का मूल बीज, सात्विक, राजस,

तामस, सब प्रकारके जीव उसीमें वास करते हैं और वही सबका रक्षक है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ भग० ११।१९

अर्थ– हे विराट् रूप कृष्ण! (अनादि मध्यान्तं) आदि मध्य और अन्तसे रहित, (अनन्तवीर्यम्) आपमें वीरोंके कर्मका अन्त भी नहीं है (अनन्तबाहुम्) अनन्त बाहुवाले (शशिसूर्य नेत्रम्) चंद्र और सूर्य जिसकी आंखें हुए। (दीप्त हुताशवक्त्रं) जलती हुई आग ही जिसका मुख है ऐसे (स्वतेजसा) अपने तेजसे सूर्यकी तरह (तपन्तम्) तपते हुए (त्वां) तुझे (इदं विश्वं) इस सारे तुझको (पश्यामि) मैं देखता हूं। यह सारा विश्व तू ही है तुझसे भिन्न कुछ नहीं है॥ १९॥

वेदगीता (मंत्र)

यस्य॒ सूर्य॒श्चक्षु॑श्च॒न्द्रमा॑श्च॒ पुन॑र्णवः। अ॒ग्निं यश्च॒क्र आ॒स्यं॑ तस्मै॑ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑॥

अथर्व. १०।७।३३

अर्थ– (सूर्यः) सूर्य (पुनः नवः) प्रतिदिन फिर फिर नया (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (यस्य) जिस विराट् रूपकी (चक्षुः) आंखें हैं। (यः) जिस विराट्ने (अग्निं) अग्निको (आस्यं चक्रे) मुख बना लिया है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सबसे ज्येष्ठ (ब्रह्मणे) परमात्माको (नमः) नमस्कार हो॥ ३३॥

तुलना– गीता और वेदमें अनन्त शक्ति, अनन्त स्वरूप, आदि मध्य और अन्तहीन अपने तेजसे प्रकाशमान सूर्य और चंद्र नेत्रोंवाला और अग्नि जिसका मुख है ऐसा कहा। " एष सर्वेश्वरः " " यतो वा इमानि भूतानि जातानि " इत्याद्युपनिषद् भी कहती है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः। दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ भग० ११।२०

अर्थ– (हि) जिस कारणसे (त्वया एकेन) तुम एक विराट् रूपसे (द्यावा पृथिव्योः) भूमि और आकाशका (इदं अन्तरं) यह अन्तराल अर्थात् मध्यभाग (व्याप्तम्) व्याप्त कर लिया अर्थात् भर दिया। (सर्वा दिशः) प्राची अवाची आदि सब दिशाएं तुम विराट् रूपने व्याप्त कर लो अर्थात् चराचरात्मक सारा जगत् तुमसे परिपूर्ण है। (महात्मन्) हे सबसे बडे! (तव) विश्वरूप आपका (अद्भुतं) अद्भुत रूप अर्थात् आश्चर्यमय करनेवाले (उग्रं) भय देनेवाले (इदं) इस विराडात्मक (रूपं) स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयं) तीनों लोकोंमें वर्तमान प्राणिजात (प्रव्यथितं) व्याकुलतासे कांप उठा है॥ २०॥

वेदगीता (मंत्र)

यस्मि॒न् भूमि॑र॒न्तरि॑क्षं॒ द्यौर्यस्मि॒न्नध्याहि॑ता। यत्रा॒ग्निश्च॒न्द्रमाः॒ सूर्यो॒ वात॒स्तिष्ठ॒न्त्यार्पि॑ताः॥

अथर्व. १०।७।१२

अर्थ– (यस्मिन्) जिस विराट रूप परमात्मामें भूमि, आकाश, और आकाशस्थ सूर्यचंद्रादि (अध्याहिता) व्याप्य रूप होकर स्थित है। और जिसमें अग्नि, चंद्रमा, सूर्य चंद्रादि सूर्य और वायु समाए हुए ठैरते हैं अर्थात् अकेले विश्वरूप परमात्मासे घिरे हुए हैं॥ १२॥ यद्वा—

वेदगीता (मंत्र)

अ॒ग्निर्द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वज॑न्ये॒ आ भा॑ति दे॒वी अ॒मृते॒ अमू॑रः। क्षय॒न् वाजैः॑ पुरु॒श्च॒न्द्रो नमो॑भिः॥

ऋ. ३।२५।३

अर्थ– (अमूरः=अमूढः) सर्वज्ञ (क्षयन्) सारे संसारको अपने अपने कर्मफलानुसार भिन्न भिन्न योनिमें वास कराता हुआ अतएव सारे जगत्का स्वामी (पुरुः) सबसे महान् अर्थात् सबमें व्यापक (चंद्रः) चंद्रमाकी तरह दीप्ति स्वरूप और भक्तोंके हृदयोंको शीतल करनेवाला तथा (पुरुश्चंद्रः) बहुदीप्ति रूप (वाजैः) तीव्र प्राप्त होनेवाली (नमोभिः) नमस्कारोंसे (अग्निः) अग्निवत्सर्वत्र व्यापक अथवा अग्निमुख परमात्मा (विश्वजन्ये) विश्वके जनन करनेवाली तथा विश्व ही जिससे उत्पाद्य है ऐसी (देवि) विराट् रूपके प्रकाशसे प्रकाशमान (अमृते) मरणधर्मरहित (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी (आभाति) परमात्माकी व्याप्तसत्तासे प्रकाशित होती हैं॥ ३॥

यद्वा—

वेदगीता (मंत्र)

यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद्यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः । यस्येन्द्रस्य सिंधवः सश्चति व्रतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥

ऋ. १।१०१।३

अर्थ- (यस्य) जिस परमात्मा विराट् रूपका (महत् पौंस्यं) अत्यधिक व्याप्ति बल (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीमें व्याप्त है। (यस्य) जिस परमात्माके (व्रते) नियमनरूप कर्ममें (वरुणः) जलाभिमानी वरुण देवता तथा जल (सूर्यः च) और सूर्य रहता है। अर्थात् सब देवता उसकी आज्ञासे चलते हैं। (सिंधवः) नदियें, (यस्य इन्द्रस्य) जिस सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके (व्रतं) आज्ञात्मक कर्मको अर्थात् नियम पालनको (सश्चति) प्राप्त होते है अर्थात् ईश्वरकी आज्ञाको मानते हुए अपना काम करते हैं। " यद्भयात् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् । " (मरुत्वन्तं) उस परमात्माको (सख्याय) स्नेहपूर्वक मित्रता करनेके लिये (हवामहे) आह्वान करते हैं अर्थात् हम भी परमात्माको सर्व व्यापक जानते हुए सर्वदा उसके साथ स्नेह करते रहें। यही बात नृसिंहतापिनी उपनिषद्में कहा है—

कस्मादुच्यते भीषणम् । यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यत: कुतश्च न बिभेति । भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति ॥ उत्तरखंड २, श्रु० ४

तुलना- गीतामें विराट् रूपका आकाश और पृथिवीमें तथा सब दिशाओं व्याप्त होना कहा है। ऐसे विराट्के अद्भुत स्वरूपको देखकर तीनों लोकोंमें रहनेवाले जीवजंतु भयसे कांपने लगे। वेदमें भी पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्युलोक, अग्नि, चंद्रमा, सूर्य, वायु उस विराट् रूपमें विराजमान हैं। जल, अग्नि, और सब देवता उसको आज्ञाका पालन करते हुए नियमानुसार अपना कार्य कर रहे हैं ऐसा कहा है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति । स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ भग० ११।२१

अर्थ- (हि) जिस कारणसे वैदिक धर्मका रक्षक उग्र भी अद्भुत स्वरूपवाला तुझे देखनेके लिये (केचित्) यह कई बलवान् (सुरसंघा) देवताओंका समूह (त्वां विशन्ति) तुझमें प्रवेश करते हैं अर्थात् तेरे समीप आते हैं (केचित्) कई निर्बल जीव (भीता:) तेरे अद्भुत स्वरूपको देखकर भयभीत हुए हुए (प्राञ्जलयः) हाथ जोडे हुए (गृणन्ति) स्तुति करते हैं। (महर्षि सिद्धसंघाः) महर्षि भृगु नारदादि और सिद्ध कपिलादियोंके समूह (स्वस्ति) कुशल हो (इति उक्त्वा) यह कहकर (पुष्कलाभिः स्तुतिभिः) बडी बडी स्तुतियोंसे (त्वां स्तुवन्ति) तेरी स्तुति करते है।

वेदगीता (मंत्र)

गायन्ति त्वा गायत्रिणो[1] अर्चन्त्यर्कमर्किणः[2][3] । ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव[4] येमिरे ॥

ऋ. १।१०।१, सा. प्रपा. ४, खं. १२, पूर्वार्चि म. १

अर्थ- (हे शतक्रतो) हे सैंकडो कर्मोंवाले तथा अधिक बुद्धिवाले परमात्मन्! (गायत्रिणः) गायत्रीद्वारा भगवन्नाम गायक देवताओंका समूह (त्वा गायन्ति) तेरे स्वरूपका गान करते हैं (अर्किणः) भगवत्पूजाके प्रतिपादन करनेवाले मंत्रोंसे तेरी उपासना करते हुए, महर्षियोंका समूह (अर्कम्) पूजनीय तुझ परमात्माको (अर्चति) वेदमंत्रोंच्चारण द्वारा (अर्चन्ति त्वां) तेरी पूजा करते है। (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणजन (त्वां) तुझे (वंशमिव) परंपरागत वंशकी तरह (उद् येमिरे) स्तुतिद्वारा बहुत ऊंचा मानते हैं ॥ १ ॥

---

(१) गायत्रिणः= गायत्रं साम येषामुद्गातॄणा अस्ति ते गायत्रिणः " अत इनिठनौ " इन् प्रत्ययः ।

(२) अर्चन्ति= अर्कः देवो भवति यदेवमर्चन्ति (निरु. ५।४ अर्च= पूजायाम्) अर्कमर्चन्ति एभिः इत्यर्काः मंत्राः तैः अर्चनीयतया तदात्मकः इन्द्रोऽपि लक्षणयार्थः " पुंसिसंज्ञायांघः प्रायेण " इति करणेघः " चजो कुधिण्यतोः " इतिचकारस्य कुत्वम् ।

(३) अर्किणः= अर्कः मंत्रः ईश्वरो वा एषां सन्तीत्यर्किणः परमेश्वरोपासकाः " एकाक्षरात्कृतोजते ससम्यांचन तौ स्मृतौ " इतीनिठनौ यद्यपि प्रतिषिद्धौतथाऽप्यत्र व्यत्ययाद्विनिः ।

(४) वंशमिव= " इवेन सहनित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च । "

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा.व्य
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३)	॥)
३	सामवेद	४)	१)
४	अथर्ववेद (समाप्त होनेसे पुनः छप रहा है।)		
५	यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
७	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१)
८	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१)
९	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
१०	यजुर्वेद वा० सं० पादसूची	१॥)	॥)
११	यजुर्वेदीय मैत्रायणीयमारण्यकम्	॥)	≈)
१२	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)

दैवत-संहिता

१	अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	४)	१)
२	इन्द्र देवता मंत्रसंग्रह	३)	॥)
३	सोम देवता मंत्रसंग्रह	२)	॥)
४	उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	१)	१)
५	पवमान सूक्तम् (मूल मंत्र)	॥)	≈)
६	दैवत संहिता भाग २ [छप रही है]	६)	१)
७	दैवत संहिता भाग ३	६)	१)

ये सब ग्रंथ मूल मात्र हैं।

८ अग्नि देवता— [मुंबई विश्वविद्यालयने बी. ए. ऑनर्सके लिये नियत किये मंत्रोंका अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ संग्रह] ॥) ≠)

सामवेद (कौथुम शाखीय)

१ ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः-आरण्यक गानात्मकः प्रथमः तथा द्वितीयो भागः ६) १)

२ ऊहगान— (दशरात्र पर्व) १) ।)
(ऋग्वेदके तथा सामवेदके मंत्रपाठोंके साथ ६७२ से ११५३ गानपर्यंत)

३ ऊहगान— (दशरात्र पर्व) ॥) ≠)
(केवल गानमात्र ६७२ से १०१६)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें) १६) २)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	।)
२ मेधातिथि ,, ,,	२)	।)
३ शुनःशेप ऋषिका दर्शन	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप ,, ,,	१)	।)
५ कण्व ,, ,,	२)	।)
६ सव्य ,, ,,	१)	।)
७ नोधा ,, ,,	१)	।)
८ पराशर ,, ,,	१)	।)
९ गोतम ,, ,,	२)	।≈)
१० कुत्स ,, ,,	२)	।≈)
११ त्रित ,, ,,	१॥)	।≈)
१२ संवनन ,, ,,	॥)	≈)
१३ हिरण्यगर्भ ,, ,,	॥)	≈)
१४ नारायण ,, ,,	१)	।)
१५ बृहस्पति ,, ,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी ,, ,,	१)	।)
१७ विश्वकर्मा ,, ,,	१)	।)
१८ सप्त ,, ,,	॥)	≈)
१९ वसिष्ठ ,, ,,	७)	१॥)

यजुर्वेदका सुबोधभाष्य

अध्याय	१— श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥)	≈)
अध्याय	३०— मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२)	।≈)
अध्याय	३२— एक ईश्वरकी उपासना	१॥)	≈)
अध्याय	३६— सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१॥)	≠)
अध्याय	४०— आत्मज्ञान-ईशोपनिषद्	२)	।≈)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	३॥)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

वर्ष ३७

वैदिक धर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र

अंक ९

सितम्बर १९५६ ❀ भाद्रपद २०१३

सन्माननीय श्री मोरारजीभाई देसाई
बंबई प्रदेशके मुख्य मन्त्री

वैदिक धर्म

[सितम्बर १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

[मुखपृष्ठपरका ब्लॉक- "प्रताप" सूरतके सौजन्यसे]

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय १ श्रेष्ठतम कर्मका आदेश १॥) रु.
,, ३२ एक ईश्वरकी उपासना अर्थात् पुरुषमेध १॥) ,,
,, ३६ सच्ची शांतिका सच्चा उपाय १॥),,
,, ४० आत्मज्ञान - ईशोपनिषद् १) ,,
डाक व्यय अलग रहेगा।

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम'
किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वर्ष ३७ वैदिक धर्म अंक ९

क्रमांक ९३

भाद्रपद, विक्रम संवत् २०१३, सितम्बर १९५६

वीरका शौर्य

भीमो विवेषायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान् ।
इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि धूनोद् वि वज्रहस्तो महिना जघान ॥

ऋ. ७।२१।४

(इन्द्र नर्याणि विश्वा अपांसि विद्वान्) इन्द्र लोगोंके हित करनेके सब करने योग्य कर्मोंको जानता है, (आयुधेभिः भीमः एषां विवेष) शस्त्रोंसे भयंकर हुआ यह इन्द्र इन शत्रुसेनाओंमें घुसता है और शत्रुके (पुरः वि धूनोत्) नगरोंको यह कंपाता है तथा (जर्हृषाणः महिना वज्रहस्तः वि जघान) यह आनंदित होता हुआ अपनी शक्तिसे हाथमें वज्र लेकर शत्रुका वध करता है।

वीर जनताका हित करनेके सब कार्य कैसे करने चाहिये यह ठीक तरह जाने, अपने शस्त्रास्त्र अपने पास रखे और शत्रुसेनामें घुसे तथा शत्रुके नगरोंको कंपावे, भयभीत करे, पश्चात् आनंदसे हाथमें वज्र लेकर शत्रुका वध करे।

श्री माननीय राजयपाल बंबई राज्यका शुभ आगमन- स्वाध्यायमण्डलका कार्य देखनेके लिये बंबई राज्यके माननीय राज्यपाल श्री डा० हरेकृष्ण महताब ता. २५।८।५६ शनिवारके दिन प्रातः ९ बजेसे १० बजेतक स्वाध्यायमंडलमें पधारे थे। इसका वृत्तांत पृथक् पृ० २४७ पर दिया है।

१ योगमहाविद्यालय- योगमहाविद्यालयके आसनके वर्ग चालू हुए हैं। वृष्टीका जोर कम हुआ है और जो बाहरसे आते हैं उनके आनेमें जो वृष्टीकी रुकावट थी वह दूर हुई है।

२ वेदमहाविद्यालय- वेदमहाविद्यालयके वर्ग शुरू होनेमें अभी एक मासकी देरी हैं। विद्यार्थी जो बाहरसे दाखल होनेवाले हैं वे स्थान स्थानपर रुके है। किसी स्थान पर महापुर, किसी स्थानपर और कुछ ऐसी रुकावट बहुत स्थानोंमें हुई है।

३ गायत्री-जपका अनुष्ठान- गत मासमें प्रकाशित जपके पश्चात् इस मासमें यह जपसंख्या हुई है—

१ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१२५०००
२ सांगोद तुलशा राजस्थान- श्री रामकृष्ण महाराज	१०६८१२
३ रूपइडिहा (बहराइच)- श्री हरिवंशप्रसाद उपाध्याय	१०००००
४ अमदाबाद- श्री रामचन्द्र ज. सोमण	१०१०००
५ वसई- श्री गो. कृ. मोघे	१०१९६८
६ रामेश्वर- श्री रा. ह. रानडे	७१०००
७ अमदाबाद- श्री. अ. स. वणीकर	१६२००
८ बंगाडी- श्री ग. अ. मेहेंदळे	७०००
९ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	३१००
१० दारेसलाम- सत्संग मंडल, नासिभो	६२५०००
संयोग	१२,५७,०८०
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	१०३,४५,१२५
कुल जपसंख्या	११६,०२,२०५

अब केवल बीस लाख जप होनेकी जरूरत है तब यह अनुष्ठान होगा। तत्पश्चात् वृष्टीकाल समाप्त होते ही 'गायत्री-महा-यज्ञ' यहां किया जायगा।

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

मुंबई प्रदेशके सन्माननीय राज्यपाल

श्री. डॉ. हरेकृष्ण महताबजी का

स्वाध्याय-मंडलमें शुभागमन

ता. २५ आगष्ट १९५६ शनिवारके दिन प्रातःकाल ठीक ९ बजे मुंबई राज्यके श्रीमान माननीय राज्यपाल डा० **हरेकृष्ण महताब** स्वाध्यायमंडल देखनेके लिये पधारे। मुख्य उद्यानके मध्य द्वारमें माननीय राज्यपालजीकी मोटार आते ही पं. सातवलेकर, अध्यक्ष स्वाध्याय-मंडलने उनका स्वागत करके उनको पुष्पहार तथा पुष्पगुच्छ अर्पण किया और वे दोनों उसी मोटारमें बैठकर स्वाध्यायमण्डलके भारत-मुद्रणालयमें निरीक्षण करनेके लिये गये। वहां पहुंचते ही द्वारपर ही श्री वसंत सातवलेकर मंत्री स्वा० मंडलका परिचय राज्यपालजीके साथ किया गया और वे-

संस्कृतभाषा प्रचार समितिके कार्यालय

में गये। वहां संस्कृत प्रचारकी प्रगति और परीक्षार्थीयोंकी संख्यावृद्धि कैसी हो रही है, यह देखकर श्री राज्यपालजी प्रसन्न हुए। भारतभरमें संस्कृत प्रचारके स्वा० मंडलके केन्द्र ४०० से अधिक हैं और प्रतिवर्ष १२००० से अधिक परीक्षार्थी इनकी विविध परीक्षाओंमें उपस्थित रहते हैं। यह देखकर पूज्य [illegible]तिथीने आनंद प्रकट किया।

संस्कृतभाषा, गीता, उपनिषद्, वेद आदिकी परीक्षाएं होती हैं। इस कार्यको करनेके लिये इनके पाठ्य पुस्तक बनाये है, इनका अध्ययन इतने केन्द्रोंमें होता है। इससे संस्कृतभाषाका प्रचार तथा वैदिक संस्कृतिका प्रचार हो रहा है। यह प्रत्यक्ष कार्य देखकर माननीय अतिथी संतुष्ट हुए।

प्रकाशन विभाग

इसके पश्चात् माननीय अतिथि वैदिक ग्रंथोंके प्रकाशन
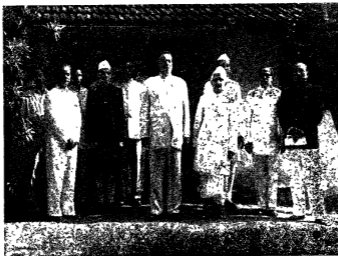
भारत-मुद्रणालयके प्रवेश द्वारमें

बायें हाथसे- [२] श्री. वसन्त सातवलेकर [४] श्री. भट, कलेक्टर सुरत [६] सन्माननीय डॉ. महताब [७] पं. सातवलेकर

विभागमें गये। वहां वेदके संहिता ग्रंथ, उपनिषदोंके अनुवाद, रामायण, महाभारत आदिके हिंदी, गुजराती, मराठी, ग्रंथ देखकर और इतना यह सब प्रकाशन यहां अपने ही मुद्रणालयमें हुआ, यह जानकर आपने प्रसन्नता प्रकट की। तत्पश्चात् वे वेदमंदिरमें आ गये। वहां पारडी, बलसाड, उद्वाडा तथा वापी ग्रामोंके प्रमुख हिंदु, पारसी तथा मुसलीम, नागरिकोंकी सभा श्रीमान् राज्यपालजीके सम्मानार्थ बुलायी थी। सब सज्जन वेदमंदिरमें उपस्थित थे। वेदमंदिरमें श्रीमाननीय राज्यपाल दाखल होते ही सब सज्जनोंने उनके संमानार्थ उत्थापन दिया और पूज्य अतिथिके स्थानापन्न होनेपर सब अपने स्थानपर बैठ गये। स्त्रियों और पुरुषोंके स्थान पृथक् थे।

स्थानापन्न होते ही पं. सातवळेकरने अपना भाषण हिंदीमें शुरू किया, वह ऐसा है—

पं. सातवलेकरका भाषण

स्वाध्यायमण्डलके सब कार्यकर्ता, सदस्य और हितचिन्तकोंकी ओरसे मैं आपका हार्दिक स्वागत करता हूं। स्वाध्यायमण्डल एक रजिस्टर्ड संस्था है और गत ३८ वर्षोंसे वेदादि सांस्कृतिक ग्रंथोंके संशोधनका कार्य कर रही है। आप संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृतिके ऊपर अतुल प्रेम रखते हैं, इस कारण स्वाध्याय मंडलका प्रेम आपके साथ संलग्न हुआ है। आजतक आपको जहां जहां अवसर प्राप्त हुआ, वहां आपश्रीने संस्कृतभाषा और भारतीय संस्कृतिकी प्रशंसा की है। और आपश्रीसे हो सकता है वह संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृतिकी उन्नतिके लिये आपने किया है। इस कारण हमारे अन्तःकरणमें आपश्रीके विषयमें गौरवान्वित उच्च आदर भाव रहता है।

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य संमेलन

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य संमेलनका तेईसवां अधिवेशन बंबईमें थोडे ही दिनोंके पूर्व हुआ था। उसके उद्घाटन करनेके समय आपने जो भाषण किया था, वह संस्कृत भाषाके गौरव करनेके लिये था। वह भाषण अखिल भारतसे आये संस्कृतभाषाका उद्धार चाहनेवाले सहस्त्रों प्रतिनिधियोंके अन्तःकरणोंमें आदरके समेत स्थिर रहा है। आपके भाषणमें 'संस्कृत भाषाका पठन पाठन सरल पद्धतिसे होना चाहिये' यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अत्यंत व्यवहारयोग्य सूचना सब संस्कृत प्रेमियोंको पसंद होने योग्य थी। मैं इस संमेलनका स्वागताध्यक्ष था, इसलिये मुझे भी यह सूचना अत्यंत प्रिय लगी, क्यों कि—

संस्कृत भाषाकी सरल पढाई

संस्कृत भाषाकी पढाई सरल पद्धतिसे करनेके लिये हमने स. १९१४ से प्रयत्न जारी रखे हैं। और 'स्वयंशिक्षक' की पद्धतिसे हमने पाठ्य पुस्तकें बनायीं जिनके १४ १५ वार मुद्रण करने पडे और प्रतिवार ४।५ हजार छपाई होती रही है। प्रतिदिन एक घण्टा इन पुस्तकोंका अध्ययन करनेसे दो वर्षोंमें रामायण महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है। इतनी सुगम यह पाठ पद्धति है।

संस्कृतभाषाकी परीक्षाएं

इस पद्धतिका ऐसा उपयोग होता है, यह देखकर हमने गत पांच वर्षोंसे संस्कृतभाषाकी

परीक्षाएं लेनेका कार्य शुरू किया है। प्रति वर्ष फर्वरी और सितंबर इन महिनोंमें परीक्षाएं होती हैं और दस बारह हजार विद्यार्थी इन परीक्षाओंमें बैठते हैं। हमारे केन्द्र करीब ४०० से अधिक हैं और वे काश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बंगाल, बिहार, कर्नाटक आंध्र आदि सब प्रांतोंमें, उन प्रांतोंकी प्रचलित भाषाओंमें हैं, और वे हमारा संस्कृत भाषाके प्रचारका कार्य चला रहे हैं।

बबई सरकारने हमारी परीक्षाओंको मान्यता दी है।

१ हमारी संस्कृत 'साहित्य प्रवीण' परीक्षा मेट्रिकके बराबर है।
२ ,, ,, 'साहित्य रत्न' ,, इन्टरके ,,
३ ,, ,, 'साहित्याचार्य' ,, बी. ए.के ,,

भारतीय संस्कृतिकी जाग्रति

इसतरह हमारी परीक्षाओंकी योग्यता सरकारने निश्चित की है और वैसी मान्य भी की है। केवल संस्कृत प्रचार करना ही हमारा उद्देश्य नहीं है; साथ साथ भारतीय संस्कृतिकी जाग्रति भी करनी चाहिये। इसलिये वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रंथोंकी पढाई भी हमने जारी की है, इनके पाठ्य पुस्तक बनाये हैं और उनकी परीक्षाएं भी हम लेते हैं।

खोजसे नयी दृष्टि

हमारी खोजसे इन ग्रंथोंको समझनेकी एक नयी दृष्टि हमें प्राप्त हुई है और हमारे भाष्य अथवा ग्रंथ इस नवीन दृष्टिसे युक्त रहते हैं। यह दृष्टि किसी अन्य प्रकाशनोंमें नहीं मिलेगी, परंतु केवल यहांके प्रकाशनोंमें ही यह मिलेगी।

आजतक ऐसा समझा जाता था कि 'इस विश्वको त्यागनेके विना परमेश्वर प्राप्ती नहीं होती,' परंतु हमारी खोजसे यह स्पष्ट हुआ है कि 'यह विश्वरूप ईश्वरका ही रूप है,' (देखो गीता अ. ११) इस कारण इस विश्वमें रहकर इस विश्वरूपकी सेवा, अपनी सब शक्तियां लगाकर, निष्कामभावसे करनेसे ही मनुष्यके जन्मका सार्थक हो सकता है।

इस विश्वमें परमेश्वर ओतप्रोत भरा है, इसलिये यह विश्व असार नहीं, परंतु यह सच्चिदानंदसे परिपूर्ण है। मनुष्यको अपनी अपूर्णतासे दुःख प्रतीत होता है। वह पुरुषार्थ प्रयत्नसे दूर हो सकता है। इस विश्वरूपी परमेश्वरकी सेवासेही मनुष्य परमानन्दका अनुभव कर सकता है।

सर्वत्र समभावका दर्शन

विश्वभरमें आत्मिक समभावका दर्शन करना और अपने व्यवहारमें उस समभावको लाना मानवी उन्नतिका मुख्य साधन है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

इस कार्यको हमने सिद्ध करना है, इसीलिये हमने अपने मनको 'शिव संकल्पमय' बनाना है। यह करनेके लिये हमने (१) 'योगमहाविद्यालय' और 'वेदमहाविद्यालय' यहां खोले हैं। जो सीखनेके लिये आते हैं, उनको योग और वेदका शिक्षण हम मुफ्त देते हैं। और इस सेवाको हम जितना हमसे शक्य होगा उतना बढाना चाहते हैं। जाति, धर्म, प्रांत आदि सब भेदोंको दूर रखकर हमने इस तरह मानव सेवा करनेका यह कार्य यहां शुरू किया है।

वेदादि ग्रंथोंकी खोजसे हमें नीचे लिखे बातोंका ज्ञान प्राप्त हुआ है।

१ विश्वमें सब मानवोंकी उन्नति उनकी शक्तियोंका समविकास होनेसे तथा उनका मन 'शिवसंकल्पमय' होनेसे होती है। सत्यधर्मका यही कर्तव्य है। धर्मधर्मके झगडे व्यर्थ हैं। सत्यधर्ममें झगडोंके लिये कोई स्थान नहीं।

२ वेदकी खोज करनेसे हमें नीचे लिखी विद्याएं थी ऐसा विदित हुआ है।

- — घोडेके विना वेगसे चलनेवाले रथ थे।
- — पक्षियोंके आकारके विमान थे। वे तीन दिनतक विना विश्राम लिये आकाशमें उडते थे।
- — टांग कटनेपर लोहेकी टांग बिठलाई जाती थी और मनुष्य चलने फिरने योग्य होता था।
- — पशुकी ग्रंथी मनुष्यपर बिठलायी जाती थी। मनुष्यको बकरेके अंड बिठलाकर कार्यक्षम पुरुष बनाया जाता था।
- — अन्धेको दृष्टी दी जाती थी। वृद्धको तरुण बनानेकी विद्या थी।
- — वध्यां गौको गर्भवती बनाकर दुधारू बनानेकी विद्या थी।

— चौदह प्रकारके राज्यशासन प्रचलित थे और वे विभिन्न 'देशों' में चलते थे, उनकी एक (यु-नो) संयुक्त राज्यव्यवस्था भी थी।

— सेना गणबद्ध और सुसज्ज होती थी।

इस तरह आज भी नयी प्रतीत होनेवाली विद्याएं भारतमें थीं, यह कविकल्पना नहीं है। इस तरह अनेक विषय वेद-की खोजसे प्रकट होते हैं।

इस विषयमें कहना बहुत है। पर अब हमारे पास अवकाश नहीं है। हम आपश्रीके सामने इस खोजके विषयमें यही चार वाक्य रखकर यही कहना चाहते हैं, कि आप इसका महत्त्व स्वयं जान सकते हैं। हम केवल भारतकी संस्कृतिके गुण ही गाना नहीं चाहते, परंतु उसको व्यवहारमें लानेके इच्छुक हैं। हमने कुछ भी मांगना नहीं है, यद्यपि हम आर्थिक कष्टमें ही यह सब कार्य कर रहे हैं, तथापि आपकी सहानुभूति ही हमें प्राप्त हो, इतना ही हम चाहते हैं; आप जैसे बडे विद्वानूकी सहानुभूति ही बडी सहायक हो सकती है।

आप सदा बडे बडे कार्योंमें लगे रहते हैं और भविष्यमें आपको इससे भी महान् कार्योंमें लगे रहना पडेगा। हम चाहते हैं कि ऐसा ही हो। इसमें हमारी प्रार्थना इतनी ही है, कि (१) हमारे इस वेदादि ग्रंथोंके संशोधनके कार्यमें, (२) योगसाधनके प्रचार द्वारा भारतीय तरुणोंके आरोग्य सुधार और दीर्घायुकी प्राप्ति करनेके हमारे कार्यमें (३) तथा वेद प्रचार द्वारा भारतीय संस्कृतिकी जाग्रति और उस संस्कृतिको मानवी व्यवहारमें लानेके हमारे प्रयत्नमें आपश्रीकी सहानुभूति हमें मिलती रहे। इतनी ही हमारी प्रार्थना आपश्रीके समीप है।

यह सत्कारका भाषण होनेपर पं. सातवलेकरने श्री राज्यपालजीको पुष्पहार तथा पुष्पगुच्छ अर्पण किया और भगवद्गीता पुरुषार्थ बोधिनीका एक पुस्तक भेटके रूपमें अर्पण किया।

इसके पश्चात् पारडी, उद्वादा, वापीकी अनेक संस्थाओं-के प्रतिनिधियोंने पुष्पहार तथा पुष्पगुच्छ अर्पण करके पूज्य अतिथिका सत्कार किया। इसके नंतर श्री राज्यपालजीका भाषण हुआ—

श्री राज्यपाल डॉ. हरेकृष्ण महताबजीका भाषण

"स्वाध्यायमडल संस्थाका परिचय करनेसे मुझे बडा आनंद हुआ है। बंबईमें संस्कृत साहित्य संमेलनके अवसर पर मेरे साथ पं. सातवलेकरजीकी मुलाकात हुई, उस समय पंडितजीने स्वाध्याय-मंडल देखनेके लिये निमंत्रण दिया था और मैंने वह निमंत्रण सहर्ष स्वीकार भी किया था। पर उस समय मेरा ख्याल ऐसा था कि यह संस्था एक छोटीसी संस्था होगी और थोडासा कार्य कर रही होगी। पर यहां आ-कर मैं देखता हूं तो मालूम होता है कि, यह संस्था बहुत बडी है और इसका कार्यक्षेत्र बडा है, तथा इस संस्थाके केन्द्र भारतभरमें हैं और बडा भारी कार्य चल रहा है। इतना इस

पं. सातवलेकरजी सन्माननीय राज्यपालजीको अपनी 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका अर्पण कर रहे हैं।

संस्थाके कार्यका विस्तार देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हो रही है।

"मैं संस्कृतभाषा तथा भारतीय संस्कृतिका प्रेमी हूं और मेरा निश्चय है कि संस्कृत भाषाके प्रचारसे भारतीय संस्कृतिका भी उत्तम प्रचार हो सकता है। यह प्रसार करना आवश्यक ही है। भारतीय संस्कृतिके अनुसार हमारा जीवन बनाना अत्यंत आवश्यक है। संस्कृत भाषामें इतने उज्वल शास्त्र हैं कि उनका वर्णन करनेके लिये बहुत समय चाहिये। उदाहरणके लिये 'पंचतंत्र' ही लीजिये। यह एक कथाओंका पुस्तक है। इसमें केवल कहानियां ही हैं। पर ये कहानियां राज्यशासनका उत्तम उपदेश दे रहीं है। पं. विष्णु शर्माने ये कथाएं एक राजपुत्रको राज्यशासनमें पारंगत करनेके लिये रचीं गयी थीं। और इन कथाओंको सुनकर वह राजपुत्र राजनीतिमें पारंगत भी हुआ था"

सम्माननीय डॉ. महताबजीका अभिनन्दपर भाषण

"कथाकी कथा, मनोरंजनका मनोरंजन और राजनीतिशास्त्रमें साथ साथ पारंगतता ऐसा ज्ञानका प्रवाह किसी अन्य भाषामें नहीं मिलेगा। यह ज्ञान तो संस्कृत भाषामें ही है। इसीलिये संस्कृत भाषाके प्रचार करनेसे हमारी भारतीय संस्कृतिका प्रचार होता है ऐसा हम सब कहते हैं, वह सत्य है।"

श्री राज्यपालजी आनंदाश्रममें दुग्धपान कर रहें हैं।

"स्वाध्याय-मंडलमें भारतीय सभ्यताके ग्रंथोंका संशोधन और प्रकाशन हो रहा है और यह संस्था इस ज्ञानको भारतीयोंके व्यवहारमें लानेके लिये प्रयत्न कर रही है। यह कार्य अत्यंत उत्तम है। इसलिये मेरी सहानुभूति इस संस्थाके कार्यके साथ है इतना ही नहीं, परंतु मुझसे जो सहाय्य हो सकता है वह मैं इस संस्थाको करनेके लिये तैयार हूं। क्योंकि मैं ऐसे ही सांस्कृतिक उत्थापनके कार्य भारतमें होते और बढते रहें ऐसा ही चाहता हूं। इसलिये मेरेसे जो हो सकता है, वह मैं इस संस्थाके लिये करनेको तैयार हूं। मैं ऐसे कार्योंका उत्कर्ष चाहता हूं। और मैं इस संस्थाका भविष्य उज्वल हो ऐसा ही इच्छिता हूं।"

"आजकलकी शिक्षा पद्धतिमें तैयार हुए पदवीधरोंको अपने संस्कृतिके ग्रंथोंका- अर्थात् रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् आदिका

ज्ञान जैसा रहना चाहिये वैसा नहीं रहता। यह ठीक नहीं है। इस कारण समाजमें विचारोंकी मलिनता आ गयी है। वह जल्दी दूर होनी चाहिये। देखिये वेदमें कैसे उत्तम विचार मिलते हैं—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
ऋग्वेद

' मिलजुलकर चलो, एक विचारसे बातें करो और अपने मनोंको सुसंस्कृत करो। ' यह वेदका उपदेश कितना श्रेष्ठ उपदेश है। इस तरह हमारा आचरण होना चाहिये। पं. सातवलेकरजीने अपने भाषणमें अभी कहा कि भारतीय संस्कृतिके अनुसार प्रत्यक्ष आचार व्यवहार होना चाहिये। वही मानवोंका तारण करनेवाला होगा यही सच्चा है। इसलिये यह भारतीय संस्कृति आचरणमें लानी चाहिये। तभी भारतका तथा मानवजातिका कल्याण होगा। ''

'' स्वाध्याय मंडल द्वारा जो भारतीय संस्कृतिकी जागृतिका कार्य हो रहा है उसकी मैं सहानुभूति ही प्रदर्शित करता हूं इतना ही नहीं परंतु इस कार्यको जो मुझसे हो सकता है वह सहाय्य भी मैं करनेको तैयार हूं। ''

अद्भुत वेदपाठ

श्री माननीय राज्यपालजीका ऐसा भाषण होनेके पश्चात् स्वाध्यायमण्डलके मुख्य वेदमूर्ति पंडित सखाराम भट्टजीका वेदपाठ हुआ। ये ऋग्वेदके मंत्र सीधे, उलटे, कई मंत्र बीचमें छोडकर अर्थात् तीसरा, पांचवा; दसवा ऐसे मंत्र, सूक्तके प्रारंभसे अन्ततक, अन्तसे पहिले मंत्रतक, ऐसे कई प्रकारसे स्मरणशक्तिके अद्वितीय चमत्कार बताकर बराबर मंत्र बोलते थे। यह सुनकर श्री राज्यपालजीको परम आश्चर्य हुआ तथा सब उपस्थित सभ्य भी आश्चर्यचकित हो गये।

अल्प उपहार

इसके पश्चात् अल्प उपहार सबको दिया गया और फोटो होनेके पश्चात् माननीय अतिथिको पुनः पुष्पहार अर्पण करनेके पश्चात् यह सत्कार समारंभ समाप्त हुआ।

साहित्य-प्रवीण--साहित्यरत्न--साहित्याचार्य परीक्षाओंके केन्द्र

गुजरात— १ पारडी, २ नवसारी, ३ सूरत, ४ भरुच, ५ हांसोट, ६ बडौदा, ७ आणंद पा हा., ८ अहमदाबाद, ९ चांदोद, १० महेसाणा, ११ बोरसद, १२ नडियाद, १३ महेमदाबाद, १४ कडी, १५ पाटण, १६ सोनगढ, १७ मांडवी।

मध्यप्रदेश— १ यवतमाल ग. हा, २ वर्धा स. हा, ३ अमरावती नू. क. शा., ४ नागपुर न. वि., ५ छिंदवाडा, ६ बुलढाणा ए. हा., ७ सागर, ८ चांदा, ९ जबलपुर, १० अकोला, ११ बैतूल, १२ नन्दुरबार, १३ उमरेड न्यू. आ. हा., १४ मलकापुर म्यु. हा., १५ चिखली, १६ तुमसर, १७ खामगांव, १८ धामणगांव।

हैद्राबाद— १ मेदक, २ परभणि, ३ शहाबाद, ४ औरंगाबाद, ५ बीड, ६ निजामाबाद।

उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान आदि— १ उन्नाव, २ किशनगढ, ३ लाखेरी, ४ खरगोन, ५ मंडलेश्वर, ६ जोधपुर, ७ धार, ८ अजमेर, ९ इन्दौर, १० सेंधवा, ११ महुवा, १२ भिकनगांव, १३ बडवानी।

काश्मीर— श्रीनगर, सागाम। **पंजाब**— पटियाला। **मद्रास**— मद्रास।

हिन्दू (आर्य) का राष्ट्रीय कर्तव्य

(लेखक · श्री पं. रामावतारजी, विद्याभास्कर)

[गताङ्कसे आगे]

हिन्दूकी अवनतिका कारण

हिन्दू धर्म अहिंसाको परम धर्म माननेवाला धर्म है। परन्तु आजका हिन्दू अहिंसा धर्मको भूलकर अपने आप अपनी हिंसा कर रहा है। यही हिन्दूकी अवनतिका कारण हुआ है। जबसे हिन्दूने अपनी गीतावाली उस व्यावहारिक आध्यात्मिकतासे मुंह मोडा है, जिस (आध्यात्मिकता) ने अर्जुनको संग्रामसे विमुख नहीं होने दिया था, तबसे वह भोगपरायण और स्वार्थी बन गया है। हिन्दू गीताके इस तत्वज्ञानको भूलकर—

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

कि जो मनुष्य अपने समाजके हिताहितकी उपेक्षा करके केवल अपने साढे तीन हाथवाले देहके लिये कमाता है वह पाप खाता है। अपने उपदेशको जीवनमेंसे बहिष्कृत कर बैठा है। हिन्दूमें भोगेच्छाके दुष्प्रभावसे सहानुभूति नामका प्रेमबन्धन नहीं रहा है। इस प्रेमबन्धनको पुनरुज्जीवित किये बिना हिन्दू इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता। इसके लिये इसे सबसे पहले अपने जीवनकी दिशा बदलनी पडेगी और आत्मसुधार करना पडेगा। इसे अपने व्यक्तित्वके विषयमें जितने मिथ्या ज्ञान हैं सब को छोडना होगा। उसे अपने अमर सनातन विश्वव्यापी रूपको पहचानना, सर्वभूतात्मदर्शी होना, यहांतक कि मौतमें भी आत्मदर्शी बनकर फिर अपना वही खड्गहस्त आर्यरूप धारण करना पडेगा, पथभ्रष्ट संसारको अपनी आर्यसभ्यताका पाठ देनेके लिये उठना होगा, और एक बार फिर मनुकी हां में हां मिलाकर घोषणा करनी पडेगी—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

समस्त भूमण्डलके लोग आ आकर इस देशके चरित्रवान् ब्राह्मणोंसे चरित्र सीखा करें। यदि हिन्दूको अपनी इस प्रशंसित स्थितिको पुनरुज्जीवित करना हो तो उसे आततायीपर आक्रमण करनेके लिये सन्नद्ध रहना पडेगा। इस कामके लिये उसे सबसे पहले तो अपने परिवारको आत्मरक्षाका व्यायाम कराना होगा। उसका सरलतम उपाय यह होगा कि हमारे राष्ट्रका प्रत्येक परिवार अपने अपने घरके प्रवेशद्वारोंमें एक एक फूंसका वैरी बनाकर खडा करे। घरका प्रत्येक बालकबालिका युवायुवती फूंसके इस काल्पनिक आततायी वैरीपर घूंसे, थप्पड, छुरे या लाठीसे प्रहार करनेका दैनिक अभ्यास करे। हमारा अभिप्राय अरिविरोधको हिन्दू परिवारोंका अभ्यास बनाना है। हम अपने राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको आततायियोंके आक्रमणके समयके लिये सुसज्जित रहनेका सुझाव देना और शत्रुसे बदले लेनेका प्राथमिक पाठ पढाना चाहते हैं।

यह हिन्दूचरित्रका बडा घृणित रूप है कि वह मार खाना जानता है मारना नहीं जानता। हमें आजके हिन्दूको प्रत्याक्रमणका पाठ सिखाना है। हम चाहते हैं कि आततायी लोगोंके आक्रमणोंके समय उनके सिरोंपर घरका प्रत्येक सदस्य घातक प्रहार करनेके लिये, यहांतक सन्नद्ध हो कि इस विरोधमें अपने मरने जीनेकी चिन्ताको एक ओर उठाकर रख दे और विरोधमें इस प्रकारके आत्मसमर्पणसे सहस्रगुनी शक्ति बुलाकर खडी कर ले। राष्ट्रमें इस प्रकारका साहस जगाना ही हमारी इस छोटीसी योजनाका उद्देश्य है। इस योजनाको आधार बनाकर अपनी शक्ति परिस्थिति तथा रुचिके अनुसार अन्य भी बहुतसी योजनायें बनाई जा सकती हैं। हम उन योजनाओंके विस्तारमें जाना आवश्यक नहीं समझते। हमने तो अपने राष्ट्रकी महती आवश्यकता और उसकी पूर्तिकी ओर उसका ध्यान आततायीपर आक्रमणकी योजनाकी मौलिक भावना खींचनेके लिये संकेतमात्र किया है।

हमारी यह योजना हिन्दूविद्वेषियोंसे लडनेकी तैयारी

नहीं है। हिन्दू किसी भी राष्ट्रपर आक्रमण करनेका अभ्यासी नहीं है। इस विषयमें वह अपने जैसा अपने आप ही है। हिन्दू इस संसारकी अमूतोपमा है। संसारमें उस जैसा अनाक्रमक राष्ट्र एक भी नहीं है। जो हिन्दूजातिकी ओरसे इस प्रकारके अत्याचारकी आशंका करे वह इतिहाससे अनभिज्ञ है। उसे संसारका इतिहास पढकर अपनी भूल सुधारनी चाहिये।

प्रकृत वक्तव्य

प्रकृतमें यही कहना है कि पहले तो हिन्दू अपने व्यक्तिगत स्वार्थी स्वभावको छोडकर सच्चा मनुष्य बनें, समाजके हितमें अपना हित और समाजकी हानिमें अपनी हानि मानना सीखें, अपने समाजकी रक्षाको अपना अत्याज्य कर्तव्य बना कर अपने परिवारको आत्मरक्षा करनेमें समर्थ स्वावलम्बी स्वाभिमानी बनाये और साथ साथ अपने ग्रामको भी सुधारे।

राष्ट्रसुधारका रूप और हिन्दू देशसेवकोंका कर्तव्य

अपने ग्रामको सुधारना ही अपने राष्ट्रको सुधारना है। अपना वातावरण या अपना प्रभाव क्षेत्र ही अपना राष्ट्र है। अपने कर्मक्षेत्रको सुधारकर रखना ही राष्ट्रसुधार है। सब अपने अपने कर्मक्षेत्रको सुधार लें तो समग्र राष्ट्र अपने आप सुधर जाये। राष्ट्रसुधारके सम्बन्धमें मनुष्यका कर्तव्य अपने भागके राष्ट्रको सुधार लेना ही है। कोई भी मनुष्य समग्रके सुधारको अपना कर्तव्य नहीं बना सकता। अपना अपना प्रभावक्षेत्र ही अपना अपना कर्मक्षेत्र होता है। इस लिये हिन्दू देशसेवकोंका कर्तव्य है कि वे अपने ग्रामोंको स्वतन्त्र राष्ट्रोंका रूप देनेकी सेवा करना प्रारम्भ कर दें। वे अपने प्रत्येक ग्रामको रक्षा, न्याय, शिक्षा, स्वच्छता, स्वास्थ्य, चरित्र, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, तथा अर्थसंरक्षण इन दसों विभागोंसे स्वावलम्बी बनाकर उन्हें स्वतन्त्र राष्ट्रका रूप दें।

प्रत्येक ग्रामके पास अपना "रक्षा-विभाग" हो, जो चोरों डाकुवों तथा विदेशी आक्रमकोंके साथ अपने आन्तम श्वासतक लड सकनेवाली स्वयंसेवकोंसे संगठित अवैतनिक सेनाओंसे संगठित हो। अपना "न्याय-विभाग" हो, जिसमें सुपरीक्षित उपधाशुद्ध चरित्रवान् निष्पक्षपात न्यायवक्ता हों, जो ग्रामोंके सामूहिक बलसे दुर्बल पीडनोंको रोका करें। अपना "शिक्षा-विभाग" हो, जो बालकोंको कर्तव्य पहचनवाने, व्यवहार सिखाने तथा ग्रामके प्रत्येक बालकको सच्चा आर्य बना सकनेमें ही अपनी सफलता मानता हो, जिसके पास अपने अवैतनिक अध्यापक हों, जिन्हें अपने पारिवारिक जीवनकी कोई चिन्ता करनी न पडती हो, जिनकी जीवनसमस्याओंकी पूर्तिको ग्रामसमाज अपना धार्मिक कर्तव्य समझता हो।

अपनी "स्वच्छता-समिति" हो, जो ग्रामसमाजके स्वेच्छापूर्वक सहयोगसे ग्रामोंको स्वच्छ रखनी हो, तथा उसे स्वच्छताधर्म पालनेके लिये उत्साहित तथा प्रेरित करती हुई ग्रामोंको स्वर्ग बनानेमें लगी रहती हो। अपना "स्वास्थ्य-विभाग" हो, जिसके पास ग्रामवासियोंको निरोग स्वस्थ रहना सिखानेवाले सेवाभावसंपन्न ऐसे सद्वैद्य हों, जो सर्वसाधारणको स्वास्थ्यविज्ञानसे सपन्न करनेके लिये उन्हें सुलभ देसी औषधोंसे परिचित कराकर चिकित्साको सुलभ और सस्ती बना रहे हों। अपना "चरित्र-रक्षा-विभाग" हो, इसमें भारतीय संस्कृतिसे परिचित तथा प्रेमी ऐसे लोग हों, जिनका काम ग्रामोंमेंसे दुश्चरित्रताको विध्वंस करना हो। दूसरोंके उचित अधिकारोंपर आक्रमण करके उनकी शान्ति भंग करनेवाले लोग ही दुश्चरित्र समझे जाने चाहिये। रिश्वत, चापलूसी, पार्टीबाजी, साम्प्रदायिक दलबन्दी, ब्लैकमार्केटिंग, व्यभिचार, शृंगारात्मक वेषभूषा, गन्दे गाने आदि दुश्चरित्रता कहाते हैं।

अपना "कृषि-विभाग" हो जिसमें कृषिके लिये उत्तम बीजोंका संग्रह, सिंचाईका प्रबंध, खादकी व्यवस्था, दूध तथा खेतीके लिये बैलोंकी उत्पत्तिकी उत्तम व्यवस्था हो। अपना "शिल्प-विभाग" हो, जो ग्रामीण शिल्पोंको प्रोत्साहित करके ग्रामोंमें ही जीवनोपयोगी साधनोंके निर्माणका प्रबन्ध करता हो। अपना "वाणिज्य-विभाग" हो, जो ग्रामकी कृषि तथा कारीगरीसे उत्पन्न पदार्थोंके व्यवसायके द्वारा ग्रामीण कृषकों तथा शिल्पियोंको सम्पन्न करना अपना कर्तव्य मानता हो। अपना "अर्थ-विभाग" हो, जो ग्रामोंको सम्पन्न सुव्यवस्थित तथा बेकारीसे हीन बनानेकी जिम्मा रखता हो, जिसका कर्तव्य ग्रामोंमें बेकारी

न रहने देना तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्थाको सन्तुलित रखना हो।

हिन्दूराष्ट्रको चाहिये कि वह अपने ग्रामोंको इस प्रकार स्वावलम्बी स्वनिर्भर आत्मरक्षासमर्थ स्वस्थ चरित्रसम्पन्न, धनधान्य दुग्धपूर्ण, समृद्ध, अदृश्य, अप्रकम्प्य, अनाभिभवनीय सौम्य और क्रूर दोनों प्रकारका बनाकर रक्खे। इतना किये बिना हमारे राष्ट्रमें सुख समृद्धि और शान्ति नहीं रह सकती। ग्रामोंमें इन तत्वोंका प्रवेश ही ग्रामसुधार है। "ग्राम-सुधार" ही "राष्ट्र-सुधार" है।

यदि हिन्दुओंको अपना हितकारी उपदेश सुननेकी बुद्धि आचुकी हो तो वह ग्रामोंसे बने अपने राष्ट्रको सुधारनेके लिये अपने पौने छ लाख गावोंको मनुष्यताके नामपर संगठित करें, उन्हें सार्वभौम मनुष्यताका प्रेमी, सत्य, अहिंसा, न्याय, शान्ति, प्रेम, शूरता, वीरता, धीरताका पुजारी बनाये और उनसे भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंकी मनुष्यताको सुरक्षित रखनेकी दृढ प्रतिज्ञा भी करायें। हिन्दूका संगठन सार्वजनिक संगठन होना चाहिये। हिन्दूको हिन्दूविद्वेषियोंके विरोधके लिये संगठित नहीं करना है। हिन्दूका संगठन तो मनुष्यताका संगठन है। हिन्दूको चाहिये कि वह सार्वजनिक संगठनको क्षुद्रदलों या संप्रदायोंमें न बटने दे और उसे चूर चूर न होने दे।

हिन्दूके आत्मसुधारका रूप

हिन्दू यह कभी न भूले कि इस प्रकारके सार्वजनिक संगठनोंको मूर्तिमान सजीव बनानेकी शक्ति हिन्दूकी जिस विश्वविजयिनी उदार आध्यात्मिकतामें सम्मिलित है उस उदार आध्यात्मिकताको पुनरुज्जीवित करना और उसीको अपनी आधारशिला बनाये रखना ही हिन्दूका "आत्म-सुधार" है। हिन्दू यह भली प्रकार जाने कि आध्यात्मिकताके बिना हिन्दू हिन्दू नहीं रह सकता।

आध्यात्मिकताका रूप

सामाजिकता या सहानुभूतिके अतिरिक्त आध्यात्मिकता अपना कोई अर्थ नहीं रखती। हिन्दू सामाजिकता अर्थात् सहानुभूतिसे हीन होकर आज स्वयं ही हिन्दूविद्वेषी अहिन्दू बन गया है।

हिन्दूको हिन्दुत्व सिखानेका अर्थ

आध्यात्मिकताको सहानुभूति या सामाजिकताके रूपमें बता देना ही हिन्दूको हिन्दुत्वका पाठ पढाना है। आज हिन्दूको सहानुभूतिका पाठ पढानेकी गंभीर आवश्यकता है। सहानुभूतिहीनता अर्थात् स्वार्थान्धता ही हिन्दूका वह रोग है जिसे उसे हटाकर आत्मसुधार करके राष्ट्रको सुधारना है। राष्ट्रमें सहानुभूति निस्वार्थता तथा सामाजिकताका प्रचार ही राष्ट्रसुधार है।

हिन्दुओंके विषयमें प्राचीन वैदेशिक मत

१- हिन्दुओंकी निष्कपटता— हिन्दुओंके चरित्रकी निष्कपटता तथा ईमानदारी उनकी मुख्य पहचान है। वे कभी अनौचित्युक्त वचन नहीं बोलते। (श्री ग्रिन्डिल)

२- हिन्दूके गुण— हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभुभक्तिसे युक्त होते हैं।
(कवि सैम्युअल जान्सन)

३- हिन्दुओंकी बुद्धि और विचारशीलता— बुद्धि और विचारशीलतामें हिन्दू सभी देशोंसे ऊचे हैं।
(याकूबी ९-वीं शताब्दि)

४- भारतकी आध्यात्मिक संपत्ति— संसारके देशोंमें भारतवर्षके प्रति लोगोंका प्रेम और आदर उनकी बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संपत्तिके कारण है।
(प्रोफेसर लूई रिनाऊ, पेरिस विश्वविद्यालय)

५- हिंदुओंकी उपनिषदें— सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है यही जनताका धर्म होगा। (शोपेनहार, जर्मन विद्वान्)

६- उपनिषदें वेदान्तके आदि स्रोत्र हैं। ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवीय उच्च भावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुंची हुई मालूम होती है। —मैक्समूलर

७- भारतीयोंका आचार— भारतीयोंके प्रति सेवाका कार्य कर देनेवाला कोई भी व्यक्ति उनकी कृतज्ञताका सदा विश्वास कर सकता है। परन्तु उनका अपराध करनेवाला उनके प्रति शोधसे बच भी नहीं सकता। उनका

अपमान करनेपर वे अपना कलंक मिटानेके लिए प्राणोंतककी बाजी लगा देते हैं। यदि कोई कष्टमें पडा हो और उनकी सहायता मांगे तो वे अपने आपको भी भूलकर उसकी सहायताके लिये दौड पडेंगे। जब उन्हें किसी अपराधका बदला चुकाना होता है तब वे अपने विरोधियोंको सचेत करनेसे नहीं चूकते। फिर प्रत्येक व्यक्ति कवच पहनकर भाले के लेता है। युद्धमें भागनेवालोंका तो वे पीछा करते हैं, परन्तु शरणमें आये हुओंका वध नहीं करते।

(चीनी यात्री हैनसांग, ६४५ ई०)

८- हिंदुओंकी निर्वैरता— हिन्दू अनुकूल आचरण करनेवाले तथा सबके प्रति दयालु होते हैं। उनका संसारमें किसीसे वैर नहीं है। (इतिहासकार- अबुल फजल)

९- भारतीयोंकी निष्कपटता— भारतवर्षके करोडों व्यक्ति वहांके साधुसन्तोंकी ही भांति रहते आये हैं। सहज रूपसे सरल कपटरहित और ऋणरहित।

(प्रो. पी. जार्ज)

१०- हिंदुओंकी विद्या— हिन्दुओंमें स्वच्छता और शुचिताके गुण वर्तमान हैं। इन लोगोंमें विवेक है तथा ये वीर हैं। ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओंमें हिन्दू लोग आगे बढे हुए हैं। प्रतिनिर्माण चित्रलेखन वास्तु आदि कलाओंको इन्होंने पूर्णतातक पहुंचा दिया है। इनके पास काव्यदर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रोंका संग्रह है। (अलजहीज, ८ वीं शताब्दि)

११- भारतीयोंका शील— समस्त भारतीय चाहे वे प्रासादोंमें रहनेवाले राजकुमार हों, झोंपडोंमें बसनेवाले प्रजाजन, संसारमें सर्वोत्तम शीलसम्पन्न लोग हैं। मानो इनका जातिगत धर्म हो। वे उचित और न्याय व्यवहारका प्रत्युत्तर अवश्य देते हैं। दयालुता एवं सहानुभूतिके किसी कामको भूलते नहीं हैं। (लार्ड विलिङ्गटन)

१२- हिंदुओंकी प्रामाणिकता— हिन्दू इतने ईमानदार हैं कि न तो इन्हें अपने दरवाजोंमें तालोंकी आवश्यकता है और न कोई बात निश्चय होजानेपर इसकी प्रामाणिकताके लिये किसी लिखा पढी की।

(प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार श्री. स्ट्रैबो-ईसासे पूर्व)

१३- हिंदुओंका समस्त प्राणियोंमें एकात्मबोध- भारतीय चरित्रकी आन्तरिक दयालुता, इनके स्वभावकी सुन्दरता और सरलता ही इन्हें वास्तविक बन्धुत्वकी भावना प्रदान करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें गहराईसे बैठा हुआ समस्त प्राणियोंका एकात्मबोध जिसका इन्हें स्वयं भी पता नहीं हरएकमें लक्षित हो रहा है।

(पोलेन्डकी राजकुमारी- दिनो वास्का)

१४- हिंदुओंकी ईमानदारी— जिस सभ्यताको अपने उच्चवर्गके लोगोंके विशाल वैभव विलासपर गर्व था उसमें ताले, चाबीको लोग जानते ही नहीं थे। क्या कहींपर भी कोई हिन्दुओंकी ईमानदारीके एक थोडेसे अंशके बराबर भी ईमानदारीकी कल्पना कर सकता है।

(मेगास्थनीज, प्रसिद्ध यूनानी राजदूत)

१५- हिन्दू धर्म सर्वश्रेष्ठ:— मैंने योरोप और एशियोंके समस्त धर्मोंका अध्ययन किया है। परन्तु मुझे उन सबमें हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है। मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत्को सिर झुकाना पडेगा। (रोम्या रोला)

१६- ग्रीक और रोमसे हिन्दू तत्वज्ञान अधिक श्रेष्ठ है।

(बिओर्न स्तीर्न कोर्ट)

१७- भारत तत्वज्ञान और धर्मके विषयमें योरोपको बहुत कुछ सिखा सकता है। (डा. मिर्का एली डे)

१८- भारतने अन्य देशोंको उच्च सभ्यता दी है।

(म लुइस जेकोलियट)

१९- मानवोंके स्वप्न जहां यथार्थताले प्रत्यक्षमें आवे हैं वह भारत देश ही है। भारतके तत्वज्ञानने मानवोंको सत्यकी ओर पहुंचाया है। (रोमां रोलन्द)

२०- उपनिषदोंसे अधिक उच्च और अधिक श्रेष्ठ ज्ञान हिन्दुओंको दूसरे लोग दे नहीं सकते। क्योंकि वैसा किसी दूसरेके पास नहीं है। वास्तवमें हिन्दूधर्म ही अन्य देशोंको धर्मके विषयमें बहुत कुछ दे सकता है।

(श्री. एनी बेसेन्ट)

उपनिषद्-दर्शन

[श्री अरविंद]

अध्याय १ ला

[गताङ्कसे आगे]

एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति । अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सामलोकं स सामलोके विभुतिमनुभूय पुनरावर्त्तते । यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं, स एतस्माज्जीवघनात्परात्परम् पुरिशयं पुरुषमीक्षते । तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रमुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः । ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

" हे सत्यकाम ! यह ओम् अक्षर, यह पर और अपर ब्रह्म है। इसलिए विद्वान् ब्रह्मके इस गृह (निवासस्थान) के द्वारा इस या उस लोकको प्राप्त होता है। यदि मनुष्य एक मात्राका ध्यान करता है तो वह उसके द्वारा ज्ञानको प्राप्त करता है और शीघ्र ही पृथ्वीलोकको प्राप्त हो जाता है। और उसे ऋचाएं मनुष्यलोकको ले आती हैं और वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर आत्माकी महिमाका अनुभव करता है। यदि वह दो मात्राओंसे मनमें सम्पन्न होता है तो वह यजुःके द्वारा अन्तरिक्षलोकको, सोमके चन्द्रलोकको ले जाया जाता है। वह सामलोकमें आत्माकी विभूतिका अनुभव करके फिर लौट आता है। और जो तीन मात्रावाले ओऽम् अक्षरके द्वारा परमपुरुषका ध्यान करता है वह उस तेजमें सम्पन्न हो जाता है जो कि सूर्य है। जिस प्रकार सर्प अपनी कांचुलीसे मुक्त हो जाता है इसी ही प्रकार वह पापसे मुक्त होकर सामके द्वारा ब्रह्मलोकको ले जाया जाता है। वह सजीव अन्तरात्माओंके इस घनीभावसे उस परसे पर पुरुषको देखता है जो कि इस पुरमें निवास करता है। तीन मात्राएं (अक्षर) मृत्युसे संयुक्त कही गई हैं, परन्तु अब वे अविभक्त और एक दूसरी से संयुक्त प्रयोग की गई हैं। इनका ठीक ठीक प्रयोग होनेपर आत्माकी आन्तरिक, बाह्य और मध्यवर्ती क्रियाएँ पूर्ण हो जाती हैं, आत्मा ज्ञान प्राप्त करता है और कम्पित नहीं होता। ऋक् के द्वारा इस लोकको, यजुके द्वारा अन्तरिक्ष लोकको और सामके द्वारा उसे प्राप्त करता है जिसे ज्ञानी हमें बतलाते हैं। ज्ञानी मनुष्य ओंकारके द्वारा उसे प्राप्त होता है जो कि शान्त, अजर, अमर और अभय परम आत्मा है। "

यहाँ जो प्रतीक हैं वे अब भी हमारी बुद्धियोंके लिए अस्पष्ट हैं, परन्तु ऐसे संकेत दिए गये हैं जो कि निःसन्देह रूपमें यह दिखाते हैं कि ये ऐसे चैत्य अनुभवके सूचक हैं जो कि आध्यात्मिक अनुभवकी अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है, हम यह देख सकते हैं कि ये अवस्थाएँ अध्यात्म अनुभवकी बाहरी, मानसिक और अतिमानसिक हैं, और अन्तिम अवस्थाका परिणाम होता है परम सिद्धि, अमर आत्माकी शान्त निश्चलतामें सम्पूर्ण सत्ताका पूर्ण और समग्र कर्म। इसके पश्चात् माण्डूक्य उपनिषद्में दूसरे प्रतीकोंको छोड़ दिया गया है और हमारे सामने अनावृत भाव प्रकट किया जाता है।

यहां एक ऐसा ज्ञान प्रकट किया जाता है जिसपर आधुनिक विचार स्वयं अपने बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक साधनसे फिर पहुंच रहा है, वह ज्ञान यह है कि हमारी बाहरी भौतिक चेतनाके कार्योंके पीछे दूसरी,- दूसरी और फिर भी वही,-अन्तस्तलीय चेतनाके कार्य होते रहते हैं और हमारा जाग्रत मन उसका केवल ऊपरतलीय रूप है; हमारी इस बाहरी चेतनासे ऊपर एक ऐसी अवस्था है जिसे हम अब भी आध्यात्मिक अतिचेतना कहते हैं जिसमें कि हमारी सत्ताकी उच्चतम अवस्था और उसका सम्पूर्ण रहस्य पाया जा सकता है।

प्रश्नोपनिषद्के वचनपर गम्भीरतासे, विचार करते समय हम देखेंगे कि यह ज्ञान वहां विद्यमान है, और मेरे विचारसे हम युक्तियुक्त रूपमें इस परिणामपर पहुंच सकते हैं कि प्राचीन ऋषियोंके ये और ऐसे ही वचन, हमारे तर्कशील मनको इनके रूप चाहे जैसे उलझनमें डालनेवाले क्यों न जान पड़ें, बालकों या मूर्खोंके रहस्यवाद कहकर तिरस्कृत नहीं किये जा सकते, वस्तुतः ये वचन जिसे हमारी बुद्धि अब स्वयं अपनी प्रक्रियासे हमारे सामने सत्य और बहुत गहरा सत्य और ज्ञानका सच्चा यथार्थ तत्त्व बतला रही है उसकी, उस समयकी मनोवृत्तिके अनुरूप स्वाभाविक रूपकात्मक अभिव्यक्ति हैं।

पद्यात्मक उपनिषद् इस उच्चकोटिके भावपूर्ण प्रतीकको बनाये रखते हैं किन्तु इसे अधिक हल्का कर देते हैं और अपने श्लोक- समूहमें इस रूपकसे अतीत होकर स्पष्ट वर्णन करने लगते हैं। मनुष्यमें, जीवोंमें, प्रकृतिमें और इस सम्पूर्ण लोकमें और दूसरे लोकोंमें और सम्पूर्ण विश्वसे परे अमर, एकमेवाद्वितीय अनन्त आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म अपनी सनातन विश्वातीतता और बहुविध आत्म-अभिव्यक्तिके वैभवमें आवरणरहित रूपमें श्लोकबद्ध किया गया है। नियम और मृत्युके प्रभु यमके नचिकेताको दिए गये उपदेशके कुछ वचन इस स्वभावको पर्याप्त रूपमें प्रकट कर सकते हैं---

ओमित्येतत् । एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्ये-
वाक्षरं परं । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदि-
च्छति तस्य तत् । १।२।१६
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। १।२।१७

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं
पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १।२।१८

ओम् ही यह अक्षर है। यह अक्षर ब्रह्म है, यह अक्षर परम है। जो इस अविनाशी ओम्को जानता है, जो कुछ वह इच्छा करता है वह उसे प्राप्त हो जाता है। यह आलम्बन श्रेष्ठ है, यह आलम्बन उच्चतम है; और जब मनुष्य उसे जानता है वह ब्रह्मके लोकमें महिमावान् होता है। सर्वज्ञ न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह कहीं से हुआ है, न यह कोई है। यह अज नित्य, शाश्वत, पुरातन है जो कि शरीरकी हत्या होनेपर उसका हनन नहीं होता।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हसि ॥ १।२।२१
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थे स्ववास्थितम् ।
महान्तम् विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोच-
ति ॥ १।२।२२
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहु-
नाश्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ १।२।२३
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
ना शान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नु-
यात् ॥ १।२।२४ ॥
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ १।२।२५

वह बैठा हुआ दूर दूर गमन करता है, लेटा हुआ सब ओर जाता है। इस आनन्दरूप देवको मुझसे भिन्न और कौन जान सकता है ? धीर विवेकी पुरुष उस महान् प्रभु और आत्माको इन शरीरोंमें जो कि अनवस्थित हैं अशरीर और अवस्थित जानता है और शोक नहीं करता। यह आत्मा शास्त्रोंके शिक्षणसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, न मेधा-शक्तिसे और न बहुत अध्ययनसे। जिसे आत्मा चुनता है केवल उसके द्वारा ही यह प्राप्त किया जा सकता है, और उसके प्रति यह आत्मा अपने देह (स्वरूप) को प्रकाशित करता है। जिसने दुष्कर्मोंका करना नहीं छोड़ा है जो शान्त और समाहित (एकाग्र) नहीं है, जिसका मन

प्राप्त नहीं है, वह इसे मस्तिष्ककी ज्ञानशक्तिसे प्राप्त नहीं कर सकता। जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय भोज्य अन्न हैं और मृत्यु जिसके भोजनमें मसाला है वह कहां (किस स्वरूपमें) रहता है इसे कौन जान सकता है?

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ २।१।१

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २।१।२

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वैतत्॥ २।१।३

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २।१।४

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वैतत्॥ २।१।५

यः पूर्वम् तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥ एतद्वैतत्॥ २।१।६

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत॥ एतद्वैतत्॥ २।१।७॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥ एतद्वैतत्॥ २।१।८

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वैतत्॥ २।१।९

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ २।१।१०

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ २।१।१२

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवा धूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः॥ एतद्वैतत्॥ २।१।१३

"स्वयंभूने अपने द्वारोंको बहिर्मुख बनाया है, इसलिये मनुष्य बाहरकी ओर देखता है भीतर आत्माको नहीं देखता। अमृतत्वकी इच्छा रखनेवाला कोई दुर्लभ विवेकी मनुष्य ही ऐसा होता है जो अपने चक्षुओंको अन्तर्मुख करता है और आत्माको अपने सामने देखता है। बालबुद्धि मनुष्य ऊपरी कामनाओंके पीछे भागते हैं और मृत्युके उस जालमें जाते हैं जो कि हमारे लिए विस्तृत फैला हुआ है; परन्तु धीर विवेकी मनुष्य अमृतत्वको जानकर इस लोकके अनित्य पदार्थोंमें नित्यको नहीं खोजते।

इस आत्मासे मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और इसके सुख-भोगोंको जानता है और कौनसा ऐसा पदार्थ शेष रह जाता है जिसे आत्मा नहीं जानता। विवेकी मनुष्य इस महान् प्रभु आत्माको जान लेता है जिसके द्वारा मनुष्य इस सबको देखता है जो अन्तरात्मामें जागता है और जो सोता है और तदन्तर वह शोक नहीं करता। जो मनुष्य इस मधुभोजी आत्माको जो कि सजीव प्राणीके समीप है, जो भूत और भविष्यका प्रभु है, जानता है वह सब किसीसे भय या घृणा नहीं करता। वह उसे जानता है जो कि पुराकालमें तपसे उत्पन्न हुआ था एवं जो पुराकालमें जलोंसे उत्पन्न हुआ था और जो इन सब जीवोंके साथ प्राणीकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट हुआ है और वहाँ स्थित है।

वह इसे जानता है जो कि प्राणसे उत्पन्न हुई देवताओंको अपनेमें धारण करनेवाली अनन्त माता है, जो इन समस्त जीवोंके साथ प्राणीकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट हुई है और वहाँ स्थित है। यह वह अग्नि है जो कि ज्ञान रखता है और वह दो काष्ठोंमें इस प्रकार छिपा है जैसे गर्भ गर्भिणी में धारण किया जाता है। यह अग्नि है जो कि सजग रहनेवाले और हवि अर्पण करनेवाले मनुष्योंसे स्तुति किए जाने योग्य है। यह वह है जिससे सूर्य उदय होता है और जिसमें अस्त होता है; और उसमें सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं और कोई भी इससे परे नहीं जा सकता।

जो इस लोकमें है वही दूसरे लोकोंमें है, और जो वहाँ है उसके अनुसार ही सब कुछ यहां है। जो यहां केवल

भेद देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है। वह पुरुष अंगुष्ठमात्र है जो कि मनुष्यके केन्द्रीभूत आत्मा (हृदय) में स्थित है और वह जो कुछ भूतमें था और जो भविष्यमें होगा उसका प्रभु है। उसके दर्शन कर लेने पर मनुष्य न किसीसे भय करता है न घृणा। वह अंगूठे के समान परिमाणवाला पुरुष निर्धूम ज्योतिके समान है; वह जो कुछ भूतमें था और जो भविष्यमें होगा उसका प्रभु है; यही वह है जो आज और कल रहेगा। "

उपनिषद् ऐसे वचनोंसे भरे पड़े हैं जो कि ऐसी कविता और आध्यात्मिक दर्शन हैं जो पूर्णतया स्पष्ट और सुन्दर हैं; परन्तु कोई भी ऐसा अनुवाद उनकी शक्ति और पूर्णताका कोई भाव प्रदान नहीं कर सकता जो कि मूल शब्दों और तालोंके सकेत और उनकी प्रतिध्वनि स्वरूप गम्भीर, सूक्ष्म और ज्योतिर्मय भावसे शून्य हो। दूसरे उपनिषद् ऐसे हैं कि जिनमें सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य ऐसी पूर्णताके साथ अभिव्यक्त किये गये हैं कि जिनमें कवित्वमय वर्णनके पूर्ण सौन्दर्यकी लेशमात्र भी कमी नहीं है; और यह वर्णन ऐसा है कि जो न केवल समझनेवाली बुद्धिके लिये ही उपस्थित नहीं होता है अपितु मन और अन्तरात्माके लिए जीवनस्वरूप है।

गद्यात्मक कुछ उपनिषदोंमें स्पष्ट वर्णन और परम्परा रखनेवाला एक और भी तत्त्व है; यह हमारे सामने आध्यात्मिक अनुसन्धानके प्रति उस अद्भुत प्रवृत्तिका और उच्चतम ज्ञानके प्रति तीव्र अनुरागका जिसने कि उपनिषदोंको सम्भव बनाया है, कुछ अल्प झलकोंमें चित्र खींच देता है। पुराने समयके दृश्य कुछ ही पृष्ठोंमें हमारे सामने सजीव हो उठते हैं; ऋषि वृक्षोंके कुञ्जोंमें बैठे हुए अध्ययनके लिए आनेवाले शिष्यकी परीक्षा करते हैं और उसे शिक्षा देते हैं; राजा, विद्वान्, ब्राह्मण और उच्च कुलीन धनी ज्ञानकी खोजमें इधर उधर घूमते फिरते हैं, राजाका पुत्र अपने रथ पर आरूढ होकर और अवैधजात दासीपुत्र किसी ऐसे मनुष्यकी खोजमें जाते हैं जो कि सप्रकाश विचार और अन्तःप्रकाशित शब्द रखता हो; जनक, सूक्ष्म बुद्धिवाला अजातशत्रु, गाडीवाला रैक्व ये विचित्र व्यक्ति हैं; याज्ञवल्क्य सत्यका सैनिक है, शान्त और व्यंग्यवादी है, अनासक्तभावसे दोनों हाथोंमें लौकिक सम्पत्ति और आध्यात्मिक धन रखता है और अन्तमें गृहहीन संन्यासीके रूपमें परिव्रजन करनेके लिए अपने समस्त लौकिक धनका परित्याग कर देता है।

देवकी पुत्र श्रीकृष्णने घोर ऋषिसे केवल एक शब्द सुना और ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर लिया। ऋषियोंके आश्रम थे; ऐसे राजाओंकी सभायें थी जो कि स्वयं आध्यात्मिक अन्वेषक और मनीषी थे। यज्ञोंके अवसरोंपर ऋषि एकत्रित होकर अपने अपने ज्ञानकी तुलना किया करते थे। और हम देखते हैं कि किस प्रकार भारतके आत्माने जन्म लिया और किस प्रकार यह महान् जन्म-संगीत उठा जिसमें कि वह आत्मा अपनी पृथ्वीसे उठकर आत्माके दिव्य धाममें पहुंचा। वेद और उपनिषद् केवल भारतीय दर्शन और धर्मके ही मूल स्रोत नहीं हैं अपितु समस्त भारतीय कला, कविता और साहित्यके भी मूल स्रोत हैं।

इनमें भारतकी वह आत्मा, वह आदर्श मन निर्मित और अभिव्यक्त हुआ जिसने पीछेसे अपने मनुष्यत्वकी परिपक्व अवस्थाके उच्च कालमें महान् दर्शनोंकी रचना की, धर्मके भवनका निर्माण किया, महाभारत और रामायणमें अपने वीरतायुक्त यौवनको लेखगत किया, अपने मनुष्यत्वकी परिपक्व अवस्थाके उच्च श्रेणीके कालोंमें अथक रूपसे बुद्धियुक्त, तर्कयुक्त किया, अनेक मौलिक अन्तर्ज्ञानोंको विज्ञानका रूप दिया, सौन्दर्यमय एवं प्राणिक और ऐन्द्रियक अनुभवकी एक उत्तम समृद्ध प्रभा उत्पन्न की, अपने आध्यात्मिक और चैत्य अनुभवको तर्क और पुराणके रूपमें नवीन रूप दिया, रेखा और रङ्गकी शोभा और सुन्दरतामें अपने आपको प्रकट किया, अपने विचार और अन्तर्दर्शनको पत्थर और कांसेमें खोदा और ढाला, पीछेकी भाषाओंमें नवीन पद्योंसे अपने आपको अभिव्यक्त किया; और अब ग्रहण बीत जानेपर वही आत्मा और आदर्श मन भिन्नरूपमें उदय हो रहा है और नवीन जीवन और नवीन रचनाके लिए तैयार है।

अध्याय २ रा

निरपेक्ष ब्रह्मका आविर्ज्ञान

व्यावहारिक जीवनकी परिवर्तनशीलता और विविधताके पीछे परात्पर एकता, एकत्व और स्थिरताकी विद्यमानता का विचार उपनिषदोंका आधारभूत विचार है। यह विचार समस्त भारतीय तत्त्वज्ञानका आधार-कीलक है और हमारे आध्यात्मिक अनुभवका सार और लक्ष्य है। हमारे चारों ओर जो दृश्य जगत् है उसे स्थिरता और एकता सर्वथा विजातीय प्रतीत होती हैं; ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो गतिशील और परिवर्तनशील न हो, जिसके सदृश रूप विसदृश रूप समंजस और परस्पर विरोधी खंड न हों; और सभी अपनी सापेक्ष अवस्थाओं, प्रभावों और गुणोंमें निरंतर परिवर्तन और पुनर्व्यवस्थापन करते रहते हैं। और यह सब होनेपर भी यदि कोई वस्तु निश्चित है तो यह है कि इस संपूर्ण परिवर्तन और गति-का साकल्य पूर्णतया स्थिर और अपरिवर्तनीय है, समस्त सजीव और निर्जीव वस्तुओंका यह सब विभिन्न जातीय बहुरूप मूलतः एक जातीय और एक है।

यदि ऐसा न होता तो कुछ भी स्थायी न होता और न सत्ताके विषयमें ही कोई निश्चितता होती। यह एकता एवं अपारिवर्तनीय स्थिरता जिसकी कि बुद्धि मांग करती है और जिसकी ओर साधारण अनुभव संकेत करता है। अब भौतिक विज्ञानके अनुसंधानोंसे धीरे धीरे परन्तु दृढताके साथ सुनिश्चित की जा रही है। अब हम इस बढते हुये दृढ निश्चयसे नहीं बच सकते कि खंडोंमें चाहे जितना भी परिवर्तन हो और चाहे वे कितना ही नष्ट होते प्रतीत हों, परन्तु उनका साकल्य और पूर्णत्व अपरिवर्तित, अक्षीण और अविनाशी बना रहता है; रूप और खंड चाहे जितने अधिक संख्यावाले परिवर्तनशील और एक दूसरेके विरोधी हो जाय परन्तु सबका महा-आधार एक, सरल और नित्य स्थायी होता है; मृत्यु स्वयं कोई यथार्थता नहीं है अपितु प्रतीति है, कारण जो विनाश प्रतीत होता है वह केवल रूप परिवर्तन और पुनर्जन्मकी तैयारी है। यह हो सकता है कि भौतिक विज्ञानने अपने आविर्ज्ञानोंके पूरे तात्पर्यका महत्वावधारण न किया हो; यह भी संभव है कि वे आविर्ज्ञान जिन युक्तियुक्त परिणामोंकी ओर ले जाते है उन्हें वह निःसंकोच भावसे विकार करनेमें हिचकिचाता हो, और निश्चय ही भौतिक विज्ञान अभीतक उन महान् विपरीत सत्योंपर पहुंचनेसे बहुत दूर है जो कि वर्तमान समयमें उसके आविर्ज्ञानोंमें छिपे हुए हैं; इसका एक उदाहरण यह अद्भुत तथ्य है कि केवल मृत्यु ही प्रतीति नहीं है अपितु जीवन भी एक प्रतीति है और जीवन और मरण-से परे एक ऐसी अवस्था है जोकि इन दोनोंकी अपेक्षा अधिक सत्य और इस लिये अधिक स्थायी है। परन्तु यद्यपि भौतिक विज्ञान अभीतक अपने लक्ष्यको अपनी दृष्टिके सामने नहीं ला सका है, परन्तु उसके पद उस मार्गपर हैं और उससे अब वह पीछे नहीं लौट सकता; यह मार्ग वह है जिसपर वेदान्त एक भिन्न स्तरपर पहले ही चल चुका है।

अतः यहां एक मूलभूत तथ्य है जो कि दर्शनशास्त्रसे अपनी यथेष्ट व्याख्याकी माँग करता है। वह तथ्य यह है कि समस्त परिवर्तनोंका पर्यवसान एकत्वमें होता है; वस्तुओंकी परिवर्तनशीलताके भीतर और उससे छिपा हुआ कोई ऐसा तत्त्व है जोकि अनिर्देश्य और अक्षर है; वह सबका अधिष्ठान और साकल्य है; काल उसका स्पर्श नहीं कर सकता; गति उसे विचलित नहीं कर सकती; परिवर्तन उसमें वृद्धि या क्षय नहीं कर सकता; और यह अधिष्ठान और साकल्य सनातनसे है और सनातनके लिये रहेगा। यह एक ऐसा मूलभूत तथ्य है कि जिसकी ओर सम्पूर्ण विचार गति कर रहे हैं;, परन्तु फिर भी जब इस पर संकीर्णतासे विचार किया जाता है तो क्या यह कठोर विरोधाभास नहीं बन जाता है? कारण अनन्त परिवर्तनोंका साकल्य किस प्रकार ऐसा सनातनसे स्थिर परिमाण हो सकता है जोकि न कभी बढा है न घटा है और न कभी बढ सकता है न घट सकता है? जिस पूर्णका प्रत्येक छोटेसे छोटा खंड नित्य परिवर्तित और नष्ट होता रहता है वह पूर्ण किस प्रकार स्थिर और सनातन रह सकता है?

बुद्धिको मोहमें डालनेवाले गतिचक्रको मान लेनेपर यह परिणाम कैसे निकल सकता है कि यह पूर्ण स्थिरता है और यह स्थिरता न केवल वर्तमान समयमें है अपितु

आदिसे अन्ततक है ? ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि प्रथम, कोई शक्ति इसकी संचालिका हो, परन्तु उसके लिए स्थूल दृष्टिसे कार्यकारणभावकी सनातन शृंखला में कोई स्थान नहीं प्रतीत होता। अथवा दूसरे, इसका साकल्य और अधिष्ठान एक ही परमार्थ तत्व हो; वह इस कारण अविनाशी है क्योंकि वह कालसे परिच्छिन्न नहीं है, अविभक्त इस कारण क्योंकि वह देशसे परिच्छिन्न नहीं है, अक्षर इस कारण क्योंकि वह कार्यकारणभावसे परिच्छिन्न नहीं है; संक्षेपमें वह निरपेक्ष एवं परात्पर है और इसलिये नित्य, अविकार्य, अपरिवर्तनीय, अक्षय, अव्यय है। ऐसी स्थितिमें गति, परिवर्तन, मृत्यु और विभाग उस एकमेव और निरपेक्षके जोकि अभीतक अनिर्दिष्ट रहा है और सम्भवतः अनिर्देश्य है और केवल वही सत् है, केवल अनित्य प्रपंच, चिन्ह और प्रतितियां होंगे।

भारतीय विचारधारा इस परिणामपर अपने सचेतन प्रयासोंके प्रारंभिक कालमें ही पहुँच गई थी, यद्यपि प्रारंभमें अनिश्चयता, अंधटटोल और भारी भूलें भी हुई हैं। आर्य मनीषीगण प्रारंभसे ही यह देखनेमें प्रवृत्त हुए थे कि दृश्य जगत्की इस अनन्त हलचलके मूलमें किसी एकमेव तत्वका अस्तित्व है जोकि उसे व्यवस्थित करता है और स्थायित्व प्रदान करता है; इन मनीषियोंने उस एकमेव तत्वके स्वरूप या स्वभावका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी कठोर प्रयास किया। वे दीर्घ कालतक विश्वकी सजीव शक्तियों (देवताओं) की उपासना करते रहे; परन्तु वे सदा उनके बहुत्व में एकत्वका प्रत्यक्ष किया करते थे, जो प्रत्यक्ष कि भिन्न भिन्न रूप धारण करते हुए भी स्थायी था।

जब उन्होंने इन शक्तियोंका और अधिक समीपतासे विश्लेषण किया तो वे इस परिणामपर पहुंचे कि यह सब शक्तियां वास्तवमें एक ही शक्ति या उपस्थिति हैं, एक और वैश्व हैं। तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह शक्ति या उपस्थिति सबुद्धि है या निर्बुद्धि ? ईश्वर है या प्रकृति ? ऋग्वेदने साहसपूर्वक कहा केवल वही जानता होगा या संभव है वह भी न जानता हो +। और क्या वह नहीं हो सकता कि जो एक तत्व प्रपंचोंको एक साथ बांधता है, उनका शासन करता है और लोकोंके विकासका प्रसार करता है, वस्तुतः वह पदार्थ है जिसे हम काल कहते हैं ? कारण प्रपंचात्मक सत्ताकी जो तीन मौलिक आवश्यकतायें हैं– काल, देश और कार्यकारणभाव– इनमें जब हम कार्यकारणभावपर विचार करते हैं तो काल उसका आवश्यक अंग ज्ञात होता है और जब हम देशपर विचार करते हैं तो उससे भी कालको पृथक् करना कठिन होता है; परन्तु कालके स्वरूपपर विचार करनेमें देश या कार्यकारणभाव आवश्यक नहीं प्रतीत होते।

अथवा यदि वह तत्व काल न हो तो क्या वह पदार्थोंका स्वभाव नहीं हो सकता जोकि अनेक प्रकारकी अवस्थाओं और रूपोंको धारण करता है ? अथवा संभव है कि वह कोई ऐसा अंधतत्व हो जोकि अनन्त परीक्षणोंके द्वारा पदार्थोंमें एकता और नियमको कार्यान्वित किया करता है; उस तत्वको हम यदृच्छा या आकस्मिकता कह सकते हैं ? अथवा चूंकि सनातन अनिश्चयतासे सनातन निश्चयता उद्भुत नहीं हो सकती इसलिये क्या वह तत्व नियति (भाग्य), वस्तुओंके भीतर एक स्थिर और अपरिवर्तनीय नियम, ऐसा नियम नहीं हो सकता जिसकी अधीनतामें ही यह विश्वघटनाओंके पूर्वनियत क्रममें अपना विकास करता है और उससे वह विचलित नहीं हो सकता ? अथवा संभव है पदार्थोंके उपादानभूत परमाणुओंमें कुछ भौतिक तत्व (भूतानि) ऐसे मिल जावें जोकि निरंतर और अनन्त संयोगों और परिवर्तनोंके द्वारा विश्वकी क्रियाओंको चलाते रहते हैं ?

परन्तु यदि ऐसा है तो ये भौतिक तत्व भी किसी ऐसे तत्वसे अद्भुत होने चाहिये जो उन्हें नियममें बांधे रखता है; और वह तत्व मूल और अविनाशी भौतिकद्रव्यका कारण (योनि), कलल (जीवपंक) ही हो सकता है जोकि विश्वका निर्माण करता है और साथ ही उससे निर्मित भी होता है ? और हमारा मन अन्तमें चाहे किसी भी योजनाको, किसी भी मतको क्यों न अंगीकार कर बैठे, कुछ न कुछ स्थान सजीव प्राणियोंके इन सचेतन, विचारशील, ज्ञानवाले पुरुषों × (आत्माओं) के लिए भी अवश्य

+ सो अंग वेद यदि वा न वेद। नासदीय सूक्त

× कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या। श्वेताश्वतरोपनिषद् १–२

रखना होगा जिनका हम " अहं " शब्दसे निर्देश करते हैं; सजीव प्राणी " अहं " शब्दसे जिनका निर्देश करते हैं उनके ज्ञान और विचार आत्मा प्रतीत होते हैं और यदि वे न होते तो दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंका यह जगत् न प्रत्यक्ष देखा जा सकता और न ज्ञात हो सकता;- और यदि न प्रत्यक्ष देखा जा सकता और न ज्ञात हो सकता तो क्या यह संभव नहीं कि उनके बिना इसका अस्तित्व ही न होता ?

इस प्रकारके अनन्त कल्पनाओंके भंवर थे जिनमें प्राचीन आर्य मनीषीगण चक्कर काटते रहे और संभ्रान्त होते रहे। वे किसी ऐसे दृढ आधारकी, ऐसे सुनिश्चित सूत्रकी खोज करते रहे जोकि उन्हें अंधेसे नीयमान ठोकर खानेवाले अंधोंके समान इधर उधर भटकनेसे बचा दे। सबसे पहले उन्होंने प्रतीयमान पदार्थोंके दुःखोंसे अपने आपको मुक्त करनेका साधनमार्ग ढूंढा। इस मार्गको सांख्य या संख्या-करणका सिद्धान्त कहा जाता है। इसे पूर्व-ऐतिहासिक कालके प्राचीन सिद्ध मुनि कपिलने मानवजातिके लिये प्रकट किया है। इस मार्गमें शुद्ध विवेकशील बुद्धिके द्वारा पथप्रदर्शन प्राप्त करते हुए प्रगति की जाती है। इसे सांख्य कहे जानेका कारण यह है कि विश्वके विभिन्न पदार्थोंमें सामान्य तत्वोंको खोजना और उनकी संख्या निर्धारण करना इसके मुख्य सिद्धान्तोंमेंसे एक सिद्धान्त है।

सबसे पहले उन्होंने स्पष्ट रूपमें व्यवहारमें आनेवाले पदार्थोंमें स्थूल रूपमें ज्ञात होनेवाले तत्वों + का निर्धारण किया; इसके अनन्तर वे इनके सामान्यकरणके द्वारा और भी कम संख्यावाले आन्तरिक तत्वों ❀ पर पहुंचे जिनके कि प्रत्यक्ष तत्व केवल रूप विशेष हैं। इन आन्तरिक तत्वोंका संख्याकरण करनेके अनन्तर फिर सामान्यकरण प्रक्रियाके द्वारा वे सांख्यदर्शनके बहुत कम संख्यावाले परम तत्वों (त्रिगुण) पर पहुंचे। और इन तत्वोंका बहुत कुछ निश्चय-ताके साथ संख्या व धारण करके उन्होंने सोचा कि क्या इससे एक पद आगे बढकर और भी सामान्यकरण संभव है ? सांख्यने और भी सामान्यकरण किया और इस परम और अंतिम सामान्यकरणसे उस अंतिम स्थानपर पहुंचा जहां वह स्वयं अपने बलपर सुरक्षित रूपमें खडा हो सके।

यह महान् प्रकृति तत्व है; यह एकमात्र नित्य अविनाशी तत्व है जोकि भौतिक द्रव्य × का मूल कारण है और जो निरंतर होनेवाले विकासके द्वारा युगयुगान्तरोंमें वस्तुओंके अनंत चलचित्रको खोलता जाता है। और यह किसके लाभ-के लिये ? निश्चय ही वह सचेतन ज्ञानवाले और प्रत्यक्ष करनेवाले पुरुषोंके लिये, साक्षी -समूहोंके लिये है; इनमेंसे प्रत्येक, तर्क करनेवाले और प्रत्यक्ष करनेवाले मनके अपने निजी देशमें, स्थूल द्रव्यके बने कोश (स्थूल शरीर) के द्वारा दूसरोंसे विभाजित होता हुआ विश्वनाटकमें सदाके लिये द्रष्टारूपमें बैठता है। सांख्योंने विचार किया कि यद्यपि पुरुषोंके विभाजन निरंतर टूटते रहते हैं और नये निर्मित होते रहते हैं और जिन देशोंको वे ग्रहण करते हैं वे सदा एकरूपमें नहीं रहते, तब भी पुरुष नित्य हैं, कारण वे प्रकृतिसे कम नित्य और अविनाशी नहीं जान पडते।

अतः यह भली प्रकार निश्चित किये हुए दार्शनिक ज्ञान-का विस्तृत सुस्थिर सरोवर था जिसमें सांख्य मार्ग, कुछ सुनिश्चित सिद्धान्तोंके आधारपर शुद्ध बौद्धिक तर्कका मार्ग प्राचीन भारतके मनको ले गया। इस जलनिधिसे निकाली हुई बनावटी नहरोंकी निःसंदेह कमी नहीं थी। कुछ व्यक्ति इन अनेक साक्षियोंके समूहका एक साक्षीमें विलय करके इस परिणामपर पहुंचे कि केवल दो ही मूल तत्व हैं- ईश्वर और प्रकृति, पुरुष और प्रकृति, आत्मा और जडतत्व, आत्मा और अनात्मा। दूसरोंने, जो कि इनकी अपेक्षा अधिक मूलगामी थे, यह देखा कि प्रकृति पुरुषकी सृष्टि, छाया या रूपविशेष है और इसलिये

+ पंच महाभूत और एकादश इन्द्रियां (षोडश विकार)।

❀ पंच तन्मात्रायें, अहंकार और बुद्धि (सप्त प्रकृति विकृतयः)।

× यहां यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यहां भौतिक द्रव्य केवल स्थूल द्रव्यको ही अन्तर्गत नहीं करता जिससे कि भौतिक विज्ञानका मुख्य संबंध है, अपितु सूक्ष्म द्रव्यको भी जिसमें कि विचार और भावना भी कार्य करती है, और उस सूक्ष्म द्रव्यको भी जिसमें जीवित रहनेकी इच्छारूप मूलभूत कार्य होते हैं।

केवल ईश्वर, आत्मा या ज्ञान तत्त्वका ही अस्तित्व है और जडतत्त्व इसके ही अन्तर्गत रहता है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।

इसके विपरीत दिशामें भी समाधान खोजनेका प्रयत्न किया गया; कारण कुछ व्यक्तियोंने चेतन पुरुषोंको केवल प्रतीति मानकर उनके अस्तित्वका निषेध कर दिया। अनेक ऐसा मानते जान पडते हैं कि प्रत्येक पुरुष चेतनाके क्रमिक आघातों या विकारों (विचारों, संवेदनों) की एक परम्परामात्र है और उसमें जो सदा एक बने रहनेका भाव है वह भ्रम है जोकि उन आघातों, विकारों (विचार, संवेदनों) की धाराकी अविच्छिन्नताके कारण होता है। यदि यह मान लिया जाय कि विकासकी असंख्य हलचलोंमें जो प्रकृतिमें परिवर्तन होते हैं उनसे मस्तिष्कपर जो प्रभाव पडते हैं वही ये चेतनाके आघात या विकार (विचार, संवेदन) हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि चेतना प्रकृतिके ही अनेक विकारोंमेंसे एक विकार है; इस प्रकार प्रकृति या जडतत्त्व ही एकमात्र परमार्थतत्त्व रह जाता है और आत्मा या ज्ञानतत्त्वका इसके भीतर ही अन्तर्भाव हो जानेसे उसका निराकरण हो जाता है।

परन्तु अनेक व्यक्ति ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि पुरुषोंके प्रत्यक्ष ही प्रकृति है; उनके सिवाय प्रकृतिका कुछ भी अस्तित्व नहीं है, वह कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, यदि हम इस मतके साथ इस मतको जोड दें कि पुरुषोंमें जो अपने आपको एक माननेका भाव है वह संवेदनकी क्रम परम्परासे उत्पन्न होता है। अतः वह मिथ्या है तो हम प्राचीन भारतीय शून्यवादियोंकी असंभव और तर्कविरुद्ध स्थितिमें पहुंच जाते हैं; इन शून्यवादियोंका तर्क स्वयं एक विशिष्ट आत्महत्यासे ऐसी स्थितिमें पहुंच जाता है कि जिससे संपूर्ण सत्ताका न केवल आदि और अन्त अपितु समस्त द्रव्य और सार ही शून्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी दिशा भी थी जिसमें भारतीय विचारधाराने प्रगति करी और जो उसे वेदान्तके द्वारपर ले गई; कारण यह भी एक संभव कल्पना थी कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही पूर्णतया यथार्थ हों और फिर भी अपने मूलमें एक दूसरेके भिन्नरूप या पक्ष न हों और इसलिये अपनेसे किसी उच्चतर तत्त्वके रूप या पक्ष हों।

परन्तु ये कल्पनायें चाहें सत्यसदृश हों या त्रुटियुक्त, तर्कयुक्त हों या तर्क विरुद्ध, अभीतक केवल कल्पनायें ही थी। इनके मूलमें न कोई पर्यवेक्षित तथ्य था और न कोई विश्वसनीय अनुभव था। दो विषय निश्चयताको पहुंचे प्रतीत होते हैं। प्रथम, प्रपंचात्मक सत्ताके अतिसमीप विश्लेषणसे प्रकृति प्रमाणसिद्ध हो चुकी थी, यह प्रपंचात्मक जगत्का आधार थी; किसी मूलभूत द्रव्यको अधिष्ठान बनाये विना जगत्की व्याख्या करना संभव न था और जबतक वह अधिष्ठान एक और अविनाशी न हो तबतक यह जगत् जैसा कि पर्यवेक्षणसे पता चलता है— सुनिश्चित नियमोंके आधीन और अपने साकल्य और सारतत्त्वमें अपरिवर्तनीय नहीं हो सकता।

दूसरी ओर प्राणियोंमें " मैं हूं " ऐसा अपने व्यक्तित्वका भाव और अपने एकत्वका भाव निरंतर बना रहता है और वह जीवितकालमें जैसे रहता है वैसे ही मृत्युके अनन्तर × भी, और वह अपने आपको एक ही मानता रहता है; इसके अतिरिक्त प्रकृतिकी क्रियाके लिये किसी द्रष्टा कारणकी आवश्यकता प्रतीत होती है; इन दो प्रमाणोंसे पुरुषोंको प्रमाणसिद्ध कर लिया गया था। उन्होंने यह निश्चय किया कि पुरुष ग्रहण करनेवाले और विचार करनेवाले आत्मा हैं; इनकी सन्निधिसे विक्षुब्ध हुई प्रकृति सृष्टि करने लगती है और इनकी चेतनाके सामने प्रपंचविकास–रूप अपने विस्तृत ड्रामेके खेलती है।

परन्तु इस बीचमें प्राचीन भारतके ऋषियोंने अध्यात्म साधना और शारीरिक संयमके विषयमें परीक्षण और प्रयास करते हुए एक अद्भुत आविष्कारको पूर्ण बनाया; इस आविष्कारका भावी मानव ज्ञानके लिये इतना अधिक महत्त्व है कि जिसकी तुलनामें न्यूटन और गैलिलियोके आविष्कार तुच्छ हो जाते हैं। यहाँतक कि भौतिक विज्ञानका व्याप्तिज्ञान जनक और परीक्षणात्मक पद्धतिका आविष्कार भी

× मानव व्यक्तिका मृत्युके अनन्तर पुनर्जन्म भारतमें सर्वदा निर्विवादरूपमें प्रमाणसिद्ध माना जाता रहा है; चारवाकने जो इसका निषेध किया है उसे केवल युक्तिविरुद्ध और धृष्ठतापूर्ण मूर्खता मानकर उसकी अवज्ञा की जाती थी। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि भारतीयोंके लिये मृत्युके अनन्तर पुनर्जन्मका अर्थ अनिवार्य रूपमें अमरता नहीं है अपितु वह उसके माननेमें एक सहायक हेतु है।

इसकी अपेक्षा अधिक महत्व नहीं रखता; कारण भारतके इन प्राचीन ऋषियोंने योगकी पद्धतिका उसकी चरम प्रक्रियातक आविष्कार कर लिया और इस पद्धतिके द्वारा वे तीन उच्चतम अनुभवोंपर पहुंचे।

सबसे पहले उन्होंने यह अनुभव किया कि पदार्थोंके अनेकत्व और परिवर्तनके मूलमें कोई परमा एकता (एक-तत्व) और अपरिवर्तनीय स्थिरता (स्थिरतत्व) विद्यमान है; अभीतक इसे एक आवश्यक सिद्धान्त, एक अनिवार्य सामान्य नियमके रूपमें अभ्युपगम कर लिया जाता था उन्होंने इसे एक तथ्यरूपमें अनुभव किया। उन्होंने यह अनुभव किया कि यही एकमात्र परमार्थतत्व है और संपूर्ण प्रपंच केवल उसके प्रतीयमान रूप हैं, और यह समस्त पदार्थोंका सच्चा आत्मा है और प्रपंच उसके केवल वस्त्र और आभूषण हैं।

उन्होंने यह अनुभव किया कि वह कूटस्थ और परात्पर है और इसलिये वह नित्य, अक्षर, अव्यय और अविभक्त है। और अभीतक जो विचारधारामें प्रगति हुई थी उस सबकी ओर पीछे दृष्टिपात करके उन्होंने देखा कि यही वह लक्ष्य है जिसे शुद्ध बौद्धिक तर्क उन्हे ले आया होता। कारण जो कालमें है वह उत्पन्न होगा और नष्ट हो जायगा, परन्तु पदार्थोंकी एकता और स्थिरता नित्य है और वह कालसे अतीत होनी चाहिये।

जो देशमें है उसमें वृद्धि और क्षय होने चाहियें, उसके खण्ड और संबंध होने चाहियें; परन्तु पदार्थोंकी एकता और स्थिरता अक्षय्य है, वृद्धि पानेवाली नहीं है, अपने खण्डोंके परिवर्तनोंसे स्वतंत्र है और उनके संबंधोंकी परि-वर्तनशीलतासे अस्पृष्ट है और इसलिये वह देशसे अतीत होनी चाहिये; और यदि वह देशसे अतीत है तो उसके यथार्थ खण्ड नहीं हो सकते, कारण देश भौतिक द्रव्यगत विभाग-की अवस्था है, इसलिये विभाग, मृत्युके समान, केवल प्रतीति होना चाहिये न कि यथार्थ। अन्तमें जो कार्यकारण-भावके आधीन है वह अनिवार्यरूपमें परिवर्तनके भी आधीन है; परन्तु एकता और स्थिरता अपरिवर्तनीय, अक्षर है, जो वह युगोंके पहले थी, वही युगोंके अनन्तर भी रहेगी और इसलिये कार्यकारणभावसे अतीत होनी चाहिये।

अतः प्राचीन ऋषियोंका योगके द्वारा यह पहला अनु-भव था "नित्योऽनित्यानां" अनेक अनित्योंमें एक नित्य।

इसके साथ साथ उन्होंने एक और भी असत्य अद्भुत अनु-भव किया। उन्होंने देखा कि जो पदार्थोंका परात्पर निरपेक्ष आत्मा है वही सजीव प्राणियोंका भी आत्मा है, पृथ्वीपर भौतिक स्तरमें रहनेवाले प्राणियोंमें उच्चतम प्राणी मनुष्यका भी आत्मा है। मनुष्यके भीतर रहनेवाला चेतन पुरुष (आत्मा) जिसने सांख्योंको परेशान किया हुआ था। अपने अन्तिम मूलस्वरूपमें वही सिद्ध हुआ जोकि भौतिक पदार्थोंका कारण, आपाततः निश्चेतन प्रतीत होनेवाली प्रकृति है; प्रकृतिकी निश्चेतना दूसरे अनेक विषयोंके समान प्रतीतिमात्र सिद्ध हुई न कि यथार्थता; कारण योगियोंकी चक्षुओंको निर्जीव पदार्थोंके पीछे एक सचेतन बुद्धि कार्य करती हुई स्पष्ट स्वयं प्रकाशित दिखाई देती है।

अतः अनेक चेतनोंमें एक चेतन (चेतनश्चेतनानाम्) यह योगके द्वारा दूसरा अनुभव था।

अन्तमें, इन दो अनुभवोंके मूलमें एक तीसरा अनुभव भी था जोकि हमारी मानवजातिके लिये सबसे अधिक महत्व रखता है; वह अनुभव यह था कि मानवव्यक्तिके भीतर रहनेवाला परात्पर आत्मा वैसा ही पूर्ण है जैसा कि विश्वमें रहनेवाला परात्पर आत्मा, कारण ये दोनों तादात्म्य-भावसे एक ही हैं; कारण परात्पर अविभक्त है और प्रथक् व्यक्तित्वका भाव केवल उन मूलभूत प्रतीतियोंमेंसे एक प्रतीति है जिनपर कि प्रपंचात्मक सत्ताकी अभिव्यक्ति निरन्तर निर्भर करती है।

इस प्रकार निरपेक्ष तत्त्व जोकि अन्यथा ज्ञानसे अतीत, अज्ञेय हुआ होता, ज्ञेय हो जाता है; और जो मनुष्य अपने सम्पूर्ण आत्माको जानता है वह सम्पूर्ण विश्वको भी जानता है। यह अद्भुत सत्य वेदान्तके "सोऽहम्" मैं वही हू, "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं, इन दो महावाक्योंमें निहित है।

अतः 'नित्योऽनित्यानाम्', 'चेतनश्चेतनानाम्', 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' इन उच्च स्तंभरूपी चार चार महासत्योंके ऊपर प्रतिष्ठित हुआ उपनिषदोंका उच्च दर्शन अपने शिखरको सुदूरवर्ती नक्षत्रोंमें उठाता है।

अनुवादक -- श्री केशवदेवजी आचार्य

(क्रमशः)

समाज-रचना-शास्त्रकी पार्श्वभूमि

[लेखक— प्रो. के. अ. पटवर्धन, इंदौर]

पाश्चात्य देशोंमें प्रत्येक शास्त्रके ज्ञानकी प्रगति उस उस शास्त्रमें तज्ञ शास्त्रज्ञों द्वारा ही विशेषतः पिछले दो तीन सौ वर्षोंमें की गई है और इस प्रकारकी प्रगतिमें अनेकानेक विद्वानोंकी अभ्यासात्मक तपश्चर्या कारणीभूत हुई है। इस प्रकार जब प्रत्येक विषयका शास्त्रीयज्ञान वृद्धिंगत होता गया याने उस ज्ञानराशिका विकास होकर उसका संचय होता गया, तब यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि भिन्न भिन्न शास्त्रोंके प्रमुख सिद्धांतोंको प्रथम दिखाई देनेवाली भिन्न भिन्न शास्त्रोंकी मर्यादा बादमें न रही और इस कारण किसी भी शास्त्रके शास्त्रज्ञोंको उनके शास्त्रके उच्चकोटिके निष्कर्षोंको प्रस्थापित करते समय अन्य अन्य शास्त्रोंके प्रमुख प्रमुख सिद्धांतोंके आधार लेना अनिवार्य हो गया।

इस प्रकार यद्यपि पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके प्रयत्नोंसे प्रत्येक शास्त्रके ज्ञानमें आज उच्चतम प्रगति दिखाई दे रही है, तथापि बिलकुल ऊपर जाकर ऐसे कुछ संकीर्ण तथा महत्व-पूर्ण प्रश्न निर्माण हुए हैं, जिन्हें शास्त्रीय रीतिसे सुलझानेमें आजके शास्त्रीयज्ञानके प्रगतियुगमें भी शास्त्रज्ञोंकी मति कुंठित हो गई है और वे उन प्रश्नोंको शास्त्रीयरित्या हल नहीं कर पा रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानोंकी शास्त्रीय-ज्ञानमें प्रगति करनेकी यह एक पद्धति है कि जिसमें ज्ञान-वृक्षके प्रत्येक शाखाके सिरेसे उतरते उतरते उसकी मूलजड या मूलतत्वतक पहुंचकर अंतमें कार्यकारणका अभेद मान्य कर अवशिष्ट इस नातेसे आदि कारणका, जो किसीका कार्य नहीं है, विचार किया जाता है।

हमारे यहांके प्राचीन वैदिक विज्ञानवेत्ता ऋषि इस प्रकारकी शास्त्रीय संशोधन पद्धतिसे तो पूर्ण परिचित थे ही साथ ही साथ उन्हें एक दूसरी पद्धति भी पूर्ण स्वरूपसे ज्ञात थी जिसमें पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका संपूर्ण ज्ञान शुद्ध ब्रह्मसे याने मूलतत्वसे शुरू कर क्रमसे यह विचार इस नामरूपात्मक सृष्टिरूप वृक्षके सिरेकी ओर जाकर सृष्ट पदार्थोंके बाह्य आकार तथा उनके व्यावहारिक उपयुक्ततातक पहुंचता है। इन दोनों पद्धतियोंका उपयोग करके वैदिक ऋषियोंने ब्रह्मविद्याके सिद्धांतोंकी रचना मुख्यतः तीन शास्त्रीय पद्धतियोंसे की है।

प्रश्नोपनिषदांतर्गत प्राणविद्या (Biology), तैत्तिरीय उपनिषदांतर्गत पंचकोषात्मक भार्गवी वा वारुणी विद्या (Chemistry) और बृहदारण्यक तथा छांदोग्योपनिषदांतर्गत पंचाग्नि विद्या (Physics) ये तीनों तत्वतः एक ही हैं। सर्वव्यापी ब्रह्मतत्वका प्रतिपादन करनेवाली ये तीन शास्त्रीय पद्धतियां हैं। पूर्वग्रह छोडकर दशोपनिषदांतर्गत मूल वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे तथा विचारपूर्वक अभ्यास करनेसे स्पष्ट होगा कि मानो, आधिभौतिक शास्त्रोंकी सोपान परंपरा तैयार कर, वैदिक ऋषियोंने ठेठ ब्रह्मज्ञानके प्रधान सिद्धांततक पहुंचनेवाला विज्ञानका यह एक सोपान बना दिया है। विज्ञानके उपपत्तिकी दृष्टिसे ब्रह्मांडके विचारको जैसे महत्व प्राप्त है। उसी प्रकार अनुभवकी दृष्टिसे पिण्डगत विचारोंको महत्व देना पडता है और इस प्रकार इनमेंसे किसी भी शास्त्रीय पद्धतिके विचारप्रणालीमें आधिभौतिक (Chemistry), आधिदैविक (Physics) तथा आध्यात्मिक (Biology) दृष्टिकोणोंसे विचार करनेपर ही किसी प्रश्नका विचार पूर्ण होता है, ऐसी ही वैदिक ऋषियोंकी धारणा स्पष्ट दीखती है।

अब हम मानव संबंधी प्रश्नोंपर पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंका दृष्टिकोण क्या है, उसे देखनेका प्रयत्न करेंगे। जब पाश्चात्य तत्ववेत्ता श्री हर्बर्ट स्पेन्सरने ' सोशिआलॉजी ' समाजशास्त्र इस शब्दका निर्माण कर उस शब्दका प्रयोग शुरू किया, तबसे पाश्चात्य देशोंमें विद्वानोंका लक्ष्य मनुष्य जातिके उत्कर्षापकर्ष विषयक प्रश्नोंके अभ्यासकी ओर आकर्षित हुआ। समाजशास्त्र या इसे आधुनिक प्राणिशास्त्रकी एक शाखा जिसे ' ह्यूमन एकॉलॉजी ' कहते हैं, यह नाम देना अधिक युक्त होगा; क्योंकि यह एक प्रत्यक्ष तथा वास्तववादी शास्त्र है जिसके द्वारा मनुष्य जातिपर अन्य जीवकोटि

तथा भौतिक सृष्टिचक्रके कारण होनेवाले परिणामोंकी शास्त्रीय ज्ञानद्वारा मीमांसा करके इसके परिणामस्वरूप मनुष्य या मानव जातिके भविष्यका विचार किया हुवा होता है। जैसे जैसे प्राणिशास्त्र विषयक विविध शास्त्रीय क्षेत्रोंमें हमारे ज्ञानकी वृद्धि हो रही है, वैसे वैसे मानवतासंबंधी अनेक समस्यायें तथा तदनुषांगिक- विषय स्पष्ट होते जा रहे हैं।

इस प्रकार जीवशास्त्र विषयक निष्कर्षोंका समाजशास्त्रमें तथा मानवके इतिहासमें होनेवाला प्रवेश यद्यपि प्रारंभावस्थामें है, तथापि यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है; क्योंकि इसका संबंध सारे विषयोंके मूलगामी तत्वोंतक पहुंचनेवाला होता है। इतना सब होते हुए भी आजके हमारे विश्वविद्यालईन विद्यार्थियोंकी यही धारणा दृढ हुई दिखती है, कि वे इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयोंका अभ्यास जीवशास्त्रके सामान्य तथा विशेषरूपके मुख्य मुख्य प्रमेयोंको समझे बिना ही कर सकते हैं। यानी एक प्रकारसे हमारे इतिहासज्ञ, तथा अर्थ और समाजशास्त्रज्ञ जीवशास्त्रके मूल सिद्धांतोंसे केवल अनभिज्ञ ही नहीं हैं, तो वे संपूर्णतया तथा जानबूझकर उसकी ओर मुँह मोडे हुए हैं।

उपर्युक्त विवरणमें दिग्दर्शित घटनाओंके कारण एक विचित्र ही परिस्थिति निर्माण हुई दीखती है कि सिद्धांतरूपसे स्पष्ट किये हुए शास्त्रीय निष्कर्ष हमें उपलब्ध होते हुए भी हम उन्हें अपने व्यावहारिक जीवनके उपयोगमें लाते नहीं दिखाई देते; क्योंकि ये निष्कर्ष देशकाल परिस्थितिमें रूढ हमारे आचार तथा दैनिक व्यवहारोंसे मेल नहीं खाते। वास्तवमें देखा जाय, तो इस युगमें की जानेवाली किसी भी प्रकारकी राजकीय, सामाजिक तथा अन्य मानव विषयक चर्चा जबतक वह आधुनिक कालमें उपलब्ध शास्त्रीयज्ञानकी कसौटीपर रखी न जाय, तबतक उससे निकले गए निर्णयोंको अंध विश्वास, अधूरे तथा रूढ अनुमान, अंदाजी अनुमवोंपर आधारित प्रथाएं या दंतकथाओंके स्वरूपकी ही समझी जानी चाहिये।

इस समय सामाजिक मानसशास्त्र, मानव जीवशास्त्र, तथा प्राणिशास्त्रकी अनेक शाखाशास्त्रोंके ज्ञानमें जो अभूतपूर्व प्रगति हो रही है, उसके कारण हमारे सुविध इतिहासज्ञ तथा विद्वान् समाजशास्त्रज्ञोंका लक्ष्य हमारे दैनंदिन व्यवहारमें उपयुक्त हों, ऐसे जीवन विषयक प्रश्नोंकी ओर अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। और उन्हें शनैः शनैः पटता जा रहा है कि मनुष्य भी एक प्राणी ही है और जो सृष्टि नियम सारे जीवसमूहोंको लागू होते हैं, उन्हींके अनुसार इसका भी एक जीवन व्यतीत हुवा करता है। इसके लिये कुछ विशिष्ट तथा विशेष नियम निर्माण नहीं किये गए हैं। इसका उत्कर्षापकर्ष उन्हीं प्राणीशास्त्रके नियमोंके आधारोंपर तथा उन्हींके अनुसार ही हुवा करता है और ये नियम छोटीसे छोटी बातोंके विषयोंमें भी आज स्पष्ट तथा निःसंदिग्ध रूपमें बताये जा सकते हैं।

इस लेखके अबतकके विवरणमें हमने प्रथम आधुनिक पाश्चात्य तथा प्राचीन पौर्वात्य वैज्ञानिकोंके विचार पद्धतियोंके सामान्य स्वरूपका विवेचन करके बादमें मनुष्य और मानवतासंबंधी हरप्रकारके प्रश्नकी चर्चामें जीव या प्राणिशास्त्र विषयक शास्त्रीयज्ञानकी जानकारी होना, पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके दृष्टिकोणसे कितनी आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है, इसका विशेष स्वरूप स्पष्ट किया है। इस प्रकारके उपोद्घातात्मक विवेचनका केवल उद्देश यही है कि इस लेखमें आगे चलकर जब संकीर्ण विषयकी चर्चा की जायेगी, तब आधुनिक, पाश्चात्य तथा प्राचीन पौर्वात्य वैज्ञानिकोंकी विचारधारायें किन मूल पद्धतियोंपर आधारित हैं, इसका स्पष्ट ज्ञान रहे।

ससार या विश्वमें मानवका इस शताब्दितकका जो इतिहास उपलब्ध है, उसके सूक्ष्म निरीक्षणसे स्पष्ट होगा कि इस ऐतिहासिक कालमें आजतक संसारमें जितने भी आंदोलन हुए हैं; वे सारेके सारे मूलतः सांप्रदायिक तत्वोंपर ही आधारित थे। अन्य राष्ट्रोंको छोड हम केवल भारतके पिछले दो ढाई हजार वर्षोंके इतिहासका निरीक्षण करें, तो हमें उपर्युक्त कथनकी सत्यता पट जावेगी। सर्वप्रथम वैदिक ब्राह्मण धर्मके कर्मकांडी अतिरेककी प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध तथा जैन संप्रदायोंकी उत्पत्ति, तदुपरान्त इन धर्मोंके विरोधात्मक रूपसे दिखाई देनेवाले शांकर, मध्व, वल्लभ एवं रामानुजसांप्रदायोंका उद्भव तथा इसी कालसे शुरू हुए मुस्लिम सांप्रदायवादियोंके इन दोनों गुटोंके विरुद्ध आक्रमणात्मक संघर्ष, तत्पश्चात् आंग्ल विजेताओंके संरक्षणमें ईसाई संप्रदाय वादियों द्वारा किये गये ऊपरसे दिखाई देने-

वाले सोज्वल तथा सौम्य धार्मिक उपदेश, परंतु वास्तविक रूप अमानुषिक अत्याचार ये सारे इसी निष्कर्षके निदर्शक हैं, कि पिछला दो ढाई हजार वर्षका काल सांप्रदायिक संघर्षोंका ही काल था।

इस प्रकारकी सांप्रदायिक भावनाओंसे निर्माण होनेवाले संसारसे आज साधारणतः समाप्ति पथपर पहुंचे हुए दीखते हैं, यद्यपि इन भावनाओं द्वारा निर्माण होनेवाले संघर्ष हमारे भारतवर्षमें आज भी तीव्रतम अवस्थामें ही हैं, और इन्हींके परिणामस्वरूप भारत खंडित होकर पाकिस्तानका निर्माण हुवा है। एक प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि धार्मिक भावनाओंपर आधारित निर्माण होनेवाले संघर्षोंका काल संसारमें समाप्त होता देख हमारे नेता ओंने उसे यहां भी समाप्त कर देनेके उच्चतम उद्देशसे ही पाकिस्तानके निर्माणमें, आपद्धर्मके नाते, समति दी हो, और यही कारण हो सकता है कि हमारे नेता संप्रदाय विरोधी घोषणा बार बार करते हुए दिखाई दे रहे हैं। संप्रदाय विषयक प्रश्नकी सपूर्ण चर्चा एक दूसरे तथा स्वतंत्र लेखमें की होनेसे उस विषयमें अधिक विवेचन यहां करना उचित नहीं समझते। अस्तु।

वास्तविक देखा जाय तो इस वर्तमान समयमें जगत्में जो प्रमुख आंदोलन चल रहा है और जिसके कारण अनेक राष्ट्रोंके गुट बने है और वे अपने अपने सिद्धांतके प्रचारके लिये बडी बडी दलबन्दियां करके, घोर संहारक युद्ध कर दूसरे पक्षको संपूर्णतया विनष्ट करनेमें लगे हुए हैं, उस आंदोलनके कारणभूत विषय हैं- व्यक्तिवाद, समाजवाद और साम्यवाद। यद्यपि भारतवर्षने अपने आपको इन सारी राजनैतिक गुटबन्दियोंसे अलग रखकर अपने राष्ट्रके विकासके हेतु सारे ही अन्य राष्ट्रोंसे मैत्रिपूर्ण संबंध रखे हैं, तथापि इसे इस जागतिक आंदोलनात्मक विचारधाराओंसे संपूर्णतया अलिप्त रहना शक्य ही नहीं है। एक ओर जहां हमारे नेता निधर्मी राज्यकी घोषणा कर उसके साधनकी ओर लक्ष्य केंद्रित कर रहे हैं, उसीके साथ दूसरी ओर समाजवादी समाज रचना का ध्येय सामने रखकर उसमें निर्माणकी ओर राष्ट्रकी सारी शक्ति काममें लानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकारके प्रयासोंकी युक्तायुक्तता एवं आवश्यकताकी चर्चा करनेके पूर्व यह उचित होगा कि हम इन तीनों वादग्रस्त विषयोंकी मूलभूत पार्श्वभूमिसे पूर्ण परिचित हों। इस उद्देश्यसे अब इन तीनों विचारधाराओंके मूलतत्वोंका विवेचन करेंगे।

व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद— व्यक्तिस्वातंत्र्यवादी कहते हैं कि व्यक्तियोंका समाज तथा राष्ट्र बनता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हुई, तो सारा समाज और संपूर्ण राष्ट्र उन्नत होता है। इसलिये अपनी उन्नति करनेके लिये प्रत्येक व्यक्ति को स्वातंत्र्य होना चाहिये। मनुष्यको स्वतंत्रता न रही तो उसकी शक्तियोंका विकास नहीं हो पाता और इस कारण इस विचारधारामें व्यक्तिकी पूर्ण स्वतंत्रता मानी जाती है और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्र रीतिसे अपनी उन्नति करनेका पूर्ण अधिकार दिया जाता है।

समाजवाद- समाजवादियोंका यह कहना है कि जब व्यक्तिकी क्रियाशक्ति एव ज्ञानशक्ति बढ जाती है यानी उसकी प्रबधशक्ति और बुद्धि बढ जाती है, उस समय उसके पास धन आदिका संचय अधिक हो जाता है। वह धनी व्यक्ति अपने धनके बलसे अनेक उपभोगोंके साधन अपने अधिकारमें कर लेता है, तथा दूसरोंको इनसे वंचित रखता है और इस कारण वर्ग कलह निर्माण होता है, साथ ही साथ व्यक्तिकी स्वतंत्रता माननेसे संघशक्ति नष्ट हो जाती है। व्यक्ति कितनी भी समर्थ हुई, तो भी वह समाजके सांघिक बलकी बराबरी नहीं कर सकती। इन सब कारणोंसे समाजवादी पक्षका मत यह है कि समाजहित साधनके लिये व्यक्तिपर नियमन करना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि समाजहित ही मुख्य है। समाज सुखी हुवा, तो व्यक्तिका सुख उसीमें हो जाता है। समाजसे सांघिक बल बढता है और समाजका सुख सामुदायिक आयोजनोंसे बहुत अधिक बढाया जा सकता है और इसीलिये समाजवादकी पद्धतिसे राज्यशासन होना चाहिये।

साम्यवाद- साम्यवादका मुख्य तत्व है सबकी समता व्यवहारमें लाना। स्वामी और सेवक दोनों मनुष्य हैं। दोनोंके लिये मानवी जीवनकी आवश्यकतायें समान रीतिसे चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको रहनेके लिये अच्छा स्थान, भोजनके लिये पुष्टिकारक अन्न और ओढने-पहननेके लिये ऋतुके अनुसार योग्य वस्त्र चाहिये तथा योग्य शिक्षण याने ज्ञान प्राप्त करनेके साधन सबको मिलने चाहिये। धन न होनेके कारण किसीको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका ऐसा नहीं

होना चाहिये। उसी तरह रोग होनेपर औषध मिलना तथा वृद्धावस्थामें जो आवश्यकताएं होंगी उनकी भी व्यवस्था होनी चाहिये। इस प्रथामें व्यक्तिके लिये पृथक् सत्ता नहीं है। व्यक्ति यह एक राष्ट्रका अवयव है। यह राष्ट्रके लिये जीवित रहती है और इसको राष्ट्रसेवाके कार्य अनिवार्य रूपसे करना ही चाहिये। कोई व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र नहीं है। राष्ट्रके कार्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये व्यक्ति पूर्णतया परतन्त्र है। यहांतक हमने आज विश्वमें प्रचलित नाना प्रकारकी मतप्रणालियोंके विचारप्रवाह तथा कार्यक्रम देखे।

इस विश्लेषणके पश्चात् अब सहजमें यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिन दो गुटोंमें उनके तथा उनके विरोधी राष्ट्रोंमें स्थित समाज रचना विषयक संघर्ष चल रहा है, वहां जिस जिस-प्रकारकी समाज रचना अस्तित्वमें है, वह क्यों है? इस पृथ्वीतलपर जो भी कार्य दिखाई देता है, उस प्रत्येकका कोई तो भी कारण होता ही है। रूसमें साम्यवादी समाज-रचना आज दिखाई दे रही है, उसका निर्माण ही क्यों कर हुवा इसका पता लगाना ऐतिहासिक दृष्टि अत्यंत महत्वकी है, उसी प्रकार इसके विरोधी राष्ट्रोंमें जो समाज रचना है वह वहां क्यों कर है और किन कारणोंसे निर्माण हुई है यह भी महत्वपूर्ण प्रश्न है। आज भारतमें भी समाजवादी समाज रचनाका ध्येय सामने रख हमारे नेताओंने लोक-शाही राज्यपद्धतिको स्वीकार किया है, उसको कारण परंपरा ढूंढना उतना ही महत्वपूर्ण प्रश्न चिकित्सक बुद्धिसे निरीक्षण करनेवालोंके सामने आना स्वाभाविक है। यह एक संपूर्ण तथा स्वतंत्र विषय होगा और इस कारण इसकी अधिक चर्चा इस स्थानपर करना उचित नहीं समझते। यहांपर तो हम केवल इसी बातपर विचार करेंगे कि आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों तथा प्राचीन पौर्वात्य वैदिक शास्त्रज्ञोंके इस विवादात्मक प्रश्नके बारेमें क्या विचार है।

पाश्चात्य शास्त्रीय विचारधाराके प्रतीक इस नाते उदाहरणके लिये हम 'ज्यूलियन हक्स्ले' (Julian Huxley) के 'इव्होल्यूशन' (Evolution) नामक ग्रन्थके अंतिम उपसंहारात्मक अध्यायका परिशीलन करें, तो प्रतीत होगा कि आधुनिक शास्त्रज्ञोंको इस प्रश्नका शास्त्रीय दृष्टिकोणसे हल ढूंढ निकालना अत्यंत कठिन समस्या बन गयी है। वे यह निश्चित नहीं कर पा रहे हैं कि समाज रचनामें व्यक्तिके उत्कर्षकी मर्यादा कहांतक सीमित होनी चाहिये और सामाजिक अधिकार क्षेत्रकी शुरूआत कहाँसे होनी चाहिये। उनका स्पष्ट मत है कि जबतक यह प्रश्न शास्त्रीय दृष्टिकोणसे छुडाया नहीं जाता, तब यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि जीव जो कि आजतक मानवकोटितक उन्नत होकर पहुंचा है, उस मानवकी आगेकी उन्नतिका यानी नरका नारायण बननेका क्या या कौनसा मार्ग स्थिर किया जाय। इस कारण यही सिद्ध होता है कि आधुनिक कालके शास्त्रीय संशोधन इस प्रश्नपर प्रकाश डालनेमें असमर्थ ही ठहर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि आजके संघर्षशाली राष्ट्रोंमेंसे एक भी यह नहीं कह सकता है कि अनुभवकी दृष्टिसे जिस समाजरचना तथा राज्य पद्धतिका ये पुरस्कार कर रहे है, वही योग्य तथा उत्तम पद्धति है और यह सिद्ध होनेके कारण ही वे उसे दूसरे गुटके राष्ट्रों पर लादनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार शास्त्रप्रचीति तथा अनुभवात्मक आत्मप्रचीति इन दोनों रीतियों द्वारा इस प्रश्नको सुलझानेमें आजका पाश्चात्य संसार इस शास्त्रीय युगमें निष्प्रभ ठहर रहा है। अब हम यह देखेंगे कि हमारे प्राचीन वैदिक वैज्ञानिक इस ज्वलंत प्रश्नको छुडाकर उसके आधारपर उच्च कोटिकी समाजरचना निर्माण करनेमें किस प्रकार सफल हुए हैं।

इस प्रकारके विश्लेषणके पहले हमें सर्वप्रथम यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि यद्यपि पाश्चात्य राष्ट्रोंने आधिभौतिक ज्ञान संपादन कर वैज्ञानिक क्षेत्रमें उच्चतम प्रगति की हुई दिखाई दे रही है और उसके आधारपर आर्थिक, सांपत्तिक तथा राजकीय क्षेत्रोंमें भी वे उच्च स्थान प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं; तथापि यह किसीको भी मानना पड़ेगा कि उन्हें भारतवर्ष जैसी दीर्घकालीन सांस्कृतिक परंपरा नहीं है। उनका इतिहास अधिकसे अधिक दो ढाई हजार वर्षोंमें सीमित है। कुछ राष्ट्रोंको तो पिछले तीन एकसे वर्षोंके पीछे जानेकी गुंजाइश ही नहीं है। इसके विपरीत भारतवर्षका इतिहास बुद्धकालसे आजतक यानी पिछले ढाई हजार वर्षोंका तो संपूर्ण तथा स्पष्ट रूपमें ज्ञात ही है; परंतु भारतीय संस्कृतिका इतना ही आयुष्य नहीं है।

गौतम बुद्धके पूर्व भारतके इतिहासमें, स्मृतिकाल तथा वैदिककाल ऐसे दो बडे बडे कालखंड हो गए हैं, ऐसा हमारे प्राचीन वाङ्मयके निरीक्षणसे किसीको भी स्पष्ट प्रतीत हो सकता है। श्री भगवद्गीता यह ग्रन्थ वैदिककालका अंत और स्मृतिकालके प्रारंभ दर्शानेवाला ग्रन्थ है। वैदिककाल खंडमें भी दो तीन महत्वपूर्ण तथा दीर्घकालीन हों ऐसे बादमें और दो कालविभाग हो गए हैं। उनमेंका पहला मंत्रद्रष्टा ऋषियोंका काल, दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ एवं यज्ञसंस्थाके निर्माणका काल और तीसरा औपनिषदिककाल (कृतयुग) और इन तीनोंके बादमें ब्रह्मसूत्रोंके निर्माणका (त्रेतायुग) और अंतमें गीताका (द्वापरयुग) काल है। यही सब कारण हैं, कि जहाँ पाश्चात्य राष्ट्रोंको भिन्न भिन्न क्षेत्रमें नए नए प्रयोग कर उनसे प्राप्त अनुभवों द्वारा अपने राष्ट्र तथा मानवके आगेकी प्रगतिका मार्ग निश्चित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो रही है, वहां भारतके पास उसके इतिहासमें इसी प्रकारके प्रयोगों द्वारा प्राप्त ज्ञान और उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभवात्मक निष्कर्ष पूर्ण रूपसे उपलब्ध हैं। हमें केवल उनका परिशीलन कर, हमारे जीवनोपयोगी कार्योंमें उनसे बोध लेना है। आजकी बीसवी सदीमें भी ऐसा कोई विषय, कोई क्षेत्र तथा कोई ऐसी परिस्थिति निर्माण नहीं हो सकती, जिसका उदाहरण हमें केवल महाभारत जैसे ग्रन्थमें न प्राप्त हो। यदि भारतवर्षका इस संसारके राष्ट्रोंमें विशेष वैशिष्ट्य है तो यही है।

वैदिक संस्कृतिके उत्क्रान्तिकी शुरूआतमें सर्वप्रथम मनोनिग्रह तथा इंद्रियनिग्रहसंपन्न वैदिक ऋषियोंने आत्मसंयमनपूर्वक सृष्टिनिरीक्षण एवं आत्मनिरीक्षणकी अभ्यासात्मक तपश्चर्याका प्रारंभ किया और उसे अपने जीवनमें दीर्घ कालतक करके इस प्रकारसे संग्रहित किये हुवे ज्ञानको गोत्र, पुत्र एवं विद्या पुत्रोंके स्वाधीन किया। इन्होंने पुनःश्च इसी प्रकारका निरीक्षणपूर्वक संशोधन कार्य अपने जीवनमें चालू रख कर संग्रहित ज्ञानका संवर्धन किया। इस प्रकारका संशोधनात्मक उपक्रम वैदिककालमें कई पीढियोंतक चला। इन वैज्ञानिकोंकी प्रयोगशाला (Laboratory) दीवालोंकी सीमासे मर्यादित नहीं थी; परन्तु उनका पिंड ब्रह्मांडात्मक निरीक्षण कार्य सृष्टिके खुले प्रांगणमें हो रहा था। इस प्रकारके कार्यसे जब प्रचुर मात्रामें शास्त्रीय ज्ञान संग्रहित हो गया तब बादके वैदिक ऋषियोंने इस प्रकारके संशोधनात्मक रूपसे जो शास्त्रीय ज्ञान संपादन किया हुवा था, उसे सूत्रमय रूपमें संग्रहित कर उसे 'वेद' यह संज्ञा समर्पण की।

यह शास्त्रीय ज्ञानसंग्रह कई पीढियोंकी तथा दीर्घकालके निरीक्षणात्मक तथा अनुभवात्मक तपश्चर्या द्वारा प्राप्त किया हुवा होनेके कारण इस सृष्टिमें कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण विषय नहीं रह गया था, जिसका वैदिक वाङ्मयमें निर्णयात्मक निष्कर्ष न निकाला गया हो और यही कारण है कि उन विज्ञानवेत्ता ऋषियोंने इस ज्ञानसंग्रहको 'वेद' यह अर्थपूर्ण संज्ञा दी, क्योंकि 'वेद' शब्दका अर्थ है पूर्ण ज्ञान और यह ज्ञान पठन पाठन रूपसे एक पीढीसे दूसरी पीढीको प्राप्त होता रहा, इस कारण इसे 'श्रुति' यह संज्ञा भी प्राप्त हुई। इस प्रकार संग्रहित किया हुआ मूलभूत, तात्विक तथा शुद्ध शास्त्रीयज्ञान (Fundamental sciences) यानी 'वेद' का मंत्र या संहिता भाग इस मंत्रभागमें वर्णन किये हुए कर्म और वे मंत्र इन दोनोंकी परंपरा नष्ट न हो जाय तथा उनकी व्यावहारिक उपयुक्तताका केवल आचारमें परिवर्तन न हो इस दृष्टिसे बादके त्रेतायुगीन ऋषियोंने ब्राह्मण ग्रन्थोंका संस्मरण और संकलन करके उनमें उन सब कर्मोंको उनके मंत्रोंसहित अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थासे संलग्न करनेका शास्त्रीय कार्य किया। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ग्रथित ज्ञानको आजकी परिभाषामें व्यावहारिक शास्त्र या (Applied sciences) कह सकते हैं। और इस प्रकार वेदकालीन यह ब्रह्मविद्याशास्त्रकी रचना पूर्ण हुई।

उपर्युक्त विवरणमें विवेचन किये हुए वैदिक ऋषियोंने की हुई अभ्यासात्मक तपश्चर्यासे निर्माण ब्रह्मविद्याशास्त्रकी रचनामें आज संसारके सामने जो ज्वलंत प्रश्न है, उस विषयमें क्या निष्कर्ष हैं, उन्हें अब देखना है; परंतु इस लेखके अधिकांश भागमें विषयके पार्श्वभूमिका ही विवेचन किया होनेके कारण इसमें अब हम मुख्य विषयपर वैदिक वैज्ञानिकोंके निष्कर्षोंका केवल निर्देश कर मुख्यतया यही सिद्ध करेंगे कि उनके सामने यह विषय तथा तद् अनुषंगिक प्रश्न निर्माण हुवा था। और उन्होंने इस कठिन प्रश्नको पूर्ण रूपसे सुलझाकर उसपर आधारित समाजरचना बतलाकु-

शतक चलाकर जगत्के रंगभूमिपर उसका यशस्वी प्रयोग कर दिखाया था। इतना ही नहीं तो इस प्रकारकी समाज-रचनासे एक ही राष्ट्रका नहीं तो अखिल मानवजातिका कल्याण किस प्रकार किया जा सकता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर बताया था। अब हम यहां चार मंत्रोंको देंगे, जो ईशावास्योपनिषद्के मंत्र हैं। उसमेंका पहला प्रकरण संदर्भके उद्देशसे और आगेके तीन मूल विषय संबंधित हैं।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय‍ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(ईश. ११)

अर्थ-जो विद्या यानी ब्रह्मज्ञान और अविद्या यानी आधिभौतिक ज्ञान ये दोनों समुच्चयसे जानता है वह आधिभौतिक ज्ञानसे मृत्यु तर जाता है यानी दुःख मुक्त होकर, ब्रह्मज्ञानसे अमृत यानी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्या‍ँ रताः॥
(ईश. १२)

अर्थ-जो असंभूतिकी यानी व्यक्तिधर्मकी उपासना करते हैं, वे गाढ अंधकारमें गिरते हैं यानी उनका अधःपात होता है और जो केवल संभूतीकी यानी समाजधर्मकी (उपासना करते हैं) वे उनसे भी अधिक अंधकारमें गिरते हैं यानी उनका और भी अधिक अधःपात होता है।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
(ईश. १३)

अर्थ- संभूतिसे अलग ही (फल मिलता है) ऐसा कहते हैं, असंभूतिसे भी अलग ही (फल मिलता है) ऐसा कहते हैं; इस प्रकार जिन्होंने हमें यह स्पष्ट कर बताया (सिखाया) उन विद्वान् आचार्योंसे हमने सुना है।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय‍ँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते॥
(ईश. १४)

अर्थ- जो समाजधर्म और व्यक्तिधर्म ये दोनों बराबर जानता है यानी इन दोनोंका महत्व समझता है, वह व्यक्तिधर्मसे संकटोंको पार करता है और समाजधर्मसे अमृत यानी मोक्ष प्राप्त करता है।

उपर्युक्त मंत्रोंके परिशीलनसे स्पष्ट होगा कि वैदिककालमें संभूति और असंभूति ये दोनों विद्या (परा विद्या) और अविद्या (अपरा विद्या) जैसे ही स्वतंत्र शास्त्र होने चाहिये। यह बात केवल 'उपासते' इस क्रियापदसे ही नहीं तो 'ये नः तत् विचचक्षिरे धीराणाम्' इस वाक्यसे भी स्पष्ट सिद्ध होता है। अध्यात्मविद्यासे संभूतिशास्त्र बनता है और आधिभौतिक विद्यासे असंभूतिशास्त्र बनता है ऐसा ग्यारहवें मंत्रके संदर्भसे निश्चित अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। जिस प्रकारसे परमपुरुषार्थ सिद्धिको अध्यात्मविद्या और आधिभौतिक विद्या इन दोनोंकी एकसी ही आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसी परमपुरुषार्थ सिद्धिके लिये संभूति और असंभूति इन दोनों शास्त्रोंकी नितांत आवश्यकता है; ऐसा १४ मंत्रमें श्रुतिने स्पष्ट ही दिग्दर्शित किया हुवा दिखता है। अब अंतमें इन शास्त्रोंसे संबधित तथा उनके परिणामस्वरूप कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियोंका परिशीलन करके इस लेखको समाप्त करना उचित समझते हैं।

एक महान ग्रीक तत्ववेत्ताने अपने तत्वज्ञान विषयक ग्रन्थमें समाजके सर्वांगीण उन्नतिका एक काल्पनिक चित्र खींचा हुवा है। इस काल्पनिक चित्रमें दिग्दर्शित रूपरेखा भारतके इतिहासके त्रेता तथा द्वापर युगीन समाज रचनामें केवल पूर्ण हुई दिखती ही नहीं है, तो हम रामराज्य या धर्मराज्य इन वाक्योंसे उसे संबोधन कर उस कालकी समाज रचना आदर्श स्वरूपकी थी, यह आज भी सब मान रहे हैं। वैदिक ऋषियोंके वाङ्मयमें स्थान स्थानपर जिस प्रकार समाजशास्त्र (संभव) का ध्यानपूर्वक आचरणकी चिंता व्यक्त की हुई दीखती है, उतना ही व्यक्तिधर्म (असंभव) के योग्य आचरणको महत्व दिया हुवा दीखता है, यह बात १४ वें मंत्रके परिशीलनसे स्पष्ट ही दीख जाता है। वैदिक ऋषियोंने समाजधर्मके योग्य पालनकी इतनी आग्रहपूर्वक सीख दी हुई होते हुए भी इस समाजधर्मका त्याग करनेके कारण भारतियोंको पिछले १०००-१२०० वर्षोंसे पारतंत्र्यका नरकवास भोगना पडा और संसारमें उसकी तिनके भर भी कीमत नहीं रह गई थी।

इसी प्रकार पाश्चात्य राष्ट्रोंने व्यक्तिधर्मको तुच्छ समझनेके कारण यद्यपि उनका समाज आज वैभवशाली हुवा हो,

तथापि व्यक्तिगत दृष्टिसे वह दिन प्रतिदिन अवनतिके पथ पर ही जा रहा है, ऐसा ही पाश्चात्य पंडितोंका मत है। इतने लंबे आपत्तिकालमें भी भारतियोंकी नीतिमत्ता, धर्मभीरुता, पापभीरुता ये सद्गुण समाजमें कायम टिके रहे, यह व्यक्तिधर्मके आचरणका फल है। इन दोनों स्थानोंमें बारहवें मंत्रमें बताये अनुसार समाजधर्म और व्यक्तिधर्म एकांगी होनेसे वह कल्याणप्रद होनेके बदले अकल्याणकारी ही सिद्ध हुये हैं, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। इस प्रकार ऋषिप्रणीत शास्त्रीय सिद्धांत त्रिकालबाधित स्वरूपके ही हैं, ऐसा ही अंतमें हमें आज भी मानना पडता है। इन दोनों शास्त्रोंका समुचित विवेचन दूसरे लेखमें करनेका प्रयत्न करेंगे। यहां इस लेखमें इतना ही बता देना पर्याप्त है कि वैदिक ऋषियोंको इस ज्वलंत प्रश्नका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त था।

स वि ता

[लेखक : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

विश्वकी प्रेरक शक्तिकी संज्ञा सविता है। प्राण या क्रिया-शक्ति ही देवचिति है। सब देवोंकी जो मूल प्रेरकशक्ति है वही सविता है। कहा है—

सविता वै देवानां प्रसविता।

यह विश्व क्रियाशक्तिका अनंत भंडार है। प्रत्येक परमाणु क्रियाशील है। क्रियाशीलता ही प्राणतत्त्व है। जहां प्राण वहां क्रिया है। प्राण तैजस तत्त्व है। जहां तेज है वहां गति है। गतितत्त्व ही देवत्व है। प्रकाश भी गतिका ही दूसरा नाम है। अतएव देवता प्रकाशमय होते हैं।

हमारे विश्वके लिए सूर्य सबसे महान् शक्तिस्रोत है। सूर्यकी रश्मियां अहर्निश शक्तिका वितरण कर रही हैं। रश्मियोंके सहस्र सहस्र वितानसे विश्वमें प्रकाशकी ओर गतिकी अजस्र धारा उत्पन्न हो रही है। मेघोंका उठना, वृष्टिका होना, जलोंका प्रवाहित होना, वायुका वेगसे स्थाना न्तरित होना, वृक्ष-वनस्पतियोंका रससे पुष्ट होकर बढना और जीर्ण होना, मानव शरीरोंका जन्मसे मृत्युपर्यन्त विकसित होना इत्यादि सब सूर्यकी शक्तिका ही फल है।

सूर्यकी शक्तिका नाम ही संवत्सर है। जितनी शक्ति सूर्य केन्द्रसे उतनी अवधिमें निकलती है जितनी अवधिमें पृथिवी अपने क्रांतिवृत्तपर एक बिन्दुसे चलकर पुनः उसी बिन्दुपर आ जाती है उतनी सूचित शक्तिकी घनीभूत संज्ञा संवत्सर है। इसी मानदण्डकी अनुकृतिपर पृथिवीके अपने अक्ष-परिभ्रमणकालकी सूर्यशक्तिकी सत्ता अहोरात्र है। अहोरात्र, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर सब सूर्यशक्तिकी मात्राएं हैं। इन मात्राओंका जन्म गतितत्त्वसे हो रहा है। गति ही ब्रह्माण्डका अमृतरूप है, अन्यथा विश्वकी भौतिक वस्तुओंका निजीस्वभाव भारीपन, मूर्च्छा, तन्द्रा, या मृत्युका ही रूप है।

मिट्टीके एक ढेलेको हाथसे फेंककर गति दीजिए। वह कुछ दूर जाकर गिर जाता है। ठहरनेकी प्रवृत्ति इसका स्वभाव है। ऐसे ही किसी गेंदको यन्त्रके बलसे दूर फेंका जा सकता है। पर वह भी उसी बलकी समाप्तिपर स्थिति-भावमें आ जाती है। बलका यही स्वभाव है। वह क्षीण हो जाता है। देश और कालमें बलकी सीमा है। जितने बल हैं सबको गति कहा जा सकता है। गति ही बल है। विश्वमें पृथिवी आदि ग्रहोंका परिभ्रमण, नक्षत्रोंकी गति भी बलका ही रूप है। ये सब बल भी सादि सान्त होने चाहिए। इनको सदा गतिशील रखनेके लिए किसी ऐसी प्रेरकशक्तिकी आवश्यकता है जो स्वयं अक्षय हो, नित्य हो, और असीम हो। वही प्रेरकशक्ति विश्वके अन्य सब बलोंको सतत प्रेरणा दे सकती है। ऐसी शक्तिकी दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह स्वतन्त्र हो, उसका अपना केन्द्र हो। वैदिक भाषामें केन्द्रको उक्थ कहते हैं। उस उक्थको बाहरसे बलकी आवश्यकता नहीं होती। जिसमें बल स्वयं उत्थित होता है वही उक्थ कहलाता है—

उत्तिष्ठन्ति अस्मादिति उक्थम्।

उक्थ केन्द्रकी संज्ञा सविता है। जहां उक्थ केन्द्रका जन्म हो जाता है वहां ऐसी स्वयं उद्भूत शक्तिका स्रोत प्रवाहित हो जाता है जो उस तंत्रके अन्तर्गत अन्य सब बलोंको प्रेरणा देता रहता है। इस विश्वके लिए ऐसे उक्थ केन्द्रकी आवश्यकता थी। उसीकी संज्ञा सविता है। हमारे सूर्यको भी सविता कहा जाता है, क्योंकि यह प्रेरणा देता है। इसकी प्रेरणाका विस्तार समझना चाहें तो विश्वका दर्शन करें और विज्ञानकी आंखसे इसके क्रिया कलापोंको समझनेका प्रयत्न करें। सविताकी शक्तिकी संज्ञा सावित्री है। जहां सविता या उक्थ केन्द्र होगा वहां सावित्रीका होना आवश्यक है। सूर्यकी जो शक्ति रश्मियोंके रूपमें पृथिवीकी ओर आ रही है वह उसकी सावित्री है। जब वही सूर्य-शक्ति या सावित्री पृथिवीसे लौटकर पुनः सूर्यकी ओर जाती है तब उसे गायत्री कहते हैं।

सावित्री पृथिवीतक आती है। गायत्री सूर्यतक जाती है। सावित्री-गायत्री दोनोंका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। एक ही गतिचक्रके वे दो अंग हैं। इसीको विज्ञानकी भाषा में 'एति च प्रेति च' [आती है– जाती है] कहते हैं। एति-प्रेतिसे गतिचक्रकी सम्पूर्णता होती है। विद्युत्शक्ति अपने धनकेन्द्रसे चलकर ऋणकेन्द्रकी ओर जाती है, और बार बार उसकी ओर लौटती रहती है। यही एति-प्रेति रूप

शरीरमें प्राणत्-अपानत् कहलाता है। सावित्री पृथिवीतक पहुंचते पहुंचते गायत्री बन जाती है और गायत्री सूर्यतक पहुंचते पहुंचते पुन सावित्रीमें परिणत हो जाती है। यह प्रक्रिया प्रतिक्षण हो रही है। इसी चक्रकी सम्पूर्ण गतिसे और शक्तिका पृथिवीके साथ संयोग हो रहा है। इसी 'प्राणदपानत्' चक्रके पूरा घूमनेसे शरीरकी विद्युत् शक्ति उत्पन्न हो रही है।

व्यापक दृष्टिसे सविता और सावित्रीपर विचार करें तो सविता और सावित्रीका द्वन्द्व ही अणु और महान् दोनोंके जीवनका आधार है। जहां सवितासे सावित्रीका जन्म हो रहा है वहीं जीवनकी अभिव्यक्ति है। बीजमें जो सविता प्राण है वह क्रियाशील बनकर सावित्री रूपमें प्रकट होता है, इसीका नाम जीवन है। संसारमें हमें जितनी शक्तियोंका परिचय है उनमें जीवनकी शक्ति सबसे अधिक रहस्यमय है। यांत्रिक शक्ति उस सावित्री शक्तिकी तुलनामें अति निम्नकोटिकी है। बीजमें संचित सविता ही क्रियाशील बनकर अंकुरित हो जाता है और फिर उससे ही महान् विटपका जन्म होता है। सविता और सावित्रीका संयोग ही धनविद्युत् और ऋणविद्युत्का संयोग है। इन्हें ही पोषा-वृषा प्राण कहते हैं।

सविताको सदा सावित्री-सापेक्ष समझना चाहिए। इस दृष्टिसे उष्ण और शीतका द्वन्द्व सविता-सावित्रीका ही द्वन्द्व है। सविता एक योनि है, सावित्री दूसरी योनि है। दोनोंके मिथुनभावसे शक्तिका जन्म होता है। इसी व्यापक विज्ञान दृष्टिपर लक्ष्य रखते हुए गोपथ ब्राह्मणकी सावित्रीविद्यामें उदाहरणके लिए सविता-सावित्रीके बारह मिथुन या जोडोंका परिगणन किया गया है। मन-वाक्, अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-द्यौ, चन्द्रमा-नक्षत्र, अहः-रात्रि, उष्ण-शीत, अभ्र-वर्षा, विद्युत्-स्तनयित्नु, प्राण-अन्न, वेद-द्वन्द्व, यज्ञ-दक्षिणा, ये बारह मिथुन हैं जिनमें सविता-सावित्रीके क्रियाशील गतितत्त्व या यज्ञ, या रचनाचक्रको हम देख-समझ सकते हैं।

प्राण सविता है। उसमें अशनाया उत्पन्न होती है। वह अन्नरूप अपने मिथुनभावसे मिलकर शरीरके अन्नभागका निर्माण कर रहा है। प्रत्येक तैजस केन्द्रमें प्राणका यह चेतन व्यापार हो रहा है। मिट्टी, पत्थर आदि असंज्ञ वस्तुओंमें केवल भूतमात्रा है। उनमें प्राणमात्राका व्यापार नहीं है। लता, वृक्ष वनस्पतिमें भूतमात्राके अतिरिक्त प्राणमात्रा भी है। वे अन्तःसंज्ञ प्राणी हैं। प्राणको ही तैजस कहते हैं। जहां विकास हो वही तैजस है। इससे ऊपर कीट, पतंग पक्षी, पशु आदि ससंज्ञ प्राणियोंमें भूतमात्रा, प्राणमात्राके साथ साथ प्रज्ञामात्रा भी है। मानवमें प्रज्ञामात्राका विकास सबसे अधिक है। मानव सविता प्राणका सबसे उत्कृष्ट और विलक्षण उदाहरण है।

अतएव मानवको विश्व निर्माता प्रजापतिका निजी या निकटतम रूप कहा गया है। प्रजापतिने जब यह चाहा कि जैसा मैं हूं वैसा ही हूबहू मैं किसीको बना डालूं तब उसने मानवका निर्माण किया। मानवको देखकर प्रजापतिको सन्तोष प्राप्त हुआ कि अब मेरी ठीक ठीक प्रतिमा बन गई। जैसे प्रजापति सहस्र या अनन्त वैसे ही उसकी प्रतिमा या मानव भी अनन्त है। मानव सवितृ शक्तिका अक्षय्य स्रोत है। मानवीय मन ही सविताका पूर्ण रूप है। उसकी प्रेरकशक्तिका अन्त नहीं है। मनकी यह क्षण-क्षणमें नई होनेवाली प्रेरणाशक्ति ही मानवका वह अक्षय्य सुवर्ण है जिससे जीवनपर्यंत उसकी महिमा अक्षुण्ण बनी रहती है। मानव कभी भी इतना गया बीता नहीं होता कि उसके लिए आशा छोड दी जाय। सविता मानवका अमृत भाग है। प्रतिक्षण मानवपर मृत्युका आक्रमण हो रहा है, वह सान्त सीमित बनकर जडभावको प्राप्त हो रहा है; पर फिर उसीके उक्थ केन्द्रसे शक्तिका अभिनव प्रवाह किसी अज्ञात कोटरसे निकलता चला आ रहा है।

यदि मानव अपने लिए यह सोचने बैठे कि उसे क्या चाहिए तो इस प्रश्नका उत्तर दिया जा सकता है? सोना, चांदी, भूमि, यश, आयुष्य, स्वास्थ्य आदि सब मानवके लिये प्राप्य और आवश्यक हैं पर इनका मूल्य सीमित है। मानवके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यही है कि मानव अपनी प्रेरणाशक्तिके अनन्तस्रोतके निकट पहुंच जाय। वह उसे पहचान ले और उसपर अधिकार कर ले। यही मानवका नवीन जन्म है। इसी प्रश्नका उत्तर गायत्री मंत्र है जो केवल यही सिखाता है कि इस त्रिगुणात्मक जगत्में जहां सब कुछ अनमोल रत्न भरे हैं हममेंसे प्रत्येक मानव अपने सविताके सच्चे तेजको प्राप्त कर ले।

सविताकी उपासना ही गायत्री मंत्र है और विश्वमें अनन्तकालके लिये मानवमात्रका यही सबसे बडा मंत्र हो

सकता है। बुद्धिमें जो प्रेरणाशक्तिका या कर्मका बडा भंडार है उसे वशमें कर लें, बुद्धि जाग पडे तो फिर और सब स्वयं पूरा हो जाएगा। सवितामें ही यह शक्ति है कि वह उन झाड झंखाडोंको हटा दे जो बुद्धिको जकडकर व्यर्थ बना देते हैं। ऐसे कुंठित भावोंको ही दुरित कहते हैं। सविता ही दुरितोंको हटाता है। सविता देव है। उसमें गति और प्रकाश है। जैसे ही वह अपना कार्य आरम्भ करता है, शरीर, प्राण और मनकी जडता दूर होने लगती है।

प्रत्येक यज्ञकर्मके आरम्भमें सविताका प्रसव या जन्म चाहिए। सविता अपनी सावित्री शक्तिका प्रसव करने लगे तो तुरन्त प्राणमय जीवन आजाता है और जितने देव या शक्तियां हैं वे तो स्वतः उसके साथ आ जाती हैं। सविता ही देवोंका जन्म देनेवाला है। सविता न होगा तो कोई भी देव किसी यज्ञमें भाग लेनेके लिए आ नहीं सकता।

सविता प्राण है। उसे अन्न चाहिए। गोपथ ब्राह्मणके अनुसार भर्ग अन्न है, छन्द वरेण्य है, कर्म धी है। सविताका वरेण्य भर्ग हमें कर्म द्वारा प्राप्त हो सकता है। छन्द उस पात्रको कहते हैं जिसमें वस्तुका संग्रह किया जाय। छन्द एक आवपन या जीवनकी लययुक्त गति है। उसीमें भर्ग या अन्नका संचय किया जा सकता है। यदि जीवनका छन्द नहीं बना तो उसमें कुछ भी संचित नहीं किया जा सकता। छन्दसे छन्दित होकर ही अन्नका भाग हमारी पकडमें आता है। ज्ञानमात्रा, कर्ममात्रा और भूतमात्राको वैदिक भाषामें अन्न कहते हैं। भूत मात्रामें पांच भूत आते हैं। ज्ञानकर्मको मिलाकर सात अन्न होते हैं। मन, प्राण, वाक्की समष्टिका नाम आत्मा है। तीनोंको तीन प्रकारका अन्न मिलना चाहिये। मनको ज्ञान, प्राणको कर्म और वाक् या भौतिक शरीरको पंचभूत या अर्थ या भौतिक पदार्थ रूपी अन्न चाहिए।

भूतमात्राकी वैदिक संज्ञा वाक् है क्योंकि पञ्चभूतोंमें सूक्ष्मतम आकाशका गुण होनेसे वाक् या शब्द पांचोंका प्रतीकमान लिया गया है। सविताके साथ जीवनका छन्द और उस छन्दसे छन्दित होनेवाले जीवन-रसका घनिष्टतम सम्बन्ध है। इनपर विचार करना ही जीवनका स्रोत, लक्ष्य और संगठनको धीर भावसे सोच समझ लेना है। यही सविताका संग्रहणीय भर्ग है। पर यह प्राप्त कैसे हो सकेगा? इसकी कुंजी जबतक न मिले तबतक जीवनकी योजना पूरी नहीं हो सकती। इसका उपाय है 'धी' की प्राप्ति। गायत्री उपनिषद्के अनुसार 'कर्माणि धियः' अर्थात् कर्मकी संज्ञा धी है।

ॐ भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ओंकारकी अ-उ-म् मात्राएं त्रिगुणात्मक जगत्का अव्यक्त प्रतीक हैं। भूः भुवः स्वः रूपी व्याहृतियां उसीका व्यक्त संकेत हैं। इस विश्वसे हमें पाला पडा है। इस महतो महीयान् क्षेत्रपर हमें अधिकार करना है। यह हमारा जन्मसिद्ध दायाद है। इसमें सब कुछ है। विश्वकर्माकी इस हविमें सारे भोग्य पदार्थ हैं। वे हमें कैसे मिलें? उस दायादमें हमारा भाग कितना है? इन प्रश्नोंका उत्तर सीधा है— हम अपने जीवनके लिए जैसा छन्द बना सकें और उसमें जैसा भर्ग या अन्न भरनेका संकल्प कर सकें वही और उतना ही हमारा है। चुनना हमें है और हम चुननेमें स्वच्छन्द हैं। चुनाव करनेके उपरान्त प्राप्ति तभी होगी जब धी या कर्मशक्तिपर हमारा अधिकार होगा। उस कर्मको कौन चलाएगा? वही सविता या उक्थ केन्द्र जो हमारा अपना केन्द्र है। कहीं बाहरसे वह प्रेरणाशक्ति नहीं आएगी। बाहरसे जितनी मात्रा उधार ली जाती है वह कुछ देरतक साथ देती है, फिर समाप्त हो जाती है। तब वह हमारा उक्थ बन जाती है तब वह हमारे प्राण और मनको स्वयं संचालित करने लगती है।

ज्ञानका प्रकाश और कर्मकी शक्ति हम बाहरसे ले सकते हैं पर अन्ततोगत्वा उसे अपने सविताका अंग बनाना होगा। जो स्वयं प्रकाशकेन्द्र है उसीको सविता कहते हैं। जो दूसरेकी ज्योतिसे प्रकाश लेता है वह सविता नहीं। सविताका तेज बुझता नहीं, वह परिपक्व तेज या भर्ग होता है। उसकी ज्योति या आभा निजकेन्द्रमें बनी ही रहती है। सूर्य इस विश्वका सविता है। उदय होनेसे पूर्व ब्राह्ममुहूर्तका सूर्य सविता कहलाता है क्योंकि उसमें प्रेरणात्मक प्राणकी मात्रा सबसे अधिक रहती है। गायत्री और संध्योपासना द्वारा उसी सविता प्राण या उद्बोधनात्मक मानस तत्त्वका आवाहन किया जाता है।

*

अथ कीर्तनम्

[पं. रामचन्द्रजी, रामनिवास, अंबाला शहर]

१- चल रे मना प्रभु दर्शन को।
प्रभु दर्शन को पग पर्शन को ॥ चल रे...
२- प्रभु का दर्शन बड़ा पियारा।
दुःख भञ्जन सुख देवन् हारा ॥ चल रे...
३- प्रभु का दर्शन ज्ञान की धारा।
मोहान्धकार से करे निस्तारा ॥ चल रे..
४- प्रभु का दर्शन नन्द भण्डारा।
मोक्ष का है खुला दवारा ॥ चल रे...
५- प्रभु को ढूंडन कहां मैं जाऊं।
कहां मैं जाऊं और कैसे पाऊं ? चल रे...
६- प्रभु को ढूंडन किते नहीं जाना।
अपने ही भीतर है उसको पाना। चल रे...
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चर मेवच।
सूक्ष्मत्वाद् विज्ञेयं दूरस्थं चान्ति के च तत् ॥
७- प्रभु है वसदा कोल निरन्तर।
बाहर भी और है वह अन्दर ॥
सूक्ष्म होकर अविज्ञेय बना है।
दूर है पर नेडे भी घना है ॥ चल रे...
८- रसोहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्व वेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥
जलों में वह रस रूप बना है।
शशि सूर्य में उसकी प्रभा है।
मंत्रों में हो ओंकार सजा है।
शब्द रूप हो आकाश बसा है।
पौरुष रूप हो सब में रमा है ॥ चल रे...
९- सूर्य में वो ही चमके है।
चान्द में वो ही दमके है।
बादल में वो गरजे है।
हवा में वो ही रमके है ' चल रे ..
१०- हमें धरती उसी से धरती है।
हमरी खेती उसी से पकती है ॥
हमे रोटी उसी से पचती है।
यह सृष्टि उसी से सजती है ॥ चल रे..
११- आंख में उसका जलवा है।
कान में उसकी शक्ति है।
मन उसी से मनुता है।
रसना उसी से चखती है ॥ चल रे..
१२- तिलों में जैसे तेल छुपा है।
काष्ट में जैसे अग्नि लुका है ॥
दधि में जैसे सर्पि घुला है।
तैसे रोम रोम में राम रमा है ॥ चल रे .
१३- जब वह है इतना पास हमारे।
है जीती सृष्टि उसी के सहारे।
व्याप रहा सब ओर हमारे।
क्यों उसको नहीं देखें नेत्र हमारे ? चल रे..
१४- तुम राग द्वेष को दूर हटावो।
स्वार्थ विष की बेल कटावो।
सेवा भाव से कर्तव्य निबाहो।
यूं तुम अपने प्रभु को रिझावो। चल रे..
१५- काम क्रोध को वश में कर लो।
सत्य अहिंसा वस्त्र पहिन लो।
प्रेम पियाला लब लब भर लो।
राम कृपा से पल्ला भर लो ॥ चल रे..
१६- राम कृपा अब तुम पर छाई।
प्रभु भी होंगे परगट भाई।
जीवन की है यही कमाई।
नहीं तो विरथा उमर गंवाई ॥ चल रे..
१७- राम कृपा दे राम दुहाई।
अब भी चेलो समय है भाई।
पल पल बीतो उमर है जाई।
१८- औसर चूको, क्या पछिताई ॥ चल रे..

वेदोंमें पुनरुक्तिदोष–उच्छेदन

[लेखक– आचार्य शिवपूजनसिंह कुशवाहा, 'पथिक', बी. ए., कानपुर]

चारों वेदसंहिताओंमें एक ही मंत्रके कई बार आजानेसे कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि वेदोंमें पुनरुक्ति दोष है।

जिन लोगोंने केवल वेदोंका पाठ किया है, उनकी दृष्टिमें तो वेदोंमें पुनरुक्तियाँ हैं, पर जो लोग वेदोंकी ऊहापोहसे अर्थसहित समझनेका प्रयत्न करते हैं कि वेदोंके अर्थ त्रिविध प्रक्रियानुसार होते हैं। महर्षि दयानन्दजीके वेदभाष्यसे यह बात भली भाँति समझी जा सकती है। यजु० ३३।२१ के भाष्यकी टिप्पणीमें आप कहते हैं कि "तं प्रत्नथा, अयं वेन." यह दो प्रतीकें, पूर्वक हे अध्याय ७, मंत्र १२-१३ की, यहाँ किसी कर्मकाण्ड विशेषमें बोलनेके अर्थ रखती है। वेदोंमें जो मन्त्र और सूक्त एक वेदमें अथवा एकसे द्वितीयमें पुनरुक्त हुए हैं, वे प्रतिपादित विषयको स्पष्ट करने, यज्ञोंमें सुविधा उत्पन्न करनेके लिए पुनरुक्त हुए हैं, निष्प्रयोजन नहीं।

निरुक्तने केवल पदोंके ही अर्थके विषयमें नहीं अपितु मन्त्रोंके अर्थ और उनकी संगति लगानेका भी प्रचुर छानबीन किया है। शब्द कामधेनु हैं और वेदोंके पद बड़े ही कोमल हैं, उनको जिस ओर लगाए, उसी ओर लग जाते हैं। उदाहरणार्थ "चत्वारि शृंगा अस्य पादा द्वे..." मंत्र ऋ० ४।५८।३ में तथा यजुर्वेद अध्याय १७, मंत्र ९१ में भी आया है। इसका अर्थ यास्कने चारों वेद किया है। महर्षि पाणिनीने महाभाष्य १ अ., १ आ. में शब्दपरक, सायणने यज्ञपरक, किया है।

पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि 'सामवेद संहिता' के अपने मंत्र कम हैं और अधिकतर मंत्र ऋग्वेदके हैं। पाश्चात्योंके चरण-चिन्हों पर चलने कुछ भारतीय विद्वानोंकी यह भ्रान्तिपूर्ण विचार है। वैदिकमुनि स्वामी हरिप्रसाद उदासीनने केवल ७५ मंत्रोंवाला सामवेद प्रकाशित किया था और उनका दावा था कि इतने मंत्र सामवेदके अपने हैं। मैंने इन सभी मतोंका खण्डन अपनी पुस्तक "साम वेदका स्वरूप" + में किया है, पाठक वहीं देख लें।

' देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु,
वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ " यजु० ९।१

यह मन्त्र 'वाजपेय याग' प्रकरणका है। पौराणिक भाष्यकार उव्वट व महीधर दोनों ही "हे सविता देव वाजपेयज्ञको प्रेरित करो" ... अर्थ किया है इस मंत्रके दो ऋषि हैं, यजु० ९।१ के "बृहस्पति" और "इन्द्र" हैं और यही मंत्र यजु० ११।७ में आ गया है। यहाँ प्रजापति ऋषि हैं। इसमें 'अग्निचयन' का प्रकरण है। अतः प्रकरणके अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ होंगे। यहाँ उव्वट और महीधरने भी दूसरा अर्थ किया है। यही मंत्र पुनः यजु० ३०।१ में आया है जिसके ऋषि नारायण हैं। महर्षि दयानन्दजीने तीनों स्थलोंमें भिन्न भिन्न अर्थ किए हैं। महर्षिके भाष्यमें जहां भी द्वितीय बार मंत्र आया है वहाँ दूसरा ही अर्थ है। उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि इस इस मन्त्रका भाष्य मैंने कर दिया है देख लेना। यही आर्षप्रणाली है। इस प्रकार कई उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

एक वेदसे दूसरे वेदमें अथवा एक स्थलसे दूसरे स्थलमें पाये जानेवाले मंत्र पुनरुक्त नहीं हैं। उनकी प्रकरणानुसार संगति लगाना विद्वान् भाष्यकारोंका काम है।

महर्षि पाणिनीजीने अपने 'अष्टाध्यायी' में एक सूत्र लिखा है जो कई स्थलोंमें है " बहुलं छन्दसि " (अष्टा० २।४।७३; ५।२।१२२, ७।१।८; ७।१।१०३; ७।४।७८; २।४।३९; ३।२।८८, ६।१।३४; ७।१।१०; ७।३।९७ प्रभृति)

उन्होंने इन सूत्रोंको भिन्न भिन्न अर्थके सिद्धिके लिए ही निर्माण किया है जैसे— ' बहुलं छन्दसि ' २।४।३९ का सूत्र वेदमें विकल्पसे अद् धातुका घस्लृ आदेश करता है। २।४।७३ का सूत्र अदादि गणके निगमसे प्राप्त शप्के लुक्-

+ जयदेव ब्रदर्स, आत्मारामपथ, बड़ौदासे प्राप्य।

का परिवर्तन कर देता है। २।४।७६ सूत्र जुहोत्यादि गणके श्लुके नियमका परिवर्तन कर देता है। ३।२।८८ का सूत्र क्विप् प्रत्ययके नियमका परिवर्तन करता है। ५।२।१२२ का सूत्र विनि प्रत्ययके नियमका परिवर्तन कर देता है। सूत्र तो एक ही है, फिर इनके अर्थ व प्रयोजन भिन्न भिन्न हैं।

यदि स्वामी हरिप्रसादजीके समान स्वतन्त्र विचारक अष्टाध्यायीके केवल एक स्थलके सूत्रको छोडकर शेषको छांट कर निकाल दे तो वह उसकी कितनी भारी, भयङ्कर भूल होगी, जैसे उन्होंने सामवेदका गला घोंट दिया है।

अत: वेदोंमें कोई पुनरुक्ति दोष नहीं है।

सम्पादकीय टिप्पणी :

वेदमें पुनरुक्ति दोष नहीं है।

इस विषयपर विद्वान् पंडित शिवपूजन सिंहजीका लेख ऊपर दिया है। लेख उत्तम है और वेदमें पुनरुक्ति दोष नहीं है यह त्रिकाल सत्य है।

वेदमें कई मंत्र पुनः पुनः आये हैं यह भी सत्य है। परंतु इस तरह अच्छे उपदेशका पुनः पुनः कथनको 'अभ्यास' कहते हैं। अभ्यास लाभदायक है। व्यर्थ पुनरुक्ति दोषरूप है। 'अभ्यास' और 'पुनरुक्ति' में अन्तर है यह बात पाठकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

वेदमें जहां जहां मन्त्रोंका 'अभ्यास' हुआ है वहां वहां प्रत्येक स्थानमें उन मन्त्रोंका अथवा मंत्र भागोंका विभिन्न ही अर्थ है ऐसी बात नहीं है। उदाहरणार्थ देखिये- ऋग्वेद १।८० में 'अर्चन् अनु स्वराज्यं' यह मंत्रका अन्तिम चरण १६ वार पुनः पुनः आया है। श्री ऋषि दयानंदजी महाराजने इस चरणका अर्थ "अपने स्वराज्य-का सत्कार करता हुआ" ऐसा ही किया है। किसी स्थानपर विभिन्न अर्थ भी होगा, परंतु किसी स्थानपर नहीं भी होगा। तात्पर्य यह है कि 'पुनरुक्त' मंत्र देखकर वह दोष ही है ऐसा समझना योग्य नहीं है। अच्छे उपदेश धर्मानुयायियोंके मनमें स्थायी रूपसे रहें इस उद्देश्यसे मंत्रों-का 'अभ्यास' होता है। इसलिये इसमें दोष नहीं है।

—संपादक

घऊंवा [खेडा जिल्हा] गांवमें

भव्य शुद्धि समारंभ

आर्यकुमार महासभा बडौदाकी तरफसे शुद्धि क्रियाकी संपूर्ण व्यवस्था हुई थी। सभाके उपमन्त्री श्री पं. चन्द्रमणिजी शुद्धिका महत्व समझाते हुए भाषण दे रहे हैं।

गुजरातके सामाजिक कार्यकर्ता श्री नागजी भाई आर्य राष्ट्रधर्म समझाते हुए व्याख्यान दे रहे हैं।

कपडवणज कस्बेके घऊंवा गांवमें शुद्ध होते हुए भाइयोंकी विधि हो रही है। कार्यकर्ता और पंडित दृष्टिगोचर हो रहे हैं। २५ वर्ष पहले ये भुलाहे भाई खिस्ती थे।

[ब्लॉक्स — श्री लोकसेवा प्रिंटिंग प्रेस, बडौदा, इनके सौजन्यसे]

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

⊙

यवतमाल

फरवरी १९५६ की परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हुई लडकियोंका प्रमाणपत्र वितरण समारंभ हमारी शालामें हुआ। इस कार्यक्रमके लिये न्यायमूर्ति श्री. भवानीशंकर नियोगीजी नागपूर, अध्यक्ष थे। और उनके ही द्वारा प्रमाणपत्र वितरण समारभ हुआ।

अध्यक्षीय भाषणमें संस्कृतकी आवश्यकता इस विषयपर आपने अपने विचार लडकियोंके मनपर अंकित किये। भाषणका परिणाम यह हुआ कि, उसी दिन बहुतसी लडकियां संस्कृत परीक्षाको बैठनेके लिये तैयार हुईं।

आरंभमें मुख्याध्यापक श्री ह. ग. केंसकरजीने अपनी शालामें संस्कृतका अध्ययन, स्वाध्याय-मंडलकी स्थापना और संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षाओंका महत्व विस्तृत अहवाल रूपसे कथन किया।

विशेष– इस कार्यक्रमके लिये गर्ल्स हायस्कूल यवतमाल इस संस्थाके सचीव श्री नानासाहेब अभ्यंकरजी उपस्थित थे। इस कार्यक्रमके लिये श्री. तांबुले शास्त्रीजीने संस्कृत स्वागत गीत अध्यक्ष महोदयजीके उपलक्षमें किया था और लडकियोंने रागबद्ध गान किया।

अर्थ- (येन) जिस परमात्माने (इमा विश्वा) यह सब स्थावरजंगम पदार्थ (च्यवना कृतानि) गतिशील अर्थात् संसरणशील बनाए हैं। (य) जिस परमात्माने (अधरं) आदिमें अकारके धारण करनेवाले (दासम्) पुनः पुनः उच्चारण करनेसे विनश्वरशील तथा सब वर्णोंका सहायक होनेसे दासरूप, क्योंकि " अकार " मिलानेके बिना किसी वर्णका पूरा पूरा उच्चारण नहीं हो सकता। अतः अकारवर्ण सबका दास और सहायक रहता है (वर्णम्) अक्षरवर्गको (गुहा) कण्ठात्मक गुफामें (कः) उत्पन्न किया। सब अक्षरोंका मूल अकार है और अकारका उच्चारण स्थान कण्ठ है ॥ ४ ॥

द्वन्द्वः सामासिकस्य च । भग० १०।३३

अर्थ- समाससमूह अर्थात् समष्टिमें मैं द्वन्द्वरूप हूं अर्थात दिन रात, हानि लाभ।

वेदगीता (मंत्र)

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद ।

अथर्व० ८।९।१०

अर्थ- (विराजः) विराटरूप परमात्माके (मिथुनत्वं) द्वन्द्व भावको (कः प्रवेद) कौन जानता है। किस किस वस्तुमें कैसा कैसा द्वन्द्वत्व है। अतः द्वन्द्व होना परमात्माकी विभूति है।

अहमेवाक्षयः कालः । भग० १०।३३

अर्थ- अविनश्वर काल मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ।

अथर्व० १९।५३।८ यद्वा—

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ।

अथर्व० १९।५३।९

अर्थ- (कालो ह) निश्चयसे काल ही (सर्वस्य ईश्वरः) सारे संसारका स्वामी और सारे संसारको चलानेवाला है (यः) जो काल (प्रजापतेः) ब्रह्मा अथवा सूर्यका भी (पिता) उत्पादक है ॥ ८ ॥ (कालो ह) निश्चयसे काल ही (ब्रह्म भूत्वा) बहुत बडा होकर (परमेष्ठिनं) ब्रह्मादि देवता अथवा सारे ब्रह्माण्डको धारण करता है ॥ ९ ॥

धाताऽहं विश्वतोमुखः । भग० १०।३३

अर्थ- (विश्वतोमुखः) चारों ओर मुखवाला अर्थात् सर्वद्रष्टा धाता, धारण करनेवाला और कर्मफल प्रदाता मैं हूं ॥ ३३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिः ।

ऋ० १०।१२८।७

अर्थ- (धाता) वह परमेश्वर सबका धारण करनेवाला और पोषण करनेवाला है (विधाता) वह सारे संसारका उत्पादक है (य) जो परमात्मा (भुवनस्य पतिः) उत्पन्न हुए हुए संसारका स्वामी है और संसारका पालक और रक्षक है। यद्वा-

वेदगीता (मंत्र)

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।

अथर्व ६।६०।३ यद्वा—

स धाता स विधर्ता ॥ अथर्व १३।४।३ यद्वा—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

ऋ १०।१९०।३

तुलना- गीतामें सब वर्णोंमें अकारको श्रेष्ठ माना है। समास अर्थात् समष्टिमें द्वन्द्व समास अर्थात् एकताको श्रेष्ठ माना है तथा कालको उत्तम विभूति और सर्वपालक धातुरूपको सर्वश्रेष्ठ माना है।

वेदमें भी " अकारको सब वर्णोंमें मुख्य माना है क्योंकि वही अकार सब वर्णोंका आधार है " जैसे उपनिषदोंमें कहा है— " अकारो वै सर्ववाक् । " तथा कामधेनुतन्त्रमें भी कहा है—

शृणु तत्त्वमकारस्य अति गोप्यं वरानने ।
शरच्चंद्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयं सदा ॥ १ ॥
पञ्चदेवमयं वर्णं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
निर्गुणं त्रिगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्तिमान् ॥ २ ॥
बिन्दुतत्त्वमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणीम् ॥ ३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् । भग. १०।३४

अर्थ- (सर्वहरः) सबका नाशक मृत्यु मैं हूं। तथा आगे होनेवाले पदार्थोंका (उद्भव) अभ्युदय अर्थात् जन्मका कारण मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

स एव मृत्युः । अथ. १३।४।२५

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥

ऋ. ३।२९।१०

अर्थ– स इति= (स एव) वह परमात्मा ही (मृत्युः) मृत्युरूप है ॥ २५ ॥

हे (अग्ने !) जीवात्मन् ! (ते) तुझ जीवात्माका (योनिः) उद्भव अर्थात् जन्मका कारण (ऋत्वियः) सर्वव्यापक (अयं) यह परमात्मा है। (यतो जातः) जिस परमात्मासे मनुष्य जन्ममें हुआ हुआ तू (अरोचथाः) जगत्में अपने अभ्युदयके लिये प्रकाशमान होता है (तं जानन्) तू अपने उत्पादक उस परमात्माको जानता हुआ (आसीद) अपने अभ्युदयपर चढ अर्थात् अपने अभ्युदयको प्राप्त हो । (अध) अब हे परमात्मन् ! (नः गिरः वर्धय) आपके चरणोंमें प्राप्त करानेवाले हमारे ज्ञानको बढा। जिस ज्ञानसे हम अभ्युदयको प्राप्त हों ॥ १० ॥

वेदगीता (मंत्र)

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ अथर्व १४।२।२६

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥
भग. १०।३४

अर्थ— स्त्रियोंकी कीर्ति, शोभा, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य, क्षमा, विभूति है ॥ ३४ ॥

सुमङ्गलीति= (सुमङ्गली) सुन्दर मङ्गलाचारवाली स्त्री (गृहाणां प्रतरणी) गृहवासी लोगोंको दुःखसे पार करनेवाली है (संसारमे उसकी कीर्ति रहती है) (पत्ये सुशेवा) पतिके लिये सुन्दर सेवा करनेवाली । उससे स्त्रीकी श्री, बुद्धि, धैर्यकी प्रशंसा होती है। (श्वशुराय शंभुः) श्वशुरको कल्याण और सुख देनेवाली है इससे स्मृतिका बोध होता है। (श्वश्र्वै स्योना) सासके लिये सुखकारी इससे स्त्रीमें क्षमाका गुण प्रतीत होता है (इमान् गृहान् प्रविश) हे स्त्री इन सुन्दर घरोंमें तू प्रवेश कर। जैसे याज्ञवल्क्य स्मृतिमें कहा है—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

तट्टीका मिताक्षरामें भी कहा है—

सोमगन्धर्ववह्नयः स्त्रीर्भुक्त्वा तासां शौचमधुरवचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः ॥

तथा वसिष्ठ स्मृतिमें भी कहा है—

तासां सोमो ददच्छौचं गंधर्वः शिक्षितां गिरम् ।
अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥

तुलना– गीतामें मृत्यु परमात्माकी विभूति है, तथा जन्म लेनेवाले जीवोंका उत्पत्तिस्थान अभ्युदयकारक परमात्मा ही है। तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, सुन्दर शोभा, सुन्दर भाषण, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा विभूति हैं।

वेदमें भी वही परमात्मा मृत्युरूप है, वही परमात्मा जीवोंका अभ्युदयकारक है और स्त्रियोंमें सुन्दर मंगलाचारसे और घरको आर्थिक तथा शारीरक कष्टसे पार करनेके कारण तथा श्वशुर और सासकी सेवा करना और सेवाके लिये समय लगानेके कारण स्त्रियोंमें कीर्ति, सुन्दरता, शुभवाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा गुण देखे जाते हैं यही परमात्माकी विभूति है ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नाम् । भग. १०।३५

अर्थ— वैसे मैं परमात्मा ही (साम्नाम्) सामवेदके मंत्रोंमें बृहत् साम हूं।

वेदगीता (मंत्र)

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् । धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ।

ऋ. ८।९८।१, अथर्व. २०।६२।५

अर्थ— हे जीवात्माओ ! (विप्राय) विशिष्ट ज्ञानवाले (महते) महानसे महान् (धर्मकृते) जगत्के धारण और पालन धर्मके करनेवाले (विपश्चिते) सर्वज्ञ (पनस्यवे) स्तुति योग्य (इन्द्राय) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके लिये (बृहत् साम) बृहत् नाम साम मंत्रोंको (गायत) गान करो, क्योंकि बृहत्साम परमात्माकी परमविभूति है ॥ ५ ॥

गायत्री छन्दसामहम् । भग. १०।३५

अर्थ— गायत्र्यादि छन्दोयुक्त मंत्रोंमें मैं चतुर्विंशति अक्षरा गायत्री हूं।

वेदगीता (मंत्र)

१ **प्राणायनो गायत्री ।** यजु. १३।५४

२ **यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव । यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥**
अथर्व. ४।३५।६

३ यो वेदादिषु गायत्री सर्वव्यापी महेश्वरः। तदुक्तं च यदा ज्ञेयं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

परं परिशिष्टम् (ऋ. म. १०, सू. १६६) मंत्र १९

४ गायत्रं छन्दोऽसि। यजु. ३८।६

अर्थ— (१) गायत्री ही प्राणोंका घर है ॥ ५४ ॥

(२) (यस्मात् पक्कात्) जिस परिपूर्ण परमात्माके ध्यान करनेसे (अमृतं सं बभूव) मुक्ति उपस्थित होती है। (यः) जो परमात्मा (गायत्र्याः) गायत्री छन्दका (अधिपतिः बभूव) स्वामी है। (यस्मिन्) जिस परमात्मामें (विश्वरूपाः) सब प्रकारके स्वरूपवाले (वेदाः) ऋग्वेदादि चारों वेद (निहिताः) स्थित हैं। (तेन ओदनेन) सबसे ग्राह्य उस परमात्मासे (मृत्युं) मृत्युको (अतितराणि) पार कर जाऊं ॥ ६ ॥

(३) (यः महेश्वर) जो परमात्मा वेदादियोंमें (सर्वव्यापी) सर्वव्यापक (गायत्री) गायत्री रूप है (यदा) जब (तदुक्तं) उस परमात्मासे कहा हुआ (ज्ञेयं) जानने योग्य हो जाता है (तन्मे मनः) उस गायत्रीमें स्थित हुआ हुआ मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो।

(४) हे परमात्मन् तू गायत्री छन्द है ॥ ६ ॥

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः। भग. १०।३५

अर्थ— चैत्रादिमासोंमें मैं मार्गशीर्ष मास हूँ। तथा ऋतुओंमें मैं वसन्त हूँ ॥

वेदगीता (मंत्र)

सहश्च.... अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि। यजु० १४।२७

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः॥ यजु. १३।५४

अर्थ- (सहः) मार्गशीर्ष मास (अग्नेः) सर्व प्रकाशक परमात्माका (अन्तः श्लेषः) मन्दिरमें मनमें लगा हुआ विभूतिरूप है ॥ २७ ॥

अयमिति= (अयं वसन्तः) यह वसन्त ऋतु (पुरोभुवः) प्रथम उत्पन्न हुआ हुआ अर्थात सनातन (तस्य) उस परमात्माका (प्राणः) प्राणस्वरूप (भौवायनः) स्वसत्तारूपसे स्थित है ॥ ५४ ॥

*

तुलना- वेद और गीतामें सामवेदके मन्त्रोंमें बृहत्साम सर्वश्रेष्ठ है तथा अनुष्टुबादि छन्दोंमें गायत्री छन्द परमात्मरूप है। जैसे छान्दोग्योपनिषद्में कहा है—

गायत्री वा इदं सर्वम्। ३।१२।१ तथा—

ब्रह्म हि गायत्री। ताण्ड्य ब्रा. ११।११।९

चैत्रादि मासोंमें मार्गशीर्षको परविभूति कहा है। तथा वसन्तादि छः ऋतुओंमें वसन्तको परमात्मविभूति कहा है।

द्यूतं छलयतामस्मि। भग १०।३६

अर्थ- छल करनेवालोंमें मैं (द्यूतं) जुआ (शर्त) रूप हूं।

वेदगीता (मंत्र)

१ अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्। अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम्॥ अथर्व. ७।५०।५

२ त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं। श्रवस्यता मनसा वृत्रमर्दयः॥ ऋ. १०।१४७।२

३ मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। विदुष्टे तस्य मेधिराः॥ ऋ १।११।७

अर्थ- (१) हे छलकर्ता पुरुष ! (सं लिखितं) छल करनेवालोंमें सम्यक्तया लिखे हुए भी (त्वा) छल करनेवाले तुझको (अजैषम्) मैंने जीत लिया (संरुधं उत) सब शुभ कर्मके रोकनेवाले तथा जुआमें फंसे हुए तुझको (अजैषम्) जीत लिया। (वृकः अविं यथा मथत्) भेड़िया जैसे भेड़को नाश करता है (एव) ऐसे (ते कृत मथ्नामि) तुझ छल करताके कामोंको नाश करता हूं ॥ ५ ॥

(२) हे (अनवद्य) हे शुद्ध परमात्मन् ! (त्वं) तू (मायिनं) छल करनेवालेको (मायाभिः) छल करनेवाली बुद्धिविशेषोंसे (श्रवस्यता मनसा) श्रवणीय वचनको इच्छा करनेवाले मनसे (वृत्रं) पापी छल करताको (अर्दयः) नाश करता है ॥ १ ॥

(३) हे (इंद्र) परमात्मन् ! (त्वं) तूने (मायाभिः) अपनी मायिक शक्तियोंसे (मायिनं) छली, कपटीको (शुष्णं अवातिरः) सूखा कर दिया (मेधिराः) बुद्धिमान् जन (तस्य) उस छलीके छलयिता तुझे (विदुः) जानते हैं ॥७॥

तेजस्तेजस्विनामहम् । भग. १०।३६

अर्थ- तेजस्वियोंमें तेज मैं हूं ।

वेदगीता (मंत्र)

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । यजु. १९।९

अर्थ- हे परमात्मन् ! (तेजोऽसि) तू तेजःस्वरूप है अतः (मयि) मुझ भक्तमें (तेजः धेहि) तेजको धारण कर॥ ९॥

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।

भग. १०।३६

अर्थ- जेताओंमें मैं जय हूं। व्यवसायि अर्थात् उद्यमी पुरुषोंमें उद्यम मैं हूं ।

वेदगीता (मंत्र)

१ जेता नृभिरिन्द्रः पृत्सु शूरः । ऋ. १।१७८।३

२ यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ।

अथ ६।३९।३

३ बलमसि बलं मयि धेहि । यजु १९।९

४ दाशुषः उपाके उद्यन्ता । ऋ. १।१७८।३

अर्थ- (१) (इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (पृत्सु) जयशील सेनाओंमें (शूरः) शौर्य गुणसम्पन्न मनुष्योंमें (जेता) जेतास्वरूप है ।

(२) (विश्वस्य भूतस्य यशाः) मैं सारे भूतमात्रका यश हूं अतः (अहं) मैं (यशस्तमः) यशस्वी हूं ।

(३) हे परमात्मन् ! तू बलरूप है अतः (मयि) मुझमें (बलं धेहि) बलको धारण कर।

(४) हे परमात्मन् ! तू (दाशुषः) दानी यजमानके समीप (उद्यन्ता) व्यवसायरूप अर्थात् उद्यमरूप है।

तुलना- गीता और वेदमें छलकपट करनेवालोंमें मैं जुआ (द्यूत) रूप हूं । तथा तेजस्वियोंमें मैं तेज हूं । जेताओंमें मैं जयरूप हूं तथा व्यवसाइयों अर्थात् उद्यमियोंमें मैं उद्यम हूं, और बलवानोंमें मैं बलरूप हूं । ऐसा कहा है ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।

भग० १०।३७

अर्थ- ज्ञानवर्षणशील यादवोंमें मैं वासुदेवरूप हूं, तथा पाण्डवोंमें मैं धनञ्जयरूप हूं ।

वेदगीता (मंत्र)

१ समिन्द्रो यो धनञ्जयः । अथ. ३।१४।२ यद्वा—

२ विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे । अधा ते सुम्नमीमहे ॥ अथर्व. २०।१२४।६

अर्थ- १ (स इन्द्रः) जो परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा है (धनञ्जयः) वह धनजय है (सं) यह अच्छी तरह जानो ।

२ हे (कवे !) परमात्मन् ! (वाजेषु) युद्धोंमें शत्रुके दबानेवाले (त्वा) तुझे (धनंजयं विद्म) हम धनजय जानते है ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।

भग० १०।३७

अर्थ- मुनियोंमें मैं व्यास हूं और (कवीनां) तत्त्वज्ञानियोंमें मैं उशना कवि हूं ।

वेदगीता (मंत्र)

अहं कविरुशना पश्यता मा ।

ऋ. मं. ४।२६।१ यद्वा—

आ गा आजदुशना काव्यः । अथर्व. २०।२५।५

अर्थ- (अहं) मैं परमात्मा (उशना) उशना नामक (कविः) तत्वज्ञानी हूँ, हे मनुष्यो ! (मां) मुझ सर्वात्मस्वरूप (पश्यत) देखो ॥ १ ॥ तथा—

आ गा इति= (काव्यः) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी (उशनाः) उशना नामक ऋषि (गाः) अपनी वाणियोंको (आ आजत्) उत्तम मार्गपर चलाता है ॥ ५ ॥

तुलना- गीतामें वृष्णिवंशमें तथा ज्ञान वर्षण करनेवालोंमें मैं वासुदेव कृष्ण मैं हूं । और पाडवोंमें धनञ्जय धन जीतनेवाला अर्जुन मैं हूँ तथा मुनियोंमें व्यासमुनि मैं हूं, क्योंकि वेदोंको कर्मज्ञान भक्तिमार्गके मंत्रोंके पृथक् पृथक् दर्शन करानेवाला मैं हूं । तथा और कवियोंमें उशना नामक कवि मैं हूँ ।

वेदमें भी धनंजय= धनके जीतनेवाला तथा अर्जुनरूप परमात्माको बताया है । और कवियोंमें उशना कवि परमात्मरूप है क्योंकि उशना ऋषि ऋग्वेद मं. ८, सू. ८४, मं. ९, सू. ८७, ८८ आदिका है । क्योंकि ऋषि भी शुद्ध ज्ञानी होनेसे परमात्म रूप हैं ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ भग.१०।३८

अर्थ— (दमयतां) दुष्टोंको शिक्षा देनेवालोंमें दण्ड मैं हूँ और (जिगीषतां) जीतनेकी इच्छा करनेवालोंमें नीति अर्थात्

न्याय मैं हूँ। (गुह्यानाम्) गुह्य अर्थात् गोपनीय बातोंमें (मौनं) मौन अर्थात् मनन मैं हूं। (ज्ञानवतां) ज्ञानियोंमें ज्ञान मैं हूँ ॥ ३८ ॥

वेदगीता (मंत्र)

दण्डा इवेद् गोअजनास आसन् ।

ऋ. ७।३३।६

अर्थ— जैसे गौओं हांकनेके लिये (दण्डा इव) दण्डे ही होते हैं वैसे मैं भी संसारको चलानेके लिये दमन करनेवालोंमें दण्डरूप हूँ।

जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया ।

ऋ. १।२३।११

अर्थ— (जयता मरुतां) जयशील मनुष्योंका (तन्यतु) नीतिमय शब्द (धृष्णुया) धर्षणशीलता अर्थपर वीरताके साथ (एति) प्राप्त होता है जैसा यही ध्वनि लगाते हैं कि जीति हुई प्रजाके साथ पूरा न्याय करेंगे।

वेदगीता (मंत्र)

मंत्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।

ऋ. ७।३२।१३

अर्थ— हे जीवों ! (यज्ञियेषु) राजकार्यादि यज्ञों तथा सत्संगति यज्ञोंमें (अखर्वं) न तीक्ष्ण अर्थात् प्रत्येकके मनको रुचि देनेवाले (सुधितं) उत्तम रूपसे अर्थात् सुन्दर बुद्धिसे विचारे हुए (सुपेशसं) सुन्दर (मंत्रं) मनन अर्थात् मनमें गुप्त रखनेयोग्य मंत्र मौनताको (आदधात) धारण करो ॥ ११॥

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥

अथर्व. १२।५।४

अर्थ— (ब्रह्म) ज्ञानियोंका ज्ञान (पदवायं) परमात्माके स्वरूपको दर्शानेवाला है (ब्राह्मणः) अतः ब्रह्मज्ञानी (अधिपतिः) स्वामी है अथवा (ब्राह्मणः) परमात्मा उस ज्ञानका स्वामी है ॥ ४ ॥

तुलना— गीतामें दमन करनेवालोंमें दण्ड मेरी विभूति है। और विजेताओंमें न्याय मेरी विभूति है, तथा गुह्य बातोंमें मौन मंत्र मेरी विभूति है और ज्ञानियोंमें ज्ञान मेरी विभूति है ऐसा कहा है।

वेदमें भी जैसे दण्डा गौओंको हांककर अपने गोष्ठमें ले जाता है ऐसे दुष्टोंको दण्ड देना उनको सुमार्गपर लानेके लिये दण्ड मेरा रूप है। विजेताओंका जित प्रजाको विश्वास दिलाना, कि तुम्हारे साथ न्याय होगा, अन्याय न होगा, अतः नीति= न्याय मेरी विभूति है, और गुह्य वार्ताओंकी मंत्रणा करके केवल उसे मौन रूपसे मनन करना मेरी विभूति है। जैसे अन्यत्र कहा है— " शरदि न वर्षति गर्जति, वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः। नीचो वदति न कुरुते साधुर्नवदति करोत्येव। " क्योंकि सज्जनका किया हुआ शुभ कर्म दूसरोंको स्वयं बता देता है। ब्रह्मज्ञानियोंका ज्ञान मेरा स्वरूप है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यात् मया भूतं चराचरम् ॥

भग० १०।३९

अर्थ— हे अर्जुन ! (सर्वभूतानां) सब आकाशादि पांच भूतोंका (यत्) जो (बीजं) उत्पत्तिका मूल कारण है। (तद् अपि) वह बीज अर्थात् उपादानकारण (अहं) मैं परमात्मा ही हू। (मया विना) मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्मके विना (भूतं) मेरी सत्तासे अव्याप्त (न मिला हुआ) (चराचरम्) जगम और स्थावर जो वस्तु है (न तदस्ति) मुझसे पृथक् सद् वा असत् कोई वस्तु नहीं है। इससे यही ज्ञात होता है परमात्म सर्वस्वरूप है ॥ ३९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः। अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्योऽपरीषु पुत्रान् ॥ ऋ १०।१८३।३

अर्थ— (अहं) मैं परमात्मा ही (ओषधीषु) शाल्यादि धान्योंमें पुष्पफलादिकी उत्पत्तिके लिये (गर्भं) बीजको (अदधाम) धारण करता हूं। (विश्वेषु भुवनेषु) सब भुवनोंमें अथवा सर्व भूतोंमें (अन्तर्) अन्दर मैं ही (गर्भं अदधाम) बीजको धारण करता हूं। (पृथिव्यां) पृथिवीपर (अहं) मैं परमात्मा (प्रजाः) सबके कर्मफलानुसार सब जीवोंको (अजनयम्) उत्पन्न करता हूं। (जनिभ्यः) अपनेसे अपनी अपनी जातिको उत्पन्न करनेवालियोंसे (अपरिषु) और भी उत्पादक शक्तियोंमें (पुत्रान्) सन्ततियोंको (अहं अजनयम्) मैं उत्पन्न करता हूं। अतः मैं सब पदार्थोंकी उत्पत्तिका मूल कारण हूं ॥ ३ ॥ जैसे—

" सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्मि अहं हीदᳪ सर्वमसृक्षीति।"

बृह अ. १, ब्रा ४, श्रु ५

" **पुरुषः एवेदᳪ सर्वम्** " तथा " **ब्रह्मैवेदं सर्वम्** "

तुलना- गीतामें सारे संसारका उत्पादक अर्थात् उपादान कारण परमात्माको माना है। जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें परमात्माकी सत्ता न हो। अर्थात् सब वस्तुओंमें परमात्मा व्यापक है।

वेदमें भी " **पुरुष एवं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन** " इत्यादिसे सिद्ध होता है। परमात्मा सब भूतोंका आत्मा है, वही सबका आदि मध्य अन्त है। सब भूतोंका बीज भी वही है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो ईश्वर-सत्तासे रहित हो, ईश्वरकी सत्तासे सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी विभूति है, ऐसा कहा है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ भग० १०।४०

अर्थ- (मम) मुझ परमात्माकी (दिव्यानाम्) त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे उत्पन्न हुई हुई अच्छीसे अच्छी (विभूतीनाम्) विभूतियोंका (अन्तः नास्ति) अन्त नहीं है, हे (परंतप) हे अर्जुन ! (मया) मैंने (एष. विभूतेः विस्तरः) विभूतिका विस्तार (तु) तो (उद्देशतः) तुझे लक्ष्य करके संक्षिप्तमात्र (प्रोक्तः) यह कहा है, न कि विशेष विस्तारसे।

वेदगीता (मंत्र)

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥

ऋ. १०।१२५।८, अथर्व. ४।३०।८

अर्थ- (अहं) मैं परमात्मा (विश्वा भुवनानि) सब भुवनोंको अर्थात् भूतमात्र कार्यसमूहको (आरभमाणा) आरम्भ करता अर्थात् निर्माण करता हुआ (वात इव प्रवामि) जैसे वायु स्वयं सदागति रहती है वैसा मैं परमात्मा भी सबका बीजरूप होकर उत्कृष्ट रूपसे चलता रहता हूं अर्थात् जगत्में अपनी विभूतियोंका विशेष रूपसे निर्माण करता रहता हूं। (परो दिवा) द्युलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः पर.) इस पृथिवीसे भी परे अर्थात् इन विकारी पदार्थोंसे भी पूर्वकालमें विद्यमान रहकर (महिम्ना) अपनी महिमासे अर्थात् बडी भारी सामर्थ्यसे (एतावती) इतने विशालरूपमें जगत्को बनाकर (सबभूव) अच्छी तरहसे विद्यमान हूं ॥ ८ ॥

तुलना- गीतामें बताया है मेरी अच्छीसे अच्छी विभूतियोंका अन्त कोई नहीं है। तो भी अर्जुनके प्रश्न करनेपर संक्षेपरूपमें विभूतिया कही हैं।

वेदमें भी जैसे वायु विना किसी लौकिक प्रेरणाके अपने आप सदागति अर्थात् गतिशील रहती है वैसे मैं परमात्मा सब लोकोंको अपनी स्वेच्छाशक्तिसे निर्माण करता रहता हूं। अच्छीसे अच्छी तेजस्वी वस्तुओंमें विशेषरूपसे प्रविष्ट रहता हूं यही कहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ भग १०।४१

अर्थ- हे अर्जुन ! (यत् यत् सत्त्वं) जो जो चेतन अथवा जड पदार्थ (विभूतिमत्) विद्यासे या तपसे या शौर्य, धैर्य, उदारतासे, शम, दमादि सद्गुणोंका या ज्ञानकी समृद्धि है वही पदार्थ विभूतिवाला देखा जाता है। (श्रीमत्) शोभा, लक्ष्मी, कान्ति, बुद्धि, कीर्ति, स्फूर्तिवाले पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं और (ऊर्जितम्) ओज, तेज या वेगसे, बल या उद्यमसे आकार वा दृढतासे, उत्साहसे युक्त देखा जाता है (तद् तद् एव) वह वह पदार्थ ही (मम) मुझ परमेश्वरके (तेजोंश संभवम्) शक्ति अर्थात् कलासे उत्पन्न हुआ (अवगच्छ) जान ॥ ४१ ॥

वेदगीता (मंत्र)

सोऽङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद्वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन्। ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥

ऋ० १।१००।४

अर्थ- (अंगिरोभिः, अंगिरस्तमः अंगिरःसु अंगिरस्तमः अंगन्ति सर्वेषु कार्येषु प्रधानता गच्छति इति अंगिरसः) जो सब कार्योंमें प्रधानताको प्राप्त होते हैं उन प्रधानतासे कार्य संचालकोंमें (अंगिरस्तमः) प्रधान अर्थात् प्रधानकार्यकर्ता जो है (सः) वह मेरी विभूति है तथा (वृषभिः वृषा, वृषेषु वृषा) धर्मात्माओंमें धर्मात्मा मेरी विभूति है (सखिभिः सखा, सखिषु सखा सन्) जो सखाओंमें सखा होकर बर्तता है वह मेरी विभूति है। (ऋग्मिभिः ऋग्मी, ऋग्मिषु ऋग्मी) परमात्माकी स्तुति करनेवाले भक्तोंमें जो मेरा स्तोता, जो मेरा भक्त

है, वह मेरी विभूति है। (गातुभिः गातुषु) मेरा भजन गानेवालोंमें जो (ज्येष्ठः) सबसे श्रेष्ठ है। वह मेरे तेजसे उत्पन्न हुई हुई मेरी विभूति है। एवं विध विभूति स्वरूप (मरुत्वान्) सर्वात्मस्वरूप (इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा परमविभूतिमान् (नः ऊती भवतु) हमारा रक्षक हो। यद्वा—

वेदगीता (मंत्र)

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्। ऋ० ४।७।९

अर्थ— हे परमात्मन्! (ते) तेरे (कृष्णं) कर्षणकारक स्वरूपको (एम) हम शरण प्राप्त हो, तेरा कैसा स्वरूप है। (रुशतः) जिस परमप्रकाशस्वरूपकी शोभा भक्तोंके सम्मुख शोभा देती है। फिर (चरिष्णु अर्चिः) जिसका तेज भक्तोंके मनमें चलनेवाला है जिसके तेजका चलता हुआ विस्फुलिंग (वपुषा इत् एकम्) शरीरधारियोंकी एक अर्थात मुख्य ही विभूतिका निर्माण है॥ ९॥

तुलना— गीतामें कहा है जो जो जड अथवा चेतन पदार्थ शोभावाला, बलसे बडा हुआ है वही मेरी विभूति है मेरे विशेष तेजके अंशसे उत्पत्ति हो उसे विभूति जानो। जहां ईश्वरका विशेष भाव दिखाई देता है उसे विभूति समझो जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, इन्द्रियोंमें मन, इत्यादि विभूतियोंको ईश्वरकी विभूति जानकर उनकी शक्तियोंके चिन्तन द्वारा परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये।

वेदमें भी " कार्यकर्ताओंमें प्रधान कार्यकरताको, धर्मात्माओंमें परमधर्मात्माको, सखाओं पूर्ण सखाभाव रखनेवालेको, स्तोताओंमें मुख्य स्तोता, भगवद्भजन करनेवालोंमें मुख्य भगवद्भजन करनेवालेको, परमात्माके विशेष तेजका अंश अर्थात् विभूति जानो।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ भग. १०।४२

इतिश्रीमद्भगवद्गीता— विभूतियोगो नामदशमोऽध्यायः।

अर्थ— हे अर्जुन! अथवा (तव) तुझ मुमुक्षुको (बहुना) बहुत प्रकारवाले (अनेन) मेरी विभूतिविषयक ज्ञानसे (किम्) क्या प्रयोजन है। (अहं) मैं परमात्मा (कृत्स्न) स्थावर जंगमात्मक सारे (इदं) इस जगत्को (एकांशेन) एक भागमात्रसे (विष्टभ्य) चारों ओर व्याप्त होकर (स्थितः) स्थित हू॥ ४२॥

वेदगीता (मंत्र)

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ऋ० १०।९०।३

अर्थ— जो यह देवतिर्यक् मनुष्यात्मक अतीतानागतवर्तमान अस्तिरूप जितना जगत् है (एतावान्) इतनी ही (अस्य) परमपुरुष परमब्रह्मकी (महिमा) बडाई, बडा कर्म स्वकीय सामर्थ्य विशेष है। यह स्वरूप इस परमात्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है। (अतः) इस यथोक्त महिमासे जडचेतन लक्षण कार्य वेगसे (पुरुषः) परमात्मा (ज्यायान्) अत्यन्त बहुत अधिक बडा है। (विश्वा भूतानि) सब तीनों कालोंमें वर्तनेवाले प्राणी अप्राणी समूह (अस्य) इस परमात्माके (पादः) एक अंश है अर्थात् लेशमात्र है (अस्य) इस परमात्माका (त्रिपाद्) अवशिष्ट तीन अंशवाला स्वरूप (अमृतं) अमृतस्वरूप (दिवि) द्योतनात्मक स्वप्रकाशस्वरूपमें स्थित है। जैसे और भी कहा है—

वेदगीता (मंत्र)

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत्पुनः। अथर्व० १९।६।२

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ऋ० १०।९०।४

तुलना— गीतामें अर्जुनको कहा है कि मेरी विभूतियोंके बहुत ज्ञानसे तुझे क्या प्रयोजन है? मैं इतना महान्से महान् हूं कि इस चराचर जगत्की रचना करनेमें एक अंश काम करता है। शेष मैं कितना हूं और क्या क्या मेरी विभूति हैं यह नहीं जान सकता!

वेदमें भी यही कहा है। हे जीवात्मन्! इस चराचर जगत् को देखकर यही जाने कि बस परमात्मा इतना है यह नहीं। मेरा एक अंश इस संसारकी वारवार उत्पत्ति कर रहा है। मेरा शेषभाग अमृतमय ज्योतिःस्वरूप परमप्रकाशमान अपने स्वरूपमें आप स्थित है। उपनिषद्में भी यही आता है—

नाहं वेद सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

मुमुक्षु पुरुषको भगवान्के अंशका पूर्ण ज्ञान हो जावे तो वह कृतार्थ हो जाता है।

इति श्रीसारस्वतान्वयलेशग्रामवास्तव्यन्यायभूषणोपपद जगन्नाथशास्त्रिकृतायां वेदगीतार्थबोधिन्यां वेदगीताहिन्दीभाषाटीकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः।

अथ भगवद्गीताया एकादशाध्यायारंभः ।

वेदगीताया दशमाध्यायारंभः ।

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ अ० ११-१,२,३

अर्थ- अर्जुनने श्रीकृष्णजीसे कहा, हे भगवन् (मदनुग्रहाय) मुझपर कृपा करनेके लिये (परमं गुह्यं) अत्यन्त गोप्य (अध्यात्मसंज्ञितं) अध्यात्म संज्ञावाला (यत्) जो ज्ञान अर्थात् आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है इनका परस्पर भेद है या नहीं, आत्मा परमात्माको कैसे पा सकता है (त्वया उक्तम्) इत्यादि अध्यात्मज्ञान आपने कहा है (तेन) उस अध्यात्मज्ञानके वचनोंसे (मम) मेरा (अयं मोहः) यह चाचा है, यह भ्राता है, यह मामा है इत्यादिक मोह (विगतः) दूर हो गया है ॥ १॥

भवाप्ययाविति= (मया) मैंने (त्वत्तः) आपसे (भूतानां) भूतोंकी अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्ति और सृष्टिका विनाश अर्थात् लय (विस्तरशः) बहुत विस्तारके साथ (श्रुतौ) सुने हैं। हे (कमलपत्राक्ष !) हे कमलके पत्तेकी तरह नेत्रोंवाले भगवन् कृष्ण ! और आपसे (अव्ययं) विनाशरहित (माहात्म्यम्) सर्वात्मस्वरूप और सर्वेश्वरत्वको प्रगट करनेवाला माहात्म्य भी सुना है ॥ २ ॥

एवमिति= हे परमेश्वर ! (त्वं) तू कृष्णने (आत्मानं) अपने आपको (यथा) जिस प्रकार (आत्थ) कहा है। (एतत् एवम्) यह ऐसा ही है। हे (पुरुषोत्तम) पुरुषोंमें श्रेष्ठ (ते) तुझ पुरुषोत्तमके (ऐश्वरं रूपम्) ईश्वर सम्बन्धित सर्वसामर्थ्यसे युक्त स्वरूपको (द्रष्टुम्) अपने इन नेत्रोंसे देखनेके लिये (इच्छामि) इच्छा करता हू ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ! ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ भग. ११।४

अर्थ- (प्रभो !) हे स्वामिन् ! (तत्) उस ऐश्वरीस्वरूपको (मया) मुझ अर्जुन साधारण मनुष्यसे (द्रष्टुं शक्यम्) देखा जा सकता है (यदि) अगर (इति मन्यसे) ऐसा मानता है। (योगेश्वर !) कर्मयोग, उपासनायोग और ज्ञानयोगके स्वामिन् परमात्मन् (ततः) फिर (त्वं) तू (मे) मुझे (अव्ययम्) विनाशरहित (आत्मानं) अपने सर्वसामर्थ्योपेत ईश्वरीरूपको (दर्शय) दिखा ॥ ४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥
अथर्व. ४।२०।५

अर्थ- (सहस्रचक्षो) हे सहस्रों नेत्रोंवाले सर्वतो द्रष्टः हे परमात्मन् ! यदि तू मुझ जीवात्मासे अपने स्वरूपको देखने योग्य समझता है। तो (रूपाणि) अपने ऐश्वरीरूपको (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर, हम तेरे भक्त तेरे स्वरूपको देखें (आत्मानं) अपने स्वरूपको (मा अपगूहथाः) मत छिपा (त्वं) मेरे उपदेष्टा परमात्मा (किमीदिनः) क्या अब इस वासनावाले मेरे मनको (प्रतिपश्यः) देखता है ॥ ५ ॥

तुलना- गीतामें अध्यात्मज्ञानके जाननेसे मनुष्यका मोह दूर हो जाता है, सांसारिक मोह दूर होनेसे परमात्माके स्वरूपको देखनेकी इच्छा करता है। परमात्मासे यही प्रार्थना करता है यदि मैं ईश्वर स्वरूपके प्रदानका अधिकारी हो चुका हूँ, तो हे परमात्मान् ! मुझे अपना वास्तविक स्वरूप दिखा, ऐसा कहा है।

वेदमें भी जीवात्माने परमात्मासे यही प्रार्थना की है मुझ भक्तको कृतार्थ करनेके लिये अपना वास्तविक स्वरूपका दर्शन करा अपने विराट रूपको मत छिपा। अब मेरे मनकी शुद्धिके संबंधमें क्या प्रतीक्षा कर रहा है इस समय तो मैं आपका हूं और आप मेरे हैं अब तो मेरी भेद बुद्धि जाती रही है ऐसा कहा है।

श्री भगवान उवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च । ११।५

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा.व्य
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३	॥)
३	सामवेद	४)	१)
४	अथर्ववेद (समाप्त होनेसे पुनः छप रहा है।)		
५	यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
७	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१)
८	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१)
९	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
१०	यजुर्वेद वा० सं० पादसूची	१॥)	॥)
११	यजुर्वेदाय मैत्रायणीयमारण्यकम्	॥।)	=)
१२	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)

दैवत-संहिता

१	अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	४)	१)
२	इन्द्र देवता मंत्रसंग्रह	३)	॥)
३	सोम देवता मंत्रसंग्रह	२)	॥)
४	उषा देवता अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ	१)	१)
५	पवमान सूक्तम् (मूल मंत्र)	॥)	=)
६	दैवत संहिता भाग २ [छप रही है]	६)	१)
७	दैवत संहिता भाग ३	६)	१)

ये सब ग्रंथ मूल मात्र हैं।

८	अग्नि देवता— [मुंबई विश्वविद्यालयने बी. ए ऑनर्सके लिये नियत किये मंत्रोंका अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ संग्रह]	॥)	=)

सामवेद (कौथुम शाखीय)

१	ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः-आरण्यक गानात्मक. प्रथमः तथा द्वितीयो भाग	६)	१)
२	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (ऋग्वेदके तथा सामवेदके मंत्रपाठोंके साथ ६७२ से ११५२ गानपर्यंत)	१)	।)
३	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (केवल गानमात्र ६७२ से १०१६)	॥)	=)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	।)
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	।)
३ शुनःशेप	ऋषिका	दर्शन	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	।)
५ कण्व	,,	,,	२)	।)
६ सव्य	,,	,,	१)	।)
७ नोधा	,,	,,	१)	।)
८ पराशर	,,	,,	१)	।)
९ गोतम	,,	,,	२)	।=)
१० कुत्स	,,	,,	२)	।=)
११ त्रित	,,	,,	१॥)	।-)
१२ संवनन	,,	,,	॥)	=)
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	॥)	=)
१४ नारायण	,,	,,	१)	।)
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	।)
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	।)
१८ सप्त	,,	,,	॥)	=)
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१॥)

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय	१— श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥)	=)
अध्याय	३०— मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२)	≈)
अध्याय	३२— एक ईश्वरकी उपासना	१॥)	=)
अध्याय	३६— सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१॥)	≈)
अध्याय	४०— आत्मज्ञान-ईशोपनिषद्	२)	।≈)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	३।)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

Regd .No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

वर्ष ३७

अंक ८

वैदिक-तत्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र

अगस्त १९५६ ❁ आषाढ २०१३

वैदिक धर्म

[अगस्त १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष ३७ वैदिक धर्म अंक ८

क्रमांक ९२

आषाढ, विक्रम संवत् २०१३, अगस्त १९५६

●

भक्तकी उन्नति

नू चित् स भ्रेषते जनो न रेषन् मनो यो अस्य घोरमा विवासात् ।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत् स राय ऋतपा ऋतेजाः ॥

ऋ० ७।२०।६

इस इन्द्रके घोर मनको जो प्रसन्न करता है, वह स्थानभ्रष्ट नहीं होता और क्षीण भी नहीं होता। जो इस इन्द्रके लिये यज्ञ करता और उसके आशीर्वाद प्राप्त करता है, वह धर्मनियमोंका पालन करनेवाला और धर्म-नियम पालनके लिये ही जन्मा होनेके कारण धनसे युक्त होता है ॥

प्रभु जिसपर प्रसन्न होता है, उसका कभी नाश नहीं होता। सत्य-नियमोंका जो पालन करता है, वह प्रभुके आशीर्वाद प्राप्त करता है और प्रभु उसको पर्याप्त धन देता है।

१ योगमहाविद्यालय— सतत वृष्टिके कारण योग-महाविद्यालयके वर्ग बंद रखने पडे थे। क्योंकि प्रातःकालमें बाहरसे आनेवाले लोग वृष्टिके कारण आ नहीं सकते थे। अब भी रात दिन वृष्टि चल रही है। इस कारण वृष्टि कम होनेपर ही योगसाधनके आसनोंके वर्ग चालू होंगे।

२ वेदमहाविद्यालय— वेदादि धर्मग्रन्थोंके अध्ययनके लिये जो पत्रव्यवहार कर रहे हैं, उनके प्रवेशके नियमोंके पत्रक तैयार हुए हैं और वे उनके पास भेजे जा रहे हैं कि जिन्होंने पूछा था। संस्कृत भाषाका ज्ञान जिनको नहीं है वे प्रवेशके लिये हमें न लिखें। क्योंकि जो संस्कृत नहीं जानते उनको प्रवेश नहीं मिलेगा।

३ गायत्री-जपका अनुष्ठान- गत मासमें प्रकाशित जपके पश्चात् इस मासमें यह जपसंख्या हुई है—

१ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१७५०००
५ वाशीम- श्री आ. श्री. गुंडागुळे	१४४२००
३ दारेसलाम- सत्संग सभा, नासिओं	५०००००
७ मुंबई- श्री ल. शी. देवस्कर	६७४००
३ रामेश्वर- श्री रा ह. रानडे	६१०००
५ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	३०००
	९,५०,६००
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	९३,९४,५२५
कुल जपसंख्या	१०३,४५,१२५

९६ लाख जपसंख्या करनी चाहिये थी। प्रतिदिन दशांस हवन न करनेके कारण ३८ लाख जप अधिक करना चाहिये। इसमेंसे करीब साडे सात लाख जप इस समय-तक हो गया है और करीब २८ लाख होना चाहिये। यह जप समाप्त होगा तब वृष्टिकाल समाप्त होगा। उस समय 'गायत्री महायज्ञ' यहां किया जायगा। योग्य समयमें इसका कार्यक्रम प्रकाशित किया जायगा। आशा है कि लोग उस समय आकर लाभ उठायेंगे।

मन्त्री
जपानुष्ठान समिति

उपनिषद्—दर्शन*

[श्री अरविंद]

अध्याय १ ला

भारतके उपनिषद् और विश्वके समस्त दर्शनोंके मूल स्रोत+

उपनिषद् भारतीय मनकी सर्वश्रेष्ठ कृति हैं; और ऐसा होना ही चाहिये; कारण भारतीय मनकी प्रतिभाकी श्रेष्ठतम, उच्चतम अभिव्यक्ति, उसकी उत्कृष्टतम कविता, उसकी विचार और शब्दोंकी महानतम रचना कोई साधारण कोटिका साहित्य या काव्य नहीं हो सकता; यह साक्षात् और गंभीर आध्यात्मिक अन्तःप्रकाशका एक बाहरूप है। यह अद्भुत मनका और आत्माकी असाधारण, अलौकिक गतिका स्पष्ट प्रमाण है। उपनिषद् साथ ही गम्भीर धर्मशास्त्र भी हैं, कारण ये गम्भीरतम अध्यात्म अनुभवोंके अभिलेख हैं; ये अनन्तज्योति, शक्ति और विशालताको रखनेवाले अन्तःप्रकाश एवं अन्तर्भानात्मक दर्शनके प्रलेख हैं; चाहे गद्यमें हों या लययुक्त पद्यमें, ये परब्रह्म विषयक अध्यात्म कवितायें हैं; इनके सूत्रवचनमें अचूक अन्तःप्रेरणा अनिवार्यरूपमें दृष्टिगोचर होती है, इनकी ताल और अभिव्यक्तिमें चमत्कार है।

यह ऐसे मनकी कृतियाँ हैं जिसमें दर्शन, धर्म और कविता मिलकर एक हो गये हैं; कारण इनमें प्रतिपादित धर्म किसी विशेष पूजाप्रणालीमें समाप्त नहीं हो जाता और न यह किसी धार्मिक-नैतिक अभीप्सामें सीमित है, अपितु यह ईश्वरके, आत्माके, हमारे आत्मा और सत्ताके उच्चतम एवं पूर्ण यथार्थस्वरूपका अनन्त आविर्भाव करता है और ज्योतिर्मय ज्ञानके आनन्दसे एवं परिपूर्ण अनुभवके आनन्दसे भरपूर होकर बोलता है; यह कोई ऐसा दर्शन नहीं है कि जो सत्यके सम्बन्धमें कोरी बौद्धिक कल्पना हो या तर्कशील बुद्धिकी रचना हो; यह ऐसा दर्शन है जिसमें सत्यको हमारे अन्तस्तम मन एवं आत्माने देखा, अनुभव किया, जीवनमें अपनाया और धारण किया है और जिसका कथन सुनिश्चित आविर्भाव और अधिकृत करनेके आनन्दकी अभिव्यक्ति है।

यह कविता ऐसे सौंदर्य-प्रिय मनकी सृष्टि है जो कि अपने साधारण क्षेत्रसे ऊपर उठ गया है और आत्मा, ईश्वर और विश्वके दुर्लभतम आत्मदर्शन एवं गम्भीरतम सप्रकाश सत्यमें पहुँचकर उसका प्रतिपादन कर रहा है। यहाँ वैदिक ऋषियोंका अन्तर्भानात्मक मन और अन्तःस्तम मनोवैज्ञानिक अनुभव ऐसे उच्चतम शिखरपर पहुँच जाता है जहाँ कि कठोपनिषद्के शब्दोंमें आत्मा (ब्रह्म) अपने देहको प्रकट कर देता है।× अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले शब्दोंको ही प्रकाशित कर देता है और मनको ऐसे तालोंको स्पंदनका ज्ञान कराता है कि जिनके आध्यात्मिक श्रवणमें पुनरावर्तन करनेसे अन्तरात्माका निर्माण होता प्रतीत होता है और वह (अन्तरात्मा) आत्मज्ञानके शिखरोंपर पहुँचकर तृप्त और पूर्ण हो जाता है।

उपनिषदोंके इस स्वभाव इस वैशिष्ट्यपर विशेष बल

---

* There is hardly a main philosophical idea (in the world) which cannot find an authority or a seed or indication in these antique writings (upanishads) Foundations of Indian Culture. P. 306.

+ विश्वमें कोई भी ऐसा मुख्य दार्शनिक विचार नहीं है जिसका प्रमाण बीज या संकेत उपनिषदोंमें न हो। Founbation of Indian Culture P. 305

× तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

देकर इसे महत्त्व देना आवश्यक है; कारण विदेशी अनुवादक उपनिषदोंसे केवल बौद्धिक अर्थ निकालते हैं और इनमें जो विचारात्मक अन्तर्दर्शन और अध्यात्म अनुभवका आनन्द है उसका अनुभव नहीं करते। परन्तु ये प्राचीन मन्त्र विचारात्मक अन्तर्दर्शन और अध्यात्म-अनुभवके आनन्दसे ही उस समय प्रकट हुए थे, और जिस आत्म-तत्त्वमें ये वचन गति करते हैं उसमें प्रवेश करनेवालोंको अब भी ये उनकी अभिव्यक्ति अनुभूत होते हैं, न केवल बुद्धिको अपितु अन्तरात्मा और सम्पूर्ण सत्ताको अन्तःप्रकाशरूप अनुभूत होते हैं, प्राचीन शब्दोंमें श्रुति हैं।

उपनिषदोंका जो दार्शनिक तत्त्व है उसके महत्त्वकी प्रशंसा करनेकी आज अधिक आवश्यकता नहीं है, कारण यदि विश्वके महानतम मनोंने इसे पूरे रूपमें न भी स्वीकार किया हो तब भी दर्शनका पूरा इतिहास इसे प्रमाणित करता है। यह बात प्रायः सभी मानते हैं कि जिस प्रकार हिमालय पर्वतसे बडे बडे नद निकलते हैं इसी प्रकार भारतमें उपनिषदोंसे विविध प्रकारके गम्भीर दर्शन और धर्म निकलते हैं और शताब्दियोंतक इसके मन और प्राणको उपजाऊ बनाते रहे हैं और उसकी अन्तरात्माको सजीव रखते रहे हैं, निरंतर ज्योतिका स्रोत, कभी भी प्रकाश देनेमें न चूकनेवाले, प्राणदायक जलोंसे कभी भी न सूखनेवाले मूलस्रोत रहे हैं।

बुद्धधर्म अपने सम्पूर्ण संवर्धित रूपोंके साथ उपनिषदोंके अनुभवके केवल एक अंशका एक नवीन दृष्टिकोणसे *और बौद्धिक परिभाषा और तर्ककी नवीन भाषामें पुनर्वर्णन* मात्र था; यह धर्म उपनिषदोंके अनुभवके इस अंशको परिवर्तित रूपमें किन्तु मूलतत्त्वमें कुछ भी परिवर्तन किये बिना एशियामें और पश्चिमी यूरोपमें ले गया। उपनिषदोंके भावोंको पाइथागोरस और प्लेटोके अधिकतर विचारोंमें पाया जा सकता है; ये (उपनिषदोंके भाव) नवीन प्लेटोवाद और ज्ञानवादके, इनके परिणामोंके और पश्चिमकी दार्शनिक विचारधाराके गम्भीरतम अंग हैं; सूफीवाद केवल दूसरी भाषामें उपनिषदोंके विचारोंकी पुनरावृत्ति मात्र करता है।

जर्मनदेशीय तत्त्वज्ञानका अधिकांश भाग सारूपमें, उन महती यथार्थताओंका जिन्हें इन प्राचीन ग्रन्थोंमें अधिक अध्यात्मरूपमें प्रत्यक्ष किया गया है, एक बौद्धिक विस्तारसे अधिक नहीं है; और आधुनिक विचारधारा अधिक समीपतासे, अधिक सजीव और तीव्र ग्रहणशीलताके साथ उन्हें आत्मसात् कर रही है जिससे दार्शनिक और धार्मिक दोनों विचारोंमें क्रान्तिकी सूचना मिलती है। उपनिषदोंके ये विचार कहीं अनेक अप्रत्यक्ष प्रभावोंके द्वारा प्रवेश कर रहे हैं और कहीं सीधे और खुले हुए मार्गोंसे धीरे धीरे प्रवेश कर रहे हैं।

पृथ्वीपर कठिनाईसे ही कोई प्रधान दार्शनिक विचार ऐसा मिलेगा जिसका कि प्रमाण, बीज या संकेत इन प्राचीन लेखोंमें न हो— उन मनीषियोंकी कल्पनाओंमें न हो जिन्हें कुछ पाश्चात्य लोग कहते हैं कि उनके विचारोंका गंवारू, जंगली, प्राकृतिक पशुमय अज्ञानके सिवाय कोई दूसरा श्रेष्ठ अतीत या पृष्ठाधार नहीं था। और यहाँतक कि भौतिक विज्ञानके विशालतम व्यापक सिद्धान्त भौतिक प्रकृतिके उन सिद्धान्तसूत्रोंके सत्यके सम्बन्धमें उपयुक्त ठहरते हैं जिन्हें मूलरूपमें भारतीय ऋषियोंने खोज लिया था, आत्माके गम्भीरतर सत्यमें जिनके व्यापकतम अर्थको खोज लिया था।

और यह सब होनेपर भी ये ग्रन्थ बौद्धिक श्रेणीकी दार्शनिक कल्पनायें नहीं है, ऐसा तात्त्वज्ञानिक विश्लेषण नहीं है जोकि भावोंकी परिभाषा करनेका, विचारोंको चुनने और जो सच्चे हैं उन्हें पृथक् करनेका, सत्यको तर्कयुक्त करनेका अथवा तर्कके द्वारा मनका उसके बौद्धिक वरीयताओंमें समर्थन करनेका परिश्रम करता है; ये ऐसा *तत्त्वज्ञान नहीं हैं जोकि बुद्धिके किसी एक या दूसरे विचारके प्रकाशमें* सत्ताका कोई एकमात्र समाधान उपस्थित करके संतुष्ट हो जाता है और समस्त वस्तुओंको उसी दृष्टिकोणसे देखता है, उसी रश्मि-बिन्दुमें और नियामक अनुदर्शनमें देखता है। यदि उपनिषद् इस स्वभावके होते तो उनमें वह अमर जीवन-शक्ति न होती, वे ऐसा अविनाशी प्रभाव न करवाते, ऐसे परिणाम न उत्पन्न कर सकते या ऐसे सिद्धान्तोंको न देख पाते जोकि अब दूसरे क्षेत्रोंके अन्वेषणमें और सर्वथा विपरीत साधनोंसे स्वतंत्ररूपमें सत्यसिद्ध होते हैं।

इन ऋषियोंने सत्यपर विचार करनेकी अपेक्षा उसे देखा है; निःसन्देह उस सत्यको उन्होंने अन्तर्भावनात्मक विचार

और रहस्योद्घाटक रूपकके समूहसे आवृत किया है, किन्तु यह विचारात्मक पारदर्शकता ऐसा समूह है कि जिसके द्वारा हम अनन्तको देख सकते हैं; उन्होंने आत्म-सत्ताके प्रकाशमें वस्तुओंकी गहराईमें प्रवेश किया है और अनन्तकी आंखोंसे उन्हें देखा है; इन सब कारणोंसे उनके वचन सर्वदा सजीव और अमर बने रहे हैं, उनका तात्पर्य अक्षय्य है, उनकी प्रामाणिकता अपरिहार्य है; वे सत्यका ऐसा संतोषदायक अन्तिमरूप और साथ साथ सत्यका ऐसा अनन्त प्रारंभ हैं कि हमारी अनुसन्धानकी समस्त दिशायें जब अपने अन्त-पर पहुंचती हैं तो उन परिमाणोंपर ही पहुँचती हैं और मानवजाति भी अपने महानतम अन्तर्दर्शनके मनों और युगोंमें उन परिणामोंपर ही पहुंचती है।

उपनिषद् वेदान्त हैं, वेदसे भी उच्च श्रेणीके ज्ञानके ग्रन्थ हैं; यहाँ ज्ञान शब्दका प्रयोग साधारण अर्थमें नहीं है अपितु गहरे अर्थमें है। बुद्धिके द्वारा किसी वस्तुका केवल विचार करना, बुद्धिके द्वारा सत्यके किसी मानसरूपका अनुसरण करना और उसे ग्रहण करना ज्ञान नहीं है, अपितु अन्तरात्माके द्वारा उसे देखना, अन्तःसत्ता (अन्तःपुरुष) की शक्तिसे पूर्णतया उसमें निवास करना ज्ञेयके साथ तादा-त्म्यके द्वारा उसका अध्यात्म ग्रहण करना ज्ञान है। और चूंकि केवल आत्माके पूर्ण ज्ञानसे ही इस प्रकारका साक्षात् ज्ञान पूर्ण किया जा सकता है इसलिये वेदान्ती ऋषियोंने आत्माको जाननेका, उसमें निवास करनेका और उसके साथ तादात्म्य करनेका प्रयास किया। और इस प्रयासके द्वारा उन्होंने सरलतापूर्वक यह देखा कि हमारे भीतरका आत्मा पदार्थोंके विश्वव्यापी आत्माके साथ एक है और यह आत्मा वही है जो ईश्वर और ब्रह्म है; उन्होंने इस एक और समुच्चयकारी अन्तर्दर्शनके प्रकाशके द्वारा विश्वमें वस्तु-ओंके अन्तस्तम सत्य और मनुष्यकी आन्तरिक और बाह्य सत्ताके अन्तस्तम सत्यको देखा, अनुभव किया और उसमें निवास किया।

उपनिषद् आत्मज्ञान, विश्वज्ञान और ब्रह्मज्ञानके उच्च कोटिके काव्यमय मन्त्र हैं। उनमें जो दार्शनिक सत्यके महान् सिद्धान्त भरे पड़े हैं वे विविक्त बौद्धिक सामान्य कारण नहीं हैं, ऐसी वस्तु नहीं हैं कि जो केवल प्रकाशित होते हों और मनको प्रकाश देते हों किन्तु सजीव न हों और अन्तरात्माका आरोहण न करते हों; वे अन्तर्भान और अन्तःप्रकाशक ज्योतिके प्रयास और प्रदीप हैं; एकमेव सत्, परब्रह्म, परमदेव, दिव्य और विश्वात्माकी प्राप्ति और उसके प्रत्यक्ष दर्शन हैं और इस महान् विश्व-अभिव्यक्तिमें पदार्थों और जीवोंके साथ उसके संबंधके आविर्ज्ञान हैं।

ये अनुप्रेरित ज्ञानके स्तोत्र, दूसरे समस्त मन्त्रोंके समान धार्मिक अभीप्सा और आह्लादकी ऐसी भावनाका निःश्वास लेते हैं जोकि निम्नकोटिकी धार्मिक भावनाके अनुरूप संकीर्ण उग्र प्रकारकी नहीं है; यह भावना सांप्रदायिकता और विशेष पूजाविधियोंसे ऊपर भगवान्के उस वैश्व आन-न्दमें आरोहण करती है जोकि स्वयं-सत् और वैश्व आत्माके समीप जानेसे और उसके साथ तादात्म्य करनेसे हमें प्राप्त होता है। और यद्यपि इनका मुख्य संबंध अन्तर्दर्शनसे है बाहरी मानवकर्मसे सीधा संबंध नहीं है तथापि बौद्धधर्म और पीछेके हिन्दूधर्मके जो भी उच्चतम नीति-धर्म हैं वे इन सत्योंके जीवन और तात्पर्यके आविर्भाव हैं जिन्हें वे अभिव्यक्त करते और बलप्रदान करते हैं; और इनमें किसी भी नैतिक सिद्धान्त और सद्गुणके मानसिक नियमकी अपेक्षा कोई महत्तर पदार्थ है, वह है ईश्वर और समस्त जीवोंके साथ एकत्वके आधारपर प्रतिष्ठित आध्यात्मिक कर्मका उच्चतम आदर्श। इसलिए जब वैदिक मतके रूपोंका जीवन बीत गया तब भी उपनिषद् सजीव और सृजनशील बने रहे और महान् भक्तिप्रधान धर्मोंको उत्पन्न कर सके और धर्म-विषयक स्थायी भारतीयभावको प्रवृत्त कर सके।

उपनिषद् अन्तःप्रकाशात्मक और अन्तर्भानात्मक मनकी सृष्टि और उसके ज्योतिर्मय अनुभव हैं और उनके सम्पूर्ण मूलद्रव्य, बनावट, सूत्रवाक्य, रूपक, गति इस मूलभूत स्वभावसे नियत और अंकित हैं। ये उच्चतम और सर्व-ग्राही सत्य, ये एकत्वके, आत्माके और वैश्वब्रह्मके अन्त-र्दर्शन संक्षिप्त और सारगर्भित सूत्रवाक्योंमें उपस्थित किये गये हैं जोकि इन सत्योंको तुरन्त अन्तरात्माकी आँखोंके सामने ले आते हैं और उसकी अभीप्सा और उसके अनु-भवके लिए यथार्थ और अनुपेक्ष्य बना देते हैं; अथवा ये सत्य ऐसे कवित्वमय वाक्योंमें व्यक्त किये गये हैं कि जिनमें वह अन्तःप्रकाशदायी शक्ति और सूचक विचार-भावना है जोकि सान्त रूपकके द्वारा सम्पूर्ण अनन्तका दर्शन कराते

हैं। उनमें एकमेव तत्त्व प्रकाशित किया गया है, किन्तु साथ ही इसके बहुपक्ष भी प्रकट किए गये हैं, और वर्णन ऐसी प्रचुरताके साथ है, अभिव्यक्ति ऐसी पूर्णता रखती है कि प्रत्येक पक्षको पूरा महत्त्व दिया गया है और मानो वह (पक्ष) प्रत्येक शब्द और सूत्रवाक्यका प्रकाशदायी औचित्यके द्वारा होनेवाले अनायास आत्म-आविर्भावमें अपना स्थान और सम्बन्ध प्राप्त करता है।

विशालतम तात्त्वज्ञानिक सत्य और सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक अनुभव अनुप्रेरणाका रूप धारण किये हुए हैं और द्रष्टा मनके लिए यथातथ्य बनाये गये हैं और अन्वेषक आत्माके लिए अनन्त संकेतोंसे लदे हुए हैं। उनमें पृथक् पृथक् सूत्र वाक्य, अकेले श्लोक, छोटे छोटे वाक्य-समूह ऐसे हैं कि इनमेंसे प्रत्येक बहुत विशाल दर्शनके सारको धारण करता है और फिर भी प्रत्येक अनन्त आत्मज्ञानके एक पक्ष, एक अंशके रूपमें उपस्थित किया गया है। यहां सब कुछ ठूँस ठूँस कर भरा हुआ है किन्तु साथ ही इसमें पूरी तरह स्पष्टता, ज्योतिर्मयी संक्षिप्तता और अपरिमेय पूर्णता है।

इस प्रकारका विचार तर्कशील बुद्धिके थकानेवाले, सावधान और बिखरे हुए विस्तारका अनुसरण नहीं कर सकता। वाक्य-समूह, श्लोक, अर्धश्लोक और यहाँतक कि पाद अपनेसे ऐसे पूर्ववर्त्तीका अनुसरण करते हैं जिनके बीचमें एक विराम होता है जोकि अनभिव्यक्त विचारसे भरपूर होता है; यह इनके बीचमें एक प्रतिध्वनिजनक मौन है; यह एक ऐसा विचार होता है जोकि संपूर्ण विचारके अन्तर्गत होता है और उस वचनमें अन्तर्निहित होता है, परन्तु उसे मनको स्वयं अपने लाभके लिए स्पष्ट करना होता है; और सारगर्भित मौनके ये विराम लम्बे हैं; इस विचारके पद उस दैत्यके पदोंके समान हैं जो कि अनन्त सागरको पार करनेके लिए एक चट्टानसे दूरकी चट्टानपर पडते हैं।

प्रत्येक उपनिषद्की बनावटमें एक पूरी समग्रता है, इसके समंजस खण्डोंका एक व्यापक सम्बन्ध है; परन्तु यह समग्रता उस मनके ढंगसे बनी है जोकि एक साथ सत्यके समूहोंको देखता है और भरपूर मौनसे केवल आवश्यक प्रकट करनेके लिए रुक जाता है। श्लोक या संगीतात्मक पद्यमें जो ताल (लय) है वह विचार और सूत्र वाक्यकी रचनाके अनुरूप है। उपनिषदोंके जो द्वन्द्व हैं वे ऐसे चार आधे पदोंके बने हैं जोकि स्पष्टतया पृथक् हैं, पद अधिकतर स्वयं पूर्ण हैं और उनका भाव भी पूर्ण है; आधे पद दो विचारोंको या एक विचारके पृथक् पृथक् खण्डोंको जो एक साथ जुडे हुए हैं और एक दूसरेको पूर्ण करते है- प्रकट करते हैं।

इनमें जो स्वरगति है उसमें भी समानतत्त्व कार्य करता है; प्रत्येक पदप्रक्षेप संक्षिप्त है और अपने विश्रामकी स्पष्टताके कारण पृथक् जान पडता है; उसमें प्रतिध्वनि करने वाले ताल हैं जोकि दीर्घकालतक अन्त श्रुतिमें स्पंदन करते रहते हैं; इनमेंसे प्रत्येक मानो अनन्तकी एक ऐसी लहर है जोकि सागरकी सम्पूर्ण ध्वनिको धारण करती है। यह एक प्रकारकी ऐसी कविता है, अन्तर्दृष्टिका शब्द, आत्माकी ताल है, जोकि न कभी इससे पहले लिखी गई है और न पीछे।

उपनिषदोंका रूपक अधिकांशमें वेदके रूपकका परिवर्धित रूप है; यद्यपि यह बहुत साधारणतया साक्षात् प्रकाशदायक चित्रकी अनावृत स्पष्टताको वरीयता देता है, परन्तु यह अनेक बार उन्हीं प्रतीकोंका इस प्रकार उपयोग करता है जोकि पुराने प्रतीककी भावनाके और उस प्रतीककी प्रक्रियाके कम प्राविधिक अंशके सदृश है। उपनिषदोंके इस अंशको अधिकतर रूपमें आधुनिक युगकी विचारशैली ग्रहण नहीं कर पाती, इस कारण कुछ पाश्चात्य पण्डितोंने हतबुद्धि होकर भ्रमसे यह कह दिया है कि इन धर्मशास्त्रोंमें उच्चतम दार्शनिक भावोंके साथ मानवजातिके बालमनकी आदिम, भद्दी तुतलाहट मिली हुई है।

उपनिषद् वैदिक मन और उसके मूलभूत भावोंसे क्रान्तिकारी रूपमें पृथक् नहीं हो गये हैं, ये उनका ही एक अविच्छिन्न प्रवाह और विस्तार हैं और जो कुछ प्रतीकात्मक वेद वाणीमें गुह्यरूपमें ढका और छिपा हुआ था उसे खुले और स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करनेके कारण उनका परिवर्धित रूपान्तर हैं। उपनिषद् वेद और ब्राह्मणोंके रूपक और याज्ञिक अनुष्ठानसम्बन्धी प्रतीकोंको लेकर प्रारम्भ करते हैं और इन्हें इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि जिससे उनका आन्तरिक और गुह्य भाव प्रकट हो जाता है और यह स्वयं उसके अधिक उच्चरूपमें विकसित और अधिक शुद्ध रूपमें आध्या-

त्मिक दर्शनके लिए एक प्रकारका चैत्य प्रारम्भिक बिन्दु हो जाता है।

विशेषकर गद्यात्मक उपनिषदोंमें ऐसे वाक्यसमूह हैं जो कि पूर्णतया इसी प्रकारके हैं; वे उस समयके वैदिक धार्मिक मनमें जो विचार प्रचलित थे उनके चैत्य तात्पर्यको इस रीतिसे प्रकट करते हैं कि जो आधुनिक बुद्धिके लिए गूढ़, अस्पष्ट और यहाँतक कि अगम्य हैं; ये विचार हैं तीन प्रकारके वेदोंका भेद, तीन लोक सम्बन्धी आदि। परन्तु चूँकि उपनिषदोंकी विचारधारामें ये वाक्यसमूह गम्भीर–तम आध्यात्मिक सत्योंमें पहुँचते हैं इसलिए इन वाक्योंको अर्थहीन या जिस उच्च विचारमें ये पहुँचते हैं उससे सम्बन्धित किसी प्राप्त होने योग्य तात्पर्यसे शून्य मानकर बालबुद्धिका स्खलन कहते हुए इनका निराकरण नहीं किया जा सकता।

इसके विपरीत एक बार जब हम उनके प्रतीकात्मक अर्थके भीतर घुस जाते हैं तो हम देखते हैं कि उनका तात्पर्य काफी गम्भीर है। इसका उदाहरण है ऊपर चैत्य आध्यात्मिक ज्ञानमें चैत्य दैहिक आरोहण; इसके लिए अब हम अधिक बौद्धिक, कम स्थूल और रूपकात्मक भाषाका प्रयोग करेंगे, किन्तु जो व्यक्ति योगका अनुष्ठान करते हैं हमारी चैत्य-दैहिक और चैत्य-अध्यात्मसत्ताको रहस्योंका पुनः आविष्कार करते हैं, उनके लिए वह अब भी प्रामाणिक है। चैत्य सत्योंके विशिष्ट अभिव्यंजक इस प्रकारके अनूठे वाक्य हैं अजातशत्रुका निद्रा और स्वप्नका प्रतिपादन करनेवाले अथवा प्रश्नोपनिषद्के वे वाक्य जोकि प्राण और उसकी गतियोंका प्रतिपादन करते हैं, अथवा वे जिनमें देव और असुरोंके वैदिक संग्रामको लेकर उसे आध्यात्मिक तात्पर्य प्रदान किया गया है और वैदिक देवोंके आन्तरिक कार्य और आध्यात्मिक शक्तिको ऋक् और सामकी अपेक्षा अधिक स्पष्टरूपमें प्रतिपादन किया गया है।

वैदिक भाव और रूपकके इस विस्तारके उदाहरणके रूपमें मैं तैत्तिरीय उपनिषद्का एक वह वाक्य उद्धृत करता हूं जिसमें इन्द्र स्पष्टतया दिव्य मनकी शक्ति और देव रूपमें प्रकट होता है—

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। समेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। १।४।१॥

"जो विश्वात्मक रूपवाला वेदोंका वृषभ है, जो अमृतसे पवित्र तालों (स्वरों) में उत्पन्न हुआ था– वह इन्द्र मेधाके द्वारा मुझे तृप्त करे। हे देव मैं अमृतका पात्र बनूँ। मेरा शरीर अन्तर्दर्शनसे भरपूर हो जाय और मेरी जिह्वा मधुरतासे भरपूर हो जाय, मैं अपने कानोंसे अधिक और सविस्तर सुनूँ, कारण तुम ब्रह्मके ऐसे कोश हो जो बुद्धिसे ढका और छिपा हुआ है।"

इसी प्रकारका एक वाक्य ईशोपनिषद्से उद्धृत किया जा सकता है। उस वाक्यमें सूर्य देवको ऐसा ज्ञानका देवता मानकर प्रार्थना की गई है कि उसके तेजका जो श्रेष्ठतम रूप है वह आत्माका एकत्व है और उसकी किरणें यहाँ मानस स्तरपर फैलकर विचारशील मनकी चमकदार बखेर हो जाती है और इसके अपने अनन्त अतिमानस सत्यको, इस सूर्यके देह और आत्माको, आत्मा और ब्रह्मके सत्यको छिपाती हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

"सत्यका मुख स्वर्णमय ढकनसे ढका हुआ है; हे पोषक सूर्य सत्यधर्मके लिए, दृष्टिके लिए तू उसे हटा। हे पोषक! एकमात्र ऋषि! हे नियामक यम, हे सूर्य, हे प्रजापति (जीवोंके पिता) के पुत्र! अपनी किरणोंको इकट्ठा और व्यवस्थित कर। तेरा जो सबसे अधिक कल्याणकारी तेज है, उसे मैं देखूँ, वह जो वह है, वह पुरुष है, वही मैं हूँ।"

इन वाक्योंका वेदके रूपक और शैलीके साथ भेद होते हुए भी सम्बन्ध स्पष्ट है और निश्चय ही इनमें जो अन्तिम है वह अत्रिके एक वेदमन्त्रका पीछेके रूपक और अधिक खुली हुई शैलीमें शब्दार्थ या अनुवाद करता है—

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुञ्चन्त्यश्वान्। दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम् ॥ ऋग्वेद ५।६२।१॥

"तुम्हारे सत्यसे वह सत्य छिपा हुआ है जोकि सदा स्थिर है, जहाँ वे सूर्यके अश्वोंको खोलते हैं। वहाँ दस-सहस्र एक साथ खडे हैं; तत् एकमेव है; मैंने सदेह (समूर्त) देवोंके परमदेवको देखा है"।

यह वैदिक और औपनिषदिक रूपक हमारे वर्तमान मनके लिए विजातीय वस्तु है। कारण हमारा वर्तमान मन प्रतीकके सजीव सत्यमें विश्वास नहीं करता क्योंकि बुद्धिके द्वारा संत्रस्त हुई अन्त:प्रकाशक कल्पना-शक्तिमें यह साहस नहीं रहता कि वह चैत्य और आध्यात्मिक अन्तर्दर्शनको स्वीकार करे, उसके साथ तादात्म्य और साहसके साथ उसे समूर्त करे। परन्तु निश्चय ही यह बालकीय या कोई प्राथमिक और असभ्य रहस्यवाद नहीं है। यह स्पष्ट, सजीव, ज्योतिर्मय रूपमें कवितामयी अन्तर्भानात्मक भाषा उच्च विकसित आध्यात्मिक संस्कृतिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

उपनिषदोंका अन्तर्भानात्मक विचार इस स्थूल रूपक और प्रतीकोंसे प्रारम्भ होता है; इनके शब्द पहले मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषियोंको पूर्णतया स्पष्ट थे किन्तु साधारण बुद्धिके लिए उनके गम्भीरतम अर्थको छिपानेमें आवरणस्वरूप हैं, परन्तु उपनिषदोंका विचार वैदिक प्रतीकोंका सम्बन्ध ऐसी भाषासे करता है जोकि भावोंको कम छिपाते हुए व्यक्त करती है और उन रूपक एवं प्रतिकोंसे परे जाकर दूसरे ऐसे रूपक और रीतिमें पहुँचता है कि जो तेजोमय रूपसे स्पष्ट और उन्नत हैं और जो आध्यात्मिक सत्यको उसके पूर्ण वैभवमें प्रकाशित करते हैं।

गद्यात्मक उपनिषद् हमें भारतके प्राचीन मनकी इस प्रणालीको दिखलाते हैं; वह प्रतीकका उपयोग करके उससे परे आध्यात्मिक तात्पर्यकी स्पष्ट अभिव्यक्तिमें पहुँच जाती है। प्रश्नोपनिषद्का एक वचन जो कि गुह्य अक्षर ओऽम्के तात्पर्य और शक्तिके विषयमें है, इस विधिकी प्रारम्भिक भूमिकाका उदाहरण है। —अनु. केशवदेवजी आचार्य

(क्रमशः)

निष्पक्ष तुलनात्मक विचार

चूहडपुर १०-७-५६

श्रीमन्नमस्ते !

आपके 'वैदिकधर्म' जुलाईके अङ्कमें श्री नाथूलालजी वानप्रस्थीका लेख 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' प्रकाशित हुआ है। इस लेखके प्रकाशित करनेके लिये आपको, तथा लिखनेके लिये लेखकको अनेकशः धन्यवाद। इस लेखमें जो विचार प्रकट किये गये हैं मैं उनसे पूर्णतया सहमत हूं। इन विचारोंके अनुसार कार्य करनेके लिये तन, मन और धनसे सर्वथा प्रस्तुत हूं। इस लेखमें जो योजना प्रस्तुत की गई हैं, उनमें निम्नलिखित एक विषय और भी होना चाहिये ऐसा मेरा विचार है। सभी मतों व धर्मोंमें जो वेदादि सत्य शास्त्रोंके विद्वान् हैं, उनकी एक सम्मिलित-सार्वजनिक विद्यार्थ सभा बनाई जावे।

उसमें निष्पक्ष १५ या २० विविध विषयोंके पूर्ण विद्वान्, ज्ञानी, आध्यात्मिक पुरुष मिलकर चारों वेदों, उनके ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक तन्त्रों, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, दर्शनों, तन्त्रग्रन्थों, पुराणों तथा जिन्दावस्था, बाईबल, कुरान आदि अन्य देश व धर्मके ग्रन्थोंपर भी पूरा पूरा समालोचनात्मक विचार करें। यह विचार तुलनामूलक हो, दृष्टि यह हो कि, एक ही सत्य कैसे विविधरूप धारण करके इन ग्रन्थोंमें गया है। असली सत्य क्या है, सबका सब प्रकारका हित, कल्याण, उन्नति विकास किस प्रकार हो सकता है। इन ग्रन्थोंके आधारपर तथा आजतक जो मनुष्यजातिके आध्यात्मिक तथा अन्य नेताओंको जो स्वानुभव प्राप्त हुए हैं, उनके आधारपर निश्चित करके प्रकाशित किया जावे। पुनः इस सुन्दर लेखके लिये आपको व लेखकको आन्तरिक धन्यवाद !

भवदीय कृपाकांक्षी,
देवदत्त

हिन्दू (आर्य) का राष्ट्रीय कर्तव्य

(लेखक : श्री पं. रामावतारजी, विद्याभास्कर)

[गताङ्कसे आगे]

हमारे राष्ट्र कर्णधारोंके विद्यागुरुओंने स्वयं ईसाई धर्मसे संगठित होनेपर भी अपनेको सिक्यूलर कहकर भारतके भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके निष्पक्षपातताका प्रमाणपत्र लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। उन्होंने गदरके बाद सन् १९५८ में भारतका शासनदण्ड अपने हाथमें लेते समय अपने आपको विभिन्न धार्मिक विश्वासोंका संरक्षक (Defenoler of Faiths) बने रहनेका आश्वासन दिलाकर राज्य हाथमें लिया था। उनका ऐसा करना उचित और वैधानिक था।

हमारे देशकी सरकारको भी यही करना चाहिये था। उसे भी विभिन्न धर्म सम्प्रदायोंकी रक्षक रहकर हिन्दू सरकार होना चाहिये था। हमारे पड़ौसी बर्माकी बौद्ध धर्मसे संगठित सरकारकी छत्रछायामें बहुतसे अबौद्ध सम्प्रदाय शान्ति तथा सम्मानके साथ रक्खे जा रहे हैं। उसने भी अपना सिक्यूलर या धर्म निरपेक्ष नाम रखनेकी आवश्यकता नहीं समझी। ऐसी परिस्थितिमें गम्भीर प्रश्न खड़ा होता है कि सबके धार्मिक विश्वासोंकी संरक्षकताका जो काम अंग्रेज ईसाई रहता हुआ कर रहा था, तथा हमारे पड़ौसी बर्माकी राज्यसत्ता बौद्ध रहती हुई कर रही है, सबके धार्मिक विश्वासोंके संरक्षणके उस कामको हमारा राष्ट्र "हिन्दू राष्ट्र" रहकर क्यों नहीं कर सकता था? यदि कहा जाय नहीं कर सकता था तो हम पूछेंगे कि यह दावा हिन्दू चरित्रके कौनसे इतिहासके आधारपर किया गया है?

यह नया नामकरण ही हिन्दूपर दोषारोपण है। हिन्दूपर यह दोषारोपण कि वह विधर्मियोंपर अत्याचार करेगा, एक महान् दुःसाहस और संसारके इतिहासको झुठलाना है। हमारी सरकारके इस विशेषणने हिन्दू राष्ट्रपर जो कलंक लगाया है वह एक महान् राष्ट्रीय अपराध किया है। हिन्दूके विरोधमें कोई ऐतिहासिक शिकायत न होनेपर भी, आजका हमारा दूसरोंसे उदारताका मिथ्या यश लेनेका भूखा कांग्रेसी राज अपनेको अहिन्दू घोषित करनेके जितने अधिकसे अधिक अवसर मिल सके उनके ढूढ़नेमें लालायित रहता है। वह हिन्दू नामसे चिढ़नेवाले अहिन्दूका इतना चाटुकार हो गया है कि वह उसकी दृष्टिमें अपनेको अहिन्दू प्रकट करनेके लिये अर्थात् हिन्दू विद्वेषियोंका विश्वासभाजन बननेके लिये अपने नामके साथ सिक्यूलर विशेषण लगा बैठा है। यह विशेषण लगाना स्पष्टरूपसे उसका हृहीबंल्य है। वह उसकी अहिन्दुओंसे मिथ्या यश लूटनेकी निर्बल अभिलाषा है। उसने हिन्दू नामसे चिढ़नेवाले हिन्दू विद्वेषियोंके हाथोंमें आत्मसमर्पण कर दिया है।

इस प्रकारका आत्मसमर्पण राष्ट्रके साथ विश्वासघात या उसके विश्वासका दुरुपयोग है। उसने उनका विश्वासपात्र बननेके लिये अपना यह नाम रखकर हमारे राष्ट्रके सामने जिस हृदौर्बल्यको प्रकट किया है हम उसकी इस दुर्बलताको "हिन्दू विद्वेष" कहनेके लिये विवश हैं। इस नामकरणके पीछे यही एकमात्र भाव गुप्त है कि भारतकी राज्यव्यवस्थाके साथ हिन्दू नाम कभी भी न लगने दिया जाय। हम स्पष्ट देख रहे हैं कि भारतकी राज्यव्यवस्थाके साथ हिन्दू नाम न लगने देनेका एक विराट षड्यन्त्र बनाया गया है। यह नामकरण बत्तीस करोड हिन्दू प्रजाके अधिकारका स्पष्ट विद्रोह तथा अपहरण है। प्रजातन्त्रमें इस प्रकारकी कार्यवाही सर्वथा अवैधानिक है। यह इस दृष्टिसे किया गया है कि यदि राज्यव्यवस्थाके साथ हिन्दू नाम जुडा रहने दिया गया तो इससे हमारी सरकारको हिन्दूपर अकारण आक्रमण करनेवाले हिन्दू विद्वेषी संगठनोंके अविश्वासपात्र बन जानेका ऐसा डर है जिससे वह थरथर कांपती है।

हिन्दू राष्ट्र नाम पाना भारतका स्वाभाविक अधिकार

आप किसी भी पहलूसे सोचनेपर पायेंगे कि हमारी

कांग्रेसी सरकारके सिरपर हिन्दू विद्वेषियोंसे प्रमाणपत्र लेनेकी धुन सवार है। हम प्रजातन्त्रके नामसे धोखा खाकर बैठे हुये, प्रजातन्त्रके नामसे अप्रजातंत्रिक कष्ट सहते हुये, और मन ही मन पछताते हुये, अपने राष्ट्रको सरकारकी इस चाटुकारी मनोवृत्तिके सम्बन्धमें सचेत करना चाहते हैं कि वह सरकारको इस मनोवृत्तिको सुधारने तथा अपने " हिन्दू राष्ट्र " नाम पानेके अपहृत अधिकारको लौटानेके लिये विवश करे।

हमारा राष्ट्र देखे कि हमारी सरकार हिन्दू विद्वेषियोंका प्रमाणपत्र लेनेके लिये हिन्दूका अपने राष्ट्रको हिन्दू (आर्य) राष्ट्र घोषित करनेका वैध अधिकार छीननेके लिये कितनी उतावली है ? इसका, कुर्सी हाथमें आते ही, उस हिन्दू राष्ट्रको राष्ट्र संभालनेके अयोग्य कहने लगना, जिसने स्वराज्यवृक्षको अपने प्यारोंके रक्तोंसे सींच सींचकर पाला है, जिसके सत्याग्रही तपस्वी बलिदानोंको देखकर देवता भी चकित होते हैं, जिसके त्याग और तपस्याके परिणामस्वरूप हमारी सरकार सरकार बन सकी है, उसके साथ राज-नैतिक विश्वासघात है। यह तो " काम करनेको रीछ तथा खानेको बन्दरिया " वाली बात हुई है। हिन्दूको उसकी तपस्यापर साधुवाद तथा पारितोषिक देनेकी बात तो भाडमें गई, उसे सदाके लिये राज्य सम्भालनेके अयोग्य घोषित करके उसके ऊपर अनुदारता तथा असहिष्णुताकी कालिमा पोतनेका प्रयत्न किया गया है।

हमारी सरकारका हिन्दू विद्वेषियोंसे प्रमाणपत्र लेनेका लोभ कहांतक फैल चुका है, उसे देखनेके लिये इस बातपर विचार कीजिये कि वह हिन्दुस्थानको हिन्दुस्थानतक कह-नेसे बचना चाहती है। इसलिये कि हिन्दुस्थान नामके साथ भी वही हिन्दू शब्द लगा हुआ है, जो सरकारकी दृष्टिमें भयानक हव्वा तथा सरकारकी सिक्यूलर नीतिके माथेपर कलंक लगानेवाला है। हमारी सरकार समझती है कि यदि इस देशको हिन्दुस्थान कहने दिया गया तो वह नाम हमारी निष्पक्षपाततांके उस प्रमाणपत्रको पानेका विघ्न बन जायगा, जो हमें हिन्दू विद्वेषियोंसे लेते रहना है।

हम हिन्दू नामसे घृणा करनेवाली अपनी सरकारसे पूछना चाहते हैं जब कि हिन्दूसे विद्वेष रखनेवालोंने हमसे अलग होकर अपना नाम " पाकिस्तान " रख लिया, तब शेष राष्ट्रका वही पुराना हिंदुस्थान नाम रह जाना चाहिये था या नहीं ? आप बताइये तो सही कि आपको राज्य दिलानेवाले हिन्दूने आपको राज्य दिलानेमें कौनसा अपराध कर डाला कि आप संसारसे उसका नामतक मिटानेको उद्यत हो गये ? मेरे राम ! हिन्दूका यह कौनसे जन्मका पाप उदय हो गया कि उसे राष्ट्रके नामके साथ अपना नाम लगानेकी भी स्वतन्त्रता नहीं रही ? हम पूछते हैं आपने इस हिन्दू राष्ट्रको किस अपराधके दण्डस्वरूप इस नामसे वंचित किया ? और इसमें राष्ट्रका कौनसा राजनैतिक लाभ देखा ? वास्त-विकता तो यह है कि हमारे राष्ट्रको हिन्दू राष्ट्र नामसे वंचित रखनेके पीछे कुछ विचार छिपे छिपे काम कर रहे हैं।

हमें उन्हीं गुप्त विचारोंको हिन्दू विद्वेष नाम देना और उन्हें सारे हिन्दू राष्ट्रकी दृष्टिमें निन्दनीय ठहराना चाहते हैं। हम सरकारकी हिन्दू विरोधी प्रवृत्ति देखते देखते तंग आ चुके हैं। सहनकी सीमायें समाप्त हो चुकी हैं और वे अपने ज्वालामुखीको फोडनेका कोई मार्ग मांग रही हैं। हमें हिन्दू संस्कृतिमें रहना है और इसीके लिये मरना है। हम यह सहन नहीं कर सकते कि हम हिन्दू लोग संसारमें बिना राष्ट्रके होकर रहें। हम अपने राष्ट्रकी भावनाओंको स्पष्ट कहना चाहते हैं कि जो मानवसृष्टि मनुष्यसमाजमें सदासे झगडा मचानेवाले दानव, अनार्य, म्लेच्छस्वभाव-वाले लोगोंको पैदा करती चली आरही है वही मनुष्यता विद्वेषिनी आसुरी वृत्ति आज भारतमें भारतीय मनुष्यताको शासित और पददलित करनेका उद्दण्ड साहस कर रही है। सरकारने हिन्दू द्वेषी म्लेच्छपनको अपनाकर सारे हिन्दुस्था-नकी मनुष्यतापर आक्रमण किया है।

हमारी सरकारको जानना चाहिये कि हिन्दू समाज किन्हीं धर्मसम्प्रदायोंकी चार दिवारीका कैदी मजहब नहीं है, जैसा कि हिन्दू विद्वेषी सम्प्रदाय है। वह तो भारतके समग्र मानवसमाजका ही नाम है। हिन्दूकी परधर्मावल-म्बियोंको भी अपने गले लगानेकी एकमात्र शर्त यह है कि " ओ परदेशी ! आ गये तो आओ, हमारे देशमें रहो। अपना कोई भी विश्वास रखते रहो। परन्तु तुम यहां रहते हुये, कभी संघबद्ध होकर यहांके मनुष्यसमाजकी मनुष्य-तापर आक्रमण मत करना। " जो कोई उसकी यह शर्त मान लेता है हिन्दू उसीको अपना भाई मानकर अपना

लेता है। हिन्दूकी इस उदार मानसिक ऊचाईको देखकर हमें कहना पडता है कि भारतकी राज्यव्यवस्थाके साथ सिक्यूलर विशेष जोडनेवालोंके आप पक्षपातका चश्म, उतारकर हिन्दूके जातीय चारित्र्यका गम्भीरतासे अध्ययन करें। यदि आपने हिन्दूके इस अनन्य साधारण उदार स्वभावका गम्भीरतासे अध्ययन किया होता और उसके जातीय गुणों तथा सहिष्णु स्वभावका कोई मूल्य आंका होता, तो आपके पास अपना यह नया नाम रखनेके ढोंग करनेका अवसर ही न आता।

हिन्दुत्वके साथ अन्याय संसारके साथ अन्याय हुआ है

यह हमारे राष्ट्रका महादुर्भाग्य और अन्धापन है कि समग्र राष्ट्रके हिन्दू होते हुये भी हिन्दूको नहीं समझा गया। हमारे कर्णधारोंने हिन्दू विद्वेषियोंकी संगतसे बहककर उनकी प्रशंसाका पात्र बननेके लोभमें आकर हिन्दूके साथ बड़ा भारी अन्याय किया है। इन्होंने हिन्दूके साथ अन्याय करके सारे संसारको हिंदूकी गुणगरिमासे लाभ उठाने अर्थात् संसारको हिन्दूसे उदारताका पाठ सीखनेका एक महान् अवसर अपनी अनभिज्ञतासे खो दिया। इन्होंने हिन्दूके साथ अन्याय करके संसारको मनुष्यताका जीवित पाठ देनेवाले हिन्दू नामवाले विश्वविद्यालयके द्वारपर ताले डाल दिये और उसे संसारके राज्योंकी श्रेणीसे पदच्युत कर डाला।

इन्होंने हिन्दूकी महत्ता और उदारताको भूलकर उसे अत्याचारस्वभावी आततायी तथा आक्रामक हिंदूविद्वेषियोंकी श्रेणीमें खडा करके गधे और घोडोंका एक मूल्य बना डाला। धर्मके नामपर कत्लेआम, लूट तथा व्यभिचार मचानेमें लेशमात्र भी संकोच न करनेवाले, तथा राजनैतिक महत्वाकांक्षासे सोते हुये निरीह निःसंपर्क लाखों नागरिकोंका धर्मोंसे नृशंस वध करनेवाले राक्षसोंसे भरे हुये इस क्रूर संसारमें हिन्दू तो इस संसारके विधाताकी एक अनुपम सृष्टि है। हिन्दू तो संसारको शासनका मार्ग दिखानेवाला ध्रुव दीप है। हिन्दू तो इस संसारका चारित्रिक गुरु है। हिंदूकी इस महत्ताको तो पनपाना और प्रोत्साहित करना चाहिये था और सारे संसारको मनुष्यताका पाठ देनेके लिये इस हिंदू पाठशालाको चालू रखना चाहिये था। परन्तु संयोगवश भारतके भाग्यकी रश्मि हथिया बैठनेवाले इन लोगोंने तो हिंदूके यशस्वी सहिष्णु उदार नामको ही राज्यव्यवस्था संभालनेका अनधिकारी बना डाला है।

इन्होंने हिंदू नामको राज्यव्यवस्था संभालनेका अनधिकारी बनाकर हिन्दू विद्वेषको ही राज्यव्यवस्था संभालनेका अनधिकारी बनाकर हिन्दू विद्वेषको ही राज्य सभालनेकी योग्यता मान लिया है। हम हिन्दू राष्ट्रसे पूछना चाहते हैं कि क्या वह अपने इस राष्ट्रीय अपमानके कडवे घूंटको इसी प्रकार पीता चला जायगा? ओ हिन्दू राष्ट्र! उठ, तेरे चारों ओर इस धरतीतलपरसे तेरा नामतक मिटा डालनेके षड्यन्त्र हो रहे हैं। अब तू उठ और आत्मसुधार कर। अब तेरे उठने तथा आत्मसुधार करनेका समय आ चुका है।

जो हिन्दू अपने धार्मिक मन्तव्योंके विरोधी सम्प्रदायों तथा जातियोंको इतिहासकी आयुसे भी पहलेसे अपने अभयदानसे अनुगृहीत करता और उन्हें अपने भाग्यमें सहर्ष सम्मिलित करता चला आ रहा है। हमारे कर्णधारोंने उस हिन्दू नामको तो राज्यव्यवस्था संभालनेका अनधिकारी तथा हिन्दू विद्वेषको राज्यव्यवस्था संभालनेकी योग्यता स्वीकार करके उदारचेता हिन्दूको कौनसे ऐतिहासिक अपराधसे कलंकित किया? और कौनसे आधारसे यह मान लिया है कि हिन्दू राज्य हाथमें लेते ही अहिन्दू संसार पर चंगेजखां और औरंगजेब जैसा अत्याचार ढाने लगेगा।

आप तो अपनेको इतिहासज्ञ मानते हो, आपको तो जानना चाहिये कि हिन्दूका हिन्दुत्व ही इस बातमें है कि वह अहिंदू कहलानेवालोंको भी अपने हिंदुत्वमें सम्मिलित कर लेता है। आप हिंदूपर यह दोष लगाकर कि वह अहिंदुओं पर अत्याचार करेगा इतिहाससे अपनी बातका समर्थन नहीं करा सकते। आप हिंदूपर यह दोष मढकर अपने भीतर भरे हुये हिन्दू विद्वेषको और हिन्दूकी भाषामें कहे तो म्लेच्छपनको प्रकट कर रहे हो। आप हिंदू विद्वेषी म्लेच्छपनको अपनाकर हिन्दुस्थानकी मनुष्यतापर आक्रमण कर रहे हो।

हिंदूको चाहिये कि वह अपने जातिगत महान् आदर्शको जीवित रखनेके नामपर क्रियाशील बने। राजनीतिके संबंधमें अबतककी मूढताभरी उदासीनताको त्यागकर अपनी राष्ट्र्यवस्थाको अपने हाथों ले। यदि हिंदूसमाज अपनी राज-

नैतिक दीर्घ निद्रा त्यागकर जाग उठे और राज्यव्यवस्थाको अपने हाथोंमें लेकर अपने इस जातिगत उदार आदर्शको पुनरुज्जीवित करे तो वह न केवल भारतको प्रत्युत सारे ही संसारको हिंदुत्वके उदार आदर्शसे जगमगा सकता है।

हिन्दूका वर्तमान रोग

सहानुभूतिहीनता कहिये, असामाजिकता कहिये, या उदरम्भरिता कहिये, यही हिन्दूसमाजकी वर्तमान व्याधि है। हिन्दूसमाज अपनी इसी व्याधिके कारण अपने ही भीतरसे अपने विद्वेषी उत्पन्न करके अपनी मातृभूमिको दो टूक कर चुका है। वह अपनी हीनतासे शासनव्यवस्थामें हिन्दुत्वका स्थान दिलानेमें असफल रहा है, वह अपनी मानसिक निर्बलतासे शासनव्यवस्थामें हिन्दूविद्वेषको प्रवेशाधिकार दे चुका है। वह अपनी मानसिक निर्बलतासे शिक्षासंस्थाओंमें आसुरी शिक्षानीति प्रचलित रहने देकर भावी सन्तानके हिन्दुविद्वेषी असुर बनते रहनेका प्रबन्ध कर बैठा है। क्या आज कोई भी चक्षुष्मान व्यक्ति स्कूलकालेजोंमें पढनेवाले हिन्दू बालकबालिकाओंकी वेषभूषा, रहनसहन, आचारविचार, अपभाषण तथा अविनय देखकर उन्हें हिन्दू सन्तानके रूपमें स्वीकार कर सकता है। अनुभवी वृद्ध कह गये हैं— "अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते" जिस समाजके युवक युवती अविनीत होते हैं वह शीघ्र ही छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाता है। हिन्दू समाज अपनी सहानुभूतिहीनता या असामाजिकताके कारण समग्र राष्ट्रको आसुरीशासनकी चाटुकारिता करनेवाले नेतापनका पेशा करनेवाले लोभान्ध नेताओंकी क्रीडाभूमि बना चुका है।

आज हमारे देशके लेखकों, कवियों, व्याख्याताओं, तथा नेताओंके लेख, कविता, प्रवचन और व्याख्यान किसी न किसी बडे समझे हुए नेताकी प्रशंसा और चाटुकारिता किये विना समाप्त नहीं होते। आज हिन्दूसमाजकी हीनतासे भारतमें ईश्वरके स्थानमें नेता पूजने लगा है और उसीके जयजयकार लगने लगे हैं। आज भारतमें मानवको मानवकी चाटुकारिता सिखाई जा रही है। आजका हिन्दूसमाज अपने ग्रामसमाजोंको दिनभर आपसमें लडते रहनेवाले पार्टीबाज नराकृति बंदरोंका कोलाहलक्षेत्र बनाकर ऐसा निश्चिन्त बैठा है मानो इसका कुछ बिगड नहीं रहा है और राष्ट्रोन्नतिके समस्त काम ठीक ठीक चल रहे हैं। ओ हिन्दूसमाज! तू हमारी आंखोंसे देख तू तो अधःपतनकी अन्तिम सीमातक जा पहुंचा है। जिस तेरे सामने सर्वनाश उपस्थित है उस तेरी निश्चिन्तता सचमुच आश्चर्यकी बात है। तू अपने इस अधःपतनको आंख खोलकर देख और हमारी बताई विधिसे आत्मसुधार करके आत्मरक्षा कर।

राष्ट्रका अन्तिम उत्तरदायित्व हिन्दूपर ही है

आज सारा ही संसार राज्यलोभी होकर दूसरेके राष्ट्रपर आक्रमण कर रहा है। हो सकता है संसारका कोई राष्ट्र राज्यलोभी होकर भारतपर भी आक्रमण कर बैठे। आक्रमणके दिन प्रत्याक्रमणकी तयारी नहीं हो सकती। उसके लिये तो प्रत्येक दूरदर्शी राष्ट्रको पहलेसे ही सन्नद्ध रहनेवाला "अनागत विधाता" बनकर रहना चाहिये। तब भी आक्रमणको व्यर्थ बनाया जा सकता है। यदि हमारे राष्ट्रपर किसी परराष्ट्रका आक्रमण हुआ तो उस आक्रमणके समस्त कष्ट हिन्दूराष्ट्रको ही भोगने होंगे। हमारे देशका हिन्दूविद्वेषी भाग तो झट आक्रमकोंमें जा मिलेगा। जिसे आक्रमणके कष्ट भोगने होंगे उसीके पास विष्णुशर्माके पंचतन्त्रवाली "अनागत विधाता" मछलीकी भांति इस आक्रमणका प्रतिकार करनेका कर्तव्य है और यह उसका आजका ही कर्तव्य है। वह उसे तत्काल करना है। वृद्ध नीतिज्ञ कह गये हैं—

आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥

लेना देना और कर्तव्य तुरन्त न किये जायें तो काल इनका रस चूस लेता है। यदि वह इस कर्तव्यमें प्रमाद करेगा तो उसे निकट भविष्यमें सिर धुन धुनकर पछताना पडेगा। आज हिंदुस्थानके हिंदूके सामने आक्रामक आसुरी वृत्तिको हिंदुत्वपर आक्रमण न करने देनेके लिये अपना सुधार करनेकी समस्या आ खडी हुई है। समाजकल्याणकी ओरसे आंख मींचकर "नून तेल, मिरच" के झगडेमें उलझे रहना हिन्दूका आजकलका स्वभाव बन गया है। आजका हिन्दू नहीं समझता कि यदि सामाजिक जीवनपर संकट आ गया तो उसका व्यक्तिगत जीवन अपने आप नष्ट हो जायगा। यह सब पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल आंखोंसे देख चुका है। हिंदूके अनाक्रामक स्वभावने उसे भेड,

बकरी बना डाला है उसने हिंदू विरोधियोंको अभयदान देकर उनकी हिंदूविरोधी प्रवृत्तियोंको एक निर्विरोध क्षेत्र दे दिया है। हिंदूके अनाक्रामक स्वभावके मनुष्योचित होनेपर भी उसका प्रत्याक्रमण न करनेका स्वभाव अमनुष्योचित् आत्मघात है। हिंदूने प्रत्याक्रमण त्यागकर आत्मघात किया है। प्रत्याक्रमण तो आत्मरक्षा है। आत्मरक्षा तो जीवनका अत्याज्य स्वाभाविक अंग है। वृद्ध कह गये हैं—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फटा
विषं भवतु मा वास्तु फटाटोपो भयंकरः।
(पंचतंत्र)

सांप यदि विषप्रयोग न भी करना चाहे तो भी उसको फण फैलाकर फुंकार तो मारनी ही चाहिये। नहीं तो उसके विरोधी उसके सिरपर चढ बैठेंगे और जीना दूभर कर डालेंगे। इसलिये अब हिन्दूको सतर्क हो जाना चाहिये। यदि वह इस समय नहीं चेतेगा और आत्मसुधारमें प्रमाद करता चला जायगा, तो हम उसे संकटकी घंटी बजाकर सचेत करना चाहते हैं कि संसारकी आक्रामक आसुरी मनोवृत्ति उसके हिन्दुत्वपर अतिशीघ्र आक्रमण करेगी और उसे अहिंदू बनाकर समस्त हिन्दुत्वको डकार जायगी। हिन्दूके रक्त तथा सम्मानकी प्यासी बनी हुई हिन्दूविद्वेषी जनता, हिन्दूके प्रत्याक्रमण धर्मको न पालनेका ही परिणाम है। यह हिंदूविद्वेषी जनता हिन्दूकी ही सन्तान है। परन्तु यह इसकी भूलसे इसीकी जानकी जंजाल बन गई है।

हिन्दू जाने कि मानवका जीवन सात्विक, राजस, तामस तीनों प्रवृत्तियोंके मिश्रणसे बनता और तीनों हीसे जीवित रहता है। कोई भी प्राणी कोरी सात्विकतासे जीवित नहीं रह सकता। जीवनके लिये शेष दोनों गुण उसीके समान आवश्यक हैं। हिंदू आंख खोलकर देखें कि भेड बकरी और हिरनोंकी सात्विकता इनको पिटवानेके ही काम आती है। वह इनकी रक्षा नहीं कर सकती। आसुरी प्रकृतिके लोगोंसे न लडना हिन्दू कापुरुषोंके चरित्रका महाकलंक है। इसने हिन्दूको जितना पिटवाया है उसका कोई हिसाब किताब नहीं है।

आज हिन्दूके पास अपने चरित्रके इसी धब्बेको धोनेकी आवश्यकता आ खडी हुई है। जीवन स्वयं संग्राम है। जीवनविरोधी परिस्थितियां जीवनको खो डालना चाहती हैं। जीवनविरोधी प्रवृत्तियोंसे लडना ही जीवन है। यों मानवका जीवन स्वयं ही एक सौ बरसका संग्राम है। इस संसारका नियम ही कुछ ऐसा है कि यहां "जीवो जीवस्य भोजनम्" जीव ही जीवका भोजन है। अपनेको दूसरोंका भोजन बनने देना ही तो "जीना" है। आप जीना चाहोगे तो अनिवार्यरूपसे जीवन विरोधियोंसे लोहा लेते ही रहना पडेगा। जीवन विरोधियोंसे लडना ही "जीना" है। आप एकान्त जंगलमें चले जावें, वहां भी बिच्छू, सांप, भालू, चीते आदि घातक जन्तुओंसे जीवन बचाकर रखनेका संग्राम करना ही पडेगा। नहीं करोगे तो जीनेका अधिकार छोड देना पडेगा। जीवनकी ये अनिवार्य परिस्थितियां हिन्दूसे कह रही हैं कि जहां मनुष्यतापर आक्रमण न करना हिन्दूकी नसनसमें व्यापा हुआ सनातन स्वभाव है, वहाँ आततायीपर प्रत्याक्रमण न करना हिन्दूका आत्मघाती, कुलघाती, समाजघाती और देशघाती स्वभाव है।

हिन्दूका यह स्वभाव संसारमें मूढपनेका दूषित उदाहरण उपस्थित करके हिन्दुत्वको कलंकित कर रहा है। हिन्दू अपनी इस भूलसे आततायियोंके उत्साह (हौंसले) बढाता जा रहा है। हिन्दूका इतिहास उसकी इन्हीं भूलोंसे भरा पडा है। उसे चाहिये कि जहां वह किसीकी मनुष्यतापर आक्रमण करनेसे बचता है वहां वह किसीको अपनी मनुष्यतापर आक्रमण भी न करने दिया करे। यदि वह अपनी मनुष्यतापर आक्रमण न होने देनेकी सुदृढ व्यवस्था कर ले तो उसकी आत्मरक्षा हो जाय।

यदि हिन्दूको संसारमें सम्मान तथा शांतिके साथ जीवित रहना हो तो वह दूसरोंकी मनुष्यतापर आक्रमण न करनेवाले अपने सनातन स्वभावको अपनी मनुष्यतापर आक्रमण न करने देनेरूपी आत्मरक्षाके रूपमें बदले। किसीकी मनुष्यतापर आक्रमण न करना यह तो मनुष्यताका आधा रूप है। मनुष्यताका दूसरा आधा भाग तो यह है कि मनुष्य आततायीके ऊपर प्रत्याक्रमण करनेका पूरा प्रबन्ध करके रखे। अपनेपर किसीको आक्रमण न करने देना किसीपर आक्रमण न करने जैसा ही मनुष्यताका अनिवार्य आवश्यक अंग है। हिन्दू इसी आगमें बहुत दिनोंसे निर्बल पड गया है।

हिन्दू आध्यात्मिकतारूपी लोकोत्तर उत्तराधिकारवाला होनेपर भी व्यक्तिगतरूपमें नितान्त भोगवादी बनता चला जा रहा है। हिन्दू अपने भारतीय आदर्शसे हटता चला जा रहा है। उसे भोगवाद या पेटपूजारूपी लक्ष्यने

पथभ्रष्ट कर डाला है। हिन्दूको जानना चाहिये कि आध्यात्मिकता ही वीरताकी जननी है। आध्यात्मिकता ही हिन्दुत्वकी जन्मभूमि है। इसका स्वल्पाभास इस लेखके दूसरे वाक्यसमूहमें भारतीय तत्त्वज्ञानकी पृष्ठभूमिके रूपमें दिया जा चुका है। हिंदू जाने कि इस तत्त्वज्ञानमें मरणभय नामकी कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू अमर सनातन विश्वव्यापी आत्माकी विभूति है। वह देहके मरनेसे मरनेवाला तत्त्व नहीं है। गीता हिन्दूसे कह रही है—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतारकर नये पहन लेता है उसी प्रकार देही जीर्ण शरीर त्याग कर नये धारण कर लेता है। इस तत्त्वज्ञानके अनुसार हिन्दूको मरना नहीं है उसके तो शरीर बदले जाते हैं। यदि उसे संसारमें जीना और सम्मानके साथ जीना हो तो उसे प्रत्याक्रमणके लिये पूरा सन्नद्ध बनना पडेगा और शत्रुके प्रति क्रोध तथा उसके प्रति अक्षमाको अपना जातीय स्वभाव बनाकर रखना पडेगा। उसे जानना होगा आत्मरक्षामें प्रमाद, शत्रुके प्रति क्षमा, शत्रुसे मित्र जैसा सदय बर्ताव आदि नीति, दुर्नीति, राजनैतिक, मूढता तथा आत्महत्या है। आजका हिन्दू इन्हीं दोषोंके कारण आत्मघाती है। वह सम्मानको भूलकर "नून, तेल, मिरच" के झगडेमें बुरी तरह उलझ गया और कायर बन गया है। आजका हिंदू पिटना ही पिटना और सुकडना ही सुकडना जानता है। वह अपने इस महादोषके कारण हिंदू विद्वेषियोंके आक्रमणोंसे पराभूत ही होकर अपनी सीमायें सकोडता चला जा रहा है।

वह अपने इसी महादोषसे अपने समाजके एक चौथाई भागको हिन्दूविद्वेषी रूप ले लेनेके लिये विवश स्थितिमें डालनेकी ऐतिहासिक भूलें करके कई बार आत्मघात कर चुका है। और अभीतक अपने उस आत्मघाती स्वभावको छोडना नहीं चाहता। वह अहिंसाके झूठे चक्करमें आ गया है। उसे बुद्धकालसे अबतक अहिंसाके सम्बन्धमें बराबर बहकाया जा रहा है। उसे किसीको न मारना ही अहिंसाका रूप बताकर बहकाया जा रहा है जब कि आततायीको मारना स्पष्ट रूपसे अहिंसा है। आततायीको मारनेवाला मारनेका अपराधी नहीं बनता। उसे मारनेके लिये विवश करनेवाला आततायी ही इस मारणका कर्ता रहता है। आततायीपर आक्रमण तो अहिंसा ही है। उसपर आक्रमण करना मनुष्यतापर आक्रमण करनेवाले दुरिन्देका विरोधरूपी अहिंसा ही है। ज्ञानवृद्ध कह गये हैं—

> आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन्।

आततायीको आता देखते ही उसे आगापीछा बिना देखे मार डालना चाहिये। श्रीकृष्ण भगवानको प्रत्याक्रमण सिखाने ही के लिये संसारमें गीता आई। गीताके आदर्श हिन्दू अर्जुनको यही महासत्य समझानेकी आवश्यकता हुई थी कि आततायीपर आक्रमण करना अहिंसाधर्म है और यह मनुष्यका अनिवार्यरूपसे आवश्यक कर्तव्य है। अर्जुन भी अपने हिन्दू स्वभावसे पानी पानी होकर प्रत्याक्रमणसे भागना चाहता था। आजका हिन्दू संसार गीता गीता तो रटता है, परन्तु गीताके उस सारभूत सत्यरूपी विशेष उद्देश्यको नहीं पहचानता, जिस विशेष उद्देश्यको पूरा करनेके लिये गीता संसारमें आई। आजकी गीताकी अंधी भक्ति करनेवाला हिन्दू कान खोलकर सुने। यदि अर्जुन आततायीपर आक्रमण करनेसे न बचता और उसे आक्रमण के लिये प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता न पडती तो हिन्दूकी प्यारी गीता उसे पाठ करनेके लिये भी न मिलती।

गीता तो प्रत्याक्रमणको मानवका धर्म समझानेके लिये ही संसारमें आई। गीताका सारभूत सत्य तो यही है कि **आततायीपर आक्रमण करके आत्मरक्षा करना ही मानवधर्म है।** मनुष्य आततायीपर आक्रमण क्यों करे? यही गीताका एकमात्र प्रश्न है। सारी गीता इसी प्रश्नके उत्तररूपमें आततायीपर आक्रमण करानेवाले "तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय।" जैसे उत्तेजनात्मक आध्यात्मिक हेतुओंसे भरी पडी है। गीतामें हिन्दूका सारा तत्त्वज्ञान आततायीपर आक्रमणको वैध कर्तव्य समझानेमें ही व्यय हुआ है। गीताका समस्त तत्त्वज्ञान इसी प्रश्नके चारों ओर सजाकर रक्खा हुआ है। अपनेको गीताका भक्त कहलानेमें अभिमान अनुभव करनेवाले हिन्दूको गीताके आततायीपर आक्रमणके परामर्शको शिरोधार्य करके उसे अपने दैनिक जीवनमें प्रविष्ट करनेका सफल प्रयोग करना चाहिये। [क्रमशः]

संस्कृत-लोकोक्तियाँ

(ले० श्री पं० हरिदत्तजी शास्त्री, एम. ए., विद्याभास्कर)

४५७ पात्रेण बहुरन्ध्रेण कृतघ्नः सदृशो मतः।

अर्थ—कृतघ्नव्यक्ति अनेक छिद्रोंवाले पात्रके समान है।

प्रयोगः— राजा वचो दत्वाऽपि प्रतिनिवृत्तः, तदसौ पात्रेण०।

४५८ पापे न मोदते कश्चित्।

अर्थ— पापमें कोई सुखी नहीं रहता।

प्रयोगः— रावणोऽन्ते हतोऽभवद् यतः पापे न०।

४५९ पानेन पशुता मता।

अर्थ— शराबी मनुष्यता खो बैठता है।

प्रयोगः— यवपिष्टमयीं मदिरां पीत्वा स भूमौ लुठन्निस यतः पानेन०।

४६० पावको लोहसगेन मुद्गरैरभिहन्यते।

अर्थ— गेहूंके साथ घून पिस जाता है।

प्रयोगः— चौरस्य पुत्रस्य कृते पिता कारागारे निक्षिप्तः तदुक्तम् पावको०।

४६१ पापानुष्ठानसमा निभृतं चिन्तापि पापानाम्।

अर्थ— मनमें पापोंका विचार भी पाप करनेके समान है।

प्रयोगः— अक्ष्णा कुत्सितेन पश्यन् स हतःस्त्रिया तथा, सत्यं, पापानुष्ठान०।

४६२ प्राणरक्षार्थमभ्यवहरमाचाभ्यवहारायैव जीव।

अर्थ— खानेके लिये मरो मत।

प्रयोगः— चतुर्वेदा माथुराः सन्तानिका मोदकान् भोजं भोजं म्रियन्ते, तत्- प्राण-रक्षार्थम्०।

'प'

४६३ परकीयापवाद पापिष्ठतमः।

अर्थ— दूसरेकी बदनामी अच्छी नहीं।

प्रयोगः— आनन्दप्रकाशो निन्दापटुः परनिन्दायां रमते, अयुक्तमिदम्, परकीया०।

४६४ पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः।

अर्थ— नादान दोस्तसे दाना दुश्मन उत्तम होता है।

प्रयोगः— तस्य सर्वेऽपि मित्राणि मुहेशास्य, वरं पण्डितोऽपि०।

४६५ परान् परिभवितुं मा त्वरिष्ठाः।

अर्थ— दूसरोंको नीचा दिखानेकी चेष्टा न करो।

प्रयोगः— गुरुः शिष्यं शास्ति परान्०।

४६६ परकीय धनस्य भद्रतायाश्च श्रवणे तदर्धं विश्वसनीयम्।

अर्थ— दूसरेके धनके तथा सुजनताके विषयमें जो सुनो उसपर आधा विश्वास करो।

४६७ प्रायशो वामना वक्राः प्रकृत्यैव विनिर्मिताः।

अर्थ— बौने अक्सर ठेढे होते हैं।

प्रयोगः— शारीरदोषो मनोदोषस्यापि चिह्नम्— प्रायशो०।

४६८ प्रदत्ता येन मे चञ्चुः स मे दास्यति भोजनम्।

अर्थ— जिसने दाँत दिये हैं वही खानेको भी देगा।

प्रयोगः— भोजनचिन्तां मा कुरु, प्रदत्ता०।

४६९ प्रमत्तो यामिकः सावधानं रिपुमाह्वयति।

अर्थ— मरनेके समय चीटोंके पर जम जाते हैं।

प्रयोगः— यामिकेषु सुप्तेषु वसुदेवः कृष्णं नीतवान्, तदुक्तम् प्रमत्तो०।

४७० प्रवाहः शब्दानां प्रमेयस्यतु बिन्दुमात्रम्।

अर्थ— झूंठी हजार बातें सची एक।

प्रयोगः— विवेकिनोऽल्पं भाषन्ते, प्रवाहः०।

४७१ प्रकटयुद्धात् कपटसन्धि हनिये।

अर्थ— जाहिर लड़ाईसे कपट प्रेम उत्तम नहीं।

प्रयोगः— दर्शने मित्रं कक्षे क्षुरिकां दधत् स हानिकरः, तदुक्तम् प्रकट०।

४७२ प्रमत्तमूर्खयोः समानं परिधानम्।

अर्थ— पागल और पण्डितके ठकाठभूम नहीं होता।

प्रयोगः— ईशः सर्वान् समानरचयत्, प्रमत्त०।

४७३ प्रशंसयाऽनुचितया व्यथते हि मतः सताम्।

अर्थ— अनुचित प्रशंसासे सज्जन संकुचित होते हैं।

प्रयोगः— हरिः स्वप्रशंसावेलायां शिरोऽवनमय्य स्थितः प्रशंसया०।

४७४ प्रयोजनं विना वाक्याद् मौनमेव वरं मतम्।

अर्थ— बिना मतलबके बोलनेसे मौन रहना उत्तम है।

प्रयोगः— स मौनं बहु मनुते यतः प्रयोजनम्०।

४७५ प्रायो यत्र व्यथा तत्र नृणां पाणिः प्रसर्पति।

अर्थ— जहां दर्द होता है हाथ वहीं पडता है।

प्रयोगः— बालो वक्तुमशक्नुवन् उदरे हस्तं दधातिस्म तदुक्तम् प्रायो यत्र०।

४७६ प्रतिकाराद् वरं रोधः।

अर्थ— प्रतीकारसे, हट जाना श्रेयस्कर है।

प्रयोगः— प्रायश्चित्तं स बहु निन्दति यतः प्रति०।

४७७ प्रमत्तं यौवनमनुतापाय वार्धक्ये।

अर्थ— उजड्ड जवानीका फरज बुढापेमें भोगना पडता है।

प्रयोगः— संयतमनसो युवानो न व्यथन्ते वृद्धतायाम् यतस्ते विदन्ति यत् प्रमत्तम्०।

४७८ प्रशस्तोऽश्वो न स्खलति साध्वी स्त्री नैव खिद्यति।

अर्थ— अच्छा घोडा लंगडाता नहीं, अच्छी स्त्री संकटोंमें भी प्रसन्न रहती है।

प्रयोगः— सीता रामेण सह वनगमने न व्यथतेस्म प्रशस्तोऽश्वो न०।

४७९ प्रशास्यते मार्दवेन यथा नैव तथा रुषा।

अर्थ— प्रेमका शासन दण्डसे बढकर है।

प्रयोगः— शिक्षा शास्त्रिणः कथयन्ति प्रशास्यते०।

४८० प्रिया वाक् शस्यते सर्वैर्व्ययश्चात्र न कश्चन।

अर्थ — मीठी बोलीमें कुछ खर्च नहीं होता।

प्रयोगः— पिकः मधुरं ब्रूते प्रियावाक्०।

४८१ पिशुनः पुरुषः पुत्रैर्दारैश्चापि प्रदीयते।

अर्थ— चुगलखोरके सब छोड देते हैं—

प्रयोगः— प्रियंवराऽतीव कुटिका सर्वैः परित्यक्ता यतः पिशुनः।

४८२ प्रियवादिनो न शत्रुः।

अर्थ— मिष्टभाषीका कोई शत्रु नहीं होता—

प्रयोगः— क्षेमेन्द्रो मधुरं भणति तस्मै सर्वे स्निह्यन्ति प्रियवादिनो०।

४८३ पिशाचानां पिशाचभाषयैवोत्तरं देयम्।

अर्थ— जैसेको तैसा।

प्रयोगः— पाषाणे प्रहृते स दण्डमुक्तवान् पिशाचानाम्०।

४८४ प्रीतिः प्राक्तन पुण्यजा।

अर्थ— प्रेम पूर्व जन्मके कारण होता है।

प्रयोगः— देवः श्रियमभिलष्यति तदत्र हेतुरज्ञातरम्य। सत्यमुक्तम् प्रीतिः प्राक्तन०।

४८५ पुष्पमतीव सुन्दरं सद्यो विकासितं यदा।

अर्थ— ताजा फूल सुन्दर लगता है।

प्रयोगः— नूतन वस्तु प्रायो मनोहरति पुष्पमतीव०।

४८६ पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्—

अर्थ— भाग्य श्रमसे बनता है।

प्रयोगः— परिश्रमेणैव स समुदतरत् परीक्षोदधिम् सत्यं पुरुष०।

४८७ पुंसां प्रनष्टो विश्वासो भग्नकाच समोमतः।

अर्थ— अविश्वसनीयका फिर कभी विश्वास नहीं किया जाता।

प्रयोगः— रुद्रं न कोऽपि विश्वसिति मिथ्याभाषिणम् पुंसां प्रनष्टो०।

४८८ पूर्वजाद् गोत्र सम्प्राप्तिः ख्यातिस्त्वात्मवृताच्छुभात्।

अर्थ— वंशकी उत्तमता गोत्रसे होती है यश कर्मोंसे मिलता है।

प्रयोगः— रावण उत्तम वंशोद्भवोऽपि सर्वैर्निन्द्यतेस्म दुष्कर्मप्रवणतया। तदुक्तम् पूर्वजाद्०।

४८९ पैशुन्यं प्रायेणाहंकारान्नतु द्वेषात् प्रवर्तते।

अर्थ— चुगलखोरी द्वेषसे नहीं किन्तु अहङ्कारसे होती है।

प्रयोगः— निराकृतो मन्त्री राजानं निन्दतिस्म, यतः पैशुन्यम्०।

(फ)

४९० फलमज्जां भोक्तुमिच्छन् फलास्थि त्रोटयेन्नरः।

अर्थ—गिरी खानेके लिए नारियलको फोडना पडता है।

प्रयोगः— कष्टं विना सुखं न लभ्यते यतः फलमज्जां भोक्तुम्०।

वेद महाविद्यालय

स्वाध्यायमण्डलने "वेद महाविद्यालय" शुरू किया है, इसमें प्रवेश मिलनेके लिये कई प्रार्थनापत्र आये हैं, इस लिये सब लोगोंको सूचना देनेके लिये निवेदन किया जाता है कि, निम्नलिखित नियमोंके अनुसार ही इस वेद महाविद्यालयमें संस्कृतज्ञोंका प्रवेश हो सकेगा—

प्रवेशकी नियमावली

स्वाध्यायमण्डलके 'वेद महाविद्यालय' में प्रवेश मिलनेके लिये प्रवेशार्थीकी यह योग्यता होनी चाहिये—

१. प्रवेशार्थीको संस्कृतभाषाका ज्ञान अच्छा होना चाहिये। संस्कृतमें लिखने बोलने तथा संस्कृत टीका समझने योग्य संस्कृतकी योग्यता चाहिये।
२. संस्कृत भाषाके ज्ञानके साथ हिंदी, एक प्रांतकी भाषा, तथा अंग्रेजी इन भाषाओंका ज्ञान अच्छा रहना चाहिये।
३. देवनागरी अक्षर सुपाठ्य लिखनेका अभ्यास होना चाहिये।
४. किसी भाषामें वक्तृत्व करनेकी शक्ति चाहिये।
५. माता, पिता, पत्नी (विवाहित हो तो) आदिकी अनुमति चाहिये।
६. सपत्नीक अपनी पत्नीके साथ यहां रह सकते हैं। यह गुजरात देश है, इसलिये बालकोंको गुजरातीमें पढाई करनी पडेगी, इसका विचार करके सपत्नीक लोग यहां आवें।
७. यहां पांच वर्षोंकी पढाई है। अतः बीचमें छोडकर जाना नहीं होगा। जो अपने व्ययसे यहां रहेंगे वे बीचमें छोड कर जाना चाहें तो जा सकेंगे। परंतु जो छात्रवृत्ती यहांसे प्राप्त करके यहां रहेंगे वे बीचमें छोडकर नहीं जा सकेंगे।
८. यहांकी पढाई संस्कृतमें अथवा हिंदीमें होगी। और प्रतिदिन मंत्र, उनके अर्थ और उनके सुभाषित लिखने होंगे।
९. छात्रवृत्ती लेनेवालेका जीवन बिमा किया जायगा और वह स्वाध्यायमंडलके नामपर रहेगा। पांच वर्षोंके पश्चात् वह बिमा उसको प्राप्त होगा जिसका वह होगा। यह करना न करना छात्रके एक वर्ष यहां रहनेपर उनकी योग्यता देखकर निश्चित होगा।
१०. जो नियम भविष्यमें स्वाध्यायमंडलकी नियामक समिति बनायेगी, वे नियम भी वहां रहनेवालोंको पालन करने होंगे।

पढाईका दैनिक कार्यक्रम

जो वेद महाविद्यालयमें प्रविष्ट होंगे उनका दैनिक पढाईका कार्यक्रम इस तरह होगा—

१. प्रातःकाल ५ बजेसे ७ बजे तक शौच, मुखमार्जन, स्नान, संध्या, हवन, सामुदायिक उपासना आदि।

२. ७ बजेसे ७॥ बजे तक सूर्य नमस्कार, आसन, प्राणायाम आदि शरीर स्वास्थ्यका योगानुष्ठान।

३ ७॥ बजेसे ९ बजे तक मूल वेदपाठ ५०० मंत्रोंका प्रतिदिन करना होगा। इस तरह एक मासमें चारों वेदोंका एकवार पाठ होगा। और ५ वर्षोंमें करीब ५० वार होगा। दो तीनवार चारों वेदोंका पाठ होनेपर महत्त्वके मंत्रोंको लिखकर रखना होगा। वे मंत्र स्वयं पाठकर्ताके सामने उपस्थित होते रहेंगे।

४. ९ बजेसे ११॥ बजे तक वेदके सब भाष्य देखकर, उनकी तुलना करके वेदमंत्रोंका सरल अर्थ, उनके सुभाषित, तथा बोधप्रद, पद, वाक्य अथवा मंत्रभाग लिखने और उनको प्रकरणशः छांटने तथा प्रकरणानुसार लिखकर रखने होंगे। यह कार्य देवतानुसार मंत्रसंग्रहके अनुसार करना होगा।

५. ११॥ से १ बजे तक भोजन, तथा विश्राम अथवा वृत्तपत्र पढना। उनमें छपे धार्मिक लेखोंपर विचार।

६. दोपहरके १ बजेसे ३ बजे तक उपनिषद, गीता, मनुस्मृति, रामायण, महाभारतका पठन करना, उपनिषदोंके तत्त्वज्ञानका और कथा प्रसंगोंका अनुसंधान करना होगा। मूल कथा, उसका ऐतिहासिक संबंध, पूर्वापर संबंध, गूढार्थ होगा तो उसका विचार, वेदादि ग्रंथोंमें आये निर्देशोंके साथ उनकी तुलना आदि करना होगा।

७. ३ बजेसे ५ बजे तक वेदका अर्थ विचार, उसका आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक गूढार्थ, रहस्यार्थ, सरलार्थ आदि देखना तथा लिखना यह कार्य होगा। इसमें आचार्यजीके साथ सब पाठक एकत्र बैठेंगे और चर्चापूर्वक विचार होगा।

८ ५ से ६ बजे तक जो मुख्य बातें निश्चित होंगी उनकी नोंद करनी होगी।

९. ६ बजेसे ७ बजे तक भ्रमणादि तथा सायं संध्या आदि।

१०. ७ से ८ तक भोजनादि।

११. ८ से ९ बजे तक साधारण धर्मविषयक चर्चा आदि

१२. ९ बजेसे ५ बजे तक विश्राम निद्रा।

१३. विशेष उत्सवादिके प्रासंगिक दिनोंमें आवश्यकतानुसार इस कार्यक्रममें योग्य फेरफार होगा।

वेदोंकी पढाईका क्रम

प्रथम अथर्ववेद पढना होगा। इसका सायणभाष्य, अन्यान्य भाष्य और अनुवाद अंग्रेजी अनुवाद आदि सब देखकर मंत्रोंका अर्थ करना, मंत्रान्तर्गत सुभाषितोंको लिखना, उनके विषयवार प्रकरण बनाना और एक एक प्रकरण लिखनेके पश्चात् भूमिका आदि लिखकर सूची बनाकर मुद्रणके लिये जैसा तैयार करते हैं वैसा तैयार करके रखना होगा। इसमें किसी तरहकी उदासीनता नहीं की जायगी।

इसके पश्चात् ऋग्वेद संहिता देवतानुसार ली जायगी। इसमें भी सायण, दयानंद, आदि सब भाष्य तथा अनुवाद देखने होंगे। और सरल मंत्रार्थ लिखना होगा। उसके आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ देखकर, उनके सुभाषित, बोधवाक्य, उपदेशपरक पद और वाक्य लिखे जायंगे और उनके उचित प्रकरण बनाये जायंगे। एक देवताके मंत्रोंका प्रकरण समाप्त होनेपर भूमिका सूची आदि तैयार करके मुद्रणार्थ ग्रंथ तैयार करके रखा जायगा।

ये दो वेदोंके इस तरह प्रकरण बननेके पश्चात् सामवेद लिया जायगा। इसमें जो ७०।७५ मंत्र हैं जो इस ऋग्वेदमें नहीं मिलते उनका विचार होगा। तथा सामवेदके जो मंत्र ऋग्वेदादि अन्य वेदोंमें आये हैं, उनके वहांके प्रकरण देखकर तथा सामवेदका उपासना प्रकरण ध्यानमें रखकर सामवेदका अर्थ लिखा जायगा।

इतना होनेके पश्चात् यजुर्वेद लिया जायगा। इनके मंत्र जो अन्य वेदोंमें आये हैं उनको प्रथम देखकर इसके भाष्य अनुवाद आदि सब देखकर जितना मंत्रभाग लग सकता है उतना अर्थ, भावार्थ, रहस्यार्थ देखकर, अर्थ लिखा जायगा। इसी तरह यजुर्वेदकी कंडिकाओंमें जो अनेक मंत्र हैं उनको प्रकरणानुकूल छांटकर, तथा वाजनेयी, काण्व, मैत्रायणी, काठक, तैत्तिरीय आदि उपलब्ध यजुर्वेद संहिताओंके जो मंत्रोंके भाग हैं, उनका सब भाष्य देखकर, सरल अर्थ करके, इन मंत्रभागोंको प्रकरणानुसार विभागोंमें योग्य स्थानमें रखकर जो प्रकरण तैयार होंगे उनको यावच्छक्य भूमिका सूची आदि, लिखकर तैयार करके मुद्रणार्थ जैसा चाहिये वैसा करके रखा जायगा।

इनका मुद्रण होगा तो मुद्रण किया जायगा; पर मुद्रण न हो सका तो येही वेदकी रचनाएं आगे प्रविष्ट होनेवाले विद्यार्थीयोंके लिये अभ्यासार्थ उपयोगी होंगी। उनके श्रम बचेंगे और थोडे समयमें अधिक अध्ययन होगा। यह कोई कम काम नहीं।

इस ५ वर्षोंके समयमें कमसेकम ५० वैदिक विषयोंपर वेदमंत्रोंके आधार देकर व्याख्यान तैयार करने होंगे। जो समयानुसार छापे जायंगे जैसे इस समय तक ३० वैदिक व्याख्यान वैदिक धर्ममें छपे हैं।

इस तरह चारों वेदोंका प्रकरणानुकूल अर्थ होनेपर 'वेदोक्त मानवधर्म' क्या है इसका पता सबको लग जायगा और आज जो वेद एक बंद पुस्तकसे हैं वे सबके लिये खुले हो जायंगे और उस समय हम सबको कह सकेंगे कि, "**वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना, (उसका अर्थ जानना और प्रवचन करना, तथा तदनुसार स्वयं आचरण करना और दूसरोंसे आचरण करवाना यही) आर्योंका परमधर्म है।**" वेदानुसार आचरण करनेसे ही मनुष्यकी उच्च गति हो सकती है।

यह सब सिद्ध होनेके लिये प्रथम बडे परिश्रम करने चाहिये। ये परिश्रम करनेके लिये ही यह 'वेद महा विद्यालय' है।

वैदिक धर्मके प्रचारक

वैदिक धर्मके प्रत्येक मंत्रको जानकर हमारे प्रचारक इस देशमें और बाहरके देशोंमें वैदिक धर्मका प्रचार करेंगे। इस समय वेद न जानते और वेदको न समझते हुए प्रचार

चल रहा है उससे लाभके स्थानपर हानि हो रही है। इस-लिये हमने यह 'वेद महाविद्यालय' शुरू किया है। इसमें जो ५ वर्ष अध्ययन करेंगे, उन्होंने ५० वार चारों वेदोंका पाठ किया होगा और वेदोंके प्रत्येक मंत्रका अर्थ जाननेका, उनके उपलब्ध भाष्य देखनेका और उनपर विचार करनेका प्रयत्न किया होगा। इससे संपूर्ण वेदमंत्रोंका सत्य अर्थ आज न खुला, तो इसी मार्गसे थोडे समयमें अवश्य खुल जायगा। वेदकी ऐसी उपासना करनेसे वेद अवश्य प्रसन्न होगा और अपना अर्थ खोल देगा।

वेदसे वेदका अर्थ

वेदमंत्र ही वेदके अर्थको बताते हैं। केवल वेदका सदा मनन करना आवश्यक है। वह मनन इस तरह करनेका यत्न करना है। जब वारंवार वेदमंत्रोंका मनन होगा, तब वेदका अर्थ स्वयं वेद द्वारा प्रकट हो जायगा।

इस हेतुसे 'वेद महाविद्यालय' में स्वतंत्र रीतिसे वेदार्थका मनन करनेके सब साधन वेदाध्ययन करनेवालोंके सन्मुख रखनेका यत्न करना है। जो अच्छी तरह मनन करेंगे वे वेदकी गहराईमें अवश्य पहुंच जांयगे।

आनदाश्रम
पारडी, जि. सूरत
९।७।५६

निवेदनकर्ता
श्री. दा. सातवळेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल

हमारा संस्कृत भाषाका केन्द्र आपकी हाईस्कूलमें था, कृपया विद्यार्थियोंके हितार्थ अब पुनः शुरू कीजिये।

आप संस्कृतभाषाका महत्व जानते हैं। संस्कृतभाषा विद्यार्थियोंको आनी चाहिये, जिससे मातृभाषा हिंदी, गुजराती या मराठी जो भी हो, वह सुन्दर बन सकती है। संस्कृतके न आनेसे मातृभाषा ठीक नहीं आ सकती। बंबई सरकारकी शिक्षण आयोजनासे हायस्कूलमें जो संस्कृतका शिक्षण होता था उसमें एक वर्ष कम हो गया है। इससे विद्यार्थियोंकी संस्कृतभाषाकी प्रगतिमें बडी बाधा हुई है। इसलिये आपके हायस्कूलके विद्यार्थियोंके हितके लिये, अपने हायस्कूलमें, संस्कृतका हमारा केन्द्र पुनः शुरू करना योग्य है।

हमारे पुस्तक संस्कृतभाषाकी पढाईके लिये 'स्वयं-शिक्षक' की पद्धतिसे लिखे हैं। अत्यंत सरलसे सरल यह पद्धति है। इससे सीखनेवालोंका संस्कृतमें प्रवेश अति सरलतासे हो सकता है। इसीलिये इन पुस्तकोंका १४ बार पुनः पुनः मुद्रण करना आवश्यक हुआ है। संस्कृतभाषाकी सब कठिनता इससे दूर हो गयी है। इस कारण अखिल भारतमें हमारे ५०० से अधिक केन्द्र इस समय चल रहे हैं।

आपकी हायस्कूलमें हमारा केन्द्र कुछ समयके पूर्व था और उसके द्वारा अच्छी संख्यामें विद्यार्थी परीक्षामें बैठते थे। गत एक दो वर्षोंसे वह केन्द्र बन्द हुआ है। अतः आपसे प्रार्थना है कि आप उस केन्द्रको पुनः चालू कीजिये और जितने विद्यार्थी बैठनेवाले होंगे उतने आवेदन पत्र मंगवाइये।

परीक्षाकी ता. २२।२३।२४ सितम्बर १९५६ निश्चित की हैं और आवेदनपत्र भेजनेकी ता. ५ अगस्त १९५६ की है।

पहिले हमारी परीक्षाओंका शुल्क प्रारंभिणी १॥) प्रवेशिका २॥) और परिचय ३॥) इस प्रकार था वह कम करके प्रारंभिणी १); प्रवेशिका २), और परिचय ३) ऐसा कम किया है। हमारा उद्देश है कि इससे संस्कृत प्रचारमें अधिक सुविधा होगी।

हमारी निम्न परीक्षाओंको सरकारने मान्यता दी है यह आपको मालूम होगा—

संस्कृत साहित्यप्रवीण मेट्रिकके बराबर है।
संस्कृत साहित्यरत्न इण्टर ,,
संस्कृत साहित्याचार्य बी. ए. ,,

इस कारण आप विद्यार्थियोंके हितार्थ अपनी हायस्कूलमें हमारी संस्कृत पढाईका केन्द्र शुरू कीजिये और आपने क्या किया इसकी सूचना आप हमें देनेकी कृपा कीजिये। हम आपको हर प्रकारकी सहायता देनेको तैयार हैं।

निवेदनकर्ता
श्री. दा. सातवळेकर
अध्यक्ष– अखिल भारतीय संस्कृत प्रचार समिति
स्वाध्यायमण्डळ, आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

भारतीय संस्कृतिकी जागृतीके लिये

संस्कृत भाषाका प्रचार

आप जानते हैं कि हमारी भारतीय सभ्यता अत्यंत प्राचीन है और मानवी उन्नतिके लिये अत्यंत सहायता करनेवाली है। मध्यकालमें अंग्रेजी राज्य आया और उस राज्यमें शिक्षाकी अव्यवस्था होनेसे हमारे ही भारतीयोंके मनोंमें अपनी सभ्यताके विषयमें श्रद्धा कम होने लगी। पर हमारे भारतीय संस्कृतिके ग्रन्थ वेद-उपनिषद्-गीता-रामायण-महाभारत आदि हैं। इनका अध्ययन विश्वभरमें सर्वत्र होने लगा और उस अध्ययनसे युरोप अमेरिका आदि देशोंके विद्वानोंके मनोंमें भारतीय वैदिक संस्कृतिका महत्त्व ठीक तरहसे जम गया और वे एकमतसे हमारी भारतीय वैदिक सभ्यताकी प्रशंसा करने लगे हैं। देखिये—

डा. गोल्डस्टकर लिखते हैं— ' उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान सबसे श्रेष्ठ और अत्यंत उच्च है। '

मि. ग्रिफिथ लिखते हैं— ' ऋग्वेदमें पूर्ण स्वतन्त्रताकी उच्च तथा श्रेष्ठ भावना है। मानवोंकी परम श्रेष्ठ उन्नति इससे सिद्ध हो सकती है। '

श्रीमती आनी बिझंट लिखती है— ' वैदिक तत्त्वज्ञानसे अधिक श्रेष्ठ और अधिक उच्च तत्त्वज्ञान हिंदुओंको कोई दूसरा राष्ट्र दे नहीं सकता, पर हिंदु दूसरे देशवासियोंको अपना श्रेष्ठज्ञान दे सकते हैं। '

प्रो० मॉक्समूलर कहते हैं— ' वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं और श्रेष्ठज्ञान देनेवाले ग्रन्थ हैं। '

प्रो. हीरेन लिखते हैं— ' भारत देशके पास जैसे वेद प्राचीनतम श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं वैसे किसी दूसरे देशके पास नहीं है। '

इस तरह सैकडों युरोपीयन विद्वानोंने भारतीय सभ्यताके विषयमें अपना उच्च हार्दिक आदर, प्रकट किया है। रशिया जैसे साम्यवादी देशमें भी महाभारत, गीता, उपनिषद आदिके अनुवाद किये जा रहे हैं और इनकी भाषाओंमें ये ग्रन्थ अब प्रकाशित किये जा रहे हैं।

वेदादि ग्रन्थ हमारे हैं और ये श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं इस कारण हमारे देशमें इनका ज्ञान फैलाना चाहिये और सब भारतीयोंके घरोंमें इन श्रेष्ठ ग्रन्थोंके ज्ञानका मनन और आचरण होना चाहिये।

इस हेतुसे हमने वेद, उपनिषद् और गीता, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंके प्राचीन वैदिक परंपराके अनुसार अनुवाद किये और अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और इस वैदिक सभ्यताके स्थिर प्रचार करनेके उद्देश्यसे ' संस्कृत-भाषाका प्रचार ' हम करना चाहते हैं। संस्कृतभाषाका जितना अधिक प्रचार होगा, उतना अधिक अभ्यास हमारे देशमें हमारे धर्मग्रन्थोंका हो सकेगा और उसी प्रमाणसे हमारी संस्कृति जनतामें फैल सकेगी।

अतः आप यह समझिये कि आप हमारा संस्कृत केन्द्र चला रहे हैं, इसका अर्थ यह है कि आप भारतीय श्रेष्ठ संस्कृतिकी जागृति करनेका महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। हमारी विशाल आयोजना है उसके आप सहभागी हैं और इस योजनाकी सिद्धि करनेवाले आप हैं।

इसलिये आपसे प्रार्थना की गयी है कि आप ' गीता-पठन-मण्डल ' ग्राम ग्राममें स्थापन करें और वहां गीताकी पुरुषार्थ बोधिनी टीकाका पाठ हो। इस टीकामें ही गीताके उपदेशकी वेदमंत्रोंके साथ तुलना की है, किसी अन्य टीकामें यह तुलना नहीं दीखेगी। अन्य टीकाओंमें केवल उपनिषदोंके साथ तुलना है, परन्तु हमारी इस पुरुषार्थ बोधिनी टीकामें ही केवल वेदमन्त्रोंके उपदेशके साथ गीताके उपदेशकी तुलना की गई है। इसी तरह विश्वरूप दर्शनका ठीक भाव इसी टीकामें दर्शाया है। तथा गीताका उपदेश

मानवी व्यवहारमें किस तरह लाया जा सकता है यह इसी टीकामें पाठक देख सकते हैं। इस कारण इसी गीताका पाठ होना आवश्यक है। पाठक अन्य टीकाएं भी देखें पर इसको साथ साथ अवश्य देखें।

'गीता-मण्डल' ग्राम ग्राममें शुरू करनेका हमारा उद्देश यह है कि अपनी भारतीय वैदिक संस्कृतिका विचार ग्राम ग्राममें होता रहे। इसके पश्चात् उपनिषदोंका पाठ और वेदमन्त्रोंका मनन इन्हीं मण्डलोंमें होगा और वैदिक सभ्यता घर घरमें और हरएक मनुष्यके जीवनमें उतरेगी।

आप जो हमारा संस्कृतका केन्द्र चला रहे हैं उसका इतना महान कार्य-विस्तार है। केवल कुछ विद्यार्थियोंको संस्कृत परीक्षाके लिये बिठलाना इतना ही अल्प यह कार्य नहीं है। ग्रामके सब स्त्री-पुरुष-बडी आयुवाले क्यों न हों वे संस्कृत सीखें और वे अपने धर्मग्रन्थ स्वयं पढें। इतनी योग्यता नगरके लोगोंकी होनी चाहिये। कई केन्द्र चालक ऐसा कर रहे हैं, उन्होंने अपने स्कूलोंमें संस्कृतके वर्ग रखे हैं, इतना ही नहीं परन्तु ग्रामके स्त्री पुरुष संस्कृत पढ सकेंगे ऐसी भी आयोजना उन्होंने की है, तथा 'गीता-मण्डल' स्थापन करके गीतापाठ, उपनिषदपाठ और वेद मन्त्रका पाठ लोग करें ऐसा किया है। हम चाहते हैं कि आप इस हमारे कार्यकी यह व्यापकता समझें और उसको निभानेका प्रयत्न आपसे जितना हो सकता है उतना करें।

हमारे संस्कृत-पाठ-माला के पुस्तक ऐसी सुबोध पद्धतिसे लिखे गये हैं कि बडे प्रौढ लोग भी स्वयं, विना किसी दूसरेकी सहायताके, अभ्यास करके वेदाभ्यास करने-तक पहुंच सकते हैं।

इस कारण ग्रामके प्रौढ स्त्रीपुरुषोंमें इसका प्रचार किया जाय तो ये भी संस्कृत परीक्षाओंमें परीक्षार्थी होकर बैठ सकते हैं। और आपके केन्द्रके कार्यका अत्यन्त विस्तार हो सकता है। जैसा उक्त प्रकार विस्तार अन्य केन्द्रोंमें किया जा रहा है वैसा विस्तार आप अपने स्थानमें भी कर सकते हैं तो आप अवश्य करें और अपनी संस्कृतिका प्रचार करनेके पवित्र कार्यमें आप सहभागी हों।

परीक्षाएं तो अनेक संस्थाएं ले रहीं हैं। वैसा यह हमारा कार्य संकुचित नहीं है। भारतकी प्राचीन योग्यता भारतको पुन अतिशीघ्र प्राप्त हो ऐसा करना यह भारत राष्ट्रके उत्थानके महान कार्यका एक भाग आपको करना है। इस दृष्टिसे आप अपना संस्कृतका केन्द्र चलाइये। आप इस दृष्टिको धारण करके संस्कृत प्रचारके कार्यको हमारी पद्धतिसे ही चलाइये क्योंकि यह पद्धति विशेष ध्येय सामने रखकर ही रची है।

आपने निष्ठापूर्वक अपने क्षेत्रमें बडा कार्य किया है इसलिये श्रद्धा और विश्वाससे आपके सामने ये विचार रखे हैं। आप इनका योग्य विचार अवश्य करें।

परीक्षामें सीधा बैठना

हमारी परीक्षाएं सरकारने मान्य की हैं इसलिये जैसी हमारे ऊपर वैसी केन्द्रसंचालकोंके ऊपर भी बडी जिम्मेवारी आगयी है। हमारी परीक्षाओंका दर्जा ठीक वैसा ही उच्च हो जैसा होना चाहिये—

साहित्यप्रवीण	—	मैट्रिकके बराबर है
साहित्यरत्न	—	इन्टर ,, ,,
साहित्याचार्य	—	बी. ए. ,, ,,

यह दर्जा कायम रखना आपका कर्तव्य है। इस कारण सीधे परीक्षामें बैठनेके लिये जिस समय आप सिफारस करते हैं उस समय आप निश्चित रूपसे जान लीजिये कि यह परीक्षार्थी इस योग्यताका निश्चितरूपसे है। इस विषयमें शंकास्पद सिफारसें हमारे पास आती हैं इसलिये यह सूचना करनी पडी है। इसका विचार अवश्य कीजिये।

निवेदनकर्ता
श्री. दा. सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय मण्डल,
आनंदाश्रम, पारडी, जि. सूरत

११।७।५६

समालोचना

आयुर्वेद-विकासकी भारत सरकारके सन्मुख रखी
द्वितीय पञ्चवार्षिक योजना

योजनाकर्ता- आचार्य श्रीचरणतीर्थजी महाराज, अध्यक्ष- अखिल भारतीय आयुर्वेद संमेलन, लाहौर। प्रकाशक -रसशाला औषधालय, गोंडल, सौराष्ट्र।

यह आयुर्वेदके विकासकी योजना गोंडलकी रसशालाके संस्थापक वैद्यराज श्री चरणतीर्थजी महाराजने तैयार की और श्री केन्द्रसरकारकी आरोग्य मंत्रिणीजीके पास भेजी है। इस योजनामें आयुर्वेदका संशोधन, शिक्षण, रसायन निर्माण और रोग चिकित्सा इन सब विषयोंका विवरण उत्तम रीतिसे किया है। यह जैसी वैद्योंको देखने योग्य है, वैसी ही यह अन्य राष्ट्रनेता गण, सरकारके अधिकारी, संपादक तथा अन्य सज्जनोंको भी विचार करके देखने योग्य है।

सन् १९१५ में महात्मा गांधीजी गोंडलकी रसशालामें गये थे। उस समय इस रसशालाके संचालकोंने म० गांधीजीको मानपत्र अर्पण किया, तब महात्मा गांधीजी ऐसा बोले थे- "इस रसशालाके संचालक वैद्यराज संस्कृत भाषामें जैसे प्रवीण हैं वैसे ही आयुर्वेद शास्त्रमें भी उत्तम ज्ञानसंपन्न हैं- इनकी चलाई यह रसशाला आयुर्वेद द्वारा जनताकी बडी सेवा कर रही है। इस संस्था द्वारा प्रकाशित हुआ साहित्य जनताको बडा लाभ देनेवाला है। ... मेरे मनके अन्दर आयुर्वेदके विषयमें बडा आदर है। भारतके लाखों गांवोंमें रहनेवाले करोडों मनुष्योंका आरोग्य सुरक्षित रहनेके लिये आयुर्वेद ही उपयोगी हो सकता है। मैं इस रसशालाको और इस वैद्यराजजीको ऐसा आशीर्वाद देता हूं कि ये वैद्यराज इस रसशालासे आयुर्वेद द्वारा जनताकी सेवा करनेके लिये अच्छे समर्थ हों।"

इस तरह म० गांधीजीने इस रसशालाकी तथा इसके संचालकोंकी प्रशंसा की थी। और महात्मा गांधीजी व्यर्थ किसीकी प्रशंसा करेंगे यह संभवनीय ही नहीं है। इस रसशालाके संचालक श्री स्वामी चरणतीर्थजी महाराजने आयुर्वेद विकासकी यह योजना तैयार की है और विचारार्थ मध्यसरकारके सामने भी रखी है।

आयुर्वेद संशोधन संस्था

सांप्रतकी रासायनिक लायबोरेटरीकी पद्धतिसे आयुर्वेदके रसायनोंका पृथक्करण करके इन रसायनोंके गुणधर्म निश्चित करना, तथा यह औषध शास्त्र शुद्ध है वा नहीं इसका निर्णय करना प्रायः अशक्यप्राय ही है। उदाहरणार्थ आयुर्वेदके रसायनोंमें ग्रहणीकपाटरस अथवा पारदके संस्कार लीजिये। लायबोरेटरीकी पद्धतिसे इनका पृथक्करण करके कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। पर आयुर्वेद पद्धतिसे यदि ये रसायन तैयार किये तो ये औषध बडे गुणकारी सिद्ध होते हैं यह वैद्योंका अनुभव है। इसलिये इन आयुर्वेदीय औषधोंकी सत्यता देखनी हो तो ये रसायन शास्त्रोक्त पद्धतिसे तैयार किये जांय और उनका उपयोग रोगियोंपर किया जाय और परिणाम विचारपूर्वक देखा जाय। यही इष्ट है। अतः संशोधन करना हो तो इस पद्धतिसे ही करना चाहिये।

कायाकल्प प्रयोग

कायाकल्पके प्रयोग आयुर्वेदमें अनेकानेक कहे हैं, परंतु उनका प्रयोग आजतक किसीने किया नहीं। इसके अनेक कारण हैं। इन प्रयोगोंको करनेके लिये जो साधन लगते हैं, वे साधन यद्यपि बहुत व्ययसे होनेवाले नहीं होते, तथापि वे सब साधन इस समय सर्वत्र प्राप्त नहीं होते। उनको प्राप्त करके बर्तना इस समय कठिन हुआ है। यह कायाकल्पका संशोधन इस स्थानपर होना चाहिये। अपनी आयुर्वेद विकासकी योजनामें इस कार्यका समावेश अवश्य होना चाहिये।

आयुर्वेद विकास योजनाका ध्येय भारतीय प्रजाजन सबल, सुदृढ, प्रभावी, नीरोग, बुद्धिमान, दीर्घायु और आत्मसंयमनशील हों यह है।

हस्तलिखित ग्रंथोंका संग्रह और उनका प्रकाशन

अपने देशमें धातुवाद, कायाकल्प, नाना प्रकारके रसायन, अनेक औषध, रत्नोंका शास्त्र, कामशास्त्र, आदि अनेक उप-

युक्त शास्त्रोंके अनेक उपयोगी ग्रंथ हैं। कुछ ग्रंथ यूरोपमें गये हैं। उनके फोटो मंगवाकर वे ग्रन्थ यहां रखना चाहिये। जो ग्रन्थ यहां मिलेंगे, उनका संग्रह करना चाहिये। उनका शास्त्रीय दृष्टिसे संशोधन करके शुद्ध प्रकाशन करना चाहिये। यह बडा भारी तथा अत्यंत उपयोगी कार्य है। यह कार्य यह संस्था करे।

रसायनशाला और औषधनिर्माण

इस रसायनशालामें आयुर्वेदके औषध, रसायन, मात्रा, भस्म आदि सब शास्त्रोक्त रीतिसे बनेंगे। तथा क्षय, केन्सर, गलत्कुष्ट आदि असाध्य रोगोंकी शास्त्रानुकूल चिकित्सा इस संस्थामें की जायगी। इन असाध्य रोगोंपर उन रसायनोंका प्रयोग किया जायगा और किसका कैसा उपयोग होता है यह विचारपूर्वक किया जायगा। यह प्रयोगका कार्य यहां होता रहेगा।

औषधिद्रव्य संग्रह और वनस्पति उद्यान

ये दोनों विभाग इस स्थानपर विशेष दक्षतापूर्वक चलाये जायगे। उद्यानमें उत्तम अवस्थामें औषधियां प्राप्त होंगी और उस कारण उनका प्रभाव भी अच्छा होगा। ये दोनों विभाग महत्वके रहेंगे।

आयुर्वेद हास्पिटल

इस चिकित्सालयमें आयुर्वेदकी पद्धतिसे नाना प्रकारके रोगियोंकी चिकित्सा की जायगी। और—

आयुर्वेद विद्यालय

के अन्दर आयुर्वेदका उत्तम शिक्षण दिया जायगा। यह सब कार्य " गांधी-स्मारक-धन्वन्तरी-नगर " की वसाहत करके उसमें किया जायगा। ऐसी यह योजना है।

" गांधी-स्मारक-धन्वन्तरी-नगर " में ये सब कार्य होते रहेंगे। प्रयोगशाला, ग्रन्थभण्डार, रसायनशाला, औषधिसंग्रह, वनस्पति-उद्यान, हास्पिटल, आयुर्वेद-विद्यालय आदि आठ विभाग इसमें होंगे। प्रत्येक विभागको कमसे कम पचास लाख रु० लगेंगे- अर्थात् आठों विभागोंको मिलकर चार करोड रुपये खर्च होंगे।

संयोजक लिखते हैं कि इस आयोजनाके लिये दस करोड रुपये लगेंगे। परंतु प्रथम चार कोटी रुपये तो सरकारसे प्राप्त हों। इस पवित्र उद्देश्यसे यह योजना श्री स्वामी चरणतीर्थजी महाराजने आरोग्य मंत्रिणी श्रीमती अमृतकौर के सन्मुख रखी है। आयुर्वेदका सर्वांगीण विकासके लिये यह व्यय किसी तरह अधिक नहीं है।

लाखों छोटे छोटे ग्रामोंमें करोडों हिंदी बांधव रहते हैं। उनको रोग तो होते ही हैं। पर उनके पास जानेके लिये कोई वैद्य नहीं होता। खेडूतोंके आरोग्य रक्षणके लिये जैसे वैद्य चाहिये वैसे बडे नगरोंके लिये उत्तम धन्वन्तरी भी तैयार होने चाहिये। ये जितने तैयार होंगे उतने तो चाहिये। इस धन्वन्तरी नगरमें एक लाख चौरस एकर जमीनमें बडे विशाल प्रमाणसे ये सब कार्य शास्त्र शुद्ध रीतिसे करने हैं। इसलिये मध्य सरकारने योग्य मदद देकर यह आयुर्वेद विकासका कार्य बने ऐसा अतिशीघ्र सरकारको करना चाहिये। सरकारका यह आजका कर्तव्य ही है।

डाक्टरी विद्याके संशोधनके लिये अरबों रुपयोंका व्यय होरहा है। आयुर्वेदशास्त्र इस देशमें इस देशवासियोंके उपयोगके लिये बना और बढा है। इस उपयुक्त शास्त्रके विकासके लिये इतना व्यय किसी तरह अधिक व्यय नहीं है। इस हेतुसे इस योजनाके लिये मध्य सरकारने योग्य सहाय शीघ्रतासे करके यह आयुर्वेद विकासका कार्य शीघ्रसे शीघ्र सिद्ध हो ऐसा करना योग्य है ऐसी हमारी सरकारके पास शिफारस है।

जो वैद्य आयुर्वेदका कार्य करते हैं, आयुर्वेदके विषयमें श्रद्धा रखनेवाले जो संपादक हैं, तथा अन्य सज्जन जो अपने आयुर्वेदका उद्धार चाहते हैं वे सब इस योजनाका विचार करें। वे श्री स्वामी चरणतीर्थजी महाराज, रसशाला गोंडल सौराष्ट्र इस पतेपरसे यह योजनाकी पुस्तक मंगावें, पश्चात् इसका पठन करके अच्छी तरह मनन करें और इस कार्यके संबंधमें जो करना संभव है वह करें।

इस योजनाके पुस्तक अंग्रेजीमें तथा गुजरातीमें तैयार हैं। और मंगवानेपर वे पुस्तक मंगवानेवालोंको प्राप्त हो सकते हैं। हमारा विश्वास है कि विद्वान लोग और सरकार इस कार्यको अतिशीघ्र संपन्न करनेका यत्न करेंगे।

नीरोगितापूर्वक दीर्घायु प्राप्तिके लिये

प्रभुकी प्रार्थना

वेदमें नीरोगिताके लिये प्रार्थनाएं हैं। उन प्रार्थनाओंको हार्दिक भक्तिभावसे करनेसे लाभ होता है। यथा—

यथाभिचक्र देवाः
तथाप कृणुता पुनः ॥ अथर्व० ३।९।१

'हे देवो! जिस तरह (यह बीमारी) मेरे पास आयी थी, वैसी ही यह मेरे पाससे दूर चली जाय।' तथा—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेहि
ओजोस्योजो मयि धेहि
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ वा० यजु० १९।९

'हे प्रभो! तू तेज स्वरूप है अतः तेज मुझमें धारण कर; तू वीर्यवान है, अतः वीर्य मुझमें धारण कर; तू बलवान् है, अतः मुझमें बल स्थापन कर; तू सामर्थ्यवान् है, अतः मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर, तू उत्साहमय है, अतः मुझमें उत्साह बढा दे; तू सहन शक्तियुक्त है, अतः मुझमें सहनशक्ति स्थापन कर।' हे प्रभो! मुझमें इन शक्तियोंको स्थापन करके मुझे इन शक्तियोंसे सपन्न बना कर और अपने जीवनमें धार्मिक आचरण उत्तम रीतिसे करनेका आनन्द मुझे प्राप्त हो ऐसा कर।

तेजोऽसि शुक्रममृतम्।
आयुष्पा आयुर्मे पाहि ॥ वा० यजु० २२।१

"हे प्रभो! तू स्वभावतः तेजस्वरूप, वीर्ययुक्त तथा अमर है। इसलिये मुझे तेजोयुक्त, वीर्ययुक्त तथा दीर्घायुसे संपन्न कर। हे आयुके पालन करनेवाले प्रभो! तू मेरी आयुका पालन कर। मुझे दीर्घायु कर।" तथा और—

त्र्यंबकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बंधनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥
वा० यजु० ३।६०

"सबका पोषण करनेवाले, रोगादि शत्रुओंका नाश करनेवाले और (आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक) इन तीनों प्रकारके संरक्षण करनेवाले प्रभुकी हम सब मिलकर उपासना करते हैं। वह प्रभु मुझे मृत्युसे बचावे, जैसा परिपक्व फल बन्धसे छूटता है वैसा मैं रोगादीसे मुक्त होऊं, परन्तु अमरपनसे कदापि दूर न होऊं, अर्थात् मैं दीर्घजीवी बनूं।" और प्रभुके संरक्षणसे सुरक्षित रहूं, तथा—

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥
अथर्व. ३।११।५

"जैसे सांड गोशालामें (वेगसे प्रवेश करते हैं।) वैसे हे प्राण और अपान! तुम मुझमें वेगसे प्रवेश करके अपने जीवन धारणके कार्य मेरे शरीरमें करते रहो। जो इतर सेंकडों प्रकारके मृत्युके कारण हैं वे सब मुझसे दूर हों।" और मैं दीर्घायु बनूं।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥
अथर्व. ३।११।६

"हे प्राण और अपान! तुम दोनों यहां मेरे शरीरमें रहो और शरीरको जीवित रखनेका कार्य करो। यहांसे दूर न हो जाओ। तथा मेरे शरीरको और मेरे अंगों तथा अवयवोंको वृद्ध अवस्थातक ले चलो।"

सूचना

मनुष्य इस तरह प्रतिदिन सवेरे और शामके समयमें प्रभुकी एकनिष्ठासे, अनन्यभक्तिसे तथा प्रभुमें अविचलित श्रद्धा रखकर प्रार्थना करें तो अवश्य लाभ होगा। यदि अधिकवार कर सके तो अधिक अच्छा लाभ होगा। यदि स्वयं न कर सके, तो उसको दूसरा भक्तिमान् पुरुष श्रद्धासे सुनावे और वह सुने, तो भी अवश्य लाभ होगा।

यदि मनुष्य सोनेके पूर्व इन मन्त्रोंको पढें या सुनें, और मन्त्रार्थको मनमें धारण करके सो जाय, तो दूसरे दिन अधिक आरोग्य प्राप्त होनेका अनुभव होगा। क्योंकि इन मन्त्रोंके भाव इसके अन्तर्मनमें रहेंगे, और पुनः जागृति आनेतक इनका मनपर सुपरिणाम होता रहेगा, जो मानस चिकित्सा द्वारा नीरोगिता स्थापन करनेमें सहायक होगा।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

लोहारा

दि. ३-७-५६ को संस्कृत प्रचार समिति, लोहारा, द्वारा फरवरी सत्रके उत्तीर्ण विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र दिये गये। समारंभका अध्यक्षस्थान संस्कृत प्रेमी श्री. राघवाचार्य जेवळीकरजीने भूषित किया था। अध्यक्षजीने कहा "संस्कृत भाषा भारतकी सर्व भाषाओंकी जननी है। उसका अध्ययन हमें करना ही चाहिये। बडे बडे ज्ञान-ग्रंथका भंडार संस्कृत भाषामें उपलब्ध है। वेदशास्त्र पुराणोंसे ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है। और यही ज्ञान-धन प्राप्त करनेसे हर मनुष्यको श्रेष्ठत्व प्राप्त होता है। 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'। इसलिये संस्कृत भाषाका अध्ययन करके ज्ञानधन प्राप्त करें। ज्ञान-धनको कोई चुरा नहीं सकता उसी तरह भाई बहन या रिश्तेदारोंमें बांटा भी नहीं जा सकता।

न चोर हार्यं, नृपतेरसाध्यं।
न भ्रातृ भाग्यं, न करोति भारं॥
व्ययी कृते, वर्धते व नित्यं।
विद्याधनं, सर्वधनप्रधानं॥

ऐसा धन सबको पूर्णरूपसे अचानक प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद संस्कृत प्रेमी सज्जन श्री. हणमंतराव मास्तर, श्री. उद्धवराव कुलकर्णीजीका व्याख्यान हुआ। उद्धवरावजीने कहा कि "इतना छोटा गाँव होकर भी जब मुझे पता चला कि यहाँ संस्कृत केन्द्र चलता है यह किस तरह चलता होगा और कैसे चलाया जाता है, यह मैंने देखा। वास्तवमें श्री. ज्ञानेश्वर क्षीरसागरजी कष्ट उठाके हुए भी केन्द्र चलाते हैं। बडी सुन्दर रीतिसे इस प्रयासका लाभ उन्हें मिलता रहा है। संस्कृत क्या वस्तु है, यह आज वह बता रहे हैं। इस संस्कृत भाषासागरमें कितने ही रत्न छिपे हैं, कितना ही अगाध ज्ञान भांडार है, जो अध्ययन करेगा वही जानेगा।

अंतमें केन्द्र व्यवस्थापक श्री. ज्ञा. पां. क्षीरसागरजीने भाषाका महत्व बताया और बम्बईका अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलनका वृत्तांत कहा। आज भारतमें पांचसौ केन्द्र हैं, संस्कृत प्रेमी इसका प्रचार करके लोगोंकी भाषा बनायेंगे, केन्द्रकी ओरसे निःशुल्क वर्ग चलाए जाते हैं और परीक्षाका शुल्क कम किया गया है इसका उल्लेख करके उन्होंने आभार प्रदर्शित करते हुए कार्यक्रम समाप्त किया।

आगामी परीक्षायें

आगामी **संस्कृतभाषा परीक्षाओं** की तथा **साहित्यिक परीक्षाओं** की तारीखें निम्नप्रकारसे निश्चित की गई हैं—

१— सीधे बैठनेके लिये प्रार्थनापत्र तारीख— ३१ जुलाई १९५६ तक
२— आवेदनपत्र भरनेकी अन्तिम तारीख — ५ अगस्त १९५६ तक
३— परीक्षा दिनाङ्क— तारीख २२–२३–२४ सितम्बर १९५६

साहित्य-प्रवीण-साहित्यरत्न-साहित्याचार्य परीक्षाओंके केन्द्र

गुजरात— १ पारडी, २ नवसारी, ३ सूरत, ४ भरुच, ५ हांसोट, ६ बडौदा, ७ आणंद पा. हा., ८ महमदाबाद, ९ चांदोद, १० महेसाणा, ११ बोरसद, १२ नडियाद, १३ महेमदाबाद, १४ कडी, १५ पाटण, १६ सोनगढ, १७ मांडवी।

मध्यप्रदेश— १ यवतमाल ग. हा., २ वर्धा स. हा, ३ अमरावती नू क. शा., ४ नागपूर न. वि., ५ छिंदवाडा, ६ बुलढाणा प. हा., ७ सागर, ८ चांदा, ९ जबलपुर, १० अकोला, ११ बैतूल, १२ नन्दुरबार, १३ उमरेड न्यू. आ. हा., १४ मलकापुर म्यु. हा., १५ चिखली, १६ तुमसर, १७ खामगांव, १८ धामणगांव।

हैद्राबाद— १ मेदक, २ परभणि, ३ शहाबाद, ४ औरंगाबाद, ५ बीड, ६ निजामाबाद।

उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान आदि— १ उन्नाव, २ किशनगढ, ३ लाखेरी, ४ खरगोन, ५ मंडलेश्वर, ६ जोधपुर, ७ धार, ८ अजमेर, ९ इन्दौर, १० सेंधवा, ११ महवा, १२ भिकनगांव, १३ बडवानी।

काश्मीर— श्रीनगर, सागाम। **पंजाब—** पटियाला। **मद्रास—** मद्रास।

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

' वेद ' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा.व्य.
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३)	॥)
३	सामवेद	४)	१)
४	अथर्ववेद (समाप्त होनेसे पुनः छप रहा है।)		
५	यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
७	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१।)
८	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१।)
९	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
१०	यजुर्वेद वा० सं० पादसूची	१॥)	॥)
११	यजुर्वेदीय मैत्रायणीयमारण्यकम्	॥।)	=)
१२	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)

दैवत-संहिता

१	अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	४)	१)
२	इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	३)	॥)
३	सोम देवता मंत्रसंग्रह	२)	॥)
४	उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	१)	१)
५	पवमान सूक्तम् (मूल मात्र)	॥)	=)
६	दैवत संहिता भाग २ [छप रही है]	६)	१)
७	दैवत संहिता भाग ३	६)	१)

ये सब ग्रंथ मूल मात्र हैं।

८	अग्नि देवता— [मुंबई विश्वविद्यालयने बी. ए. ऑनर्सके लिये नियत किये मंत्रोंका अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ संग्रह]	॥)	=)

सामवेद (कौथुम शाखीयः)

१	ग्रामेगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः-आरण्यक गानात्मकः प्रथमः तथा द्वितीयो भागः	६)	१)
२	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (ऋग्वेदके तथा सामवेदके मंत्रपाठोंके साथ ६७२ से ११५२ गानपर्यंत)	१)	।)
३	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (केवल गानमात्र ६७२ से १०१६)	॥)	=)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन		१)	।)
२ मेधातिथि	,, ,,	२)	।)
३ शुनःशेप ऋषिका दर्शन		१)	।)
४ हिरण्यस्तूप	,, ,,	१)	।)
५ कण्व	,, ,,	२)	।)
६ सव्य	,, ,,	१)	।)
७ नोधा	,, ,,	१)	।)
८ पराशर	,, ,,	१)	।)
९ गोतम	,, ,,	२)	।=)
१० कुत्स	,, ,,	२)	।=)
११ त्रित	,, ,,	१॥)	।-)
१२ संवनन	,, ,,	॥)	=)
१३ हिरण्यगर्भ	,, ,,	॥)	=)
१४ नारायण	,, ,,	१)	।)
१५ बृहस्पति	,, ,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी	,, ,,	१)	।)
१७ विश्वकर्मा	,, ,,	१)	।)
१८ सप्त	,, ,,	॥)	=)
१९ वसिष्ठ	,, ,,	७)	१॥)

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय	१— श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥)	=)
अध्याय	३०— मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२)	=)
अध्याय	३२— एक ईश्वरकी उपासना	१॥)	=)
अध्याय	३६— सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१॥)	=)
अध्याय	४०— आत्मज्ञान-ईशोपनिषद्	२)	।=)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	१।)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

प्रकाशक और मुद्रक— व. श्री. सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

ॐ

वैदिक समयके
सैन्यकी शिक्षा और रचना

वैदिक समयके ऋषिकालमें सैन्य था, सेनामें वीरोंकी भरती होती थी, इन सबका मिलकर एक गणवेष था, सबके शस्त्र, अस्त्र समान थे आदिका वर्णन इसके पूर्वके व्याख्यानमें हुआ। अब देखना है कि उस सेनाकी रचना कैसी होती थी और उनको शिक्षा कैसी दी जाती थी।

पंक्तिमें सात

इन वीरोंकी पंक्तिमें — प्रत्येक पंक्तिमें सात सात सैनिक रहते थे। सैनिकोंकी पंक्ति सात सातकी होती थी, इस विषयमें ये वचन देखने योग्य हैं—

गणशो हि मरुतः। ताण्ड्य. ब्रा. १९।१४।२

मरुतो गणानां पतयः। तै. ब्रा ३।११।४।२

'ये मरुत् वीर गणशः रहते हैं, ये मरुत गणोंके पति हैं।' इस तरह वीर मरुतोंका वर्णन गणके साथ होता है। नियत संख्यामें जहां लोग रहते हैं उनको गण कहते हैं। इनकी संख्या सात यह नियत की गई है, देखिये—

सप्त हि मरुतो गणाः। श०। ब्रा. ५।४।३।१७

सप्त गणा वै मरुतः। तै. ब्रा. १।६।२।३

सप्त सप्त हि मारुता गणाः। वा. यजु. १७।८०-८५; ३९।७; श. ब्रा. ९।३।१।२५

मरुतोंका गण अर्थात् संघ सातका होता है। अर्थात् एक कतारमें सात सैनिक होते हैं। इनको उपहार दिया जाता है उस समय सात कटोरियोंमें ही दिया जाता है—

मारुतः सप्तकपालः (पुरोडाशः)।
ताण्ड्य ब्रा. २१।१०।२३; श० ब्रा० २।५।१।१२; ५।३।१।६

मरुतोंके लिये उपहार सात कटोरियोंमें दिया जाता है। क्योंकि वे सात होते हैं। एक एक वीर एक एक कटोरी लेता है और अपना पुरोडाश लेता है और खाता है। और देखिये—

शृणवत् सुदानवः त्रिसप्तासः मरुतः स्वादुसंमुदः। अथर्व. १३।१।३

सप्त मे सप्त शाकिनः। ऋ. ५।५२।१७

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयः। ऋ १।८५।१

आ वो वहन्तु सप्तयः रघुष्यदः। ऋ. १।८५।६

भेषजस्य वहत सुदानवः यूयं सखायः सप्तयः। ऋ. ८।२०।२३

"(सु-दानवः) उत्तम दान देनेवाले (त्रि-सप्तासः) तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस मरुत् वीर (स्वादु-संमुदः) प्रेमसे मीठा बर्ताव करनेवाले हमारी बात सुनें। सात गुणा सात अर्थात् एकोनपचास वीर (शाकिनः) बडे सामर्थ्यवान् हैं। ये (सप्तयः) सात सातकी कतारमें रहनेवाले वीर (जनयः न शुम्भन्ते) स्त्रियोंके समान शोभते हैं। (रघुष्यदः सप्तयः) शीघ्र गतिसे जानेवाले ये वीर आपको ले जांय। (सु-दानवः) उत्तम दान देनेवाले (सप्तयः) सात सातकी कतारोंमें रहनेवाले (सखायः) परस्पर उत्तम मित्र (भेषजस्य वहत) औषधको आपके पास पहुंचा देवें।"

इन मंत्रोंमें 'सप्त, सप्ति, सप्तयः' ये पद हैं। ये यह भाव बता रहे हैं कि ये वीर सात सातकी कतार पंक्ति रखकर आते जाते और घूमते हैं। शत्रुपर हमला करनेके समयमें भी ये सात सातकी पंक्तिमें प्रायः जाते हैं।

ये वीर मरुत् हैं। वे (मा-रुद) रोते नहीं, परंतु (मर्-उत्) मरनेतक डटकर अपना कर्तव्य पालन करते हैं।

प्रजामेंसे आये वीर

ये मरुत् प्रजामेंसे आये वीर हैं अतः इनका वर्णन इस तरह किया मिलता है—

मरुतो ह वै देवविशः। कौ. ब्रा. ७।८
विशो वै मरुतो देवविशः। तां. ब्रा. ६।१०
मरुतो वै देवानां विशः। ऐ. ब्रा. १।९
देवानां मरुतो विट्। श. ब्रा. ४।५।२।१६
विट् वै मरुतः। तै. ब्रा. १।८।३।३ ६
विशो मरुतः। श. ब्रा. २।५।२।६
कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः।
तै. ब्रा. २।४।८।७
मरुतो वै क्रीडिनः। श. ब्रा. २।५।३।२०
इन्द्रस्य वै मरुतः क्रीडिनः। गो. ब्रा. ३।२३

' मरुत् वीर देवोंके प्रजाजन हैं। वे प्रजाजन हैं पर दिव्य प्रजाजन हैं। प्रजाजन ही मरुत् वीर हैं। किसान ही ये मरुत् वीर हैं, पर वे उत्तम दान देनेवाले हैं। मरुत् वीर उत्तम खिलाडी हैं। इन्द्रके साथ खेलनेवाले ये मरुत् वीर हैं।'

इन वचनोंमें यह कहा है कि मरुत् तो वीर सैनिक हैं, पर वे दिव्य प्रजाजन हैं और वे (कीनाशाः) किसान हैं। जिनका नाश नहीं होता वे की-नाश हैं। जो अच्छा किसान, भूमिको कसनेवाला है उसका नाश नहीं होता।

इस वर्णनसे पता चलता है कि वीर मरुत् वे सैनिक (कीनाश) किसान है, वे प्रजाजन है, कृषक हैं,। प्रजाजनोंमेंसे चुनकर सैनिकोंमें भरती करके वीर सैनिक बनाये हैं। सैनिक प्रजाजनोंमेंसे ही बनते हैं, किसानोंसे ही बनते हैं। और वे ही सैनिकीय शिक्षा सिखानेपर बडे लडनेवाले वीर सैनिक बन जाते हैं। आज भी ऐसा ही हो रहा है और सदा ऐसा ही होता रहेगा।

प्रजाजन ही सैनिक होते हैं और वे सबकी सुरक्षा करते हैं। विशेषकर किसान ही सेनामें भरती होते हैं और वे ही राष्ट्रकी सुरक्षा करनेके लिये युद्धमें लडते हैं।

इन सैनिकोंकी एक एक पंक्ति ७।७ की होती है। इस विषयमें पूर्व स्थानमें पर्याप्त वचन दिये हैं।' सप्त, त्रिःसप्त, सप्त सप्त ' ऐसे पद आये हैं, पूर्व स्थानमें ये दिये हैं। सात, तीन गुणा सात और सात गुणा सात यह इनकी गिनती है। इससे सेनाकी रचना ऐसी होती है—

(पार्श्वरक्षक) <—— सैनिक ——> (पार्श्वरक्षक)

× • • • • • • • ×
× • • • • • • • ×
× • • • • • • • ×
× • • • • • • • ×
× • • • • • • • ×
× • • • • • • • ×
× • • • • • • • ×

सात सात सैनिकोंकी सात पंक्तियां यहां बनकर एक ७×७=४९ का एक गण बनता है। इनके दोनों बाजूमें एक एक पार्श्वरक्षक होता था। सात पंक्तियोंमें एक एक रक्षक रहा तो वे ७×२ = १४ पार्श्वरक्षक होते हैं। अर्थात् ४९+१४=६३ हुए। ऋग्वेदमें कहा है—

त्रिः षष्टिः त्वा मरुतो वावृधानाः।
ऋ. ८।९६।८

' तीन और साठ मरुत् वीर तुझे बढाते हैं।'

इस मंत्रपर सायनभाष्य ऐसा है—

" त्रिः त्रयः षष्टिऽयुत्तर-संख्याकाः मरुतः। ते च तैत्तिरीयके ' ईदृङ् चान्यादृङ् च। (तै. सं. ४।६।५।५) इत्यदिना नवसु गणेषु सप्त सप्त प्रतिपादिताः। तत्रादिताः सप्तगणाः संहितायामाम्नायन्ते ' स्वतवांश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ' (वा. सं. १७।७५) इति लौकिकः षष्ठो गणः। ततो ' धुनिश्च ध्वान्तश्च ' (तै. आ. ४।२४) इत्याद्यास्त्रयोऽरण्येऽनुवाक्याः। इत्थं त्रयः षष्टिसंख्याकाः। "

वा० यजु० अ० १७ मंत्र ८० से ८५ तकके मंत्रोंमें तथा १९।७ में तथा तै० सं० ४।६।५।५; तै० आ० ४।२४ इनमें इन मरुतोंके गुणबोधक नाम दिये हैं वे नाम ऐसे हैं—

मरुत् सैनिकोंके नाम

	१	२	३	४	५	६	७
१	शुक्रज्योतिः	चित्रज्योतिः	सत्यज्योतिः	ज्योतिष्मान्	शुक्रः	ऋतपः	अत्यंहः
२	ईदृक्	अन्यादृक्	संदृक्	प्रतिसंदृक्	मितः	संमितः	सभरस्
३	ऋतः	सत्यः	ध्रुवः	धरुणः	धर्ता	विधर्ता	विधारयः
४	ऋतजित्	सत्यजित्	सेनजित्	सुषेणः	अन्तिमित्रः	दूरेऽमित्रः	गणः
५	ईदृक्षासः	एतादृक्षासः	सदृक्षासः	प्रतिसदृक्षासः	सुमितासः	संमितासः	सभरसः
६	ऋतवान्	प्रघासी	सांतपनः	गृहमेधी	क्रीडी	शाकी	उज्जेषी
७	उग्रः	भीमः	ध्वान्तः	धुनिः	सासह्वान्	अभियुग्वा	विक्षिपः

ये ४९ हैं। इनमें तै० आ० ४।२४ में अधिक दिये १४ मिलानेसे ६३ होते हैं—

१	ध्वन्	ध्वनयन्	निलिम्पः	विलिम्पः	सहसह्वान्	सहमान्	सहस्वान्
२	सहीयान्	एत्यः	प्रेत्यः	ध्वान्तः	मितः	ध्वनः	धरुणः

ये करीब करीब ६३ नाम हैं जो ऊपर दिये स्थानोंमें मिलते हैं। ये नाम गुणकर्मोंसे दिये गये हैं। सब नामोंके पारिभाषिक अर्थ जानना आज कठिन तथा अशक्य है, पर जो साधारण रीतिसे समझमें आते हैं वे अर्थ नीचे देते हैं। इनके अर्थ सैनिकीय परिभाषाके अनुसार देने चाहिये। वह साहित्य आज हमारे पास नहीं है। तथापि जो अर्थ जैसे समझमें आते हैं वैसे वे दिये हैं। आगे खोज होनेपर अर्थका निश्चय विद्वान् लोग करेंगे—

वीरवाचक नामोंके कुछ अर्थ

अत्यंहाः – (अति-अंहः)– निष्पाप, पाप दूर करनेवाला,
अन्ति- मित्रः– मित्रोंको अपने पास रखनेवाला,
अन्यादृक्– दूसरेके समान दीखनेवाला,
अभियुग्वा– शत्रुपर आक्रमण करनेवाला,
ईदृक्, ईदृक्षासः, एतादृक्षासः– इस तरहका आचरण करनेवाले,
उग्रः– वीर, प्रतापी शूर,
उज्जेषी– उत्तम रीतिसे शत्रुको जीतनेवाला,
ऋतः– सरल, सच्चा, ठीक तरह रहनेवाला,
ऋतजित्– सरलतासे शत्रुको जीतनेवाला,
ऋतपाः– सत्यपालक,
एत्यः– दौडकर आनेवाला,
क्रीडी– खेलोंमें प्रवीण,
गणः– गणनीय, प्रसंशनीय,
गृहमेधी– घरके लिये यज्ञ करनेवाला,
चित्रज्योतिः– अत्यंत तेजस्वी,
ज्योतिष्मान्– ,, ,,
दूरेऽमित्रः– शत्रुको दूर रखनेवाला,
धरुणः– धारण करनेवाला,
धर्ता– ,, ,,
ध्रुवः– स्थिर, अपना स्थान न छोडनेवाला,
ध्वन्– पुकारनेवाला,
धुनिः– शत्रुको हिलानेवाला,
ध्वान्तः– अन्धेरेमें कार्य करनेवाला,
प्रघासी– जलदी खानेवाला,
प्रतिसंदृक्, प्रतिसंदृक्षासः– ठीक देखनेवाला, प्रत्येकका ठीक निरीक्षण करनेवाला,
प्रेत्यः– जलदी जानेवाला,
भीमः– भयंकर दीखनेवाला,
मितः, मितासः– नाप किया, प्रस्थापित, नापनेवाला,
विक्षिपः– फैलानेवाला, बिखुरनेवाला,
विलिंपः– तेलकी मालिश करनेवाला,
विधर्ता– विशेष धारण करनेवाला,
विधारय– ,, ,, ,,

शाकी- समर्थ, शक्तिमान्,
शुक्रः- वीर्यवान्,
शुक्रज्योतिः- बलसे तेजस्वी,
सत्यज्योतिः- सच्चाईके कारण तेजस्वी,
सत्यः- सच्चा,
सत्यजित्- सत्यसे जीतनेवाला,
सदृक्षासः- समान दर्शन जिनका है,
सभराः, सभरसः- समान रीतिसे भरणपोषण करनेवाला,
संमितः, सुमितः- अच्छी तरहसे प्रमाणबद्ध,
सहस्वान्, सहमान्, सहसह्वान्, सासह्वान्, सहीयान्- शत्रुको अच्छीतरह परास्त करनेवाला,
स्वतवान्- अपनी शक्तिसे शक्तिमान्,
सान्तपनः- शत्रुको ताप देनेवाला,
सुषेणः- उत्तम सेना जिसके पास है,
सेनजित्- सेनासे शत्रुको जीतनेवाला।

ये एक गणमें रहनेवाले वीरोंके नाम हैं। इनमें कुछ और भी होंगे, अथवा इनमें भी कई पुनरुक्त होंगे। सैनिकीय परिभाषाके अनुसार इनका ठीक ठीक अर्थ क्या है इसका निश्चय करनेका कार्य आज बडा कठिन हुआ है, क्योंकि वह सैनिकीय परिभाषा आज रही नहीं है और ये मंत्र यज्ञप्रक्रियामें किसी न किसी तरह लगा दिये गये हैं। इसलिये यह कार्य विद्वानोंके स्वाधीन करना और भविष्यकालके ऊपर छोडना ही आज हो सकता है।

यहां हमारे पास वीरोंकी सात कतारें हैं। एक एक पंक्तिमें सात वीर हैं। सात कतारोंमें ४९ वीर हुए। और प्रतिपंक्तिमें दोनों ओर एक एक रक्षक- अथवा पार्श्वरक्षक है। सात पक्तियोंके ये १४ रक्षक हुए। ४९+१४ मिलकर ६३ सैनिक एक संघमें हुए। इनके ये नाम हैं। ये नाम गुणबोधक हैं, अर्थात् ये क्या कार्य करते हैं इसका ज्ञान इनके नामोंके अर्थोंसे समझमें आ सकता है। पर सैनिकीय परिभाषासे इनके अर्थ विदित होने चाहिये।

यह ज्ञान आज किसीके पास नहीं है। तथापि एक गणके ये ६३ सैनिक वीर पृथक् पृथक् कार्य करनेवाले हैं इसमें संदेह नहीं है। इस तरह एक सेनाविभागमें आवश्यक सैनिकीय कार्योंको करनेवाले जितने चाहिये उतने सैनिक इस संघमें रखे जाते थे, अर्थात् प्रत्येक सेनाविभाग अपने कार्य निभानेकी दृष्टिसे स्वयंपूर्ण रहता था।

विभागमें सेनाकी संख्या

सैन्यके छोटे और बडे विभाग होते हैं, पर वे सब ७ की संख्यासे विभाजित होने योग्य रहते हैं। शर्ध, व्रात और गण ये तीन विभाग मुख्य हैं।

शर्धं शर्धं व एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः। अनुक्रामेम धीतिभिः॥ ऋ ५।५३।११

(एषां वः) इन तुम्हारे (शर्धं शर्धं) प्रत्येक सेनापथकके साथ (व्रातं व्रातं) सेनासमूहके साथ और (गणं गणं) सैन्यके गणके साथ (सुशस्तिभिः धीतिभिः) उत्तम अनुशासनकी धारणाके साथ हम (अनुक्रामेम) अनुक्रमसे चलते हैं।'

यहां शर्ध, व्रात और गण इन सेनाविभागोंका उल्लेख है और ये शिस्तबद्ध पद्धतिसे तथा अनुशासन शीलताके साथ चलनेके समय अनुसरने योग्य हैं ऐसा भी कहा है।

अक्षौहिणीका सैन्य ऐसा होता है- २१८७० रथ, २१८७०हाथी, ६५६१० घोडे और १०९३५० पदाति सेना मिलकर एक अक्षौहिणी सेना होती है। इसके साथ रथ, हाथी, घोडोंके साथ कई मनुष्य होते हैं। इस सेनाके नाम तथा उनकी संख्या यहां देते हैं—

	गजरथ	अश्व	पदाती
१ पत्तिः	१	३	५
२ सेनामुख	३	९	१५
३ गुल्म	९	२७	४५
४ गण	२७	८१	१३५
५ वाहिनी	८१	२४३	४०५
६ पृतना	२४३	७२९	१२१५
७ चमू	७२९	२१८७	३६४५
८ अनीकिनी	२१८७	६५६१	१०९३५
९ अक्षौहिणी	२१८७०	६५६१०	१०९३५०

पत्तिसे अनीकिनीतक तीन गुणा सेनासमूह हुआ है, अनीकिनीसे दस गुणा अक्षौहिणी है। इस संख्यामें किसी किसीकी संमतिसे न्यूनाधिक भी होता है।

अपने मरुद् वीरोंकी संख्या ७ के अनुपातसे होती है। ७×७=४९ साधारण संघगण संख्या। इसमें पार्श्वरक्षक १४ मिलानेसे ६३ होती है। ६३×७=४४१ और ४९×४९=२४०१, ६३×६३=३९६९ ऐसी संख्या इनके सैनिकोंकी होती है। इस तरह सख्या बढती है। शर्ध, व्रात और गण इनकी संख्या कौनसी है यह मन्त्रोंके प्रमाणसे निश्चित करना इस समय कठिन है। तथापि वह ७ के अनुपातसे रहेगी यह निश्चित है। अस्तु।

प्रथम ४९ अथवा ६३ का एक संघ इन वीरोंका होता है। ७।७ की सात पंक्तियां और दो बाजूके पार्श्वरक्षक। यह तो एक संघ विभाग है। इससे बढकर इसीके अनुपातसे सैनिकोंकी संख्या बढाई जा सकती है।

प्रतिबंधरहित गति

इस सेनाकी गति प्रतिबंधरहित होती है इस विषयमें एक मंत्र देखिये—

> न पर्वता न नद्यो वरन्त वो
> यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत्।
> उत द्यावापृथिवी याथना परि
> शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ ऋ ५।५५।७

'हे मरुद्वीरो ! (न पर्वता) न पर्वत और (न नद्यः) न नदियां (वः वरन्त) आपके मार्गको प्रतिबंध कर सकती है, (यत्र आचिध्वं) जहां जाना चाहते हैं (तत् गच्छथ) वहां तुम पहुंचते ही हो। तुम द्यावापृथिवीके ऊपर जहां चाहे वहां (याथन) जाते हो (शुभं यातां) शुभ स्थानको आनेके समय (रथा अनु अवृत्सत) आपके रथ आगे ही बढते हैं। उनको कोई प्रतिबंध नहीं कर सकते।'

इन सैनिकोंको जहां जानेकी इच्छा हो, जहां जानेकी आवश्यकता हो वहां वे जाते हैं। बीचमें पर्वत आगया, नदी आगयी, तालाव आगया, तो इनका मार्ग रुकता नहीं। इस प्रतिबंधको दूर करके सेनाको वहां पहुंचना ही चाहिये।

ऐसी सेनाकी गति होगी, तभी तो सेना वहां जायगी और विजय प्राप्त करेगी। अपनी सेनाकी ऐसी निष्प्रतिबंध गति होगी ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

चार प्रकारके मार्ग

सैनिकोंके चार मार्गोंका वर्णन निम्नलिखित मंत्रोंमें आगया है। वे चार मार्ग ये हैं—

> आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः।
> एतेभिर्मह्यं नामभिः यज्ञं विष्टार ओहते ॥ १० ॥
> य ऋष्वा ऋष्टि विद्युतः कवयः सन्ति वेधसः।
> तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा ॥ १३ ॥
> सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
> यमुनायामधि श्रुतं उद्राधो गव्यं मृजे
> निराधो अश्व्यं मृजे ॥ १७ ॥ ऋ. ५।५२

'(आपथय॰) सीधे मार्गसे, (विपथयः) विरुद्ध या प्रतिकूल मार्गसे तथा (अन्तस्पथा) अन्दरके गुप्त मार्गसे, विवरके गुप्त मार्गसे, और (अनुपथाः) सबके लिये अनुकूल मार्गसे (एतेभिः नामभिः) इन प्रसिद्ध मार्गोंसे जानेवाले यज्ञके पास पहुंचते हैं।'

'जो (ऋष्वा) दर्शनीय (ऋष्टि विद्युतः) शस्त्रोंके तेजसे प्रकाशित हुए (कवयः वेधसः) ज्ञानी और विद्वान् हैं, (तं मारुतं गणं) उस मरुद्वीरोंके गणोंको (नमस्या गिरा रमय) नम्रताकी वाणीसे आनंदित करो।'

'(ते शाकिनः सप्त सप्त) वे सामर्थ्यशाली सात सातोंके संघ (एकं एका शता ददुः) एक एकको सौ सौ दान देते रहे। (यमुनायां विश्रुतं) नदीके तीरपर सुप्रसिद्ध (गव्यं राधः उद्मृजे) गोधन दानमें दिया (अश्व्यं राधः निमृजे) घोडोंका धन भी दिया।'

इनमें चार प्रकारके मार्गोंका वर्णन है। ये वीर इन चारों मार्गोंसे जाते हैं और किसी भी मार्गसे इनको प्रतिबंध नहीं होता। इनमें 'अन्तः पथा' अन्दरके गुप्त विवर मार्गका जो उल्लेख है वह विशेष देखने योग्य है। भूमिके अन्दर जो विवर मार्ग होता है वह यह है। यह मार्ग बनाना भी कठिन है, सुरक्षित रखना भी कठिन है और इस मार्गसे जाना भी कठिन है।

पहाडपरसे, पृथ्वीपरसे, भूमिके अन्दरके विवर मार्गसे, नदीपरके मार्गपरसे ऐसे अनेक मार्गोंसे वीर जाते हैं। जनताका संरक्षण करनेके कार्यके लिये इनको ऐसे मार्गोंसे जाना होता है। ये जाते हैं और विजयी होते हैं।

मरुतोंके रथ

ये मरुद्वीर पैदल चलते हैं, वैसे रथोंमें बैठकर भी जाते हैं इस विषयमें निम्नस्थानमें लिखे मंत्र देखने योग्य है—

> मरुतो रथे शुभे शर्धः अभि प्र गायत। ऋ. १।३७।१

' उत्तम रथमें शोभनेवाला उनका सांघिक बल प्रशंसा करने योग्य है।' तथा और देखिये —

एषां रथाः स्थिराः सुसंस्कृताः। ऋ. १।३८।१२
वृषणश्वेन वृषप्सुना वृषनाभिना रथेन आगतं।
ऋ. ८।२०।१०
बन्धुरेषु रथेषु वः आ तस्थौ। ऋ. १।६४।९
विद्युन्मद्भिः स्वर्कैः ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः
रथेभिः आ यातं। ऋ. १।८८।१
वः रथेषु विश्वा भद्रा। ऋ. १।१६६।९
वः अक्षः चक्रा समया वि ववृते। ऋ १।१६६।९
मरुतो रथेषु अश्वान् आ युञ्जते। ऋ. २।३४।८
रथेषु तस्थुषः एतान् कथा ययुः॥ ऋ ५।५३।२
युष्माकं रथान् अनु दधे। ऋ. ५।५३।५
शुभं यातां रथा अनु अवृत्सत॥ ऋ. ५।५५।१

' (एषां रथाः) इन वीरोंके रथ (स्थिराः) स्थिर है, अर्थात् सुदृढ है और (सुसंस्कृताः) उत्तम संस्कारोंसे सुसंस्कृत हैं। जिनमें बैठनेके या युद्धके स्थान जैसे चाहिये वैसे कारीगरोंने किये हैं।'

' (वृषणश्वेन) बलवान् घोडे इनके रथोंको जोते हैं, (वृषप्सुना) बलवान् बंधन जिनमें लगे हैं और (वृष-नाभिना) बलवान् रथ नाभी जिनमें लगी है। ऐसे रथोंसे ये जाते हैं। रथ दो प्रकारके होते हैं। एकमें सेठ लोग बैठकर इधर उधर जाते हैं। ये रथ साधारण बलवान् होते हैं। दूसरे रथ सैनिकीय रथ होते हैं। ये रथ अधिक बलिष्ठ होते हैं। गढोंमेंसे जाना, ऊंचे नीचे स्थानसे जाना, युद्धस्पर्धामें टिकना चाहिये। ऐसे विशेष मजबूत ये रथ होते हैं। इन युद्धके रथोंको घोडे भी विशेष मजबूत जोते जाते हैं। ' मिलिटरी कार ' आजकल होते हैं और सादी गाडियां भी होती हैं। इन दोनोंमें जो फरक है वह बताने-के लिये ' वृषणश्व, वृषप्सु, वृषनाभी ' ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं।

(विद्युन्मद्भिः) बिजलीके समान तेजस्वी (स्वर्कैः) उत्तम प्रदीप्त (ऋष्टिमद्भिः) भाले जिनमें हैं और (अश्वपर्णैः) अश्वोंकी गतिके समान जिनकी गति है। ऐसे रथोंसे ये वीर जाते हैं। यहां ' विद्युन्मद्भिः ' इस पदसे रथ बिजलीके समान चमक रहे हैं यह भाव प्रकट हो रहा है। अत्यंत तेजस्वी रथ थे। ' स्वर्कैः ' (सु-अर्कैः) उत्तम कान्तिवाले, जिनकी चमक दमक अत्यंत है यह भाव इस पदमें है। ' ऋष्टि-मद्भिः ' इस पदसे इनके रथोंमें भाला भाला भरपूर रहते थे यह भाव प्रकट हो रहा है। ' अश्वपर्णैः ' अश्वके समान गतिमान जिन-का पंख है। यह पद विशेष गतिका भाव बता रहा है।
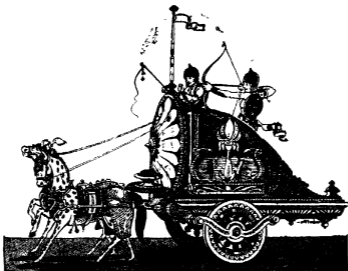
अश्वोंसे चलनेवाले रथ

अश्वपर्ण रथ
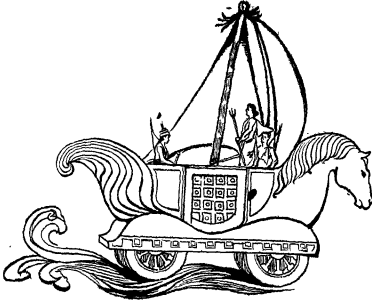
इस मंत्रमें ' अश्व-पर्णैः ' यह पद अधिक विचार करने योग्य है। अश्वके स्थानपर ' पर्ण ' जिनपर रखा है ऐसा इसका अर्थ है। रथको खींचनेके लिये अश्व अर्थात् घोडे जोतते हैं। इस स्थानपर इनके रथको खींचनेके लिये ' पर्ण ' जोडे होते हैं। ' पर्ण ' वह होता है कि जो जहाज पर लगाया जाता है और जिसमें हवा भरकर जहाज चलता है। रथ भी ऐसे होते हैं कि जो बडे विस्तीर्ण बालुकामय प्रदेशोंमें ऐसे कपडेके पर्णोंसे चलते हैं। जहाजके समान रथोंपर ये लगाये जाते हैं इनमें हवा भरती है और उसके वेगसे ये रथ चलते हैं।

सहारा वालुप्रदेशमें, राजपुतानाके वालुके प्रदेशोंमें ऐसे रथ चल सकते हैं। अन्य भूमीपर नहीं चलते। क्योंकि विस्तीर्ण वालुप्रदेशमें हवा समुद्रपर चलती है वैसी चलती है और कपडेमें हवा भरनेसे रथको वेग भी मिलता है।

मरुत् वीरोंके अनेक प्रकारके रथ थे। इनमें ऐसे भी रथ हो सकते हैं। इस विषयकी अधिक खोज होनी चाहिये।

(व. रथेषु विश्वा भद्रा) आपके रथोंमें सब प्रकारके कल्याण करनेवाले पदार्थ भरे रहते हैं। (अक्षः चक्रा) आंख और चक्र (समया विववृते) योग्य समयपर फिरने लगते हैं। ये वीर (शुभं यातां रथाः अनु अवृत्सत) शुभ कार्य करनेके लिये जाते हैं, इसलिये इनके रथोंके पीछे पीछे लोग भी जाते हैं।'

ऐसे इन वीरोंके रथ हैं। इनके रथ अनेक प्रकारके होते हैं। इनमें हिरन जोडे रथ भी थे। जैसा देखिये—

हिरन जोडे रथ

इन वीरोंके रथोंको हिरणियां तथा हिरनोंमेंसे बडे हिरन जोडे जाते थे इस विषयमें ये मंत्र देखने योग्य हैं—

ये पृषतीभिः अजायन्त। ऋ. १।३७।२
रथेषु पृषतीः अयुग्ध्वम्। ऋ. १।३९।६
एषां रथे पृषतीः। ऋ. १।८५।५; ८।७।२८
रथेषु पृषतीः अयुग्ध्वम्। ऋ. १।८५।४
पृषतीभिः पृक्षंयाथ। ऋ. २।३४।३
संमिश्ला पृषतीः अयुक्षत। ऋ. ३।२६।४

रोहित प्रष्टिः वहति। ऋ १।३९।६ । प्रष्टिः रोहितः वहति। ऋ. ८।७।२८

'पृषती' का अर्थ 'धब्बोवाली हिरनियाँ' और 'रोहितः प्रष्टिः' का अर्थ 'बडे सींगवाला विशाल हरन' इन दोनोंको रथोंके साथ जोता जाता था, ऐसा इन मंत्रोंको देखनेसे पता चलता है।

हिरनकी गाडियां बर्फानी भूमिपर ही चलती हैं। ऊंचे नीचे जमीनपर वे चल नहीं सकती। इन गाडियोंको चक्र नहीं होते इस विषयमें यह मंत्र देखिये—
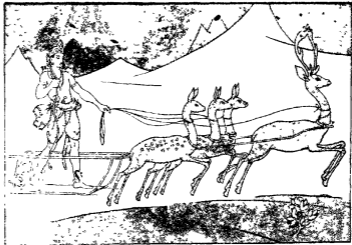
हिरनसे चलनेवाले रथ

> सुषोमे शर्यणावति आर्जीके पस्त्यावति।
> ययुः निचक्रया नरः॥ ऋ ८।७।२९

(सु-सोमे) जहां उत्तम सोम होता है, वहां शर्यणा नदीके समीप, ऋजीकके समीप चक्ररहित रथसे ये वीर जाते हैं।

जहां उत्तमसे उत्तम सोम होता है वह स्थान १६००० फूट ऊचाईपर होता है। यहां 'सु-सोम' पद है। इसलिये हलका सोम यहां नहीं कहा है।'सु-सोम' उत्तमसे उत्तम सोम जहां होता है। वहां ये वीर (नी-चक्रया) चक्ररहित गाडीसे (ययु·) जाते हैं। इतनी ऊचाईपर बर्फ होता है। ऐसे बर्फमय प्रदेशमें ये वीर हिरनियां और हिरन जोडी हुई चक्रहीन गाडियोंमेंसे जाते हैं।

आज भी बर्फमय प्रदेशमें चक्रहीन रथ जिनको अंग्रेजीमें 'स्लेज' (Sledge) कहते हैं, इन गाडियोंका उपयोग करते हैं। इनको हिरनियां तथा बडे हरिन जोते जाते हैं। ये रथ जल्दी जाते हैं और चक्र न होनेके कारण बर्फपरसे घसीटे हुए खींचे जाते हैं।

यहांतक इन वीरोंके हरिनोंके द्वारा चलाये जानेवाले रथोंका वर्णन हुआ। यह वर्णन अत्यंत स्पष्ट है इस कारण इसका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब इन वीरोंके 'अश्वरहित रथ' का वर्णन देखिये—

अश्वरहित रथ

मरुत् वीरोंका रथ और भी एक है वह अश्वरहित है। देखिये इसका वर्णन यह है—

> अनेनो वो मरुतो यामोऽस्तु
> अनश्वश्चिद् यमजत्यरथीः।
> अनवसो अनभिशू रजस्तूः
> वि रोदसी पथ्या याति साधन्॥ ऋ. ६।६६।७

'हे वीरो! आपका यह रथ (अन् एनः) बिलकुल निर्दोष है। इसको (अन्-अश्वः) घोडे जोते नहीं हैं। घोडोंके बिना ही यह रथ (अजति) दौडता है, वेगसे जाता है। (अ-रथीः) उत्तम रथी वीर इसमें न हो तो भी यह चलाया जाता है। उत्तम सारथी न होनेपर भी यह वेगसे चलता है। (अन्-अवसः) जिसको दूसरे पृष्ठरक्षककी आवश्यकता नहीं है। (अन्-अभीशुः) जिसको

अश्वरहित रथ

चलानेके लिये चाबूककी आवश्यकता नहीं है। घोडे अथवा हिरन जोते रहनेपर चाबूककी आवश्यकता रहती है। पर ये पशु जहां रहेंगे नहीं, पर जो रथ कलायन्त्रसे चलाया जाता हो उसके लिये चाबूककी आवश्यकता नहीं रहेगी।

(अन् अवसः) अवस् रक्षकका नाम है। यह रथ वेगसे चलनेके कारण स्वयं अपना रक्षण करता है। दूसरे रक्षककी आवश्यकता नहीं रहती।

(रजस्-तूः) धूली उडाता हुआ, धूलीको पीछेसे उडाता हुआ (पथ्या साधन् याति) मार्गको साधता हुआ, अर्थात् इधर उधर न जाता हुआ, सीधा मार्गका साधन करके यह रथ चलता है।

इतने विवरणसे (१) घोडोंके रथ, (२) हिरनियोंका रथ, (३) घोडे जिसमें जोते नहीं ऐसे घोडोंके विना ही वेगसे धूलि उडाते हुए चलनेवाले रथ ऐसे रथ इन वीरोंके पास थे ऐसा प्रतीत होता है। आकाशयान भी थे ऐसा दीखता है वे मन्त्र ये हैं—

ते म आहुर्य आययुः उप द्युभिर्विभिर्मदे।
नरो मर्या अरेपसः इमान् पश्यन्निति ष्टुहि॥

ऋ ५।५३।३

' वे (अरेपस. मर्याः नरः) हे निष्पाप वीर (मे) मेरे पास (द्युभिः विभिः उप आययुः) तेजस्वी पक्षी सदृश यानोंसे आकर (आहुः) कहने लगे कि (इमान् स्तुहि) इन वीरोंकी प्रशंसा कर। '

यहां ' द्युभिः विभिः ' पद है। तेजस्वी पक्षी ऐसा इनका अर्थ है। पक्षिके आकारके तेजस्वी विमान ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। ' द्युभिः विभिः उप आययुः ' ' तेजस्वी पक्षियोंसे समीप आ गये ' यह इसका सरल अर्थ है। पर पक्षियोंसे समीप आना कैसे हो सकता है। इसलिये पक्षीके आकारवाले विमानसे आना संभव है। तथा—

वयः इव मरुत. केनचित् पथा। ऋ. १।८७।२

' ये मरुत् वीर (वय. इव) पक्षियोंके समान (केन चित् पथा) किसी भी मार्गसे आते हैं। किसी मार्गसे पक्षियोंके समान आनेका वर्णन यहां है। तथा—

आ विद्युन्मद्भिः मरुतः स्वर्कैः रथेभिः यात
ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आ वर्षिष्ठया न इषा
वयः न पप्तत सुमायाः॥ ऋ. १।८८।१

(विद्युन्मद्भिः) बिजलीके समान तेजस्वी और (स्वर्कैः) चमकीले तथा (ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः) शस्त्रोंसे युक्त और अश्वोंके स्थानपर पर्ण जहां लगे हैं (रथोंसे आयात) आओ। हे (सुमायाः) उत्तम कुशल वीरो! (वयः न पप्तत) पक्षीयोंके समान आओ।

बिजलीके समान तेजस्वी रथ जिनपर अश्वकी गतिके लिये पर्ण लगाये हैं। अश्वपर्णसे ये खींचे जाते हैं, केवल अश्वोंसे नहीं।

इस तरहके संकेतोंसे कोई कह सकते हैं कि इन वीरोंके पास विमान थे। इस समय यह मंत्र देखने योग्य है—

मरुद्वीरोंके विमान

वयो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसा
अन्तान् दिवो बृहतः सानुनस्परि।
अश्वास एषामुभये यथा विदुः
स पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः। ऋ. ५।५९।७

ये वीर (वयः न) पक्षियोंके समान (श्रेणीः) श्रेणीयां बांधकर (ओजसा) वेगसे (दिवः अन्तान्) आकाशके अन्ततक तथा (बृहत. सानुनः परि) बडे बडे पर्वतोंके शिखरोंपर (परि पप्तु) उडते हैं, पहुंचते हैं। इनके (अश्वासः) घोडे पर्वतोंके टुकडे करके वहांसे (प्र अचुच्युवुः) जलको नीचे गिराते हैं।

इस मंत्रमें आकाशके अन्ततक श्रेणीयाँ पक्षियोंके समान बनाना और उडना, तथा पर्वतोंके शिखरोंपर पहुंचकर शिखरोंको तोडना यह विमानोंके बिना नहीं हो सकता। आकाशमें पक्षी पंक्तियां बांधकर घूमते हैं, वैसे ही ये वीर पंक्तियां बनाकर विमानोंमें बैठकर आकाशके अन्ततक भ्रमण करते हैं। विमानोंकी श्रेणियोंसे ही यह वर्णन सार्थ हो सकता है।

इस तरह विमान भी इन वीरोंके पास थे, ऐसा हम कह सकते हैं। पक्षियोंके समान बडे आकाशमें पंक्तियां बांधकर भ्रमण करना हो तो अनेक विमान इनके पास चाहिये इसमें संदेह नहीं है। आकाशके अन्ततक " वयः न श्रेणीः दिवः अन्तान् परिपप्तु। " पक्षियोंके समान श्रेणीयां या पक्तियां बनाकर आकाशके अन्ततक भ्रमण करते हैं। यदि यह वर्णन सत्य है तो मरुद्वीरोंकी विमानें थी और वे विमानें आकाशमें श्रेणियोंसे घूमती थी। इसमें संदेह नहीं है। इस विषयमें और प्रमाण हैं वे यहां देखने योग्य है —

यत् अक्तून् वि, अहानि वि, अन्तरिक्षं वि,
रजांसि वि अजथ, यथा नावः, दुर्गाणि वि,
मरुतो न रिष्यथ। ऋ. ५।५४।४

'जब रात्रीके समय, तथा दिनके समय, अन्तरिक्षमेंसे तथा (रजांसि) रजोलोकमेंसे नौकाओंके समान तुम जाते हो, तब कठिन प्रदेशको पार करते हैं, पर थकते नहीं हैं।'

यहां आकाशमें, अन्तरिक्षमेंसे दिनमें तथा रात्रीमें मरु-

तोंके भ्रमण करनेका उल्लेख स्पष्ट है। जिस तरह नौकासे समुद्र पार करते हैं, इस तरह ये आकाश और अन्तरिक्ष पार करते हैं यह उल्लेख स्पष्ट है। तथा—

उत अन्तरिक्षं ममिरे व्योजसा। ऋ. ५।५५।२

'(ओजसा) अपनी शक्तिसे अन्तरिक्षको घेरते हो।' यहां अन्तरिक्षको घेरना स्पष्ट लिखा है। तथा—

आ अक्षणयावानो वहन्ति अन्तरिक्षेण पततः।
ऋ. ८।७।३५

'अन्तरिक्षसे (पततः) उडनेवालोंके वाहन (अक्षणयावानः) आंखकी गतिसे जानेवाले उडा लेते हैं।' अन्तरिक्षसे उडनेवाले वाहन शीघ्र गतिसे जाते हैं। अन्तरिक्षमेंसे उडना यहां स्पष्ट है। तथा और देखिये—

आ यात मरुतो दिव आ अन्तरिक्षात् अमात् उत।
ऋ. ५।५३।८

'हे मरुद्वीरो! आकाशसे अपरिमित अन्तरिक्षसे इधर आओ।'

यहां स्पष्ट ही कहा है कि अपरिमित अन्तरिक्षसे यहां आओ। अन्तरिक्षसे आनेका अर्थ ही आकाशयानसे आना है। तथा—

श्येनानिव ध्रुजतः अन्तरिक्षे। ऋ. १।१६५।२

'श्येन पक्षीके समान तुम अन्तरिक्षमें भ्रमण करते हो।' श्येनपक्षी अन्तरिक्षमें ऊपर उडता रहता है, वैसे ये वीर अन्तरिक्षमें उडते हैं। तथा—

ये वावृधन्त पार्थिवा ये उरौ अन्तरिक्षे आ।
वृजने वा नदीनां सधस्थे वा महः दिवः॥
ऋ. ५।५२।७

'ये वीर पृथिवीपर, अन्तरिक्षमें, आकाशमें तथा नदीयोंके स्थानोंमें बढते हैं।' अर्थात् जिस तरह पृथ्वीपर ये वीरता दिखाते हैं, उसी तरह अन्तरिक्षमें भी ये वीरता दिखा सकते हैं। अन्तरिक्षमें वीरता दिखाना या अन्तरिक्षमें अपनी शक्तिसे बढना, इसका अर्थ ही यह है कि ये वीर अन्तरिक्षमें भ्रमण करते हैं और वहां शत्रुओंका पराभव कर सकते हैं।

इससे भी इनके पास सब कठिनाइयां पार करनेके यान थे। जलको पार करनेके लिये नौका है, भूमिपर भ्रमण करनेके लिये घोडेके रथ है, हिरनोंके रथ हैं तथा बिना घोडोंके चलनेवाले भी रथ हैं। आकाशमें जानेके लिये विमान हैं। इसलिये इनकी गति किसी कारण रुकती नहीं।

मरुत् वीर मनुष्य हैं

कई यहां कहेंगे कि वीर मरुत् देव है इसलिये वे जैसा चाहिये वैसा कर सकते हैं। पर ऐसा नहीं है। मरुत् वीर मनुष्य है, मर्त्य हैं ऐसा वर्णन वेदमें कई स्थानोंपर है। देखिये—

यूयं मर्तासः स्यातन यः स्तोता अमृतः स्यात्।
ऋ. १।३८।४

'आप मर्त्य हैं, आपका स्तोता अमर होता है।' आपका स्तोतृगान करनेवाला स्तोत्रपाठ करनेसे अमर बनता है।

वीर मरुत्

रुद्रस्य मर्याः दिवः जज्ञिरे। ऋ. १।६४।२

'रुद्रके ये मर्त्यवीर द्युलोकसे जन्मे हैं।' ये मर्त्य हैं, पर दिव्य वीर है। तथा—

मरुतः सगणाः मानुषासः। अथर्व० ७।७७।३

मरुतः विश्वकृष्टयः। ऋ. ३।२६।५

'ये मरुत् वीर अपने गणोंके साथ सबके सब मनुष्य ही हैं। ये मरुत् वीर सब कृषि कर्म करनेवाले कृषक (किसान) हैं।' अर्थात् किसानोंमेंसे ये भरती हुए हैं। तथा—

गृहमेधासः आ गत मरुत। ऋ ७।५९।१०

'ये मरुत् वीर गृहस्थी हैं।' अर्थात् ये वीर विवाह करके गृहस्थी बने हैं। इनके गृहस्थी होनेके विषयमें एक दो वेदमंत्र यहां देखने योग्य हैं—

युवानः निमिश्लां पत्नीं युवतिं शुभे अस्थापयन्त। ऋ. १।१६७।६

(युवानः) ये तरुण वीर (निमिश्लां) सहवासमें रहनेवाली (पत्नीं) बलवती (युवतिं) तरुणी पत्नीको (शुभे) शुभ यज्ञकर्ममें रखते हैं। अपनी पत्नी उत्तम यज्ञकर्म करती रहे ऐसा वे करते हैं। तथा—

स्थिरा चित् वृषमनाः अहंयुः सुभागा जनीः वहते। ऋ १।१६७।७

'(स्थिरा चित्) घरमें स्थिर रहनेवाली, (वृषमना) बलवान् मनवाली (अहंयुः) अपने विषयमें अभिमान धारण करनेवाली (सु-भागाः) सौभाग्यवाली (जनीः वहते) स्त्री गर्भको धारण करती है।' अर्थात् ये वीर गृहस्थ होते हैं, घरमें इनकी स्त्रियां रहती हैं, वह स्त्रियां उत्तम सौभाग्यवती, उत्तम मनवाली, पतिपर अनुरक्त रहनेवाली ऐसी उत्तम रहती हैं। और ये वीर इधर वीरताके कार्य करते हैं। इनके वीरत्वयुक्त कर्मोंको सुनकर उनकी पत्नियां घरमें आनन्द प्रसन्न रहती हैं। और पतिपर प्रेम करती रहती हैं। अर्थात् ये वीर गृहस्थी होते हैं, प्रजापर प्रेम करनेवाले रहते हैं, मातृभूमिपर प्रेम करते हैं। क्योंकि पत्नी और घरमें पुत्र उत्पन्न होनेके कारण उनमें प्रेमका अंकुर विकसित हुआ होता है।

गणका सेनामें महत्त्व

वीर मरुतोंकी सेनामें गणोंका महत्त्व विशेष था। गण गिने हुए या चुने हुए सैनिकोंका नाम था। गणोंमें शामील करनेके समय उनमें विशेष शौर्य, धैर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण प्रकट होना आवश्यक था। ऐसे श्रेष्ठ वीर गणोंमें लिये जाते थे। इन गणोंके विषयमें ऐसे वर्णन वेदके मंत्रोंमें आते हैं—

त्रायतां मरुतां गणः। ऋ. १०।१३७।५

मरुत् वीरोंका गण हमारा संरक्षण करे। इस गणका कर्तव्य होता था कि वह प्रजाजनोंका संरक्षण करे। इस कर्तव्य पालनके लिये मरुतोंके गणोंको सदा सर्वदा तैयार ही रहना पडता था। किस समय कोई कार्य करना पडे तो सूचना आते ही ये गण उस कार्यको करनेके लिये सिद्ध और दक्ष रहते थे।

मारुतो हि मरुतां गणः। वा० य० १८।४५; काठ० १८।७५

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः। अ० १३।४।८

'मरुतोंका गण वायुवेगसे चलता है। यह मरुतोंका गण छिकेमें बैठा जैसा चलता है।' छिकेमें बैठे मनुष्य जैसे छिकेके साथ जाते हैं वैसे ये मरुद्वीर अपने गणोंके साथ जाते हैं। प्रत्येककी गति अपनी अपनी पृथक् पृथक् नहीं होती परंतु गणके साथ होती है। जहां गण जाता है वहां प्रत्येक जाता है। गणके सब सैनिक छिकेमें बंधे जैसे रहते हैं। उनकी पृथक् सत्ता ही नहीं रहती। ये बिखरे नहीं रहते परंतु सबमें संघटित रहते हैं। इस कारण इनकी विलक्षण शक्ति बढी चढी रहती है। यदि ये छिकेमें बंधे जैसे नहीं रहेंगे तो इनमें यह विलक्षण शक्ति नहीं रहेगी।

मरुतो गणानां पतयः। तै० ३।११।४।२

'मरुत् वीर गणोंके स्वामी हैं।' गणशः ही ये रहते हैं। कहीं कार्यके लिये जाना होतो ये गणशः ही जाते हैं। इस कारण सदा सर्वदा ये संघसे संघटित ही रहते हैं। यह बल इनका रहता है इस कारण इनका शत्रुपरका आक्रमण बडा प्रभावशाली होता है। व्यक्तिशः आक्रमण कितना भी हुआ तो भी वह संघशः आक्रमणके समान प्रभावी नहीं होगा। इस कारण सर्वत्र मरुत् सैनिकोंकी प्रशंसा होती है।

मरुतो मा गणैरवन्तु। अ० १९।४५।१०

'मरुत् वीर गणोंके साथ आकर मेरी सुरक्षा करें।' किसी भी मंत्रने अकेला अकेला वीर आवे और मेरा संरक्षण करे ऐसा नहीं कहा है, परंतु 'गणैः अवन्तु' गणोंके साथ

आकर संरक्षणका कार्य करें ऐसा ही कहा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इनका संघ ही विशेष प्रभावशाली होता है। इस कारण संरक्षण कार्यके लिये मरुतोंके गणोंको ही बुलाया जाता है।

गणश एव मरुतस्तर्पयति। काठ० २१।३६
गणशो हि मरुतः। ताण्ड्य० १९।१४।२

मरुत् वीर गणके साथ ही अपना संरक्षणका कार्य करते हैं। मरुतोंको तृप्ति करनेके लिये भी जिस समय बुलाते हैं, उस समय संघशः ही उनको बुलाते हैं और संघशः ही उनको खानेपीनेके लिये अन्न और रस अर्पण करते हैं। किसी समय अकेले अकेलेको बुलाकर उसको खानपान देकर उसका पृथक् पृथक् सत्कार किया ऐसा कभी होता ही नहीं। उनको अन्न देना हो, पीनेके लिये रस देना हो तो सब समयोंमें उनको बुलाना हो तो संघमें ही बुलाना, बिठलाना हो तो संघमें ही बिठलाना, और खानपान अर्पण करना हो तो संघशः ही अर्पण करना होता है।

अर्थात् उनका रहनसहन जीवन संघशः ही होता है। अतः कहा है—

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युम्। ऋ. १।३८।१५
तं ऋषे मारुतं गणं नमस्य। ऋ ५।६२।१३
शर्धन्तमा गणं मरुतां अव ह्वये। ऋ. ५।५६।१
त्वेषं गणं तवसं खादिहस्तं वन्दस्व। ऋ. ५।५८।२
मारुतं गणं वृषणं हुए। ऋ. ८।९४।१२
व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभि' ओज ईमहे।
ऋ. ३।२६।६
व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः अनुक्रामेम।
ऋ. ५।५३।११
प्र साकमुक्ष अर्चत गणाय। ऋ. ७।५८।१

इन मंत्रोंमें मरुतोंकी सेवा लोकोंने संघशः ही करनी चाहिये ऐसा कहा है। एक एककी पृथक् पृथक् पूजा होने लगी तो एक एकका अहंकार बढेगा और संघशक्ति कम होगी। इसलिये उनका सत्कार संघशः ही हो ऐसा स्पष्ट कहा है। यह महत्त्वकी बात है और यह संघटना करनेवालोंको अवश्य ध्यानमें धारण करने योग्य है—

'उत्साही कार्यकर्ता मरुतोंके गणोंको वन्दन कर। हे ऋषे! तू मरुतोंके संघको ही- गणको ही- वन्दन कर। मैं पराक्रम करनेवाले मरुतोंके संघको ही बुलाता हूं। उत्साही बलवान् आभूषणोंको हाथमें डालकर कार्य करनेवाले मरुतोंके संघको प्रणाम कर। मरुतोंके बलशाली संघको मैं बुलाता हूं। प्रत्येक गणके, प्रत्येक समूहके उत्तम प्रशस्तियोंसे हम बल प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। क्रमशः प्रत्येक गणको और संघको हम प्रशंसाके स्तोत्रोंसे प्रशंसित करना चाहते हैं। गणोंको संघशः साथ साथ ही सुपूजित कर।'

इन मन्त्रोंके वर्णनोंसे यह स्पष्ट होता है कि मरुतोंका सत्कार संघशः ही करना चाहिये, न कि व्यक्तिशः। इसका कारण भी स्पष्ट है। जनता सैनिकोंकी व्यक्तिशः प्रशंसा करने लगी तो उनकी संघटना टूट जानेकी संभावना होगी। इस भयको दूर करनेके लिये वेदमें ऐसी आज्ञाएं हैं।

गण, शर्ध और व्रात ये मरुत् वीरोंके सघोंके

मरुतोंका गण

नाम हैं। इनमें सैनिकोंकी संख्यासे ये बनते हैं। शर्धके विषयमें वेदमंत्रोंमें ऐसा वर्णन आया है—

तं वः शर्धं मारुतं सुम्नयु॒ गिरा। ऋ० २।३०।११

'आपका वह संघ वाणीद्वारा प्रशंसा योग्य है।' अर्थात् प्रशंसा करने योग्य कार्य आपके सैनिकीय सघद्वारा होता है।

तं वः शर्धं रथानाम्। ऋ. ५।५३।१०

'आपका रथोंका संघ है।' पदाती सैनिकोंका संघ होता है वैसा रथोंवाली सेनाका भी संघ होता है। इस तरह पदाति सैनिक, रथी सैनिक, घुडसवार सैनिक, वैमानिक सैनिक ऐसे अनेक संघ मरुतोंकी सेनामें होते हैं।

तं वः शर्धं रथेशुभं त्वेषं आहुवे। ऋ. ५।५६।९

'तुम्हारा वह रथोंमें शोभनेवाला बलवान् संघ है, उसको मैं बुलाता हूं।' यहां रथमें शोभनेवाले संघका वर्णन है।

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे।
ऋ. १।३७।४

'आपके शूर तेजस्वी बलवान् संघके लिये हम सन्मान अर्पण करते हैं।' तथा—

वृष्णे शर्धाय सुमखाय वेधसे सुवृक्तिं भर।
ऋ. १।६४।१

'बलवान् उत्तम पूजनीय, विशेष श्रेष्ठ कर्म करनेवाले वीरोंके संघकी प्रशंसा कर।' और देखिये—

प्र शर्धाय मारुताय स्वभानवे पर्वतच्युते अर्चत।
ऋ ५।५४।१

प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे मन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे। ऋ ५।८७।१

'मरुतोंके अत्यंत तेजस्वी पर्वतोंको भी हिलानेवाले संघका सत्कार करो।'

'अत्यंत पूज्य, उत्तम सुन्दर आभूषण शरीरपर धारण करनेवाले, बलवान्, आनन्दसे इष्ट कार्य करनेवाले, शत्रुको उखाडनेवाले, अतिबलवान् मरुतोंके संघका स्वागत करो।'

इन मन्त्रोंमें ये मरुत् वीरोंके संघ क्या करते हैं, इनका बल कैसा होता है आदि बहुत बातें मननीय हैं। तथा और—

या शर्धाय मारुताय स्वभानवे श्रवः अमृत्यु धुक्षत।
ऋ. ६।४८।१२

दिवः शर्धाय शुचयः मनीषा उग्रा अस्पृध्रन्।
ऋ. ६।६६।११

'मरुत् वीरोंके तेजस्वी संघके लिये अक्षय धन दे दो। वीरोंके संघके लिये उग्र वीरताको प्रसवनेवाले शुद्ध स्तोत्र चलते रहें।'

इन वीरोंके काव्य शुद्ध होते हैं, वीर्य बढानेवाले हैं, तेजस्विताका संवर्धन करनेवाले हैं इस कारण वे काव्य गाने योग्य हैं। जो ये काव्य या स्तोत्र गायेंगे वे उस वीर्य-शौर्यादि गुणोंसे युक्त होंगे। और देखिये—

धृष्णे शर्धाय मारुताय भरध्वं हव्या
वृष प्रयाव्णे॥ ऋ ८।२०।९

'जिनका आक्रमण बलशाली होता है उस वीरोंके संघके लिये अन्न भरपूर दे दो।' तथा और भी देखो—

उग्रं व ओजः स्थिरा शवांसि। अध मरुद्भिः गणः तुविष्मान्। शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः॥
ऋ० ७।५६।७-८

'हे वीरो! आपका बल बडा प्रखर है, आपके बल उत्तम स्थिर हैं। और मरुत वीरोंका संघ बडा बलशाली है। आपका बल निर्मल है, मन शत्रुपर क्रोध करनेवाले हैं। आपके आक्रमणका वेग मननशील मुनिके समान विचारसे होता है, आपके शत्रुपर आक्रमण ऐसे निर्दोष होते हैं।'

ये वीर शत्रुपर वेगसे आक्रमण करते हैं तथापि इनमें शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य होनेपर भी वे अविचारसे आक्रमण नहीं करते, परन्तु ऋषिमुनिके समान वे विचार-पूर्वक जो करना है वह करते हैं, उनमें शत्रुपर क्रोध है, शत्रुका नाश करनेकी इच्छा है, पर अविचार नहीं है। इस कारण इन वीरोंको यश प्राप्त होता है। इस कारण इन वीरोंका आदर होना चाहिये। तथा—

क्रीळं वः शर्धो मारुतं अनर्वाणं रथे शुभम्।
कण्वा अभि प्र गायत॥ १॥
ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः।
अजायत स्वभानवः॥ २॥ ऋ० १।३७।१-२

'क्रीडा-मर्दानी खेल खेलनेमें कुशल, आपसमें झगडा न करनेवाले, रथमें शोभनेवाले, मरुत् वीरोंके संघका है

कण्वो ! वर्णन करो। जो धब्बोंवाली हरिणोंको अपने रथोंको जोतते हैं, कुल्हाडे, भाले आदि वीरोंके योग्य शस्त्र धारण करनेवाले, तथा अपने अलकारोंसे शोभनेवाले तेजस्वी वीर हैं इनका वर्णन करो।' तथा—

शर्धो मारुतं उत् छंस। सत्यशवसम्।

ऋ० ५।५२।८

अभ्राजि शर्धो मरुतो यत् अर्णसम्।
मोषत वृक्षं कपना इव वेधसः॥ ऋ० ५।५४।६

'सत्य पराक्रम करनेवाले वीरोंके बलकी प्रशंसा कर। वीरोंका संघ चमक उठा है। जैसा वायु बडे सागवानके वृक्षको उखाडता है वैसे ये वीर शत्रुको उखाडकर फेंकते हैं इस कारण इन वीरोंका यह संघ प्रशंसा करने योग्य है।'

मरुतोंका सांघिक बल इस तरह वेदमन्त्रोंमें वर्णित है। शत्रुका संपूर्ण नाश करनेमें यह संघ प्रवीण है, इनमें आपसमें झगडे नहीं होते, पर्वतोंको भी ये उखाडकर फेंक देते हैं और वहीं सीधा मार्ग करते हैं। इनके सामने प्रबल शत्रु भी ठहर नहीं सकता।

इनके वर्णनोंमें विशेषतः यह है कि ये संघमें रहते हैं इस कारण इनका सत्कार संघमें ही करना चाहिये। इनके संघोंके नाम 'गण, व्रात और शर्ध' ये हैं। इनके अनेक मन्त्रोंमें वर्णन यहांतक किये हैं। इससे इनके प्रबल संघटनको कल्पना पाठकोंको आ सकती है। इससे यही बोध लेना है।

वीरोंके आक्रमण

वीरोंकी अनुशासनयुक्त संघव्यवस्था हमने देखी, उनके रथ, वाहन, उनकी सेनाकी व्यवस्था हमने देखी। इतनी तैयारी होनेके पश्चात् अब हम इनकी आक्रमणशक्ति कैसी थी यह देखेंगे। इस विषयमें ये मन्त्र देखने योग्य हैं—

आ ये रजांसि तविषीभिरव्यत
प्र व एवासः स्वयतासो अध्रजन्।
भयन्ते विश्वा भुवनानि हर्म्या
चित्रो वो यामः प्रयतास्वृष्टिषु॥ ऋ० १।१६६।४

(ये) जो तुम वीर (तविषीभिः) अपनी सामर्थ्योंसे (रजांसि आ अव्यत) लोकोंका संरक्षण करते हो (वः एवासः) तुम्हारे वेगके आक्रमण (स्वयतासः) अपने संयमपूर्वक (प्र अध्रजन्) शत्रुपर वेगसे होते हैं। तब (प्रयतासु ऋष्टिषु) अपने शस्त्रास्त्र संभालकर जो (वः यामः चित्रः) आपका आक्रमण विलक्षणसा होता है उसको देखकर (विश्वा भुवनानि) सब भुवन और (हर्म्या) बडे महल भी (भयन्ते) भयभीत होते हैं।' ऐसे भयकर आक्रमण इन वीरोंके होते हैं। इनके ये शत्रुपर हुए हमले देखकर सबको भय लगता है तथा—

चित्रो वोऽस्तु यामः चित्र ऊती सुदानवः।
मरुतो अ-हि-भानवः। ऋ. १।१७२।१

'हे उत्तम दान देनेवाले मरुद्वीरो! (अ-हि-भानवः) आपका तेज कम नहीं होता और (वः यामः चित्रः) आपका शत्रुपर होनेवाला आक्रमण बडा विलक्षण भयंकर होता है।' तथा—

चित्रं यद्वो मरुतो याम चेकिते। ऋ. २।३४।१०

'आप मरुद्वीरोंका आक्रमण अर्थात् शत्रुपर होनेवाला हमला बहुत ही विलक्षण प्रभावशाली होता है।' शत्रुपर इनका हमला हुआ तो उसको पलटा देना असंभव होता है। कोई शत्रु तुम्हारे इस हमलेको सह नहीं सकता। तथा और देखिये—

नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे।
जिहीत पर्वतो गिरिः॥ ७॥
येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वा इव विश्पतिः।
भिया यामेषु रेजते॥ ८॥ ऋ. १।३७।७-८

'(वः उग्राय मन्यवे यामाय) आपके उग्र क्रोधसे होनेवाले आक्रमणके लिये डरकर (मानुषः) मनुष्य (नि दध्रे) आश्रयमें जाकर रहता है, पर उससे पर्वत और पहाड भी कांपने लगते हैं॥ ७॥ जिनके (यामेषु अज्मेषु) आक्रमणोंके समय (जुजुर्वान् विश्पतिः) क्षीण निर्बल राजाके समान पृथिवी भी (भिया रेजते) भयसे कांपती है॥ ८॥

इस तरह इन वीरोंके हमले भयंकर होते हैं जिनको देखकर डरकर सब भयभीत होते हैं, कांपते हैं, आसरा ढूंढकर वहां जाते हैं, पृथिवी, पहाड और पर्वत कांपते हैं, फिर बाकी निर्बल मानव घबरा गये तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? और देखिये—

वः यामेषु भूमिः रेजते। ऋ. ८।२०।५

वः यामः गिरिः नियेमे। ऋ. ८।७।५

वः यामाय मानुषा अबीभयन्त। ऋ. १।३९।६

'आपका आक्रमण होनेपर पृथ्वी कांपती है, आपके आक्रमणसे पर्वत भी स्तब्ध होते हैं। आपके आक्रमणके लिये सब मनुष्य भयभीत होते हैं।' तथा—

दीर्घं पृथु यामभिः प्रच्यावयन्ति। ऋ. १।३७।११

यत् यामं अचिध्वं पर्वताः नि अहासत।

ऋ. ८।७।२

'आपके हमलोंसे आप बडे तथा सुदृढ विशाल शत्रुको भी हिला देते हैं। आप जब अपना हमला चढाते हैं उस समय पर्वत भी कांपते हैं।'

इस तरह इन वीरोंका आक्रमण शत्रुपर होता है जो प्रखर और विशेष ही प्रभावी होता है। इस निबंधमें निम्न लिखित बातें सिद्ध हो चुकी हैं—

१ वीरोंकी सेनामें सात सात वीरोंकी एक एक पंक्ति होती थी। ऐसी सात पंक्तियोंका एक पथक होता था।

२ ये वीर प्रजाजनोंमेंसे भरती होते थे।

३ सात सातकी एक पंक्ति ऐसी सात पंक्तियां, मिलकर ४९ वीर और सात पंक्तियोंके दो दो पार्श्वरक्षक मिलकर १४ अर्थात् ये ६३ वीर होते थे।

४ ये ६३ वीर मिलकर अनेक कार्य करनेवाले वीरोंका समूह होता था। इसलिये यह पथक स्वावलंबी होता था।

५ विभागशः सेनाकी संख्या पत्ती, गण, पृतना आदि नामोंसे पृथक् पृथक् होती थी।

६ इन वीरोंकी गति निष्प्रतिबंध होती थी।

७ इन वीरोंके चार प्रकारके मार्ग थे। आपथ, विपथ, अन्तःपथ और अनुपथ ये नाम उन मार्गोंके थे।

८ मरुतोंके रथ अनेक प्रकारके थे, अश्वरथ, हिरन रथ, अश्वरहित रथ, आकाश संचारी रथ, अश्वपर्ण रथ, आकाशमें विमानोंकी पंक्तियां करके इनका संचार होता था।

९ ये रथ, दिनमें, रात्रीमें, अन्धेरेमें संचार कर सकते थे।

१० इन रथोंकी गति प्रतिबंधरहित होती थी।

११ मरुद्वीर मनुष्य ही थे। इनको देवत्व उनके शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुआ था।

१२ मरुद्वीर गृहस्थी होते थे।

१३ इन वीरोंके आक्रमण भयंकर और सबको भयभीत करनेवाले होते थे।

ये बातें इस निबंधमें बतायी हैं।

होने चाहिये, वे श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा ही हो सकते हैं। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंके पास ही श्रेष्ठ धन प्राप्त होने चाहिये।

१३ पुरूणि बहुधा वसूनि वसुता अश्याम् (६।१।१३)- बहुत धन प्राप्त करके हम धनी बनें।

९० सूरिभ्यः सु-रत्नं रास्व (६।४।८)- ज्ञानियोंके लिये सुखकर धन दे।

निवास स्थान

निवास स्थान कैसा होना चाहिये इस विषयमें वेदमंत्रोंका कथन इस तरह है—

३६ अवृके अन्तः क्षेषि (६।४।४)- हिंसारहित सुरक्षित स्थानमें रहता है। 'अ-वृक' का अर्थ 'अ-कुटिल, हिंसारहित, क्रूरतारहित' ऐसा है। ऐसे निर्भय स्थानमें रहना चाहिये।

१०८ वनस्पतौ सुषित-(६।१५।२)-औषधि वनस्पतियोंमें सुरक्षित रहे, चारों ओर वृक्षवनस्पतियां, उद्यान, बाग, उपवन हों और उसमें रहना योग्य है। अग्निके अर्थमें वनस्पतिका अर्थ लकडी है। नेताके पक्षमें वृक्ष-वनस्पति-उपवन अर्थ है।

१४१ यत्र क च ते मनः, तत्र उत्तरं दक्षं दधसे सदः कृणवसे (६।१६।१७)- जहां कहां तेरा मन लगता है वहां तू अधिक बल धारण करता है और बड़ा घर करके रहता है।

जहां मन लगता है, वहां अपना बल बढाना और अपना घर बनाकर वहां रहना योग्य है। बल चाहिये, बल अपनेमें न रहा तो अपना घर अपने आधीन नहीं रहेगा। इसलिये इस मंत्रमें प्रथम बल बढानेका उपदेश है और पश्चात् घर बनानेका निर्देश है।

७५ तमसि तस्थिवांसं त्वां विश्वे देवाः अनमस्यन् (६।९।७)- अन्धकारमें रहनेवाले तुझको सब देव प्रणाम करते हैं। अन्धकारमें रहा तो भी वह प्रकाशता है और वहां उजाला करता है। इसलिये सब ज्ञानी उसको प्रणाम करते हैं। इसी तरह नेता अज्ञानी लोगोंमें जाय, वहां रहे, उनमें ज्ञानका प्रकाश करे और अपने ज्ञानसे सब श्रेष्ठोंको अपनी ओर आकर्षित करे।

५ त्वं मनुष्याणां सदं इत् मातापिता भूः (६।१।५)- तू मनुष्योंका घरके समान और मातापिताके समान हो।

२४ नृन् सुक्षितिं स्वस्ति धाहि (६।२।११)- मनुष्यों को उत्तम घर तथा उत्तम कल्याण प्राप्त हो।

३६ अन्नसद्वा जनुषा अज्म अन्नं चक्रे (६।४।४)- खानेके स्थानमें बैठनेवाला स्वभावसे अपने लिये घर तथा अन्न करता है।

यज्ञ

यज्ञके विषयमें अग्निके मन्त्रोंमें विशेष कहा है, उदाहरणार्थ यहां थोडासा बताते हैं—

१९ त्वेषः शुक्रः धूमः दिवि आततः ऋण्वति (६।२।६) तेजस्वी शुभ्र धूवां अन्तरिक्षमें विस्तीर्ण होता हुआ फैलता है। यह [illegible]का वर्णन है। ऊपर उच्च स्थानमें यज्ञाग्निका धूवा जाता है।

७७ अग्निभिः इधानः मनुष्यः (६।१०।२)- अग्नियोंसे अग्निको प्रदीप्त करके उसमें मनुष्य यजन करता है।

१७३ अग्निं देवासः इन्धते (६।१६।४८)- अग्निको देव प्रज्वलित करते हैं। यज्ञके लिये अग्निको जलाते हैं और उसमें हवन करते हैं।

२३ अध्वरीयतां विशां दमे होता वेषि (६।२।१०)- यज्ञ करनेवाली प्रजाके घरमें अथवा यज्ञस्थानमें तू होता बनकर रहता है।

६ विक्षु प्रिय होता (६।१।६)- प्रजाजनोंमें प्रिय होता है। प्रजाजनोंमें प्रिय होकर यज्ञ करता है।

५६ यज्ञानां नाभिः यज्ञस्य केतुः (६।७।२)- यह यज्ञोंका केन्द्र है, यह यज्ञोंका ध्वज है। अग्नि ही यज्ञका केन्द्र और ध्वज है।

७६ विभावा जातवेदाः स्वध्वरा करति (६।१०।१) तेजस्वी अग्नि ही उत्तम यज्ञको सफल करता है।

८३ मर्त्येषु अन्त विद्था होता (६।११।२)- मानवोंमें जो ज्ञानी हो वही होता बने।

११० अध्वरस्य होता (६।१५।१४)- हिंसारहित यज्ञका होता यह है।

११६ मानुषे जने विश्वेषां देवानां होता देवेभिः हितः (६।१६।१)- मानवोंके बीचमें तू सब यज्ञोंका संपादक करके देवोंने नियत किया है।

११७ सः नः अध्वरे मन्द्राभिः जिह्वाभिः महः देवान् आवक्षि यक्षि च (६।१६।२)- वह तू हमारे

यज्ञमें आनन्द देनेवाली वाणियोंके साथ महान् तेजस्वी देवताओंको बुलाता है और उनके लिये यजन भी करता है।

१३९ अथर्वणः पुत्रः दध्यङ् ऋषि तं ईधे (६।१६।१४) अथर्वाके पुत्र दध्यङ् ऋषिने उस अग्निको प्रदीप्त किया। प्रथम उत्पन्न किया।

१५९ विपन्यया आहुतः समिद्धः (६।१६।३४)- स्तोत्रोंके साथ हवन करके प्रदीप्त किया अग्नि है।

नेता

नेता कैसा होना चाहिये इस विषयमें अग्निके मंत्रोंमें बहुत अच्छा वर्णन है, क्योंकि 'अग्नि' पद ही 'अग्रणी' का वाचक है और अग्रणी नेता ही होता है। इसलिये नेताके विषयके निर्देश अब देखिये—

५ तरणिः (६।१।३)- दुःखसे तारण करनेवाला, स्वयं जो तैरकर पार होता है।

५ त्राता- तारक, रक्षक; ११ तरुत्रः (६।१।८)- तारनेवाला,

३ जागृवान् बहुभिः वसव्यैः (६।१।३)- जागनेवाला, बहुत धनोंसे युक्त, धनसंपन्न होते हुए जागनेवाला,

५ मनुष्याणां पिता माता सदं इत् (६।१।५)- सदा मनुष्योंके साथ माता पितावत् बर्ताव करनेवाला,

८४ मन्द्रतमः (६।१।२)- अत्यंत आनंददायक,

६ मन्द्रः (६।१।६)- आनंद देनेवाला, ५४ चन्द्रः (६।६।७)- आल्हाद बढानेवाला,

७ विशः दिव अनयः (६।१।७)- प्रजाजनोंको दिव्य स्थानको पहुंचाता है, सुखमय स्थानतक पहुंचाता है।

८ चर्षणीनां प्रतिषणिः (६।१।८)- प्रजाओंके समीप जानेवाला, समीप जाकर उनके दुःखको दूर करनेका विचार करनेवाला,

८ शश्वतीनां विशां विश्पतिः (६।१।८)- शाश्वत प्रजाजनोंका पालक, रक्षक, पोषणकर्ता,

२३ विश्पतिः (६।२।१०)- प्रजापालक,

९७ सत्पतिः (६।१३।३)- उत्तम प्रतिपालक,

११४ पायुः (६।१५।८) पालन करनेवाला,

६३ व्रतपाः- (६।८।२)- उत्तम कर्मोंका पालनकर्ता।

ये विशेषण पालन करनेके गुणोंका वर्णन करते हैं। नेतामें ये गुण अवश्य चाहिये।

४१ अध्रुक् (६।५।१)- द्रोह न करनेवाला, प्रजाओंका द्रोह न करनेवाला।

९१ अद्रोघः (६।१२।३)- द्रोह न करनेवाला।

११३ अद्रुहः (६।१५।७)- घातपात न करनेवाला,

४९ पुरुतमः (६।६।२)- जो अत्यंत श्रेष्ठ अथवा महान् है,

५४ चित्रः (६।६।७)- जो विलक्षण आश्चर्यकारक है,

१४ त्वं श्रवः न पुष्टिं पुष्यसि (६।२।१)- तू अन्नके समान पुष्टि करता है, बढाता है, वृद्धि करता है।

५५ वैश्वानर (६।७।१)- सबका नेता है, सबका चालक है।

५७ वैश्वानरः राजा (६।७।२), ६३ अजरः राजा (६।८।५)- विश्वका नेता और प्रकाशक, जरारहित राजा यह है।

५१ सम्राट् (६।७।१)- तेजस्वी, साम्राज्यका शासक,

६१ सुक्रतुः (६।७।७)- उत्तम कर्म करनेवाला,

५६ महान् आहावः (६।७।२)- बडा आश्रय, सबको आश्रय देनेवाला,

५६ अध्वराणां रथ्यः (६।७।२) हिंसारहित कर्म करनेवाला, उन कर्मोंका संचालक।

१०७ उषर्बुध् (६।१५।१)- उषःकालमें जागनेवाला,

१०८ अद्भुतः (६।१५।२)- यह अद्भुत शक्तिसे युक्त है,

१०९ अवृकः (६।१५।३)- क्रूरतारहित,

११४ जागृविः (६।१५।८)- जाग्रत रहनेवाला,

११९ ऋतावा (६।१५।१३) सत्यपालक,

९७ ऋतजातः (६।१३।३) सत्यपालनके लिये जन्मा हुआ।

९५ सुभगः- (६।१३।१)- भाग्यवान,

१११ मघवा (६।१५।१५)- धनवान्।

११३ ध्रुवः (६।१५।७)- स्थिर।

१६७ प्रियः गृहपतिः (६।१६।४२)- प्रिय, घरका पालन करनेवाला,

१७० भारतः (६।१६।४५)- भरणपोषण करनेवाला, भारत देशवासी।

१७३ अग्रियः (६।१६।४८)- अग्रेसर, मुख्य, अग्रगामी।

ये नेताके गुण अग्निके वर्णनमें आये हैं। इनका मनन करनेसे नेता किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये इसका पता लग सकता है।

श्रेष्ठ मनुष्योंके गुणधर्म

भरद्वाज ऋषिके अग्नि मंत्रोंमें श्रेष्ठ मनुष्योंके गुणोंका निर्देश है वह वर्णन अब देखिये—

१ देवयन्तः नरः (६।१।२)- देव बननेकी इच्छा करनेवाले लोग। देवों जैसा आचरण करनेवाले लोग। ये श्रेष्ठ लोग कहलाते हैं। वेदोंमें देवोंका जो वर्णन है वह वर्णन देखकर मनुष्य वे गुणधर्म अपनेमें ढालनेका प्रयत्न करे और देवोंके शुभ गुणोंसे युक्त बने।

३ जागृवांस रयिं अनुग्मन् (६।१।३)- जागनेवाले नेता लोग धन प्राप्त करते हैं। जो जागते नहीं अर्थात् जो दक्ष नहीं रहते वे धन नहीं प्राप्त कर सकते।

२ महः राये चितयन्तः त्वा अनुग्मन् (६।१।२)- बडे धनकी प्राप्तिके लिये ज्ञानी होकर तेरा अनुसरण करते हैं। प्रथम ज्ञानी बनना और पश्चात् देवत्वका अनुसरण करना चाहिये।

१५ अवृकः रजस्तू विश्वचर्षणिः वाजी त्वां याति (६।२।२)- हिंसारहित कर्म करनेवाला, लोगोंका तारण करनेवाला, सर्वद्रष्टा बलवान् वीर तेरे पास आता है। मनुष्य क्रूर न बने, तारक बने, सब ज्ञान प्राप्त करे, बलवान् बने और देवताके पास जावे, उसके समान बने।

१५१ मर्तः सुवृक्ति आ अनाश (६।१६।२६)- मनुष्य उत्तम भाषण करनेवाला तुम्हारे पास आ जाय। मनुष्य उत्तम काव्य करे और गाये।

७ सुध्यः सुम्नायवः देवयन्तः वयं त्वा ईमहे (६।१०।७)- उत्तम बुद्धिवान, उत्तम मनवाले, देवत्वका विकास अपने अन्दर करनेवाले हम तेरी भक्ति करते हैं।

७ विशः दिवः अनयः— वह प्रजाओंको स्वर्गको पहुंचाता है।

इस तरह मनुष्य उन्नत हों।

मनुष्य तेजस्वी हो

२५ देवयुः ते उरु ज्योतिः नशते (६।३।१)- देवत्व प्राप्त करनेका इच्छुक तेरा महान् तेज प्राप्त करता है। जो देवत्व प्राप्त करना चाहता है वह अपने अन्दर महान् तेज धारण करे।

११५ तिग्मेन तेजसा नः संशिशाधि (६।१५।१९)- अपने तीक्ष्ण तेजसे हमें सुतीक्ष्ण कर। हमारे अन्दर उत्तम तेज बढे ऐसा कर।

१३३ तव संदृशं प्रयाक्षि (६।१६।८)- तेरा सुंदर तेज मुझे दे। मैं तुम्हारे तेजसे तेजस्वी बनूगा। यही देवत्व प्राप्ती है।

अन्न और बल

४७ वाजयन्तः वाजं अभि अश्याम (६।५।७)- हम बलकी इच्छा करनेवाले बलको प्राप्त करें। ' वाज. ' का अर्थ अन्न, बल बढानेवाला अन्न और बल ऐसा होता है। हमें बल चाहिये, अतः बल बढानेवाला अन्न चाहिये। ऐसा अन्न प्राप्त करके हम बलवान बनें।

यश

४ श्रवस्यवः अमृक्तं श्रवः आपत् (६।१।४)- यशकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले अपराजित यश प्राप्त करते है। कभी कभी ऐसा होता है कि यश तो मिलता है, पर वह पराभवसे भी बडा दुःखदायी होता है। वैसा नहीं चाहिये। अतः अपराजित यश प्राप्त करना चाहिये।

१२ बृहतीः आरे अघाः इषः भद्रा सौश्रवसानि सन्तु (६।१।१२)- बडे दोषरहित अन्न तथा कल्याणकारी यश हमें प्राप्त हों। अन्न ऐसे हों कि जो निर्दोष हों और यश ऐसे हों कि जो विशाल कीर्ति फैलानेवाले हो।

२६ तं यशसां अजुष्टिः न नशते (६।३।२)- उसको यशकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा नहीं अर्थात् उसको यश निश्चय- से मिलता है।

४७ ते अजरं द्युम्नं अश्याम (६।५।७)- तेरा जरा रहित तेज, यश वा धन हमें प्राप्त हो।

१८ शतायुषं वयावन्त क्षयं पुष्यति (६।२।५)- सौ वर्ष आयु देनेवाला, पुत्रपौत्रादि धन वा यश जिसके साथ रहता है ऐसा घर वह बढाता है। हमें ऐसा घर हो कि जो आयु बढावे, अन्न पर्याप्त देवे और यश तथा कीर्ति देवे।

शत्रुका नाश

१७ सः बृहतः दिवः ऊती, अंहः न, द्विषः ऋधत् तरति (६।२।४)- वह मनुष्य विशाल कान्तिवाले वीरके संरक्षणसे, पापसे तैर जानेके समान, द्वेष करनेवाले शत्रुओंसे पार होता है और बढता है। प्रथमतः अपना संरक्षण करना,

स्वयं पापसे बचना और शत्रुओंको दूर करना योग्य है। जो अपना सरक्षण नहीं करेगा, जो पापसे नहीं बचेगा वह अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकेगा।

१४ द्विषः अंहांसि दुरिता तरेम (६।२।११)- हम शत्रुओं, पापों और कष्टोंके पार होंगे। हमारे पास शत्रु न रहें, पाप न रहे और उनके कारण होनेवाले कष्ट भी न रहें।

३७ अरातीः नुर्याम (६।४।५)- शत्रुओंका नाश करेंगे।

३७ अत्यः न पततः द्रुतः परिहृत् (६।४।५)- घोडेके समान दौडते हुए आनेवाले शत्रुओंको पकडकर नाश करेंगे।

८० ये राधसा श्रवसा च सुवीर्येभिः अन्यान् जनान् अति अभिसन्ति (६।१०।५)- जो (पुत्र-पौत्र) सिद्धि, यश और उत्तम पराक्रमसे शत्रुओंके मनुष्योंको पराभूत करते हैं (वैसे पुत्रपौत्र हमें दे दो)।

८८ वावसानाः वृजनं न अहः अतिस्त्रसेम (६।११।६)- यहां रहनेकी इच्छा करनेवाले हम शत्रुको तथा वैसे ही पापको भी दूर करते हैं।

११८ त्वं वनुष्यतः नि पाहि (३।१५।१२)- तू हिंसकोंसे हमारी सुरक्षा कर।

१५१ अर्यः अरातीः तरन्तः वन्वन्तः (६।१६।२७)- शत्रुकी आक्रमणकारी सेनाका पराभव करते हैं और उनका नाश करते हैं।

धन दान

धन ऐश्वर्य, आदिके दानके विषयमें मननीय वचन ये हैं—

९ सः त्वाऊतः विश्वा वामा दधते (६।१।९)- वह तुझसे सुरक्षित हुआ वीर सब सुन्दर धन प्राप्त करता है।

१२ नृवत् सदं इत् भूरि पशवः अस्मे तोकाय तनयाय धेहि (६।१।१२)- बहुत सेवकोंके साथ पशु आदि धन हमें और हमारे बालबच्चोंको दे दो।

१३ ते पुरूणि पुरुधा वसूनि वसुतां अश्याम् (६।१।१३)- तेरे पास जो बहुत प्रकारके धन हैं वे धन तथा ऐश्वर्य संपन्नता हमें प्राप्त हो।

४० नः अवृकेभिः पथिभिः रायः स्वस्ति (६।४।८)- हिंसकोंके उपद्रवोंसे रहित ऐसे सुरक्षित मार्गोंसे अनेक प्रकारके धन हमारे पास सुखसे आकर रहें।

सूरिभ्यः द्युम्नं रासि— विद्वानोंको तू धन देता है।

५४ सः (त्वं) अस्मे चित्रं चितयन्तं चित्रतमं वयोधां चन्द्रं पुरुवीरं बृहन्तं रयिं युवस्व (६।६।७)- वह तू हमें विलक्षण ज्ञान बढानेवाले, अत्यन्त अद्‌भुत, आयु बढानेवाले, आश्चर्यकारी बहुत पुत्रपौत्रोंसे युक्त, बडे विशाल धनको दे दो।

५७ त्वं अस्मासु स्पृहयाय्याणि वसूनि धेहि (६।७।३)- तू हमें अनेक प्रशंसनीय धन दे दो।

६६ युगेयुगे विदथ्य यशसं नव्यसीं रयिं धेहि ६।८।५)- समय समयपर सभामें प्रशंसनीय यशस्वी नवीन धन हमें दो।

८० पुरुवाजाभिः ऊती चित्र रयिं नः धेहि (६।१०।५)- बहुत बलोंके साथ जिसका संरक्षण होता है ऐसा विलक्षण धन हमें दे दो।

८८ नः रायः दशस्य (६।११।६)- हमें धन दो।

९४ रायः वेषि (६।१२।६)- तू धन देता है।

९६ भगः त्वं नः रत्न आ इषे (६।१३।२)- धनवान् तू हमें रत्नोंको देता है।

९८ सः विश्वं अर धान्यं प्रतिधत्ते (६।१३।४)- वह सब प्रकारसे पर्याप्त धान्य हमें देता है।

९८ वसव्यैः पत्यसे (६।१३।४)- अनेक धनोंके साथ तू आता है।

९९ ताः सुवीराः सौश्रवसा नृभ्यः पुष्यसे आधा. (६।१३।५)- उन उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त उत्तम यशस्वी धन हमारे मनुष्योंको उनके पोषण होनेके लिये धारण करता है।

१०० वाजिनः तोकं तनयं दा (६।१३।६)- हमें बलवान् अन्न और धनसे युक्त पुत्रपौत्र दे दो।

११८ स्पृहयाय्यः सहस्री रयिः नः समभ्येतु (६।१५।१२)- सहस्रों प्रकारका स्पृहणीय धन हमारे पास आ जाय।

१३७ पृथु श्रवाय्य बृहत् सुवीर्यं नः अच्छ विवासति (६।१६।१२)- विशेष यशस्वी बडे वीर्यको बढानेवाले धन हमारे समीप आ जांय।

१२१ श्रेष्ठः सुरेक्णः (६।१६।२६)- श्रेष्ठ उत्तम धन मिल।

ईश्वरकी सेवा

ईश्वरकी सेवा उत्तम रीतिसे करनी चाहिये इस विषयमें ये वचन देखने योग्य हैं—

४५ यः यज्ञेन उक्थैः अर्केभिः ते ददाशत् (६।५।५)- जो यज्ञ, स्तोत्र तथा पूजनोंसे तुम्हारी सेवा करता है।

१५ अवृकः विश्वचर्षणिः वाजी त्वां याति (६।२।२)- अहिंसक सब देखनेवाला बलवान् तुझे प्राप्त करता है।

११२ अमृतं वः गीर्भिः विवासत (६।१५।६)- तुम मरणरहित प्रभुकी सेवा अपनी वाणियोंसे करो।

११४ त्वं नमसा निषेदिरे (६।१५।८)- तू प्रणाम कर।

१७८ उत्तानहस्तः नमसा आविवासेत् (६।१६।४६)- ऊपर हाथ उठाकर किये नमस्कारसे सेवा करो। किसीको प्रणाम करना हो तो हाथ ऊपर उठाकर करो। यहा प्रणाम करनेकी विधि हमे मालूम होती है। प्रणाम हाथ ऊपर उठाकर करना चाहिये।

इन्द्रियाँ

इन्द्रियोंके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रमें इकट्ठा उल्लेख आया है—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुः
वीदं ज्योतिः हृदयं आहितं यत्।
वि मे मनः चरति दूर आधीः
किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥ (६।९।६)

'मेरे कान सुननेके लिये दौड रहे हैं, मेरे आख दौड रहे हैं, मेरे हृदयमें रहा यह तेज और उसके साथ मेरा मन दूरतकका विचार करता हुआ चल रहा है। अब मैं क्या वर्णन करूं और किसका मनन करूं?'

इसमें अपने अन्तःकरण और ज्ञान इंद्रियोंका उल्लेख है। ये इंद्रियाँ वेगसे दौड रही हैं। उनको स्वाधीन रखना चाहिये। जिस तरह रथके घोडोंको स्वाधीन रखा जाता है।

नमन और ध्यान

प्रभुको नमन करनेके विषयमें ये निम्नलिखित वचन मनन करने योग्य हैं—

४ देवस्य पदं नमसा व्यन्तः (६।१।४)- देवके प्रभुके पदको नमस्कार करके प्राप्त करते हैं।

६ त्वां क्षुधाधः नमसा उप आ सदेम (६।१।६)- तुम्हें घुटने जोडकर नमस्कार करके समीप आकर प्राप्त करते हैं।

४ यज्ञियानि नामानि दधिरे (६।१।४)- तुम्हारे पूजनीय नामोंको धारण करते है। नामोंका मनन करते हैं।

१५ चर्षणयः यज्ञेभिः गीर्भिः ईळते (६।२।२)- मनुष्य यज्ञों और स्तोत्रोंसे प्रभुका यश गाते हैं।

१६ मानुषः जनः सुम्नायुः अध्वरे जुह्वे (६।२।३)- मानवी जनसमुदाय सुखकी इच्छा करता हुआ हिंसारहित कर्ममें प्रभुकी प्रार्थना करता है।

३१ यस्य अमृतं पनयन्ति (६।४।३)- जिस प्रभुके महान् कर्मकी सब प्रशंसा करते हैं।

६५ विशः राजानं ऋग्मियं उपतस्थुः (६।८।४)- प्रजाओंके राजा स्वरूप वर्णनीय प्रभुकी स्तुति मनुष्य करते हैं।

१०८ दिवेदिवे प्रशस्तिभिः महयसे (६।१५।२)- प्रतिदिन उत्तम स्तोत्रोंद्वारा तुम्हारी महिमा बढाई जाती है।

११३ जातवेदसं सुम्नैः ईमहे (६।१५।७)- जिससे ज्ञान फैला है उस प्रभुकी स्तोत्रोंसे स्तुति गाते हैं।

१६२ प्रयस्वन्तः रण्वसंदृशं त्वां गिरः उप स्तुमहे (६।१६।३७)- अन्न दान करनेवाले हम तुझ रमणीय प्रभुकी अपनी वाणीसे स्तुति गाते हैं।

सुखशान्ति और दीर्घायु

४ ते भद्रायां संदृष्टौ रणयन्त (६।१।४)- तेरे कल्याणपूर्ण सम्यक् दर्शनमें वे भक्त रममाण होते हैं।

१६ शर्माभिः शशमे (६।३।२)- शान्ति बढानेवाले कर्मोसे मनुष्य शान्तिको प्राप्त करते है।

४० सुवीराः शतहिमाः मदेम (६।४।८, ६।१०।७)- उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंके साथ रहते हुए सौ वर्षतक हम आनन्द प्राप्त करते रहेंगे।

११५ त्रिवरूथः नः शिवः भव (६।१५।९)- तीनों स्थानोंमें श्रेष्ठ तू प्रभु हमारे लिये कल्याणकारी हो।

सत्यका प्रवर्तक

१५ ऋतपाः ऋतेजाः क्षेषत् (६।३।१)- सरल भावका रक्षण करनेवाला सत्यके प्रचारके लिये जो प्रसिद्ध है, वह वीर यहां रहता है। सत्यपालक वीर ही यहां रहे।

अग्निका निर्माण

१२३ वेधसः अग्निं अर्ववत् मन्थन्ति (६।१५।१७)

१३८ त्वां वाघतः विश्वस्य मूर्ध्नः पुष्करात् अधि अथर्वा निरमन्थत (६।१६।१३)- ज्ञानी मन्थन करके

अग्निको अथर्वाके समान मन्थन करते हैं। ज्ञानी विश्वके शिर-स्थानीय द्युलोकसे अथर्वाने मन्थन करके अग्निको निर्माण किया।

यहां अथर्वाने मन्थन करके अग्निको निर्माण किया ऐसा कहा है। अथर्वा आंगिरस गोत्री हैं। उसने अग्नि प्रथम उत्पन्न किया इसलिये अग्निको भी आंगिरस कहते हैं।

वर्णनीय

३६ वन्द्य असि (६।४।८)- तू वर्णनीय हो।

२ यजीयान् (६।१।२)- तू पूजनीय, वर्णनीय हो।

२ ईड्य सन् इषयन् (६।१।२)- तू स्तुत्य है और सदिच्छा करता है।

२ सपर्येण्यः (६।१।६)- पूजनीय हो।

३४ वेद्यः वन्दारु चनः धात् (६।४।२)- तू संमान योग्य तथा वन्दनीय हो, ऐसा तू अन्न देता है—

३५ अश्नस्य चित् पूर्व्याणि शिश्नथत् (६।४।३)- हिंसकके पूर्व समयके दुष्ट कर्मोंको बदल दो; उसका सुधार करो।

इस तरह मनुष्य प्रयत्न करके पूज्य, वर्णनीय तथा स्तुत्य बने। ये गुण मनुष्य अपनेमें डालनेका यत्न करे और उन्नत होता रहे।

पुत्र-पौत्र

१२ हे वसो! नृवत् सद्म अस्मे धेहि (६।१।१२)- हे प्रभो! पुत्र-पौत्रोंसे भरा घर हमें दे।

१२ तोकाय तनयाय भूरि पश्वः, बृहती अघाः इषः, भद्रा सौश्रवसानि सन्तु (६।१।१२)- हमारे पुत्र-पौत्रोंके लिये बहुत पशु, बहुत निष्पाप धन तथा धान्य तथा कल्याणकारी यश मिले।

२९ यः शमीभिः शशमे, तं यशसां अजुष्टिः न नशते (६।३।२)- जो शान्ति बढानेवाले कर्म करता है उसको पुत्र पौत्रोंकी कमी नहीं हो।

इस तरह पुत्र-पौत्र होने चाहिये और वे सुखी होने चाहिये ऐसा इन मन्त्रोंमें कहा है।

दीर्घ आयुष्य

४० सुवीराः शतहिमा मदेम- उत्तम वीर बनकर हम सौ हिमकाल-सौ वर्ष-आनन्दसे रहेंगे।

प्रजाका पालन

८ शश्वतीनां विशां विश्पतिं (६।१।८)- शाश्वत प्रजाका पालन करनेवाला।

८ चर्षणीनां प्रेतिषणिं (६।१।८)- प्रजाजनोंके पास जानेवाला। जाकर उनके हितकी बात करनेवाला।

अग्निके वर्णनमें ईश्वरका वर्णन है

और मनुष्यका भी वर्णन है।

वेदके वर्णनमें देवताओंके वर्णन होते हैं। और सब देव ईश्वरके विश्व शरीरके अङ्गप्रत्यंग हैं। यह विषय पाठकोंके समझमें आना अत्यंत आवश्यक है।

" अंशका वर्णन किया तो वह वर्णन संपूर्णका वर्णन होता है।" यह बात समझनी चाहिये। किसीके आंख, नाक, कान, हाथ, पांव, वीरता, वक्तृत्व आदिका वर्णन किया तो उस संपूर्ण पुरुषका ही वह वर्णन होता है। व्यवहारमें ऐसा ही होता है यह सब जानते हैं।

तुम्हारा आंख सुन्दर है,
तुम्हारा वक्तृत्व प्रभावशाली है,
तुम्हारी गति त्वरासे होती है,
तुम्हारी लेखनशैली अच्छी है।

इस वर्णनमें अंशका वर्णन है, पर उस पुरुषके गुणका यह वर्णन होनेसे, यह वर्णन उस सम्पूर्ण पुरुषका ही समझा जाता है और सचमुच यह वर्णन उस पुरुषका ही है। इसी तरह "देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" (निरु.) सब देव ईश्वरके विश्वशरीरके अंग और अवयव हैं। इस कारण किसी भी देवताका वर्णन हुआ तो वह वर्णन देवताका होता हुआ परमेश्वरका या परमात्माका भी होता है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य हैं—

परमेश्वरका विश्वरूप

यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता।
यत्र अग्निः चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्ति आर्पिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि। कतमः स्विदेव सः॥ १२॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे सर्वे समाहिताः ।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥ १५ ॥
यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुरंगिरसोऽभवन् ॥ १८ ॥
यस्मादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ॥ २२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाः च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानो चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥ अथर्व० १०।७

जिसमें भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक आधारित हुए हैं ॥ जहां अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु अर्पित हुए हैं। वह सर्वाधार देव है और वही अत्यंत आनन्दमय है॥ तैतीस देव जिसके अगप्रत्यगमें रहे हैं वह सबका आधार देव है। वही आनन्दमय है॥ समुद्र (जिसका रक्ताशय है और नदिया) जिसकी धमनियां हैं॥ जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, और जिसके चक्षु अंगिरस हुए हैं॥ जिसमें द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र और अष्ट वसु आश्रित हुए है॥ जिसमें ३३ देवताएं अंगप्रत्यंगोंमें विभक्त होकर रहीं है, उन ३३ देवताओंको अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं॥ जिसकी भूमि पाव है, अन्तरिक्ष पेट है, और द्युलोक जिसका सिर है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम हो॥ जिसका एक आंख सूर्य है और दूसरा आंख चन्द्रमा है, अग्निको जिसने अपना मुख बनाया है उस ज्येष्ठ ब्रह्मको मेरा प्रणाम है॥ जिसका प्राण अपान यह वायु है और चक्षु अंगिरस हुए हैं, दिशाएं जिसने ज्ञान देनेवाले श्रोत्र-कान-बनाये हैं उस ज्येष्ठ ब्रह्मको मेरा प्रणाम हो॥

इस तरह यह वर्णन परमात्माका है। इस वर्णनमें ३३ देवताएं परमेश्वरके विश्वशरीरके अवयव हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसा परमेश्वर शरीररहित होनेपर भी उसका विश्वरूपी महान शरीर है ऐसा वर्णन वेदमें किया है, वैसा ही जीवात्मा भी आत्मरूपसे शरीररहित ही है, पर उसको आंख, नाक, कानवाला शरीर मिलता है वैसा ही परमात्माके विश्वशरीरकी कल्पना पूर्वोक्त मन्त्रोंमें कही है।

परमेश्वरका विश्वशरीर और मानवका छोटासा शरीर इसका अंश-अंशीका सम्बन्ध है।

परमेश्वरके शरीरमें जो देवताएं विशालरूपमें हैं, वेही देवताएं अंशरूपमें मानवी शरीरमें हैं। विश्वरूपी विशाल शरीरवाला परमात्मा है, और उसका पुत्र मनुष्य है। पिताके शरीरके सब देवताओंके अंश इस मानवी शरीरमें है। इसका वर्णन ऐतरेय उपनिषद्में इस तरह आगया है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्
मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्
आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन्।
ऐ उ. १।२।४

अग्नि वाणीका रूप धारण करके मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु, प्राण होकर नासिकासे अन्दर प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें रहने लगा, दिशाएं श्रोत्र बनकर कानोंमें रहने लगी, औषधि वनस्पतिया बाल बनकर त्वचामें आकर रहने लगीं, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें रहने लगा, मृत्यु अपान बनकर नाभीमें प्रविष्ट हुआ और जल रेत बनकर शिस्नमें रहने लगा। इस तरह विश्वात्माके विश्वशरीरकी सब देवताएं अंशरूपसे मानव शरीरमें आकर बसी हैं।

विश्वशरीरका पुत्र इस तरह मानव है। मानव शरीरमें अंशरूपसे सब देवताएं हैं और मानवशरीरके वीर्यबिन्दुमें भी सब देवताएं अतिअल्प अंशरूपमे बसती हैं।

विश्वका अंश मानवशरीर है, और इसमें सब देवताएं हैं, विश्वका सार मानवदेहमें है और मानवदेहका सार उसका वीर्य बिंदु है।

विश्वरूपी परमात्मा है। वस्तुतः परमात्मा अशरीरी है तथापि उसका विश्वरूपी शरीर है। जीवात्मा भी वस्तुतः शरीररहित ही है, तथापि उसका शरीर यह है ही। आत्मारूपसे दोनों

जीवात्मा-परमात्मा निराकार हैं, तथापि विश्वशरीर परमात्माका है ऐसा आलंकारिक वर्णन पूर्वस्थानमें अथर्ववेदके मन्त्रोंमें किया ही है। जीवात्माका शरीर यह है उसमें देवताओंके अंश हैं यह हम देख ही रहे हैं।

जो देवता विशालरूपसे परमात्माके विश्वशरीरमें जो कार्य कर रहा है, उस देवताका एक अंश जीवात्माके शरीरमें वही कार्य सूक्ष्मरूपसे कर रहा है। अतः किसी देवताका वर्णन परमात्माके विश्वशरीरके किसी अंगप्रत्यंगका ही वर्णन है।

प्रस्तुत प्रकरणमें अग्निका वर्णन है वह परमात्माके मुखका आलंकारिक वर्णन है। अर्थात यह वर्णन परमात्माका ही वर्णन है। अब यह वर्णन जीवात्माके शरीरमें जो अंश प अग्नि रहा है उसका भी यही वर्णन है। अग्नि और उसकी चिनगारी, बडापन अग्निमें है और छोटापन चिनगारीमें है। यह बडापन और छोटापन ध्यानमें न लिया जाय, तो दोनोंमें अग्निपन समान है। इस कारण अग्निका जो वर्णन वेदमें हैं वह परमात्माका भी वर्णन है, वही अग्निका भी वर्णन है, वही जीवात्माका भी वर्णन, वाणीका भी वर्णन, वक्ताका भी वर्णन और ज्ञानीका भी वर्णन है। क्योंकि अग्नितत्त्वकी विभूति सर्वत्र समान है।

जहां जिस स्वरूपमें अग्नि है वहां उस स्वरूपके अनुसार वेदमन्त्रका अर्थ देखना चाहिये। इसी कारण अग्निवर्णनके कई पद अग्रणीके वाचक दीखते हैं, कई वीरके वाचक हैं, कई राजाके वर्णनपरक हैं और कई केवल आगका ही वर्णन करते हैं।

अग्निकी विभूति कहां किस रूपमें रहती है यह देखना चाहिये। अग्नि वाणीके रूपसे मनुष्यमें रहा है इस कारण अग्निके वर्णनमें वाणीका वर्णन आना अत्यंत स्वाभाविक है। और पाठक इन मन्त्रोंके पदोंमें वह वर्णन देखेंगे। यह ऐसा वर्णन होना अस्वाभाविक नहीं है परन्तु ऊपर बतायी रीतिसे ऐसा वर्णन होना स्वाभाविक ही है।

विश्वरूप, मानवीरूप इन दो रूपोंके मध्यमें एक तीसरा रूप है जिसको समाज या राष्ट्र कहा जाता है। इस तरह अग्निके मुख्य तीन रूप हुए—

१ **विश्वरूप** मे अग्नि, मरुत्, इन्द्र आदि देव हैं।

२ **राष्ट्ररूप** में ज्ञानी, शूर, राजा आदि पुरुष हैं।

३ **व्यक्तिके रूप** में ज्ञान, शौर्य, तथा शासनशक्ति आदि गुण हैं।

इनको ही क्रमसे (१) **आधिदैविक**, (२) **आधिभौतिक** और (३) **आध्यात्मिक** कहते है। इस तरह एक एक देव तीनों स्थानोंमें तीन रूपोंको धारण करता है। अग्नि अग्निके रूपमें विश्वरूपमें है, **अग्रणी** के रूपमें राष्ट्रमें है और **वक्तृत्व** के रूपमें व्यक्तिमें है।

इसी तरह विश्वरूपमें वायुके स्वरूपमें मरुत देव हैं, वीरोंके सैनिकोंके रूपमें राष्ट्रमें हैं, और प्राणोंके रूपमें व्यक्तिमें हैं।

अन्यान्य देवोंके विषयमें इसी रीतिसे जानना योग्य है। यह सम्बन्ध जाननेके पश्चात् ही वेदमन्त्रोंके ठीक ठीक अर्थ जाने जा सकते है।

हमने अग्निमंत्रोंका अर्थ देनेके समय जहां जिस प्रकरणका सम्बन्ध है वहां उस प्रकरणका संकेत और अर्थ भी बहुत स्थानोंपर दिया है। पाठकोंके मनमें संदेह होनेकी सम्भावना है। अतः यह स्पष्टीकरण किया है और बताया है कि इस तरह तीनों स्थानोंमें देवताका स्वरूप बदलता है और तदनुसार अर्थ भी समझना योग्य है।

अग्नि केवल '**आग**' ही नहीं है। अंग्रेजोंमें जिसको 'फायर' कहते है वही केवल वैदिक अग्नि नहीं है। वैदिक अग्नि आधिदैवत क्षेत्रमें सूर्य-विद्युत्-अग्नि आदि रूपमें है, अधिभूतक्षेत्रमें अर्थात् प्राणिसमुदायके राष्ट्रीय क्षेत्रमें ज्ञानी, विद्वान्, वक्ता अथवा अग्रणी है। तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें वक्तृत्व, वाणीके रूपमें हैं। अग्निका यह स्वरूप पाठक प्रथम जानें और पश्चात् अग्निके मन्त्र पढें और प्रत्येक पदके अर्थ तदनुसार समझें। ऐसा करनेसे सब संदेहोंकी निवृत्ती हो सकती है।

॥ यहां अग्नि प्रकरण समाप्त ॥

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

उपनिषद् ग्रंथमाला

१ ईश उपनिषद्	२)	।=)
२ केन उपनिषद्	१॥)	।-)
३ कठ उपनिषद्	१॥)	।)
४ प्रश्न उपनिषद्	१॥)	।)
५ मुण्डक उपनिषद्	१॥)	।)
६ माण्डूक्य उपनिषद्	॥)	=)
७ ऐतरेय उपनिषद्	॥।)	≡)
८ तैत्तिरीय उपनिषद्	१॥)	।)

९ श्वेताश्वतर उपनिषद् (छप रहा है)

श्रीमद्भगवद्गीता

१ पुरुषार्थबोधिनि टीका (एक जिल्दमें)

मूल्य १२॥ रु. डा. व्य २॥)

,, (तीन जिल्दोंमें) अध्याय १ से ५	५)	१।)
,, अध्याय ६ से १०	५)	१।)
,, अध्याय ११ से १८	५)	१।)

२ श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला

भाग १-२ और ७ ३॥।) १)

भाग- ३-४-५-६ समाप्त हो गये हैं।)

३ भगवद्गीता श्लोकार्ध सूची	॥।)	≡)
४ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन	२)	।=
५ श्रीमद्भगवद्गीता (केवल श्लोक और अर्थ)	१)	≡)
६ श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम भाग) लेखक श्री गणेशानन्दजी	१)	।)

गो-ज्ञान-कोश

गो-ज्ञान-कोश (प्रथम भाग)	६)	१॥)
गो-ज्ञान-कोश (द्वितीय भाग)	६)	१॥)

गौके विषयमें वेदमन्त्रोंमें जो उत्तम उपदेश है वहसब इन दो विभागोंमें संग्रहित किया है। जो गौके विषयमें वेदका अमूल्य सन्देश जानना चाहते हैं वे इन भागोंको अवश्य पढें।

महाभारत (सचित्र)

१ आदिपर्व	७)	२।)
२ सभापर्व	३॥)	॥
३ शांतिपर्व (पूर्वार्ध)	१०)	३।)

अन्य पर्व छप रहे हैं।

४ महाभारतकी समालोचना

(भाग १-२) प्रत्येक भागका मूल्य ॥।) ।)

वेदका स्वयं-शिक्षक

अपने घर बैठे वेदका अध्ययन कीजिये, अत्यंत सुबोध पद्धतिसे ये पुस्तक तैयार किये हैं।

[भाग १ और २] प्रत्येक भागका मूल्य १॥) ।-)

वेद-परिचय

(तीन भागोंमें)

वेदकी प्रथम परीक्षाके लिये पाठ्य पुस्तक

प्रथम भाग	१॥)	।)
द्वितीय भाग	१॥)	।)
तृतीय भाग	२)	।-)

वेद-प्रवेश

वेदकी द्वितीय परीक्षाके लिये पाठ्य पुस्तक

१ मरुद्देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	॥।)
२ अश्विनौ देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	१)
३ ऋग्वेदके अग्नि-सूक्त	२)	॥)
४ मरुद्देवता मंत्र-संग्रहकी समन्वय-चरणसूची	१)	॥)

योग-साधन ग्रन्थमाला

आरोग्य रक्षणके लिये अनुभवसिद्ध अनुष्ठानके ये ग्रंथ हैं।

१ ब्रह्मचर्य	१॥)	।)
२ योगके आसन	२॥)	।-)
३ आसनोंका चित्रपट	।)	-)
४ योगसाधनकी तयारी	१)-	≡)
५ सूर्य नमस्कार	१)	≡)
६ सूर्य नमस्कारोंका चित्रपट	।)	-)
७ सूर्य भेदन व्यायाम	॥।)	=)

आगम निबन्ध-माला

वेदमें जो अनेक विद्याएं हैं उनका दर्शन इन पुस्तकोंसे होता है।

१ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
२ वैदिक सर्प विद्या	॥=)	=)
३ वेदमें चर्खा	॥=)	=)
४ मानवी आयुष्य	॥)	=)
५ इन्द्रशक्तिका विकास	॥।)	=)
६ वेदमें कृषि विद्या	।)	-)
७ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
८ वैदिक अग्नि-विद्या	२)	।)
९ वैदिक चिकित्सा	१॥)	।)

मन्त्री— स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

Regd No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

अंक ७

वर्ष ३७

जुलाई

१९५६

ज्येष्ठ

२०१३

वैदिक धर्म

[जुलाई १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३७ वैदिक धर्म अंक ७

क्रमांक ९१

ज्येष्ठ, विक्रम संवत् २०१३, जुलाई १९५६

तीन धन हमें मिलें

यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्ज्यायान् कनीयसो देष्णम्।
अमृत इत् पर्यासीद्दूरमा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः ॥

ऋ० ७।२०।७

हे (चित्र इन्द्र) आश्चर्यकारक कर्म करनेवाले इन्द्र ! (यत्) जो धन (पूर्वः अपराय) पूर्वज अपने वंशजको (शिक्षन्) शिक्षाद्वारा देता है, जो (देष्णं ज्यायान् कनीयसो अयात्) धन श्रेष्ठको कनिष्ठसे प्राप्त होता है, जो धन (अमृत इत्) अमर जैसा रहकर (दूर परि आसीत्) दूर देशमें जाकर धारण किया जाता है, इस तीन प्रकारके (चित्र्यं रयिं) विलक्षण धन (नः आभर) हमें दे दो ॥

धन तीन प्रकारका है, एक बडेसे छोटेको प्राप्त होता है, दूसरा छोटेसे बडेको मिलता है और तीसरा देशदेशान्तरसे प्राप्त होता है। ये तीनों धन हमें प्राप्त हों।

१ योगमहाविद्यालय— ग्रीष्मावकाश समाप्त हो गया और नया शिक्षणसत्र शुरू हो रहा है। इस कारण योगमहाविद्यालयका आसनवर्ग कुछ समयके लिये बंद था, वह पुनः प्रारम्भ हो रहा है। जो सीखनेवाले पारडी रहनेवाले नहीं, अर्थात् जो बाहर गांवसे आनेवाले हैं वे भी अब आ सकते हैं। उनके रहनेका प्रबन्ध आश्रममें होगा और भोजनका प्रबन्ध पारडी हाईस्कूलके छात्रावासमें होगा। स्वाध्यायमण्डल आश्रमसे १० मिनिटकी दूरीपर यह भोजनस्थान है। इस कारण बाहरके लोग भी आ सकते हैं।

२ वेदमहाविद्यालय— जो संस्कृत अच्छा जानते हैं, जो हिंदी तथा एक प्रान्तभाषा जानते हैं, अंग्रेजीका ज्ञान जिनको अच्छा है, लेखन-अक्षर जिनका सुन्दर है और जो वक्तृत्व कर सकते हैं उनका प्रवेश इसमें हो सकता है।

यहां आनेवालोंको मातापिताकी अनुमति चाहिये, विवाहित हों तो पत्नीके साथ यहां रह सकते हैं अथवा उनकी अनुकूल सम्मतिके साथ यहां अकेले भी रह सकते हैं। पर घरवालोंकी अनुमति न हों तो कोई यहां न आवे। ऐसे यहां आये थे, उनके कारण हमें बडे झगडेमें जाना पडा इसलिये प्रार्थनापत्र भेजनेवालोंके लिये यह सूचना अवश्य ध्यानमें धरनी चाहिये।

३ गायत्री-जपका अनुष्ठान- गत मासमें प्रकाशित जपके पश्चात् इस मासमें यह जपसंख्या हुई है—

१ मंगरोळा कोटा- पं. रामकृष्ण अध्यापक	१११११३२
२ बडौदा- श्री बा. का विद्वांस	१७५०००
३ रामेश्वर- श्री रा ह. रानडे	२००००
४ बंगाडी- श्री के. ग. अ. मेहेंदळे	३०००
५ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	२९००
६ जामनगर- ओ. यु म संध्यावर्ग संचालक श्री जानी चिमणलाल लक्ष्मीशंकर	१२४९१६
	४३,६९,४८
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	८९,५७,५७७
कुल जपसंख्या	९३,९४,५२५

अभी अन्यान्य स्थानोंकी जपसंख्या हमारे पास आनी है।

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

हिन्दू (आर्य) का राष्ट्रीय कर्तव्य

(लेखक : श्री पं. रामावतारजी, विद्याभास्कर)

हिन्दुत्व मनुष्यताका ही नाम है। आप निष्पक्ष समालोचककी आंख लेकर अपने भूगोलके समस्त द्वीपों और महाद्वीपोंमें जाकर ढूंढ आइये, इनमें यदि कहीं मनुष्यताको शरण या इनसानियतको पनाह मिली है तो वह हिंदूही की गोदमें आकर मिली है। अहिन्दू संसारके कारनामे इन्सानियतके कतलोंकी वारदातोंसे भरे पडे हैं। अहिन्दु संसारका अथसे इतितक साराका सारा इतिहास निरपराधोंके रक्तोंसे रंजित और अत्याचारियोंके आर्तनादोंसे कलंकित है।

भारतीय तत्वज्ञानकी पृष्ठभूमि अर्थात् हिन्दूतत्वज्ञानका सार

अनन्त विचित्रताओंसे भरपूर यह विशाल संसार बाहर कहींसे नहीं आ गया। यह तो उसी तत्वकी विभूति है जो हम मनुष्योंका आत्मा है। यह विराट संसार जिस तत्वकी विभूति है वही तो स्वरूप दर्शनलालसासे मानव बालक बनकर लीला कर रहा है। मानवका आत्मा अपनी ही विभूति इस संसारको देख देखकर इससे अप्रभावित रह रहकर अपनी ही महत्ताका आनन्द भोगनेके लिये यह विराट जगल्लीला कर रहा है। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" के शब्दोंमें यह जगतको बनाकर जगतमें प्रविष्ट होकर मर्त्यलीला कर रहा है। मानवको यह अधिकार है या यों कहें कि- यह मानवकी ही रुचिपर निर्भर है कि वह चाहे तो ज्ञानाधिकारी बनकर जीवनका उद्देश्य सफल करे और चाहे तो अज्ञानसे लिपटकर पंकिल और धूमिल जीवन यापन करे। मनुष्य इस बातको समझे या न समझे यह समग्र सृष्टिव्यवस्था मनुष्यको आत्माकी ही परिचालित व्यवस्था है। इस स्वयंपरिचालित व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिमें ज्ञानाधिकारी तथा अज्ञानाधिकारी दो प्रकारके मानव होते रहते हैं। इस सृष्टिके जिस प्रत्येक मानव (मानव देह) को ज्ञानका अधिकार है इसीको यदि वह चाहे तो अज्ञानलिप्त रहनेका भी पूरा पूरा अधिकार है।

यह मानव देह ज्ञानाज्ञान दोनोंमेंसे चाहे जौनसेको अपनी नेकी स्वतंत्रता रखनेवाले उस विश्वव्यापी विराट आत्माका ऐसी रथ है। जिस रथपर आरूढ होकर वह अपनी संसारयात्रा पूरी करता है, जो अपने प्रत्येक जीवन व्यवहार अर्थात् प्रत्येक जीवननीतिमें अपने ही स्वरूपको या यों कहें कि अपनी ही मनुष्यताको देखने और उसीका आनन्द लूटनेके लिये मानव बना है। अपनी मनुष्यताका दर्शन करना तथा उसीका आनन्द भोगना ही मानवकी विशेषता तथा उसके जीवनका लक्ष्य है और इसीमें उसकी कृतकृत्यता अर्थात् कर्तव्योंकी इति भी है। मानव यह जाने कि जिसने यह विराट सृष्टि बनाई है वही विराट तत्व इस छोटेसे देहका भी रथी है। ये देहरूपी छोटे छोटे कोटि कोटि रथ क्षुद्रतुच्छ अलग अलग प्रभुओं या एकदेशी व्यक्तित्वको अपनानेवाली सत्ताओंकी संपत्तियां नहीं है। ये तो सबके सब इसी एक अद्वितीय विराट तत्वकी अन्यतम छोटी छोटी विभूतियां हैं जिसने अपने आपको इस दृश्यमान जगतके रूपमें प्रकट किया है। यही हिंदूतत्वज्ञानका सार है। यह सार हमारे ऋषियोंकी लाखों बरसोंकी तपस्यासे हिंदूकी नसनसमें घुस गया है। यही तत्वज्ञान हिंदूकी पैतृक सम्पत्ति (बपौती) है।

मानव चरित्र दैवी और आसुरी दो विपरीत वध्य घातक स्वभाव लेकर प्रकट होता है। दैवी संपत मानवचरित्रकी मनुष्यता है। जब कि आसुरी संपत उसके चरित्रकी आसुरिकता या दानवी शक्ति है। देव दानव दोनों ही मानव सृष्टिके भीतर हैं। देव दानवोंको ही मनुष्य और असुर भी कहा जाता है। प्रकृतिके ये दोनों सगे बेटे देव दानव अनादिकालसे परस्पर लडते झगडते चले आ रहे हैं। क्योंका उत्तर स्वभावके अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रकृति

के इन दोनों बेटोंका यह संग्राम कभी समाप्त होनेवाला नहीं है। इनके इस स्वभावको इस सृष्टिके अन्त तक या हमारे इस सूरजके अन्तिम दिन तक चलना है, यह एक सुनिश्चित कडवी सचाई है।

हिन्दूकी जातिगत विशेषता

देवत्व ही हिन्दुत्वका स्वरूप है। संसारका दानव समाज इस देवतासे सदासे द्वेष रखता आ रहा है। इस देवताके द्वेषी असुर लोग मानवसमाजमें आर्य-अनार्य, देव-दानव, मानव-राक्षस, आदि जोडोंमें इसके विरोधी पक्षमें खडे दिखाई देते हैं। इस देवतासे द्वेष रखनेवाले अनार्य लोग ही म्लेच्छ नामसे विख्यात और व्यवहृत होते हैं। हिन्दु अनादि कालसे मानवदेह धारण करलेनेवाले आत्माके ज्ञानाधिकारी स्वभावके पीछे लगा चला आ रहा है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हिन्दु कोई भूल या पाप नहीं करता।

हम भी जानते और मानते हैं कि हिन्दु व्यक्तिगत रूपमें पर्याप्त मात्रा में पापी और पतित हो गया है। वह अर्थ लोभी विषयलोलुप समाजहित घातक तथा असामाजिक दोषोंकी उपजाऊभूमि बन गया है। परन्तु हिन्दु जाति अनार्य लोगोंके गुणघाती लगातार आक्रमणोंके होते हुये भी सामाजिक रूपमें अभीतक आत्माके ज्ञानाधिकारी स्वभावका अनुगमन छोडनेको उद्यत नहीं है। क्यों नहीं है का उत्तर हमारे ऋषियोंकी तपस्याका प्रभाव है। हिन्दूजातिके जातिगत गुणोंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखकर हम तो हिन्दुत्वकी यह परिभाषा बनानेके लिये विवश हुये हैं कि "मनुष्यतासे द्वेष न करना, उस पर आक्रमण न करना, सार्वभौम मानवीय गुणोंको अपनाना या उनके प्रति भक्ति रखना" ही हिन्दुत्वकी परिभाषा है। हिन्दूके जातिगत चरित्रको एक शब्दमें कहा जाय तो सचाई तथा ईमानदारी ही हिन्दुत्वकी परिभाषा है।

हिन्दू कहलानेवाले आर्य या सनातनधर्मी मनुष्य समाज प्रागैतिहासिक कालसे अपने व्यावहारिक जीवनमें इस उदार सिद्धान्तको अपनाते आ रहे हैं कि आत्माके अद्वैतरूपको समझ जानेवाला सत्यनिष्ठ सच्चरित्र ईमानदार अहिंसक सहिष्णु और उदार कोई भी व्यक्ति, चाहे वह विधर्मी और विदेशी ही क्यों न हो, मनुष्यता तथा समाजसे प्रेम करता हो तो वह हिन्दूका आत्मीय बन सकता है। ऐसे लोगोंके लिये हिन्दूसमाजका प्रश्रयस्थान आठों पहर प्रस्तुत रहता है।

समस्त संप्रदायोंकी मनुष्यताकी रक्षा ही हिन्दुत्व है। मनुष्यमें धार्मिकता हो तो वह हिन्दू है, ईमानदार तथा सच्चरित्र हो तो वह हिन्दू है। हिन्दूका धर्म अपनेको देवदूत कहलानेवाले किसी व्यक्तिविशेष पर ईमान लानेवाला तथा उस ईमानरूपी रिश्वतके बदलेमें अपनी दुश्चरित्रता, अत्याचार, अन्याय, नृशंसवध तथा व्यभिचार आदि अमनुष्योचित अपराधोंको ईमानके सस्ते मूल्यसे या एक मीठीसी खुशामदसे क्षमा करा लेनेवाला उत्तरदायित्वहीन हलका धर्म नहीं है। हिन्दूका धर्मको क्रियात्मक व्यावहारिक तथा उत्तरदायित्वपूर्ण धर्म है। वह तो " अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्, " मनुष्यको अपने किये शुभाशुभ कर्म भोगने होंगे और अवश्य भोगने होंगे। इस मन्तव्यको माननेवाला धर्म है। वह कोरे विश्वाससे संबन्ध रखनेवाला धर्म नहीं है। वह अपने प्रभुको किसी देवदूतकी खुशामदसे फुसला लेनेवाला तथा अपने दुश्चरित्रके लिये ऊपरीमनसे ' तोबा ' करलेने मात्रसे क्षमा दिला देनेवाला धर्म नहीं है।

हिन्दूकी देवदुर्लभ उदारता

हिन्दू (आर्य) की उदारता इतनी विशाल है कि कोई मनुष्य उसकी ईश्वरके स्वरूपकी कल्पनाको मानो या मत मानो, उसे वह कैसा ही समझता रहा, फिर भी उसका वह विश्वास उसे हिन्दू बननेसे नहीं रोक सकता। ईश्वरके सूक्ष्म रूपको कोई कैसा ही समझा करो, हिन्दूने इसे वैसा समझनेकी पूरी पूरी स्वतन्त्रता दी हुई है। उसने प्रत्येक मनुष्यको विचार स्वातन्त्र्यका पूरा अधिकार दिया हुआ है। उसकी हिंदू होनेकी शर्त केवल मनुष्यका शुद्धाचारी होना है। हिंदूकी यह प्रवृत्ति कह रही है कि " शुद्धाचरण ही हिंदूत्वकी शर्त है।"

इतिहास साक्षी है कि हिन्दु किसीके विश्वाससे झगडना, उसके लिये लडना और उसके नामपर किसीको मारना नहीं चाहता। वह डण्डेके बलसे अपना धर्म फैलाना नहीं चाहता। उसके स्वभावमें अपने ऋषियोंकी सहिष्णुता कूट कूटकर भरी हुई है। प्रत्येक मनुष्यको उसीकी कल्पनाके

अनुसार ईश्वरतक पहुंचनेकी पूरी स्वतन्त्रता देना ही हिंदूका उदार हिन्दुत्व है। हिन्दू जानता और मानता है कि जो ईश्वर अनन्तरूप है, उसे किसी एक रूप या एक कल्पनाका कैदी बनाकर नहीं रक्खा जा सकता। इसीलिये हिन्दूधर्ममें प्रत्येकको अपनी कल्पनाके अनुसार ईश्वरको पूजनेका पूर्ण अधिकार है। ईश्वरके विषयमें कुछ भी मानने देना, और लोगोंकी ईश्वर कल्पनाको उन्हींके अनुभवानुसार विकसित होने देना ही "हिन्दुकी उदार ईश्वरभक्ति" है।

हिन्दू समाजमें शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध, कापालिक, सरभंगी, भूत-प्रेत-पूजक आदि परस्पर विरोधी मन्तव्य रखनेवाले अनंत सम्प्रदाय सम्मिलित हैं। हिंदूधर्म अपनी उदारताके कारण भानमतीका विचित्र पिटारा है। हिंदू अनेक धर्मोंका संग्रह है। वह संसारभरके धर्मोंका विश्वकोष है। हिंदू धर्मकी उदारताके कारण उसमें नाना विरोधी मन्तव्योंका ऐसा अहिंसात्मक सामंजस्य हैं जैसा संसारभरमें कहीं भी देखनेको नहीं मिल सकता। यह हिंदू धर्मकी कितनी बड़ी उदारता है कि ईश्वरके सम्बन्धमें चाहे जितना कुविश्वास रखनेवाले संप्रदाय भी हिंदू रह रहे हैं। हिंदूकी उदारता देखकर संसारको आश्चर्य सागरमें डूब जाना पड़ेगा, जब वह देखेगा कि कट्टर अनीश्वरवादी तथा घोर वेदनिन्दक (नास्तिक) भी हिंदू रह सकता, और सामाजिक अभयदान पाकर हिंदूकी गोदमें आश्रय पा सकता है। हिंदूकी महत्ताको न समझकर उससे द्वेष रखनेवाले लोग जब हिंदूकी किसीको अपने समाजमें रखनेकी शर्त सुनेंगे तो उन्हें अपनी भूलपर पछताना पड़ेगा।

हिंदूकी किसीको अपने समाजमें रखनेकी एकमात्र शर्त "मनुष्यतासे प्रेम, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, तथा अपने अहिंसक स्वभावके कारण समाजकी शांति रक्षाका विघ्न न बनना" है। हिंदूकी उदारताकी प्रशंसा करनेके लिये संसारभरका शब्दभण्डार तब कंगाल हो जायगा, तथा स्वमन्तव्यसे विरुद्ध मन्तव्य रखनेवालोंको हिरनोंकी भांति खेदे फिरनेवाला अहिंदू संसार दांतोंतले अंगुलि दबा लेगा, जब वह देखेगा कि हिंदू अपने ज्ञानभण्डार वेदको न मानने तथा उसका खण्डन करनेवाले होनेपर भी समाजमें शान्ति तथा पवित्रताका प्रचार करनेवालोंको उनके इसी गुणके कारण अपनी मान्यताकी परिभाषाको सबसे ऊंचा 'अवतार' का वह पद, जिसे वह केवल ईश्वरको देता है, देनेको किसीके डरसे नहीं किन्तु सहर्ष प्रस्तुत है। हम संसारके समस्त विद्वानोंका खुला आह्वान करते हैं कि वे इस संसारके सुविस्तीर्ण आकाशमें कहींसे कोई ऐसा धर्म ढूढकर दिखायें जो हिंदू जैसा उदार हो। हमारे इस भूमण्डलमें अपनेसे विरुद्ध मन्तव्य रखनेवालोंको भी यदि ये चरित्रवान् तथा मनुष्यता प्रेमी हों तो पूज्य स्थान दे देना हिंदू ही जानता है।

उदारता ही हिंदू धर्म है। अहिंदू संसार अनुदारता तथा कट्टरता दोषोंसे दूषित और विषाक्त है। जभी तो वह आपसमें एक दूसरेके रक्तका प्यासा बनकर हिंस्र जन्तु बना हुआ है। उसकी सारी शक्ति तथा समस्त बुद्धिबल दूसरोंको पददलित तथा अपहृत बनानेमें व्यय हो रहा है। अनुदार अहिंदू संसारको, हिंदूसे उदारताका पाठ सीखना है। हिंदूका यह उदार स्वभाव मनुष्यमात्रके अपनाने योग्य है। यद्यपि हिंदू विद्वेषियोंने भारतमें नृशंस अपराध किये हैं और ऐसे अपराध उनके रक्तमांसतक पहुंच चुके हैं, फिर भी हिंदूकी दृष्टिमें किसी भी प्रकारका धार्मिक मन्तव्य न रखनेवाला व्यक्ति शत्रु नहीं माना जाता।

हिन्दूके अकारण वैरी

हिंदूमें इतनी उदारता होनेपर भी संसारमें इसके अकारण वैरियोंकी कमी नहीं है। हिंदूके हिंदुत्वपर संगठित आक्रमण करनेवाले लोग अपनी ही ओरसे, अपने ही अमानवोचित मानसिक खोटसे, इससे शत्रुता रखते हैं। जैसे भेडिया बकरीका स्वभाव वैरी है इसी प्रकार ये लोग हिंदूके स्वभाववैरी हैं। यह इन लोगोंकी एकपक्षीय शत्रुता है। यह इन लोगोंका जातीय खोट है। हिंदू किसी पर अपनी ओरसे संगठित आक्रमण नहीं करता। किसीकी मनुष्यतापर संगठित आक्रमण न करना हिंदूका ऐसा सामाजिक गुण है जिसे इससे संसारभरको सीखना है।

हिन्दूकी राजनैतिक भूल

हिन्दूने समझा था जैसा मैं अनाक्रामक हूं वैसा ही सारा संसार होगा। वह इस भूलमें आकर अपना रक्षात्मक पहलू ढीला कर बैठा। हिन्दूकी यह असावधानी या अदक्षता ही इसके विनाशका कारण बन गई। इसकी इस

समझने इसे धोका दिया। उसने संसारके अकारण वैरियोंको नहीं पहचाना। हिंदूको हिंदू विद्वेषपर संगठित प्रत्याक्रमण करनेके लिये सब समय सन्नद्ध तथा कटिबद्ध रहना चाहिये था। परन्तु वह नहीं रहा और उसका कटुफल पानेसे भी नहीं बच सका। उसे आत्मरक्षाके लिये कटिबद्ध रहना चाहिये था। उसे बहुत दिनसे अहिंसाके सम्बन्धमें बुरी तरह बहकाया जा रहा था और अब भी बहकाया जा रहा है। वह प्रत्याक्रमणमें हिंसा समझने लगा था—और अब भी समझ रहा है। उसे जानना चाहिये था कि आत्मरक्षाके लिये किया हुआ आक्रामकका वध, हिंसाकी परिभाषामें आता ही नहीं। उसे आत्मरक्षाके लिये आततायियोंपर आक्रमण करना ही चाहिये था और इसे अहिंसा नामक परमधर्म मानना चाहिये था।

आत्मरक्षाके लिये आततायीपर आक्रमणकी नैतिकता

जब किसी व्यक्तिके व्यक्तिगत अधिकारपर आक्रमण हो तब उसका यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि " वह अपनी व्यक्तिगत भौतिक शक्तिके बलसे उस आक्रमणका विरोध करे। वह उस विरोधमें अपनी शारीरशक्तिके थोडेपनकी ओर थोडा भी ध्यान न दे। वह विरोधी बडीसे बडी राक्षसी शक्तिका भी विरोध करने खडा हो जाय। " इस प्रकारके आक्रमणके समय अपने आपको मनोबलमें अपने विरोधीसे अधिक शक्तिमान मानना आक्रान्तका पवित्र कर्तव्य है। इस प्रकारके प्रत्याक्रमणोंमें अपनी भौतिक शक्ति या शरीर बलका प्रयोग केवल अपने मनको आक्रमणजन्य प्रभावोंसे बचाये रखनेके ही लिये किया जाना चाहिये। न कि अपने विरोधीको नष्ट कर डालने या बदला लेनेके लिये। विरोधी शक्तिका नाश तो प्रकृतिकी अनुकूलतापर निर्भर होता है। परन्तु अपने मनको सुरक्षित रखना सर्वथा अपने वशमें होता है। इसलिये मनुष्यको अपने शरीर बल या अपनी भौतिक शक्तिका प्रयोग अपने मनको सुरक्षित रखने ही के उद्देश्यसे करना चाहिये।

बलका प्रतिप्रयोग करनेपर कभी कभी शरीरके बलिदान करनेकी परिस्थितियां भी आ खडी होती हैं। उस समय अपने शरीरका बलिदान करना भी कर्तव्य हो जाता और मान लेना पडता है। इस प्रकारके आक्रमणोंको अपनी शरीर शक्तिपर न मानकर अपनी मानसिक शक्ति या मनपर होनेवाले आक्रमण मानना चाहिये। बात यह है कि अत्याचारी लोग निर्बल माने हुये लोगोंकी मानसिक निर्बलताको पहचानकर उसीपर आक्रमण किया करते हैं। आक्रमणका यह सिद्धान्त है कि वह सदा निर्बलपर ही होता है। बलवानपर कभी कोई आक्रमण नहीं किया करता। इसलिये विचारशील लोग इस प्रकारके आक्रमणोंका विरोध करते समय अपनी शरीर शक्तिपर कभी निर्भर नहीं रहते। ज्यों ही मनुष्य शरीर शक्तिपर निर्भर रहना त्याग देता है, त्यों ही वह अजेय बन जाता है। इसलिये विचारशील लोग अपने पास शरीरशक्तिके सर्वथा न होने या न्यून होनेपर भी अपनेको निर्बल नहीं मानते और विरोधसे कभी मुंह नहीं मोडते।

यदि मनुष्य ऐसे आक्रमणोंके समय अपने शरीर बलपर निर्भर हो जाय और शरीरबलसे शत्रुबलको तोलने लगे तो वह अपने आक्रामकका वह तीव्र विरोध नहीं कर सकता जो उसका तात्कालिक सर्वोच्च कर्तव्य होता है। यदि वह अपने शरीरबलसे अपने शत्रुबलको तोलेगा तो उसके सामने अपनेको असहाय और निरुपाय मानकर लुटते पिटते रहनेसे दूसरा कोई भी मार्ग शेष नहीं रहेगा।

कभी कभी प्रकृतिकी अचिन्त्य इच्छासे मनुष्यके सामने अपने पारिवारिकोंकी पवित्रताकी रक्षा करनेका कर्तव्य आ खडा होता है। ऐसे समय इस रक्षाके साथ मनुष्यकी मानसिक स्थितिका संबन्ध स्पष्ट दिखाई दे जाता है। ऐसे समय मनुष्यकी मनोदशा अपने पारिवारिकोंकी पवित्रताकी रक्षा करनेपर ही सुरक्षित रह सकती है। ये कुछ ऐसी अवस्थायें हैं जिनमें व्यक्तियोंके सामने शारीरिक बल प्रयोग करनेका अनिवार्य अवसर आ खडा होता है। इस प्रकारकी परिस्थितियोंमें मनुष्यको कर्तव्यसे विवश होकर अपने शरीरबल या भौतिक बलको व्यवहारमें लाना ही पडता है, राक्षसी शक्तिके अत्याचारकी रुकावट बनना पडता या उसमें बाधा डालनी ही पडती है। ये अवसर जैसे व्यक्तियोंके सामने आते हैं इसी प्रकार राष्ट्रोंके सामने भी आते हैं। ऐसे अवसरोंपर जैसे व्यक्तियोंको बलप्रयोग करके आक्रमणका विरोध करना चाहिये इसी प्रकार राष्ट्रोंको भी आततायी लोगोंसे लोहा लेना ही चाहिये।

बलप्रयोगका सिद्धान्त

दुष्टके काममें बाधा डालनेका यह नियम है कि वह सदा शारीरिक या भौतिक बलसे ही डाली जाती है। मनुष्य दुष्टोंके सामने अपने अल्प या अधिक भौतिक बलसे बाधा खड़ी करके ही अपनी मनोदशाकी रक्षारूपी अपना कर्तव्य पाल सकता है। यदि मनुष्य राक्षसी शक्तिके काममें बाधा नहीं डालता तो उसके मनोदशाकी रक्षारूपी कर्तव्यकी उपेक्षा तथा अवहेलना हुये बिना नहीं रहती। यदि मनुष्य ऐसे समय बाधा न डालकर चुप रह जाय तो वह उसका कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जाना होता है। राक्षसी शक्तिके कामोंमें बाधा न डालनेवाले मनुष्य अपनी मनोदशाको बिखाड़ लेते या उसे पतित कर लेते हैं।

इस विवेचनसे शारीरिक बलको प्रयोगमें लानेका यह सिद्धान्त हाथ लगा कि मनुष्यको अपने देहबलको अपनी मनोदशाको पवित्र बनाये रखनेके लिये प्रयोगमें लाना ही चाहिये। ऐसा करना उसका अधिकार भी है और कर्तव्य भी है। इसीका यह भी अर्थ हुआ कि जब आत्मरक्षार्थी लोग अपने देहबलको आत्मरक्षाके काममें लाते हैं तब वे भौतिक संपत्ति या प्राणरक्षाके लोभमें आकर प्रयोगमें नहीं लाते, किन्तु इस दृष्टिसे लाते हैं कि ऐसा करना उनका अपने स्वाधिकारमें रहकर कर्तव्यपालना होता है। लोभाधीन होकर शारीरबलका प्रयोग करना तो उसका दुरुपयोग और आततायीपन है। इसीके साथ जहां मनुष्यको शरीर बलका प्रयोग करना चाहिये वहां उसका प्रयोग न करके प्राण तथा धन दोनोंकी तुलना करके प्राणको तो रक्षणीय तथा धनको उपेक्षणीय वस्तु मानकर शरीरबलको प्रयोगमें न लाना अर्थात् उससे आततायीपर घातक प्रहार न करना भी अपने शरीरबलका दुरुपयोग ही है।

यदि किसीको किसी भौतिक शक्ति या पदार्थका दुरुपयोग रोकना अपना कर्तव्य दीखे तो उस समय वह भौतिक वस्तु उसका उद्देश्य नहीं रहती; किन्तु ऐसे समयोंपर अपनी मनोदशाकी रक्षा ही उद्देश्य होता है। ऐसे समयोंपर अपने मनको निर्विघ्न रखनेके लिये शरीरबलको प्रयोगमें लाना तो अहिंसारूपी आवश्यक कर्तव्य होता है, तथा उसे प्रयोगमें न लाना और डरकर बैठजाना स्पष्टरूपसे हिंसारूपी अकर्तव्य होता है। इस दृष्टिसे प्रत्येक हिन्दूको आत्मरक्षाके लिये प्रत्याक्रमण करनेमें समर्थ बनकर रहना चाहिये। जैसे व्यक्तिको रहना चाहिये वैसे ही राष्ट्रको भी रहना चाहिये। इस धोकेमें कभी भी न रहना चाहिये कि मैं किसीके साथ बुराई नहीं करता तो मेरे साथ कोई बुराई क्यों करेगा? उसे अपने वृद्धोंकी यह उक्ति स्मरण रखनी चाहिये—

> मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः
> उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥

मुनिके एकान्त जगलमें अपनी मनोवृत्तिसे रहनेपर भी वहां इसके मित्र उदासीन तथा शत्रु ये तीन पक्ष बनजाने अनिवार्य होते हैं। इसलिये कोई भी मनुष्य या राष्ट्र कभी भी शत्रुके आक्रमणकी संभावनाको न भूले और अहिंसाके झूठे बहकावेमें आकर आत्मघात न करे।

हिन्दूकी विगत राष्ट्रीय भूल तथा वर्तमानकर्तव्य

प्रत्याक्रमणके लिये सन्नद्ध न रहने ही हिन्दूको सदियोंसे पिटवाया है। उसे अपना यह पहलू पुष्ट करके रखना चाहिये था और अब फिर रखना चाहिये। वह इस संबन्धमें किन्हीं लम्बे चौड़े नामवाले धर्मोपदेशोंके बहकावेमें न आवे। वह किन्हीं ऊंची व्यासपीठोंपर बैठे हुये उपदेशकोंकी वाणोसे सत्यको न परखे, अपितु सत्यकी कसौटीसे उन धर्मोपदेशकोंकी बातोंको परखे कि उनकी कही बात सत्यकी कसौटीपर खरी उतरती हैं या नहीं? यदि उनकी बात सत्यकी कसौटीपर खरी न उतरे तो वह कितने ही बडे समझे हुयेकी कही हुई क्यों न हो उसे निःशंक होकर अस्वीकार करे। वह इस बहकावेमें आकर देशका दूसरा अगच्छेद करनेका कारण न बने। आत्मरक्षा करनेके लिये हिन्दू विद्वेषीपर संगठित प्रत्याक्रमणमें अपनी शक्तिका प्रयोग न करना या करनेसे बचना हिंदूचरित्रका कलंक या उसकी त्रुटि है। यह दोष हिन्दूका जातीयदोष बन गया है।

यदि हिंदू, ससारमें सम्मानपूर्वक जीना चाहता हो तो उसे अपनी यह जातीय त्रुटि दूर करनी पडेगी। आज हिंदू विद्वेषी लोग हिंदूचरित्रकी इसी निर्बलताका अनुचित लाभ उठाकर अर्थात् इसे निर्विरोध देखकर बलवान बन गये हैं और भारतके मनुष्य समाजको ध्वस्त करनेके लिये कमर कसकर खडे हैं। आज हिंदू विद्वेषियोंके हाथों होनेवाले अपने इस संभावित ध्वंसको बचाना प्रत्येक हिन्दूका

पवित्र राष्ट्रीय कर्तव्य है। हिंदूको जानना है कि यह राष्ट्र "हिंदूका राष्ट्र" या "आर्यराष्ट्र" है। उसे इस ध्वंससे आत्मरक्षा करनेके लिये आगे बताई विधिके अनुसार आत्मसुधार करना ही पडेगा।

हिन्दूराष्ट्र नामकी वैधता तथा सिक्यूलर शासनपद्धतिकी आलोचना

यह कितने परितापका विषय है कि आज बत्तीस कोटि हिन्दुओंके होनेपर भी भारतके ऊपर या यों कहें कि समग्र भारतकी मनुष्यतापर हिन्दूविद्वेष ही शासन कर रहा है। इन हिन्दू विद्वेषियोंकी शासन पद्धतिका ही नाम सिक्यूलर शासन है। हमारी वर्तमान सरकारने अपनेको सिक्यूलर सरकार घोषित किया है। आइये इस विशेषणकी सरकारी पृष्ठभूमिको ढूंढें कि उसने अपने साथ यह अपूर्व विशेषण क्यों लगाया? उसके इस विशेष लगानेके मूलमें कौनसी भावना काम कर रही है? पाठक सोचें अपनी राज्यव्यवस्था का पुराना ऐतिहासिक नाम त्यागना और नया नाम रखना एक असाधारण घटना है। यह नया नामकरण करनेवालोंकी असाधारण मनोदशाकी ओर संकेत कर रहा है।

यह तो मानना ही होगा कि इस प्रकारके राष्ट्रीय नामकरणोंकी कोई न कोई पृष्ठभूमि या मूल प्रेरणा होती है। इन लोगोंने उसे पूरा खोलकर नहीं बताया। इनकी इस गुप्त मनोवृत्तिको अपने राष्ट्रके सामने रखकर यदि वह निन्दनीय सिद्ध हो तो उसपर घृणाके प्रहार करना राष्ट्रका राष्ट्रीय कर्तव्य है। जबतक राष्ट्रव्यवस्थाकी नया नाम रखवानेवाली मूल मनोवृत्ति नहीं ढूंढ ली जायगी तबतक उसके इस नामका अभिप्राय समझमें नहीं आयगा। इस संबन्धमें सिक्यूलर शब्दके कोशोंमें लिखे अर्थसे काम नहीं चलता। बात यह है कि "शब्दार्थानामियत्ता नास्ति" शब्दोंके अर्थोंकी कोई सीमा नहीं होती। "सर्वे सर्वार्थवाचकाः सन्ति तात्पर्ये" वक्ताका तात्पर्य हो तो कोई भी शब्द किसी भी अर्थको कहने लग जाता है।

इसलिये शब्दोंके अर्थ करते समय कोशोक्त अर्थोंपर निर्भर नहीं रहा जा सकता। शब्द तो वक्ताके भावकी सवारी है। शब्द बोलते समय वक्ताके मनमें जो भाव हों वे सब उस शब्दके अर्थ हो जाते हैं। शब्द तो एक ध्वनि है। उसका अपना कोई अर्थ नहीं है। वक्ताके मनोभावोंमें से ही शब्दोंमें शक्ति आती है। इसलिये किसी शब्दका अर्थ ढूंढते समय वक्ताके मनोभावोंतक पहुंचना आवश्यक होता है। इसलिये आइये इस नामकरणकी पृष्ठभूमि अव्यक्त भावोंको ढूंढें। सरकारने धर्म सम्प्रदायोंके प्रति अपक्षपातको ही अपने इस नामकरणका अभिप्राय घोषित किया है। इस घोषणामें उसका वास्तविक अभिप्राय व्यक्त नहीं किया गया, जिसके निम्नकारण हैं—

हम सरकारकी निष्पक्षपातताका स्वागत करते हुये भी उसके गुप्त मनोभावोंको प्रकाशमें लानेके लिये पूछना चाहते हैं- यदि उसे सम्प्रदायोंमें निष्पक्षपातता प्रकट करनी थी, और यह उसकी एक उचित इच्छा थी, तो यह उसकी सराहनीय बात थी। परन्तु उसे इस निष्पक्षपातताको अपने अमलमें लाना चाहिये था न कि इसके लिये अपना नाम ही बदल डालना चाहिये था। सोचना तो यह है कि हमारी सरकारको निष्पक्षपात रहनेके लिये नामके साथ नया विशेषण जोडनेकी या संसारमें अपनी निष्पक्षपातताका ढंढोरा पीटनेकी आवश्यकता ही क्यों हुई? निष्पक्षपातताका ढंढोरा पीटना तो यशोलोभीका काम है। यशका लोभी दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिये वे काम कर बैठता है जो उसे नहीं करने चाहिये। क्योंकि धर्म सम्प्रदायोंके प्रति अपक्षपातता जो उसकी नीति होनी चाहिये थी, न कि उसे अपना यह नयानाम रखकर अपक्षपातताका ढंढोरा पीटना चाहिये था। इसलिये स्वभावसे प्रश्न होता है कि हमारी सरकारने अपने लिये निष्पक्षपातताका प्रमाण पत्र लेनेकी आवश्यकता क्यों समझी? और उसने यह प्रमाणपत्र किससे लेना चाहा? इन दोनों प्रश्नोंके उत्तरोंमें से ही सरकारकी गुप्त मनोवृत्ति पाई जा सकती है।

[क्रमशः]

संस्कृत भाषा प्रचारके लिये

अधिक सुविधा

बम्बईका अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन

▲

मुंबईमें ता. २ से ४ जून १९५६ तक "अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य संमेलनका २३ वां अधिवेशन हुआ। अध्यक्षस्थान श्री जगद्गुरु शंकराचार्य श्री भारती कृष्णतीर्थ पुरी पीठाधीशजीने मण्डित किया था। उनके साथ द्वारकापीठाधीश श्री जगद्गुरु शंकराचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्दतीर्थ भी समेलनको आशीर्वाद देनेके लिये उपस्थित थे। जिस संमेलनमें दो शंकराचार्य उपस्थित हैं ऐसा कोई संमेलन आजतक नहीं हुआ। यह इस संमेलनकी विशेषता थी। इस समेलनका उद्घाटन श्री माननीय डा० हरेकृष्ण महताब, मुंबई राज्यके लोकप्रिय राज्यपालजीने किया और आपने अपने उद्घाटनके भाषणमें संस्कृतका महत्त्व अच्छीतरहसे वर्णन किया।

इस संमेलनके स्वागताध्यक्ष पं. श्री दा. सातवलेकर स्वाध्यायमंडलके अध्यक्ष थे तथा कार्याध्यक्ष श्री. पं. माधवाचार्यजी थे तथा कार्यवाह श्री पं. गणेशशास्त्री जोशी तथा श्री ल. म. चक्रदेवजी थे।

श्री पं. केदारनाथ शास्त्री संमेलनके महामंत्री तथा अध्यक्ष विद्वद्वर्य श्री म. म. पं. गिरधरशर्मा चतुर्वेदीजी उपस्थित थे। इस संमेलनमें सब भाषण संस्कृतभाषाका महत्त्व बतानेवाले अच्छे हुए और संस्कृतभाषाका ग्रामग्राममें प्रचार करनेके लिये अनेक प्रस्ताव सर्व संमतिसे स्वीकृत हुए।

जिम्मेवारी बढ गयी

स्वाध्याय मण्डलके अध्यक्ष पं. श्री. दा. सातवलेकर इस संमेलनके स्वागताध्यक्ष थे, इस कारण संस्कृतप्रचार अधिक वेगसे करनेकी जिम्मेवारी स्वाध्याय-मण्डलपर आ पडी है और वह आनन्दसे हम अपने ऊपर लेकर अधिक कार्य करनेको तैयार हैं।

आनन्दका विषय यह है कि इस संस्कृत संमेलनमें १८०० से अधिक प्रतिनिधि भारतके प्रमुख स्थानोंसे आये थे और उनमें करीब १५० से अधिक स्वाध्याय-मंडलके स्थान स्थानके केन्द्र संचालक थे। मुंबई, गुजरात, महाराष्ट्र, हैदराबाद मराठवाडा, मध्यभारत, वर्धा, नागपुर, म प्रांत, मद्रास आदि स्थानोंसे स्वाध्याय-मण्डलके संस्कृतप्रचारके केन्द्रोंके संचालक उत्साहके साथ उपस्थित थे। और वे अपना प्रचार कार्य बतानेके लिये आये थे। यह स्वाध्याय-मण्डलके लिये बडा आनन्दका और उत्साहद विषय है। जैसे ये स्वाध्याय मण्डलके संस्कृतप्रचारका कार्य करनेवाले संस्कृतप्रचारके केन्द्रोंके संचालक इस संस्कृत संमेलनमें उपस्थित थे, इस तरह किसी भी दूसरी संस्थाके कार्यकर्ता इतनी बडी संख्यामें उपस्थित नहीं थे। इससे सिद्ध हो रहा है कि स्वाध्याय-मंडलने संस्कृतप्रचारका कार्य अच्छी तरह चलाया है।

संस्कृतप्रचारके केन्द्रोंकी शक्ति

बंबईके संस्कृत संमेलनमें इस तरह विशेष भाग लेनेके कारण स्वाध्यायमण्डल पर संस्कृत प्रचार करनेकी विशेष जिम्मेदारी आ गयी है। उस जिम्मेवारीको पूर्ण रीतिसे सिद्ध करनेके लिये सब स्वाध्यायमण्डलके कार्यकर्ता तथा अखिलभारतमें स्वाध्यायमण्डलके संस्कृत प्रचारके सब केन्द्र संचालक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर पराकाष्ठाका यत्न करेंगे इसमें हमें संदेह नहीं है। जहां जहां संस्कृत प्रचारके

केन्द्र है वहां स्वाध्यायमण्डल ही केन्द्र संचालकोंके रूपमें उस स्थानपर कार्य कर रहा है ऐसा हम समझते हैं। प्रत्येक केन्द्र संचालकके पीछे स्वाध्यायमण्डलकी यह सब शक्ति कार्य कर रही है।

हमारे केन्द्र कश्मीरसे लेकर मद्रासतक करीब करीब पांचसौ हैं। ये प्रयत्न करेंगे तो द्विगुणित और त्रिगुणित भी केन्द्र हो सकते हैं। और इस तरह कार्य अच्छी तरह बढ सकता है। हमें आशा है कि हमारे सब केन्द्र संचालक अपनी यह जिम्मेवारी समझकर संस्कृत प्रचारका कार्य अधिकसे अधिक बढायेंगे।

परीक्षा शुल्क कम किया

स्वाध्याय-मण्डलकी संस्कृत प्रचार समितिने अपनी यह जिम्मेवारी जानकर अपनी विशेष सभा बुलाकर परीक्षार्थियोंका परीक्षा शुल्क कम करनेका प्रस्ताव स्वीकृत किया। आगामी परीक्षा ता० २२-२३-२४ सितंबर १९५६ की परीक्षामें इस तरह परीक्षा शुल्क किया जायगा—

परीक्षा शुल्क

परीक्षा नाम	पहिलेका परीक्षा शुल्क	अभीका परीक्षा शुल्क
१ संस्कृत प्रारंभिणी	१॥)	१)
२ संस्कृत प्रवेशिका	२॥)	२)
३ संस्कृत परिचय	३॥)	३)
४ संस्कृत विशारद	५)	५)

इस तरह प्रथम तीन परीक्षाओंके शुल्कमें सहूलियत की है। सब केन्द्र संचालक अपने परीक्षार्थियोंमें इसकी घोषणा करें और अधिकसे अधिक परीक्षार्थी परीक्षाओंमें बिठलानेका यत्न करें।

नये केन्द्र हाइस्कूलों और माध्यमिक पाठशालाओंमें स्थापन करें, पांच दस मीलके अन्तरमें जहां पाठशाला हैं वहांसे परीक्षार्थी संस्कृत परीक्षाओंके लिये आजांय ऐसा करें तथा जहां नियमानुसार नये केन्द्र स्थापन हो सकते हैं वहां नये केन्द्र स्थापन करें।

संस्कृतिका प्रचार

ग्रामग्राममें अपनी भारतीय संस्कृतिका प्रचार करना है। इस कार्यमें सब केन्द्र संचालक सहायता करें। इसका प्रारंभिक कार्य " गीता पठन मण्डल " शुरू करना और कमसे कम ५ या १० सभासद बनाकर प्रतिदिन नियत समयमें इकट्ठे होकर " भगवद्गीताकी पुरुषार्थबोधिनी टीका " का एक घण्टा पठन करना यह प्रारंभिक कार्य ग्रामग्राममें शुरु करना चाहिये। एक ग्राममें अधिक स्थानोंपर यह कार्य हो जाय तो भी अच्छा है। अधिक अच्छा पठन होनेपर गीताकी परीक्षाओंका कार्य किया जा सकता है।

आशा है कि परीक्षाशुल्क कम होनेका लाभ अधिकसे अधिक परीक्षार्थी लें ऐसा करके संस्कृत प्रचार जितना किया जा सकता है, उतना करके संस्कृत संमेलनके कार्यको खूब बढाइये।

निवेदनकर्ता
श्री. दा. सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वध्याय मण्डल,
आनंदाश्रम, पारडी, जि. सूरत

अखिल-भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनस्य

२३ तमे अधिवेशने स्वागताध्यक्षस्य

पं. श्री. दा. सातवलेकरस्य

अभिभाषणम्

भोः भोः सभ्याः ! भो आचार्यवर्याः !

अखिल-भारतीयस्य संस्कृत-साहित्य-संमेलनस्य त्रयोविंशतितमं अधिवेशनं सफली कृत्वा सुफलीकर्तुं इह सर्वे भवन्तः समागताः, अतो भवतां सर्वेषां स्वागतमहं विनम्रभावनामयेन मनसा करोमि। मुंबापुर्यां इदानीं ग्रीष्मसमयो वर्तते, एष तु स्वभावतया प्रस्वेदकारकः कालः, अतोऽन्यप्रान्तीयजनान् स अतीव संत्रासयति। एवं विधे कष्टमये समये सर्वे भवन्तोऽत्रागताः, सुखेनोपविष्टाः, संस्कृतभाषाप्रचारोऽस्मिन्देशे कथं कर्तव्यः, अत्र के विघ्नाः सन्ति, ते कथं दूरीकर्तव्याः, संस्कृतभाषायै समादरणीयं स्थानं यथापूर्वं कथं प्राप्स्यति, एतद्विषये अस्माकं किं कर्तव्यं इदानीं वर्तते, इत्यादीनां अनेकानां विषयाणां सर्वैर्मिलित्वा विचारं कृत्वा, यश्च निश्चयो भवेत्, तस्य आचरणं कृत्वा च, संस्कृतभाषायाः सत्वरं यथा अधिकादधिकः प्रचारो भारते भवेत्तथा कर्तुं भवन्तः सर्वे समुत्सुकाः दृश्यन्ते, एतदर्थमेव भवन्तः सर्वेऽत्र समागताः, अतः भवतां सर्वेषां स्वागतं कृत्वा, संमेलनस्य कार्यस्य यथा शीघ्रं प्रारंभो भवेत्तथा कर्तुं अहं इच्छामि।

संस्कृतभाषा जीवति

केचन वदन्ति "संस्कृतभाषा मृतेति। मृतायाः अस्याः भाषायाः प्रचारार्थं एवं विधानां संमेलनानां उद्यमः किमर्थं कार्यः" इति तेषां मतम्। असमञ्जसमेतत् कथनम्। संस्कृत-भाषायां साप्ताहिकानि, पाक्षिकानि, मासिकानि च पत्राणि इदानीं भारते देशे प्रकाश्यन्ते। तानि च ग्राहकैः पठ्यन्ते। किमेतद् अस्याः संस्कृतभाषायाः जीवनस्य चिह्नं नास्ति? कस्यां मृतायां भाषायां एवं विधानि पत्राणि प्रकाश्यन्ते?

*

इदानीं प्रान्तीया भाषा अनेकाः भारतस्य प्रान्तेषु प्रचलिताः सन्ति। ताभिरेव प्रान्तीयव्यवहारो भवति तत्रत्यानां सर्वेषां प्रांतीय-जनानाम्। प्रान्तान्तरीय-व्यवहारार्थं आंग्लराज्येन आंग्लभाषा प्रचारिता। सा आंग्लभाषा सार्धशतवर्षपर्यंतं अत्रत्ये राष्ट्रीये व्यवहारे संप्रयुक्तापि प्रतिशतकं पंचभिर्भारतीयै. न ज्ञायते। अतः सा राष्ट्रभाषास्थानं प्राप्तुं असमर्था इति सिद्धमेव। आंग्लभाषाया आगमनात्पूर्वं संस्कृतभाषैव भारतराष्ट्रस्य राष्ट्रभाषा आसीदिति सिद्धं भवति ताम्रपटेषु प्रयुज्यमानां तां संस्कृतभाषां दृष्ट्वा। आंग्लागमनात्पूर्वं अखिलस्य भारतस्य भाषा संस्कृतैवासीत्। आंग्लभाषायाः प्रवेशो भारते नाभविष्यत् तर्हि संस्कृतैव राष्ट्रभाषाऽभविष्यत् भारतस्य, सैव इदानीं पर्यंतं तथैव राष्ट्रभाषारूपेण समचलिष्यत् सर्वस्मिन् भारते देशे।

संस्कृतभाषायां संस्काराः

सर्वेषां भारतीयानां हिंदूनां विवाहादिसंस्काराः संस्कृतभाषायामेव भवन्ति। सर्वाः पूजाविधय उपासनाप्रकाराश्च संस्कृतभाषयैव क्रियन्ते। एवं आध्यात्मिकं धार्मिकं च कर्म हिंदूनां गृहेषु संस्कृतभाषयैव भवति। अतः धार्मिकानुष्ठानेषु हिंदूनां गृहे गृहे संस्कृतभाषैव प्रचलितास्तीति न कोऽपि तां प्रतिषेद्धुं समर्थः।

इदानीं संस्कृतभाषैव बोधभाषा अस्ति। इत्यस्मिन् विषये केऽपि संदेहं करिष्यन्ति। अतस्तेषां संज्ञानाय किमप्यत्र मया अवश्यं कथनीयम्।

यास्तु प्रांतीया भाषाः सन्ति, तासु सर्वासु भाषासु प्रतिशतकं ६० वा ७० वा संस्कृतभाषायाः शब्दाः प्रयुज्यमाना दृश्यन्ते। वङ्गभाषायां तु इतोऽप्यधिकाः संस्कृतभाषायाः

शब्दाः प्रयुज्यन्ते। मोहमदीया वंगीया अपि संस्कृतान् शब्दान् प्रयुञ्जन्ति। एवं सर्वासु प्रान्तीयभाषासु प्रतिशतकं षष्ठिपर्यंतं संस्कृतपदानां उपयोगो भवति। द्राविड-भाषासु अपि बहवः संस्कृतशब्दाः प्रयुज्यमाना दृश्यन्ते। अतः एवं वक्तुं शक्यते यत् प्रान्तभाषाः प्रायः संस्कृतमयाः सन्ति। संस्कृताः संस्कृतोद्भवाः शब्दाः तासु प्रतिशतकं सप्ततिपर्यंतं प्रयुज्यमाना दृश्यन्ते। दृष्ट्वा एतत्सर्वं को नाम ब्रवीतुं शक्नोति यद् भारते संस्कृता भाषा मृतेति ?

संस्कृता भाषा सर्वासां प्रान्तीयभाषाणां जननी भवतु, ज्येष्ठा भगिनी भवतु, पोषयित्री वा तासां सर्वासां भाषाणां भवतु, अथवा जीवयित्री सजीवयित्री वा भवतु। सर्वासां प्रान्तभाषाणां परिपोषणं कर्तुं समर्था एषा संस्कृता भाषा वर्तते, इत्यत्र न कोऽपि संदेहः।

यदि कस्यामेव प्रान्तभाषायां नवीनानि संज्ञापदानि निर्मातव्यानि भवेयुः, तर्हि तानि संस्कृतपदान्येव निर्माय तत्र प्रयोक्तव्यानि। न अन्यमार्गेण नवीनानां संज्ञानां प्रवेशः कास्वपि प्रान्तीयभाषासु भवितुं शक्यः।

द्राविडभाषाणां आर्यभाषाभिः सह संघर्षो भवतीति कैश्चिदुच्यते। यदि संघर्ष एषः सुदूरीकर्तव्यः तर्हि तद् दूरी-करणं संस्कृतभाषाप्रचारेणैव भवितुं शक्यम्। द्राविडेषु प्रान्ते-ष्वपि संस्कृतभाषायाः संमानो वर्तते। नहि नहि। इदानीं द्राविडेष्वेव प्रान्तेषु संस्कृतभाषाया प्रचारः सुमहान् वर्तते। उत्तरीयेषु प्रान्तेषु तथा न दृश्यते यथा दाक्षिणात्येषु प्रान्तेषु संस्कृतभाषाप्रचारो दृश्यते। अतः सिध्यति यत् प्रान्तीयसंघ-र्षस्य अपनयनं यदि केन भवितु शक्यं तर्हि तत्संस्कृतभाषायाः प्रचारेणैव भवितुं शक्यं नान्यथेति ज्ञातव्यम्।

आङ्ग्लभाषा-प्रचारः

सार्धशतवर्षपर्यन्तं आंग्लभाषा भारते राजभाषारूपेण अवस्थिता आसीत्, परंतु प्रतिशतकं पञ्चजनैरपि सा ज्ञातुं न शक्यते। संस्कृतभाषायाः पदानि तु सर्वे भारतीया जना जानन्त्येव। यत् राजभाषारूपयापि आंग्लभाषया न कृतं, तत् संस्कृतभाषया भारते कृतमिति सुस्पष्टमनुभूयते। अत एव सर्वैः वक्तुं शक्यते यत् संस्कृतभाषायाः प्रचारः भारते कर्तुं सुकरोऽस्ति। यतः प्रत्येकस्यां प्रान्तभाषायां प्रति-शतकं षष्ठिपर्यन्तं संस्कृतशब्दानां उपयोगः प्रान्तीयैर्जनैः क्रियत एव। अतः संस्कृतभाषायाः प्रचारोऽस्मिन् भारतदेशे सुखसाध्यो वर्तते इति स्पष्टं भवति।

संस्कृता भाषा न कठिना

संस्कृतभाषा कठिनास्तीति असत्यः प्रवादो वर्तते अस्मिन् समये। प्रत्यक्षया रीत्या विचारे कृते संस्कृतभाषा सुबोध-तरा वर्तते। संस्कृतभाषापेक्षया सर्वाः प्रान्तीया भाषा कठिनतराः सन्ति। पश्यतां हिंदी-संस्कृतयोः तुलनां, या इदानीं अत्रास्माभिः क्रियते—

तस्य पुत्रः याति = उसका पुत्र जाता है।
तस्य स्त्री याति = उसकी स्त्री जाती है।
तस्य मित्रं याति = उसका मित्र जाता है।

अत्र संस्कृत-भाषायां पुल्लिंग-स्त्रीलिंग- नपुंसकलिंगेषु 'तस्य' तथा 'याति' इति रूपेषु लिंगभेदेन रूपभेदो न जातः, परतु हिंदीभाषायां 'उसका, उसकी' तथा 'जाता, जाती' इति रूपभेदो जायते। मराठीभाषायां तु नपुंसकलिंगेऽपि रूपान्तरं अन्यदेव भवति। लिंगभेदे सत्यपि क्रियारूपभेदो संस्कृते न भवति। प्रांतीयभाषासु लिंग-भेदे सति सर्वनामरूपेषु च क्रियापदरूपेषु च रूपभेदो भवति इत्येतेन संस्कृतभाषायाः सुबोधत्वं, प्रान्तभाषाणां कठिनतर-त्वं स्पष्टं भवति।

एवं सरलतराऽपि संस्कृतभाषा कठिनतरा अस्तीति अनु-भूयते इदानींतनैर्जनैरित्यपि सत्यमेव वर्तते, अस्य कारणं महापण्डितानां पाण्डित्ये वर्तते। ये पण्डिता मध्यकाले अस्मिन् देशे जाताः, तैः संस्कृतभाषायां कठिनतमाः रचनाः कृताः। सा तेषां भाषा जनभाषा नासीत्, परं सा आसीत् साहित्यिकी पण्डितभाषा।

अस्माभिः या संस्कृतभाषा प्रचारयितव्या सा संस्कृत साहि-त्यिकी भाषा (पण्डितानां भाषा) न भवितुं शक्या, सा तु जन-भाषा एव भवितुं शक्या। इति सर्वैः अत्र संमिलितैः विद्वद्भिः ज्ञातव्यम्। तथा सर्वैः भवद्भिः एतदर्थमेव यावान् प्रयत्नः कर्तुं शक्यः, तावान् प्रयत्नः कर्तव्यः। जनभाषारूपिणी या संस्कृतभाषा सा एव प्रान्तीयभाषाणां सहाय्यकारिणी पोष-यित्री च भाषा भवितुमर्हति। या महापण्डितां साहित्यिकी पंडितभाषा अस्ति सा तु अल्पैः एव पण्डितैर्ज्ञातुं शक्या। अतः सा कदाचिदपि जनभाषापदवीं आरोढुं नैव योग्या भविष्यति

इति सर्वैः मनसि अवधार्यम् । अनेनैव मार्गेण संस्कृत-भाषायाः प्रचारः कर्तव्यः ।

भारतस्य बोधभाषा

यदा संस्कृतभाषा जनभाषा भविष्यति तदैव सा भारत-राष्ट्रस्य अखिलस्य बोधभाषापि भविष्यति । इत्यत्र नास्ति संदेहः । यावत्कालपर्यन्तं एषा भारतस्य बोधभाषा न संजाता, तावत्कालपर्यन्तं अस्माभिः संस्कृतभाषायाः प्रचारार्थं प्रयत्नो विधेयः ।

संस्कृतभाषायां सन्धिकरणं विवक्षां अपेक्षते

संस्कृतभाषायां संधयो भवन्ति । एवं संधयो जर्मन-भाषायां रशियनभाषायामपि भवन्ति । परं संस्कृतभाषायां सन्धिकरणं वाक्ये वक्तुरिच्छां अपेक्षते । सन्धिविषये एष सार्वत्रिको नियमो वर्तते --

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

वाक्ये संधिकरणं वक्तुरिच्छां अपेक्षते । वक्तुः यादृशी इच्छा भवति तादृशी संहिता वाक्ये भवति ।

अतएव संस्कृतभाषायां सन्धिभयं नास्ति । यत्र वक्तुः इच्छा भवेत्तत्र सन्धिः कर्तव्यः, वक्तुरिच्छा न भवेत् तत्र सन्धिः न कर्तव्यः । एवं अत्रापि संस्कृतभाषायाः सारल्यमेव वर्तते ।

एवं रीत्या विचारे कृते, स्पष्टमेतत् प्रतीयते, यत् संस्कृता भाषा नैव कठिना, नापि अध्येतुं अशक्या । आङ्ग्लभाषायां प्राविण्यं प्राप्तुं विंशतिवर्षाणां कालोऽपि न्यून एव भवति, परंतु संस्कृतभाषायां प्राविण्यं त्रिष्वपि वर्षेषु प्राप्तुं शक्यम् । अत एव संस्कृतभाषायाः प्रचारोऽस्माभिः कार्यः ।

शब्दक्रमः ।

आंग्लभाषायां वाक्ये शब्दानां क्रमो निश्चितोऽस्ति । He eats mangos एवमेव आंग्लशब्दानां क्रमो वाक्ये भवितुं योग्यः । परं संस्कृतभाषायां वाक्ये एवं शब्दस्थान-क्रमो निश्चितो नास्ति । " स आम्रं भक्षयति । भक्षयति स आम्रम् । आम्रं भक्षयति सः । "

इत्यादि प्रकारेण संस्कृतभाषायां वक्तुरिच्छानुसारेण वाक्ये शब्दानां क्रमो भवितुं शक्यः । एषाऽपि सरलता एव संस्कृतभाषायां वर्तते—

संस्कृतभाषायां विश्वभाषाया दर्शनं

भोः भोः सभ्याः ! सर्वे भवन्तोऽत्रागताः अखिलभारतीयस्य संस्कृतसाहित्यस्य त्रयोविंशतितमस्य संमेलनस्य कार्यस्य संपादनार्थम् । अतएव तस्य कार्यस्य शीघ्रमेव प्रारंभः कर्तव्यः । परं संस्कृता भाषा केवलस्य भारतस्यैव नास्ति । संस्कृतभाषायां भवति विश्वभाषाया दर्शनम् । तद् केनापि दूरीकर्तुमशक्यम् । अतोऽस्मिन् विषये भवतां संमुखे मया किमपि अवश्यमेव वक्तव्यम् । अतो विषयमेतदधिकृत्य मया संक्षेपेनैव दीयन्ते प्रमाणानि, तानि भवद्भिः पूर्वग्रहं दूरीकृत्य विचारयितव्यानि ।

अर्जुनः

पश्यतां ' अर्जुन ' इति पदं केषु केषु देशेषु स्थान–नाम-रूपेण दृश्यते—

Arjen	अर्जन		(नदी) जर्मनी देशे ।
Arjon	अर्जून		अफगाणिस्थाने पर्वतः
Arjuni	अर्जुनी		(नदी) रशिया देशे
Arjun	अर्जुन	„	स्पेनदेशे
Arjen tan „		स्थान	फ्रान्सदेशे
Arjen tine „		„	दक्षिण अमेरिकायां
Arjen tine „		„	पेन्सिल्वानियादेशे

एतेषु देशेषु नदीनाम, पर्वतनाम, ग्रामनाम, स्थान-नामादिरूपेण ' अर्जुन ' इति नाम इदानीमपि दृश्यते । एवमेव अर्जुनवाचकं ' पार्थ ' इति नामापि देशान्तरेषु दृश्यते, यथा—

Parth	पार्थ	वेल्सदेशे
„	„	स्काटलंडदेशे, ग्रामनाम नदीनाम च
Perth	पेर्थ	पार्थ स्काटलंडदेशे
Preth	पृथ्	पृथा आस्ट्रियादेशे

' पृथा ' पार्थस्य माता । एवं पृथा, पार्थ इति नामानि यूरोपदेशे दृश्यन्ते । पृथापुत्रस्य पार्थस्य अर्जुनस्य मोह-निवारणार्थं भगवता श्रीकृष्णेन गीता उपदिष्टा इति वृत्तं सर्वे जानन्त्येव । सा ' गीता ' अपि अनेकेषु युरोपीय-देशेषु स्थाननामादिरूपेण अद्यापि प्रतिष्ठां गता दृश्यते, यथा—

गीता

Geta	गेता गीता	फिन्लण्ड देशे
Geata	गैता ,,	इटली ,,
Gata	गाता ,,	स्पेन ,, (पर्वतः)
Gate	गाते ,,	वाशिंग्टन प्रान्ते
,,	,, ,,	व्हार्जिनिया ,,
Gete	गेते ,,	बेलजियन कांगो
Gette	,, ,,	,, (नदी)
Gatta	गात्ता ,,	सूडान (आफ्रिका)
Gota	गोता गीता	स्वीडन (नदी)
Gaita	गैता ,,	इजिप्ते
Gata land	गीताभूमि	स्वीडन देशे
Gate bury	गीतापुरी	,, ,,
Gates bury	,, ,,	पेनसिल्वानिया

एवं नानादेशेषु ग्रामनामरूपेण, स्थाननामरूपेण, नदीपर्वतादि नामरूपेण ' गीता ' सुप्रतिष्ठां प्राप्ता, सा च स्मर्यते इदानींतनैः यूरोपदेशीयैः इति महदाश्चर्यं एव वर्तते ।

कृष्णः

अर्जुनस्य सखा गीतायाः उपदेष्टा भगवान् कृष्णोऽपि एवमेव युरोपदेशेषु अजरामरं स्थानं प्राप्त इव दृश्यते । यथा भारते कृष्णनाम्ना अलंकृतानि नाना नगराणि दृश्यन्ते, तथैव युरोपादि देशेषु अपि नाना स्थानानि कृष्णस्य नाम्ना समलंकृतानि दृश्यन्ते यथा—

Kisan	किसन कृष्णः	तुर्कस्थाने [भारतेऽपि ' किसन् ' इति कृष्णस्य रूपान्तरं प्रयुज्यते, तदेव तुर्कैः ग्रामनामसु प्रयुज्यते।]
Kishon	किशन (नदी)	पाकिस्तान देशे [' पाकिस्तान ' इति यदुच्यते तदपि 'पाकिस्थानमेव' वर्तते]
Kison	किसन	कोरिया देशे
Krosno	क्रोष्णो कृष्ण	पोलंडदेशे
Kreesne	क्रीश्न ,,	आस्ट्रियादेशे
Kryson	क्रिसन ,,	ग्रीस ,,
Kishin	किशिन ,,	अरबस्थान ,,
Kashan	कशान ,,	इराण देशे
Krusno	कृष्णो ,,	रशिया ,,
Krasnobor	कृष्णपुर	,,
Cresson	कृष्णो ,,	,,
Cresson	क्रेसन ,,	पेनसिल्व्हानिया ,,
Krasne Hare	कृष्णहरि	पोलंड देशे
Cresto	कृष्टो	जार्जिया देशे
Krasny	कृष्णी	मंगोलिया देशे
Curson	करसन कृष्ण	मिशिगान् अमेरिका देशे [कृष्णस्य ' करसन ' इति रूपं गुर्जरभाषायामपि भवति । कृष्णदासस्य कर्सनदास इति । 'करशन' इत्यपि कृष्णस्यैव अपभ्रष्टं रूपं वर्तते ।]
Curozan	करोझन	
Curson	करसन	मिसिसिपी (यु. स्टे.)
Cisne	किस्ने	इंग्लिनाइस् ,,
Kristianstad	क्रिस्तियनस्टड	कृष्णस्थलं (ड-ल योर-भेदः । स्टड इत्यस्य स्थलं इति रूपं भवति) कृष्णस्य क्रिस्ट इति रूपं वंगभाषायां भवति। तदेव युरोपे गतम् ।
Christo pol	कृष्णपुर	रशिया देशे

एवं भगवता कृष्णेन सर्वं भुवनं व्याप्तमिव दृश्यते। एवमन्यान्यपि कृष्णसंबंधीनि नामानि युरोपदेशे सन्त्यनेकानि यथा—

Phaleram	बलराम	ग्रीसदेशे
Valromey	,,	फ्रान्सदेशे
Belveder	बलभद्र	कालिफोर्निया
Basedew	वासुदेव	
Gourdon	गोवर्धन	फ्रान्सदेशे
Dronne	द्रोण	

एवं अनेकानि स्थान-ग्राम-नदी-पर्वतनामानि युरोप-अमेरिकादेशे संस्कृतान्येव तेषां भूगोलवर्णने दृश्यन्ते । कथं

अर्जुन-कृष्ण-वासुदेव-बलभद्रादयः भारतीयाः पुरुषाः युरोपदेशे प्रसिद्धिं गता इति विद्वद्भिः विचारणीयम्।

आफ्रिका देशे

आफ्रिकादेशे यत्र यूरोपीयनानां प्रवेशोऽपि नासीत् तत्र कृष्णवर्णीयानां आफ्रिकीयानां भाषायां संस्कृतसंज्ञानां प्रयोगः दृश्यते। गौरवर्णीयानां यूरोपीयानां भाषासु केनापि संबंधेन संस्कृतशब्दानां प्रयोगः संजात इति वक्तु शक्यते। परंतु कृष्णवर्णीयानां आफ्रिकीयानां भाषासु नानास्थानानां संस्कृत-नामानि कथं प्रयुक्तानि दृश्यन्ते, तदेतन्महदाश्चर्यमिति प्रतिभाति। पश्यता आफ्रिकादेशे संस्कृतनामानि—

Jonake konda	जनक कुण्ड
Koota kunda	कूट कुण्ड
Baraha conda	वराह कुण्ड
Sease kund	शशि कुण्ड
Tamla kund	ताम्र कुण्ड
Marian kund	मर्य कुण्ड
Tanda kunda	ताण्ड कुण्ड
Maura conda	मौर्य कुण्ड

अत्र एषु नामसु ‘ कुण्ड ’ इति पदं जलस्थानवाचकं दृश्यते। ‘ जनक ’ इति पदं राज्ञो वैदेहस्य वाचकं दृश्यते। ‘ कूट ’ इति पदं कूटस्य पार्वतीयस्य भूभागस्य द्योतकं दृश्यते। ‘ वराह कुण्डं ’ इति स्पष्टार्थकं अस्ति। ‘ शशि-ताम्र-मर्य-ताण्ड्य-मौर्यं इति पदानि संस्कृतान्येव सन्ति। नास्ति तत्र संदेहलेशोऽपि। एतेषां पदानां परिचयः प्राचीन-कालात् संस्कृतभाषायां दृश्यते। तथा कास्वपि अन्यासु भाषासु नास्ति। एवं आफ्रिकीयानां भाषासु संस्कृतपदानां समुपस्थितिः विदुषां मनसि आश्चर्यं जनयिष्यतीत्यत्र नैव संदेहः।

भारतेऽपि ‘ गोवळकोंडा, गणेशकुण्ड, नरगुंद ’ इत्यत्र एतानि नामानि दक्षिणे भारते एवमेव कुण्डान्तानि वर्तन्ते इति अत्र अनुसंधेयम्। तेन भारतवर्षेण सह आफ्रिकीयानां कृष्णवर्णीयानां जनानां संबंध आसीदिति स्पष्टं भवितुं शक्यम्। आफ्रिकायां ‘ जल-कूट ’ इत्येको ग्रामो वर्तते। (Jalla kotta) एतत्पदं संस्कृतमेवेति स्पष्टं दृश्यते।

Samban kala साम्ब काल एव भगवतः शंकरस्य वाचकः शब्दः दृश्यते। तत्रैव Neela kalla नील काल इत्यप्येकं स्थानं वर्तते। कालसंज्ञस्य शंकरस्य स्थानं एतं इति नाम्नैव सिद्ध्यति। तथा—

Yaminna	यमुना
Sooma	सोमः
Comoroo	कुमारः
Karalee Jango	कराळजंघा
Siwah	शिवः
Terane	तरणिः
Sakra	शक्र
Temissa	तमसा
Ganga	गंगा
Worada	वरदा
Bali	बली
Mandara	मांदारः (पर्वतः)
Sankar	शंकरः
Gaurie	गौरी
Kala	काल
Bhargo	भर्गः

एवं सहस्रशः संस्कृतनामानि आफ्रिकायां स्थाननाम-रूपेण इदानीमपि दृश्यन्ते। कृष्णवर्णीयानां प्रदेशे संस्कृत-नामानि सन्ति इत्येतन्महदाश्चर्यम्। यानि शुद्धानि संस्कृत-नामानि सन्ति तान्येवात्र दत्तानि, यानि तु संस्कृतोद्भवानि तानि तु इतोऽप्यधिकानि सन्ति। अतएव अस्माभिः उद्घु-ष्यते, यत् संस्कृता भाषा विश्वस्य भाषा आसीत् पूर्वस्मिन् काले। तस्या एतानि पदचिन्हानि इदानीमपि समुपलभ्यन्ते एतादृशानीति।

एतानि पदचिन्हानि स्वल्पानि न सन्ति, परं सहस्रशः सन्ति। अत्र तु स्थालीपुलाकन्यायेन कानिचित् प्रदर्शितानि। कथं नाम यत्र असंस्कृता कृष्णवर्णीया जनाः सन्ति तत्र आफ्रिकादेशे संस्कृतनाम्नां प्रचारः संजातः ? कस्मिन् काले एष प्रसारः संजात ? इतिहासिके काले कोऽपि भारतीयः तत्र नैव गतः। अतिपूर्वस्मिन् कालेऽनेका संस्कृतभाषा-भाषिणो भारतीयाः तत्र गता भवेयुः। येन कारणेन तत्रैवं संस्कृतनाम्नां स्थाननामसु संजातः प्रचारः।

अन्यथा अतिपूर्वकाले तत्र संस्कृतभाषाभाषिणः भवेयुः। बहोः कालात्तेषां संस्कृता भाषा लुप्ता, अपभ्रष्टा वा संजाता, परं ग्रामनामानि कानिचित् संस्कृतान्येव सुरक्षितानि सन्ति, तानि इदानीं यत्रकुत्रचित्समुपलभ्यन्ते। अनेन अस्यां संस्कृत-भाषायां विश्वभाषात्वचिह्नं इदानीमपि दृश्यते।

एतेन सिद्ध्यति यद्विश्वभाषा संस्कृतभाषैवासीत् पूर्वं, तस्या अवशिष्टः प्रभाव इदानीमपि सर्वेषु देशेषु दृश्यते।

अस्मिन् त्रयोविंशतितमे अखिलभारतीयस्य संस्कृत-साहित्य-संमेलनस्य अधिवेशने निर्णयार्थं विचारणीया अनेक-विधाः प्रश्नाः सन्ति। तेषु विषयेषु विचारं कृत्वा भवद्भिरेव निर्णयो देयः भवतामत्रागमनस्य मुख्यमेतत्प्रयोजनम्।

मुंबय्यामिदानीं उष्णः समयो वर्तते। स च शरीरात् प्रस्वेदं जनयति, शरीरस्य कष्टं च संवर्धयति। अस्मिन् कष्ट-भूयिष्ठे काले भवन्तः नाना प्रान्तेभ्यो मार्गस्य कष्टं सहमाना अत्र समागताः। अतोऽहं भवतां स्वागतं करोमि। संस्कृतस्य प्रेम्णैव भवन्त सर्वे अत्रागता इत्यत्र न संदेहः।

सर्वेषां शुभया इच्छया, सुदैवस्य च परमेणानुकूल्येन श्रीमतां आचार्यपूज्यपादानां श्रीमच्छंकराचार्याणां श्रीभार-तीयकृष्णतीर्थानां आगमनं अत्र संजातम्। अस्य संमेलनस्य अध्यक्षीयपदस्य स्थाने तेषामेव नियोजनं अतीव योग्यं वर्तते। अतः ते एतत् अध्यक्षीयं पदं अलंकुर्वन्तु इति प्रार्थना मया क्रियते, सा सर्वैर्भवद्भिरनुमोदनीया। एतेषामाचार्य-पादानां विद्यावैभवमसाधारण इति सुप्रसिद्धमेव वर्तते। लोकोत्तरं प्राविण्यं वैदिकगणितशास्त्रे, आधुनिकेषु नानाशास्त्रेषु च तेषां प्राविण्यं वर्तते। अनेका विद्याः करतलगता इव एतेषां संनिधाने वर्तन्ते। अतः एतेषां पूज्यपादानामाशीर्वचनेनैव संमेलनमेतत् सफली भविष्यतीति नात्रसंदेहः। भवतो पुरस्तात् अनुमोदनार्थमेतं प्रस्ताव संस्थाप्य विरमामि।

सर्वतन्त्र - सिद्धान्त

अर्थात्

दयानन्दनिर्मित- विश्वशान्तिदायक- वेदोक्त- साम्राज्य- सार्वजनिक- धर्म

[लेखक : नाथूलाल वानप्रस्थी, वैदिक धर्म तथा संस्कृत विशारद, शिवपुरी म भा.]

१- विश्वशांतिपर महर्षि दयानन्दके विचार।

हम चाहते हैं कि महर्षि दयानन्दके विश्वशांतिदायक त्रिकालाबाधित "सर्वतंत्र-सिद्धान्त" अर्थात् वेदोक्त "साम्राज्य-सार्वजनिक-धर्म" की सब बातोंपर व्यापक दृष्टि डाल सकें, जिसमें किसी एक विषय वा सिद्धान्तपर अनावश्यक जोर न पडे, और जो कुछ महर्षिके व्यापक सिद्धान्त थे, और जो कुछ वह चाहते थे, इन सब बातोंपर समानरूपसे ध्यान पड सके।

महर्षि दयानन्दको समझनेके लिये प्रथम उनके ग्रंथोंका स्वाध्याय निष्पक्षभावसे करके उनके ग्रंथ लिखनेका तात्पर्य और आकांक्षा जानना जरूरी है। वरना जो महानुभाव उनके ग्रंथोंका स्वाध्याय अद्वैत या त्रैत-वादकी भावनासे करेंगे वह महर्षिके सत्यस्वरूपका दर्शन नहीं कर सकते।

इसका कारण महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें स्वयं लिखा है कि "यद्यपि मेरा इस ग्रंथके बनानेका मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थका प्रकाश करना है परन्तु जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्यको भी सत्यसिद्ध करनेमें प्रवृत्त होता है, इसलिये वह सत्य मतको प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान आप्तोंका यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेखद्वारा सब मनुष्योंके सामने सत्यासत्यका स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थका ग्रहण और मिथ्यार्थका परित्याग करके सदा आनन्दमें रहें।

यद्यपि मनुष्यका आत्मा सत्यासत्यका जाननेवाला है। तथापि अपने प्रयोजनकी सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अवि- द्यादि दोषोंसे सत्यको छोड असत्यमें झुक जाता है। परन्तु इस ग्रंथमें ऐसी बात नहीं रखी है, न किसीका मन दुखाना या किसीकी हानिका तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जातिकी उन्नति और उपकार हो ऐसा बताया गया है। क्योंकि सत्योपदेशके बिना अन्य कोई भी मनुष्य जातिकी उन्नतिका कारण नहीं है।

अतः जो कोई इस ग्रंथको ग्रंथकर्ताके तात्पर्यसे विरुद्ध भावनासे देखेगा उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा। क्योंकि वाक्यार्थ बोधमें चार कारण होते हैं, आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति, और तात्पर्य। जब इन चारों बातोंपर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रंथको देखता है तब उसको ग्रंथका अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है।

(१) "आकांक्षा" किसी विषयपर वक्ताकी और वाक्यस्थपदोंकी 'आकांक्षा' परस्पर होती है।

(२) "योग्यता" वह कहती है कि जिससे जो हो सके जैसे जलसे सींचना।

(३) "आसक्ति" जिस पदके साथ जिसका संबंध हो, उसीके समीप उस पदको बोलना वा लिखना।

(४) "तात्पर्य" जिसके लिये वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो उसीके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना।

बहुतसे हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत- वाले लोग। क्योंकि मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसके नष्ट हो जाती है।

महर्षिने विश्वके संपूर्ण मानव समाजमें शांति स्थापित होनेके हेतु पूर्वकालीन इतिहासका अवलोकन करते हुए

उत्तरार्धकी भूमिकामें भी लिखा है कि " पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व वेदमतसे भिन्न कोई भी मत न था क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्यासे अविरुद्ध हैं, वेदोंकी अप्रवृत्ति होनेके कारण महाभारत युद्ध हुआ इनकी अप्रवृत्तिसे ही समस्त भूगोलमें अविद्या अंधकार विस्तृत होनेसे मनुष्योंकी बुद्धिभ्रमयुक्त होकर जिसके मनमें जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतोंमें चार मत अर्थात् पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी ही सब मतोंके मूल हैं वे क्रमसे एकके पीछे दूसरा, तीसरा व चौथा चला है। अब इन चारोंकी शाखा एक सहस्रसे कम नहीं है। इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्यके विचार करनेमें अधिक परिश्रम न हो इसलिये यह ग्रंथ बनाया है। जो जो इसमें सत्यमतका मंडन और असत्यका खंडन लिखा है वह सबको जानना ही प्रयोजन (तात्पर्य) समझा गया है।

पक्षपातको छोडकर ही इसको देखनेसे सत्यासत्य मत सबको विदित हो जायगा। (यही पाठक व श्रोतागणकी योग्यता है।)

मेरा तात्पर्य किसीकी हानि वा विरोध करनेमें नहीं है, किन्तु सत्यासत्यका निर्णय करने करानेका है। इसी प्रकार संसारके सब मनुष्योंको न्यायदृष्टिसे वर्तना अति उचित है। मनुष्य जन्मका होना सत्यासत्यके निर्णय करने करानेके लिये हैं, न कि वादविवाद विरोध करने करानेके लिये। क्योंकि इसी मतमतान्तरके विवादसे जगत्में जो जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जबतक मनुष्य जातिमेंसे परस्पर मिथ्या मत-मतान्तरका विरुद्ध वाद न छूटेगा तबतक अन्योन्यको आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्षा, द्वेष छोड सत्यासत्यका निर्णय करके सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है।

क्योंकि यह निश्चय है कि इन विद्वानोंके विरोधहीने सबको विरोध जालमें फंसा रखा है, यदि ये लोग अपने प्रयोजनमें न फंसकर सबके प्रयोजनको सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्य मत हो जायें इसके होनेकी युक्ति इस ग्रंथकी पूर्तिमें लिखेंगे। अतः सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मतमें प्रवृत्त होनेका उत्साह संसारके सब मनुष्योंके आत्मामें प्रकाशित करे।" (यही महर्षिकी आकांक्षा थी।) इसी अभिप्रायसे उन्होंने जो जो सब मतोंमें सत्य बातें हैं वे सबमें अविरुद्ध होनेसे उन " सर्वतंत्र सिद्धान्त " को ही वेदोक्त धर्म होना स्वीकार करके अपना मंतव्य बताकर समस्त भूगोलमें इसका प्रचार कर सब मनुष्य जातिको एकमतस्थ करानेका आदेश दिया है।

यदि हम महर्षिके बताये हुए उपरोक्त वाक्यार्थ बोधके कारणोंपर गंभीरतासे विचार करें तो विदित होगा कि हमने अभीतक महर्षिको मिथ्यारूपसे त्रैतवादी समझकर त्रैतवादके सिद्धान्तकी भावनासे ही उनके ग्रंथोंका स्वाध्याय किया है इसी अयोग्यताके कारण हमने महर्षिकी आकांक्षानुसार उनके ' सर्वतंत्र-वादी " के रूपमें दर्शन नहीं किये और इसी कारण उनके आदेशानुसार " सर्वतंत्र सिद्धांतों " का प्रचार करके विश्वको आर्य बनानेमें असफल रहे हैं इसलिये अब हमें त्रैतवाद सिद्धान्तके पक्षपातको त्यागकर महर्षिकी आकांक्षानुसार " सर्वतंत्र सिद्धान्त " को ही वेदोक्त धर्म मानकर महर्षिके अभिप्रायको यथार्थरूपसे जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ताकि हम उनके मंतव्यका यथार्थरूपसे दर्शन कर सकें।

भारतीय जीवनका ऐसा कोई भाग नहीं है जो महर्षि दयानन्दसे अछूता रह गया हो, और जिसपर उनके जीवनका असर न पडा हो, तथा जिसके लिये उन्होंने अपनी देन न दी हो। उन्होंने भारतवर्ष ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्वसमाजका पूरा चित्र बना लिया था। जो निरे पुस्तकीय ज्ञानसे नहीं निकला था और न निरे मानसिक श्रमकी उपज थी बल्कि जीवनके प्रतिदिनके अनुभव, समस्याओं और उनके हल ध्यानमें रखकर तैयार किया गया था और जिसे वह दूसरोंको अच्छी तरह दिखा व समझाकर कबूल करा सकते थे।

अतः मेरे उपरोक्त कथनसे आप लोगोंका ध्यान इस बातपर जायगा कि महर्षि अपने काम तथा विचारोंकी पूर्तिमें कहांतक पहुंचे थे, तो उससे आपको प्रेरणा मिलेगी कि महर्षि क्या करना चाहते थे ? जो नहीं कर सके और हम लोगोंके लिये किस प्रयोगको अधूरा छोड गये। इसके अलावा जो कुछ वे बता गये उसे पूरा करनेका हमने जो कुछ यत्न किया उससे, और कदाचित् उससे भी अधिक हमारी असफलताओंसे आपको प्रेरणा मिलेगी।

महर्षि दयानंदने विश्वसमाजमें शांति स्थापित होनेके हेतु पूर्वकालीन इतिहासका सिंहावलोकन करते हुए अपने सामने एक रूपरेखा बना रखी थी। वह समझते थे कि इस भारतवर्षमें रामराज्यके पश्चात् महाराज अश्वपतिसे लेकर महाभारतके पूर्वतक विश्वमें शांति रही। और उस समय वेदोक्त सार्वभौम सर्व हितकारी धर्म बर्ता जाता था और सब देश तथा विदेशोंमें कोई जातीभेद न होकर सर्वकी परस्परमें प्रेम, सहानुभूति और रोटी-बेटी व्यवहार एक था। इसके पश्चात् महाभारतके पूर्वकालमें विप्लवता फैल जानेके कारण योगीराज कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरके चक्रवर्ती साम्राज्य द्वारा विश्वमें शांति स्थापित की थी। इसके पश्चात् विप्लवता फैलनेपर महात्मा बुद्धने सार्वभौम सर्व हितकारी धर्मकी स्थापना करके चक्रवर्ती साम्राज्य द्वारा विश्वमें शांति स्थापित की जो सम्राट् अशोकके समयतक रही। इसी प्रकार इस समय भी यहां अविद्या अंधकार विस्तृत होनेसे अनेक संप्रदायोंके कारण विप्लवता फैली हुई है। और इन सब संप्रदायरूपी वृक्षका आदि मूल तथा सबसे अधिक पूर्व-कालीन एकमात्र वेद है। और उस एक धर्ममूल वेदसे ही संसारका धारण हो रहा है।

लेकिन अपूर्ण मनुष्यों द्वारा इसमें हजारों शाखें व पत्ते निर्माण हो गये हैं। क्योंकि दुनियाके मौजूदा मशहूर सब संप्रदाय सत्यको व्यक्त करनेवाले हैं। परन्तु इनके निर्माता अपूर्ण होनेसे इन सप्रदायोंमें सत्यके साथ असत्यकी मिलावट ही एक दूसरेकी परस्पर विरोधी हो रही है। और सब संप्रदायोंकी अविरोधी बातें वेदोक्त एवम् सत्य हैं। अतः विश्वशांतिके लिये सार्वभौम चक्रवर्ती धर्म स्थापित करनेकी आवश्यकता है। और 'वेद' सर्व धर्म अविरुद्ध तथा 'सर्व तांत्रिक' सत्य विद्याओंका पुस्तक है। और धर्मके क्षेत्रमें लिंगभेद, जातिभेद, वर्णभेद, अथवा देशभेदको कोई स्थान नहीं होना चाहिये। क्योंकि मानवजाति एक है। उसका स्वभाव एक है। इसलिये संसारके संपूर्ण धर्मोंने मानवजातिको एक ही कुटुंब माना है। और इस मानव जातिके हिंदु, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि सब सदस्य हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवरूपी विराट् विश्वकी शांति मानवधर्मके अन्तरगत ही है। इसलिये सम्पूर्ण मानवजातिमें परस्पर प्रेम, शांति, सद्भावना, सहिष्णुता, मित्रभाव ही विश्वशांतिकी चावी है।

अतः उपरोक्त साम्राज्य सार्वजनिक धर्मकी स्थापनासे पूर्व और पश्चिमकी तमाम समस्यायें, धर्मविचार, और सहिष्णुता हल हो जावेंगी। इसके लिये धर्म प्रकाशके आदि उद्गम भारतको ही यह परमपुनीत कार्य पूरा कराना होगा। क्योंकि प्राचीन समयसे भारतने ही धर्मकी शिक्षा दी है। इसलिये यह भारत ही संसारको धर्म, प्रेम, सहिष्णुता आदि प्रदान करेगा।

इसलिये सब संप्रदायोंकी परस्परकी विरोधी मिलावटोंको त्यागने तथा 'सर्वतंत्र' सत्य धर्मको ग्रहण करनेके हेतु सब संप्रदायोंका मूल वेदोक्त 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्त ही ग्राह्य है। अब सर्व हितकारी सर्वतन्त्र सिद्धान्तके 'साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' की स्थापना करके प्रेम, मैत्रीभाव, तथा सहनशीलतासे सब धर्मोंकी सत्य बातोंके प्रति उदार बनकर भारत, विश्वमें शांति बनाये रखनेके लिये भाईकी तरह सहयोगी बने।

महर्षि दयानन्द एक तरफ विश्वमें शांति स्थापित करना अपना एक मौलिक कार्यक्रम समझते थे। और दूसरी ओर जहांतक हम समझते हैं, वह विश्वमें वेदोक्त धर्मका प्रचार होना मुख्य उद्देश्य मानते थे। इसके लिये वह इस तरहके सामाजिक सिद्धान्तका निर्माण करना चाहते थे जो किसी भी धर्मका विरोधी न होकर 'सर्व तांत्रिक' और 'सर्व हितकारी' हो।

आपसके वैमनस्यको जब हम देखने लगें तो उससे पहिले हमें सोच लेना चाहिये कि यह वैमनस्य किन बातोंसे शुरू होता है? इसपर गंभीरतासे देखनेपर विदित होता है कि जिनके कारण हम आपसमें लडते हैं इस लडनेका कारण परस्परका, मतभेद होता है। ये मतभेद धर्मसे संबंध रखते हैं। या समाजसंबंधी आदर्शसे सम्बन्ध रखते हैं। महर्षि इन सभी मतभेदके कारणोंको समाजसे हटाना चाहते थे। हम धार्मिक मतभेदोंको कम करके परस्परके झगडेके एक कारणको दूर कर सकते हैं। इसी तरह यदि हम यह मान लें कि दूसरेके भी वही सत्व होने चाहिये जो हम अपने लिये चाहते हैं। और इसे अपना कर्तव्य मान लें कि हमें दूसरोंको उन स्वत्वोंको समानरूपसे भोगने देना चाहिये। तो झगडेके अन्य शेष कारण भी दूर हो जाते हैं। यह इन 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्तोंके प्रचार द्वारा ही हो सकता है।

किसी भी समाजमें अगर कुछ लोग अपने स्वतंत्र विचा-

रोंको ही दूसरोंपर लादना चाहते हैं तो अशांति होकर ही रहेगी। जब सब लोगोंको विचारकी पूरी स्वतंत्रता निश्चित रूपसे दी जाकर सबोंके विचारोंका समन्वय किया जावेगा तभी अशांतिसे बचा जा सकता है। इसलिये महर्षि दयानन्द विश्वसमाजमें "सर्वतंत्र सिद्धान्त" को स्थापित करना चाहते थे। वह ऐसे सुधारकोंमेंसे नहीं थे, जिन्होंने अपना पूरा कार्यक्रम लिखकर पहलेसे न रख दिया हो। बल्कि उन्होंने अपना पूरा कार्यक्रम पहलेसे ही लिखकर रख दिया है।

विश्वशांतिके लिये सबसे पहिले महर्षिके सामने परतंत्र देशोंकी परतंत्रता मिटानेका प्रश्न था जिसपर स्वभावतः उनका ध्यान सबसे पहिले (जब कि कांग्रेसका जन्म भी नहीं हुआ था।) व्यापक रूपसे गया था। इसलिये उन्होंने इस स्वतंत्रता प्राप्तिके लिये केवल भारतके लिये ही नहीं अपितु संसारके सब परतन्त्र देशोंके लिये सत्यार्थ प्रकाशके अष्टम समुल्लासमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि "मतमतान्तरके आग्रहरहित, अपने और परायेके पक्षपातशून्य और प्रजापर माता, पिताके समान कृपा, न्याय और दयाके साथ भी विदेशियोंका राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है" महर्षि यह भी जानते थे कि इस स्वतंत्रताका प्रयोग अन्तःराष्ट्रीय संघर्षोंको मिटानेसे ही किया जा सकेगा, इसीलिये उन्होंने इस अन्त:राष्ट्रीय संघर्षको मिटानेके हेतु संपूर्ण विश्वमें 'साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' स्थापन करनेके लिये 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्तके प्रचारके कार्यक्रमकी जो योजना लिखी है वह निम्न प्रकार है।

१- मतमतान्तरोंके परस्पर विरोधी भावनाका त्याग।

महर्षिने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकाके वेदोक्त धर्मविषयमें "संगच्छध्वं" वेदमंत्रके भाष्यमें लिखा है कि "हे मनुष्य लोगो वेदोक्त धर्मकी प्राप्तिके लिये परस्परकी विरोधी भावनाको छोडके एक सम्मतिमें रहो और परस्परके विरुद्ध वादोंको छोडके आपसमें प्रीतिके साथ पढना, पढाना, प्रश्न-उत्तरसहित संवाद करो और यथार्थज्ञानको बढाते रहो। जिस प्रकार पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदोक्त सत्यधर्मका आचरण करते हैं, उसी प्रकारसे तुम भी करो।"

प्रिय आर्य बन्धुओ, यदि हम महर्षिके इस वेदोक्त आदेशके पालनपर गंभीरतासे विचार करें तो अन्तरात्मासे यही उत्तर मिलता है कि हम इस वेदोक्त आदेशके विरुद्ध परस्परके विरोधी वादोंमेंसे ही एक त्रैतवादको ग्रहण करके परस्परकी विरोधी भावनाकी वृद्धि कर रहे हैं। जो पाठकोंके विचारणीय है।

२- विरोधी भावनाकी परीक्षा-विधि, तथा 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्तोंका प्रचार।

"समानो मंत्रः" वेद मंत्रके भाष्यमें लिखा है कि "तुम्हारे सत्य और असत्यका विचार सबका समान हो उसमें किसी प्रकारका विरोध न हो। अतः जब-जब तुम लोग मिलकर विचार करो तब-तब सबके वचनोंको अलग अलग सुन तथा लिखकर, उनमें जो जो धर्मयुक्त (परस्परमें अविरोधी) हों और जिनमें सब मनुष्योंका हित हो सो-सो सबसे अलग करके उन्हीं (सर्वतंत्र विचारों) का प्रचार करो जिससे (सब देश, जाति व संप्रदायके) सब मनुष्योंका सुख बढता जाय और तुम्हारे मन भी आपसमें विरोधरहित हों। तथा सब मनुष्योंके दुःखोंके नाश और सुखोंकी वृद्धिके लिये, अपने आत्माके समतुल्य पुरुषार्थवाले होओ। (अर्थात् जो अपना आत्मा अपने लिये चाहे सो-सो सबके लिये चाहना, और जो न चाहे सो- किसीके लिये न चाहना [व्यवहार भानु]) परमेश्वरकी आज्ञा है कि तुम्हारे मन और चित्त संपूर्ण मनुष्योंके सुख ही के लिये प्रयत्नमें रहें। इस प्रकारसे जो मनुष्य संसारके सब मनुष्योंका उपकार करने और सुख देनेवाले हैं। उन्हींपर मैं सदा कृपा करता हूं और मैं उनके लिये आशीर्वाद व आज्ञा देता हूं कि पृथ्वीके सब मनुष्य मेरी इस आज्ञाके अनुकूल चलें, जिससे उनका सत्यधर्म बढे और असत्यका नाश हो। इसलिये तुम लोग सदा इसी सत्य (सर्वतंत्र) सिद्धान्तको धर्म मानकर उसे करते रहो और इस (सर्वतांत्रिक) धर्मसे भिन्नको धर्म मत मानो।"

हमने अपनी धार्मिक संकीर्णताके कारण उपरोक्त ईश्वरीय आदेशानुसार 'सर्वतंत्र सिद्धान्त' की परीक्षा-विधी और उसके प्रचारको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न आजतक नहीं किया जो पाठकोंके विचारणीय है।

३- सब मनुष्योंके आचरण-व्यवहार तथा मानसिक संकल्पादिकी समानता।

"समानीव आकूति" वेदमंत्रके भाष्यमें लिखा है

कि "हे मनुष्यो उपरोक्त (सर्वतंत्रवादी) धर्मात्माओंके समान तुम्हारा उत्साह व आचरण हो और तुम्हारे हृदयके सब व्यवहार भी आपसमें समान हों और तुम्हारे मन तथा उससे संबन्धित काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, धृति, धी, आदि भी संसारके सब मनुष्योंकी परस्पर समान होकर आपसमें सदा प्रेमसे रहो। और किसी प्रकारका (मत-मतान्तरोंके) परस्परका विरोध भाव न हो। अतः हे मनुष्य लोगों जिस प्रकार पूर्वोक्त (सर्वतांत्रिक) धर्मसेवनसे तुम लोगोंके उत्तम सुखोंकी बढती हो और जिस श्रेष्ठ सहायसे आपसमें सुख बढे, ऐसे काम सदा करते रहो। किसीको दुःखी देखकर अपने मनमें सुख मत मानो किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्माको सुखी जानो।"

यहां यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हममेंसे अनेक महानुभाव तो ऐसे हैं जो इस वेदोक्त आज्ञाके विरुद्ध अन्यको दुःख देकर ही अपने मनमें सुख मानते हैं। इसी प्रकार धर्मपरिवर्तनका काम भी दूसरोंको अशुद्ध समझकर और विधर्मियोंको दुःख देकर करते हुए अपने मनमें सुख मानते हैं जो उपरोक्त साम्राज्य सर्वतंत्र सिद्धान्तके विरुद्ध है, क्योंकि महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें लिखा है कि "एक मनुष्यजातिमें बहकाकर, विरुद्ध बुद्धि कराकर, एक दूसरेको शत्रु बना, लडा मारना विद्वानोंके स्वभावसे विरुद्ध है।

४- मतमतान्तरके पक्षपातरहित, न्यायाचरण ही धर्म है।

"द्रष्टारूपे व्याकरोत्" वेदमंत्रके भाष्यमें लिखा है कि "तुम सदा अनृत अर्थात् झूठ तथा अन्यायके करनेमें प्रीति कभी मत करो, वैसे ही सत्य अर्थात् जो वेद तथा शास्त्रोक्त हो वही (मतमतान्तरोंके) पक्षपातसे रहित न्यायरूप धर्म है। उसके आचरणमें सदा प्रीति रखो।"

किन्तु इस समय हम उपरोक्त वेदआज्ञाके विरुद्ध त्रैतवाद सिद्धान्तके पक्षपातसहित आचरणको ही वेदोक्त धर्म मानकर उससे प्रीति करते चले आ रहे हैं। जो पाठकोंके विचारणीय है।

५- हम सब मनुष्य आपसमें वैरको छोड दें।

"दृतेदृंह मा मित्रस्य" वेदमंत्रके भाष्यमें लिखा है कि "हे परमेश्वर आप हमपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपसमें वैरको छोडके एक दूसरेके साथ प्रेमभावसे बर्तें और सब मनुष्य मुझको अपना मित्र जानके बन्धुके समान बर्तें। ऐसी इच्छासे युक्त हम लोगोंको सत्य सुख और शुभ गुणोंसे सदा बढाइये। इसी प्रकारसे मैं भी सब मनुष्योंको अपने मित्र जानूं, और हानि, लाभ, सुख, दुःखमें अपने आत्माके समतुल्य ही सबको मानूं। हम संसारके सब लोग आपसमें मिलके सदा मित्रभाव रखें और सत्यधर्मके आचरणसे सत्य सुखोंको नित्य बढावें।"

इस वेदमंत्रकी आज्ञानुसार हमको हिंदु, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्धादि सब मनुष्योंसे वैर छोडकर एक दूसरेसे प्रेमभावसे बर्तते हुए सबको अपने मित्र जानना चाहिये ताकि संपूर्ण विश्वमें सुख व शांतिकी वृद्धि हो। किंतु खेद है कि हम इसके विरुद्ध सब आर्य समाजियोंको ही अपना मित्र नहीं समझते और एक दूसरेके विरोधी हो रहे हैं जो पाठकोंके विचारणीय है।

६- सत्याचरण करनेवाला देव कहाता है।

"अग्ने व्रतपते" वेदमंत्रके भाष्यमें लिखा है कि "जो मनुष्य सत्यके आचरणरूप व्रतको करते हैं वे देव कहाते हैं और जो असत्यका आचरण करते हैं, उनको मनुष्य कहते हैं। इससे मैं इस सत्यव्रतका आचरण किया चाहता हूं।"

इस वेदमंत्रकी आज्ञासे स्पष्टतः सिद्ध है कि किसी भी देशका हिंदु, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्धादि कोई भी मनुष्य जो सत्यका आचरण करते हैं वह देव अर्थात् आर्य हैं और जो असत्यका आचरण करते हैं वह मनुष्य दस्यु अर्थात् अनार्य हैं। अतः इस नियमानुसार हम किस श्रेणीमें आते हैं प्रत्येकको गंभीरतासे विचार करना चाहिये।

७- प्रजनन धर्मकी प्रधानता।

"प्रजननं प्रतिष्ठा लोके" तैत्तरीय ब्राह्मणके वचनके भाष्यमें लिखा है कि "अपने संतानोंका यथायोग्य पालन व शिक्षासे विद्वान करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। जो संतानोंकी उत्पत्ति करनेका व्यवहार है। उसको ही पुत्रेष्टि कहते हैं। उसमें श्रेष्ठ भोजन और औषध सेवन सदा करते रहो। तथा गर्भकी रक्षा करो और पुत्र व कन्याओंके जन्म समयमें स्त्री और बालकोंकी रक्षा युक्तिपूर्वक करो।

जिससे मनुष्योंकी बढती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य

रमण करते हैं, इससे जन्मको प्रजनन कहते हैं। अतः जिससे मनुष्योंका जन्म और प्रजामें वृद्धि होती है और जो परंपरासे ज्ञानियोंकी सेवासे ऋण अर्थात् बदलेका पूरा करना होता है, इससे प्रजनन भी धर्मका हेतु है। क्योंकि जो मनुष्योंकी उत्पत्ति भी न हो तो धर्मही को कौन करें। इसी कारणसे प्रजनन धर्मको ही प्रधान जानो। "

८- संसारके सब मनुष्योंको उत्तम सुख देनेवाला आचरण ही वेदोक्त धर्म है।

" यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः " इस वैशेषिक सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि " जिसके आचरण करनेसे संसारमें उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है, उसीका नाम धर्म है, यही वेदोंकी व्याख्या है। अतः अनेक वेदमन्त्रोंके प्रमाणों और ऋषि मुनियोंकी साक्षीयोंसे यह धर्मका उपदेश किया है कि सब मनुष्योंको इसी धर्मसे काम करना उचित है। इससे विदित है कि (हिंदु, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्धादि जाति व सम्प्रदायके) सब मनुष्योंके लिये ' धर्म ' और ' अधर्म ' एक ही है दो नहीं। जो कोई इसमें (जाति या सांप्रदायकताका) भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये। "

अतः हमको गंभीरतासे विचारना चाहिये कि हमारी धार्मिक संकीर्णतासे धर्ममें भेद मानना अज्ञानियोंकी श्रेणीमें जाता है या ज्ञानियोंकी श्रेणीमें।

९- जो सब धर्मोंके अविरुद्ध हो वही धर्म है।

महर्षिने व्यवहार भानुमें धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ? इसके उत्तरमें लिखा है कि जो (परस्परके मतमतान्तरोंके) पक्षपातरहित न्याय व सत्यका ग्रहण और असत्यका परित्याग तथा परोपकार करना रूप ' धर्म ' है। जो इससे विपरीत है वह ' अधर्म ' कहाता है। क्योंकि जो सब धर्मोंके अविरुद्ध है वह ' धर्म ' और जो परस्पर विरुद्धाचरण हो सो ' अधर्म ' है ! देखो किसीने किसीसे पूछा कि सत्य धर्म क्या है ? उसने उसको उत्तर दिया कि " जो मैं मानता हूं। " फिर उसने पूछा और जो वह मानता है या जो मैं मानता हूं वह क्या है ? उसने कहा कि ' अधर्म ' है। यही पक्षपातसे मिथ्या और विरुद्धाचार ' अधर्म ' है, और जब तीसरेने दोनोंसे पूछा कि ' सत्य बोलना ' ' धर्म ' है या ' असत्य बोलना ? तब दोनोंने उत्तर दिया कि सत्य बोलना ' धर्म ' है, इसीका नाम ' धर्म ' जानो। " इस परीक्षाके अनुसार प्रत्येकको विचार करना चाहिये कि हम सत्यके व्रतपालनमें कहांतक सफल हुए हैं।

१०- सर्वहित करना ही वेदोक्त धर्म है।

इसी प्रकार आर्योद्देश रत्नमालाके रत्न क्रमांक २ में लिखा है कि " जो (मतमतान्तरोंके) पक्षपातरहित न्याय और सर्वहित करना है, वह वेदोक्त होनेसे (हिंदु, मुसलमान, ईसाई आदि) सब मनुष्योंके लिये यही एक मानने योग्य है उसको ' धर्म ' कहते हैं और जिसमें अपना ही हित करना है, जो अविद्या, हठ, क्रूरतादि दोष युक्त होनेके कारण वेदविद्यासे विरुद्ध है और सब मनुष्योंको छोडनेयोग्य है वह ' अधर्म ' कहाता है। " हम धार्मिक पक्षपातरहित कितना ' सर्वहित ' कार्य करते हैं, विचारणीय है।

११- सर्व धर्म अविरुद्ध बातें ही वेदोक्त धर्म होनेकी स्वीकारिता।

महर्षिने वर्तमान सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें स्पष्टरूपसे लिखा है कि " यद्यपि आजकल बहुतसे विद्वान् प्रत्येक मतोंमें हैं वे (परस्परके धार्मिक) पक्षपातको छोड ' सर्वतंत्र ' सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरेसे विरुद्ध बातें हैं, उनको त्यागकर परस्पर प्रीतिसे वर्तें, बर्तावे तो जगत्का पूर्ण हित होवे। अतः इसमें यह अभिप्राय रखा गया है कि जो जो सब मतोंमें सत्य बातें हैं वे वे सबमें अविरुद्ध होनेसे उनको मैं स्वीकार करके जो जो मतमतान्तरोंका एक दूसरेके विरुद्ध मिथ्या बातें हैं उनका खण्डन किया है। "

महर्षिके इस कथनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि त्रैतवादी ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन पदार्थोंको स्वरूपसे नित्य मानते हैं और इसके विरुद्ध अद्वैतवादी इन तीन पदार्थोंको स्वरूपसे नित्य न मानते हुए केवल एक परमेश्वरको ही स्वरूपसे नित्य मानते हैं। इसमें महर्षिने अपना अभिप्राय स्पष्टरूपसे बताया है कि इन दोनों धार्मिक सिद्धान्तोंमें ' तीन पदार्थोंको स्वरूपसे नित्य माननेकी बात ' एक दूसरेसे विरुद्ध होनेके कारण मिथ्या होनेसे इसको त्यागकर इन तीनों पदार्थोंको केवल (प्रवाहसे) नित्य माननेमें विरोध नहीं आता इसलिये इसे स्वीकार किया है। यही कारण है कि महर्षिने सत्यार्थ प्रकाश तथा स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाशमें जहां ईश्वर, जीव और

प्रकृतिको नित्य होना लिखा है वहां स्वरूपसे नित्य होना न लिखते हुए स्वामी शंकराचार्यके भाष्यानुसार केवल नित्य होना ही लिखा है, जिसके अर्थप्रवाहसे नित्य होनेके होते हैं। इस प्रकार महर्षिने अद्वैतवादके स्वरूपकी एकत्ववादिता तथा त्रैतवादके तीन पदार्थोंकी नित्यताका समन्वय करनेके हेतु परस्परके विरोधी भावके 'स्वरूप' शब्दका निराकरण किया है।

यदि गंभीरतासे हम विचार करें तो ये पदार्थस्वरूपसे नित्य होना प्रतीत भी नहीं होते क्योंकि प्रकृतिका स्वरूप तो प्रत्येक क्षण बदलता रहता है और जीवका स्वरूप भी शरीरकी अपेक्षासे निराकारसे साकारताको प्राप्त होकर उत्पत्ति, वृद्धि, बालकता, प्रौढता, वृद्धता, मृत्यु आदि षट्विकारी कहलाता है। तथा ईश्वर अर्थात् विराट् पुरुषके सम्बन्धमें भी पुरुषसूक्तके "ततो विराडजायत" मन्त्रमें स्पष्टरूपसे बताया है कि उस परमेश्वरसे विराट् पुरुष जिसका शरीर ब्रह्मांडके समतुल्य जिसके सूर्य, चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथ्वी जिसका पग है यह विराट् पुरुष नामी ईश्वर परमेश्वरके सामर्थ्यसे उत्पन्न होकर प्रकाशमान हो रहा है। उस विराट् पुरुषके पूर्व तत्वोंसे सब प्राणी और अप्राणी उत्पन्न हुए हैं। इस वेदमन्त्रसे उपरोक्त दोनों वादोंका स्पष्टीकरण हो जाता है कि परमेश्वर स्वरूपसे नित्य है और ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों पदार्थ प्रवाहसे नित्य हैं।

इसी वेदमन्त्रके आधारपर महर्षिने इन दोनों वादोंका समन्वय करनेके हेतु आर्यसमाजके प्रथम नियममें परमेश्वरको जगत्के सब ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंका आदि मूल बताकर अद्वैतवादके अनुसार उसकी उपादान कारणता और स्वरूपसे नित्य होनेकी पुष्टि कर दी और द्वितीय नियममें ईश्वरको सर्वगुणसम्पन्न और सृष्टिकर्ता तथा उपासनीय बताकर उसे जगतका निमित्त कारण और उपासनीय देव होनेकी पुष्टि करते हुए ईश्वर, जगत् और जीवोंको पृथक् रूपसे वर्णन कर दिया है।

मेरे अल्पमतसे वर्तमान आर्यसमाजने महर्षिके उपरोक्त समन्वयके रहस्य और 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' के मंतव्यको आजतक नहीं अपनाया है। जिसके कारण महर्षिके उपरोक्त आदेशानुसार, आर्यसमाजके विद्वानोंका अन्य मतावलंबी विद्वानोंसे परस्पर प्रीतिसे बर्तना तो एक तरफ रहा, स्वयं आर्यविद्वान् ही परस्पर प्रीतिसे नहीं बर्तते हैं। जिसके फलस्वरूप अनेक आर्यविद्वान् तथा संन्यासी आर्यसमाजसे सम्बन्धविच्छेद करके पृथक होते चले जा रहे हैं जो आर्यसमाजके पतनका मूल कारण है।

१२- धर्म तथा अधर्मका विशेष विवरण।

महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशके एकादश समुल्लासके आर्यसमाज विषयमें अपनी तर्कपूर्ण युक्तियोंके साथ लिखा है कि संसारके सब मनुष्यमात्रके लिये 'धर्म' और 'अधर्म' एक ही है, अनेक नहीं यही हम विशेष कहते हैं कि जैसे सब संप्रदायके उपदेशकोंको कोई राजा इकट्ठा करे तो एक सहस्रसे कम नहीं होंगे। और परीक्षार्थ इन सबसे पूछा जावे तो वेदमतमें सब एक स्वरसे कहेंगे कि १ सत्यभाषण, और २ विद्या पढने, ३ ब्रह्मचर्य करने, ४ पूर्ण युवावस्थामें विवाह, ५ सतसंग, ६ पुरुषार्थ, ७ सत्यव्यवहार आदिमें 'धर्म' और १ असत्यभाषण, २ अविद्याग्रहण, ३ ब्रह्मचर्य न करने, ४ व्यभिचार करने, ५ कुसंग, ६ आलस्य, ७ असत्य व्यवहार, ८ छल, ९ कपट, १० हिंसा, ११ परहानि करने आदि कर्मोंमें 'अधर्म' है। अत: जिस जिस बातमें ये एक सहस्र एकमत हैं वह वेद मतग्राह्य है और जिन स्वतन्त्र चलाई हुई बातोंमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठ-अधर्म, अग्राह्य है, जो अविद्या जन्म-विद्या विरोधी है और मूर्ख, पामर और जंगली मनुष्योंको बहकाकर, अपने जालमें फंसाके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं।"

हमको आत्मनिरीक्षण करके गंभीरतासे देखना चाहिये कि महर्षिकी उपरोक्त धर्माधर्मकी व्याख्याके अनुसार हम किस श्रेणीमें आते हैं।

१३- साम्राज्य सार्वजनिक धर्मके पर्यायवाची नाम तथा प्रभाव और महत्व।

महर्षिने स्वमंतव्यामंतव्यकी भूमिकामें लिखा है कि-"साम्राज्य सार्वजनिक धर्म" अर्थात् "सर्वतन्त्र सिद्धान्त" जिसको सदासे सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसलिये इसको 'सनातन नित्य धर्म' कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।"

क्या हम उपरोक्त सर्वतन्त्र-साम्राज्य सार्वजनिक-सनातन

नित्य धर्मको मानते हैं, जिसको सब मानते हों और उसका विरोधी कोई भी न हो, जरा गंभीरतासे सोचें।

१४- तीनों कालोंमें सब मनुष्योंको एक सामानने योग्य मंतव्यकी स्वीकारिता।

उपरोक्त पुस्तकी भूमिकामें पुनः लिखा है कि "मैं अपना मंतव्य उसीको मानता हूं कि जो तीनों कालमें सबको एकसा मानने योग्य है। अर्थात् जो जो बात सबके सामने माननीय है। उसका मानना जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्तको स्वीकार करता हूं।"

यदि आर्यबन्धु इस मन्तव्यको मानने लगे तो उनको किसी भी देशजाति या सम्प्रदायसे विरोध करनेकी आवश्यकता न रहे और न कोई मनुष्य उनका विरोधी ही हो।

१५- मतमतान्तरोंके परस्पर झगडोंका परिणाम और उनकी अस्वीकारिता।

पुनः अन्तमें लिखा है कि "जो (अद्वैत व त्रैतवादकी तरह) मतमतान्तरके परस्पर विरुद्ध झगडे हैं उनको मैं स्वीकार नहीं करता क्योंकि इन्हीं मतवालोंने अपने मतोंका प्रचार कर मनुष्योंको फंसाकर परस्पर शत्रु बना दिया है।"

आर्य बंधुओ! हमें गंभीरतासे सोचना चाहिये कि हम महर्षिके स्वीकार किये हुए 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' को मानते हैं या महर्षिके मन्तव्यके विरुद्ध अद्वैतवादके विरोधी 'त्रैतवाद सिद्धान्त' को मानते हैं?

१६- संपूर्ण जगत्‌को एक मतमें करानेकी विधि।

महर्षिने सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लासकी भूमिकामें संपूर्ण जगत्‌को एक मतमें करानेकी विधी लिखी है कि "यदि हम सब मनुष्य और विशेषकर विद्वज्जन (मतमतान्तरोंको परस्परकी) ईर्षा, द्वेषको छोड सत्यासत्यका निर्णय करके सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। क्योंकि यह निश्चय है कि इन विद्वानोंके विरोधहीने, सबको विरोध जालमें फंसा रखा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन (स्वार्थ) में न फंसकर, सबके प्रयोजनको सिद्ध करना चाहे तो उपरोक्त युक्तिके अनुसार अभी ऐक्यमत हो जावे।"

यदि महर्षिकी बताई हुई इस विधिके अनुसार सब विद्वज्जन सर्वधर्म सम्मेलनमें ईर्षा, द्वेष छोडकर क्रमांक (२) में "समानो मन्त्रः" वेदमन्त्रकी व्याख्यानुसार सबके विचारोंको अलग अलग लिखकर उनमें जो जो परस्परमें अविरोधी हों उनको ग्रहण करके उन्हीं 'सर्वतन्त्र' विचारोंका सारे विश्वमें प्रचार करें तो संपूर्ण जगत् शीघ्र एक मतमें हो सकता है। जो पाठकोंके विचारणीय है।

१७- सर्वतन्त्र सिद्धान्तोंका प्रचार करके सब संसारको एक मतमें करानेका अभिप्राय।

स्वमंतव्यामंतव्यके अन्तमें लिखा है कि "उपरोक्त सब विरोधी बातोंको काटते हुए सर्वसत्य अर्थात् अविरोधी "सर्वतन्त्र सिद्धान्तों" का प्रचार करके सबको एक मतमें करा, द्वेष छुडा, परस्परमें दृढ प्रीति युक्त करके सबसे सबको सुख-लाभ पहुँचानेके लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय हैं।"

यदि हम महर्षिके इस अभिप्रायके अनुसार 'सर्वतन्त्र सिद्धान्तों' का पालन व प्रचार करते हुए सब संसारको सुख, लाभ पहुंचानेका प्रयत्न करते तो आज सब संसार 'वेदोक्त साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' माननेवाला शांतिपूर्ण हो जाता। किन्तु खेद है कि महर्षिने जिस 'त्रैतवाद' की परस्पर विरोधी बातोंको काटनेके लिये कहा है उसे हम स्वय ही मान रहे हैं, और जिस सर्वधर्म अविरोधी "सर्वतन्त्र" सिद्धान्तोंका प्रचार करनेका आदेश दिया है उसका हम प्रचार नहीं कर रहे। तथा संसारके मनुष्योंको एक मतमें कराकर और सबका परस्परमें द्वेष छुडाकर दृढ प्रीति युक्त करनेका प्रयत्न कुछ भी नहीं कर रहे हैं। जो पाठकोंके विचारणीय है।

१८- सर्वत्र भूगोलमें 'सर्वतन्त्र' सिद्धांत प्रवृत्त होनेका मुख्य प्रयोजन।

इसके पश्चात् महर्षिने सबके अन्तमें लिखा है कि "सर्वशक्तिमान परमात्माकी कृपा सहाय और आप्तजनोंकी सहानुभूतिसे यह "सर्वतन्त्र सिद्धान्त" अर्थात् "साम्राज्य सार्वजनिक धर्म" सर्वत्र भूगोलमें शीघ्र प्रवृत्त हो जावे, जिससे ससारके सब मनुष्य आपसमें सहजसे आत्मवत् बर्तते हुए सदा उन्नत और आनंदित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

अतः महर्षिके इस मुख्य प्रयोजनके अनुसार हम सब इस "साम्राज्य सार्वजनिक धर्म" को सर्वत्र भूगोलमें प्रवृत्त करानेका प्रयत्न करते तो जिस अशांतिको दूर करनेके

लिये संपूर्ण राष्ट्र भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। वह अशांति दूर होकर संसारके सब मनुष्य आपसमें सहजसे स्वात्मवत् वर्तते हुए सदा उन्नत और आनन्दित होते रहते और महर्षिकी आत्माको भी शांति मिलती।

उपरोक्त कथनसे स्पष्ट. सिद्ध है कि महर्षि विश्वशांतिके लिये 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् "साम्राज्य सार्वजनिक धर्म" सम्पूर्ण संसारमें स्थापित करना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने पूरा कार्यक्रम पहिलेसे ही लिखकर रख दिया था कि मतमतान्तरके विरोधी भावनाओंकी परीक्षा किस प्रकार की जावे, और उसका त्याग किस प्रकार किया जावे, ताकि ईश्वरीय आज्ञानुसार सब मनुष्योंके आचरण, व्यवहार तथा मानसिक संकल्पोंमें समानता हो। और "साम्राज्य सार्वजनिक सनातन नित्य धर्म" का विरोधी कोई भी न रहे तथा संसारके सब मनुष्य आपसमें सहजसे स्वात्मवत् वर्तते हुए सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। यही उनका मुख्य प्रयोजन था।

१९- आर्यसमाजोंकी स्थापना।

महर्षिको विदेशोंसे कई बार निमंत्रण आये कि वे वहां जाकर लोगोंको अपना संदेश दें, परन्तु महर्षिका सदा यही विचार रहा कि मैं जो कुछ करता हूं पहले उसको अपने देशमें प्रमाणित कर लूं तब मेरा विदेशोंमें जानेका समय आयगा, जबतक मैं "सर्वतन्त्र सिद्धान्तों" को स्वयं अपने देशमें कार्यरूपेण परिणित न कर दूं तबतक मुझे दूसरे देशोंको उपदेश करनेका क्या अधिकार है? और मुझे यह आशा क्यों करना चाहिये कि दूसरे देशके लोग मेरी बात सुनें? इसी हेतुसे महर्षिने सब संसारमें "सर्वतन्त्र" सिद्धान्तोंका प्रचार करानेके लिये बबई, पंजाब, मद्रास, बंगाल, यू. पी. आदि अनेक प्रांतोंमें भ्रमण करके अनेक स्थानोंपर आर्यसमाजें स्थापित की और उनके कार्यक्रम चलानेके लिये 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्तोंके आधारपर आर्यसमाजके नियमोंका निर्माण किया। किंतु खेद है कि हमने महर्षिके मंतव्य और प्रयोजनके इस रहस्यको आजतक नहीं अपनाया।

२०- आर्यसमाजके नियमोंपर विचार।

महर्षिने उपरोक्त विश्वशांतिदायक 'साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' माननेवाले व्यक्तिको 'आर्य' और आर्योंके समूहको 'आर्य-समाज' की संज्ञा देकर समस्त भूमंडलमें 'साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' के प्रचारार्थ आर्य-समाजोंकी स्थापना की। और 'साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' के सिद्धान्तोंके आधारपर 'आर्य समाज' के दश नियम निर्माण किये। इन नियमोंके सत्य, विद्या और धर्म इन तीन शब्दोंका अर्थ उपरोक्त साम्राज्य सार्वजनिक धर्मके सिद्धान्तोंके आधार पर करनेसे ही इन नियमोंका भावार्थ यथार्थरूपसे प्राप्त हो सकता है और इन तीनों शब्दोंके संबंधमें 'साम्राज्य सार्वजनिक धर्म, व्याख्या क्रमांक ४, १२ में लिखा है कि मतमतान्तरोंके पक्षपातसे रहित सत्य ही वेदोक्त धर्म है। तथा विद्या शब्दका अर्थ ज्ञान है। इसलिये इन नियमोंमें सत्य शब्दका अर्थ सर्वतंत्र सिद्धान्त और 'सत्य विद्या' का अर्थ सर्वतंत्र सिद्धान्तोंका ज्ञान तथा धर्म शब्दका अर्थ सर्वतांत्रिक धर्म होता है इसके अनुसार आर्य समाजके नियमोंका यथार्थ भावार्थ निम्न प्रकार होता है।

२१- (१) आर्यसमाजका प्रथम नियमका भावार्थ

भावार्थ- "आर्याभिविनयके वेदमंत्र २-३२ की व्याख्यामें लिखा है कि "उस विश्वकर्मा परमात्माने इस जीवादि जगत्को रचा है, वही इस जगत्का अधिष्ठान, निमित्त और साधनादि साधारण कारण है" और इसी प्रकार बाइबिलके युहन्ना १।१-४ में भी लिखा है कि "सृष्टिके आदिमें परमेश्वरके साथ उसका वचन (वेद) था और वह वचन (रूपी वेद) परमेश्वरका था, तथा सब कुछ उसी परमात्मासे उत्पन्न हुआ और जगत्की कोई भी वस्तु उसके बिना उत्पन्न न हुई इसी प्रकार कुरान और पुरानोंमें भी लिखा है।" अतः इस सर्वतंत्र सिद्धान्तके अनुसार वेदोक्त ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ जो ज्ञानद्वारा जाने जाते हैं उन सब प्रकारके ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंका आदि मूल परमेश्वर है।"

अर्थात्- सर्व प्रकारके सर्वतांत्रिक ज्ञान और जो ज्ञेय पदार्थ, ज्ञानद्वारा जाने जाते हैं उन सब प्रकारके ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंका आदि मूल परमेश्वर है। बाइबिलमें भी लिखा है कि "सब कुछ उसी परमेश्वरके द्वारा उत्पन्न हुआ है और कोई भी वस्तु उसके बिना उत्पन्न नहीं हुई। (युहन्ना १।३)

अतः यह नियम केवल इस बातका द्योतक है कि प्रत्येक

आर्यको अपना आदि मूल परमेश्वरको मानना चाहिये। किन्तु खेद है कि इस समय हम त्रैतवादके मिथ्या भ्रमके कारण अपनेको परमेश्वरके समान नित्य माननेसे परमेश्वरको भी अपना आदि मूल नहीं मानते जो नास्तिकताकी पराकाष्ठा है।

(२) द्वितीय नियम।

२- ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।

अर्थात् ईश्वर-तात्विक निर्गुणताकी अपेक्षासे-निराकार, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, अजर, अमर, अभय और गुणोंकी अपेक्षासे विश्वरूपमें सच्चिदानंदस्वरूप, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वगुणसंपन्न, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।

इस नियममें ईश्वरकी उपासना द्वारा उसके गुणोंको अपनेमें प्राप्त करना बताया है। क्योंकि उपासनाके संबधमें महर्षिने सत्यार्थ प्रकाश अजमेरी पृष्ठ ११५ में लिखा है कि "परमेश्वरकी स्तुतिका फल यह है कि जैसे परमेश्वरमें गुण हैं वैसे गुण, कर्म, स्वभाव अपनेमें भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे। तथा सुखियोंके साथ मित्रता, दुखियोंपर कृपा, पुण्यात्माओंके साथ प्रसन्नता, पापियोंके साथ उपेक्षा करना अर्थात् इनके साथ न प्रीति करना न वैर रखना इस प्रकारके बर्तावसे उपासकके हृदयमें सत्य धर्मका प्रकाश होता है। (ऋ. भा. भू.) अतः दीन, अनाथों और विधवाओंके दुःखमें उनकी रक्षा करना निर्मल उपासना है। (बायविल) और जो केवल भांडके समान परमेश्वरके गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसकी स्तुति करना व्यर्थ है। क्योंकि जो कोई गुड मीठा है ऐसा कहता है उसको गुड वा गुडका स्वाद कभी प्राप्त नहीं होता। और जो यत्न करता है उसको शीघ्र वा विलंबसे गुड मिल ही जाता है।"

यदि हम महर्षिके इस कथनपर विचार करें तो पाठकोंको विदित होगा कि हम परमेश्वरके गुणोंको अपनेमें प्राप्त करनेका प्रयत्न तनिक भी नहीं करते जिसके कारण सारी आयु ईश्वरकी स्तुति, प्रार्थना व उपासना करते रहते हैं किंतु ईश्वरीय गुण एक भी प्राप्त नहीं होता। इसलिये महर्षिके कथनानुसार केवल भांडके समान इस प्रकार स्तुति करना नितान्त व्यर्थ है। अतः पुरुषार्थ द्वारा ईश्वरके गुणोंको अपनेमें प्राप्त करना ही उपासनाका फल है न कि कीर्तन करना।

(३) तृतीय नियम।

३- वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है। वेदका पढना, पढाना और सुनना, सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है।

अर्थात् वेद सर्वधर्म अविरोधी और सर्वतांत्रिक सिद्धान्तोंका पुस्तक है इसलिये वेदोक्त सर्वतांत्रिक सिद्धान्तोंका पढना, पढाना और मानना, मनवाना सब आर्योंका परम धर्म है। बायबिलमें भी लिखा है कि "सृष्टिके आदिमें वचन (वेद) परमेश्वरके साथ था।" (यूहन्ना १।१)

इस नियमका तात्पर्य यह था कि सर्वतांत्रिक सर्वहितकारी वेदोक्त सिद्धान्तोंका संग्रह करके उनको सब आर्य लोग पढें, पढावें और सुनें, सुनावें और सब भूमंडलपर प्रचार करके आर्यसमाज स्थापित करते हुए विश्वमें शांति स्थापित करें किंतु खेद है कि वेदोंमेंसे 'सर्वतांत्रिक सर्वहितकारी' सिद्धान्तोंका संग्रह आजतक नहीं किया गया।

(४) चतुर्थ नियम।

४- सत्य ग्रहण करने और असत्यके छोडनेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

भावार्थ- सत्य अर्थात् पक्षपातरहित होकर सर्वतंत्र और सर्वहितकारी सिद्धान्तोंके ग्रहण करने और असत्य अर्थात् परस्पर विरोधी सिद्धान्तको छोडनेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

इस नियमपर भी गम्भीरतासे विचार करें तो प्रतीत होता है कि हम इस नियमके विरुद्ध परस्पर विरोधी सिद्धान्तोंमेंसे एक त्रैतवाद सिद्धान्तको ग्रहण करके 'सर्वतंत्र' सिद्धान्तोंको त्यागनेमें उद्यत रहते हैं जो पाठकोंके विचारणीय है।

(५) पांचवां नियम।

५- सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्यको विचार करके करने चाहिये।

भावार्थ- सब कामोंमें सत्य अर्थात् सर्वतांत्रिक सर्वहितकारी और असत्य अर्थात् परस्पर विरोधी कामोंका विचार करके धर्म अर्थात् सर्वतांत्रिक सिद्धान्तके अनुसार सर्वहितकारी काम जो अन्यका किया हुआ अपनेको भावे, वही करना चाहिये। जिसके आचरण करनेसे संसारको उत्तम सुखकी प्राप्ती हो।

जो कोई किसीकी दुराचारी भावनाको फेरकर सदाचारी बना लेगा वह दुराचारीके द्वारा स्थायीरूपसे बहुतसे होनेवाले पापोंकी जडको नष्ट करनेके परमपुण्यका भागी होगा (बायबिल)।

यदि इस नियमपर विचार करें तो प्रतीत होता है कि हम त्रैतवादके सिद्धान्तको माननेके कारण 'सर्वतन्त्र' सिद्धान्तोंका कोई विचार न करते हुए असत्य एवं परस्पर विरोधी त्रैतवादके सिद्धान्तोंको ही धर्म मानकर त्रैतवाद सिद्धान्तके अनुसार सब काम करते हैं। जो इस नियमके विरुद्ध है।

(६) छठवां नियम

६- संसारका उपकार करना इस समाजका मुख्य उद्देश है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

भावार्थ— प्रत्येक आर्यसमाजका मुख्य उद्देश है कि संपूर्ण संसारके मनुष्योंके उपकारका कार्य करें अर्थात् चिकित्सालय खोलकर शारीरिक स्वास्थ्यकी उन्नति करें व आत्मचिकित्सा द्वारा दुराचारोंका निराकरण करके आत्मिक उन्नति करें तथा सामाजिक बुराइयोंका निराकरण करके सामाजिक उन्नति करें।

उपरोक्त भावार्थके अनुसार इस नियममें संपूर्ण संसारको स्वस्थ, सुखी तथा समृद्धशाली बनाकर विश्वमें शांति स्थापित करनेकी योजना दी हुई है। किंतु खेद है कि इस योजनाका आजतक कोई प्रारंभ नहीं किया गया। इसका मूल कारण यह है कि स्वयं आर्य लोगोंने इस नियमके अनुसार अपनी ही उन्नति नहीं की— अर्थात् जो व्यक्ति धूम्रपान करते हैं या चाह पीते हैं या झूठ बोलते तथा गबन करते व रिश्वत लेते हैं तो उनमेंसे ये दुराचरण आयुपर्यंत नहीं जाते। ऐसी परिस्थितिमें वह समस्त संसारकी उन्नति किस प्रकार कर सकते हैं जो पाठकोंके विचारणीय है।

(७) सातवां नियम।

७- सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

भावार्थ— प्रीतिसे वर्तनेके सम्बन्धमें महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें लिखा है उसके अनुसार सब मतोंके विद्वानोंसे पक्षपात छोडकर "सर्वतन्त्र" सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरेसे विरुद्ध बातें है उन्हें त्यागकर सबसे परस्पर प्रीतिसे यथायोग्य बर्तें बर्तावें तो जगत्का पूर्ण हित होवे। इस नियमके अनुसार ईसाई लोग दलित वर्गमें "सर्वतन्त्र सिद्धान्त" के आधारपर बीमारोंकी चिकित्साद्वारा मूर्खोंको विद्यादान द्वारा परोपकारका कार्य करते हैं उनसे हम ईर्षा और द्वेष करते हैं जो इस नियमके विरुद्ध है।

(८) आठवां नियम।

८- अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये।

भावार्थ— अविद्या अर्थात् मूर्तिपूजादिके परस्पर विरोधी सिद्धान्तोंके ज्ञानको नष्ट करके विद्या अर्थात् "सर्वतांत्रिक सिद्धान्तों" के ज्ञानकी वृद्धि करना चाहिये किन्तु हमने इस विद्याका अर्थ लौकिक विद्या मानकर "सर्वतांत्रिक ज्ञान" के ग्रहण करनेका आरंभ स्वयंने ही नहीं किया बल्कि इसके विरुद्ध परस्पर विरोधी त्रैतवादके सिद्धान्तकी वृद्धिका प्रचार कर रहे हैं जो पाठकोंके विचारणीय है।

(९) नववां नियम।

९- प्रत्येकको अपनी ही उन्नतिसे सतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

भावार्थ— आर्योद्देश रत्नमाला क्रमांक २ के अनुसार प्रत्येक आर्यको अपनी उन्नति हीमें सन्तुष्ट होना वेदोक्त धर्मसे विरुद्ध होनेसे त्याज्य है किन्तु सबकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति समझना वेदानुकूल होनेसे ग्राह्य है। किन्तु हमको दूसरोंकी उन्नतिमें ईर्षा व द्वेष होता है जो इस नियमके विरुद्ध है। अतः "सर्वे भवन्तु सुखिनः" अर्थात् हमारी भावना विश्व कल्याणकी होनी चाहिये।

(१०) दसवां नियम।

१०- सब मनुष्योंको सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालनेमें परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियममें सब स्वतंत्र रहें।

भावार्थ— सब मनुष्योंको उपरोक्त बताये हुए सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालनेमें परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियमको जो अपना हितकारी समझता हो तो वह उसके पालनमें स्वतंत्र है। अर्थात् इस आर्यसमाजकी सदस्यतामें कोई भी देश, जाति या धर्मका प्रतिबंध नहीं है। अत प्रत्येक देश, जाति व धर्मका व्यक्ति उपरोक्त सर्वतांत्रिक सर्वहितकारी नियम पालनेके लिये तैयार हो तो वह थियोसोफीकल सोसाइटीकी तरह अपने स्वहितकारी धर्मको पालते हुए आर्यसदस्य हो सकता है। और इस भावार्थके आधारपर उपरोक्त सामाजिक सर्वहितकारी नियमोंका सारे विश्वमें प्रचार होकर विश्वमें शांति हो सकती है।

किंतु खेद है कि आर्यबन्धुओंने त्रैतवादके माननेके कारण ही इस नियमकी विशुद्ध व्यापकताके रहस्यको नहीं समझा जिसके कारण जो कोई विद्वान् त्रैतवादके विरुद्धवादका माननेवाला भी मालूम होता है तो उसका शीघ्र संबंधविच्छेद कर दिया जाता है जो इस नियमके नितांत विरुद्ध है।

२- त्रैतवादका स्पष्टीकरण।

मैंने पूर्वमें कहा है कि शायद हमारी असफलतासे कुछ सबक मिले, इस बातकी ओर मैं आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि उपरोक्त दो बातोंमेंसे देशमें स्वराज्यकी प्राप्ति तो विश्वबन्धु महात्मागांधीके अहिंसारूपी युद्ध द्वारा हो चुकी है, और वह महर्षिके मंतव्यानुसार "सर्वधर्म समभाव" सिद्धान्तके प्रचार द्वारा विश्वमें शांति भी स्थापित करना चाहते थे। किन्तु उनकी भी यह योजना उनके साथ ही चली गई और उसकी पूर्ति उनके उत्तराधिकारी नहीं कर सके।

और महर्षिके उत्तराधिकारी आर्यसमाजकी ओरसे भी महर्षिके मंतव्यानुसार विश्वशांतिके हेतु "सर्वतंत्र सिद्धान्तों" के प्रचारका प्रारंभ विदेशोंमें होना तो एक तरफ रहा इस भारतवर्षमें ही आजतक नहीं हुआ। जिसका कारण एकमात्र यह है कि आर्यसमाजने महर्षिके मंतव्यके विरुद्ध त्रैतवादके "स्वतंत्र सिद्धान्त" को जो अद्वैतवादका परस्पर विरोधी है विशेष रूपसे अपनाया हुआ है जो महर्षिको स्वीकार नहीं था।

(१) अद्वैतवादकी तरह त्रैतवाद भी हानिप्रद है।

यद्यपि महर्षि दयानंदने त्रैतवादका समर्थन कहीं कहीं किया है। तथापि वह हेत्वाभासके रूपमें है। उसका कारण यह है कि अद्वैतवादके सिद्धान्तमें स्वरूपसे केवल- आत्मतत्व ही नित्य माना है। और इसीके आधारपर नवीन वेदान्ती "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" के वाक्यसे अकर्मण्यता फैलाते रहते हैं। और त्रैतवादके सिद्धान्तमें ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ स्वरूपसे नित्य माने हैं। परन्तु इसके आधारपर भी प्रारब्धवादकी अकर्मण्यता फैलती है इसलिये मूलभूत दोनों ही सिद्धान्त हानिप्रद हैं। इसलिये नवीन वेदान्तियोंकी अकर्मण्यता मिटानेके हेतु इस त्रैतवादका समर्थन हेत्वाभासके रूपमें किया है।

(२) त्रैतवाद प्रवाहसे नित्य है।

अतः नवीन वेदान्तियोंकी अकर्मण्यता मिटानेके हेतु, अद्वैतवाद तथा त्रैतवादके सिद्धान्तोंमें समन्वयके रूपमें जिस प्रकार अद्वैतवादी स्वामी आद्यशंकराचार्यजीने मुण्डकोपनिषद्के "द्वा सुपर्णा" मंत्रके भाष्यमें ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों पदार्थोंको नित्य होना बताया है, जिसका तात्पर्य प्रवाहकी नित्यतासे है। उसी प्रकार महर्षिने भी इन तीनों पदार्थोंको नित्य होना बताया है जिसका तात्पर्य भी प्रवाहकी नित्यतासे ही है। न कि स्वरूपकी नित्यतासे। क्योंकि प्रत्येक जीवको नित्य माननेसे तो तीन पदार्थोंकी जगह अनन्त पदार्थ होकर त्रैतवाद ही समूल नष्ट हो जावेगा। इसलिये यहां 'जीव' से तात्पर्य जीवसमूहसे है न कि व्यक्तिगत जीवोंसे।

(३) त्रैतवादको स्वरूपसे नित्य मानना नितान्त भ्रम है।

अतः जिस प्रकार स्वामी शंकराचार्यके उपरोक्त भाष्यको देखकर कोई व्यक्ति स्वामी शंकराचार्यजीको त्रैतवादी समझने लगे तो उसका यह समझना नितान्तभ्रम होगा। इसी प्रकार महर्षिके उपरोक्त भाष्यको देखकर इस समय जो आर्यसमाज महर्षिको 'त्रैतवादी' होना समझने लगा है सो इसका यह समझना भी नितान्तभ्रम है। क्योंकि जिस प्रकार एकवादी वकील प्रतिवादीके पक्षके प्रमाणसे ही प्रतिवादीके कथनका खंडन करता है परन्तु वादीका वकील, प्रतिवादीके उस प्रमाणको अपना मंतव्य नहीं मान लेता। ठीक इसी प्रकार महर्षिने नवीन वेदान्तियोंके आचार्य-शंकरके प्रमाणद्वारा नवीन वेदान्तियोंके "अहं ब्रह्मास्मि" और "ब्रह्म, सत्यं जगन्मिथ्या" के कथनका खंडन किया

है। परंतु वह शंकराचार्यके इस प्रमाणको अपना मंतव्य नहीं मानते थे। केवल अहं ब्रह्मास्मि की मिथ्याधारणाके खंडनार्थ स्वामी शंकराचार्यजीके प्रमाणको अर्थवादके गौण रूपसे वर्णन किया है। यदि कोई इस अर्थवादके गौण प्रमाणको मुख्य मान लेता है तो वह ग्रंथकारके अभिप्रायको ठीक ठीक समझकर उससे बहुत दूर चला जाता है उसी प्रकार आर्यसमाज महर्षिके अभिप्रायसे दूर हो गया है। और यदि स्वामी शंकराचार्यके कथनानुसार त्रैतवादको प्रवाहसे नित्य होना महर्षिका मंतव्य ही मान लिया जावे तब भी त्रैतवादके सिद्धान्तानुसार स्वरूपसे नित्यता सिद्ध नहीं होती।

(४) त्रैतवाद खंडन।

अतः उपरोक्त समर्थनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि यह समर्थन केवल नवीन वेदान्तियोंकी अकर्मण्यता मिटाने और अद्वैत तथा त्रैतवादके समन्वय रूपमें किया है। जो तात्कालिक आवश्यकता था। और त्रैतवादकी स्वरूपसे नित्यता माननेका सिद्धान्त भी प्रारब्धवादकी अकर्मण्यता फैलानेवाला होनेके कारण हानिप्रद होते हुए परस्परमें विरोधी होनेसे महर्षिके स्वयंके मंतव्यके विरुद्ध होनेसे शांतिप्रद नहीं है।

(अ) इसीलिये महर्षिने 'द्वा सुपर्णा' मंत्रके आगेके "अस्मिन् वृक्षे" और "समानमेतत्" मंत्रोंके भाष्यमें स्पष्टरूपसे लिखा है कि "जीव अनादिकालसे उत्पन्न होते और मरते रहते हैं।"

(ब) इसके पश्चात् सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लासमें "आत्मचराचर ग्रहणात्" इस वेदान्तदर्शनके सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि "जैसे गूलरके फलमें कृमि उत्पन्न होकर उसीमें रहते और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही परमेश्वरके बीचमें सब जगत्की व्यवस्था है। इससे जीवोंका उत्पन्न व नष्ट होना सिद्ध है।"

(क) इसी प्रकार आर्याभिविनय २१४ में स्पष्टरूपसे लिखा है कि जीव व ब्रह्मके साथ जन्म जनकादि सम्बन्ध है इससे भी जीव उत्पन्नधर्मा होना सिद्ध है।

अतः उपरोक्त कथनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि महर्षिने त्रैतवादका अनेक स्थानपर सप्रमाण खंडन किया है। किन्तु हमने इस रहस्यको न समझते हुए। महर्षिके मंतव्यके विरुद्ध केवल भ्रांतिसे महर्षिको त्रैतवादी मान रखा है, जो महर्षि दयानंदके प्रति घोर अन्याय है। इसी कारण हम महर्षिके आदेशों और कार्यक्रमको नहीं निभा सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? एक बार फिसल जानेपर हम अभीतक यह नहीं समझ पाये हैं कि परस्पर अविरोधी अहिंसावादी 'सर्वतन्त्र सिद्धांत' से ही काम चल सकता है और किसी भी अन्य अवस्थामें परस्पर विरोधी हिंसाकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। इस "सर्वतन्त्र सिद्धांत" की देन महर्षिकी अलौकिक कुशाग्र बुद्धिका परिणाम है कि इस प्रकारका विलक्षण सिद्धान्त आर्यसमाजको दिया हुआ है कि जिसका विरोधी कोई भी न होते हुए शांतिपूर्वक वेदोक्त धर्मका प्रचार होते हुए विश्वमें शांति स्थापित हो जावे।

३– आर्यसमाजकी संकीर्णता ही पतनका मूल कारण है।

प्रिय आर्य बंधुओ—

विश्ववंद्य महर्षि दयानंदके मंतव्यको गंभीरतासे देखा जावे तो प्रतीत होगा कि वे विश्वशांतिदायक सर्वधर्म समन्वय रूप सर्वतंत्र सिद्धांतको माननेवाले थे। इसी सर्वतंत्र सिद्धांतको उन्होंने, सर्वधर्म अविरोधी, सर्वहितकारी, वेदोक्त-साम्राज्य सार्वजनिक सनातन-नित्यधर्मके नामोंसे कथन किया है। और वह अद्वैत तथा त्रैतवाद जैसे परस्पर विरोधी सिद्धांतोंको स्वीकार नहीं करते थे। तथा थियोसोफिकल सोसाइटीकी तरह इस सर्वतंत्र सिद्धांतका बिना किसी देश, जाति तथा संप्रदायक भेदभावके संपूर्ण भूगोलमें प्रचार करते हुए विश्वमें शांति स्थापित करके 'कृण्वन्तो-विश्वमार्य' इस वेदके आदेशको चरितार्थ करना अपना मुख्य प्रयोजन मानते थे।

परन्तु महर्षि दयानंदकी शिक्षामें उनका जो उच्च दर्शन और बहुमुखी जीवन रहा है। उसको हम (जिन्हें इनके निर्माण किये आर्यसमाजसे दीर्घकालीन संपर्कका सौभाग्य मिला है।) पूर्णतया सामूहिकरूपसे समझनेमें सदैव सफल नहीं हो सके।

हम सबने उनके विभिन्न विषयोंको (जैसे उनकी सीख, उनके विचार, उनके उपदेश और उनके व्यावहारिक जीवनको) अपनी अपनी दृष्टिसे अपनाया है। इसीलिये उनकी सभी चीजोंको हम व्यापकरूपसे नहीं समझ पाये। और अपने अपने विचार एवम् दृष्टिकोणके अनुसार किसी एक कामयानी संध्या-हवन और त्रैतवादके सिद्धांत आदिमें संलग्न हो गये।

उनके विचारोंकी पृष्ठभूमि और उनकी शिक्षामें जो व्यापक सिद्धांत निहित थे, उनको मानते हुए भी हम लोगोंने अपनी दृष्टिको संकुचित बनाकर त्रैतवाद सिद्धांतपर आवश्यकतासे अधिक जोर दे दिया है, और दूसरे महत्वपूर्ण ' सर्वतंत्र सिद्धांतों ' को नजर अदाज कर दिया है। इसके लिये हम किसीको दोष नहीं दे सकते क्योंकि यह संकुचितता-पौराणिक धर्मसे उत्पन्न त्रैतवादकी ' रूढि ' विशेषके साथ गहरा संबंध, और तत्संबंधी अपने गहरे विश्वास विचार एवम् दृष्टिकोणके कारण हुई है।

इस संकुचित दृष्टिके कारण जिस वेदोक्त ' सर्वतंत्र सिद्धांत ' के लिये महर्षिने स्पष्टरूपसे कथन किया है कि " मैं अपना मंतव्य उसीको मानता हू कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके और जो तीनों कालमें सबको एकसा मानने योग्य है। तथा जो मतमतान्तरोंके परस्पर विरुद्ध झगडे हैं, उनको मैं स्वीकार नहीं करता, " उसी वेदोक्त धर्ममें, जिस प्रकार हिंदुओंकी उच्च जाति कहलानेवाली उपजातियोंमें कोई व्यक्ति कैसा ही झूठा, दुराचारी, व्यभिचारी, भ्रूण हत्याकारी आदि दुर्गुणी हो तब भी वह जातिमें रह सकता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति कैसा ही सत्यवादी व सदाचारी होते हुए किसी विधवाके साथ पुनर्विवाह या नियोग कर लेवे तो उसे उसकी जातिसे पृथक् करनेकी घोषणा शीघ्र कर दी जावेगी।

इसी प्रकार आर्यसमाजमें भी आर्यसमाजके हजारों रुपये गबन करनेवाले और जायदादको हडप जानेवाले तथा आर्यसमाज और सार्वदेशिक सत्ताके साथ अपील दर अपील मुकद्दमेबाजी करनेवाले, चोर, मिथ्यावादी, रिश्वतखोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति तो आर्य समाजके सदस्य रह सकते हैं, किन्तु एक सत्यवादी, सदाचारी और तन, मन, धनसे समाजकी सेवा करनेवाला होनेपर भी यदि उसको जोरसे अद्वैतवादी होनेकी संभावना हो जावे तो उसको सब वसुधाको कुटुंब माननेवाले आर्यसमाजकी सदस्यतासे पृथक् किये जानेकी घोषणा शीघ्र कर दी जायगी। इस प्रकार जो आर्यसमाज संपूर्ण विश्वको आर्य बनाना चाहता है उसी आर्यसमाजमेंसे उपरोक्त संकीर्णताके कारण सैकडों कर्मठ विद्वान् कांग्रेसमें चले गये और सैकडों बडे बडे विद्वान् तथा संन्यासियोंका संबंधविच्छेद हो गया और होता चला जा रहा है जो आर्यसमाजके पतनका मूल कारण है।

४- विश्वशांतिका श्रेय महर्षि दयानंदको ही है।

दुर्भाग्यवश ठीक ऐसे समय जब हम परस्पर अविरोधी " सर्वतंत्र सिद्धान्त " के स्थापित करनेके योग्य हुए तब महर्षि हमसे विदा हो गये। संसारमें कुछ व्यक्ति ऐसे हो चुके हैं, जिन्होंने अपने जीवनमें अहिंसा एवं शांतिसे ही काम लिया और दूसरोंको भी अहिंसाके अपनानेकी शिक्षा दी, परन्तु जनसमुदायों और राष्ट्रोंके बीच मतभेदोंको दूर करनेके लिये सब मतोंका समन्वय करते हुए ' सनातन नित्यधर्म ' अर्थात् तीनों कालमें जिसका बाध न हो ऐसे त्रिकालाबाधित- सर्वधर्म-अविरोधी-साम्राज्य-सार्वजनिक-धर्मका " सर्वतन्त्र-सिद्धान्त " के द्वारा इतने बडे पैमानेपर विश्वशांतिके प्रयोग करनेका श्रेय महर्षि दयानन्दको ही है।

५- सर्वतंत्र सिद्धान्तका जीर्णोद्धार।

किन्तु खेद है कि यह विश्वशांतिके ' सर्वतंत्र सिद्धान्तका ' प्रयोग अधूरा रहकर ही समाप्त हो गया। अब यह जनसमुदायका कर्तव्य है कि इस " सर्वतंत्र-सिद्धान्त " का जीर्णोद्धार करके इसके कार्यक्षेत्रको अधिक विस्तृत करें, और यह देखें कि आजकी परिस्थितिमें हम कहांतक व किस-प्रकार सफल हो सकते हैं।

१ अज्ञान नष्ट करके ज्ञानकी वृद्धि करना।

यद्यपि हम जानते हैं कि यह कठिन काम है, परन्तु इस संबंधमें हमें लोगोंको शिक्षित करना होगा, इसीलिये महर्षिने " अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि करनेका आठवां नियम निर्माण किया था। " परन्तु महर्षि जिस विद्याकी कल्पना करते थे और जिसके लिये उन्होंने " सर्वतंत्र-सिद्धान्त "का कार्य-क्रम बनाया वह इस वर्तमान विद्यासे कुछ भिन्न था। बच्चेकी प्रवृत्तियोंके विकासके पूर्ण संस्कार जो उसके अन्दर हैं उनको परस्परके बाह्य निषेधोंको हटाकर बाहर लाना, यह महर्षिकी विद्या वृद्धिके कार्यक्रमका अंग था। इसीलिये महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशके राजधर्ममें " अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मंत्रदः " इस मनुस्मृतिके हवालेसे लिखा है कि जो अज्ञानी हैं सोई बालक हैं और ज्ञानी अर्थात् सत्य उपदेशका करनेवाला पिता होता है, इसका तात्पर्य यही है कि जितने लिखे पढे मनुष्य हैं, यदि वह बुद्धि और विचारहीन अज्ञानी हैं तो वे बालककी नाईं हैं।

अतः जो लोग ऐसे अज्ञानियोंको फुसलाकर तथा उनको प्रसाद, चरणोदक, कंठीमाला, छापा-तिलक देना व एकादशी आदि माहात्म्य सुनाना, तीर्थ-नामस्मरण इत्यादिक, छलसे धनादिक पदार्थोंको लेते हैं ऐसोंके ऊपर राजाको अवश्य दंड करना चाहिये। जो राजा दंड नहीं देगा तो उसकी प्रजा सब भ्रष्ट हो जायगी और राज्यका भी नाश हो जायगा। अतः इसका आशय यही है कि "सर्वतंत्र सिद्धान्त" के आधारपर प्रजामेंसे 'स्वतंत्र सिद्धान्त' की परस्पर विरोधी अज्ञानताका नष्ट करना ही अविद्याका नाश करना और सर्वतंत्र सिद्धान्तोंके ज्ञानकी वृद्धि करना ही विद्याकी वृद्धि करना है, और इस ज्ञानके द्वारा संसारके सब मनुष्योंको चाहे वह किसी भी मतके माननेवाले हों आर्य बनाया जा सकता है।

२ सब संप्रदायोंके साथ प्रीतिपूर्वक बर्तना।

महर्षिका उद्देश्य मृतकोंके समान सबको एक ही स्तरपर लानेका नहीं था। इसीलिये उन्होंने आर्यसमाजके सातवें नियममें लिख दिया है कि "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।" इसका आशय सत्यार्थ प्रकाश-की भूमिकामें दिया है कि "आजकल बहुतसे विद्वान् प्रत्येक मतोंमें हैं, वे पक्षपात छोड़ 'सर्वतंत्र सिद्धान्त' अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरेके विरुद्ध बातें हैं उनको त्यागकर परस्पर प्रीतिसे बर्तें बर्तावें तो जगत्का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानोंके विरोधसे अविद्वानोंमें विरोध बढ़कर अनेक प्रकारके दुःखकी वृद्धि और सुखकी हानि होती है। इस हानिने जोकि स्वार्थी मनुष्योंको प्रिय है, सब मनुष्योंको दुःखसागरमें डुबा दिया है।

इन बातोंको चित्तमें धरके ही मैने इस ग्रंथको रचा है श्रोता व पाठकगण भी प्रथम प्रेमसे इस ग्रंथका सत्य सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट लाभ प्राप्त करें। इसमें यह अभिप्राय रखा गया है कि जो जो सब मतोंमें सत्य सत्य बातें हैं वे सबमें अविरुद्ध होनेसे उनको स्वीकार करके जो जो मत-मतांतरोंमें परस्पर विरोधी मिथ्या बातें हैं उनका खंडन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि इसमें सबसे सबका विचार होकर, परस्पर प्रेमी होकर एक सत्य मतस्थ होवें।

उपरोक्त कथनानुसार महर्षिने लखनऊमें आर्यसमाजकी स्थापना की उसमें बिना किसी जातिय व सांप्रदायक भेद-भावके एक मुसलमान भी आर्यसमाजका सदस्य बना लिया। इतना ही नहीं बल्कि भारतवर्ष व अमेरिकाकी थियोसोफीकल सोसायटी, जिसमें हिंदु, मुसलमान, ईसाई, बौद्धादि सब प्रकारके धर्मानुयाई सदस्य होते हैं, उससे बिना किसी देश व जाति व सांप्रदायक भेदभावके गठबंधन करके देश तथा विदेशकी सब सोसायटीयोंको आर्यसमाजकी शाखा होना स्वीकार कर लिया। (देखो सार्वदेशिक जीवन चरित्र पृष्ठ ३३४)।

अतः पाठक महर्षिके उपरोक्त आदेश व क्रियापर गंभीरतासे विचार करें कि उनका विश्वके मानवसमाजके संबंधमें क्या आदर्श था और उनके बताये "सर्वतंत्र सिद्धान्तों" की व्यापकता कितनी है तथा इन सिद्धान्तोंके आधारपर प्रचार करनेसे ही "कृण्वन्तो विश्वमार्यं" वेदमंत्र कार्य-रूपमें परिणत हो सकता है। इसका प्रचार, परस्परकी द्वेषभावनाको समाप्त किये बिना नहीं किया जा सकता।

३- विदेशियोंके प्रति प्रेमका भावना।

विदेशियोंके प्रति प्रेमकी भावना रखनेके संबंधमें भी महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें स्पष्टरूपसे लिखा है कि "यद्यपि मैं आर्यावर्त देशमें उत्पन्न हुआ हूं और बसता भी हूं तथापि जैसे इस देशके मतमतान्तरोंकी झूठी बातोंका पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ तथा महोन्नतिवालोंके साथ भी बर्तता हूं और मनुष्यो-न्नतिके विषयमें भी जैसा स्वदेशवालोंके साथ बर्तता हूं वैसा ही विदेशियोंके साथ भी बर्तता हूं। तथा सब सज्जनोंको भी इसी प्रकार बर्तना योग्य है। और जो स्वार्थ-वश होकर परहानिमात्र करता रहता है वह जानो पशुओंका भी बडा भाई है। इसलिये जैसा मैं सब धार्मिक ग्रंथोंको प्रथम ही बुरी दृष्टिसे न देखकर उनमेंसे गुणोंका ग्रहण और अन्य विदेशी मनुष्यजातिकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता हूं वैसा ही सबको करना योग्य है। और एक मनुष्य जातीमें बहका कर विरुद्धधर्मी कराकर, एक दूसरेको शत्रु बना लडा मारना विद्वानोंके स्वभावसे बाहर है और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थका प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयोंका मुख्य कर्तव्य काम है। परमात्मा अपनी कृपासे इस आशयको विस्तृत और चिरस्थाई करे।"

इस कथनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि महर्षि दयानन्दके हृदयमें विदेशियोंके लिये भी वैसी ही सहानुभूति थी, जैसी कोई भी मनुष्य अपने देशस्थ दूसरे मनुष्यके साथ रखता है और दिखलाता है। इसीलिये उन्होने स्पष्टरूपसे कहा है कि "ईसा" महापुरुष अवश्य थे; (देखो सार्वदेशिक जीवन चरित्र, पृष्ठ १६६) "अंग्रेज ही आज प्रकृत अर्थमें ब्राह्मण हैं।" (सार्वदेशिक जीवन चरित्र, पृष्ठ २१४) युरोपियनोंमें बाल्यावस्थामें विवाह न करना, लडका, लडकीको विद्याकी सुशिक्षा करना, कराना, स्वयंवर विवाह होना, बुरे बुरे आदमियोंका उपदेश न होना, विद्वान् होकर जिस किसीके पाखंडमें न फसना, वे जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सत्तासे निश्चित करके करते हैं। अपनी स्वजातिकी उन्नतिके लिये तन, मन, धन व्यय करते हैं, आलस्यको छोड उद्योग किया करते हैं, अपने देशके बने जूतेकी भी प्रतिष्ठा करते हैं, और आजतक स्वदेशके अनुसार मोटे कपडे आदि पहनते हैं, तथा अपने देशका चालचलन आदि नहीं छोडते अतः वे बुद्धिमान् ठहरते हैं।" (देखो सत्यार्थ प्रकाश अजमेर, पृष्ठ २४६)

"किसी अन्य जाति या धर्मवालोंके हाथका पका वा छुआ खानेमें कोई पाप नहीं है।" (सार्वदेशिक जीवनचरित्र, पृष्ठ ३०७।३२६) "विदेशसे आनेवाले मुसलमानोंसे हमने उनकी एक ईश्वरकी पूजाकी भलाईको नहीं सीखा।" सार्वदेशिक जीवन चरित्र, पृष्ठ २१३) प्रोफेसर मेक्समूलर साहबको जब महर्षि पत्र लिखते थे तब उनको "भट्ट" शब्द लिखते थे। (देखो पत्रव्यवहार) तथा आदिम सत्यार्थ प्रकाशमें अनेक ऐतिहासिक प्रमाण देकर विना देश व जातिय भेदभावके अन्य धर्मावलंबी विदेशियोंके साथ खानपान, शादीव्यवहार एक होनेकी प्रशंसा करते हुए इसके अनेक प्रकारके लाभ तथा सुख व शांतिप्रद होना बताया है।

४- विरोध सहनेकी सामर्थ्य तथा विरोधीके प्रति सद्भावना।

हम सोच सकते हैं कि यदि हमें रास्ता दिखाने और प्रेरणा देनेके लिये महर्षि जीवित होते तो हम क्या करते? वे मानवमें ऐसा साहस चाहते थे, जो विरोधीके बुरेसे बुरे व्यवहारको विरोधीके प्रति किसी भी प्रकारकी दुर्भावनाके विना सहनेकी सामर्थ्य होना, जैसा कि उन्होंने स्वयंको जहर देनेवालेके प्रति दुर्भावना होना तो एक तरफ रहा उल्टा उसे सौ रुपये देकर तत्काल नेपाल जानेका आदेश दिया। और इस प्रकार उस जहर देनेवालेको जीवनदान देकर अपनी उस अनुपम सहनशक्तिका प्रत्यक्ष प्रमाण दिया कि "मैं किसी को कैद कराने नहीं आया, संसारमात्रको मुक्त कराना ही मेरा कर्तव्य है।" (देखो सार्वदेशिक जीवन चरित्र, पृष्ठ ३५८) जबतक हममें ऐसी सहनशीलता और साहस नहीं होगा तबतक विश्वशांतिके प्रचारकी सफलता आंखोंसे ओझल रहेगी।

५- विश्वशांतिका प्रचार भारतसे ही होना श्रेयस्कर है।

विश्वशांतिके हेतु किसी न किसी समाजको यह साहस दिखाना ही होगा। यह नहीं कहा जा सकता है कि वह कौनसा समाज होगा और किस जगहका होगा किन्तु यह स्पष्ट है कि आज यह विश्वशांतिका काम हम नहीं कर सकते। यद्यपि हम अपने आपको महर्षि दयानंदकी विचारधारा और उनके उपदेश तथा उनके कार्यपूर्तिका उत्तराधिकारी होना मानते हैं किन्तु कार्य उनके मंतव्यके विरुद्ध करते हैं। फिर भी यह काम किसीको करना ही है, मैं आशा करता हूं कि इस विचार विमर्शके परिणामस्वरूप पाठक यह संदेश ससारके अन्य देशोंतक पहुचा सकेंगे। क्योंकि इस समय विश्वशांतिके लिये रूस तथा चीनमें जो 'साम्यवाद' के सिद्धान्त अपनाये जा रहे हैं उन सबमें अधिकतर भाग महर्षि कथित 'वेदोक्त सर्वतांत्रिक धर्म' का ही है।

इसीप्रकार अमेरिकामें वर्ल्ड रिलीजनके नामसे एक समाज सुधारक संस्था खुल गई है और प्रत्येक राज्यमें उसकी शाखायें फैली हुई हैं, तथा कार्य कर रही है जिनके द्वारा विश्वबन्धुत्व और विश्वधर्मकी भावनाका प्रचार किया जाता है, और प्रतिवर्ष 'विश्वशांति परिषद्' होता रहता है। परन्तु उनके पास महर्षिके मन्तव्योंकी मुकाबिल योजना नहीं है। अतः यह संस्थाएं महर्षिके उपरोक्त बताये हुए विश्वशांतिके मार्गप्रदर्शक विचारोंकी उत्कृष्ट इच्छुक और पात्र हैं। किन्तु यदि विदेशोंके द्वारा विश्वशांति हुई तो यह बात भी निश्चय है कि महर्षिके दूसरे उद्देश्यानुसार विश्वमें वेदोक्तधर्मका प्रचार न हो सकेगा। इसलिये वेदोक्तधर्मके

प्रचारकी दृष्टिसे इसका प्रचार केन्द्र, भारतसे ही होना श्रेयस्कर है ताकि " कृण्वन्तो विश्वमार्यं " वेदमंत्र कार्यरूपमें परिणत होकर विश्वमें शांति स्थापित होनेके साथ साथ, वेदोक्तधर्मका भी प्रचार होकर, महर्षिके दोनों उद्देश्योंकी पूर्ति हो सके ।

हमारे देशमें एक कहावत है कि चारों तरफ रोशनी होते हुए भी कभी कभी दिया तले अंधेरा होता है । आशा है हम इस कहावतको चरितार्थ नहीं करेंगे और पाठक इसकी सच्चाईको दियेके ठीक नीचे न होते हुए भी इससे रोशनी लेकर प्रमाणित करेंगे ।

यदि पाठक या श्रोतागण इस विश्वशांतिसंबंधी विचार विमर्शरूप महर्षिकी विचारधाराको समाजके सामने रख सके तो यह बहुत बड़ा काम होगा । मैं इस विचारधाराको सत्य एवं व्यावहारिक मानता हूं और यह समझता हूं कि यदि हममें आवश्यक साहस हो और सब धर्मानुयायी-विद्वज्जन परस्परकी द्वेषभावनाको त्याग कर संगठित हो जावें तो इसे शीघ्र कार्यान्वित किया जा सकता है ।

६ कार्यपूर्तिकी योजना ।

उपरोक्त कथनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि महर्षि दयानंदके मतव्यानुसार जो विश्वशांतिदायक 'सनातन नित्य धर्म' अर्थात् तीनों कालमें जिसका विरोधी न हो, ऐसे त्रिकालाबाधित, सर्वधर्म अविरोधी " साम्राज्य-सार्वजनिक-धर्म " का सर्वतंत्र सिद्धान्तके द्वारा समस्त मतमतान्तरके विद्वज्जनकी परस्परकी विरोधी भावनाका त्याग कराना चाहिये, वहां सार्वदेशिक तथा धर्मार्य सभाने स्वयं अपने अंतरगतके उच्चकोटिके विद्वान् तथा संन्यासियोंसे ही परस्परमें विरोध करके उनसे सम्बंध विच्छेद कर लिया है । और उपरोक्त " साम्राज्य-सार्वजनिक-धर्मानुसार " संपूर्ण मतमतान्तरके मनुष्योंकी परस्पर विरोधी भावनाकी परीक्षा तथा 'सर्वतांत्रिक '(अविरोधी) धर्मके प्रचारकी जो विधि बताई है उसका प्रारंभ, महर्षिके निधन हुए पिचहत्तर वर्ष होनेपर भी आजतक नहीं किया गया । इतना ही नहीं बल्कि जिस अद्वैतवाद तथा त्रैतवादकी परस्पर विरोधी बातोंको महर्षिने अस्वीकार किया है, उन्हीं अस्वीकार की हुई बातोंको आर्यसमाजने अपनाया हुआ है । जिसके कारण इस आर्यसमाजमेंसे, महर्षि दयानंदके अनन्यभक्त तथा वेदोंके धुरंधर विद्वान् और परिव्राजकादि महानुभाव संबंध विच्छेद कर गये हैं तथा करते चले जा रहे हैं जिसका कारण एकमात्र हमारे आर्य विद्वानोंकी " त्रैतवाद " माननेकी धर्मसंकीर्णता है, जिससे आर्यसमाजका प्रतिदिन पतन होता चला जा रहा है । अतः इस आर्यसमाजके सिद्धान्त तथा उसके कार्यप्रगतिके संशोधन करनेकी शीघ्रातिशीघ्र आवश्यकता प्रतीत होती है ।

क्योंकि आर्यसमाजमें, महर्षि दयानंदके मंतव्यके विरुद्ध परस्परविरोधी त्रैतवाद तथा प्रारब्धवादके सिद्धान्तोंको माननेके कारण, वेदोक्त सिद्धान्तानुसार परमेश्वरको अपना आदि मूल न मानने की, नास्तिकता व अपनी नित्यताके अभिमानमें नागरिक जनताके प्रति उच्छृंखलता और मनुष्योत्थानके कार्योंमें अकर्मण्यता तथा सर्वतंत्र सिद्धान्तोंके प्रति उदासीनता उत्पन्न होकर सामाजिक एवं नैतिक पतन होता चला जा रहा है ।

इसलिये महर्षि दयानंदको 'त्रैतवादी' बनाना महर्षिकी भावना, कल्पना, मंतव्य, आदेश उद्देश्य और उपदेशके सर्वथा विपरीत होते हुए उनके प्रति घोर अन्याय है । खेद है कि इस समयके अधिकतर आर्यसमाजी महर्षिके मंतव्यके विरुद्ध इस त्रैतवादके रगडेमें उलझे हुए अकर्मण्य और भाई-भाईके परस्पर शत्रु हो रहे हैं, उन्होंने " सर्वतंत्र सिद्धान्त " से होनेवाले विकासके आदर्शको उस रूपमें समझा ही नहीं है, जिस रूपमें महर्षिने अपने ग्रंथोंमें सविवरण विधान किया है । जो आर्यसमाजके पतनका मूल कारण है ।

अत समस्त आर्यबन्धुओंसे सादर प्रार्थना है कि जो आर्यबन्धु महर्षिकी उपरोक्त बताई हुई विश्वशांतिदायक सार्वभौम सार्वजनिक सर्वतंत्र सिद्धान्तकी योजनाके पक्षमें हों वह हमारे विचारोंमें सम्मिलित होकर वर्तमान 'आर्यसमाज' को 'सार्वजनिक आर्यसमाज' के रूपमें काया पलटनेका प्रयत्न करें या महर्षिके मन्तव्यानुसार 'सार्वजनिक आर्यसमाज' की स्थापना पृथक् रूपसे करके उनकी बताई योजनाके अनुसार संसारमें 'सर्वतांत्रिक सिद्धान्त' का प्रचार करते हुए शांति स्थापित करके " कृण्वन्तो विश्वमार्यं " वेदमन्त्रको कार्यरूपमें परिणत कर दें ।

७ सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभासे प्रार्थना।

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाके अध्यक्ष महोदयसे सादर प्रार्थना है कि यदि वह महर्षिकी उपरोक्त बताई हुई विश्वशांतिदायक 'सार्वभौम-सार्वजनिक-सर्वतंत्र सिद्धान्त' के प्रचारके पक्षमें हों तो उपरोक्त बताये हुए महर्षिके मंतव्य तथा इनके कार्यपूर्तिके हेतु सार्वदेशिककी साधारण सभाको शीघ्रातिशीघ्र बुलाकर तथा उसमें संबंधविच्छेद हुए आर्य विद्वानोंको संमिलित करते हुए महर्षिके मंतव्यानुसार अंतरराष्ट्रीय "सर्वधर्म सम्मेलन" बुलाया जाकर संसारके सब विद्वज्जनोंसे सत्यार्थ प्रकाशके एकादश समुल्लासमें बताई हुई योजनानुसार ईर्षा, द्वेष छोड 'सर्वतंत्र सिद्धान्तों' को ग्रहण करके सब विश्वमें इनका प्रचार करनेके लिये कहा जावे जो विद्वज्जन संसारके इस ऐक्यमतको स्वीकार करें। उनके साथ गठबंधन किया जाकर 'आर्य प्रतिनिधि सभा' का नाम "सार्वभौम सार्वजनिक आर्य प्रतिनिधि सभा" रखा जावे और इसके प्रत्यंतर 'धर्मार्य सभा' का नाम "सार्वजनिक धर्मार्य सभा" के नाममें परिवर्तित किया जावे, तथा प्रतिनिधि सभाओंका नाम "सार्वजनिक आर्य प्रतिनिधि सभा" रखा जाकर स्थानीय समाजोंका नाम "सार्वजनिक आर्यसमाज" रखा जावे, और जिस प्रकार थियोसोफिस्ट सोसायटीमें सदस्य बननेमें लिंगभेद, जातिभेद, वर्णभेद तथा देशभेद नहीं होता इसी प्रकार इस "सार्वजनिक आर्यसमाज" के सदस्य बननेमें भी उपरोक्त प्रकारसे किसी प्रकारका भेद न होकर उस स्थानके प्रत्येक मत व संप्रदायके विद्वान् जो सार्वजनिक आर्यसमाजके दश नियमोंको मानते हुए सर्वतंत्र सिद्धान्तोंका प्रचार करना स्वीकार करें सदस्य बना लेना चाहिये। ताकि महर्षिके मंतव्यानुसार इस "सार्वजनिक आर्यसमाज" में सर्व धर्मानुयाइयोंके श्रेष्ठ पुरुष सम्मिलित हो सकें और इसके अनुसार उपरोक्त 'वेदोक्त धर्म' के "सर्वतंत्र सिद्धान्तों" का सपूर्ण जगत्में प्रचार होकर विश्वमें शांति होते हुए- "कृण्वन्तो विश्वमार्यं" वेदमंत्रका आदेश चरितार्थ हो सके।

यदि आपने उपरोक्त योजनाको नहीं अपनाया तो इस विश्वशांतिका प्रचारकेन्द्र अन्य स्थानसे होनेपर विश्वशांति तो होगी और सिद्धान्त भी 'सर्वतंत्र' ही होंगे, किन्तु महर्षिके द्वितीय उद्देश्यानुसार वेदोक्तधर्मके नामसे विश्वमें प्रचार होना तथा आर्यसमाजका नाम चिरस्थाई रहना असंभव प्रतीत होता है।

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २८

[गताङ्कसे आगे]

परन्तु एक बार जहां अन्तःसत्तामें यह प्रवेश निष्पन्न हो जाता है तो आन्तरिक पुरुष अपने आपको ऊपरकी इन वस्तुओंके प्रति खोलनेमें, उनमें अपना आरोहण करनेमें समर्थ जान पड़ता है जो (वस्तुएं) कि हमारे वर्तमान मानसस्तरसे परे हैं। यह हममें दूसरी आध्यात्मिक संभावना है। इसका पहला बहुत साधारण परिणाम यह होता है कि हमें अपने भीतर एक बृहत् निष्क्रिय और शान्त आत्माका ज्ञान होता है और उसे हम अपनी यथार्थ एवं आधारभूत सत्ता, उसके सिवाय जो कुछ भी हम हैं उस सबका आधार अनुभव करते हैं। यह भी संभव है कि हमारी सक्रिय सत्ताका और हमारे स्वविषयक भावका एक ऐसे परमार्थतत्वमें निर्वाण हो जाय जो कि अनिर्देश्य और अनिर्वचनीय है।

परन्तु हम यह भी अनुभव कर सकते हैं कि यह आत्मा केवल हमारा ही आत्मा नहीं है अपितु समस्त दूसरोंका भी आत्मा है; तब यह विश्व-सत्ताके मूलमें रहनेवाला उसका सत्य दिखलाई देता है। यह संभव है कि मनुष्य अपने संपूर्ण व्यक्तित्वके निर्वाणमें ही संतुष्ट होकर रह जाय, एक निष्क्रिय अनुभूतिपर ठहर जाय अथवा यह भी संभव है कि वह विश्वव्यापारको शान्त, निश्चल आत्मापर अध्यस्त (आरोपित) की हुई बाहरी क्रीडा या भ्रम मानकर विश्वसे परे किसी परम अचल अक्षरस्थितिमें पहुंच जाय। परन्तु इससे भिन्न एक दूसरी अतिसाधारण अनुभवकी अल्प-निषेधात्मक दिशा भी प्रकट होती है; कारण वहां हमारे शान्त आत्मा (सत्ता) में ज्योति, ज्ञान, शक्ति, आनन्द अथवा दूसरी अतिसाधारण शक्तियोंका एक विशाल क्रियात्मक अवतरण होता है, और हम आत्माके उन उच्च प्रदेशोंमें आरोहण भी कर सकते हैं जहां उसकी अचल स्थिति इन महती एवं ज्योतिर्मयी शक्तियोंका आधार है।

दोनों अवस्थाओंमें यह स्पष्ट है कि हम अज्ञ मनसे परे एक अध्यात्मस्थितिमें उठ जाते हैं; परन्तु क्रियात्मक अवस्थामें इसके परिणामस्वरूप, चित्शक्तिका महत्तर कर्म केवल एक ऐसे शुद्ध आध्यात्मिक कर्मके रूपमें प्रकट हो सकता है जोकि अपने स्वभावमें किसी दूसरेसे नियत नहीं है; अथवा वह महत्तर कर्म एक ऐसे आध्यात्मिक मानस विस्तारके रूपमें प्रकाशित हो सकता है जहां मन परमार्थतत्वसे अज्ञात नहीं है; यहां मन यद्यपि अभीतक अतिमनके स्तर पर नहीं पहुंचता किन्तु अतिमानस ऋत्-चित्के ज्ञानके कुछ अंशको ग्रहण करता है और उससे उद्भासित होता है।

जिस रहस्यको संक्रमणके जिस साधनको, अतिमानस रूपान्तरकी ओर जिस आवश्यक पदप्रक्षेपको हम खोज रहे हैं वह हमें इस दूसरे विकल्पमें मिलता है। कारण हम आरोहणके एक क्रमसोपानको, ऊपरसे आनेवाली अधिकाधिक गहरी और तीव्र ज्योति एवं शक्तिके साथ संचार संसर्गको और उत्कर्षताओंकी तीव्रताओंकी क्रम परम्पराको देखते हैं; ये सब मनके मनोतीतमें आरोहणमें अथवा उससे मनमें अवतरणमें बहुतसी सीढ़ियां मानी जा सकती हैं। हम स्वतः प्रवृत्तज्ञानके समूहोंकी समुद्रके समान वृष्टिको अनुभव करते हैं; यह ज्ञानविचारका स्वभाव धारण करता है किन्तु विचारकी जिस प्रक्रियासे हम परिचित हैं उससे भिन्न स्वभाववाला होता है।

कारण इस विचारमें खोज नहीं है, मानसिक निर्माणका कोई चिन्ह नहीं है, कल्पना या कठिन आविर्ज्ञानका परिश्रम नहीं है, यह उस उच्च मनसे, जो कि सत्यपर अधिकार रखता जान पड़ता है, छिपी हुई और अवरुद्ध यथार्थताओंकी खोजमें नहीं है, स्वतः प्रवृत्त और अनायास आया हुआ ज्ञान है। ऐसा देखा जाता है कि यह विचारज्ञानके समूहको एक दृष्टिमें एक साथ अंतर्गत करनेमें मनकी अपेक्षा

अधिक समर्थ है; इसका वैश्व स्वभाव है, व्यक्तिगत विचारकी छाप इसपर नहीं है। इस सत्यविचारसे परे हम एक ऐसे महत्तर उद्भासनको देख सकते हैं जोकि अधिक बडे चढे बल, तीव्रता और चालकशक्तिको रखता है, सत्यदृष्टिके स्वभाववाली ऐसी दीप्तिको रखता है जिसकी विचार-निर्माण एक स्वल्प और उपाश्रित क्रिया है।

यदि हम सत्यके सूर्यके वैदिक चित्रको मान लें और यह ऐसा चित्र है जो कि इस अनुभवमें यथार्थ सिद्ध होता है– तो हम उच्च मनके कर्मकी शान्त और स्थिर सूर्य-प्रभाके साथ तुलना कर सकते हैं; और इस उच्चमनसे ऊपर जो प्रदीप्त मन है उसकी शक्तिकी तुलना ज्वालामय सूर्य-द्रव्यके प्रभा-समूहकी वृष्टिके साथ कर सकते हैं। इससे भी ऊपर सत्य-शक्तिका एक और भी अधिक महत्तर बल, एक अंतरंग और यथातथ सत्य-दर्शन, सत्य-विचार, सत्य-भाव, सत्य-संप्रतीति, सत्य-कर्म दिखाई देता है, जिसे कि हम एक विशेष अर्थमें अतर्मान नाम देते हैं; कारण हमने इस शब्दका प्रयोग, इससे किसी अच्छे शब्दके अभावमें, इसप्रकारके अतिबौद्धिक साक्षात् ज्ञान-साधनके लिए किया है, तथापि अन्तर्मानका जो अर्थ वस्तुतः हम समझते हैं वह स्वयं-सत् ज्ञानकी केवल एक विशेष क्रिया है।

यह नवीन प्रदेश उसका (अन्तर्मानका) मूल है। वह हमारे अन्तर्मानोंको अपने विशिष्ट स्वभावका कुछ अंश प्रदान करता है और बहुत स्पष्टतया उस महत्तर सत्य-ज्योतिका मध्यस्थ है जिसके साथ हमारा मन सीधा सचार-संसर्ग नहीं कर सकता। इस अन्तर्भावके मूलमें हमें एक अतिचेतन विश्व-मनका आविर्भाव होता है जोकि अति-मानस ऋत्-चित्से सीधा संपर्क रखता है; यह एक ऐसी मूलभूत उत्कर्षता है जोकि अपनेसे नीचे सम्पूर्ण क्रिया-ओंको और सम्पूर्ण मानसशक्तियोंको नियत करती है, यह हमारा परिचित मन नहीं है अपितु अधिमन है; यह अधि-मन मानो किसी स्रष्टा अधि-पुरुषके चौडे पंखोंसे ज्ञान-अज्ञानके इस संपूर्ण अपराधको ढकता है।

इसका उस महत्तर ऋत्-चित्से संबंध जोडता है और साथ ही अपने चमकदार स्वर्णमय ढकनेसे उस महत्तर ऋत्के मुखको हमारी दृष्टिसे आवृत कर देता है; जब हम अपनी सत्ताके अध्यात्म-धर्मका, उसके उच्चतम कक्ष्य, उसके गुह्य परमार्थस्वरूपका अन्वेषण करते हैं तो वह अनन्त सम्भावनाओंकी अपनी बाढके द्वारा मध्यमें स्थित होकर एक साथ बाधक और मार्ग-रूप हो जाता है। जिस गुह्य जोडकी हम खोज कर रहे थे वह यही है, यही वह शक्ति है जोकि परम-ज्ञान और विश्व-अज्ञानका संयोग और विभाग करती है।

अपने स्वभाव और स्वधर्ममें अधिमन अतिमानस चित्का प्रतिनिधि है, यह अज्ञानकी सृष्टिके लिए उसका प्रतिनिधि है। अथवा उसके विषयमें हम यह कह सकते हैं कि यह द्विविध संरक्षक है, यह अतिमनसे सादृश्य और असादृश्य रखनेवाला एक ऐसा पर्दा है कि जिसके द्वारा अतिमन अप्रत्यक्षरूपसे उस अज्ञानपर क्रिया कर सकता है जिसका अंधकार परा-ज्योतिके सीधे अभिघातको सहन या ग्रहण नहीं कर सकता। यहांतक कि इस ज्योतिर्मय अधिमानस तेजोमण्डलके उत्सेधसे ही न्यूनीभूत ज्योतिका अज्ञानमें विकिरण और उस विपरीत छायाका प्रक्षेप जो (छाया) कि अपनेमें संपूर्ण ज्योतिको निगल जाती है और जिसे अचेतना कहा जाता है, संभव हो सका है।

कारण अतिमन अधिमनमें अपनी समस्त यथार्थताओंका संक्रमण कर देता है, किन्तु उन्हें एक गतिका रूप देने और वस्तुओंके उस ज्ञानके अनुसार देनेके लिए जोकि अभीतक सत्यका ही अन्तर्दर्शन है किन्तु साथ ही अज्ञानका जनक भी है, अधिमनपर ही छोड देता है। अतिमन और अधिमनको एक रेखा विभक्त करती है यह रेखा अधिमन-को अतिमनसे, जो कुछ भी उसमें है या वह देखता है उस सबका, निर्बाध संक्रमण होने देती है, उसे ग्रहण होने देती है, परन्तु मार्गमें उसे संक्रमणात्मक परिवर्तनके लिए भी सहजभावसे विवश करती है।

अतिमनकी पूर्णतामें वस्तुओंका मूलभूत सत्य सर्वदा विद्यमान रहता है; उस पूर्णतामें समष्टिभाव और उसके व्यष्टिभाव स्पष्टतया एक साथ ग्रथित रहते हैं, वह उनमें अपृथक्करणीय एकता, परस्परमें अंतःप्रवेश, एक दूसरेकी पूर्ण चेतनाको बनाये रखता है; परन्तु अधिमनमें यह पूर्णता नहीं रहती। और फिर भी अधिमन वस्तुओंके मूलभूत सत्यका भलीप्रकार ज्ञान रखता है; वह समष्टिका अंगी-करण करता है; वह व्यष्टिभावोंका उनसे परिच्छिन्न हुए बिना उपयोग करता है। परन्तु यद्यपि वह उनके एकत्वको

जानता है, अध्यात्म अभिज्ञामें उसकी अनुभूति कर सकता है, तथापि उसकी क्रियात्मक गति, अपनी सुरक्षाके लिए उसपर निर्भय करती हुई भी, उससे साक्षात् नियत नहीं होती।

अधिमन-शक्ति पूर्ण और अविभक्त सर्वान्तर्गतकारी ऐक्यके पक्षों और शक्तियोंके पार्थक्य और संयोगकी अपरिमित सामर्थ्यके द्वारा क्रिया करती है। वह (अधिमन) प्रत्येक पक्ष या शक्तिको लेकर उसे एक स्वतंत्र कर्म प्रदान करता है जिसमें कि वह एक पूरा पृथक् महत्त्व प्राप्त करता है और अपने स्वतंत्र जगत्‌की सृष्टि कर सकता है। पुरुष और प्रकृति (चेतन आत्मा और कार्यकारिणी प्रकृति शक्ति) अतिमानस सामंजस्यमें दो पक्षोंवाला एक ही सत्य हैं, इनमें एक ही परमार्थ तत्त्वकी सत्ता और उसकी क्रियात्मक शक्ति हैं। वहां विषमता अथवा एकका दूसरेपर प्राधान्य नहीं हो सकता।

अधिमनमें हमें भेदका मूल मिलता है; वहां सांख्य-दर्शनके उस भेदका मूल है जिसमें प्रकृति और पुरुष दो स्वतंत्र एवं पृथक् तत्त्व हैं; प्रकृति पुरुषको अपने रूपों और कर्मोंका साक्षी एवं गृहीता बनाकर उसपर प्रभुत्व करती है और उसकी स्वतंत्रता एवं शक्तिको आवृत करनेमें समर्थ होती है; पुरुष उसके आदिम आवरक भौतिकतत्त्वका परित्याग करके अपनी पृथक् सत्ताको प्राप्त करने और एक मुक्त आत्म-साम्राज्यमें निवास करनेमें समर्थ होता है।

यही दशा ब्रह्मके दूसरे पक्षों या शक्तियोंके विषयमें, एक और बहुत्व, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य निर्व्यक्तित्व, सगुणता और निर्गुणता आदिके विषयमें भी है; इनमेंसे प्रत्येक अभीतक एक ही परमार्थतत्त्वका एक पक्ष और शक्ति है, किन्तु प्रत्येक पूर्णमें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए कर्म करनेकी क्षमता रखता है, अपनी पृथक् अभिव्यक्तिकी संभावनाओंकी पूर्णताको प्राप्त करने और उस पार्थक्यके क्रियात्मक परिणामोंका संवर्धन करनेकी क्षमता रखता है। साथ ही अधिमनमें यह पार्थक्य एक अन्तर्हित अन्तःस्थ ऐक्यके आधारपर प्रतिष्ठित है, पृथक् हुए पक्षों और शक्तियोंके बीचमें संयोग और संबंधकी सम्पूर्ण संभावनायें, उनके बलोंके समस्त आदान-प्रदान और परस्परताका भाव स्वतंत्रतापूर्वक गठित होते हैं और उनकी कार्यात्मना परिणति सर्वदा संभव है।

यदि हम परमार्थतत्त्वकी शक्तियोंको देवता मानें तो हम यह कह सकते हैं कि अधिमन लाखों देवताओंको कर्ममें उन्मुक्त करता है, इनमेंसे प्रत्येक अपने स्वतंत्र लोककी सृष्टि रचनेकी क्षमता रखता है और प्रत्येक लोक दूसरे लोकोंके साथ संबंध करने, संसर्ग करने और एक दूसरे पर क्रिया करनेकी सामर्थ्य रखता है। वेदमें देवोंकी प्रकृतिके भिन्न भिन्न रूप हैं। यह कहा गया है कि ये समस्त देव एक सत् हैं जिन्हें ऋषि भिन्न भिन्न नाम प्रदान करते हैं। × परन्तु फिर भी प्रत्येक देव इस प्रकार उपासना किया जाता है मानो वही एकमात्र वह सत् हो, मानो वही एक साथ दूसरे समस्त देव हो या उन्हें अपनी सत्तामें धारण करता हो, और फिर भी प्रत्येक एक पृथक् देवता है जो कि कभी अपने साथी देवताओंके साथ मिलकर, कभी पृथक् रूपमें, कभी उसी सत्‌के दूसरे देवोंके साथ आपाततः विरोधमें कर्म करता है।

अतिमनमें यह सब एकमेवाद्वितीय सत्‌की सामंजस्य क्रीडाके रूपमें संगृहीत रहेगा, अधिमनमें इन अवस्थाओंमेंसे प्रत्येक अवस्था एक पृथक् कर्म या कर्मका आधार हो सकेगी और वर्धन एवं परिणामोंका स्वयं अपना सिद्धान्त-तत्त्व रख सकेगी और साथ ही प्रत्येक दूसरोंके साथ एक अधिक मिश्रित सामंजस्यमें संयोग करनेकी शक्ति रख सकेगी। जैसा एकमेवाद्वितीय सत्‌के विषयमें है वैसा ही उसकी चेतना और शक्तिके विषयमें भी है। एकमेव चेतना और ज्ञानके अनेक स्वतंत्र रूपोंमें पृथक् पृथक् हो जाती है। प्रत्येक रूप अपने उस सत्यके मार्गका अनुसरण करता है जोकि उसे प्राप्त करना है। केवल एक समग्र और बहुदिक् सत्य-संकल्प अपनी अनेक दिशाओंमें विभक्त हो जाता है; इनमेंसे प्रत्येक एक ऐसी संकल्प-शक्ति हो जाता है जोकि अपने आपको परिपूर्ण करनेकी सामर्थ्य रखता है।

एकमात्र चित्शक्ति अपनी असंख्य शक्तियोंमें उन्मुक्त हो जाती है और इन शक्तियोंमेंसे प्रत्येक अपने आपको परिपूर्ण करने और यदि आवश्यकता हो तो, दूसरी शक्तियोंका नेतृत्व स्वीकार करने और उन्हें अपने उपयोगके लिए ग्रहण करनेका अधिकार रखती है। इसी प्रकार सत्‌का

× एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

आनन्द अनन्त प्रकारके आनन्दोंमें विभक्त होता है और इनमेंसे प्रत्येक अपनेमें अपना स्वतन्त्र पूर्णत्व या स्वतन्त्र चरम शिखर रखता है। इस प्रकार अधिमन एकमेव सत्-चित्-आनन्दको अनन्त संभावनाओंके प्रसव करनेका स्वभाव प्रदान करता है, और ये ऐसी संभावनायें हैं जोकि असंख्य लोकोंके रूपमें परिणत हो सकती हैं; अथवा ये किसी ऐसे लोकमें एक साथ रखी जा सकती हैं जिसमें कि उनकी क्रीडाका अनन्तरूप धारण करनेवाला परिणाम सृष्टिका, उसकी क्रियाविधिका, उसके मार्गका और उसके परिणामका नियामक होता है।

चूंकि सनातन सत्की चेतना-शक्ति विश्वकी सृष्टि है अतः किसी विशेष लोककी प्रकृति चेतनाके उस रूपपर निर्भर करेगी जिसे कि वह उस लोकमें अभिव्यक्त करती है। इसी प्रकार, समान रूपसे, प्रत्येक जीवके लिए, जिस लोकमें वह रहता है उसका ज्ञान उस स्थिति या बनावट पर निर्भर करेगा जिसे कि चेतनाने उस व्यक्तिमें धारण किया है। हमारी मानव मानसिक चेतना जगत्को ऐसे खंडोंमें देखती हैं जिन्हें कि बुद्धि और इन्द्रियां काटती हैं और फिर एक साथ जोडकर एक ऐसा रूप बनाती हैं कि वह भी खंड ही होता है।

जिस घरका यह चेतना निर्माण करती है वह ऐसी योजनासे बनाया गया है कि वह अपने भीतर सत्यके किसी एक या दूसरे सामान्य-रूपका समावेश कर सकता है, किन्तु शेषका बहिष्कार कर देता है अथवा कुछको केवल अतिथि या आश्रितोंके रूपमें स्वीकार करता है। अधिमानस चेतना अपनी अभिज्ञामें वर्तुल है और एक संगतिकारक दृष्टिमें आपाततः मूलभूत भेदोंको किसी भी संख्याको एक साथ धारण कर सकती है। इस प्रकार मानसिक बुद्धि व्यक्ति और निर्व्यक्तिकको विरोधी देखती है; वह एक ऐसी निर्व्यक्तिक सत्ताकी विभावना करती है कि जिसमें व्यक्ति और व्यक्तित्व अज्ञानजन्य कल्पित रूप या क्षणिक रचनायें हैं; अथवा इसके विपरीत, वह व्यक्तिको मूल परमार्थ तत्त्व और निर्व्यक्तिकको मानस अमूर्त या अभिव्यक्तिका केवल उपादान या साधन देख सकती है।

अधिमानस बुद्धिके लिए ये एकमेवाद्वितीय सत्की ऐसी पृथक् पृथक् होनेयोग्य शक्तियां हैं जोकि अपनी स्वतंत्र आत्म-स्थापनाका अनुसरण कर सकती हैं और अपनी भिन्न भिन्न कर्म प्रणालियोंको एक साथ संयुक्त कर सकती हैं, पृथक् पृथक् और मिलकर, दोनों प्रकारसे चेतना और सत्ताकी उसी भिन्न भिन्न अवस्थाओंकी सृष्टि कर सकती हैं जोकि सभी प्रमाणिक और सह-अस्तित्वमें समर्थ हों। एक शुद्ध निर्व्यक्तिके (निर्गुण) सत्ता और चेतना सत्य है और संभव है, किन्तु साथ ही पूर्णतया सव्यक्तिके (सगुण) चेतना और सत्ता भी सत्य और संभव है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म यहां ब्रह्मके सम और सहवर्ती पक्ष हैं। निर्व्यक्तित्व (निर्गुणत्व) व्यक्तित्व (सगुण) को अपनी अभिव्यक्तिके एक गुणके रूपमें, उपाश्रित बनाकर अपने आपको अभिव्यक्त कर सकता है; किंतु समानरूपमें, व्यक्ति (सगुण) भी ऐसा परमार्थतत्त्व हो सकता है जिसके स्वभावका एक गुण विशेष निर्व्यक्तित्व (निर्गुणता) हो।

अभिव्यक्तिके ये दोनों पक्ष चेतन सत्की अनन्त विविधतामें एक दूसरेके आमने सामने होते हैं। मानसबुद्धिको जो संगत न हो सकनेवाले भेद जान पडते हैं वे आधिमानस बुद्धिको सहवर्ती परस्पर-सापेक्षरूपमें ज्ञात होते हैं। जो मानसबुद्धिके लिए विपरीत हैं वे अधिमानस बुद्धिके लिए पूरक हैं। हमारा मन यह देखता है कि समस्त पदार्थ भौतिक द्रव्य या भौतिक शक्तिसे उत्पन्न होते हैं, उससे स्थित हैं और उसमें ही लीन हो जाते हैं; अतः वह इस निष्कर्षपर पहुंचता है कि भौतिक द्रव्य ही सनातन सत्य, आदिम और अन्तिम परमार्थतत्त्व ब्रह्म है (अन्नं ब्रह्म)। अथवा वह यह देखता है कि सब कुछ प्राण या मनसे उत्पन्न होता है, प्राण या मनसे स्थित है, वैश्वप्राण या मनमें लीन हो जाता है, और वह इस निष्कर्षपर पहुंचता है कि यह जगत् वैश्व-प्राण या वैश्व-मनकी सृष्टि है।

अथवा वह यह देखता है कि जगत् और उसके समस्त पदार्थ आत्माके सत्य-संकल्प या ज्ञान-संकल्पसे या स्वयं आत्मासे उत्पन्न होते हैं, उससे स्थित हैं और उसमें लीन हो जाते हैं, तब वह विश्वके विषयमें विज्ञानवाद या आत्मवादके सिद्धान्तपर पहुंचता है। वह इनमेंसे किसी एक दृष्टिकोणपर स्थिर हो सकता है, किन्तु उसकी साधारण पृथक्कारी दृष्टिके लिए प्रत्येक दृष्टिकोण दूसरोंका बहिष्कार

करता है। अधिमानस चेतना यह देखती है कि प्रत्येक दृष्टि जिस किसी तत्त्वको प्रमुख बनाती है उसके कर्मके विषयमें सत्य है; वह चेतना यह देख सकती है कि जिस प्रकार भूलोक है इसी प्रकार प्राणमय लोक, मनोमय लोक और आत्म-लोक हैं और प्रत्येक तत्त्व अपने लोकमें प्रधान हो सकता है और साथ ही दूसरे सब एक लोकमें इसकी अंगभूत शक्तियोंके रूपमें एक साथ सयुक्त हो सकते हैं।

चेतनशक्ति अपने आपको आपातत अचेतनाके रूपमें आविर्भूत करती है, हमारा भूलोक इस अचेतनाके आधार-पर ही प्रतिष्ठित है; यह अचेतना अपने भीतर परम चेतन-सत्को छिपाये रखती है और अपनी अचेतन गुहामें सत्पुरुषकी सम्पूर्ण शक्तियोंको धारण करती है, वैश्वभौतिक द्रव्यका लोक (भूलोक) अपनेमें प्राण, मन, अधिमन, अतिमन और आत्माको प्रकट करता है, इनमेंसे प्रत्येक दूसरोंको अपनी आत्म-अभिव्यक्तिका पात्र बनाता है, भौतिक द्रव्य अध्यात्म दृष्टिमें ऐसा सिद्ध होता है कि वह सर्वदा आत्माकी अभिव्यक्ति रहा है; अधिमानस दृष्टिमें यह सब साधारण और सरलतासे अनुभवगम्य सृष्टि है।

अधिमन अपनी उत्पादन शक्तिमें और अपनी कार्य-कारिणी शक्तिकी प्रक्रियामें सत्की अनेक शक्यताओंका गठन करनेवाला है; इस गठनमें इन शक्यताओंमेंसे प्रत्येक अपनी पृथक् यथार्थताको दृढ करती है, परन्तु ये सब अनेक भिन्न भिन्न और समकालीन प्रकारोंमें अपने आपको सयुक्त कर सकती हैं। अधिमन एक जादूगर शिल्पी है जो कि केवल एक तत्त्वके अनेक रंगोंवाले ताने और बानेका रूप देकर एक चित्र-विचित्र विश्वका निर्माण करनेकी सामर्थ्य रखता है।

अधिमन जो अनेक पृथक् या संयुक्त शक्तियों या शक्यताओंका एक साथ सवर्धन करता है इसमें अभीतक कोई अस्तव्यस्तता, संघर्ष, सत्य या ज्ञानसे अध.पतन नहीं है। अधिमन सत्योंका स्रष्टा है भ्रमों या अनृतोंका नहीं; किसी भी अधिमानस शक्ति या क्रियामें जो कुछ भी कार्यान्वित होता है वह सच्चिदानन्दके पक्ष, शक्ति, संकल्प, आनन्दका ऐसा सत्य होता है जोकि स्वतंत्रकर्ममें उन्मुक्त हुआ है, इस स्वतंत्रतामें इसकी यथार्थताके परिणामोंका सत्य होता है। वहां कोई ऐसी अनन्यता नहीं है कि जो प्रत्येक सत्य अपने आपको एकमात्र सत्य होनेका दावा करे अथवा दूसरोंको निकृष्ट सत्य माने। प्रत्येक देव समस्त देवोंको और सत्तामें इनके स्थानको जानता है, प्रत्येक संकल्प दूसरे समस्त सकल्पोंको और उनके अस्तित्व रखनेके अधिकारको स्वीकार करता है।

प्रत्येक शक्ति दूसरी समस्त शक्तियोंके और उनके सत्य एवं परिणामोंके लिए एक स्थानको मानती है; पृथक् रूपमें परिपूर्ण हुई सत्ता या पृथक् अनुभवका कोई भी आनन्द दूसरी सत्ताके या दूसरे अनुभवके आनन्दका निषेध या तिरस्कार नहीं करता। अधिमन विश्व-सत्यका तत्त्व है और एक बृहत् एवं अनन्त सार्वभौमता उसका आत्मा है, उसकी शक्ति समस्तरूपोंमें क्रिया करनेवाली और साथ ही पृथक् रूपमें भी क्रिया करनेवाला तत्त्व है।

अधिमन एक प्रकारका निम्नकोटिका अतिमन है; इसका सबंध मुख्यतया निरपेक्ष तत्त्वोंसे नहीं है अपितु उनसे है जिन्हें परमार्थतत्त्वके क्रियात्मक सत्य या व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है; अथवा इसका संबंध निरपेक्षोंसे मुख्यतया व्यावहारिक और सृजनात्मक मूल्योंके उत्पन्न करनेवाली उनकी (निरपेक्षोंकी) शक्तिके लिए है; इसका पदार्थोंका ज्ञान सर्वांङ्गीण होनेकी अपेक्षा वर्त्तुल (मण्डलाकार) अधिक है, कारण इसकी समग्रता वर्त्तुलाकार पूर्णोंकी बनी है अथवा ऐसी पृथक् स्वतंत्र यथार्थताओंकी बनी है जोकि एक साथ मिलती या सयुक्त होती हैं।

यह मूलभूत ऐक्यको ग्रहण करता है और यह अनुभव करता है यह ऐक्य पदार्थोंका आधार है और उनके अभिव्यक्त रूपोंमें व्याप्त रहता है; परन्तु यह अतिमनके समान पदार्थोंमें ऐक्यको उनके अन्तरंग और सदा विद्यमान रहस्यके रूपमें, उनके प्रधान धारणकर्ता, उनकी क्रिया और उनके स्वभावके समंजस पूर्णके सतत निर्माताके रूपमें नहीं अनुभव करता।

यदि हम इस वर्त्तुल अधिमानस चेतनाका अपनी पृथक्कारी और केवल अपूर्णतया समन्वयकारी मानसचेतनासे भेद समझना चाहें तो हम अपने भौतिक विश्वमें क्रियाओंकी केवल मानसदृष्टिकी अधिमानसदृष्टिसे तुलना करनेपर इस भेदके समीप पहुँच सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, अधिमनके लिए समस्त धर्म एकमात्र सनातन

धर्मके विकासके रूपमें सत्य होंगे, समस्त दर्शन प्रामाणिक होंगे, कारण प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपने क्षेत्रमें, अपने दृष्टिकोणसे स्वयं अपनी विश्वसबधी दृष्टिका प्रतिपादन है; सम्पूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त अपने व्यावहारिक रूपके साथ एक ऐसी संकल्प-शक्तिके न्यायसंगत व्यक्त रूप होंगे जो (संकल्प-शक्ति) कि प्रकृतिकी शक्तियोंकी क्रीडामें प्रयोगका और व्यावहारिक विकासका अधिकार रखती है।

हमारी पृथक्कारी चेतनामें जिसमें कि सार्वभौमता और विश्वात्मकताकी झलकें अपूर्णतया आजाती हैं, ये वस्तुएं विरोधीरूपमें स्थित हैं, इनमेंसे प्रत्येक अपने आपको सत्य होनेका दावा करता है और दूसरोंको भ्रान्ति और मिथ्या ठहराता है; प्रत्येक इसलिए कि केवल वही सत्य रहे और अपना अस्तित्व बनाये रखे, दूसरोंका प्रत्याख्यान या विनाश करनेकी अन्तः-प्रवृत्तिका अनुभव करता है। अपने सर्वोत्तमरूपमें, प्रत्येक अपने आपको दूसरोंसे श्रेष्ठ मानता है और दूसरोंको सत्यकी निम्नकोटिकी अभिव्यक्तियां मानता है।

अधिमानस बुद्धि इस भावनाको या बहिष्कारकी इस प्रवृत्तिको क्षणभरके लिए भी स्वीकार न करेगी, वह सबको पूर्णके आवश्यक अंगोंके रूपमें रहने देगी अथवा प्रत्येकको पूर्णमें उसके उपयुक्त स्थानपर रख देगी, प्रत्येकको प्रयासका या अपने आपको परिपूर्ण करनेका क्षेत्र प्रदान करेगी। हमारी मानसिक चेतनाकी वह क्रिया वैसी इस कारण है क्योंकि हममें चेतना पूर्णतया नीचे अज्ञानकृत विभागोंमें उत्तर आई है और यहां सत्य अनेक सभवरूपोंवाला अनन्त या वैश्व-पूर्ण नहीं रहा है; वह अब एक ऐसा कठोर दार्ढ्य है जोकि दूसरे दार्ढ्योंको इस कारण मिथ्या ठहराता है क्योंकि वह इससे भिन्न है और दूसरी सीमाओंमें बद्ध है।

हमारी मानस चेतना, नि सन्देह, अपनी अभिज्ञामें पूर्ण व्यापकता और सार्वभौमताके काफी समीप पहुंच सकती है, किन्तु उसे कर्म और जीवनमें गठित करना उसकी शक्तिसे बाहर जान पडता है। विकासमान मन जोकि व्यष्टियोंमें या समष्टियोंमें अभिव्यक्त होता है, अनेक विभिन्न दृष्टिकोणोंको, विभिन्न कर्म-मार्गोंको प्रकट करता है और उन्हें एक दूसरेके साथ साथ या संघर्षमें अथवा परस्पर मिश्रणके द्वारा कार्यान्वित होने देता है। वह चुने हुए सामंजस्योंको बना सकता है, किन्तु वह सच्ची समष्टिके समंजस नियंत्रणको प्राप्त नहीं कर सकता।

विश्व-मन विकासमान अज्ञानमें भी, समस्त समष्टियोंके समान, ऐसे सामंजस्यको रखता है, चाहे वह सामंजस्य केवल व्यवस्थित की हुई संगतियों और असंगतियोंका ही क्यों न हो। उसमें एकत्वकी अन्तर्वर्त्ती क्रियात्मकता भी है; किन्तु वह इन वस्तुओंकी पूर्णताको अपनी गहराईयोंमें, संभवत. अतिमानस-अधिमन द्रव्यमें रखता है, किन्तु उसे विकासमें आये हुए व्यक्तिगत मनको नहीं प्रदान करता, गहराईमेंसे उत्तलपर नहीं लाता है या अभीतक नहीं लाया है। अधिमानस लोक सामंजस्यका लोक होगा; जिस लोकमें हम रहते हैं वह अज्ञानका लोक और असामंजस्य और प्रयास-संघर्षका लोक है।

और फिर भी हम अधिमनमें आद्यामायाको पहचान सकते हैं; यह माया अविद्या माया (अज्ञानरूपी माया) नहीं है अपितु विद्यामाया (ज्ञानमयी माया) है किन्तु फिर भी ऐसी शक्ति है जिसने अज्ञानको संभव और यहां तक कि अनिवार्य बनाया है। कारण यदि प्रत्येक तत्त्व जो कि कर्ममें उन्मुक्त हुआ है अपने स्वतंत्र पथका अनुसरण करता है और अपने पूरे परिणामोंको व्यक्त करता है, तो पृथक्ताके तत्त्वको भी पूरी यात्राका अवकाश मिलना चाहिये और अपने चरम परिणामपर पहुंचना चाहिये।

यह अपरिहार्य अवतरण है; कारण चेतना (चित्) जब एक वार पृथक्कारी तत्त्वको स्वीकार कर लेती है तो वह तबतक इस अवतरणका अनुसरण करती रहती है जबतक कि वह आवरक सूक्ष्मतम खण्डभाव (तुच्छ्येन *) के द्वारा भौतिक अचेतनामें, जिसे ऋग्वेदमें अचेतन समुद्र (सलिलं-अप्रकेतम्) कहा गया है, प्रवेश नहीं कर जाती; और यदि एकमेव अपनी महिमाके कारण इस अचेतनासे उत्पन्न होता है तब भी पहले वह ऐसी खण्डात्मक पृथक्कारी सत्ता और चेतनासे छिपा रहता है जोकि हमारी है और जिसमें हम एक पूर्णको प्राप्त करनेके लिए वस्तुओंको खण्ड-खण्ड करके एक साथ जोडते हैं।

इस मन्द और कठिन उन्मज्जनमें हिरेक्लीटसके इस

* ऋग्वेद १०।१२९।३

वचनको सत्याभास (सत्यके जैसा) माना जाता है कि युद्ध समस्त वस्तुओंका जनक है, कारण प्रत्येक विचार, शक्ति, पृथक् चेतना, सजीव प्राणी अपने अज्ञानकी आवश्यकताके कारण दूसरोंके साथ टकराता है और स्वतंत्र आत्म-स्थापनके द्वारा रहने, वर्धन करने और अपने आपको परिपूर्ण करनेका प्रयास करता है नकि दूसरोंके साथ सामंजस्यके द्वारा। परन्तु फिर भी इन सबकी तहमें अज्ञात एकत्व रहता है, यह एकत्व हमें धीरे धीरे किसी प्रकारके सामंजस्य, परस्पर निर्भरता, विषमताओंके समीकरण, कठिन एकताके लिए प्रयास करनेको बाध्य करता है।

परन्तु जिस लक्ष्यभूत समंजसता और एकताके लिए हम प्रयास कर रहे हैं उसे केवल सदोष प्रयत्नोंमें, अपूर्ण निर्माणोंमें, सदा परिवर्तनशील निकटताओंके रूपमें नहीं प्राप्त करना है, उसे अपनी सत्ताकी रगरगमें और उसकी सम्पूर्ण आत्म-अभिव्यक्तिमें प्राप्त करना है; यह प्राप्ति हमें तभी हो सकती है जब कि हममें विश्व-सत्यकी छिपी हुई अतिचेतन शक्तियोंका और उस परमार्थतत्त्वका जिसमें कि वे एक ही विकास हों। परन्तु यदि हमें विश्वमें अपने जन्मकी दिव्य संभावनाओंको परिपूर्ण करना है तो अध्यात्म-मनके उच्च स्तर हमारी सत्ता और चेतनापर खुलने चाहिये और जो अध्यात्ममनसे भी ऊपर है वह भी हममें प्रगट होना चाहिये।

अधिमन अपने अवतरणमें एक ऐसी रेखापर पहुंचता है जोकि विश्व-सत्यको विश्व-अज्ञानसे विभक्त करती है। यह वह रेखा है जहांपर कि चित्शक्तिके लिए यह संभव हो जाता है कि वह अधिमनसे सृष्ट प्रत्येक स्वतंत्र-भावके पार्थक्यपर बल देते हुए और उनकी एकताको छिपाकर या अंधकारमें ढककर, बहिष्कारात्मक एकाग्रताके द्वारा मनको उसके उपादान अधिमनसे विभक्त कर दे। ऐसा एक पार्थक्य अधिमनका अपने उपादान अतिमनसे पहले ही हो चुका है, परन्तु वहां जो पर्दा है उसमें ऐसी पारदर्शकता है कि जिससे कि वह पर्दा अतिमनसे अधि-मनमें सचेतन संक्रमण होने देता है और इन दोनोंमें एक विशेष ज्योतिर्मय स्वभावसादृश्यको बनाये रखता है।

परन्तु अधिमन और मनके बीचमें जो पर्दा है वह मलीन है और अधिमानस उद्देश्योंका मनमें संक्रमण गुप्त और धुंधला है। पृथक् हुआ मन इस प्रकार क्रिया करता है मानो वह एक स्वतन्त्र तत्त्व हो, और इसी प्रकार प्रत्येक मनोमय प्राणी, प्रत्येक मन आधारित विचार और शक्ति अपने पृथक् स्वरूपपर स्थित होते हैं। यदि इनमेंसे कोई दूसरोंसे संसर्ग, संयोग या संपर्क करता है तो यह अधिमानस क्रिया-की सार्वभौम विश्वात्मकताके साथ, अन्तर्वर्त्ती एकत्वके आधारपर नहीं करता, अपितु ऐसे स्वतंत्र एककोंके रूपमें करता है जो कि एक पृथक् निर्मित पूर्णको बनानेके लिए संयुक्त होते हैं।

इस प्रवृत्तिके द्वारा ही हम विश्व-सत्यसे विश्व-अज्ञानमें आते हैं। इस स्तरपर विश्व-मन, निःसन्देह, अपने ऐक्यका बोध करता है, किन्तु वह आत्मामें विद्यमान अपने उपादान और आधारको नहीं जानता, अथवा उसे केवल बुद्धिके द्वारा जान सकता है, किसी स्थायी अनुभवमें नहीं; वह इस प्रकार क्रिया करता है मानो वह स्वतंत्र और स्वाधीन हो; जो कुछ वह ऊपरसे प्राप्त करता है उसके उपादानसे सीधा संसर्ग किये बिना उसे कार्यान्वित करता है। उसके एकके भी एक दूसरेके और विश्व-समग्रसे अज्ञात होकर क्रिया करते हैं; उन्हें इनका केवल इतना ही ज्ञान होता है जो-कि परस्पर संपर्क और संसर्गसे मिल जाता है; तादात्म्यको आधारभूत भाव और उससे उत्पन्न होनेवाले अन्तःप्रवेश और परस्पर-बोध वहां नहीं हैं।

इस मन-शक्तिके समस्त कर्म इस अज्ञानरूप विपरीत आधारपर होते हैं और यद्यपि ये एक विशेष सचेतन ज्ञानके परिणाम होते हैं किन्तु वह ज्ञान आंशिक है, सच्चा और पूर्ण आत्मज्ञान नहीं है और न सच्चा और पूर्ण विश्व-ज्ञान है। यह स्वभाव प्राणमें और सूक्ष्म भौतिकद्रव्यमें भी रहता है और अचेतनमें अन्तिम पतनसे उद्भूत हुए स्थूल भौतिक विश्वमें फिर प्रकट होता है।

तथापि, जिस प्रकार हमारे अन्तस्तलीय या आन्तरिक मनमें, इसी प्रकार इस मन (विश्व-मन) में भी संसर्ग और परस्परताकी विशालता शक्ति बनी रहती है; वहां मानवमनकी अपेक्षा मन और इन्द्रियज्ञानकी क्रिया अधिक स्वतंत्र होती है, और अज्ञानपूर्ण नहीं है; वहां एक सचेतन सामंजस्य यथातथ्य संबंधोंका अन्योन्याश्रित गठन अधिक संभव है। मन अभीतक अंध प्राण-शक्तियोंसे व्याकुल या

प्रत्युत्तरहीन भौतिकद्रव्यसे मलीन नहीं है। यह अज्ञानकी भूमि है किन्तु अभीतक अनृत (मिथ्यात्व) या भ्रान्तिकी नहीं– अथवा कमसे कम मिथ्यात्व और भ्रान्तिमें पतन अभीतक अनिवार्य नहीं है; यह अज्ञान परिच्छिन्न करनेवाला है किन्तु अवश्यम्भावी रूपमें मिथ्यात्वजनक नहीं है।

यहां ज्ञानकी परिच्छिन्नता है, आंशिक सत्योंका गठन है, परन्तु सत्य या ज्ञानका निषेध या वैपरीत्य नहीं है। पृथक्कारी ज्ञानके आधारपर आंशिक सत्योंके गठनका यह स्वभाव प्राण और सूक्ष्म भौतिकद्रव्यमें भी विद्यमान रहता है; कारण चित्शक्तिकी जो बहिष्कारात्मक एकाग्रता उन्हें पृथक्कारी कर्ममें नियुक्त करती है वह मनको प्राणसे या मन और प्राणको भौतिक द्रव्यसे पूरी तरह विच्छिन्न या आवृत नहीं करती। पूर्ण पार्थक्य केवल तभी हो सकता है जब कि अचेतनाकी अवस्था पहुंच जाती है और उस तिमिराच्छन्न (तमसा गूढ) गर्भसे बहुविध अज्ञानवाला हमारा जगत् प्रकट हो जाता है।

अन्तर्भावकी ये दूसरी अभीतक सचेतन भूमिकायें निःसंदेह चेतनशक्तिके ऐसे गठन हैं जिनमें प्रत्येक अपने निजी केन्द्रसे जीवित रहता है, स्वय अपनी संभावनाओंका अनुसरण करता है, और वहां जो तत्वप्रधान होता है, चाहे वह मन हो या प्राण या भौतिकद्रव्य, वह अपने स्वतंत्र आधारपर वस्तुओंको कार्यान्वित करता है; परन्तु जो कुछ कार्यान्वित होता है वह उस तत्वके अपने सत्य होते हैं भ्रम या सत्य और मिथ्यात्वके ज्ञान एवं अज्ञानके मिश्रण नहीं होते। परन्तु जब चित्शक्ति, शक्ति या रूपपर बहिष्कारात्मक एकाग्रता करके प्रपञ्चरूपमें चेतनाको शक्तिसे पृथक् करती प्रतीत होती है, अथवा जब वह चेतनाको ऐसी अन्ध निद्रामें लीन कर देती है जहां कि वह चेतना रूप और शक्तिमें विलीन हो जाती है, तब चेतनाको अपने पूर्व स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए खण्डात्मक क्रमविकासके मार्गसे प्रयास करना होता है और इसके लिए भ्रान्ति आवश्यक है और मिथ्यात्व अनिवार्य है।

परन्तु इन वस्तुओंके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि आदिमें कोई असत् था जिससे ये उत्पन्न हुए भ्रम हैं। उनके विषयमें हम यह कह सकते हैं ये अचेतनासे उत्पन्न हुए जगत्के अपरिहार्य सत्य हैं। कारण अज्ञान यथार्थमें ऐसा ज्ञान है जोकि अचेतनाके आदिम पर्देके पीछे अपने आपको खोज रहा है, और उसे खोता है और पाता है; उसके परिणाम पतनका सच्चा फल है– एक प्रकारसे, पतनसे उत्थान करनेमें ठीक क्रिया है।

सत्ताका आपाततः असत्तामें, चेतनाका आपाततः अचेतनामें, सत्ता धारण करनेके आनन्दका एक बृहत् विश्व-असंवेदनामें निमज्जन पतनके प्रथम परिणाम हैं; और जब प्रयासात्मक खण्ड-खण्ड अनुभवके द्वारा उस निमज्जनसे उन्मज्जन किया जाता है तो चेतनाका ज्ञान और मिथ्यात्व, सत्य और भ्रान्तिके द्विविधरूपमें, सत्ताका जीवन और मरणके द्विविधरूपके, सत्ता धारण करनेके आनन्दका सुख और दुःखके द्विविधरूपमें प्रकट होना आत्म–प्राप्तिके लिए परिश्रमकी आवश्यक प्रक्रिया हैं।

यहां सत्य, ज्ञान, आनंद, अविनाशी सत्ताके शुद्ध स्वरूपका अनुभव वस्तुओंके सत्यके विरुद्ध होगा। यह इससे भिन्न तभी हो सकता है जब कि विकासमें आये हुए समस्त प्राणी अपने भीतर विद्यमान चैत्यतत्त्वके प्रति और प्रकृतिके व्यापारोंके भीतर विद्यमान अतिमनके प्रति निश्चलभावसे प्रत्युत्तर देनेवाले हों। परन्तु यहां अपनी संभावनाओंको कार्यान्वित करनेवाली प्रत्येक शक्तिका अधिमानस नियम आ जाता है। जिस लोकमें आदिम अचेतना और चेतनाका विभाग मुख्य तत्त्व हैं उसकी स्वाभाविक संभावनायें यह होंगी; अन्धकारकी शक्तियोंका उन्मज्जन होगा और वे जिस अज्ञानसे जीवन धारण करती हैं उसे बनाये रखनेके लिए प्रयत्नशील होंगी।

मिथ्यात्व और भ्रान्तिके मूल कारणको जाननेका अज्ञानपूर्ण प्रयास होगा; जीवित रहनेका ऐसा अज्ञ प्रयास होगा जो अयथातथ्य और पापको उत्पन्न करेगा; भोग करनेका ऐसा आहंकारिक प्रयत्न होगा जो आंशिक हर्षों और दु खोंको उत्पन्न करेगा। अतः ये हमारी विकासमन सत्ताके अनिवार्य प्रथम–चिन्हित स्वभाव हैं, यद्यपि उसकी एकमात्र संभावनायें नहीं हैं। तथापि, चूंकि असत्ता एक प्रच्छन्न सत्ता है, अचेतना प्रच्छन्न चेतना है, असंवेदना एक प्रच्छन्न और सुषुप्त आनन्द है इसलिए इन अंतर्गूढ यथार्थताओंका उन्मज्जन अवश्यंभावी है; और अन्तमें साधकार अनन्तसे व्यक्त हुए इस आपाततः विरुद्ध–रूपवाले गठनमें, प्रच्छन्न अधिमन और अतिमनको भी अपने आपको परिपूर्ण करना अवश्यंभावी है।

दो वस्तुएं इस अन्तिम अवस्थाकी प्राप्ति दूसरे साधनोंकी अपेक्षा अधिक सुगम बना देती हैं। अधिमनने भौतिक

सृष्टिकी ओर अवतरण करते समय अपने परिवर्तित रूपोंको उत्पन्न किया है, इनमें विशेषकर अन्तर्भान है जोकि अपनी सत्यकी अन्तःप्रवेश करनेवाली विद्युत्प्रभाओंके द्वारा हमारी चेतनाके स्थानिक बिन्दुओं और विस्तृत प्रदेशको प्रकाशित करता है। अधिमनके ये परिवर्तित रूप वस्तुओंके छिपे हुए सत्यको हमारे ज्ञानके अधिक समीप ला सकते हैं; और हम अपने आपको चेतनाके इन उच्चस्तरोंके संदेशोंके प्रति अधिक व्यापकरूपसे पहले अपनी अन्तःसत्तामें खोलकर और फिर इसके परिणामस्वरूप अपने बाह्य तलवाली सत्तामें भी खोलकर, इनमें संवर्धित होकर हम स्वयं भी अन्तर्भानवाले और अधिमनवाले प्राणी हो सकते हैं; तब हम ऐसे प्राणी होंगे कि जो बुद्धि और इन्द्रियज्ञानसे परिच्छिन्न नहीं होंगे, अपितु सत्यका उसके शुद्ध आत्मा और देहमें अधिक विशालात्मक ग्रहण और साक्षात् स्पर्श करनेमें समर्थ होंगे।

वस्तुतः इन उच्चस्तरोंसे प्रकाशकी झलकें अभी भी हमारे पास आते हैं: किन्तु ऊपरसे यह हस्तक्षेप प्रायः खण्डशः, आकस्मिक और आंशिक ही होता है; अतः हमें उनके सादृश्यमें अपना विस्तार और उन महत्तर सत्य-क्रियाओंका जिनके लिए कि हम सम्यतारूपमें समर्थ हैं; अपनेमें गठन प्रारंभ करना होगा। परन्तु, दूसरे, जैसा कि हम देख चुके हैं, जिस अचेतनासे अपने विकासक्रममें हम आविर्भूत हुए हैं उसमें अधिमन, अन्तर्भान, यहांतक कि अतिमन तत्त्व भी न केवल अन्तर्निहित और अन्तर्भूत हैं और अनिवार्य रूपसे विकसित होनेवाले हैं, अपितु मन, प्राण और भौतिकद्रव्यकी विश्व-क्रियामें अन्तर्गूढरूपसे विद्यमान हैं, अन्तर्भानकी झलकोंके छद्मज्ञानके द्वारा गुह्य-रूपमें सक्रिय हैं।

यह सत्य है कि उनका कार्य छिपा हुआ है और यदि कहीं वे उन्मजित भी होते हैं तो, जिस भौतिक, प्राणिक या मानसिक माध्यममें वे क्रिया करते हैं उससे परिवर्तित या विकृत हो जाता है। अतिमन विश्वमें प्रारंभसे ही अपने आपको सृष्टा शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त नहीं कर सकता; कारण यदि वह ऐसा करे तो अज्ञान और अचेतना असंभव हो जाय अथवा विश्वमें जो मन्द क्रमविकास है वह द्रुतवेगवाले रूपान्तरात्मक दृश्यमें परिवर्तित हो जाय।

तथापि भौतिक शक्तिकी प्रत्येक सीढीपर अतिमानस सृष्टासे लगाई गई अनिवार्यताकी छापको हम देख सकते हैं; प्राण और मनकी सम्पूर्ण क्रमोन्नतिमें संभावनाकी दिशाओंकी और उनके संयोगकी क्रीडा दिखाई देती है और यह अधिमान हस्तक्षेपकी छाप है। जैसे प्राण और मन भौतिक द्रव्यमें उन्मुक्त हुए हैं, इसी प्रकार छिपे हुए देवाधि-देवकी ये महत्तर शक्तियां भी अपने समयपर अन्तर्भावसे उन्मजित होनी चाहिए और उनकी पराज्योति ऊपरसे हममें अवतीर्ण होनी चाहिए।

अतः दिव्य जीवनकी अभिव्यक्ति हमारे अज्ञान गत जीवनके केवल उच्च परिणाम और मोक्षके रूपमें केवल संभव ही नहीं है अपितु, यदि ये वस्तुएं वैसी ही हैं जैसी कि हम उन्हें देख चुके हैं तो, वह (दिव्य जीवन) प्रकृतिके विकासात्मक प्रयासका अनिवार्य परिणाम और चरम सिद्धरूप है।

अनु०— केशवदेवजी आचार्य

॥ प्रथम भाग समाप्त ॥

स्वाध्यायमण्डल द्वारा संचालित अखिल भारतीय संस्कृतभाषा-परीक्षा-समितिकी ओरसे भारतमें सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए परीक्षार्थियोंका अभिनन्दन किया जाता है। परीक्षार्थियोंको समितिकी ओरसे पुरस्कृत किया गया है। पुरस्कार केन्द्र द्वारा वितरित होगा।

फरवरी १९५६ समस्त भारतमें सर्वप्रथम उत्तीर्ण परीक्षार्थी

प्रारम्भिणी

श्री. अरविन्द टोकरकर, बडौदा

(प्राप्ताङ्क ९७ । १००)

१२) रु. की पुस्तकें

प्रवेशिका

श्री. फकीरभाई पटेल, लाडोल

(प्राप्ताङ्क १८६ । २००)

१३) रु. की पुस्तकें

परिचय

श्री. मोहनलाल जरीवाला, सूरत

(प्राप्ताङ्क २३७ । ३००)

१४) रु. की पुस्तकें

विशारद

श्री. कु. मालती हिंगवे, अकोला

(प्राप्ताङ्क ३१४ । ४००)

१५) रु. की पुस्तकें

परीक्षा-विभाग

आवश्यक सूचनायें

सीधे बैठनेवालोंके लिये— जो परीक्षार्थी जिस किसी परीक्षामें सीधा बैठना चाहें वह अपना सीधे बैठनेका प्रार्थना-पत्र केन्द्र व्यवस्थापक द्वारा नियत तिथिके अन्दर **पारडी कार्यालय** भेज दें। प्रार्थना पत्रके साथ ही अपनी योग्यताके प्रमाणपत्रकी प्रतिलिपि अवश्य ही भेजें। यदि अपनी योग्यताके प्रमाणपत्रकी प्रतिलिपि प्रार्थनापत्रके साथ नहीं भेजी जायगी तो प्रार्थनापत्र रद्द समझा जायगा। तथा इसके विषयमें कोई कार्यवाही नहीं की जायगी।

नियत तिथिके अन्दर ही योग्यताके प्रमाणपत्रकी प्रतिलिपिके साथ प्रार्थनापत्र भेजकर सीधे बैठनेकी अनुमति मंगवा लें तथा स्वीकृतिपत्र आवेदनपत्र भेजते समय अवश्य आवेदनपत्रके साथ नत्थी करके भेजें। आवेदनपत्र भेजनेके समय ही यदि प्रार्थनापत्र आवेदनपत्रके साथ भेजा जायगा तो उनपर कोई विचार नहीं किया जायगा और दोनों रद्द समझे जायगे। अत उचित समयपर ही सीधे बैठनेकी स्वीकृति मंगवा ले तथा वह स्वीकृति पत्र आवेदनपत्रके साथ अवश्य भेजें।

केन्द्रव्यवस्थापकोंसे— जो परीक्षार्थी जिस किसी भी परीक्षामें सीधा अनुमति लेकर बैठा हो उससे सीधे बैठनेका १) रु. अतिरिक्त शुल्क उस परीक्षाके शुल्कसे अधिक लिया जाय। तथा परीक्षा शुल्कके साथ ही वह शुल्क भी भेज दें। यदि सीधे बैठनेवालोंका १) रु. अतिरिक्त शुल्क परीक्षा शुल्कके साथ नहीं आवेगा तो वह आवेदनपत्र अस्वीकृत किया जायगा।

केन्द्रके लिये— केन्द्रके चालु रखनेके लिये कमसे कम दस परीक्षार्थी होना अत्यावश्यक है। इससे कम परीक्षार्थी जिस केन्द्रमें हों उस केन्द्रसे आवेदनपत्र न भेजें। परन्तु किसी पासके केन्द्रसे उन परीक्षार्थियोंको बैठा दें। तथा उनके आवेदनपत्र उसी पासके केन्द्रसे भरवाकर भेज दें। जिस केन्द्रसे दससे कम आवेदनपत्र आवेंगे वे आवेदनपत्र वापस लौटा दिये जायेंगे।

शुल्कके विषयमें— शुल्क हमेशा आवेदनपत्रोंके साथ ही आना चाहिये। जहांसे आवेदनपत्रोंके साथ शुल्क नहीं आवेगा वहांका आवेदनपत्र तब तकके लिये विचारणीय रखें जायगे जबतक शुल्क नहीं आवेगा, और उसके विषयमें कोई कार्यवाही नहीं की जायगी। तथा सामग्री आदि भेजनेके समयतक भी यदि शुल्क नहीं आया तो इस केन्द्रको उत्तर पुस्तकें प्रश्नपत्रादि परीक्षा सामग्री नहीं भेजी जायगी।

आगामी परीक्षायें

आगामी संस्कृतभाषा परीक्षाओं की तथा साहित्यिक परीक्षाओं की तारीखें निम्नप्रकारसे निश्चित की गई हैं—

१— सीधे बैठनेके लिये प्रार्थनापत्र तारीख— ३१ जुलाई १९५६ तक

२— आवेदनपत्र भरनेकी अन्तिम तारीख — ५ अगस्त १९५६ तक

३— परीक्षा दिनाङ्क— तारीख २२–२३–२४ सितम्बर १९५६

साहित्य-प्रवीण--साहित्यरत्न--साहित्याचार्य परीक्षाओंके केन्द्र

गुजरात— १ पारडी, २ नवसारी, ३ सूरत, ४ भरुच, ५ हांसोट, ६ बडौदा, ७ आणंद पा. हा., ८ अहमदाबाद, ९ चांदोद, १० महेसाणा, ११ बोरसद, १२ नडियाद, १३ महेमदाबाद, १४ कडी, १५ पाटण, १६ सोनगढ, १७ मांडवी।

मध्यप्रदेश— १ यवतमाल ग हा, २ वर्धा स. हा, ३ अमरावती नू क. शा, ४ नागपूर न. वि., ५ छिंदवाडा, ६ बुलढाणा ए. हा., ७ सागर, ८ चांदा, ९ जबलपुर, १० अकोला, ११ बैतूल, १२ नन्दुरबार, १३ उमरेड न्यू. आ. हा, १४ मलकापुर म्यु. हा., १५ चिखली, १६ तुमसर, १७ खामगांव, १८ धामणगांव।

हैद्राबाद— १ मेदक, २ परभणि, ३ शहाबाद, ४ औरंगाबाद, ५ बीड, ६ निज़ामाबाद।

उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान आदि— १ उन्नाव, २ किशनगढ, ३ लाखेरी, ४ खरगोन, ५ मंडलेश्वर, ६ जोधपुर, ७ धार, ८ अजमेर, ९ इन्दौर, १० सेंधवा, ११ महुवा, १२ भिकनगांव, १३ बडवानी।

काश्मीर— श्रीनगर, सागाम। **पंजाब—** पटियाला। **मद्रास—** मद्रास।

संस्कृत सम्मेलन

दरबाग

गत सप्ताहकी रविवारको प्रात.काल काश्मीर प्रदेशके एक प्रसिद्ध गांव-(चन्दपुर, जो महादेव पर्वतके नीचे स्थित है और श्रीनगरसे ११ मीलकी दूरी पर है), में पूरे उत्साहसे एक संस्कृत सम्मेलन मनाया गया। जिसमें गत वर्षके सितंबरकी प्रारम्भिणी परीक्षामें १२ मेंसे १० उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको श्री डा० गोपीनाथजीकी अध्यक्षतामें प्रमाण पत्र प्रदान किए गए। श्री महात्मा जानकीनाथजी वानप्रस्थी, अधिष्ठाता, वैदिक साधन आश्रम, दरबागका इस अवसरपर एक प्रभावशाली व्याख्यान हुआ। जिसमें उन्होंने देववाणी- संस्कृत भाषाके प्रचारकी आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए बताया कि अब हमें ऐसा यत्न करना चाहिए जिससे काश्मीरके प्रत्येक गाओंमें सस्कृत प्रचारार्थ एक एक केन्द्र स्थापित किया जा सकता कि सर्व साधारण जनतामें इस अद्वितीय भाषाका प्रचार निरन्तर होता रहे। आगे उन्होंने बताया कि यह कोई असंभव बात नहीं है क्योंकि कुछ ही शताब्दियोंसे पूर्व इस प्रदेशके ब्राह्मणों और पंडितोंने बडे विकट और भयानक समयमें भी इस भाषाकी रक्षा की थी। यह वह समय है जब कि यहां विदेशियोंका राज्य था; समय समय पर आक्रमण हो रहे थे और किसी प्रकारकी कोई सुविधा न थी। पर आज सौभाग्यसे यह प्रदेश स्वतंत्र भारतका एक प्रधान अङ्ग और सीमा प्रान्त है।

लोगोंको इस समय प्रत्येक प्रकारकी सुविधा प्राप्त है, वातावरण शान्त है और सरकारकी ओरसे योग्य सहायता भी मिल सकती है। इस भाषाके बिना इस सुन्दरवादीकी सुन्दरता किसी कामकी नहीं। हमारे पूर्वजोंने इस महान निधिको हम तक सुरक्षित रूपसे पहुचाया है। हमारा अब परम कर्तव्य है कि हम इसकी योग्य रक्षा करते हुए इस खजानेको अपनी आनेवाली सन्तानके हवाला करें। ऐसा करनेसे ही धर्मकी वृद्धि, कर्मकी सफलता और सनातन आर्य संस्कृतिकी रक्षा हो सकती है।

आज कल हम अपने बालकोंके यज्ञोपवीत और वेदारम्भ संस्कारोंपर हजारों रुपये व्यय करते हैं। कई वर्षोंकी अपनी कमाई एक घण्टेमें उडाते हैं। यह सब कर्म निष्फल हैं यदि हम अपने बालकोंको इस देववाणीसे ज्ञानवान नहीं बनाते हैं इत्यादि। इस भाषणका अच्छा प्रभाव जनता पर पडा है। यह बडी प्रसन्नताकी बात है कि श्री वानप्रस्थीजीने गत वर्ष इस इलाकेमें दो पाठशालायें चलाई थी और इस वर्ष भी ऐसा करने लगे हैं। इस समय वह दरबागमें एक आश्रम स्थापित करने लगे हैं।

—व्यवस्थापक

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

वर्ष ३७ अंक ६

जून १९५६

वैदिक धर्म

[जून १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा.व्य.
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३)	॥)
३	सामवेद	४)	१)
४	अथर्ववेद (समाप्त होनेसे पुनः छप रहा है।)		
५	यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
७	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१।)
८	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१।)
९	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
१०	यजुर्वेद वा० सं० पादसूची	१॥)	॥)
११	यजुर्वेदीय मैत्रायणीयमारण्यकम्	॥।)	≈)
१२	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)

दैवत-संहिता

१	अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	४)	१)
२	इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	३)	॥)
३	सोम देवता मंत्रसंग्रह	२)	॥)
४	उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	१)	१)
५	पवमान सूक्तम् (मूल मात्र)	॥)	≈)
६	दैवत संहिता भाग २ [छप रही है]	६)	१)
७	दैवत संहिता भाग ३	६)	१)

ये सब ग्रंथ मूल मात्र हैं।

८	अग्नि देवता— [मुंबई विश्वविद्यालयने बी. ए ऑनर्सके लिये नियत किये मंत्रोंका अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ संग्रह]	॥)	≈)

सामवेद (कौथुम शाखीयः)

१	ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः-आरण्यक गानात्मकः प्रथमः तथा द्वितीयो भागः	६)	१)
२	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (ऋग्वेदके तथा सामवेदके मंत्रपाठोंके साथ ६७२ से ११५२ गानपर्यंत)	१)	।)
३	ऊहगान— (दशरात्र पर्व) (केवल गानमात्र ६७२ से १०१६)	॥)	≈)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	।)
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	।)
३ शुनःशेप	ऋषिका	दर्शन	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	।)
५ कण्व	,,	,,	२)	।)
६ सव्य	,,	,,	१)	।)
७ नोधा	,,	,,	१)	।)
८ पराशर	,,	,,	१)	।)
९ गोतम	,,	,,	२)	।≈)
१० कुत्स	,,	,,	२)	।≈)
११ त्रित	,,	,,	१॥)	।-)
१२ संवनन	,,	,,	॥)	≈)
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	॥)	≈)
१४ नारायण	,,	,,	१)	।)
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	।)
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	।)
१८ सप्त	,,	,,	॥)	≈)
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१॥)

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय	१— श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥)	≈)
अध्याय	३०— मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२)	≡)
अध्याय	३२— एक ईश्वरकी उपासना	१॥)	≈)
अध्याय	३६— सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१॥)	≈)
अध्याय	४०— आत्मज्ञान-ईशोपनिषद्	२)	।≈)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	१।)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

वर्ष ३७

वैदिक धर्म

अंक ६

क्रमांक ९०

वैशाख, विक्रम संवत् २०१३, जून १९५६

वीर पुत्र

वृषा जजान वृषण रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव ।
प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्तीनः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः ॥

ऋ० ७।२०।५

(वृषा वृषणं रणाय जजान) बलवान् पिताने वीर्यवान् पुत्रको युद्ध करनेके लिये उत्पन्न किया है। (तं नर्यं नारी चित् ससूव) इन मानवोंका हित करनेके लिये ही उत्पन्न हुए सुपुत्रको स्त्रीने जन्म दिया है। (अध) और (यः नृभ्यः सेनानीः प्र अस्ति) जो मानवोंका हित करनेवाला सेनानायक होता है। (स इनः) वही सच्चा स्वामी होता है, वह (सत्वा) सत्ववान्, सामर्थ्यवान्, (गवेषणः) संशोधक अथवा गौओंको प्राप्त करनेवाला तथा (धृष्णुः) शत्रुओंका नाश करनेवाला होता है।

पिता बलवान् पुत्र उत्पन्न करे, माता वैसे वीर पुत्रको जन्म दे। विश्वमें युद्ध चल रहा है, उसमें विजय प्राप्त करना चाहिये। मानवोंका हित करना चाहिये। उसके लिये बलवान्, वीर्यवान् और सामर्थ्ययुक्त बनना चाहिये।

आगामी परीक्षायें

आगामी **संस्कृतभाषा परीक्षाओं** की तथा **साहित्यिक परीक्षाओं** की तारीखें निम्नप्रकारसे निश्चित की गई हैं—

१— सीधे बैठनेके लिये प्रार्थनापत्र— तारीख ३१ जुलाई १९५६ तक

२— आवेदनपत्र भरनेकी अन्तिम तारीख— ५ अगस्त १९५६ तक

३— परीक्षा दिनाङ्क— तारीख २२-२३-२४ सितम्बर १९५६

समालोचना

प्रणव भारती

प्रथम वीणा, भारतीय स्वरशास्त्र

(लेखक- पं० ओंकारनाथ ठाकूर, कुलगुरु श्रीसंगीत भारती, हिंदु विश्वविद्यालय, काशी। मुद्रक- श्री अमल-कुमार वसु, इन्डियन प्रेस, बनारस, प्राप्तिस्थान- (१) प्रा. ओंकारनाथ ठाकूर, (२) एन्. एम्. त्रिपाठी एण्ड कं. लि. प्रिन्सेस स्ट्रीट बम्बई २; (३) श्री. विनयचन्द्र मौद्गल्य, गांधर्वमहाविद्यालय, प्रेम हाऊस, कॅनाट प्लेस नई देहली। मूल्य ९) रु.। सर्वाधिकार सुरक्षित। पृ. २७७)

यह ग्रन्थ भारतीय गायन शास्त्रपर एक अद्वितीय ग्रन्थ है। लेखक श्री. प्राचार्य पं. ओंकारनाथ ठाकूर एक अत्यंत सुप्रसिद्ध गायक हैं। गायन विषयमें इनकी कीर्ति जैसी भारतमें वैसी ही युरोपमें फैली है। इनका लिखा यह ग्रन्थ है ऐसा कहनेमात्रसे इस ग्रन्थकी अद्वितीयता प्रकट हो सकती है।

प्रथम तंत्रीमें 'नादतत्त्व' का विचार किया है। द्वितीय तंत्रीमें 'श्रुति-स्वर-गान' का विषय है। तृतीय तंत्रीमें 'दाक्षिणात्य स्वर सप्तक' का वर्णन है। चतुर्थ तंत्रीके 'पं. भातखंडेके श्रुतिस्वरका आलोचन' है। पंचम तंत्रीमें 'स्वरका आधुनिक लक्ष्य और गुरुदेव प. विष्णु दिगंबरजी-की गुरुपरम्पराका विचार' किया है। षष्ठ तंत्रीमें 'मूर्च्छना जातीका विचार' है और सप्तम तंत्रीमें 'वर्ण अलंकार और तानका विचार' है। इसके आगेके तीन परिशिष्टोंमें (१) प्राकृतिक स्वरोंका पशुपक्षियोंके नादोंसे सम्बन्ध, (२) स्वरोंके रस वर्ण देवता आदि, (३) उद्धृत ग्रंथोंकी सूची आदि विषय हैं।

शास्त्रीय दृष्टिसे स्वरआलापोंका विचार इस ग्रंथमें किया है। इस विषयपर इतना विस्तृत तथा सर्वांग सम्पूर्ण ग्रंथ दूसरा हमने आजतक देखा नहीं। इसमें प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक गानग्रन्थोंका साररूपसे लेखन किया है। श्री भातखण्डे तथा पं. विष्णु दिगम्बरजीके संगीत पद्धतिकी समालोचना इसमें देखने योग्य है। यह विषय अत्यंत शास्त्रीय है। साधारण वाचकके लिये यह दुर्बोध भी है। तथापि स्थानस्थानपर तालिकायें तथा स्पष्टीकरण देकर यह कठिन विषय भी यहां सुबोध किया है। इसलिये हम कहते हैं कि ऐसा दूसरा ग्रन्थ इस विषयपर नहीं है।

गायन वैदिक समयसे हमारी संस्कृतिका अंग बनकर रहा है। सामगान यज्ञोंमें आवश्यक था। पश्चात् देवपूजा-में भी गानं, नृत्यं, वाद्य आवश्यक करके लिखा है। इस-लिये भारतीय लोग इस ग्रन्थसे अच्छा लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये हम समझते हैं कि गानप्रिय जनता इसको अपने संग्रहमें रखेगी और इससे लाभ प्राप्त करेगी।

● ● ●

मुक्त छंदसि संस्कृत वन्दना

जय जय संस्कृत जननि
अमृत वर्षिणि मंगल कारिणी।
चिर कालात् तव त्यागो निहितः
ज्ञान रहितान्नो देहि सुज्ञानम्।
आंग्लभाषा धर्म विहीनाम्
मृता भाषा इत्यातो मातः।
कोऽपि न वदसि त्वमपिगेहे
परिहर सर्व विपत्तिम्।
विश्वव्यापिनि विश्वनुते
उद्धरः वैद्यान् संस्कृतमातः।
चिरपरिसुप्तं बोधय विश्वं
परशान भाषां द्रवाय दूरं।
लुप्तो व्यवहारस्ते व्रजातः
कथं विलुप्तस्ते धिकारः।
तस्य दुःखं त्वं वारय मातः
नव शब्द पूर्णा विश्वमनकैश्च॥

श्री. कृष्णलाल एस्. बजाज, प्रदीप

१ योगमहाविद्यालय—योगमहाविद्यालयमें जो योगके व्यायामोंका शिक्षण दिया जाता है, वह प्रत्येक प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च विद्यालयोंके विद्यार्थियोंको दिया जाय, इस विषयके प्रयत्न चलरहे हैं और स्थानस्थानके लोग इस कार्यक्रमको देखनेके लिये आ रहे हैं। शिक्षणालयोंके शिक्षक या व्यायाम शिक्षक यहां आ जांय, १५ दिन कमसे कम यहां रहें, व्यायाम सीखें और अपने विद्यालयोंमें जाकर वहांके विद्यार्थियोंको सिखावें, इस विषयके प्रयत्न हो रहे हैं। और सरकारी अधिकारी भी इसका विचार कर रहे हैं। कई स्थानोंके शिक्षक आये और सीखकर गये, यह कार्य अपेक्षासे अधिक बढ रहा है यह आनंदका विषय है।

२ वेद-महाविद्यालय- वेद-महाविद्यालयमें भी संस्कृत जाननेवाले तरुण आ रहे हैं। इस समय हमारे पास १५ प्रार्थनापत्र आये हैं। दो दाखल हुए। शेषोंके आनेपर वैसा प्रकट किया जायगा। संस्कृत अच्छा जाननेवालोंको ही इसमें प्रवेश मिलता है। अतः संस्कृत न जाननेवाले प्रार्थनापत्र न भेजे। तथा इस विद्यालयमें छोटे बालकोंको भी नहीं लिया जाता।

आयु १८ वर्षकी हो, विद्यार्थी स्वावलंबनशील हो, संस्कृत अच्छा आता हो, हिंदी, अंग्रेजीमें अच्छी योग्यता हो, वक्तृत्व करनेका गुण हो, मातापिताकी अनुमति हो ऐसे तरुण ही इसमें लिये जाते हैं।

पांच वर्ष यहां रहना होगा और वेदादि ग्रंथोंका अध्ययन करना होगा। अक्षर अच्छा रहना चाहिये। जो मातपिताकी अनुमतिके बिना आते हैं उनको दाखल नहीं किया जायगा।

३ गायत्री-जपका अनुष्ठान- गत मासमें प्रकाशित जपके पश्चात् इस मासमें यह जपसंख्या हुई है—

१ वाशीम- श्री आ. श्री. गुंडागुळे	११७९००
२ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१५००००
३ पारडी- स्वाध्यायमण्डळ	३१००
४ जामनगर- ओ. यु. म. संध्यावर्ग संचालक श्री जानी चिमणलाल लक्ष्मीशंकर	११८३७६
	३,८९,३७६
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	८५,६८,२०१
कुल जपसंख्या	८९,५७,५७७

इतनी जपसंख्या हुई है। अब सात लाख जप होते ही यह अनुष्ठान सम्पूर्ण होगा।

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

उपनिषद् ग्रंथमाला

१ ईश उपनिषद्	२)	।=)
२ केन उपनिषद्	१॥)	।-)
३ कठ उपनिषद्	१॥)	।)
४ प्रश्न उपनिषद्	१॥)	।)
५ मुण्डक उपनिषद्	१॥)	।)
६ माण्डूक्य उपनिषद्	॥)	=)
७ ऐतरेय उपनिषद्	॥।)	≡)
८ तैत्तिरीय उपनिषद्	१॥)	।)
९ श्वेताश्वतर उपनिषद् (छप रहा है)		

श्रीमद्भगवद्गीता

१ पुरुषार्थबोधिनि टीका (एक जिल्दमें)

मूल्य १२॥ रु. डा. व्य. २॥)

,, (तीन जिल्दोंमें)	अध्याय १ से ५	५)	१।)
,,	अध्याय ६ से १०	५)	१।)
,,	अध्याय ११ से १८	५)	१।)

२ श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला

भाग १-२ और ७ ३॥।) १।)

(भाग- ३-४-५-६ समाप्त हो गये हैं।)

३ भगवद्गीता श्लोकार्ध सूची	॥।)	≡)
४ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन	२)	।=)
५ श्रीमद्भगवद्गीता (केवल श्लोक और अर्थ)	१)	≡)
६ श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम भाग) लेखक श्री गणेशानंदजी	१)	।)

गो-ज्ञान-कोश

गो-ज्ञान-कोश (प्रथम भाग)	६)	१॥)
गो-ज्ञान-कोश (द्वितीय भाग)	६)	१॥)

गौके विषयमें वेदमंत्रोंमें जो उत्तम उपदेश है वहसब इन दो विभागोंमें संग्रहित किया है। जो गौके विषयमें वेदका अमूल्य उपदेश जानना चाहते हैं वे इन भागोंको अवश्य पढें।

महाभारत (सचित्र)

१	आदिपर्व	७)	२।)
२	सभापर्व	३॥)	॥।)
३	शांतिपर्व (पूर्वार्ध)	१०)	१।)

अन्य पर्व छप रहे हैं।

४ महाभारतकी समालोचना

(भाग १-२) प्रत्येक भागका मूल्य ॥।) ।)

वेदका स्वयं-शिक्षक

अपने घर बैठे वेदका अध्ययन कीजिये, अत्यंत सुबोध पद्धतिसे ये पुस्तक तैयार किये हैं।

[भाग १ और २] प्रत्येक भागका मूल्य १॥) ।-)

वेद-परिचय

(तीन भागोंमें)

वेदकी प्रथम परीक्षाके लिये पाठ्य पुस्तक

प्रथम भाग	१॥)	।)
द्वितीय भाग	१॥)	।)
तृतीय भाग	२)	।-)

वेद-प्रवेश

वेदकी द्वितीय परीक्षाके लिये पाठ्य पुस्तक

१	मरुद्देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	॥।)
२	अश्विनौ देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	१)
३	ऋग्वेदके अग्नि-सूक्त	२)	॥)
४	मरुद्देवता मंत्र-संग्रहकी समन्वय-चरणसूची	२)	॥)

योग-साधन ग्रन्थमाला

आरोग्य रक्षणके लिये अनुभवसिद्ध अनुष्ठानके ये ग्रंथ हैं।

१	ब्रह्मचर्य	१॥)	।)
२	योगके आसन	२॥)	।-)
३	आसनोंका चित्रपट	।)	-)
४	योगसाधनकी तैयारी	१)	≡)
५	सूर्य नमस्कार	१)	≡)
६	सूर्य नमस्कारोंका चित्रपट	।)	-)
७	सूर्य भेदन व्यायाम	॥।)	=)

आगम निबन्ध-माला

वेदमें जो अनेक विद्याएं है उनका दर्शन इन पुस्तकोंसे होता है।

१	वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥।)	=)
२	वैदिक सर्प विद्या	॥=)	=)
३	वेदमें चर्खा	॥=)	=)
४	मानवी आयुष्य	॥)	=)
५	इन्द्रशक्तिका विकास	॥।)	=)
६	वेदमें कृषि-विद्या	।)	-)
७	ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
८	वैदिक अग्नि-विद्या	२)	।)
९	वैदिक चिकित्सा	१॥)	।)

मन्त्री— स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

गीतामें तीन पुरुष

ग्यारहवां परिच्छेद

(लेखक— श्री स्वा. केशवदेवजी आचार्य, मेरठ)

[गताङ्कसे आगे]

इसके अतिरिक्त देह और आत्मामें जो आध्यात्मिक संबंध होता है, यहां देह और आत्मा दोनों एक दूसरेसे भिन्न पदार्थ हैं। इनमें कोई कार्यकारण संबंध नहीं है। यहां दोनोंका संयुक्त रूपमें अनुभव होनेके कारण आध्यात्मिक संबंध कहा जा सकता है। परन्तु उपनिषदोंने अक्षर ब्रह्म, आत्मा, चेतन पुरुषसे जगत्‌की इस प्रकार उत्पत्ति बतलाई है जैसे मकडीके शरीरसे जाला, अग्निसे चिंगारियां, मनुष्यके देहसे केश नख लोम, मृत्तिकासे घट, लोहसे लोहपात्र, स्वर्णसे अलंकार, बीजसे वृक्ष इत्यादि।

गीताके अनुसार यह संपूर्ण चराचरात्मक जगत् उस एकमेवाद्वितीय पुरुष (पुरुषोत्तम) से इस प्रकार निकलता है जैसे बीजसे वृक्ष (१०।३९), शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंधसे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि। वह इन्हें उत्पन्न करके इनसे बाहर ही नहीं रहता अपितु उनमें इस प्रकार व्याप्त रहता है जैसे मणियोंकी मालामें सूत्र– ऐसा सूत्र कि मणियां भी उसकी ही बनी हुई हों और जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वीमें उनके कारण शब्द स्पर्श, रूप, रस गंध। उपनिषद् और गीताकी इस प्रतिपादन शैलीसे ज्ञान होता है कि ये ब्रह्म और जगत्‌में विवर्त्तवादवाला आध्यात्मिक संबंध नहीं मानते अपितु सांख्यके परिणामवाद जैसा कार्यकारण संबंध मानते हैं और सृष्ट हुए संसारको सत्य मानते हैं। अतः श्री अरविन्द लिखते हैं—

" The world for the Gita is real, a creation of the Lord, a power of the Eternal, a manifestation from the Parabraman, and even this lower nature of the triple maya a derivation from the supreme divine nature. " *

" गीताकी दृष्टिमें जगत् सत्य है, ईश्वरकी सृष्टि है, ब्रह्मकी शक्ति है, परब्रह्मकी अभिव्यक्ति है और यह त्रिगुणमयी अपराप्रकृति भी परा दिव्य प्रकृतिसे उद्भूत हुई है।"

अतः इस० प्रकार सृष्टि माननेपर कार्यकारण संबंधसे जैसे मृत्तिकाके पात्रोंको मृत्तिका, लोहके पात्रोंको लोह, स्वर्णके अलंकारोंको स्वर्ण कहा जाता है इसी प्रकार एकमेवाद्वितीय चेतनपुरुषका कार्य, परिणाम या आविर्भाव होनेके कारण इस समस्त चराचर जगत्‌को भी पुरुष कहा गया है न कि रज्जुसर्प आदिके समान आध्यात्मिक संबंधसे।

इसके अतिरिक्त गीताने आठवें अध्याय (१८-२१) में कहा है कि "ये समस्त व्यक्त पदार्थ, समस्त भूत (भूत ग्राम) सृष्टिके आदिमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और प्रलय कालमें फिर उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं। इस अव्यक्तसे परे एक और अव्यक्त है जो कि समस्त भूतोंके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता; यह अविनाशी (सनातन) है। यह अक्षर है, यह परमगति है। यह भगवान्‌का ऐसा धाम है जिसे प्राप्त कर लेनेपर फिर लौटना नहीं होता।" यहां जिस अव्यक्तसे समस्त भूत उत्पन्न हुए बतलाये गये हैं उसे शंकराचार्यने अविद्या माया कहा है (भूतग्राम बीज भूतात् अविद्या लक्षणात् अव्यक्तात्)। परन्तु गीताने इस अव्यक्तको अक्षर नहीं कहा है, अपितु इससे भिन्न दूसरे अव्यक्तको जो इससे परे है, भगवान्‌का परमधाम है, परमगति है, अक्षर कहा है।

यदि गीताकी दृष्टिमें पन्द्रहवें अध्यायमें कहे हुए अक्षरका अर्थ, मायावादी टीकाकारोंके कथनके समान जड अविद्या माया होता तो आठवें अध्यायमें गीताने जिस प्रकार दो अव्यक्त कहे हैं इसी प्रकार दो अक्षर भी कहने चाहिये थे। उसे वहां यह दिखलाना चाहिये था कि एक

* Ecssays or the Gita ch. 38, P. 267, 268 (1928)

अव्यक्त अक्षर वह (जड) है जिससे ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं और दूसरा अव्यक्त अक्षर इससे परे है जो मेरा परमधाम है। परन्तु गीताने पहले जड अव्यक्तको अक्षर नहीं कहा अपितु केवल दूसरे अव्यक्तको ही कहा है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गीताकी दृष्टिमें मायावादियोंकी जड अविद्या माया या सांख्योंकी मूल प्रकृति अक्षर नहीं है।

इसके अतिरिक्त, मायावादके अनुसार एकमेवाद्वितीय ब्रह्म त्रिकाल सत्य पदार्थ है। वह अनादिकालसे रहा है, वर्त्तमानमें है और भविष्यमें भी सदा रहेगा, कभी भी नष्ट नहीं होगा। माया भी यदि इसी प्रकार अविनाशी और त्रिकालस्थायी हो तो यहां दो तत्त्व सत्य हो जायेंगे। तब यह मत अद्वैतवाद न होकर द्वैतवाद हो जायगा। इसलिये अद्वैतकी रक्षा करनेके लिये मायावादमें मायाकी सत्ता द्वैकालिक मानी जाती है, त्रैकालिक नहीं। यह भूतमें अनादिकालसे रही है; वर्त्तमानमें भी है ही; परन्तु जब समस्त जीवोंको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जायगा तो इसका विनाश इस प्रकार हो जायगा जैसे किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर उसके विषयका अनादिकालसे रहनेवाला अज्ञान नष्ट हो जाता है, जैसे रज्जुका ज्ञान होनेपर उसके विषयका अनादिकालसे रहनेवाला अज्ञान या भ्रान्त ज्ञान नष्ट हो जाता है।

अतः मायावादके अनुसार यह अविद्या माया अनादिकालसे विद्यमान रहते हुए भी अविनाशी नहीं है, विनाशी है। मधुसूदन सरस्वतीने इसे अनित्य, हेय * कहा है। ऐसी स्थितिमें मायावादियोंने जो पन्द्रहवें अध्यायके अक्षर शब्दका अर्थ अविनाशी माया अविद्या किया है यह गीताके और स्वयं उनके अपने सिद्धान्तके विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त गीताने अक्षरका अर्थ जो कूटस्थ किया है (कूटस्थोऽक्षर उच्यते), यहां शंकराचार्यने कूट शब्दका अर्थ माया, वंचना, जिह्मता, कुटिलता किया है और कूटस्थका अर्थ किया है अनेक माया आदिके रूपमें स्थित, इस समस्त संसारकी बीजभूत माया, अविद्या। निःसन्देह कूट शब्द जिह्मता, वंचना, कुटिलता आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु कूट शब्द लोहपिंडके समान निश्चल, निर्विकार वस्तुके अर्थमें भी आता है जैसा कि गत प्रकरणमें दिखलाया जा चुका है। और कूटस्थ शब्दका अंग होनेपर वह प्रायः इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ करता है। स्वयं गीताने बारहवें अध्यायमें कूट शब्दको इसी अर्थमें लेकर कूटस्थ शब्दका प्रयोग ब्रह्मके लिये किया है। वहां इसके विशेषण अचल, ध्रुव आदि शब्द आये हैं। वहां शंकराचार्यने इसका माया न करके मायाका साक्षी, अध्यक्ष, निरुपाधिक निर्विकार शुद्ध चैतन्य किया है।

गीताके छठे अध्याय (६।८) में भी कूटस्थ शब्द आता है। वहां यह उस योगीके लिये आया है जो कि शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द्वोंमें निश्चल, निर्विकार, सम बना रहता है। शंकराचार्यने वहां इसका अर्थ किया है अप्रकम्प्य। अतः गीताके इस भाषा प्रवाहको देखते हुए यदि पन्द्रहवें अध्यायके कूटस्थ शब्दको भी अविनाशी माया अविद्याके अर्थमें न लेकर अचल, निष्क्रिय निर्विकार चेतन पुरुषके अर्थमें लें, जैसा कि श्री अरविन्दने किया है, तो यह भाषा और भाव दोनोंकी दृष्टिसे गीताके अधिक अनुकूल और संगत है।

इसके अतिरिक्त बारहवें अध्यायमें अर्जुन भगवान्से पूछता है कि अव्यक्त अक्षरकी और तुम्हारी (त्वां) उपासना करनेवालोंमें उत्तम योगी कौनसे होते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मेरी उपासना करनेवाले योगी उत्तम (युक्ततम) होते हैं। यहां अव्यक्त अक्षरको भगवान्ने उपास्य बतलाया है और उसकी उपासनासे जिस अव्यक्त अक्षरकी प्राप्ति होती है उसे भगवान्की प्राप्ति बतलाया है। मायावादकी अव्यक्त अक्षर नामकी माया, जैसा कि इन्होंने पन्द्रहवें अध्यायमें अव्यक्त अक्षरका अर्थ किया है- अज्ञान रूपिणी, भ्रमोत्पादिका है। उसकी उपासना भगवान्से विपरीत दिशामें ले जाती है, भगवान्की ओर नहीं। उसकी न उपासना करनी होती है और न उसे प्राप्त करना होता है अपितु उसका परित्याग और विनाश करना होता है। अतः मधुसूदन सरस्वतीने उसे हेय और अनित्य कहा है। इसलिये मायावादी टीकाकारोंने बारहवें अध्यायके अव्यक्त अक्षरका अर्थ अविद्या माया न करके निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म किया है। ऐसी स्थितिमें पन्द्रहवें अध्यायमें इन्होंने जो अव्यक्त अक्षरका अर्थ जड, माया किया है वह बारहवें अध्यायके अर्थ निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्मके साथ संगत नहीं है।

---

* सनातनो नित्यः। तु शब्दो हेयाद् अनित्याद् अव्यक्ताद् उपादेयत्वं नित्यस्य अव्यक्तस्य वैलक्षण्यं सूचयति। ८।२०

इसके अतिरिक्त बारहवें अध्यायमें मायावादी टीकाकारोंने अव्यक्त अक्षरका अर्थ किया है निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म और त्वां मां का अर्थ किया है सगुण, सोपाधिक, मायोपाधिक ब्रह्म। ÷ यहां त्वां मां शब्दोंका जो सगुण ब्रह्म अर्थ किया गया है यह संगत नहीं है। कारण, मायावादके अनुसार निर्गुण ब्रह्मकी उपासनासे इसी जन्ममें सीधे ब्रह्म और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु सगुण, मायोपाधिक ब्रह्मकी उपासनासे शरीर छूटनेपर ब्रह्मलोकमें जाना होता है। वहां उन्हें दीर्घकालतक दिव्य शरीर धारण करके दिव्य भोगोंको भोगना पड़ता है। तदनन्तर उन्हें, मायावादके अनुसार, वहीं ब्रह्मज्ञानका प्रकाश हो जाता है और वहींसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

इस मतके अनुसार यह परिणाम निकलता कि है चूंकि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे दीर्घकालतक शरीर धारण करना, दिव्य लोकोंमें रहना और दिव्य भोगोंको भोगना पड़ता है इसलिये मुक्ति और ब्रह्मकी प्राप्ति विलम्बसे होती है; और निर्गुण ब्रह्मकी उपासनासे सीधे बिना विलम्बके इसी जन्ममें ब्रह्मज्ञान, मुक्ति और ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; इस कारण निर्गुण ब्रह्मकी उपासना उत्तम होती है और निर्गुण ब्रह्मके उपासक उत्तम योगी होते हैं। परन्तु गीताने त्वां मां से निर्दिष्ट पुरुषके उपासकोंको उत्तम योगी कहा है। अतः यदि त्वां मां का अर्थ सगुण ब्रह्म किया जाय तो यह गीताके सिद्धान्तके विरुद्ध है।

गीतामें भगवान्‌ने अपने (त्वां मां के) उपासकोंको अव्यक्त अक्षरके उपासकोंकी अपेक्षा उत्तम कहनेका यह कारण बतलाया है कि अव्यक्त अक्षरके उपासकोंको क्लेश अधिकतर होता है और इससे यह परिणाम निकलता है कि मेरी (त्वां, मां) की उपासना करनेवालोंको उसकी अपेक्षा क्लेश कम होता है। यह बात उन्होंने आठवें अध्यायमें और भी स्पष्ट कर दी है। वहां वे कहते हैं कि जो अनन्यभावसे मुझमें चित्त लगाकर निरंतर मेरा स्मरण किया करता है उसे मेरी प्राप्ति सुलभतासे हो जाती हैं।+ परन्तु यदि दो साधनोंसे एक ही वस्तुकी प्राप्ति होती हो तो उनमें सरल साधनको उत्तम कहा जा सकता है। जब निर्गुणोपासनासे साक्षात् ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और सगुणोपासनासे केवल ब्रह्मलोककी तो सगुणोपासनाको उत्तम कहना ठीक नहीं कहा जा सकता।

इस कठिनाईका यह समाधान दिया जाता है कि प्राप्ति तो सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाओंसे एक ही ब्रह्मकी होती है; भेद केवल इतना है कि एकसे ब्रह्मलोकके द्वारा होती है और दूसरीसे सीधे। सगुणोपासना सरल है इस लिये केवल सरलताके कारण इसके उपासकोंको उत्तम कह दिया है। परन्तु गीता स्वयं इस समाधानका निराकरण कर देती है। कारण भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मलोकतक जितने भी लोक हैं उन सबसे लौटकर पृथ्वीपर आना और जन्म ग्रहण करना पड़ता है, केवल मेरी प्राप्ति हो जानेपर ही पुनर्जन्म नहीं होता।×

अतः गीताके अनुसार ब्रह्मलोक भी दूसरे स्वर्गलोकोंके समान है जिनसे पुनरावृत्ति होती है। यदि दूसरे स्वर्गलोकोंकी प्राप्तिको ब्रह्म और मुक्तिकी प्राप्ति नहीं कहा जा सकता तो, गीताके अनुसार, ब्रह्मलोककी प्राप्तिको भी नहीं कहा जा सकता।

दूसरे, यदि हम मायावादके इस सिद्धान्तको कुछ समयके लिये स्वीकार भी कर लें कि सगुणोपासनासे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होनेपर, दीर्घकालतक दिव्य शरीरके द्वारा दिव्य भोगको भोगते रहनेपर वहींसे ब्रह्म और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है और यहां नहीं आना पड़ता, तब भी त्वां मां शब्दोंका जो अर्थ सगुण ब्रह्म किया गया है वह गीताके विरुद्ध होता है। कारण त्वां मां से यदि सगुण ब्रह्म ही लें तो इसकी उपासनासे ब्रह्मलोककी प्राप्तिके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिमें विलम्ब तो होगा ही।

कारक, ब्रह्म लोकमें आनेपर दिव्य शरीरके ग्रहण और ब्रह्मलोकके भोगोंको भोगनेका बंधन तो सहना ही पड़ेगा। परन्तु गीतामें तो भगवान् कहते हैं कि जो समस्त

÷ मयि= विश्वरूपे। अक्षरं ब्रह्म= निरस्त सर्वोपाधित्वात्। शंकरभाष्य १२।१,२॥
अक्षरं सर्वोपाधिरहितं निर्गुणं ब्रह्म। मयि भगवति वासुदेवे सगुणे ब्रह्मणि। मधूसूदन सरस्वती॥

+ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ ८।१४॥

× आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ ८।१६॥

कर्मोंको मेरे अर्पण करते हुए अनन्ययोगके द्वारा मेरी उपासना करते हैं उनका मैं संसाररूपी सागरसे शीघ्र ही (न चिरात्) उद्धार कर देता हूं। ÷ यहां " न चिरात् " शब्दका अर्थ मधुसूदन सरस्वतीने इसी जन्ममें (तास्मिन्नेव जन्मनि) किया है और संसार सागरसे उद्धारका अर्थ शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति करा देना (शुद्धे ब्रह्मणि धर्त्ता) किया है। अतः " अहं, मां, त्वां " आदि शब्दोंसे निर्दिश्यमान पुरुष यदि सगुण ब्रह्म है तो उसकी उपासनासे अक्षरब्रह्म या निर्गुण ब्रह्मकी अपेक्षा मोक्ष या ब्रह्मकी प्राप्ति शीघ्र इसी जन्ममें कैसे हो जाती है। इसका समाधान मायावाद नहीं होता।

नीलकंठने सगुणोपासनाकी श्रेष्ठताको सिद्ध करनेके लिये यह कहा है कि निर्गुणकी प्राप्तिको कष्ट साध्य बतलाकर ही उसकी उपासनाकी श्रेष्ठता सूचित कर दी गई है और सगुणोपासनाकी श्रेष्ठता शब्दमात्रसे कही गई है (वास्तवमें नहीं)। × परन्तु किसी वस्तुकी प्राप्तिमें यदि कष्ट अधिक होता है और इतनेसे ही वह श्रेष्ठ हो जाय- यह कथन प्रत्यक्ष और युक्तिके विरुद्ध होता है। देहलीसे कलकत्ता जानेमें वायुयान या रेलवेकी अपेक्षा बैलगाडी और घोडेके द्वारा यात्रा करनेमें कष्ट अधिक होगा इसलिये बैलगाडी और घोडेकी सवारीको वायुयान या रेलवेकी सवारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता और न रेल और वायुयानके होते हुए घोडे या बैलगाडीसे इतनी लम्बी यात्रा करनेवालोंको श्रेष्ठ यात्री कहा जा सकता है।

दूसरे, यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निर्गुण उपासनाके श्रेष्ठ होते हुए सगुणोपासना करनेवालोंको शब्दमात्रसे भी श्रेष्ठ क्यों कहा? इसका समाधान नीलकंठने यह दिया है कि सर्वज्ञ भगवान्का करुणावश मूर्खोंके प्रति पक्षपात होनेके कारण उन्हें भगवान्ने श्रेष्ठ कह दिया है। + यदि मूर्खोंके प्रति पक्षपात होनेके कारण सगुणोपासकोंको, टीकाकारके शब्दोंमें मूर्खोंको, सर्वोत्तम योगी कहा जा सकता है तो आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तोंको भी केवल उदार न कहकर सर्वोत्तम योगी या सर्वोत्तम भक्त कहना चाहिये था; और इसी प्रकार जो मूर्ख केवल सकामभावसे देवताओंके निमित्त यज्ञ किया करते हैं इन्हें अविपाश्रित, भोगैश्वर्यप्रसक्त न कहकर योगवित्तम कहना चाहिये था। इस अत्यधिक अव्यवस्था हो जाती है। इसलिये इस दोषको देखते हुए इस मतके अनुयायी दूसरे टीकाकारोंने नीलकंठके इस समाधानका खण्डन कर दिया है। ⊠

अतः " अहं " " मां " " त्वां " शब्दोंसे जिस पुरुषकी ओर संकेत है उसे सगुण, सोपाधिक ब्रह्म लेनेपर गीताके दूसरे वचनोंके साथ संगति नहीं लगती।

श्री अरविन्दने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अक्षर ब्रह्मका अर्थ किया है निष्क्रिय, निर्गुण ब्रह्म। वह व्यक्तिके कार्योंका आधार होता है, परन्तु उनमें भाग नहीं लेता। वह अचिन्त्य, अचल, सनातन, सर्वगत है, परन्तु वह मनको कोई अवलम्बन प्रदान नहीं करता। कोई गुण या क्रिया ऐसी नहीं जिसको आधार बनाकर मानव मन उसकी ओर गति कर सके। इसकी प्राप्तिके लिये समस्त गुणों और क्रियाओंका उसमेंसे बहिष्कार करना पडता है। मनुष्यको अपने समस्त लौकिक व्यापारको छोडकर संन्यास ग्रहण करके जंगलमें जाना और वहां कठोर तप करना पडता है। उसे अपने इन्द्रियों और मनको कठोर संयममें रखना और यहांतक कि उनकी समस्त क्रियाओंको स्तब्ध कर देना होता है। वह दूसरे प्राणियोंके लिये हितकारी भावना रख सकता है, परन्तु वह भावना शान्त, निश्चल होती है; उसे व्यावहारिक रूप देनेके लिये वह कोई स्थूल कर्म नहीं कर सकता।

÷ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२।६ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १२।७ ॥

× निर्गुणस्य दुष्प्रापत्वोक्त्यैव श्रेष्ठत्वं सूचयन् सगुणप्राशस्त्यं च शब्दतो दर्शयन्।

+ मूर्खेष्वपि कारुण्यात् पक्षपातवतः सर्वज्ञस्य युक्ततमा मताः।

⊠ ये तु मे मतमिति ज्ञानिनमात्वेनैव पश्यतो मूर्खेष्वपि कारुण्यात् पक्षपातवतः सर्वज्ञस्य युक्ततमा मता इति वदन्ति तेषां पक्षेऽस्मिन् प्रकरणे सामंजस्यं चिन्त्यम्। भगवता कारुण्यात् पक्षपातेन युक्ततमत्वेनाभिप्रेतानां भगवद्भक्तानां क्षुद्रकोपासने प्रवृत्ता इति युक्ततमा इति वस्तुवृत्त्याऽभिप्रेतस्य श्रेष्ठतमत्वस्यासिद्धेः। भाष्योत्कर्ष दीपिका ॥

यदि उसकी शारीरिक आवश्यकतायें स्वास्थ्यपर और नियमित आहारकी मांग करती हैं और ये वस्तुयें दूसरोंके साथ संबंध रखनेसे मिल सकती है तो उसे इन सबका निषेध करना होता है। यदि उसका हृदय दूसरोंके साथ सुखदु खमें सहानुभूति प्रकट करना चाहता है और उनसे प्रेमका संबंध रखना चाहता है तो इसे भी बंधनका कारण मानकर इसका परित्याग करना पडता है। वह दूसरोंको भगवान्का रूप नहीं देख सकता और न किसी कर्मको भगवान्की दिव्य क्रिया मानकर उसमें भाग ले सकता है। कारण ये सब अक्षर ब्रह्मसे दूर हैं, मायावादके शब्दोंमें मायाका प्रपंच हैं। वह नेति नेतिके मार्गका पथिक है। वह नेतिनेतिके मार्गका पथिक है। उसे अपने शरीर, प्राण, हृदय, मन सभीका दमन करना होता है।

इस मार्गके द्वारा भी साधक शान्त निश्चल कूटस्थ अव्यक्त ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह कष्टप्रद, अस्वाभाविक और टेढा मार्ग है; यह मनुष्यके लिये उच्चतम अध्यात्म लक्ष्यको प्राप्त करनेका सीधा, सरल और स्वाभाविक मार्ग नहीं हैं। ×

श्री अरविंदके दृष्टिकोणसे गीताका पुरुषोत्तम वह है जो कि इस समस्त जगत्का एकमात्र कारण है और इससे अतीत है। वह एक अंशसे निर्गुण, निष्क्रिय, कूटस्थ अचल है; परन्तु वही अपने एक अंशसे इस समस्त जगत्के व्यापारको धारण करता है। विश्वमें जो भी क्रिया होती है उसके पीछे उस समस्त भूतोंके सुहृद, प्रेमी, गुरु, माता, पिता, पितामहका हाथ रहता है। अतः पुरुषोत्तमका भक्त विश्वकी प्रत्येक घटनामें उस पुरुषोत्तमको, उसके दिव्य भावको, उसके दिव्य उद्देश्यको खोजता है। वह प्रत्येक वस्तु, प्राणी, मत्स्य, पशु, पक्षी आदिको उसका ही रूप मानता है, और वैसा मानकर उससे प्रेम करता है, प्रत्येक प्राणीकी सेवामें पुरुषोत्तमकी उपासनाका आनन्द लेता है। शत्रुमें भी भगवान्की झलक देखता है। वह अपने समस्त कर्मोंको पुरुषोत्तमकी उपासनाके रूपमें करता है और उनकी पूर्तिका भार उनके ही ऊपर छोड देता है।

इसके प्रत्युत्तर स्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् भी अपने समस्त रूपों और क्रियाओंमें अपने दिव्य रूपों, भावों और उद्देश्योंको प्रकट करते हैं, हृदयके भीतर ज्ञानरूपी प्रदीपको प्रज्ज्वलित कर अज्ञानान्धकारका विनाश करते हैं, समस्त दुःखोंसे उसकी रक्षा करते हैं, संसार सागरसे उसका उद्धार करते हैं। इस मार्गमें मनुष्यके शरीर, प्राण, हृदय, मन और बुद्धिकी क्रियाओंको निश्चय नहीं करना होता, अपितु उनकी शुद्धि और उन्नति करते हुए उन्हें परात्पर पुरुषकी खोज और सेवामें लगा दिया जाता है। अतः इसमें मनुष्यकी समस्त शक्तियोंका स्वाभाविक विकास होता है और भगवान्की अनन्त शक्ति साधकके भीतर कार्य करती हुई उसे तीव्र वेगसे परमलक्ष्यकी ओर ले जाती है। अतः यह मार्ग तीव्र वेगवाला, व्यापक और श्रेष्ठ है। +

× × ×

× At th; easiest, to reach the unmanifest Absolute they have to climb through the manifest Immutable here. This manifest Immutable is my own all-pervading impersonality and silence· vast, unthinkable, immobile, ccnstant, omnipresent, it supports the action of personality but does not share in it. It offers no hold to the mind; it can only be gained by a motionless spiritual impersonality and silence and those who follow after it alone have to restrain altogether and even draw in completely the action of the mind and senses.

These seekers too who climb through this more difficult exclusive oneness towards a relationless unmanifest Absolute find in the end the same Eternal. But this is a less direct and more arduous way, it is not the full and natural movement of the spiritualised human nature. The indefinable Oneness accepts all that climb to it, but offers no help of relation and gives no foothold to the climber. All has to be alone by a severe austerity and stern lonely individual effort. (Essays on the Gita. 35, P. 208, 209, 210, Edi. 1928.)

+ How different is it for those who seek after the Purushottama in the way of the Gita. When they meditate on him with a yoga which sees none else (अनन्येनैव योगेन), because it sees all to be Vasudeva, he meets them at every point, in every point, in every moment, at all times,

जिस प्रकार गीताने अक्षर ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा " मां " " त्वां " से निर्दिश्यमान ईश्वर पुरुषोत्तमके उपासकोंको उत्तम कहा है इसी प्रकार उसने इस अक्षरकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले फलकी अपेक्षा पुरुषोत्तमकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले फलको अग्रिम और ऊची भूमिका बतलाया है। अतः अठारहवें अध्यायमें भगवान् इस प्रकार कहते हैं, " अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रहका त्याग करके, निर्मम और शान्त होनेपर योगी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। ब्रह्मभूत होजानेपर उसे "मेरी" पराभक्ति प्राप्त होती है और इस भक्तिके द्वारा मेरे सम्पूर्ण स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है, तदनन्तर वह 'मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। *

यदि यहां पन्द्रहवें अध्यायके समान अहं मां शब्दोंका अर्थ सगुण ब्रह्म करें तो ब्रह्मभाव या निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिके अनन्तर सगुण ब्रह्मकी भक्तिका प्राप्त होना और फिर उसमें प्रवेश होना मायावादके सिद्धान्तके अनुसार असंगत है। ब्रह्मभूत शब्द पांचवें अध्याय (५-२४) में भी आया है। वहां ब्रह्मभावको प्राप्त हुए योगीको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति बतलाई है। परन्तु इस ब्रह्मभावकी प्राप्तिके अनन्तर भी गीता पुरुषोत्तमके भावको ले जाती है। वहां भगवान् कहते हैं कि जो यह जानता है कि मैं समस्त यज्ञ और तपोंका भोक्ता समस्त लोकोंका महेश्वर और समस्त प्राणियोंका सुहृद् हूं, वह शान्तिको प्राप्त करता है। मायावादके अनुसार निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्मभाव और ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्तिके अनन्तर यज्ञ और तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके शासनरूप प्रपंचमें लिप्त मायोपाधिक ब्रह्मका ज्ञान होना निकृष्ट भूमिकामें पतन है, अतः उनका अहं त्वां मां शब्दोंका सगुण सोपाधिक अर्थ करना संगत नहीं है।

चौथे अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करके समस्त भूतोंका आत्मामें दर्शन करोगे और फिर मुझमें करोगे (४।३५)। इसी प्रकार छठे अध्यायमें कहा गया है कि जिस योगीका मन शान्त हो गया है, राजसिक विकार दूर हो गये हैं, मल क्षीण हो गये हैं वह ब्रह्मभूत हो जाता है। उसे ब्रह्मका स्पर्शरूप अत्यन्त उत्तम सुख प्राप्त होता है। वह समस्त भूतोंमें आत्माका और आत्मामें समस्त भूतोंका दर्शन करता है। तदनन्तर वह सबमें मेरा दर्शन

---

with innumerable forms and faces, holds up the lamp of Knowledge within and floods with its dinine and happy lustre the whole of existence. Illumined they discern the supreme Spirit in every form and face, arrive at once through all Nature to the Lord of nature, arrive through all beings to the Soul of all being, arrive through themselves to the Self of all that they are; incontinently they break through a hundred opening issues at once into that from which every thing has its origin.

The other method of a difficult retationless stillness tries to get away from all action even though it is impossible to embodied creatures.

Here the actions are all given up to the Supreme Master of action and he as the supreme Will meets the will of sacrifice, takes from it its burden and assumes to himself the charge of the works of the divine Nature in us. And when too in the high passion of love the devotee of the Lover and friend of man and of all creatures casts upon him all his heart of consciousness and yearning of delight, then swiftly the Supreme comes to him as the saviour and deliverer and exalts him by a happy embrace of his mind and heart and body out of the waves of the sea of death in his mortal nature into the secure bosom of the Eternal. This then is the swiftest, largest and greatest way. Essays on the Gita. 35. P. 210, 211 (1928)

* अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८।५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८।५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८।५५ ॥

करता है (६।२७-३०)। जो समस्त भूतोंमें स्थिर मेरी भक्ति करता है वह इसप्रकारसे व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही निवास और व्यवहार करता है।

यहां यह स्पष्ट है कि आत्मा शब्द किसी व्यक्तिगत जीवात्माका वाची नहीं है अपितु शुद्ध आत्मा, ब्रह्मका वाची है, जिसके लिये दूसरे अध्यायमें नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अविकार्य, अविनाशी आदि शब्दोंका और बारहवें अध्यायमें अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगम, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव आदि शब्दोंका प्रयोग किया गया है। यदि यहां मां, मयि शब्दोंका अर्थ सगुण, सोपाधिक ब्रह्म किया जाय तो मायावादके अनुसार निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्मके अनुभव हो जाने और ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जानेपर, सगुण और सोपाधिक ब्रह्ममें समस्त भूतोंका दर्शन असंगत होता है। कारण उस समय मायावादके अनुसार समस्त द्वैतभाव, भेदभाव नष्ट हो जाता है, केवल शुद्ध चेतनकी अनुभूति शेष रह जाती है।

मायावादके अनुसार रज्जुमें जैसे सर्पकी प्रतीति तभीतक रहती है जबतक रज्जुका अज्ञान बना रहता है। रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्पकी प्रतीति नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मके अज्ञानके रहते हुए ही भूतोंकी प्रतीति होती है। ब्रह्मका ज्ञान होनेपर उनकी प्रतीति नष्ट हो जाती है। अतः इस स्थितिके प्राप्त हो जानेपर समस्त भूतोंका मायोपाधिक ब्रह्ममें दर्शन और उसका समस्त भूतोंमें दर्शन असंगत होता है। इसी प्रकार ब्रह्मदर्शन हो जानेपर मायोपाधिक ब्रह्मकी भक्ति भी संभव नहीं है। कारण भक्तिके लिये कुछ न कुछ भेद, कुछ न कुछ द्वैत अवश्य चाहिये। और जिसे ब्रह्मदर्शन हो गया है, जिसका द्वैतभाव सर्वथा नष्ट हो गया है और जो ब्रह्मभूत हो गया है, वह किसकी भक्ति और कैसे कर सकता है? परन्तु गीतामें भगवानसे ज्ञानीको अपना आत्मा मानते हुए भी उसमें भक्ति मानते हैं।

इसी प्रकार चौदहवें अध्यायमें भगवान् कहते है कि जो अव्यभिचार भक्तियोगके द्वारा मेरी उपासना करता है वह इन गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। और इस अमृतस्वरूप अव्यय अविनाशी ब्रह्मका आधार मैं हूं। × यहां ब्रह्मके जो अमृत अव्यय विशेषण दिये गये हैं इससे यह स्पष्ट है कि यह अक्षरब्रह्म, निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्मका वाची है। यहां बारहवें अध्यायके समान अहं शब्दका सगुण सोपाधिक ब्रह्म अर्थ होना चाहिये। परन्तु यह अर्थ करनेपर मायावादके अनुसार निर्गुण ब्रह्मका सगुण सोपाधिक ब्रह्म आधार नहीं हो सकता। इसलिये मायावादी टीकाकारोंने ब्रह्म शब्दका अर्थ सविकल्प, सोपाधिक ब्रह्म और अहं शब्दका निर्गुण, निरुपाधिक, निर्विकल्प अर्थ किया है।

परन्तु यह ब्रह्म वह है जिसकी अनुभूतिसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है। यह ब्रह्मभावकी प्राप्ति (ब्रह्मभूत, ब्रह्मभूयाय कल्पते) गीतामें अनेक स्थानोंपर कही गई है और सर्वत्र इसका अर्थ मायावादियोंने मोक्ष किया है, और स्वयं गीताने भी इसे ब्रह्म निर्वाण कहा है। + परन्तु मायावादके अनुसार मायोपाधिक ब्रह्मकी अनुभूति मोक्ष नहीं है। कारण समस्त उपाधियोंसे रहित निर्गुण, निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षत्कार हुए बिना निर्वाण या मोक्ष संभव नहीं हो सकता।

अतः उपर्युक्त अर्थ संगत नहीं होता। श्री अरविन्दकी व्याख्याके अनुसार निर्गुण, निष्क्रिय अक्षरब्रह्मका आधार, जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है, अहं मां त्वां से निर्दिश्यमान पुरुष (पुरुषोत्तम) है। इसका समर्थन मुण्डक उपनिषद्से भी हो जाता है। वहां सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर, परात्पर पुरुषको ब्रह्मकी योनि कहा गया है। * इसलिये श्री अरविन्दकी व्याख्यामें ब्रह्म और अहं मां आदि शब्दोंके अर्थोंमें परिवर्त्तन किये बिना समान रूपमें सुसंगत अर्थ लगा जाता है।

इसके अतिरिक्त भगवान् सातवें अध्यायमें कहते हैं कि, मैं समस्त जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूं। ● मुझमें यह जगत् इस प्रकार पिरोया हुआ है जैसे सूत्रमें मणियोंकी

× मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४-२६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १४।२७ ॥

+ स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति ॥ ५।२४ ॥ ब्रह्मभूयाय= ब्रह्म भवनाय। (शंकरभाष्य १८।५४)
ब्रह्म भूयाय= ब्रह्म साक्षात्काराय। (मधुसूदन सरस्वती १८।५४)

* कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक ३।२।७,८ ॥

● अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

माका। मैं इसमें इस प्रकार स्थित हूं जैसे पृथ्वीमें गंध, जलमें रस, अग्निमें तेज, वायुमें स्पर्श और आकाशमें शब्द। यहां यह स्पष्ट है कि जिस पुरुषसे ये सब पदार्थ उद्‌भूत होते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं वह मायावादके अनुसार मायोपाधिक ब्रह्म ही हो सकता है, और मधुसूदन सरस्वती आदि टीकाकारोंने यही अर्थ किया है। (अहं सर्वज्ञ सर्वेश्वरोऽनन्त शक्ति मायोपाधिः)। निर्गुण, निरुपाधिक, शुद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता, कारण वहां क्रियारूप उपाधिका लेशमात्र भी सपर्क नहीं है।

वह ब्रह्मकी शुद्ध अवस्था है, इसलिये इस मायोपाधिक ब्रह्मसे श्रेष्ठ, परा, उच्चकोटिकी अवस्था है। परन्तु गीता कहती है मुझसे परतर और कुछ भी नहीं है। यदि गीताकी दृष्टिमें इस सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयका कारण, अहं मां से निर्दिश्यमान पुरुष मायोपाधिक या मायाका पुत्र होता तो उसे यहां स्पष्टतया इससे उत्तम, परे दूसरे पुरुषको बतलाना चाहिये था। परन्तु वह ऐसा नहीं करती। इसलिये मायावादियोंका यह अर्थ संगत नहीं है। श्री अरविन्दकी व्याख्याके अनुसार इस जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाला और इसमें व्याप्त होकर इसकी स्थिति रखनेवाला वह पुरुष है जो कि क्षर भी है, अक्षर भी है और इन दोनोंसे परे भी है, अतः उससे परे कुछ भी नहीं है (मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति)। अतः मायावादी टीकाकारोंका किया हुआ उपर्युक्त अर्थ गीताके समस्त वचनोंके साथ पूर्णतया संगत होता है।

× × ×

रामानुजाचार्यने क्षर शब्दका अर्थ किया है प्रकृतिस्थ (अचित्‌संसृष्ट) जीव और अक्षरका अर्थ किया है मुक्त (अचित्‌संसर्ग वियुक्त स्वेन रूपेणावस्थितो मुक्तात्मा) जीव। उनके मतके अनुसार प्रकृति और उसके विकार क्षर शब्दके अन्तर्गत नहीं है। नि सन्देह गीतामें सर्वभूत शब्द, जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं केवल जीवोंके लिये आया है, परन्तु वह समस्त जड पदार्थों और जीवों (चर और अचर) दोनोंके लिये भी आया है।

रामानुजकी व्याख्याको स्वीकार करनेपर तीन पुरुषोंमें केवल जीव (बद्ध और मुक्त) और ईश्वरका ही समावेश होगा प्रकृति और उसके विकारोंका नहीं होगा। परन्तु गिताने सब कुछ वासुदेव है (वासुदेवः सर्वम्) ऐसा कहा है। यह वेदके "यह सब पुरुष है" (पुरुष एवेदं सर्वम्) और उपनिषद्‌के "यह सब ब्रह्म है" (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) इन वचनोंका अनुवाद मात्र है। ऐसी दशामें प्रकृति एवं उसके समस्त विकारोंको भी पुरुष मानना पडेगा और गीताके अनुसार यदि कुल तीन ही पुरुष हैं तो इनके भीतर उन्हे भी लाना पडेगा। ऐसा करनेपर हम यह मान सकते हैं कि गीताने, तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे, जो कुछ भी विश्वके भीतर और बाहर है वह सब तीन पुरुषोंके अन्तर्गत कर दिया है, जैसे कि सांख्यने अपने मतके अनुसार समस्त प्राकृतिक विकारों और असंख्य जीवोंको केवल पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वोंके भीतर कर लिया है। परन्तु रामानुजकी व्याख्यामें प्रकृति और उसके विकार किसी भी पुरुषकी श्रेणीमें नहीं आते। अतः रामानुजकी व्याख्या गीताकी उच्चकोटिकी दार्शनिकतातक नहीं पहुंच पाती। उसका तीन पुरुषोंका अर्थ अपूर्ण रह जाता है।

दूसरे रामानुजाचार्यने अक्षरका अर्थ किया है मुक्त जीव। यह अर्थ सांख्यके व्यष्टि अक्षरको ग्रहण करता है, अतः सांख्य मतके अनुकूल है। परन्तु गीताका अक्षर तो वह भी है जो कि उपास्य है, पुरुषोत्तमका परं धाम है, परमागति है। इसे ब्रह्म कहा गया है (अक्षरं ब्रह्म परमम्)। यह सर्वगत है, सर्वज्ञ (कवि), सबका धारण करनेवाला (सर्वस्य धाता) है। गीताके अक्षरमें मुक्तात्मा और ब्रह्म दोनोंका भाव है। रामानुजाचार्यके मतके अनुसार जीव भगवान्‌का एक अंशमात्र है, मुक्त होजानेपर उसमें कुछ दिव्य गुण तो अवश्य आजाते हैं परन्तु विश्वको उत्पन्न और धारण करने जैसे गुण नहीं आते। वह अणु परिमाण होता है विभु या सर्वव्यापी नहीं होता। अतः रामानुजाचार्यने जो अक्षरका अर्थ केवल मुक्तात्मा किया है वह अपूर्ण है और गीताके व्यापक अर्थके पूर्णतया अनुकूल नहीं है।

इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्यके मतके अनुसार ईश्वर करुणा, उदारता, सत्यसंकल्पत्व सर्वज्ञता आदि अनन्त कल्याणकारी गुणोंसे विशिष्ट है। वे उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं, इसलिये वह सगुण ब्रह्म कहा जाता है। यहां निर्गुणताका अर्थ होता है हिंसा, क्रूरता आदि अहितकारी गुणोंका अभाव। अतः गीतामें अव्यक्त, अचिन्त्य, अनि-

देश्य, कूटस्थ, अचल आदि शब्दोंसे जिस निर्गुण और निष्क्रिय ब्रह्मका निर्देश है और जिसे उपनिषदोंने नेति नेति कहा है उसके लिये रामानुज व्याख्यामें कोई स्थान नहीं है। और गीताके पुरुषोत्तम, ईश्वरमें इन समस्त गुणोंके होते हुए भी इनसे अतीत होनेका, विश्वसे अतीत होनेका जो भाव है वह भी रामानुज व्याख्यामें नहीं है। श्री अरविन्दके दृष्टिकोणसे यह निर्गुण, निष्क्रिय ब्रह्म भी उस पुरुषोत्तमका ही एकरूप है। जो समस्त गुणोंका निधान होते हुए इनसे परे भी रहता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनाके अनुसार हम यह भली भांति देख सकते हैं कि गीताके क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम इन तीन पुरुषोंके स्वरूपका प्रतिपादन जैसा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और उनके अनुयाइयोंने किया है उसकी अपेक्षा श्री अरविन्दका प्रतिपादन अधिक संगत, समंजस, युक्तियुक्त एवं पूर्ण है और गीताकी विचारधाराके अधिक अनुकूल है।

मुक्तात्माकी मुक्तवाणी

(लेखक : एक सत्संगप्रेमी)

प्रश्न- धर्मसंकट आनेपर कर्तव्यका क्या स्वरूप होना चाहिये ?

उत्तर- जहां असत्यको सत्य समझनेकी भ्रान्ति है वहीं धर्मसंकट है। सत्य असत्यको विचारकर सत्यको अपनाते रहना ही जीवन या धर्म है। इस दृष्टिसे जीवनके प्रत्येक क्षणको धर्मसंकट समझना चाहिये और प्रत्येक क्षण सत्या-सत्यका विचार करके सत्यको ही अपनाते रहना चाहिये। धर्मसंकट नामवाली किसी विशेष घटना या परिस्थितिका सामना करनेकी तय्यारी करनेका कोई अर्थ नहीं है। प्रत्येक क्षण सत्यासत्य विचारकी कसौटी यही है कि, मनुष्य भौतिक लाभालाभकी ओर उपेक्षादृष्टि रखता हुआ मुख्यरूपसे मनकी निर्विकार अप्रभावित स्थितिकी रक्षा करता रहे। यदि तुम सत्यासत्य विचार करके सत्यकी रक्षाके लिये भौतिक लाभालाभोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते तो तुम्हारे सत्यासत्य विचारका कोई अर्थ नहीं है। सत्य सदा भौतिक लाभालाभोंकी सुदृढ उपेक्षासे ही पालित होता है। सत्य-का अर्थ ही प्रत्यक्ष हानि (नकद नुकसान) उठाना है। प्रत्यक्ष हानि उठाये बिना सत्य नहीं पाला जा सकता। सत्यको त्यागकर प्रत्यक्ष लाभ उठाना ही असत्य है। असत्यसे भौतिक लाभ होता है। उससे जो भौतिक लाभ होता है वही तो मूढ मानवको अपनी ओर आकृष्ट करता है।

प्रश्न- षड्रिपुका सामना कैसे करना चाहिये ?

उत्तर- रिपु एक ही है छः नहीं। एक ही रिपुके परि-स्थिति भेदसे छः नाम रख लिये गये हैं। उस रिपुका नाम 'मनकी अशुद्धता' है। भौतिक सुखोंकी इच्छा अर्थात् लालच ही मनकी अशुद्धता है। इसीका नाम काम है। यही परिस्थितिके अनुसार क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदिका रूप धारण कर लेता है। सन्तोंकी भाषामें जहां राम रहता है वहां काम नहीं रहता। राम और कामका अनादि अनन्त झगडा है। रामचिन्तन ही कामरिपुका दमन करनेवाला एकमात्र ब्रह्मास्त्र है। रामचिन्तनका अर्थ आग्रहपूर्वक अपने मनकी शुद्धताकी रक्षा करते रहना है। राम शब्द मानवमनकी शुद्धताका ही प्रतीक है। मैं शुद्ध हूं, मैं पतित नहीं हो सकता इस भावनाको प्रत्येक समय जगाकर रखना ही मनकी शुद्धताकी रक्षा करना कहाता है। हमारी शुद्ध-ताका अर्थ यह समझ जाना ही है कि, हममें किसी बातका अभाव नहीं है। हम पूर्ण हैं हम अधूरे नहीं हैं। हम अभ्रान्त हैं, हम भ्रान्त नहीं हैं। हम आनन्दस्वरूप हैं, हम दुःखी नहीं हैं। संसारके रूपरसादिमें हमें प्रभावित करनेकी शक्ति नहीं है।

प्रत्येक समय इस प्रकारके शुभचिन्तनको जाग्रत रखना ही जपतप, योग, ध्यानधारणा, समाधि या मुक्ति है। यही राम है। यही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। यही हमारा अपना स्वरूप है। इसीका दर्शन करते रहनेसे संसारके समस्त भौतिक विषयोंमें उपेक्षाबुद्धि पैदा हो जाती है। यह शुभ-चिन्तन एक प्रकारका जप है जो सच्चे मानवके जीवनमें प्रत्येक क्षण चलता रहता है। अपनी रुचिके अनुसार प्रत्येक क्षण इस शुभचिन्तनपर जपके साधन ईश्वरतत्वके द्योतक किसी भी नामका जप करते रहना चाहिये। जैसे रीते घरोंमें चमगादड रहती है इसी प्रकार कामादि रिपु शुभचिन्तन-हीन या नामजपहीन मनोंमें ही वास करते हैं। इन रिपुओंसे बचना हो तो जीवनभर शुभचिन्तनकी अनन्त आवृत्ति करते रहना पडेगा। अपने जीवनको कामादि रिपु-ओंसे अनाक्रान्त रखनेका अन्य कोई मार्ग नहीं है। कामादि रिपु मनको शुभचिन्तनसे भरा पाकर भरी सरायसे लौट जानेवाले यात्रियोंके समान छोडकर चिन्तनहीन सूने मनोंको मैला करनेके लिये उनमें जा बसते हैं।

प्रश्न- हम वैद्य हैं, हमारे पास अमीर, गरीब, अच्छे, बुरे, वेश्या आदि सब ही आते हैं। सबमें रामभावना कैसे करें ?

उत्तर- प्रश्नसे प्रकट हो रहा है कि यदि भांतिभांतिके मनुष्य न आकर एक ही प्रकारके लोग आते होते तो उनमें राम देखनेमें समर्थ हुआ जा सकता था। क्या भांतिभांतिके

लोगोंका आना प्रश्नकर्ताके रामदर्शनकी रुकावट है ? नहीं नहीं, मेरी सम्मतिमें तो प्रश्नकर्ताके रामदर्शनमें रुकावट बाहरी किसी व्यक्तिका अमीर, वेश्या आदि होना नहीं है। यदि किसी दूसरे व्यक्तिका पतित या हमारी रुचिके विरुद्ध होना हमारे रामदर्शनकी रुकावट हो तो यह भला राम-दर्शन हुआ। तब तो समझना चाहिये कि रामने हमें पतित या पवित्र बनानेका कर्तृत्व दूसरोंको सौंप दिया। हमें दूसरोंको सौंप देनेवाला यह कैसा राम हुआ? यह एक असंभव कल्पना है। वास्तविकता यह है कि हम अपने आप ही पवित्र या पतित होते हैं। हमारा राम और उसका दर्शन करनेवाला दोनों ही हमारे भीतर हैं। हमारा राम हमसे बाहर नहीं है। रामको देखनेवाली मानसिक स्थिति भी हमारे ही भीतर है। परन्तु वह भस्माच्छादित अग्निके समान अज्ञानाच्छादित रहती है।

यदि हम अपने भीतर रहनेवाले रामदर्शन करनेवाली स्थितिको अज्ञानसे मुक्त कर लें तो निश्चय ही हमें बाहर कहीं भी रामके अतिरिक्त कुछ न दीखेगा। मानवका अज्ञान या संसारके रहस्यका अपरिचय इस रामदर्शनी स्थितिको ढके रखता है। मानवको रामदर्शनी स्थितिको प्रकट न होने देनेवाले अपने अज्ञानको पहचान लेना और उसे परस्पर करना चाहिये। चाहे आपको एक ही कमण्डलु गंगाजल पीना हो तो भी तो आपको सम्पूर्ण गंगासे सम्बन्ध जोडना ही होगा। जैसे संपूर्ण गंगासे कोई संबन्ध न रखकर केवल एक कमण्डलु गंगाजल पीनेकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है ठीक इसी प्रकार सर्व भूतोंमें रामदर्शनकी कलाको प्राप्त किये बिना उससे अपनी घनिष्ठ सम्बन्ध जोडे बिना किसी विशेष पात्रमें रामदर्शन करना असंभव है। अपने कम-ण्डलुको गंगाजीमें पूरा डुबाकर ही एक कमण्डलु जल लाना संभव है। जिसे एक कमण्डलु गंगाजलकी आवश्यकता है। मानना पडेगा कि उसे सम्पूर्ण गंगाकी आवश्यकता है, उसका संपूर्ण गंगाके बिना काम चल ही नहीं सकता। जिसे पतित समझे जानेवालोंमें रामदर्शनकी आवश्यकता अर्थात् रामदर्शनमें कठिनाई अनुभव हो रही है समझना चाहिये कि उसे सर्व भूतोंमें ही रामदर्शनमें कठिनाई या-आवश्यकता है।

पहले सर्व भूतोंमें रामदर्शन करना होगा तब ही व्यक्ति विशेषोंमें रामदर्शन संभव होगा। पहले सर्व भूतोंमें राम-दर्शन न करके किसी व्यक्तिविशेषके देहमें, किसी मूर्तिमें किसी मन्दिरमें, किसी ईश्वरीय रूपविशेषमें, किसी अनुष्ठानमें, किसी जपतप, ध्यानधारणा आदिमें रामदर्शन करना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। जो कहता है कि मुझे असाधु चरित्रहीन सर्व व्याघ्रादिमें रामदर्शन नहीं होता तो समझना चाहिये कि उसे साधु महात्मा समझे जानेवालोंमें भी ईश्वर-दर्शन नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें उसे तो ईश्वरमें भी ईश्वर-दर्शन नहीं होता। उसके लिये कोई ईश्वर नहीं है। यदि कोई कहे कि, मैं अपने मातापिताको तो भगवान समझ-कर पूजा सकता हूं, परन्तु पत्नीको भगवान् समझकर नहीं पूज सकता उसे तो मैं भोग्यके अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझ सकता, तो समझना चाहिये कि वह मातापिताको भी योग्य अर्थात् साधनके उपकरणके अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझ सकता।

बात तो यह है कि किसी भी व्यक्ति या वस्तुको संपूर्ण विश्वसे अलग करके रामरूपसे देखना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। संपूर्ण विश्वको तो रामरूपमें देखा जा सकता है, परन्तु कुछ विशेष व्यक्तियोंको छांटकर उन्हें राम-रूपमें नहीं देखा जा सकता। रामदर्शनके लिये तो मनुष्यको अपनी दृष्टिमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना ही पडेगा। उसे अपनी अज्ञानकालीन संपूर्णकी संपूर्ण दृष्टि बदल देनी पडेगी। संपूर्ण दृष्टिको बदल देनेसे ही संपूर्ण विश्वमें तथा व्यक्ति-विशेषमें ईश्वरदर्शन संभव होगा। अपनी दृष्टिको शुभ दृष्टि बना लेनेसे ही सर्वत्र शुभदर्शन अर्थात् रामदर्शन हो सकता है।

अपनी दृष्टिको राममयी बनाये बिना उसे रामके सच्चि-दानन्दमय रंगमें रंगकर उदार बनाये बिना बाह्यमें राम-दर्शन असंभव है। रामदर्शन पदार्थाधीन दर्शन नहीं है। यह तो हृदयधीन दर्शन है। शुभचिन्तन ही शुभदर्शन या रामदर्शनका उत्स (झरना) है। मनकी शुद्धता ही शुभ-चिन्तनका अर्थ है। अपना मन शुद्ध हुए बिना बाहरसें राम-दर्शन संभव नहीं है। मनकी शुद्धता बाहरसे उधार लेनेकी वस्तु नहीं है, मनकी शुद्धता मनुष्यका जन्मसहचर स्वाभाविक धन है। जैसे सूर्यके साथ अन्धकारनाशिका शक्ति स्वभावसे लगी हुई है, इसी प्रकार मानवके लिये यह

*

बड़ा ही शुभसमाचार है कि, अज्ञाननाशिका शुभचिन्तारूपी दैवी संपत्तिके साथ ही जन्म लिया करती है। शुभचिन्ताकी धारा ज्ञानसूर्योद्भासित गंगाकी धाराकी भांति मानवमनमें स्वभावसे ही विद्यमान है।

जो मनुष्य सूर्य या गंगासे विमुख होकर कह रहा हो कि, मुझे सूर्य या गंगाका दर्शन करादो तो समझलो कि वह आंख बन्द करके सूर्य और गंगाजीको न देखनेका हठकर बैठा है। इसी हठका नाम अज्ञान है। जबतक मानव अपने आप अपनी ही अन्तःप्रेरणासे अपनी हठ नहीं छोडेगा तबतक उसे ब्रह्मा भी सूर्य या गंगाजीका दर्शन नहीं करा सकता। ज्योंही मानव रामकी कृपासे इस हठको छोड देगा त्योंही उसकी दृष्टिमें ज्ञान सूर्योद्भासित गंगाकी धारा सदाके लिये प्रकट हो जायगी।

अज्ञानरूपी हठको छोड देनेवाले मनुष्यकी यह पहचान होगी कि उसका मन निरन्तर इस शुद्ध भावनासे मुखरित हो उठेगा। वह निम्नभावनाशिका विजय डिण्डिम बन जायगा कि, मैं पूर्ण हूं, मैं अभ्रान्त हूं और मैं आनन्दस्वरूप हूं। जिस सौभाग्यशालीके मनमें सर्वभूतमें रामदर्शन करनेका आग्रह जाग उठा हो, समझलो कि उसके मनमेंसे रामकी अचिन्त्य कृपासे रामदर्शन न करनेका दुराग्रह (हठ) हट गया है। उसे अब केवल इतनी आवश्यकता है कि, वह सन्तनिर्दिष्ट रामचिन्तनको अपना अठपहरिया साथी बना ले और रामकी इस अनाद्यनन्त सृष्टिरूपी दिव्य क्रीडाका अभिन्न सहचारी मित्र बनकर रहने लगे।

प्रश्न- अपनी इच्छासे कैसे सो सकते और कैसे जाग सकते हैं ?

उत्तर- आप सबसे पहले इतना जान लीजिये कि, अपनी इच्छासे सो या जाग सकनेके साथ आध्यात्मिकता या ईश्वरदर्शनका कोई संबन्ध नहीं है। रेलके यात्री गाडीपर सवार होकर रामके भरोसे सो जाते हैं और अपना स्टेशन आनेसे पहले जागकर गाडीसे उतरनेके लिये सन्नद्ध हो जाते हैं। उनके सो जानेपर भी रामनामक अदृश्य शक्ति उनकी चिन्ता रखती है। इस प्रकारकी समस्त भौतिक चिन्तामें रामके आसरे छोड देनी चाहिये और रामचिन्तन करना चाहिये।

—प्रेषक : श्री रामावतारशास्त्री

(संस्कृत प्रचारार्थं)

नवसूत्रीय सक्रिय प्रतिज्ञापत्रम्।

अहं स्वेष्टदेव श्री ____________ साक्ष्यं कृत्वा संस्कृतस्य लोक-व्यवहार-भाषारूपेण प्रचालनार्थं निम्नाङ्कितां प्रतिज्ञां करोमि।

१- संस्कृतज्ञैः सह संस्कृत एव वदिष्यामि।
२- संस्कृतज्ञैः सह संस्कृत एव पत्रव्यवहारं करिष्यामि।
३- स्वपरिवारे कुटुम्बिजनैः सह संस्कृतेनैव व्यवहरिष्यामि।
४- स्वकीय-संस्कृतज्ञ-छात्रान् संस्कृत एव पाठयिष्यामि।
५- अहं प्रतिदिनं ________ समयतः ________ समयं यावत् सर्वैः सह संस्कृतेनैव व्यवहरिष्यामि।
६- स्वकुटुम्बिजनेषु संस्कृत-संभाषणस्य प्रचारं करिष्यामि।
७- स्वकुटुम्बि-जनातिरिक्तं मित्रमण्डलस्यापि संस्कृतशिक्षणार्थं प्रयत्नं करिष्यामि।
८- संस्कृतस्य प्रचाराय प्रतिदिनं ____________ समयं निशुल्कं दास्यामि।
९- संस्कृत-प्रचारार्थं प्रतिमासं ____________ धनं ________ दास्यामि।

ह० ____________

पत्रव्यवहार सङ्केतः ____________

दि० ________ १९५ ____

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २८

[गताङ्कसे आगे]

अतिमन, मन और अधिमन माया

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान् ।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम् ॥ ऋग्वेद ५।६२।१ ॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
पूषन्नेकर्षे ··· ' व्यूह रश्मीन्समूह । ' ' यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ ईशोपनिषद् १५।१६ ॥
ऋतं, सत्यं, बृहत् । अथर्ववेद १२।१।१
अभवत् ··· ··· सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किं च ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥ २।६

एक ध्रुव, एक सत्य है जो कि सत्यसे छिपा हुआ है, जहां सूर्य अपने अश्वोंको विमुक्त करता है। वह जो एकमेव है उसकी दस-सहस्र किरणें एक साथ आईं। मैंने देवोंके अत्यन्त ज्योतिर्मय रूपोंको देखा।

सत्यका मुख सुनहरे ढकनेसे ढका हुआ है; हे पोषक सूर्य! सत्य धर्मके लिए, दृष्टिके लिए, उसे हटा। हे सूर्य! हे एक ऋषि! अपनी किरणोंको व्यवस्थित कर, उन्हें एक साथ इकट्ठा कर,— मैं तुम्हारे परम आनन्दमय रूपको देखूं; वह चेतन पुरुष सर्वत्र है, वही मैं हूं।

ऋत्, सत्य, बृहत्।
वह सत्य और अनृत दोनों हुआ। वह सत्य हुआ और जो कुछ भी यह है वह सब भी हुआ।

एक विषय जिसे हमने अभीतक अन्धकारमें छोड रखा है स्पष्ट करना शेष है, वह है अज्ञानमें पतनकी विधि; कारण हम देख चुके हैं कि मन, प्राण और भौतिक द्रव्यकी मूक प्रकृतिमें कुछ भी ऐसा नहीं है कि जिस कारण ज्ञानसे पतन आवश्यक हो। निःसन्देह यह दिखलाया जा चुका है कि, चेतनाका विभाग अज्ञानका आधार है। यह विभाग है व्यक्तिगत चेतनाका उस विश्वचेतना और परात्पर चेतनासे जिसका कि वह अब भी एक अन्तर्तम अंग है, साररूपमें उससे अपृथक्-करणीय है; मनका अतिमानस सत्यसे विभाग जिसका कि वह एक उपाश्रित कार्य होना चाहिये; प्राणका उस आद्याशक्तिसे विभाग जिसका कि वह एक शक्तिरूप है; भौतिक द्रव्यका उस मूल सत्तासे विभाग जिसका कि वह एक द्रव्य-रूप है।

परन्तु यह विषय अभी भी स्पष्ट करना अवशिष्ट है कि, अविभक्ततामें यह विभाग कैसे हुआ, सत्पुरुषमें चित्शक्तिके किस विशिष्ट आत्म-क्षयी या आत्म-विलोपी कर्मसे हुआ; कारण चूंकि सब कुछ उस चित्शक्तिका ही व्यापार है। अतः अज्ञानका यह क्रियात्मक और बलशाली प्रपञ्च स्वयं चित्शक्तिके किसी ऐसे कर्मसे ही उत्पन्न हो सकता है, जोकि स्वयं उसके पूर्ण प्रकाश और बलको आवृत्त कर दे। परन्तु इस समस्याकी विवेचनाको उस अवसरके लिए स्थगित किया जा सकता है जब कि हम ज्ञान-अज्ञानके द्विविध रूपको अधिक समीपतासे परीक्षा करेंगे; ज्ञान-अज्ञानका यह द्वैत रूप हमारी चेतनाको प्रकाश और अन्धकारका एक मिश्रण अतिमानस सत्यके पूर्ण दिवस और भौतिक अचेतनाकी रात्रीके मध्यमें अर्ध-प्रकाश-रूप बनाता है। इस समय तो केवल इस विषयको ध्यानमें रखना आवश्यक है कि चेतन पुरुषके मूल स्वभावमें ही यह बात होनी चाहिये कि वह अपनी एक विशेष क्रिया और अवस्थापर अनन्य एका-

ग्रता करता है, यह एकाग्रता ऐसी है कि जो शेष समस्त चेतना और सत्ताको पीछे रख देती है और उसे उस एक क्रियाके इस आंशिक ज्ञानसे ढक देती है।

तथापि इस समस्याका एक पक्ष ऐसा है कि जिसपर तुरन्त विचार होना आवश्यक है, वह है- मन जैसा कि हम उसे समझते हैं और अतिमानस ऋत्, चित् जिसका कि मन अपने मूल स्वरूपमें एक उपाश्रित कर्म है, इन दोनोंके बीचमें उत्पन्न की हुई खाई। कारण यह खाई काफी चौडी है और यदि चेतनाके दो स्तरोंके मध्यमें क्रम सोपान नहीं हैं तो एकसे दूसरेमें संक्रमण, चाहे आत्माका भौतिक द्रव्यमें अवतरण करते हुए अन्तर्भाव रूप हो चाहे भौतिक द्रव्यमें छिपी हुई भूमिकाओंका आत्माकी ओर गति करनेवाला विकास-रूप हो, यदि असंभव नहीं तो अत्यधिक असंभाव्य अवश्य प्रतीत होता है।

कारण मन जैसा कि हम उसे जानते हैं, अज्ञानका (अज्ञानमय) एक शक्तिरूप है; यह ऐसा शक्तिरूप है कि जो सत्यकी खोज करता है; उसे पानेके लिए कठिनाईसे अन्धकारमें टटोलता है; वह उस सत्यके केवल मानस निर्माणों और प्रतिरूपों (चित्रणों) को शब्द और भावके रूपमें, मानस ज्ञानों और इन्द्रिय ज्ञानोंके रूपमें प्राप्त करता है; यह ऐसा है मानो किसी सुदूरवर्ती परमार्थ तत्त्वके केवल चमकदार या छायादार चित्रों या चलचित्रोंको ही ग्रहण करना उसकी सामर्थ्यमें हो, इससे अधिक नहीं।

इसके विपरीत, अतिमन सत्यपर अपना वास्तविक और स्वाभाविक अधिकार रखता है और इसकी परमार्थ सृष्टियां परमार्थ तत्त्वके ही रूप हैं, निर्माण, प्रतिरूप अथवा संकेतात्मक आकार नहीं है। नि:सन्देह हमारे भीतर विकासमान मन इस प्राण और देहके अन्धकारमें लिपटा होनेके कारण अवरुद्ध है, आद्य मानस तत्त्व जो कि अन्तर्भाव-पथका अवलम्बन नीचे करके अवतीर्ण होता है, एक महत्तर शक्तिवाला पदार्थ है, किन्तु हम उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं कर सके हैं; वह अपने क्षेत्र या प्रदेशमें स्वतंत्रतापूर्वक क्रिया कर सकता है; वह ऐसी अधिक अन्तःप्रकाशक रचनाओंका, ऐसी अधिक सूक्ष्म अन्त स्फुरित आकारोंका, अधिक सूक्ष्म और सार्थक मूर्तरूपोंका निर्माण कर सकता है जिनमें सत्यकी ज्योति विद्यमान है और प्रत्यक्ष-ग्राह्य है।

परन्तु यह मन भी अपने स्वभावगत कर्ममें हमारे विकासशील मनसे मौलिक भेद नहीं रखता; कारण यह मन भी अज्ञानगत रूप है, ऋत् चित्‌का अपृथक् अंश नहीं है। सत्पुरुषकी अवतरण और आरोहण करती हुई क्रमपरम्परामें कहीं न कहीं चेतनाकी एक ऐसी मध्यवर्ती शक्ति और ऐसा स्तर, संभवतः इससे कुछ अधिक, कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जो मौलिक सृजन-शक्ति रखता हो; यह ऐसा होना चाहिये कि जिसके द्वारा ज्ञानवाले मनसे अज्ञानवाले मनमें अन्तर्भावात्मक संक्रमण संभव हुआ और जिसके द्वारा फिर विपरीत संक्रमण बुद्धिगम्य और संभव होता है। अन्तर्भावात्मक संक्रमणके लिए इस शक्तिके मध्यमें विद्यमान होनेको न्यायगत आवश्यकता है और विकासात्मक संक्रमणके लिये व्यावहारिक आवश्यकता है।

कारण विकासमें नि:सन्देह अमूल संक्रमण हैं, इसमें अनियत शक्तिसे गठित भौतिक द्रव्यमें, निर्जीव भौतिक द्रव्यसे प्राणमें, अवचेतन या अवमानस (प्राण) से प्रत्यक्ष, संवेदन और कर्म करनेकी क्षमता रखनेवाले प्राणमें संक्रमण होता है, इसमें आदिकालीन पशुमनसे ऐसे विचारशील, तर्कशील मनमें संक्रमण होता है जोकि प्राणका निरीक्षण और शासन करता है और स्वयं अपना भी निरीक्षण करता है, एक स्वतंत्र तत्त्वके रूपमें कर्म करनेकी सामर्थ्य रखता है और यहांतक कि अपनेसे अतीत होनेके लिए सचेतनतया प्रयास कर सकता है। परन्तु ये उछालें, यद्यपि काफी लम्बी हैं तथापि कुछ सीमातक, धीरे धीरे प्रकट होनेवाली ऐसी क्रमिक भूमिकाओंके द्वारा तैयार की जाती है कि जिनके कारण ये बुद्धिगम्य और सुसाध्य हो जाती हैं। इनके मध्यमें कोई ऐसी अत्यधिक चौडी खाई नहीं हो सकती जैसी कि अतिमानव ऋत्-चित् और अज्ञानगत मनके बीचमें प्रतीत होती है।

परन्तु यदि ये मध्यवर्ती क्रमिक भूमिकायें हैं तो यह स्पष्ट है कि ये मानव मनके लिए अतिचेतन होनी चाहिए; कारण मन अपनी साधारण अवस्थामें सत्ताकी इन उच्च भूमिकाओंमें लेशमात्र भी प्रवेश करता नहीं जान पडता। मनुष्य अपनी चेतनामें मनके द्वारा और यहांतक कि मनकी एक निर्धारित विस्तार सीमा या मापकके द्वारा परिच्छिन्न है। जो उसके मनसे नीचे है, चाहे वह अव-

मानस हो या मानस किन्तु उसके मापकसे नीचा है वह उसे सरलतासे अवचेतन या पूर्ण अचेतनसे अभिन्न जान पड़ता है। जो उसके मनसे ऊपर है वह उसके लिए अति-चेतन है और वह उसे ज्ञान-शून्य, एक प्रकारका अप्रकाश अचेतन मानता है। मनुष्य एक विशेष परिमाणके भीतर ही शब्दों या तरंगोंको ग्रहण कर सकता है; जो कुछ उस परिमाणसे ऊपर या नीचे है वह उसके लिए अश्रोतव्य और अदृश्य होता है अथवा कमसे कम उसमें वह विवेक नहीं कर सकता; ऐसे ही उसकी मानसिक चेतनाके परिणामके विषयमें भी है।

इसकी ऊपर और नीचे दोनों ओर एक सीमा है जिससे बाहर जानेमें वह असमर्थ है। पशु यद्यपि उसके समान नहीं है किन्तु उसका मानस सगोत्र है; मनुष्य उसके साथ भी संसर्गके पर्याप्त साधन नहीं रखता, मनुष्य अपनेमें या अपने जातिवालोंमें जिन गुणोंको देखता है उसकी अपेक्षा पशुमें भिन्न प्रकारके या संकुचित होते हैं, इस कारण वह यह कहनेका भी साहस करता है कि पशुमें मन या यथार्थ चेतना (चेतन) नहीं है। वह अवमानव सत्ताओंका बाहरसे निरीक्षण कर सकता है, किन्तु उसके साथ लेशमात्र भी भाषणादिके द्वारा भावोंका आदान प्रदान अथवा उसकी प्रकृतिमें घनिष्ठतया प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार उसकी दृष्टिमें अचेतन एक ऐसी बंद पुस्तकके समान है जिसमें केवल अलिखित पृष्ठ ही हो सकते हैं।

अतः प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत होगा कि मानो चेतनाकी इन उच्च भूमिकाओंसे संपर्क करनेका उसके पास कोई साधन नहीं है; यदि ऐसा ही हो तो वे भूमिकायें जोड़नेवाली श्रृंखलाओं या पुलोंका कार्य नहीं दे सकतीं और मानव विकास मनुष्यकी अभीतक प्राप्त हुई मानसिक भूमिकापर ही समाप्त हो जायगा, इससे आगे नहीं बढ़ सकेगा; प्रकृतिने इन सीमाओंको बनाकर उसके ऊर्ध्वगामी प्रयासपर 'समाप्त' शब्द लिख दिया है।

परन्तु जब हम अधिक समीपतासे अवलोकन करते हैं तो देखते हैं कि यह मनुष्यकी साधारण स्थिति धोखा देनेवाली है और वस्तुतः ऐसी अनेक दिशायें हैं जिनमें मानव मन अपनेसे परे पहुंच जाता है, अपनेसे अतीत होने लगता है। ये संक्षेपमें संपर्ककी आवश्यक रेखायें अथवा ऐसे आवृत या अर्ध-आवृत मार्ग हैं जोकि उसे (मनको) अपने आपको अभि-व्यक्त करनेवाले आत्माकी चेतनाकी उच्च श्रेणियोंके साथ जोड़ती हैं।

प्रथम, हम यह देख चुके हैं कि अन्तर्भाव मानव ज्ञान-साधनोंमें क्या स्थान रखता है, और अन्तर्भाव इन उच्च भूमिकाओंके स्वभावसिद्ध कर्मका अज्ञ मनमें प्रक्षेप है। यह सत्य है कि मानव मनमें उसका कर्म हमारी साधारण बुद्धिके हस्तक्षेपोंसे अधिकतर छिपा रहता है, हमारे मानस व्यापारमें शुद्ध अन्तर्भावका होना एक दुर्लभ घटना है; कारण इस नामसे प्रायः हमारा अभिप्राय होता है साक्षात् ज्ञानका वह बिन्दु जोकि सीधे पकड़ लिया जाता है और मानस-ज्ञान जिसपर अपना लेप चढ़ा देता है, इस कारण वह अन्तर्भाव बौद्धिक या मानस ज्ञानके पिंडमें एक अदृश्य अथवा अतिसूक्ष्म केन्द्रमात्र होता है। अथवा, दूसरी ओर, इससे पहले कि अन्तर्भावकी प्रभाको अपने आपको अभि-व्यक्त करनेका अवसर मिले, कोई तीव्रगामी अनुकरणशील मानस क्रिया, मानस अन्तर्दृष्टि अथवा शीघ्रगामी मानस प्रत्यक्ष अथवा विचारकी कोई तीव्र-उछलवाली क्रिया उसका स्थान ग्रहण कर लेती है या उसमें बाधा डालती है; ये सब वस्तुएं आनेवाले अन्तर्भावकी उत्तेजनासे प्रकट होती हैं किन्तु उसके प्रवेशको रोकती हैं या मानस संकेतसे उसे ढक देती हैं।

यह मानस संकेत सत्य भी हो सकता है और मिथ्या भी। किन्तु किसी भी अवस्थामें शुद्ध अन्तर्भावकी क्रिया नहीं होती। परन्तु फिर भी तथ्य कि ऊपरसे हस्तक्षेप होता है, यह तथ्य कि हमारे सम्पूर्ण मौलिक विचार या वस्तुओंके प्रामाणिक प्रत्यक्षके पीछे कोई आवृत, अर्ध आवृत या शीघ्र अनावृत हुआ अन्तर्भावका अंश है। इस बातको स्थापित करनेके लिए पर्याप्त है कि मन और जो मनसे ऊपर है इन दोनोंमें संबंध है। यह (अन्तर्भाव) उच्च श्रेणीके अध्यात्म स्तरोंमें संसर्ग और प्रवेशका मार्ग खोलता है। व्यक्तिगत अहंकारकी परिच्छिन्नतासे अतीत होनेके लिए, एक विशेष निर्व्यक्तित्व और वैश्वभावमें वस्तुओंको देखनेके लिए मनसे बाहर गमन भी है। निर्व्यक्तित्व वैश्व आत्माका पहला स्वभाव है; विश्वात्मकता (वैश्वभाव), किसी एकमात्र या परिच्छिन्न करनेवाले दृष्टिकोणसे परिच्छिन्न न होना, वैश्व प्रत्यक्ष और ज्ञानका स्वभाव है।

अतः यह प्रवृत्ति मनके इन सीमित क्षेत्रोंको, चाहे अपूर्ण

रूपमें ही सही, वैश्वस्वभावकी ओर विस्तृत करती है; यह उन्हें ऐसे गुणकी ओर विस्तृत करती है जोकि उच्च मनके स्तरोंका स्वभाव है- उस अतिचेतन वैश्व मनकी ओर विस्तृत करती है जोकि, जैसा कि हमने संकेत किया है, वस्तुओंके स्वभावके अनुसार वह आदि मानस कर्म होना चाहिये कि जिसका हमारा मन एक उद्भुत और निम्न श्रेणी का कार्य है, और फिर, ऊपरसे हमारी मानस सीमाओंमें प्रवेशका सर्वथा अभाव नहीं है। प्रतिमाके कार्य यथार्थमें इस प्रवेशके ही परिणाम हैं. प्रतिमाके कार्य, नि सन्देह आवरण सहित हैं, कारण उच्च चेतनाकी ज्योति संकुचित सीमाओंके भीतर क्रिया करती है, वह बहुधा एक विशेष क्षेत्रमें, अपनी नैसर्गिक शक्तियोंके किसी नियमित व्यवस्थित पृथक् गठनके बिना, निश्चय ही अनेक बार सर्वथा असमुचित रूपमें, बहकी हुई और अतिसाधारण या असाधारण अनुत्तरदायी शासनके साथ क्रिया करती है।

इसके अतिरिक्त उच्च चेतनाकी यह ज्योति मनमें प्रविष्ट होकर अपने आपको मानस-द्रव्यके आधीन और अनुकूल कर देती है; इस कारण केवल परिवर्तित या क्षीण क्रिया-शक्ति ही हमतक पहुंचती है, जिसे हम अपनेसे परे अधि-शीर्ष चेतना कह सकते हैं उसकी सपूर्ण मूलभूत दिव्य-ज्योति नहीं पहुंच पाती। तथापि अन्त स्फुरणा, अन्तः-प्रकाशात्मक, अन्तर्दर्शन या अन्तर्भावात्मक प्रत्यक्ष और अन्तर्भावात्मक विवेककी क्रियायें जोकि हमारे अल्प प्रदीप्त अथवा अल्प बलवाले साधारण मानस कर्मसे अतीत हैं, वहां हैं और उनका मूल वहां निर्भ्रान्त रूपमें है।

अन्तमें, गुह्य और आध्यात्मिक अनुभवका विशाल और बहुविध क्षेत्र है, और यहां हमारी चेतनाको उसकी वर्तमान सीमाओंसे परे विस्तृत करनेकी संभावनाके द्वार चौड़े खुले हुए हैं; यह हो सकता है कि हम उस अन्धकारवादसे जोकि अनुसन्धान करना अस्वीकार करता है या अपने मनकी साधारण अवस्थाओंकी सीमाओंसे आसक्तिके कारण उन्हें बंद कर दें अथवा जिन दृश्योंको वे हमारे सामने खोलते हैं उनसे मुख मोड दें। परन्तु मानव प्रयास (गुह्य और आध्यात्मिक अनुभव) के ये क्षेत्र बहुविध संभावनाओंको हमारे समीप लाते हैं, ये क्षेत्र हमारे और आवृत-परमार्थ तत्त्वविषयक एक ऐसे बडे हुए ज्ञानको मानव मनको प्रदान करते हैं जोकि उन प्रयास क्षेत्रोंको हमपर क्रिया करनेका अधिकार देता है और उनकी सत्ताकी अन्तर्निहित शक्ति है। हम अपने वर्तमान अनुसन्धानमें इन संभावनाओंकी और इस ज्ञानकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

हमारी चेतनाकी ऐसी दो क्रमिक क्रियायें हैं जोकि कठिन होनेपर भी भलीभांति हमारी सामर्थ्यके भीतर हैं, जिनके द्वारा हम अपनी चेतनसत्ताकी श्रेष्ठतर, उच्चतर भूमिकाओंमें पहुच सकते हैं। पहली, एक अन्तर्मुखी क्रिया है जिसके द्वारा हम अपने उत्तल मनमें रहनेके बजाय अपने बाहरी और अन्तस्तलीय पुरुषके बीचमें विद्यमान दीवारको तोड देते हैं। यह कार्य एक आनुक्रमिक प्रयास और साधनासे अथवा किसी तीव्र संक्रमणसे, कभी कभी किसी बलशाली अनिच्छित तोडफोडसे किया जा सकता है; इन उपायोंमें दूसरा तोडफोडवाला उपाय सुरक्षित नहीं है, कारण परिच्छिन्न मानव मन केवल अपनी साधारण सीमाओंके भीतर ही सुरक्षित रूपमें रहनेका अभ्यासी है, परन्तु चाहे सुरक्षित हो या अरक्षित, दोनों उपायोंसे यह कार्य किया जा सकता है।

अपने इस अन्तर्गूढ भागके भीतर जिसे हम पाते हैं एक अन्तःसत्ता, एक अन्तरात्मा, एक आन्तरिक मन, आन्तरिक प्राण, एक आन्तरिक सूक्ष्म-देह जोकि हमारे उत्तलीय मन, प्राण और शरीरकी अपेक्षा अपनी शक्यताओंमें अधिक नमनशील, अधिक बलशाली, बहुविध ज्ञान और क्रियामें अधिक समर्थ है। विशेषकर, यह अन्तर्गूढ भाग विश्वकी विश्वव्यापी शक्तियोंके साथ सीधा संसर्ग करनेमें, उनकी साक्षात् सप्रतीति करने और उनके प्रति अपने आपको खोलनेमें, उनपर सीधे क्रिया करनेमें समर्थ है; यह व्यक्तिगत मन, व्यक्तिगत प्राण, और देहकी सीमाओंसे बाहर अपना विस्तार करनेकी भी क्षमता रखता है; इस कारण यह अपने आपको अधिकाधिक ऐसा वैश्व-पुरुष अनुभव करता है जो कि हमारी अत्यधिक संकुचित मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताकी विद्यमान दीवारोंसे सीमित नहीं है। यह विस्तारकरण विश्वमनकी चेतनामें, वैश्व-प्राणके साथ ऐक्यमें, यहांतक कि वैश्व भौतिक द्रव्यके साथ एकत्वमें पूर्ण प्रवेशतक बढ सकता है। परन्तु यह अभीतक भी विश्व-अज्ञानके साथ ही तादात्म्यकरण है। [क्रमशः]

अनु०— श्री. केशवदेवजी आचार्य

वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था

वैदिक समयके आर्योंमें हम देखते हैं कि उनमें राज्य-शासनके कई प्रकार वर्णन किये हैं, देखिये—

> साम्राज्य भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं
> राज्यं महाराज्य आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी
> स्यात् ॥ ऐ० ब्रा०

(१) साम्राज्य, (२) भौज्य, (३) स्वराज्य, (४) वैराज्य, (५) पारमेष्ठ्य राज्य, (६) महाराज्य, (७) आधिपत्यमय, (८) सामन्तपर्यायी, (९) राज्य ऐसे नाम ऐतरेय ब्राह्मणमें आ गये हैं। इन शासनोंमें क्या भेद है इसका विचार हम यहां करना नहीं चाहते, पर इतने शासनोंके प्रकार वैदिक समयमें थे इसमें संदेह नहीं है। और जिस कारण इतने विभिन्न नामके शासन थे, उसी कारण इस प्रत्येकमें कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य ही होगी, नहीं तो भिन्न भिन्न नाम रखनेका प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण इतने विभिन्न शासन उस समय थे ऐसा ही मानना उचित है। और भी कुछ राज्यशासनोंके नाम आये हैं। जैसा— (१०) जानराज्य, (११) विप्रराज्य, (१२) समर्यराज्य इत्यादि।

इतने विविध प्रकारके अनेक राज्य होनेके कारण शासन-व्यवस्थाके लिये आधार जो सैन्यकी व्यवस्था है, वह तो होनी ही चाहिये। यदि राज्यमें सैन्य न रहा, तो राज्य टिकेगा कैसे ? शत्रुका आक्रमण होनेपर सेनासे ही शत्रुका पराभव किया जा सकता है। सैन्य न रहा तो परास्त होना पडेगा, और परास्त होनेपर न तो स्थानपर स्वराज्य रहेगा और न साम्राज्य। इसलिये हमें यहां देखना है कि वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्थामें सैन्यकी व्यवस्था थी या नहीं थी, और थी तो कैसी थी।

राज्यशासनमें अनेक प्रकारकी शासनतंत्रकी व्यवस्थाएं होती हैं, आन्तरिक शासन, करव्यवस्था, न्यायप्रदानकी व्यवस्था, ग्रामव्यवस्था आदि अनेक प्रकारकी व्यवस्थाएं होती ही हैं। पर हम इन सब व्यवस्थाओंका विचार यहां नहीं करेंगे। हम यहां केवल "सेनाकी व्यवस्था" कैसी थी इसीका विचार करेंगे।

सेनाकी आवश्यकता

> शूरा इव इत् युयुधयः न जग्मय·
> श्रवस्यवः न पृतनासु येतिरे।
> भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः
> राजान इव त्वेषसंदृशो नरः ॥ ऋ. १।८५।८

(शूरा इव) शूरोंके समान युद्ध करनेवाले, (युयुधय; न जग्मयः) योद्धाओंके समान शत्रूपर आक्रमण करनेवाले, (श्रवस्यवः न पृतनासु येतिरे) यश प्राप्त करनेवाले वीरोंके समान सैन्योंमें पुरुषार्थका प्रयत्न करते हैं। इन वीरोंको देखकर (विश्वा भुवनानि भयन्ते) सब भुवन, सब प्राणी भयभीत होते हैं, ये (राजान इव) राजाओंके समान (त्वेष-संदृशः) तेजस्वी दीखते हैं।

इस मंत्रमें सैन्यवाचक 'पृतना' यह शब्द है। ये वीर सेनामें रहते हैं और वीरताके कार्य करते हैं। यहां वीर-पुरुषोंकी सेना होती है ऐसा कहा है तथा—

> सं यद् हनन्त मन्युभिर्जनासः।
> शूरा यह्वीष्वोषधीषु विक्षु।
> अध स्मा नो मरुतो रुद्रियासः
> त्रातारो भूत पृतनास्वर्यः ॥ ऋ. ७।५६।२२

हे महावीर श्रेष्ठ वीरो ! जब तुम्हारे (शूरा जनासः) शूर पुरुष (यह्वीषु) नदियोंमें (ओषधीषु) झाडियोंमें अथवा (विक्षु) प्रजाजनोंमें रहकर (मन्युभिः) उत्साहसे शत्रुपर (सं हनन्त) मिलकर हमला करते हैं उस समय (पृतनासु) सेनाविभागोंमें रहनेवाले तुम सब वीर (नः त्रातारः भूत) हमारा संरक्षण करनेवाले बनो।

इस मंत्र 'पृतना' पद सेना पथकोंका वाचक है और ये वीर इन सेना पथकोंमें रहकर सबसे शत्रुपर आक्रमण करते हैं और शत्रुका नाश करते हैं ऐसा कहा है। यह वैयक्तिक युद्ध नहीं है पर सेनाके पथकोंका सघ युद्ध है। व्यक्तिशः युद्ध करना और बात है और संघशः हमला करना और बात है। इस मंत्रमें 'सं हनन्त' मिलकर एक होकर शत्रुपर आक्रण करनेका भाव स्पष्ट है। सेना है और सेनाके सब वीरोंका इकट्टा शत्रुपर हमला होनेकी कल्पना जो इस मंत्रमें है वह विशेष देखनेयोग्य है। तथा—

> मरुद्भिः उग्रः पृतनासु साळ्हा
> मरुद्भिः उग्रः इत् सनिता वाजमर्वा ॥ ऋ ७।५६।२३

(मरुद्भिः) वीरोंके साथ रहनेवाला वीर (पृतनासु) सेनाओंमें (उग्रः) शूरवीर होता है और (साळ्हा) शत्रुका पराभव करनेवाला भी होता है। सेनाके साथ रहनेसे साधारण मनुष्य भी उग्र शूरवीर बनता है और, शत्रुका पराभव करनेमें समर्थ होता है। अनुशासनमें रहनेका यह प्रभाव है। सेनाकी शिक्षासे ऐसा प्रभाव होता है यह वैदिक राष्ट्रवादियोंको ज्ञात था। अनुशासनयुक्त सेनाका महत्व वे जानते थे यह इससे सिद्ध होता है। तथा—

> नहि व ऊतिः पृतनासु मर्धति
> यस्मा अराध्वं नरः ॥ ऋ. ७।५९।४

हे (नरः) नेता वीरो ! (यस्मै अराध्वं) जिसके लिये तुम सहायक होते हैं उसके लिये (वः ऊती) आपकी संरक्षणकी शक्ति (पृतनासु नहि मर्धति) सेनाओंमें रहनेके कारण कम नहीं होती। संघमें रहनेसे मनुष्यकी शक्ति बढती है। सेनाका यह लाभ वेदमंत्रोंमें स्पष्ट किया गया है। तथा और देखिये—

> तिग्ममनीकं विदितं सहस्वत्
> मारुतं शर्धः पृतनासु उग्रम् ॥ अथर्व. ४।२७।७

(तिग्मं) प्रखर (सहस्वत्) शत्रुका पराभव करनेवाला तुम्हारा (अनीक विदितं) सेनाका प्रभाव सबको विदित है। वह (मारुतं शर्धः) वीरोंका बल (पृतनासु उग्रं) सेनाओंमें अथवा सेनाओंके संघर्षोंमें बडा उग्र दीखता है।

इस मन्त्रमें 'अनीकं' तथा 'पृतना' ये दो पद वीरोंकी सेनाके वाचक हैं। सेनामें वीरोंका बल बढ जाता है यह बात इन मंत्रोंसे स्पष्ट हो जाती है। अकेला अकेला वीर पृथक् पृथक् रहकर जितना पराक्रम कर सकता है, उससे अत्यंत अधिक वीरता वही वीर सेनाविभागके साथ रहकर बता सकता है यह इसका तात्पर्य है।

अनीक = सेनापथक

इस विषयके ये मंत्र देखिये, इनमें सेनाके पथकोंका प्रभाव वर्णन किया है—

> असूत पृश्निर्महते रणाय
> त्वेषमयासां मरुतामनीकम् ।
> ते सप्सरासोऽजनयन्ताभ्वं
> आदित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ॥
>
> ऋ. १।१६८।९

(पृश्निः) मातृभूमिने (महते रणाय) बडे युद्धके लिये (अयासां मरुतां) शत्रुपर हमला करनेवाले सैनिकोंका (त्वेषं अनीकं) तेजस्वी सेनापथक (असूत) निर्माण किया है। (ते) वे सैनिक (अप्-सरासः) संघ करके हमला करनेवाले वीर (अभ्वं अजनयन्त) बडा सामर्थ्य प्रकट करते हैं और (इषिरां स्व-धां) अन्न देनेवाली स्वकीय धारक शक्तिको उन्होंने (आत् इत् पर्यपश्यन्) सर्वत्र देखा। सर्वत्र अपनी शक्ति कार्य कर रही है ऐसा उन्होंने देखा।

यहां 'अनीक' पद सेनावाचक है और इस तरह सेनापथकोंमें रहनेवाले वीर कैसा विलक्षण सामर्थ्य प्रकट करते हैं यह भी इस मंत्रने बताया है। तथा—

> अनीकेषु अधि श्रियः। ऋ. ८।२०।१२

'सेनापथकोंमें ये वीर विजयश्री प्राप्त करते हैं।' सेनाके पथकोंमें रहनेवाले और कार्य करनेवाले वीर अधिक वीरता बताते हैं यह इसका तात्पर्य है।

इस तरह सेना, सैन्य, सेनापथक आदिके वाचक पद वेदमंत्रोंमें हैं। राज्यशासनके अनेक प्रकार थे, राज्य

संरक्षणके लिये सेना थी, तथा सेनामें रहनेवाले सैनिक विशेष शूरता प्रकट करते थे आदि वर्णन देखनेसे अत्यंत स्पष्टतासे यह प्रकट होता है कि वैदिक समयमें सेना-रचनाकी अच्छी कल्पना व्यवहारमें आ गयी थी।

सेनाकी कल्पना

प्रथम हम देखेंगे कि वेदमें 'सेनाकी कल्पना' है या नहीं ? तो हमें वेदमें सेनाकी कल्पना है ऐसा स्पष्ट दीखता है, देखिये—

> असौ या सेना मरुतः परेषां
> अस्मानेत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
> तां विध्यत तमसाऽपव्रतेन
> यथैषामन्यो अन्य न जानात्। अथर्व ३।२।६

"हे मरुतो! यह जो शत्रुकी सेना बडे जोरसे स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आक्रमण करके आ रही है, उस सेनाको अपव्रत-तमसास्त्रसे वींधो और उस शत्रुसेनामेंसे एक वीर दूसरेको पहचान न सके ऐसा करो।"

यहां शत्रुकी सेना है, हमारी सेना है। शत्रुकी सेना बडे जोरसे हमारे ऊपर आक्रमण करके आ रही है, उस शत्रुकी सेनाको अपव्रत तमसास्त्रसे वींधना और उस शत्रुसेनामें ऐसी खिलबिली मचाना कि उनमेंसे एक भी सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके।

इस वर्णनमें स्पष्ट अपनी सेना, शत्रुकी सेना, उनका परस्पर आक्रमण और तमसास्त्रका प्रयोग और उससे शत्रुसेनामें गडबड मचाना आदि बातें हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक समयके राष्ट्रशासनके प्रबंधमें सेनाका प्रबंध अच्छा था।

अपव्रत तमसास्त्र

अपव्रत-तमसास्त्र एक अस्त्र है कि जो शत्रुसेनापर फेंकनेसे उनमें ऐसी गडबडी मचा जाती है कि जिससे एक सैनिक दूसरेको नहीं पहचान सकता। 'तमसास्त्र या धूम्रास्त्र' ही एक प्रकारका अस्त्र है। इस मंत्रसे ज्ञात होता है कि शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित अपनी सेना रखनी चाहिये। शत्रुसेनाकी अपेक्षा अपनी सेना अधिक सुसज्जित रहनी चाहिये। और देखिये—

> इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतः घ्नन्तु ओजसा।
> चक्षूंष्यग्निरादत्तां पुनरेतु पराजिता॥ अथर्व. ३।१।६

"इन्द्र शत्रुकी सेनाको मोहित करे, शत्रुकी सेना मोहित होनेपर उसका वध मरुत करें, शत्रुकी सेनाकी दृष्टि अग्नि दूर करे, फिर वह शत्रुकी सेना पराजित होती हुई वापस फिरे।"

इस तरह शत्रुसेनाको मोहित करना, पश्चात् उसकी कतल करना, शत्रुसेनाको कुछ भी न दीखे ऐसा करना और इस तरह कुण्ठित गति करके शत्रुसेनाका पूर्ण पराजय करना इस मंत्रमें लिखा है। यहां युद्ध करनेकी युक्तियां भी हैं। इस कारण वैदिक समयमें सैन्य थे, सैनिकोंका संचालन भी था। युद्धकी नाना युक्तियां भी थीं, और उनके प्रयोगसे शत्रुका पराजय करनेका साहस भी था। तथा—

> सेनाजिच्च सुषेणश्च।
> अन्तिमित्रश्च दूरेऽमित्रश्च गणः॥
> वा. यजु. १७।८२

'शत्रुकी सेनाका पराभव करनेवाला, उत्तम सेना अपने पास रखनेवाला, अपने मित्रोंको समीप रखनेवाला और अपने शत्रुको दूर रखनेवाला। यह सब गणके साथ, संघके साथ होता है।' इस मंत्रसे सैन्यसे क्या क्या कार्य किये जाते हैं इसका बोध होता है। और देखिये—

> ते हयुग्राः शवसा धृष्णुषेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके। अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवत्सु तस्थौ न रोकः॥ ऋ. ६।६६।६

(ते) वे सैनिक (उग्राः) उग्र हैं और (शवसा धृष्णु-सेनाः) अपने बलसे साहसी सैन्यसे युक्त हैं। वे पृथिवी और आकाशमें (युजन्त इत) अपने कार्यसे संयुक्त रहते हैं, अर्थात् युद्धकर्ममें दक्ष रहते हैं। इन वीरोंके (स्वशोचिः) अपने तेजके साथ (अमवत्सु) रहनेसे पृथिवी और आकाशमें कोई (रोकः न तस्थौ) प्रतिबंध नहीं रहता।" अर्थात् ऐसे शूर सैनिक रहनेपर उस राष्ट्रकी प्रगतिमें कोई किसी तरहका प्रतिबंध नहीं खडा रह सकता। प्रतिबंध उत्पन्न हुआ तो उसको ये सैनिक दूर करते हैं।

इतने मंत्रोंके विचारसे यह सिद्ध हुआ कि वैदिक समयकी राज्यशासनव्यवस्थामें—

१ सैन्यकी व्यवस्था थी,
२ संघसे सैन्यरचना होती थी, एक एक सैनिक नहीं होता था, पर संघकी रचनासे सैन्य रचना थी,

३ शत्रुसेनासे अपने सैन्यकी सुसज्जता अधिक रखी जाती थी,

४ अपनी सेना अच्छी रही तो अपनी प्रगतिमें रोक उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं होगा ' ऐसा विचार उस समय था,

५ अपनी सेना उत्तम रहनी चाहिये,

६ अपने मित्रोंको पास रखना चाहिये,

७ अपने शत्रुओंको दूर रखना चाहिये,

८ शत्रुसेनाको मोहित करके पश्चात् उसकी कतल करना,

९ तमस्त्रास्त्रसे शत्रुको परास्त करना,

१० अपने सैनिक उग्र होने चाहिये ऐसा प्रबंध करना।

ये बातें यहां इन मंत्रोंमें दीखती हैं। इससे सेना राष्ट्ररक्षणके लिये रहनी चाहिये यह वैदिक समयमें दृढ विचार था, सेना रखी जाती थी और अच्छी सुसज्ज सेना रखी जाती थी। इतना सिद्ध होनेपर हम अब विचार करेंगे कि सैनिक कैसे होने चाहिये—

युद्धकी संभावना

जहां युद्धकी संभावना होती है वहां सेनाकी तैयारी रखना अत्यावश्यक होता है। वैदिक सभ्यता विश्वशान्ति स्थापन करनेवाली सभ्यता है इसमें संदेह नहीं है, तथापि मनुष्योंमें राक्षसी प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं, उनके द्वारा जनताको उपद्रव होते हैं। इनको प्रतिबंध करके जनताको सुखी करना राज्यशासनका मुख्य कार्य है। ऐसी परिस्थितिमें राष्ट्रमें सेनाकी आवश्यकता है। अतः इस विषयमें वेदका कथन क्या है इसका यहां विचार करना चाहिये।

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र
सन्तस्थाना विह्वयन्ते समीके। ऋ. १०।४२।४

(मम-सत्येषु) मेरा पक्ष सत्य है ऐसा आग्रह जहां होता है वहां युद्ध होता है। ऐसे युद्धोंके प्रसंग उत्पन्न होने पर हे (इन्द्र) प्रभो! (जनाः त्वां विह्वयन्ते) तुम्हें बुलाते हैं। इसी तरह (समीके संतस्थाना) युद्धमें खडे रहे वीर भी तुम्हें अपनी सहायतार्थ बुलाते हैं।

इस मन्त्रमें ' मम-सत्यं ' यह युद्धका नाम है। युद्धके इस नामसे एक बडा भारी सिद्धान्त वेदने प्रकट किया है, वह यह कि (मम सत्यं) " मेरा कहना ही सत्य है " ऐसा दोनों पक्ष कहने लगे, तो वहां युद्ध शुरू होता है। ' मम-सत्यं ' यही युद्धका नाम है और जबतक मानव-जाती है, तबतक ' मेरा पक्ष सत्य है ' ऐसा आग्रहसे कहनेवाले लोग होंगे ही। और जहां ऐसे लोग होंगे, वहां युद्ध होंगे ही। अर्थात् जनसमाजमें युद्धकी संभावना सदा रहेगी ही।

मनुष्योंमें तीन मनोवृत्तीके लोग होते हैं। राक्षसी मनोवृत्ती, मानवी मनोवृत्ती तथा दैवी मनोवृत्ती। ये तीन प्रकारकी मनोवृत्तीयां मानवोंमें होती हैं। इनमें राक्षसी मनोवृत्ती ' मेरा ही कहना सत्य है ' ऐसा कहकर युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त होती है। ये तीन मनोवृत्तिया मानवोंमें होती हैं और उनमें राक्षसी मनोवृत्ती झगडालू होती है, इसलिये वह किसी न किसी प्रकार दुराग्रह करके युद्धका प्रारंभ करती ही है।

इसके उदाहरण रावण, इन्द्रजीत, धृतराष्ट्रके पुत्र कौरव आदि भारतीय इतिहासमें हैं। सत्ययुगमें भी ये थे और कलियुगमें तो ये हैं ही। सदा राक्षसी प्रवृत्तिवाले लोग जनसमाजमें रहेंगे और वे युद्ध करेंगे। और इनके हाथमें राज्यशासन रहा तो ये अवश्य युद्ध करेंगे। इस तरह राक्षसी वृत्तीके लोग युद्ध करते हैं और युद्ध होते हैं इसलिये सेनाकी आवश्यकता रहती है।

यद्चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु। मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥ ऋ. १०।५४।२

हे इन्द्र! (तन्वा वावृधानः) अपने शरीरके सामर्थ्यसे उत्साहित होनेवाला तू (बलानि जनेषु प्रब्रुवाणः) बलोंके विषयमें सब जनोंमें वर्णन करता है और ऐसा करता हुआ (अचरः) तू भ्रमण करता है। (यानि ते युद्धानि आहुः) जो तुम्हारे द्वारा युद्ध होते हैं ऐसा कहते हैं (सा ते माया इत्) वह तुम्हारा कौशल्यका कार्य ही है, तुम्हारी युद्धविषयक कुशलता प्रसिद्ध है। इस युद्ध कुशलताके कारण (न अद्य शत्रुं विवित्से) न तो तुम्हें आज शत्रु प्राप्त होता है, (ननु पुरा) पूर्व समयमें भी तुम्हारे सामने शत्रु नहीं ठहरता था।

इस मंत्रमें शत्रु दूर करनेके लिये जो साधन कहे हैं वे ये हैं—

१ तन्वा वावृधानः- शरीरके सामर्थ्य और उत्साहको बढाना,

२ जनेषु बलानि प्रब्रुवाणः अचरः-जनतामें बलोंका-सेनाओंका अथवा सामर्थ्योंका वर्णन करते हुए भ्रमण करना। सबको बल बढानेका उपदेश करना।

३ यानि युद्धानि आहुः सा ते माया- जो युद्ध करके वर्णन किये जाते हैं वे शूरके कौशलयुक्त कर्म हैं। अर्थात् शूरवीर अतिकुशलतासे युद्ध करते हैं। और शत्रुको परास्त करते हैं।

४ अद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से- इस कारण न तो आज शत्रु सामने खडा रह सकता है और न पूर्व समयमें शत्रु ऐसे वीरके सामने खडा रह सकता था।

इस मंत्रमें 'बलानि और युद्धानि' ये पद अत्यंत महत्त्वके हैं। मनुष्यमें बल चाहिये, वीरता चाहिये और कुशलतासे युद्ध करनेकी शक्ति भी चाहिये। इससे शत्रु दूर हो सकते हैं। जो अत्यंत कुशलतासे युद्ध करता है और अपना बल बढाता है उसके सामने जैसे आज शत्रु ठहर नहीं सकते, वैसे ही पूर्व समयमें भी ठहरते नहीं थे और अर्थात् भविष्यमें भी उनके सामने शत्रु ठहर नहीं सकते। शत्रुको दूर करनेके दो ही उपाय हैं वे ये हैं। अपना बल बढाना और कुशलतासे युद्ध करना। इस मंत्रमें शत्रु हैं, और युद्धसे उनको दूर करनेका उपदेश किया है। अपनी शक्ति बढानेसे शत्रु दूर हो सकते हैं। अपना बल बढानेका अर्थ अपनी वैयक्तिक शक्ति बढाना और अपनी राष्ट्रीय सेना बढाना है। और देखो—

स्तोत्रमिन्द्राय गायत पुरुनृम्णाय सत्वने।
न किर्यं वृण्वते युधि॥ ऋ. ८।४५।२१

(पुरु-नृम्णाय) विशेष पौरुषसे युक्त और (सत्वने) बलवान् (इन्द्राय स्तोत्रं गायत) इन्द्रके लिये स्तोत्रोंका गान करो क्योंकि (युधि) युद्धमें (यं न कि. वृण्वते) जिसका कोई पराभव कर नहीं सकता।

इन्द्र पौरुष और बलसे युक्त है, इस कारण कोई शत्रु युद्धमें इसके सामने ठहर नहीं सकता। यहां ऐसा कहा है कि अपना पौरुष और बल बढाना चाहिये और शत्रु अपने सामने न ठहर सके ऐसा करना चाहिये। इस मंत्रमें भी ऐसा कहा है कि युद्ध होते हैं, शत्रु सामने खडे हैं, ऐसी अवस्थामें अपने बल बढाने चाहिये। यह एकमात्र उपाय करने योग्य है। तथा और देखिये—

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः।
प्रापश्यद् वीरो अभि पौंस्यं रणम्॥
ऋ. १०।११३।४

'उत्पन्न होते ही वीरने शत्रुओंको बाधा पहुंचाई। और उस वीरने जिसमें पौरुषका कार्य होता है ऐसे रणका निरीक्षण किया।' यहां रण शब्द युद्धका वाचक है जिसमें शत्रुओंको दूर करनेका कार्य होता है और विशाल पौरुष प्रयत्नसेही युद्धमें कार्य किया जाता है। और भी इस विषयमें देखिये—

रणं कृधि रणकृत् सत्यशुष्मा
ऽभक्ते चिदा भजा राये अस्मान्। ऋ १०।११२।१०

"(सत्य-शुष्मा) सच्चा बल अपनेमें बढाओ, (रणकृत्) युद्ध कुशलतासे करनेवाला हो और (रणं कृधि) शत्रुसे युद्ध कर। शत्रुके पासके धन हमें मिले ऐसा कर" यहां 'सत्य-शुष्मा' बनो ऐसा प्रथम कहा है अपने अन्दर सच्चा सामर्थ्य प्राप्त करो। अच्छी तरह बलवान् बनो, तथा 'रण-कृत्' युद्ध करनेवाला बनो। अर्थात् कुशलतासे युद्ध करनेकी शक्ति प्राप्त कर। प्रथम अपने अन्दरका सामर्थ्य बढाना और जहां युद्ध करनेकी आवश्यकता होगी वहां अत्यंत कुशलतासे युद्ध करना और शत्रुको विनष्ट करना। और हमारे पास धन आजाय ऐसा करना। यह उपदेश यहां कहा है। अर्थात् युद्ध जहां करना आवश्यक है वहां अवश्य करना चाहिये।

यदाजिं यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप।
रथीतमो रथीनाम॥ ऋ. ८।४५।७

'(सु-अश्व-युः) उत्तम घोडोंको अपने रथोंको जोडनेवाला (रथीनां रथीतमः) रथी वीरोंमें श्रेष्ठ रथी वीर इन्द्र (आजि-कृत्) युद्धको कुशलतासे करनेवाला (आजिं याति) युद्धमें जाता है।' यहां प्रथम वीरकी तैयारी बतायी है। उत्तम घोडे अपने रथोंको जोतता है और अपने घुडसवारोंके पास भी उत्तम घोडोंको रखता है और रथी वीरोंमें श्रेष्ठ वीर बनता है। इतनी तैयारी करके वह स्वयं उत्तम युद्ध करना जानता है और पश्चात् स्वयं युद्धमें जाकर युद्ध करता है। यौंही अपनी तैयारी करनेके विना ही युद्ध करना

नहीं चाहिये, परंतु अपनी उत्तम तैयारी करके युद्ध आवश्यक हुआ तो ऐसा करना चाहिये कि जिससे शत्रु ठहर न सके। तथा—

आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं
कृधि प्रजास्वाभगम्। ऋ. ८।५३।६

'(सत्पतिं) सज्जनोंका रक्षण करनेवाले, (विश्व-चर्षणिं) सब जनताका हित करनेवाले और (आजि-तुरं) युद्धमें त्वरासे कार्य करनेवाले वीरकी प्रशंसा करो वह हमें (प्रजासु आभगं) प्रजाओंमें भाग्यवान् करे।'

यहां चार पद महत्त्वपूर्ण हैं। (प्रजासु आभगं) प्रजाजनोंमें भाग्यवान् बनना। हरएक चाहता है, कि मैं सबसे अधिक भाग्यवान् बनूं। ऐसा हरएकके मनमें रहना स्वाभाविक है। पर वह कैसा बने इस प्रश्नका उत्तर इस मन्त्रके आगेके तीन पदोंने दिया है। यदि भाग्यवान् बनना है तो (सत्-पतिः) सज्जनोंका पालन करो, 'परित्राणाय साधूनां' (गीता) सज्जनोंका सरक्षण करना यह भाग्यवान् बननेका एक साधन है। दूसरा (विश्व-चर्षणिः) सब मानवोंका हित करनेका कार्य करना, सार्वजनिक हित करना, जनताकी सेवा करना इससे इसकी योग्यता बढ जाती है। ये दो कार्य लोकोंके हित करनेके लिये हैं और (आजि-तुरः) युद्ध करनेके समय त्वरासे शत्रुके साथ लडना। शीघ्रतासे शत्रुसे युद्ध करना। इसमें शिथिलता न करना। इससे यह मनुष्य प्रजाजनोंमें भाग्यवान् होता है। यहां भी शत्रुसे युद्ध करना भी एक कार्य गिना है। और देखिये—

तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे।
अस्ति हि वीर सेन्यः। ऋ १।८१।१-२

उस वीरको (महत्सु आजिषु) बडे युद्धोंमें और उसको (अर्भे हवामहे) छोटे संग्रामोंमें सहाय्यार्थ बुलाते हैं। उसको इसलिये बुलाते हैं कि वह (हे वीर) हे शूर (सेन्यः असि) वह वीर सेनासे सुसज्ज है। उसके पास उत्तम सेना है। शूरवीर स्वयं बलवान् हो और उसके पास उत्तम सेना हो, तब उसका वर्णन लोग करते हैं। वही बात और देखिये—

इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं
प्रावद् विश्वेषु शतमूतिराजिषु
स्वर्मीळ्हेष्वाजिषु। मनवे शासदव्रतान्।
ऋ. १।१३०।८

'इन्द्र (समत्सु) युद्धोंमें श्रेष्ठ सज्जनोंका (प्रावत्) रक्षण करता है। (विश्वेषु आजिषु) सब युद्धोंमें (शतं ऊतिः) सैंकडों प्रकारोंके संरक्षण देकर पालन करता है। (स्वः-मीळ्हेषु आजिषु) अपनी शक्ति बढानेवाले युद्धोंमें वह रक्षण करता है और (मनवे) मानवोंका हित करनेके लिये (अ-व्रतान्) दुष्टाचारवाले शत्रुओंको (शासत्) दण्ड देता है।'

इस मंत्रमें युद्धोंमें किस रीतिसे स्वपक्षीयोंका बचाव करना चाहिये, दुष्ट शत्रुओंका दमन किस तरह करना चाहिये, और सब प्रकारके संग्रामोंमें शत्रुओंका पराभव किस रीतिसे करना चाहिये यह सब अच्छी तरह बताया है।

यहांतक अनेक मंत्र हमने देखें, उनमें युद्ध, आहव, आजि, रण, समसत्य' आदि युद्धवाचक बहुतसे शब्द आये हैं। मनुष्य युद्धमें ही खडा है। अनेक प्रकारके युद्ध इसे लडने हैं। इसलिये युद्ध नहीं है ऐसा समझना बडा हानिकारक है। मनुष्य अनेक युद्धोंमें खडा है। इनमें इसे शत्रुओंसे लडकर विजय प्राप्त करना और विजयी होना है। इसलिये जगत्में युद्ध ही नहीं है ऐसा मानना हानिकारक है। युद्धमें हम खडे है ऐसा समझकर अपनी तैयारी करनी चाहिये।

अपना व्यक्तिका बल, अपने राष्ट्रका बल अर्थात् सेना, अपना युद्धकौशल ये सब सामर्थ्य योग्य रीतिसे अपने पास सुसज्य रखने चाहिये। तब ही अपना विजय हो सकता है।

अस्तु। इस तरह हमने वेदमंत्र देखकर यह परिणाम निकाला कि वैदिक राज्यव्यवस्थाके अनुसार राष्ट्रको युद्ध करनेके अवसर आते हैं, उस कार्यके लिये राष्ट्रकी वीरसेना तैयार करनी चाहिये और राष्ट्रमें वीर पुरुष निर्माण करने चाहिये।

सेनाकी इस तरह आवश्यकता सिद्ध होनेपर उस सेनाके विषयमें वेद क्या उपदेश देता है वह अब देखिये—

सब सैनिक समान

प्रथम बात जो वैदिक समयकी सेनामें दीखती है वह सब सैनिकोंकी समानता है। देखिये—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदः
अमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ऋ. ५।५९।६

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ. ५।६०।५

" (अ- ज्येष्ठासः) इनमें कोई श्रेष्ठ नहीं, (अ-कनिष्ठासः) कोई कनिष्ठ भी नहीं तथा इनमें (अ-मध्यमासः) कोई मध्यम भी नहीं है। अर्थात् ये सब समसमान हैं। ये अपनी (महसा) शक्तिसे (वावृधुः) बढते हैं। ये (जनुषा सुजातासः) जन्मसे ही कुलीन हैं। ये (पृश्नि-मातरः) भूमिको माता माननेवाले हैं अर्थात् मातृभूमिकी सेवा करनेवाले हैं। ये (दिवः मर्याः) ये दिव्य नरवीर हैं। ये (भ्रातरः) परस्पर भाई हैं, (सौभगाय संवावृधुः) ये परस्पर अपने उत्तम भाग्य बढानेके लिये मिलकर प्रयत्न करते रहते हैं। "

इन मंत्रोंमें सैनिकोंकी समसमानताके विषयमें उत्तम रीतिसे वर्णन किया है। सब सैनिक समसमान हैं ऐसा यदि न माना जाय, तो सैनिकोंमें ऊंचानीचा माना जानेसे उनका आपसमें वैर होगा, वे आपसमें ही 'मैं ऊंचा ' और ' वह नीच ' ऐसा बोलकर लडेंगे और उनसे शत्रुका पराभव करनेका कार्य तो दूर ही रहेगा। पर अपना ही नाश होगा।

इसलिये सब सैनिक समान हैं, वे जन्मसे ही (जनुषा सुजातासः) उत्तम कुलीन हैं, उनमें जन्मजात ऊचनीचता नहीं है, वे (दिव. मर्याः) दिव्य नरवीर हैं। वे अपनी शक्तिसे बढते हैं। यह नियम कितना उत्तम है यह विचार करके हर कोई जान सकता है।

सैन्यकी भरती कैसी हो

यहांतक विचार हुआ और मालूम हुआ कि सैन्यमें जन्मजात ऊचा नीचा यह भेद नहीं है। अब इन सैनिकोंकी भरती किस तरह की जाती है वह देखिये—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः। ऋ. ८।१०३।१४

सत्वानो घोरवर्पसः। ऋ. १।६४।२

मृगा न भीमाः। ऋ. २।३४।१

" जो गौर वर्ण हैं, (घोर-वर्पसः) बडे शरीरवाले हैं और जो (सु-क्षत्रासः) उत्तम क्षात्र कर्म करनेवाले, उत्तम संरक्षण करनेवाले और (रिश-अदसः) शत्रुका नाश करनेवाले हैं। जो (सत्वानः) बलवान् हैं, महान विशाल शरीरवाले हैं और (मृगा न भीमाः) सिंहके समान भयंकर हैं। वे सेनामें भरती होने योग्य हैं। "

यहां (१) सुन्दर वर्ण,
(२) विशाल शरीर,
(३) सुरक्षा करनेका कौशल्य,
(४) शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य,
(५) शारीरिक बल और
(६) उग्रता।

ये गुण देखकर सेनामें भरती करनी योग्य है ऐसा कहा है। प्रथम ये ही गुण देखे जा सकते हैं। अन्य गुण आगे सैनिकीय शिक्षासे प्राप्त हो सकते हैं और बढाये भी जा सकते हैं। पर प्रथम ये गुण तरुणोंमें होने चाहिये। सेनामें भरती होनेके लिये ये गुण तो अवश्य चाहिये।

अरुणप्सवः (ऋ. ८।७।७)- अरुण अर्थात् लाल रंग जिनकी त्वचापर शोभता है ऐसे तरुण सेनामें भरती हों। शरीरपर लाल रंग तब चमकता है कि जब शरीरमें शुद्ध रक्त घूमता रहता है। ये ही तरुण वीर शत्रुके साथ उत्तम युद्ध कर सकते हैं। इन्हींके अन्दर ओज और सत्व स्वभावसे रहता है।

अपने तेजसे तेजस्वी

सेनामें भरती होने योग्य तरुण वीर वे हैं कि जो अपने तेजसे तेजस्वी रहते हैं। देखिये इनके विषयमें कहा है—

ये स्व-भानवः अजायन्त। ऋ. १।३७।२

स्वभानवः धन्वसु श्रायाः। ऋ ५।५३।४

स्वभानवे वार्चं प्रानज। ऋ. ५।५४।१

" जो अपने निजतेजसे चमकते हैं। अपने तेजसे चमकनेवाले वीर धनुष्योंका आश्रय करते हैं। जो अपने तेजसे चमकता है उसकी प्रशंसा करो। "

ये वीर सैनिक हैं। किसी तरुणको देखनेसे सहजहीसे पहचाना जाता है कि यह तरुण अपने निजतेजसे चमकता है वा नहीं। जो अपने चेहरेपर तेल, सुगंध कल्प, अथवा पावडर लगाकर अपने आपको तेजस्वी बताते हैं, उनकी भरती सैन्यमें नहीं हो सकेगी। परंतु जो (स्व-भानवः)

अपने निजतेजसे तेजस्वी दीखते हैं, अकृत्रिम रीतिसे सुडौल और आनंदी दीखते हैं वैसे तरुण ही सेनामें भरती होनेयोग्य हैं।

एक घरमें रहते हैं

सैनिकोंकी सेनामें भरती होनेपर उनकी रहने-सहनेकी व्यवस्था कैसी होती है यह भी देखनेयोग्य विषय है। वे एक घरमें रहते हैं। इस विषयमें देखिये—

१ समोकसः इषुं दधिरे। ऋ. १।६४।१०
२ अरुक्षया सगणा मानुषासः। अथर्व. ७।७७।३
३ वः उरु सदः कृतम्। ऋ. १।८५।७
४ समानस्मात्सदसः उरुक्रमः निः चक्रमे। ऋ. ५।८७।४
५ सनीळा मर्याः स्वश्वाः नरः। ऋ. ७।५६।१
६ सवयसः सनीळाः समान्याः। ऋ.१।१६५।१

[१] (सं-ओकसः) एक घरमें रहनेवाले ये वीर बाण हाथमें धारण करते हैं।

[२] (उरु-क्षयाः) जिनका घर बडा है और जो (स- गणाः) संघके साथ रहते हैं अर्थात् जो अकेले अकेले नहीं रहते और जो मनुष्योंकी सेवा करनेके लिये तत्पर रहते हैं।

[३] (वः उरु सदः कृतं) आपके लिये, हे सैनिको! यह बडा घर बनाया है।

[४] (समानस्मात् सदसः) सबके एक घरसे (निः चक्रमे) एक एक वीर बाहर पडता है।

[५] ये (मर्याः) मरनेके लिये तैयार हुए वीर (स-नीळाः) एक घरके रहनेवाले और (सु-अश्वाः) उत्तम घोडोंपर बैठनेवाले हैं।

[६] ये वीर (स-वयसः) एक आयुवाले (स-नीळाः) एक बडे घरमें रहनेवाले और (स-मान्याः) सबकी मान्यता समान है ऐसे ये वीर हैं।

सैनिकोंके बडे मकान

यहां " (१) सं—ओकसः, (२) उरु—क्षयाः, (३) उरु सदः, (४) समानं सदः, " ये पद इन सैनिकोंका घर एक बडा भारी विस्तीर्ण होता था, यह भाव बताते हैं। युरोपीयन भारतमें आनेपर उन्होंने जो अपनी सेनाकी रचना की, उसमें भी उन्होंने एक बडे मकानमें ही सैनिकोंको रखा था। एक एक या दो दो कमरोंकी पंक्ति जिसमें हैं ऐसे लंबे मकान जिनको अंग्रेजीमें 'बरेक' कहते हैं, सैनिकोंके लिये अंग्रेजोंने बनाये। यही भाव इन पदोंसे स्पष्ट रूपसे दीख रहा है।

एक बडे मकानमें रहनेसे रहनेवालोंके अन्दर हम सब समान हैं, हममें बडा छोटा कोई नहीं यह भाव रहता है। इसलिये वैदिक समयके सैनिकोंको एक बडे मकानमें रखा जाता था। अंग्रेज भी इसी हेतुसे सैनिकोंको बडे घरमें रखते थे। पर भारतके आधुनिक समयके राजे अपने सैनिकोंको ऐसे बडे मकानोंमें रखते नहीं थे। इन हिंदु राजाओंके राज्यमें वेदपाठी पंडित थे, शास्त्री तथा विद्वान् भी थे। पर वेदपाठी वेदका अर्थ जानते नहीं थे और शास्त्री वेदमंत्रोंको याद नहीं करते थे और राजालोग वेदमें क्या है यह जानते नहीं थे, इस कारण हमारी सैनिकीय विद्या वेदकी वेदमें रही। युरोपीयनोंने यहां सेनाकी रचना वेदानुकूल की पर उस ओर किसीने देखा भी नहीं। जिनके पास वेद नहीं थे वे वेदके अनुसार अपने सैनिकोंको रखते थे और उससे सामर्थ्य प्राप्त करते थे और राज्य जीतते जाते थे। पर जिनके पास वेद थे वे अज्ञानके कारण कोरेके कोरे ही रहे और पराभूत होकर पारतंत्र्यमें भी पहुंचे।

यह यहां इसलिये कहना पडा कि वेदकी सैनिकीय शिक्षा सामर्थ्य बढानेवाली थी। इसलिये यदि वेदका ज्ञान मानवी व्यवहारमें आजाता, तो यूरोपीयनों द्वारा सहजहीमें भारतीय सेनाओंका पराभव न होता और भारत परतंत्र भी न होता। यह माना जा सकता है कि पराभवके लिये अन्यान्य भी कारण थे। यह सत्य है, तथापि यह सैनिकीय तैयारी यदि हमारी वेदके कथनानुसार होती, तो हमारे पराभवको कुछ न कुछ मर्यादा तो अवश्य होती।

उपर दिये मंत्रोंमें ' स-गणाः ' पद है। अर्थात् गणोंके साथ ये सैनिक अपने विशाल घरमें रहते हैं। गण उन सैनिकोंका नाम है कि जिनका प्रवेश सेनामें हुआ है और उनकी गणना सैनिक करके हो चुकी है।

इन मंत्रोंमें ' स्वश्वाः (सु-अश्वाः) ' पद है। उत्तम घोडे जिनके पास रहते हैं। अर्थात् घुडदलके सैनिक भी

ऐसे ही बडे विशाल मकानमें रहते थे। वैदिक समयमें जैसे पदाती (पैदल) विभागके सैनिक होते थे, वैसे ही घुडसवार भी होते थे। पैदलोंके समान ही घुडसवारोंकी रहने सहनेकी अनुशासन पद्धति समान ही थी। अर्थात् पैदल वीरोंकी रहनेकी शाला एक स्थानपर होती थी और घुडसवारोंकी दूसरे स्थानपर होती थी। उनके घर पृथक् होते थे, और घोडोंके स्थान भी पृथक् रहते थे। यहां हमें मालूम हुआ कि वैदिक समयमें घुडसवारोंकी सेना भी पृथक् थी।

इन मंत्रोंमें ' मनुषासः, मर्याः, नरः ' ये तीन पद हैं। ये सर्वसाधारणतः मनुष्यवाचक हैं, परंतु यहां ' मानवोंकी सेवा करनेवाले ' इस अर्थमें विशेषकर ये पद आये हैं। मनुष्योंका हित करनेका प्रयत्न करनेवाले। ' नरः नृभ्यो हिताः ' इस तरह इनका अर्थ समझना योग्य है। सैनिक नागरिकोंका हित करनेके लिये ही सेनामें प्रविष्ट होते हैं। यह कर्तव्य इन सैनिकोंका यहां व्यक्त हुआ है।

खेलनेमें प्रवीण

ये सैनिक खेल अर्थात् मर्दानी खेल खेलनेमें प्रवीण थे। वीरोंको ऐसा ही मर्दानी खेलोंके विषयमें प्रेम रहना चाहिये—

शिशूला न क्रीळाः सुमातरः। ऋ. १०।७८।६

' उत्तम माताओंको उत्तम खेल खेलनेवाले पुत्र होते हैं।' जो उत्तम वीर होते हैं, वे मर्दानी खेल खेलनेमें अत्यत प्रेम रखते हैं। इनका स्वभाव ही खेल खेलनेकी ओर होता है। ऐसे उत्तम मर्दानी खेल खेलनेवाले बडे वीर और बडे बहादर होते हैं। वीरोंको मर्दानी खेलोंमें प्रवीण रहना चाहिये।

ये सैनिक स्त्रियोंके समान सजते हैं।

हम सैनिकोंको जिस समय देखते हैं, उनके सब कोट, बूट, सूट, टोपी, बटन, शस्त्र-अस्त्र सब चकफक रहते हैं। ऐसा दीखता है कि ये सदा स्त्रियोंके समान सजेसजाये ही रहते हैं। यही बात वेदमंत्रमें वर्णन की है देखिये—

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयः
यामन्‌ रुद्रस्य सूनवः सुदंससः। ऋ. १।८५।१

(ये) ये वीर (जनयः न) स्त्रियोंके समान (प्रशुम्भन्ते) अपने आपको सुशोभित करते हैं। स्त्रियां जिस तरह सदा अपने आपको सजाकर रखती हैं, उस तरह ये वीर अपने आपको सदा सजाकर रखते हैं। किसी समय इनकी कोई चीज या कोई वस्तु सुशोभित नहीं होती ऐसा नहीं होता। सदा इनकी वेषभूषाके सभी पदार्थ ठीकठाक और चकफक तथा जैसे सुशोभित हो सकते हैं, वैसे ही होते हैं। किसी भी समय, किसी भी रीतिसे, किसी भी स्थानपर शोभारहित वस्तु उनके शरीरपर दीखती नहीं। सदा ये सजेसजाये रहते हैं। सदा ठीकठाक रहते हैं।

यन्नदृशः न शुभयन्ते मर्याः। ऋ. ७।५६।१६
गोमातरः यत् शुभयन्ते अञ्जिभिः। ऋ. १।८५।३

" यज्ञ देखनेके लिये जिस समय लोग जाते हैं उस समय जैसे सजकर, सुन्दर होकर जाते हैं, अपने शरीरको तथा अपने पोषाखको सजाकर जाते हैं, उस तरह ये सैनिक वीर सजेसजाये होनेके कारण सुन्दर दीखते हैं। गौको माता माननेवाले ये वीर अपने गणवेषसे अपने आपको सुशोभित करते हैं। "

यहां ' अञ्जि ' पद ' गणवेष ' का वाचक है। जो जिसका गणवेष होता है वह डालकर वह वीर सजकर अपने कामपर या अपने स्थानपर खडा रहता है, इस कारण वह वहां बडा सुदर दीखता है।

हम सैनिक या पुलिसको सदा सजासजाया देखते हैं। इस कारण इसका परिणाम जनतापर होता है। यह बात वैदिक समयके राजकर्ताओंने जान ली थी। अतः वे अपने सैनिकोंको सदा सजेसजाये रखते थे। उनका अनुशासन ही वैसा था कि कोई सैनिक ढिलाढाला न रहे, कोई मलीन न रहे। सब सैनिक प्रभावी रहें। और देखिये—

स्वायुधा इष्मिणः सुनिष्काः।
उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः। ऋ. ७।५६।११
सस्र चिद्धि तन्वः शुम्भमानाः। ऋ. ७।५।७
स्वः क्षत्रेभिः तन्वः शुम्भमानाः। ऋ. १।१६५।५

" (सु-आयुधाः) उत्तम शस्त्र धारण करनेवाले, (इष्मिणः) गतिमान, (सुनिष्काः) उत्तम मणियोंका हार धारण करनेवाले, अथवा अपने शरीरपर रहनेवाले

सुवर्णके भूषण जिनके उत्तम तेजस्वी हैं ऐसे ये वीर (तन्वं शुम्भमानाः) अपने शरीरको सुशोभित रखते हैं। (सत्वः) गुप्तस्थानमें रहनेवाले अपने शरीरको सजाते हैं। (स्वक्षत्रेभिः) अपने शौर्यसे अपने शरीरकी शोभा बढाते हैं।"

ये वीर (सु—आयुधः) अपने आयुधोंको, अपने शस्त्रास्त्रोंको अत्यंत तेजस्वी अवस्थामें रखते हैं। साफसफाई करके अपने सब आयुध उत्तम स्थितिमें रखते हैं। कोई शस्त्र मलिन होने नहीं देते। (इष्मिनः) इष्—अन्न और धनसे युक्त। सबके अन्न और धनका संरक्षण करनेके कारण इनको अन्न, धन जो चाहिये वह प्राप्त रहता है।

(सु— निष्काः) निष्क नाम मोहोर या अलंकारका है। अपने शरीरपर धारण करनेके अलंकार, कपडे, वेष भूषाके अलंकार आदि सबके सब जिसके तेजस्वी हैं। अपने शरीरकी शोभा बढानेवाले, मूंछ, दाढी, बाल आदिको अत्यंत आकर्षक जो रखते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी भी तरह शोभामें न्यून न हो ऐसी सदा व्यवस्था दक्षतासे करनेवाले तथा अपना सौंदर्य बढे इसलिये जो यत्न करते हैं ऐसे ये वीर हैं।

(सत्वः) स्वयं गुप्त स्थानमें रहते हैं। पुलिस अथवा सैनिक भी किसी किसी समय कुछ कारण विशेषके लिये गुप्त स्थितिमें रहते हैं। किसी दूसरेको न दीखें ऐसी स्थितिमें रहते हैं। तथापि ऐसे समयमें भी वे अपने शरीरको सुंदर रखते ही हैं।

(स्वक्षत्रेभिःतन्वं शुंभमानाः) अपने क्षात्र चिन्होंसे अपने शरीरकी शोभा बढाते हैं। अपने ओहदेके चिन्होंसे ये अपने शरीरको सजाते हैं। इनकी यह सजावट, इनका दबाव बढानेके लिये सहायक होती है।

पिशा इव सुपिशः। ऋ. १।६४।८
अनुश्रियः धिरे। ऋ. १। ११६।१०
सुचन्द्रं सुपेशसं वर्णं दधिरे। ऋ. २।३४।१३
महान्तः विराजथ। ऋ. ५।५५।२
रूपाणि चित्रा दद्दर्शा। ऋ. ५।५२।११

" उत्तम सुन्दर रूप जैसा सुन्दर दीखता है, वैसे जो सुन्दर दीखते हैं। इसप्रकारसे जो अपनी शोभा बढाते हैं। उत्तम तेजस्वी, अत्यंत सुन्दर वर्णका धारण करते हैं। बडे होकर विराजते रहो। इनके नानाप्रकारके रूप देखने योग्य हैं।"

जिन्होंने सैनिक देखें हैं, वे जैसे सजे रहते हैं। वैसे ही ये वैदिक समयके सैनिक अपने शरीर, बाल, मूछियां, दाढी, साफा, अस्त्रशस्त्र आदिको बडा तेजस्वी, सुन्दर तथा प्रभावी रखते थे। जिससे इनकी शोभा बढती थी और समयपर अस्त्रशस्त्र भी कार्यक्षम रहते थे। शोभाकी शोभा और उपयोगका उपयोग, ऐसे दोनों प्रकारके काम इनकी सजावटसे होते थे।

मरुतोंका गणवेष

ये जो वीर हैं वे ' मरुत् ' करके वर्णित हुए हैं। मरुत्का अर्थ यह है—

मरुतो मितराविणो वा मितरोचनो वा महद् रवन्तीति वा। निरु. ११।२।१

कइयोंकी संमतिसे यह यास्काचार्यका वचन ऐसा है—

मरुतोऽमितराविणो वाऽमितरोचनो वा महद् द्रवन्तीति वा। निरु. ११।२।१

इसका भाव यह है—

१ मरुतः = मितराविणः = मितभाषी, अधिक बडबड न करनेवाले;

२ मरुतः= अमित-राविणः= बहुत भाषण करनेवाले;

३ मरुतः = मितरोचनः = परिमित प्रकाश देनेवाले;

४ मरुतः = अमित रोचनः= अपरिमित प्रकाशनेवाले;

५ मरुतः = महत्द्रवन्ति = बडी गतिसे जो जाते हैं।

निरुक्तकारके इस वचनके ये दोनों प्रकारके अर्थ टीकाकार मानते हैं इस कारण ये यहां दिये हैं। और भी ' मरुत् ' के अर्थ हैं वे अब देखिये—

१ मरुत् = (मा-रुद) = न रोनेवाले, युद्धमें न रोते हुए अपने कर्तव्य करनेवाले,

२ मरुत् = (मा-रुत्) = न बोलनेवाले, कम बोलनेवाले।

३ मरुत् = (मर्-उत्) = मरनेतक उठकर अपना कर्तव्य करनेवाले।

इस तरह अर्थ करके यह बताया है कि ये मरुद्वीर बहुत भकभक करते नहीं, परंतु चुप रहकर अपना कर्तव्य करते हैं। कभी रोते नहीं रहते, परतु तत्परतासे अपना कर्तव्य आनदके साथ करते हैं। मरनेतक उठकर कार्य करते रहते हैं। आलस्यमें कभी रोते नहीं रहते।

मरुत् वीरसैनिक हैं। इनका कार्य कैसा होना चाहिये यह बात इन अर्थोंके द्वारा बतायी है। पदोंका अर्थ करके तथा पदकी व्युत्पत्ति करके उसके गुण बताये जाते हैं। इसलिये इस व्युत्पत्तिका महत्त्व है। तथा व्युत्पत्तिका भाव बतानेवाले मंत्र भी रहते हैं। अस्तु। वीरोंके गुण इन अर्थोंके द्वारा बताये हैं। वीर न रोवें, न भकभक करें, न बोलते ही रहें, परंतु शक्ति रहनेतक अपना कर्तव्य करते रहें।

वीरोंके शस्त्र

वीरोंके शस्त्रास्त्र तथा गणवेषका वर्णन निम्नस्थानमें लिखित मंत्रोंमें देखने योग्य है—

> वाशीमन्तो ऋष्टिमन्तो मनीषिणः
> सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः।
> स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः
> स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥ २ ॥
> ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि
> सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्।
> नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो
> विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ॥ ६ ॥
> ऋ. ५।५७

(वाशीमन्तः) बर्छियाँ धारण करनेवाले, (ऋष्टिमन्तः) भाले बर्तनेवाले, (सु-धन्वानः) उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले, (इषुमन्तः) बाण पास रखनेवाले, (निषङ्गिनः) तर्कस-बाणोंकी थैलियां पास रखनेवाले, (सु-रथाः) उत्तम रथमें बैठनेवाले, (सु-अश्वाः) उत्तम घोडे अपने पास रखनेवाले, (पृश्नि-मातरः) मातृभूमिकी उपासना करनेवाले आप वीर (मनीषिणः) मनको अपने आधीन रखनेवाले हैं। वे अपने मनको इधर उधर भटकने नहीं देते। अच्छे कार्यमें अपने मनको लगाते हैं। ऐसे तुम (शुभं याथन) शुभ कर्म करनेके लिये आगे बढो।

आपके (अंसयोः अधि) कंधोंपर (ऋष्टयः) भाले हैं, (वः बाह्वोः) आपके बाहुओंमें (सहः ओजः बलं हितं) साहस, सामर्थ्य और बल रखा है। (शीर्षःसु नृम्णा) आपके सिरपर साफे हैं। यहांका 'नृम्णा' पद 'साफा, मुकुट, अथवा (नृ-मणा) मनुष्योंका मन जिसपर आकर्षित होता है वह आभूषण, वस्त्र अथवा पहनने योग्य वस्तु' ऐसा भाव बताता है। पर यह (शीर्षः सुनृम्णा) सिरमें धारण करने योग्य सुन्दर वस्तु है। यह मुकुट होगा, या सुन्दर साफा होगा और ऐसी ही कोई दूसरी सिरमें पहनने योग्य चीज होगी। 'नृम्णा' का अर्थ 'हिरण्मयानि पदोष्णीषादीनि' यह अर्थ सायनाचार्य देते हैं। इसका अर्थ जरतारीका साफा ऐसा है।

(रथेषु आयुधा) रथोंमें शस्त्र या आयुध रखे हैं। ऐसे ये वीर (विश्वा श्री. तनुषु पिपिशे) सब शोभा इनके शरीरोंमें चमकती है। यह वर्णन सैनिकोंका है। युरोपीयन सेनाके सैनिकोंमें शस्त्रास्त्र भले ही दूसरे हों, पर इनके शरीर गणवेष धारण करनेके पश्चात् ऐसे शोभते हैं इसमें संदेह नहीं है। ऐसे ही सैनिक वैदिक समयकी सेनामें थे यह यहां देखने योग्य है। इनका वर्णन और देखिये—

> अंसेष्वा मरुतः खादयो वो
> वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
> वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना
> अनु स्वधामायुधैर्यच्छमाना ॥ ऋ. ७।५६।१३

(अंसेषु खादयः) तुम्हारे कधोंपर आभूषण हैं, (वक्षःसु रुक्मा) छातीपर सुवर्णके कण्ठे (उपशिश्रियाणाः) लटक रहे हैं। वृष्टिके समय (विद्युत न) बिजलियां चमकती हैं उस तरह चमक दमक तुम अपने आयुधोंसे (अनु यच्छमानाः) चमका रहे हैं। इसी तरह और भी सैनिकोंके पोषाखका वर्णन देखिये—

> समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि
> बाहुषु। दविद्युतत्यृष्टयः ॥ ११ ॥
> त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो
> नकिष्टनूषु येतिरे।
> स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेषु
> अधिश्रियः ॥ १२ ॥ ऋ. ८।२०।११-१२

(एषां) इन सब सैनिकोंके (अञ्जि) आभूष (समानं) समान हैं। सबकी वेषभूषा, सबका गणवेष समान है। यह महत्वका वर्णन यहां देखने योग्य है। जितने सैनिक होंगे उन सबकी वेषभूषा समान होनी चाहिये। जो पोशाख जो शस्त्र-अस्त्र, जो कपडे एकके होंगे वे ही सबके होंगे। ऐसा होनेके लिये ही ' गणवेष धारण करना ' कहते हैं। गणवेष सबका समान ही होता है।

(बाहुषु अधि रुक्मासः विभ्राजन्ते) बाहुओंपर चांद चमकते रहते हैं। वे भी सब सैनिकोंके एक जैसे ही होते हैं। (ऋष्टयः दविद्युतत्) भाले सबके चमक रहे हैं।

(ते उग्रासः वृषणः) वे उग्र दीखनेवाले बलवान् वीर (उग्र बाहवः) जिनके बाहू उग्र प्रभावी दीखते हैं। (तनूषु नकिः येतिरे) ये वीर अपने शरीरके सम्बन्धमें कुछ भी विचार नहीं करते। अर्थात् युद्धके समय या जनताकी सेवा करनेके समय अपने शरीरकी पर्वाह न करके जनसेवाका कार्य करते हैं। कहीं भी आग लगी तो अन्दर घुसते हैं और किसीको बचाना हो तो उसको बचाते हैं। अर्थात् अपने शरीरकी पर्वाह न करते हुए जनसेवाका कार्य करते हैं।

आपके आयुध रथोंमें स्थिर रहते हैं। जहां जो शस्त्र रखना हो वह ठीक उसी स्थानपर रखा जाता है। कभी इधर उधर नहीं रखा जाता। इतनी व्यवस्था तथा अनुशासन इनका शस्त्रास्त्र रखनेके कार्यमें रहता है। रातमें या अन्धेरेमें भी वहांका फलाना शस्त्र लाना हो तो वहांसे ही ये ला सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक शस्त्रका स्थान नियत है और वह उसके स्थानपर ही रखा जाता है। सैनिकोंकी हरएक कार्यवाहीमें यह अनुशासन अत्यंत आवश्यक है। सेनाका सामर्थ्य इस अनुशासनसे बढता है।

यहां कहा है कि (रथेषु स्थिरा धन्वानि) रथोंमें स्थिर धनुष्य हैं। अर्थात् दो प्रकारके धनुष्य होते हैं। एक स्थिर धनुष्य रथके स्तंभके साथ लगे रहते हैं। ये धनुष्य बडे होते हैं। इनका बाण बहुत दूर जाता है। दूसरे धनुष्य हाथमें पकडकर चलानेके होते हैं। ये धनुष्य छोटे होते हैं। ये धनुष्य हाथमें लेकर जिधर चाहिये उधर जाकर शत्रुपर चलाये जाते हैं। स्थिर धनुष्य अपने स्थानसे हिलाये नहीं जाते। परन्तु चलधनुष्य हाथमें पकडकर जहां चाहिये वहां ले जा सकते हैं। वीरोंके लिये इन दोनों धनुष्योंकी आवश्यकता रहती है। और देखिये—

> युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो
> ववक्षु अध्रिगावः पर्वता इव।
> दृळ्हा चिद्विश्वा भुवनानि पार्थिवा
> प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना ॥ ३ ॥
>
> चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते
> वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे।
> अंसेष्वेषां नि मिमिक्षु ऋष्टयः
> साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः ॥ ॥
>
> ऋ० १।६४।३-४

(युवानः रुद्राः) ये तरुण वीर शत्रुको रुलानेवाले (अजराः) जराराहित अ-भोग्-हनः) अनुदार शत्रुका वध करनेवाले, (अ-ध्रि-गावः) जिनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता, (पर्वता इव ववक्षुः) पर्वतोंके समान स्थिर रहते हैं, जनताको सुखी करनेकी इच्छा करते हैं। (मज्मना) अपने सामर्थ्यसे (विश्वा पार्थिवानि दिव्यानि भुवनानि) सब पृथ्वीपरके तथा आकाशमें रहनेवाले सब स्थिर भुवनोंको भी (प्रच्यावयन्ति) हिला देते हैं।

सुस्थिर सुदृढ शत्रुके स्थानोंको हिला देते हैं, तोडते हैं, चलाते हैं। शत्रुके स्थान सुदृढ होनेपर भी ये वीर उसको तोडकर नष्ट कर देते हैं। अर्थात् इन वीरोंके लिये किसी भी शत्रुका स्थान सुस्थिर नहीं है, इतना इनका सामर्थ्य है।

ये वीर (चित्रैः अञ्जिभिः) चित्रविचित्र भूषणोंसे (वपुषे व्यञ्जते) अपने शरीरको सुशोभित करते हैं। (शुभे वक्षःसु रुक्मान्) शरीरकी शोभा बढानेके लिये छातीपर चांद धारण (अधि येतिरे) करते हैं। (एषां अंसेषु ऋष्टयः निमिमिक्षुः) इनके कन्धोंपर भाले चमकते रहते हैं। ये (नरः) नेता वीर (स्वधया साकं) अपनी धारणशक्तिके साथ (दिवः जज्ञिरे) द्युलोकसे प्रकट हुए ऐसा प्रतीत होता है।

इन मंत्रोंमें इन वीरोंका हमला शत्रुपर कैसा होता है यह ठीक तरह बताया है। शत्रु कितना भी प्रबल हुआ तो भी उसको ये उखाड देते हैं। ये तरुण वीर होते हैं और शत्रुको उखाडकर भेज देनेमें अत्यंत प्रवीण होते हैं। ऐसे

ये वीर होते हैं। अपने सैनिक कैसे होने चाहिये यह यहां अच्छी तरह बताया है।

वीरोंका गणवेश

इन वीरोंका गणवेश कैसा था, इसका वर्णन अब देखिये—

(१) सिरमें

वीरोंके शिरोभूषणके सम्बन्धमें इस तरह लिखा है—

१ शीर्षस्सु नृम्णा (ऋ. ५।५७।६) = सिरमें साफा, पगडी अथवा जरतारीका शिरोवेष्टन।

२ शिप्रा शीर्षन् हिरण्ययी (ऋ. ८।७।२५) = सिरपर साफा जिसपर सुवर्णकी नकशीका काम किया होता है ऐसा है।

३ हिरण्य-शिप्राः (ऋ. २।३४।२) = सिरपर बांधनेके लिये जरतारीका साफा होता है।

इस तरह शिरोभूषणके विषयमें कहा है। इससे साफा, जरतारीका साफा अथवा पगडी जिसपर जरतारीकी नकशी रहती है, यह वैदिक समयके सैनिकोंका शिरोवेष्टन था ऐसा प्रतीत होता है।

(२) कंधोंपर भूषण

कन्धोंपर रहनेवाले भूषणोंके विषयमें ये मन्त्र देखने योग्य हैं—

अंसेषु ऋष्टयः। ऋ. १।६४।४; ५।५४।११
ऋष्टयोः अंसयोरधि। ऋ. ५।५७।६
ऋष्टिमन्तो मनीषिणः। ऋ. ५।५२।१
अंसेषु खादयः। ऋ. ७।५६।१३
अंसेषु प्रपथेषु खादयः। ऋ. १।११६।९
ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति। ऋ. ५।५२।१३
वाशीमन्तः ऋष्टिमन्तः। ऋ. ५।५७।२
क्रीळथ ऋष्टिमन्तः। ऋ. ५।६०।२

"आपके कन्धोंपर भाले हैं। तुम बुद्धिमान हो और भाले धारण करनेवाले हो। कन्धोंपर (खादयः) एक प्रकारके पदक जैसे आभूषण रखे जाते हैं। इन वीरोंके भाले बिजली जैसे तेजस्वी होते हैं। ये कवि होनेपर भी भाले बर्तते हैं।"

यहां कन्धोंपर धारण करनेकी दो वस्तुएं कहीं हैं। एक भाले और दूसरा आभूषण 'खादी'। यह आभूषण सोनेका या चांदीका होता है। पदक जैसा होता है और सुन्दर तथा बडा तेजस्वी दीखता है।

(३) छातीपर भूषण

अब छातीपरके भूषणके विषयमें देखिये—

वक्षःसु रुक्मा। ऋ. १।६४।४; ७।५६।१३
रुक्मासः अधि बाहुषु। ऋ. ८।२०।११
तनूषु शुभ्रा दधिरे वि रुक्मतः। ऋ १।८५।३
वक्षःसु रुक्मा रभसास अञ्जयः। ऋ. १।१६६।१०
वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः। ऋ. ५।५४।११
खादयः वः वक्ष सु रुक्मा उपशिश्रियाणाः। ऋ. ७।५६।१३
मरुत रुक्मवक्षसः। ऋ. २।३४।२
युञ्जते मरुतः रुक्मवक्षसः अश्वान्। ऋ. २।३४।८
बृहद्वयः दधिरे रुक्मवक्षसः। ऋ. ५।५५।१
सुजातासः जनुषा रुक्मवक्षसः। ऋ. ५।५७।३
ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः। ऋ. १०।७८।२
यदेजथ मरुतः रुक्मवक्षसः। अथर्व ६।२२।२

इन वीरोंके छातीपर सोनेके पदकोंके हार होते हैं। ये हार बडे तेजस्वी रहते हैं, चमकते रहते हैं और बडे सुंदर दीखते हैं। शरीरकी हलचल होनेसे इनकी चमक दमक प्रभावी रीतिसे आकर्षक प्रतीत होती है और बडी सुन्दर

दीखती है। ये वीर घोडोंको जोतनेके समय, अपने कार्यपर जानेके समय, वहीं पहननेपर इनको पहनते हैं जिससे इनके शरीर सुन्दर आकर्षक तथा प्रभावी प्रतीत होते हैं।

जैसे आजकल पदक (मेडल) पहनते हैं उसी तरहके ये रुक्म होते थे। यह छातीपर पहननेके और बाहुओंपर पहननेके ऐसे दो प्रकारके होते हैं।

(४) कुल्हाडे धारण करना

ये वीर हाथमें कुल्हाडा धारण करते थे इस विषयमें कहा है—

ये वाशीमन्त अजायन्त। ऋ. १।३७।२'

हिरण्यवाशीभिः अग्निस्तुषे। ऋ. ८।७।३२

ते वाशीमन्तः। ऋ. १।८७।५

वस्तनूषु अधिवाशीः। ऋ. १।८८।५

ये वाशीषु धन्वसु आयाः। ऋ. ५।५३।४

'वाशी' का अर्थ 'कुल्हाडा' है। अथवा फरशी भी इसे कह सकते हैं। यह एक शस्त्र है। ये वीर कुल्हाडा या फरशी लेकर बाहर जाते हैं। यहां 'हिरण्यवाशी' कहा है। यह फरशी है पर उसपर सुवर्णकी नकशी की है ऐसी सुन्दर फरशी यह है। ये वीर फरशी और धनुष्यका आश्रय लेते हैं अर्थात् यह उनका प्रिय हत्यार होता है। भाले, कुल्हाडा, फरशी, खड्ग, गदा, धनुष्य, बाण आदि अनेक शस्त्र ये बर्तते थे।

(५) काटनेवाला शस्त्र

हस्तेषु खादिः च कृतिः च संदधे। ऋ. १।१६८।३

'हाथोंमें 'कृति' करके एक हथियार होता था। यह काटनेका कार्य करता था। यह हथियार ये वीर बर्तते थे। और एक शस्त्र था उसका नाम 'क्रिविः-दति' है इसका वर्णन ऐसा है—

यत्र वः दिद्युत् क्रिविर्दती। ऋ. १।१६६।६

क्रिवि और दती। इसको दांत रहते हैं, वे काटते हैं और इस तरह यह शस्त्र बडा घातक होता है। इस तरह अनेक प्रकारके शस्त्र इन वीरोंके पास रहते थे। जो एकके पास रहे वही वैसा ही शस्त्र सब वीरोंके पास रहता था। संघसे रहनेका अर्थ यही है। तथा सब वीर समान हैं इसका भी यही अर्थ है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—

१ वैदिक समयमें राज्य, स्वराज्य, साम्राज्य आदि अनेक प्रकारके राज्यशासन प्रचलित थे।

२ राज्यका संरक्षण करनेके लिये सेना रखी जाती थी और सैन्यकी शिक्षा पूर्णरूपसे अनुशासनसे होती थी।

३ सेनाके सैनिकोंको रहनेके लिये बडे मकान बने होते थे, और इनमें अनेक कमरोंमें अनेक सैनिक रहते थे। ये घर सरकारी होते थे।

४ घुडसवारोंकी सेना भी होती थी और इन सैनिकोंके रहनेका प्रबन्ध भी उसी तरह होता था जैसा साधारण सैनिकोंका होता था।

५ सेनाके पास शस्त्र अस्त्र आदिका संभार अच्छा रहता था और इन शस्त्रोंसे शत्रुको परास्त किया जाता था।

६ युद्धके अनेक प्रकार होते थे और उनकी शिक्षा सैनिकोंको प्रथमसे दी जाती थी।

७ सब सैनिक समान समझे जाते थे। इनमें कोई श्रेष्ठ और दूसरा कनिष्ठ ऐसा नहीं था। सबका समान दर्जा रहता था।

८ सबका गणवेश तथा उनके शस्त्र अस्त्र समान रहते थे। किसी भी कारण उनमें न्यूनता या अधिकता मानी नहीं जाती थी।

९ भरती करनेके समय उनके विशाल शरीर, क्षात्रकर्म करनेमें उनकी समर्थता, शत्रुका नाश करनेकी उनकी पात्रता, बल, सामर्थ्य तथा साहस देखा जाता था और सेनामें भरती होती थी। सेनामें भरती होनेपर फिर वे सबके सब समान माने जाते थे।

१० ये वीर निजसामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् हों ऐसी शिक्षा उनको दी जाती थी।

११ ये सब सैनिक मातृभूमिके सेवक हैं, मातृभूमिकी सेवाके लिये जो करना आवश्यक होगा, वह सब उनको करना आवश्यक था।

१२ इनका रहना सहना शंघश. ही होता था।

१३ ये सैनिक घोडे भी अपने पास रखते थे। इनकी घुडसवारकी सेना बनती थी। इनका रहन सहन भी समान रीतिसेही होता था।

१४ खेलमें प्रवीण होनेकी आवश्यकता इनके लिये थी। नानाप्रकारके खेलोंमें ये प्राविण्य कमाते थे।

१५ ये सैनिक स्त्रियोंके समान अपने आपको सजाते थे। अपनी हरएक वस्तु स्वच्छ, सुंदर तथा चमकदार रखना इनका कर्तव्य था।

१६ ये वीर अधिक बडबड करते नहीं थे। जितना जिस समय आवश्यक है उतना ही ये बोलते थे। गप्पें मारते हुए ये कभी बैठते नहीं थे।

१७ कुल्हाडा, फरशी, भाला, धनुष्यबाण ये सब इनके शस्त्र थे।

१८ सिरपर साफा रहता था, छातीपर चांद और बाहुओंपर भाला रहता था। अन्यान्य शस्त्र अस्त्र अन्य रीतिसे साथ रहते थे। हरएक शस्त्र अस्त्र चमकदार रखना इनका कर्तव्य था।

इतना विषय प्रतिपादन इस व्याख्यानमें हुआ है। आगेके लेखमें क्या अधिक मिलता है यह देखेंगे।
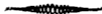
प्रश्न

१ वेदमें कितने प्रकारके राज्योंके वर्णन हैं ?
२ सेनाकी आवश्यकता वेदने किस तरह बतायी है ?
३ सेनापथकका कार्य क्या था ?
४ अपव्रत तमसास्त्र से क्या होता था ?
५ वैदिक राज्यव्यवस्थामें सैन्यके विषयमें कौनसी बात विशेषरूपसे कही है ?
६ युद्धकी संभावना किस कारण होती है ?
७ युद्धकी सभावना होनेपर प्रजाका तथा शासकोंका क्या कर्तव्य होता है ?
८ अपना बल बढानेके विषयमें वेदमन्त्रोंमें क्या उपदेश कहा है ?
९ युद्धमें कुशलता बतानेके विषयमें क्या कहा है ?
१० सब सैनिक समान हैं इस विषयका वेदमन्त्रका उपदेश किस मन्त्रमें कहा है ? और उसका भाव क्या है ?
११ सब सैनिक समान न माने जांय तो क्या होगा ?
१२ अनुशासनशील सेनासे क्या लाभ होते हैं ?
१३ अनुशासन सेनामें न रहा तो क्या हानि होनेकी सम्भावना है ?
१४ सेनामें भरती करनेके लिये वेदमंत्रोंमें कौनसे गुण आवश्यक माने हैं ?
१५ सब सैनिक एक बडे घरमें रहते थे इसको बतानेवाला वेदमन्त्र कौनसा है ?
१६ एक घरमें रहनेसे लाभ कौनसा है और पृथक् पृथक् घरोंमें सैनिक रहे तो हानि कौनसी होनेकी सम्भावना है ?
१७ सैनिकोंके लिये खेलोंमें प्रवीण रहनेकी आवश्यकता क्यों मानी गयी थी ?
१८ वेदमन्त्रोंमें कहे सैनिकोंके शस्त्र, अस्त्र, वेशभूषण, आयुध आदिकोंके कौनसे नाम वेदमें कहे हैं ? उनका स्वरूप क्या है ?
१९ सिरसे लेकर पैरतक सैनिक जो पहनते थे उनके नाम क्या हैं ?
२० ' मरुत् ' पदके अर्थ जितने हैं वे सब बताइये ?
२१ मरुतोंके पास जो काटनेवाले भयानक शस्त्र रहते थे उनके वर्णन करके बताइये कि उनके स्वरूप कैसे थे ?

उसको यथावत् वह जानता है। इस विश्वमें जड और चेतनको उत्तम रीतिसे जानता है।

७१ अमृतस्य गोपाः अवः परः चरन् पश्यन् इदं विकेतत् (६।९।३)— यह अमृतका संरक्षक होकर इधर और उधर संचार करनेवालेको देखता है और सबको जानता भी है। (अवः) इधर पृथ्वीपर रहनेवालेको तथा (परः) दूर सूर्यमें रहनेवालेको भी जानता है और बीचके भी सब भूतोंको जानता है। यह अमृतका रक्षक होता है। जो सब ज्ञानको जानता है वह अमर होता है। ज्ञानसे अमरत्व प्राप्त होनेका वर्णन यहां है।

१० पुरि ज्युर्यः इव रण्वः (६।२।७)- नगरीमें वृद्ध जैसा उपदेश करनेवाला होता है, वैसा ज्ञानी यह है। नगरीमें वृद्ध पुरुष होता है, उसके पास लोग आते हैं और पूछते हैं, और उसकी सलाह लेते हैं, वैसा यह विद्वान् लोगोंसे सलाह लेने योग्य हैं। लोग इसके पास आयें और इसे प्रश्न पूछें और इससे संमति प्राप्त करके तदनुसार कार्य करें।

१४४ पुरुचेतनः, १५४ विचर्षणिः १५५ ब्रह्मणः कविः (६।१६।१९;२९,३०)- वह बहुत ज्ञानी, द्रष्टा देखनेवाला, दूरदर्शी, सत्य स्थितिका दर्शन करनेवाला, ज्ञानका काव्यमें वर्णन करनेवाला है। अर्थात् वह स्वयं विशेष ज्ञानी है, ज्ञान विशेष होनेके कारण सबका ज्ञान यथावत् प्राप्त करता है, और जो ज्ञान उसके पास होता है उसका वर्णन अथवा उपदेश वह रसमयी मधुरवाणीसे करता है।

११८ अध्वनः पथः च अञ्जसा वेत्थ (६।१६।३)- वह ज्ञानी अच्छे मार्गों और बुरे मार्गोंको तत्काल जानता है। जो राजमार्ग है, अच्छा निष्कंटक है, उसको 'अध्वा' कहते हैं और जो पांवसे बना मार्ग होता है वह 'पथ' कहलाता है। अध्वापरसे रथ, गाडी, हाथी, घोडे सब अच्छी तरहसे जाते हैं, पर छोटी पगदंडीसे वैसे नहीं जा सकते। इसी तरह मानवी उन्नतिके अच्छे और बुरे मार्गोंको यह ज्ञानी जानता है और लोगोंको समझाता है कि यह मार्ग अच्छा है और इससे जानेसे सुख प्राप्त हो सकता है।

५१ तृष्णाः जिह्वा प्रपापतीति (६।६।५)— बलवानकी जिह्वा विशेष चलती है। निर्बल पुरुष डरता रहता है। जो बलवान होता है वह निर्भय होकर जो बोलना चाहिये वह बोलता है।

१० भद्रायां सुमतिं आयतेमहि (६।१।१०)— उत्तम कल्याणकारी सुमतिको प्राप्त करके उन्नतिके लिये प्रयत्न करेंगे।

१४ सुमतिं वोचः (६।२।११)- उत्तम बुद्धिकी प्रशंसा करो।

इस रीतिसे उत्तम बुद्धिका वर्णन वेद कर रहा है।

ज्ञान

६२ जातवेदसः सहः विदथा प्रवोचं (६।८।१)- ज्ञानीके बलका सभामें वर्णन करता हूं।

७० इह कस्य स्वित् पुत्रः परः अवरेण पित्रा वक्त्वानि वदाति (६।९।२)- यहां भला किसका श्रेष्ठपुत्र अवरपितासे मिलकर योग्य वक्तृत्व करता है?

११६ अविद्वांसः तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चं विदुष्टरं सपेम (६।१५।१०)— अविद्वान हम सज्ञान दर्शनीय प्रगतिशील ज्ञानीकी पूजा करते हैं।

१२३ अमूरं अंकूयन्तं द्याव्याभ्यः आनयन् (६।१५।१७)- ज्ञानी प्रगतिशीलको अज्ञानान्धकारोंसे हम अपने पास लाते हैं।

१३२ स्वाध्यः मर्तासः त्वां देवं देववीतये ईळते (६।१६।७)- स्वाध्यायशील मनुष्य तुझ ज्ञानीको देवत्व प्राप्तिके लिये सत्कृत करते हैं।

१६७ जातवेदसे स्योने- (६।१६।२) ज्ञानी सुखकर है।

पवित्रता

नेताके ज्ञानके विषयमें वर्णन किया गया, अब उसकी पवित्रताका वर्णन करते हैं। जो ज्ञानी होता है वह पवित्र भी रह सकता है। जिसमें ज्ञान नहीं, वह पवित्र किस तरह रह सकता है? अर्थात् ज्ञान और पवित्रता साथ साथ चलती है। इसलिये अग्रणीके ज्ञानका वर्णन हुआ, अब उसकी पवित्रताका वर्णन करते हैं—

४० अवृकेभिः पथिभिः नः रायः पर्षि (६।४।८)- अहिंसक मार्गोंसे, हमें धन दो।

५० शुचिः (६।६।३)- वह शुद्ध है।

१०७ जनुषा शुचिः (६।१५।१)- वह जन्मसे ही पवित्र है। स्वभावसे वह पवित्र है। बनावटी पवित्रता उसमें नहीं है। सहज स्वभावसे वह पवित्र है।

८ **पावकः** (६।१।८)— वह स्वयं पवित्र है और वह दूसरोंको पवित्र करता है, निर्दोष बना देता है।

४० **अंहः पर्षि** (६।४।८)- पाप दूर करो।

१७ **अग्नेः दृशतिः अरेपाः** (६।३।३)- अग्रणीका दर्शन ही पापरहित है, निर्दोष है, पवित्र है।

इस तरह अग्निकी पवित्रता, शुचिता और निर्दोषताका वर्णन अग्निके मंत्रोंमें आया है। ज्ञाता होनेसे यह पवित्र है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ज्ञानसे दृष्टि उत्पन्न होगी और उस दृष्टिसे वह ज्ञानी, शुद्ध, पवित्र और निर्दोष या निष्कलंक होता है।

नेता यहांतक पवित्र होना चाहिये कि उसका (दृशतिः अ-रेपाः) दर्शन ही पापरहित होना चाहिये। उसको देखते ही पाप करनेकी बुद्धि दूर होनी चाहिये। उसके सामने कोई पाप करनेका साहस न कर सके इतना उसका प्रभाव होना चाहिये। जहां वह जाय वहां उसके पहुंचनेके पूर्व ही पवित्रता हो, ऐसा उसका प्रभाव रहना चाहिये।

बल

जो ज्ञानी होता है, जो पवित्र रहता है, वह बलवान् होता है। अज्ञानी अपवित्र पापीमें वह बल नहीं रहता जो ज्ञानी पवित्रात्मामें होता है। पापी भले ही गुण्ड हों, पर वह पवित्रताका जो तेजस्वी बल होता है, वह उनमें नहीं रह सकता। हमारा आदर्श अग्नि ज्ञानी और पवित्र अग्रणी है, इस कारण उसमें ज्ञान और पवित्रताके साथ बल भी रहता है, इसको प्रकट करनेवाले ये पद हैं—

१० **सहसः सुनुः** (६।१।१०);
११८ **सहसावन्** (६।१५।१२);
१५८ **सहन्त्य** (६।१६।३३);
१६१ **सहस्कृतः** (६।१६।३७)

ये पद सहन शक्तिके सामर्थ्यके वाचक हैं। शत्रुका हमला हुआ, तो शत्रुको परास्त करके स्वयं अपने स्थानमें सुरक्षित रहनेकी जो शक्ति है वह '**सहस्**' अथवा '**सहः**' कहलाती है। अपने स्थानमें सुरक्षित रहकर शत्रुको परास्त करके नष्ट करना यह बल '**सहः**' पदसे कहा गया है। यह बल इस अग्रणीमें है इसलिये इसके लिये वे नाम सार्थ हुए हैं।

६३ **वृषा** (६।८।१); ८ **वृषभः** (६।१।८); ये पद उस सामर्थ्यके वाचक हैं कि जो बैल जैसी शक्ति रखता है। बैलके समान हृष्टपुष्ट सामर्थ्यशाली वीरका वर्णन ये पद कर रहे हैं। इसलिये कहा है कि—

६४ **वैश्वानरः विश्वं वृष्ण्यं अधत्त** (६।८।३)- विश्वका नेता सब प्रकारका बल अपनेमें धारण करता है। बल न हो तो वह सब विश्वका नेतृत्व कर ही नहीं सकता। इसलिये नेता बलवान् होना चाहिये।

१५० **ऊर्जो न-पात्** (६।१६।२५)- बलको गिराना नहीं चाहिये। प्रत्युत बलको बढाना चाहिये। जो बलका नाश करेगा वह अपने स्थानपर टिक नहीं सकता। इसलिये अपना बल घटे ऐसा कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिये। प्रत्युत यत्न करके अपना सामर्थ्य बढानेका ही यत्न करना चाहिये। विजय चाहिये तो बल चाहिये।

९५ **वृत्रतूर्ये वाजः** (६।१३।१)- घेरनेवाला शत्रु वृत्र होता है। ऐसे शत्रुके साथ युद्ध करनेका प्रसंग आजाय तो बल चाहिये और बल बढानेके लिये अन्न चाहिये। '**वाजः**' के अन्न और बल ये दो अर्थ हैं और इन दोनोंका आपसमें संबंध है। एक दूसरेसे ये संबंधित हैं। अन्नसे बल बढता है और बलसे अन्नका पचन होता है और शरीरके साथ अन्न मिल जाता है। बल न होगा, तो अन्न पचन नहीं होगा और पेटमें गया अन्न शरीरका अंग नहीं बनेगा।

१६४ **तिग्मशृंगो न वंसगः** (६।१६।३९) तीखे सींगवाले बैलके समान बलवान् अग्रणी हो। तीखे सींगवाले बैलका भय लोग मानते हैं और उससे दूर रहते हैं। ऐसा प्रचण्ड बल चाहिये।

११७ **शूरः** (६।१५।११); ५४ **चित्रक्षत्रः** (६।६।७) अग्रणी शूर हो और आश्चर्यकारक शौर्यसे युक्त हो। जिसका सामर्थ्य देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं ऐसा सामर्थ्य चाहिये।

सामर्थ्यसे सब ऐश्वर्य अपने पास रहते हैं। सामर्थ्य न होगा तो कोई ऐश्वर्य अपने पास रहेगा नहीं। इसलिये मानवोंको उचित है कि वे अपना सामर्थ्य बढावें और प्रभावी ऐश्वर्यवान बनें।

१ **दुष्टरीतुः सहः अकृणोः** (६।१।१)- शत्रुका पराभव करनेका दुस्तर सामर्थ्य प्रकट कर।

८ **नितोशनं वृषभं कविं** (६।१।८)- शत्रुनाशक बलिष्ठ वीर ज्ञानी हो।

शत्रुको दूर करनेका सामर्थ्य भी हो और ज्ञान भी हो। केवल बल ही न हो पर बलके साथ विद्या भी हो।

सौंदर्य

जिसमें ज्ञान, पवित्रता और बल रहता है उसकी आकृति उक्त गुणोंके कारण सुंदर दीखती है। यह सौंदर्य ज्ञानके, पवित्रताके और बलके कारण दीखता है। ज्ञानका तेज, पवित्रताकी कान्ति और बलका प्रभाव जहां मिलेगा, वहां सौंदर्य निःसंदेह दीखेगा। इसका वर्णन इस तरह मन्त्रोंमें हुआ है—

१ दस्मः (६।१।१)– दर्शनीय, सुन्दर, रूपवान्,

३ दर्शतः (६।१।३)– सुन्दर, दर्शनीय,

२८ वर्पः महि भसत् (६।३।४)— शरीर महान् तेजस्वी होता है, सुशोभित रूपवाला होता है—

२७ वसति वनेजाः कुत्रा चित् रण्वः (६।३।३) वह मनुष्योंके नगरोंमें रहा अथवा वनमें रहा तो भी, वह कहा भी रहे, रमणीय ही दीखता है, सुंदर ही दीखता है। शहरमें और अरण्यमें वह समान रीतिसे शोभता है।

४९ श्वितानः (६।६।२)– सुन्दर गौर वर्णवाला वह है। वर्ण गौर हो वा गव्हमी हो, पर उसपर चमक भरपूर हो। यह आरोग्यकी चमक है। वह सौंदर्य बढाती है।

मित्रता

जो नेता ज्ञानी, बलवान्, पवित्र, शूर और सुन्दर हो, तेजस्वी हो, उसके साथ मित्रता करना एक आनन्दका विषय है। प्रत्येक चाहेगा कि ऐसा मित्र हमें मिले, इसके साथ हमारी मित्रता हो। इसलिये इस नेताके वर्णनमें मित्रताका भी वर्णन है।

६४ मित्रः (६।८।३)– वह उत्तम मित्र होता है,

९६ मित्रो न बृहतः ऋतस्य क्षत्ता असि (६।१३।२)- वह मित्रके समान बडे सत्य मार्गका प्रवर्तक होता है।

१४ मित्र-महः (६।२।११)— मित्रकी महत्ता उसमें रहती है। उसके मित्र होनेसे अपना भी संमान बढता है।

१५ मित्रेण सजोषाः (६।३।१)– मित्रके साथ समान विचार रखता है। मित्रके साथ विरोध नहीं करता।

द्रष्टा

ऐसा शुभगुणयुक्त नेता **विचर्षणिः** (६।२।१)– विशेष द्रष्टा होता है। वह सोचता है और सच्ची बातको पहचानता है, समझता है। इसलिये उसको कोई ठगा नहीं सकता।

३४ यः मर्त्येषु उषर्बुध् भूत् (६।४।२)– वह मानवोंमें उषःकालमें उठनेवाला होता है। ज्ञानी प्रातःकालमें उठता है।

पूज्य

जो ज्ञानी, शूर, बलवान्, पवित्र, मैत्री करनेयोग्य सुंदर होगा वह निःसंदेह पूज्य माना जायगा। इस कारण अग्निरूप अग्रणींके वर्णनमें ये पद आते हैं—

८ यजतः- (६।१।८)– यजनीय, पूजनीय।

३६ वन्द्यः (६।४।४)– वंदनीय, नमस्कारके योग्य, वर्णनीय,

१० प्रियः अतिथिः (६।२।७), **जातः अतिथिः** (६। १६।४२)– प्रिय, अतिथिके समान पूजनीय, आदरणीय,

६ सपर्येण्यः (६।१।६)– पूजा करनेयोग्य, सत्कार करनेयोग्य, **'मन्द्रः यजथिान्'** आनंददायक पूज्य, **' विक्षु प्रियः'** –प्रजाओंमें प्रिय।

११९ यः देवानां उत मर्त्यानां यजिष्ठः (६।१५। १३)– जो देवों और मानवोंके लिये पूजाके योग्य, आदर करनेके लिये योग्य,

११२ विश्वेभिः देवैः ऊर्णावन्तं योनिं प्रथमः सीद (६।१५।१६)– सब देवोंके साथ ऊनके आसनपर जो प्रथम स्थानमें बैठता है। सभामें प्रमुखस्थानमें जो बैठता है।

११० महिना विभूः– अपनी महिमासे वैभवसंपन्न होता है, अपने महत्त्वके कारण जो सर्वत्र माननीय होता है।

२ ईड्यः (६।१।२)– जो प्रशंसा करनेयोग्य है, स्तुतिके लिये जो योग्य है।

७ नव्यः (६।१।७)– स्तुति करनेयोग्य, संमानके साथ वर्णन करनेयोग्य,

१३ पुरुवारः (६।१।१३)– बहुतोंद्वारा वर्णन करनेयोग्य,

३० रेभः (६।३।६)– वर्णन करनेयोग्य, काव्य करनेयोग्य,

४८ नव्यसा यज्ञेन गातुं (६।६।१)– नवीन यजनीय स्तोत्रके द्वारा यशका गान करने योग्य,

४१ अद्रोघवाक् (६।५।१)– जिसमें द्रोह नहीं है ऐसी परिशुद्ध पवित्र वाणीसे प्रशंसा करनेयोग्य है।

इस प्रकार यह अग्रणी वर्णनके योग्य है, पवित्र है, पूज्य है, वर्णनीय है।

यहांतक दिये वर्णन अग्निके हैं, परंतु ये आगके लिये सार्थ नहीं हो सकते। परंतु ये मनुष्यके वर्णनमें ही सार्थ होते हैं। इसलिये हमने कहा कि ऋषिने अग्निके वर्णनमें आदर्श ज्ञानी पुरुषको देखा और वैसा वर्णन किया है।

अब अग्निके वर्णनमें शत्रुओंका पराभव करनेवाले वीरोंका वर्णन देखिये—

शत्रुका नाश करनेवाला वीर

अब शत्रुका नाश करनेवाले वीरके गुण ऋषि अग्निके वर्णनमें देखता है—

८ नितोशनः (६।१।८)- (शत्रूणां नाशयिता)- शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला,

१३९ वृत्रहा- वृत्ररूपी शत्रुका हनन करनेवाला, **पुरंदरः** (६।१६।१४)- शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला, **१५९ वृत्राणि जंघनत्-** (६।१६।२८)- राक्षसोंका नाश करनेवाला.

१४० दस्यु हन्तमः (६।१६।१५)- दुष्टोंका नाश करनेमें अत्यंत प्रवीण, **१७३ वृत्र हन्तमः** (६।१६।४८) शत्रुओंका अत्यंत नाश करनेवाला।

१४५ घ्नन् (६।१६।२०)- शत्रुका निःपात करनेवाला, **अवातः अस्तृतः-** अपराजित, अहिंसित, शत्रु जिसका पराभव नहीं कर सकते,

१४७ धृष्णुया वेधः (६।१६।२२)- अपनी घर्षण शक्तिसे शत्रुका वेध करनेवाला,

१६४ पुरः रुरोजिथ (६।१६।३९)- शत्रुओंकी नगरियोंको तोडनेवाला,

१ विश्वस्मै सहसे सहध्यै दुष्टरीतु सहः अकृणोः (६।१।१)- सब प्रबल शत्रुओंका पराभव करनेके लिये शत्रुओंको सहन करना असंभव ऐसा सामर्थ्य प्रकट करता है।

३५ अभ्रस्य चित् पूर्व्याणि शिश्नथत् (६।४।३)- हिंसक शत्रुके पुराने कीलोंका नाश करता है।

५७ वीरासः त्वत् अभिमातिषाहः (६।७।३)-वीर पुरुष तेरी सहायतासे सब शत्रुओंका पराभव करते हैं।

१०३ स वृत्रं शवसा हन्ति (६।१४।३)- वह वीर घेरनेवाले शत्रुका अपने बलसे पराभव करता है।

१०९ परस्य अन्तरस्य अर्यः तरुषः (६।१५।३)- दूरके और पासके शत्रुओंसे तारनेवाला, शत्रुओंको दूर करनेवाला,

१११ पतशस्य रणे वामन् तूर्वन् यः आ घृणे (६।१५।५) शत्रुके साथ करनेके युद्धमें, शत्रुपर हमला करनेके समय, अथवा त्वरासे शत्रुनाश करनेके समय यह अपना तेज प्रकट करता है।

१६४ उग्र इव शर्य-हा (६।१६।३९)- उग्र वीरकी तरह यह बाणोंसे शत्रुका नाश करता है।

१५३ अग्निः तिग्मेन शोचिषा विश्वं अत्रिणं नि यासत् (६।१६।२८)- अग्रणी अपने तीक्ष्ण तेजसे सब शत्रुओंका नाश करता है।

३६ राजा इव जेः (६।४।४)- यह वीर राजाके समान विजय प्राप्त करता है।

३७ वायुः न राष्ट्री अत्येति (६।४।५)- वायुके समान राष्ट्रशासक वीर शत्रुपर आक्रमण करता है।

२५ त्यजसा मर्तं पासि (६।३।१)- अन्नसे प्रजाजनोंकी सुरक्षा करता है।

इस तरह शत्रुका पराभव करनेके विषयमें इसका वर्णन बडे वीरका ही वर्णन है। इस प्रकार कविने इस अग्निमें वीरके भावोंको देखा है।

१८ परशुः न जिह्वां विजेहमानः (६।३।४)- फरसीके समान अपनी तेजस्वी जिह्वाको हिलाता है। फरसी तीक्ष्ण धारावाली जैसी होती है वैसी अग्निकी ज्वाला होती है। अग्निकी ज्वालाके समान फरसी तेज धारावाली हो। वीरके शस्त्र ऐसे हों।

१९ अस्ता इव प्रतिधात् (६।३।५)- बाण फेंकनेवालेकी तरह लक्ष्य साधकर अग्नि अपनी ज्वालाओंको फेंकता है। **अस्ता-** वेध करनेवाला शूर वीर।

१९ असिष्यन् तेजः शिशीत अयसो न धारां (६।३।५)- शत्रुपर शस्त्र फेंकनेवाला अपने शस्त्रकी धारको तीक्ष्ण करता है जैसी फौलादकी धारा तीक्ष्ण रहती है।

५१ गोषुयुधः सृजाना अशनिः न शूरस्य इव प्रसितिः अग्नेः क्षातिः (६।६।५)- गौओंके लिये युद्ध करनेवाले इन्द्रके द्वारा छोडी बिजुलीके समान, तथा शूर पुरुषके शस्त्रके समान अग्निकी ज्वाला है। गौओंके लिये युद्ध करनेवाला शूर वीर शत्रुपर बिजलीके समान तीक्ष्ण शस्त्र फेंकता है।

५५ देवाः पा-त्रं आजनयन्त (६।७।१)- देवोंने

रक्षक निर्माण किया है। वह रक्षण करे और शत्रु दूर करे। यहां अग्निको (पा-त्र) रक्षण करनेवाला कहा है।

तेजस्विता

अग्निके तेजस्वी होनेमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता, पर तेजस्वी तो मनुष्य भी होते हैं, वह वीर बडा तेजस्वी है ऐसा वर्णन किया जाता है, इस तरहके वर्णन अब देखिये—

१ रुशन् (६।१।३); **८ राजन्** (६।१।८), **२४ देवः** (६।२।११), **२७ सूरः** (६।३।३), ये सब वर्णनके पद उसकी तेजस्विताका वर्णन कर रहे हैं।

३ विश्व-हा दीदिवान् (६।१।३)– सर्वदा प्रकाशमान,

६ दमे दीप्यमानः (६।१।६)– अपने घरमें प्रकाशनेवाला, इस '**दम**' का अर्थ स्थान है, वेदी, यज्ञस्थान, घर, ग्राम, राष्ट्र आदि ये सब दम ही हैं। जिस तरह 'घर' का प्रयोग किया जाता है, वैसा ही 'दम' का भी उसी अर्थमें प्रयोग होता है।

७ बृहता रोचनेन दीद्यानः (६।१।७)– बडे तेजसे तेजस्वी बना है।

११ बृहद्भिः वाजैः स्थविरेभिः रेवद्भिः वितरं वि भाहि (६।१।११)– विशाल बलोंके साथ तथा विशेष धनोंके साथ घिरकर प्रकाशित होता रह।

१९ सूरः न रुक्मा धुता रोचसे (६।२।६)– सूर्यके समान कान्तिसे और तेजसे प्रकाशित होता है।

३० उस्राः प्रतिवस्ते (६।३।६)– अपने तेजकी चमकाहटको धारण करता है।

३० शोचिषा रारपीति (६।३।६)– अपने तेजसे वारंवार प्रकाशित होता है।

३२ ऋभुः न त्वेषः रभसानः अद्योत् (६।३।८)– तेजस्वी सूर्यके समान यह अपने तेजसे प्रकाशित होता है।

३४ वस्तोः चक्षणिः न विभावा (६।४।२)– दिनके प्रकाशके समान यह प्रभावशाली है।

३५ सूर्यो न शुक्रः भासांसि वस्ते (६।४।३)– सूर्यके समान यह तेजस्वी है और तेजस्विताओंका धारण करता है।

३५ अजरः पावकः वि इनोति (६।४।३)– यह जरारहित पवित्रता करनेवाला विशेष तेजसे फैलता है।

३७ यः वारणं नितिक्ति (६।४।५)– यह निवारण करनेयोग्य शत्रुको अपने तेजसे क्षीण करता है।

३८ रोदसी भासा वि आ ततन्थ (६।४।६)– द्यावा-पृथिवीको अपने तेजसे व्यापता है।

भानुभिः अर्कैः सूर्यो न (६।४।६)– तेजस्वी किरणोंसे सूर्यके समान प्रकाशता है।

४३ प्रदिवः (६।५।३)– तेजस्वी; **४४ तपिष्ठः** (६।५।४)– तपनेवाला, **तपसा तपस्वान्**– अपने तेजसे तेजस्वी यह है।

६१ सुक्रतुः वैश्वानरः महिना नाकं अस्पृशत् (६।८।२)– सत्कर्मकर्ता सबका नेता अपनी महिमासे द्युलोकको स्पर्श करता है। प्रकाशता है।

७९ यः दूरेदृशा भासा उर्वी आपप्रौ (६।१०।४)– यह दूरदर्शी वीर अपने तेजसे विस्तीर्ण द्यावापृथिवीको भर देता है।

९१ यस्य अरतिः तेजिष्ठा (६।१२।३)– जिसकी गति तेजस्वी होती है।

त्मन् चेतति– वह स्वयं प्रकाशित होता है।

९६ द्युम्नवर्चाः (६।१३।२) सुंदर तेजवाला है।

१११ यः पावकया चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचे (६।१५।५)– जो पवित्र और ज्ञान बढानेवाली कान्तिसे प्रकाशमान होता है।

१२० पावकशोचिः (६।१५।१४)– जिसका प्रकाश पवित्रता करनेवाला है।

१४६ प्रत्नवत् नवीयसा द्युम्नेन संयता भानुना बृहत् ततन्थ (६।१६।२१)– तू प्राचीनके समान नवीन तेजके स्वाधीन प्रकाशसे बहुत प्रकाशित होता है।

१६३ हिरण्य-संदृशः (६।१६।३८)– सुवर्णके समान रमणीय और तेजस्वी।

१७० दविद्युतत् द्युमत् अजस्रेण विभाहि (६।१६।४५) तेजस्वी प्रकाशमान अविच्छिन्न तेजसे प्रकाशित हो।

इस रीतिसे इसकी तेजस्विताका वर्णन है। नेता वीर तेजस्वी हो यह इसका तात्पर्य है।

युवा

अग्रणी नेता तरुण जैसा रहे। आयुसे चाहे वृद्ध हो, पर विचारोंसे वह तरुण जैसा हो, कर्म भी तरुण जैसे करे, इस विषयमें अग्निके वर्णनमें देखिये—

४१ युवा (६।५।१); ११ अजरः (६।२।९)- जरा-रहित; ३४ अमृतः (६।४।२)- अमर, न मरनेवाला; ४१ यविष्ठः (६।५।१)- तरुण, १३६ यविष्ठ्यः (६।१६। ११)- अत्यंत तरुण; ४९ अजरेभिः नानदद्भिः यविष्ठः (६।६।२) जरारहित परंतु शब्द करनेवाले बलोंसे युक्त अत्यंत तरुण,

६० अमृतस्य केतुः (६।७।६)- यह अमरपनका ध्वज जैसा है,

७२ मर्त्येषु इदं अमृतं ज्योतिः (६।९।४)- मर्त्योंमें यह अमरज्योति है।

इस तरह इसका युवा होनेका वर्णन है।

यशस्वी

यह अग्रणी बलवान्, ज्ञानी, शत्रुका पराभव करनेवाला है, युवा जैसा कर्म करता है, इस कारण वह यशस्वी होता है, देखिये—

११ श्रवोभिः श्रवस्यः (६।१।११)- वह यशोंको प्राप्त करनेसे यशस्वी तथा कीर्तिमान् है।

१४ त्वं हि क्षैतवत् यशः मित्रो न पत्यसे (६।२। १)- तू निश्चयपूर्वक मनुष्योंके साथ रहकर मित्रके समान यश प्राप्त करता है।

पूर्वोक्त शुभगुण जिसके पास होंगे वह यश प्राप्त करेगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

गतिमान्

गतिमान, चपल अथवा स्फूर्तिसे काम करनेवाला यह भी एक गुण नेतामें चाहिये। इस विषयके वर्णन अब देखिये—

२१ वाजी न कृत्व्यः (६।२।८)- घोडेके समान शीघ्रताके साथ कर्म करनेवाला, घोडा जैसा शीघ्र जाता है वैसा यह नेता शीघ्र कर्म करता है,

२१ परिज्मा (६।२।८)- चारों ओर घूमनेवाला, चपल, फूर्तिवाला,

२१ अत्यः न ह्वार्यः (६।२।८)- घुडदौडके घोडेके समान शीघ्र गतिवाला,

२८ अस्य पन्था तिग्मं (६।३।४)- इसका मार्ग अत्यंत तेजस्वी और तीक्ष्ण है।

२९ चित्रध्रजतिः (६।३।५)- यह विलक्षण फूर्तिवाला है।

५५ पृथिव्या अरातिः (६।७।१)- पृथ्वीपर यह शीघ्र गमन करता है।

५५ जनानां अतिथिः (६।७।१)- लोगोंमें पूजनीय होकर गमन करनेवाला है।

७३ ध्रुवं मनः जविष्ठः (६।९।५)- स्थिर होनेपर भी मनसे अत्यंत वेगवान् है।

९४ अर्वन् (६।१२।६)- यह गतिमान् है,

९६ परिज्मा इव क्षयसि (६।१३।२)- वायुके समान यह वेगवान् होकर रहता है।

यह वर्णन इसके वेगका, इसकी फूर्तिका है। नेतामें इस तरह स्फूर्ति होनी चाहिये यह इसका तात्पर्य है।

उत्तम कर्मोंका कर्ता

अग्निका वर्णन करनेके समय वह उत्तम कर्मोंका कर्ता करके कवि वर्णन करता है और इस कारण उसके गुण भी गाता है। जो ज्ञानी, बली, शत्रुका नाश करनेवाला, उत्तम वक्ता है वह उत्तम कर्म करनेवाला होना ही चाहिये। वह उत्तम कर्म न करेगा वह किस तरह नेता हो सकता है। अर्थात् ये सब गुण सहचारी गुण हैं। अब इसके उत्तम कर्म करनेके विषयमें यहां देखिये—

१८ तव क्रतुभिः अमृतत्वं आयन् (६।७।४)- तेरे उत्तम कर्मोंसे अमरत्व प्राप्त करते हैं।

५९ तव तानि महानि व्रतानि न किः आदधर्ष (६।७।५)- तेरे उन महान् कर्मोंमें कोई बाधा नहीं डाल सकता।

६१ अदब्धः गोपाः अमृतस्य रक्षिता (६।७।७)- वह न दबनेवाला सबका रक्षण करनेवाला अमृतका संरक्षण करनेका कार्य करता है।

११८ सुक्रतुः (६।१६।३)- वह उत्तम कर्म करनेवाला है।

१३१ त्वं दैव्यं जनं विप्रस्य सुष्टुतिं शृण्वन् आवह (६।१६।६)- तू दिव्यजनोंको ज्ञानीकी उत्तम स्तुति सुननेके लिये ले आ।

१३४ त्वं मनुर्हितः (६।१६।९)- तू मनुष्योंके हित करनेके कर्म करता है।

१४४ भारतः (६।१६।१९)- भारतीयोंका तू हित करनेवाला है।

१४८ कविक्रतुः मानुषा युगा (६।१६।२३)- वह ज्ञानी और शुभ कर्म करनेवाला मानवी युगोंका निर्माता है।

१५४ सुकृतो रक्षांसि जहि (६।१६।२९)- उत्तम कर्म करनेवाले ! तू राक्षसोंका नाश कर।

१५५ त्वं अंहसः पाहि (६।१६।३०)- तू पापसे हमारा बचाव कर।

१५५ अघायतः नः रक्ष (६।१६।३०) पापियोंसे हमें सुरक्षित रख।

उत्तम कर्म करनेवालेकी प्रशंसा इस तरह वेदमें की है। मनुष्यकी उन्नति इस प्रकारके शुभ कर्मोंसे होती है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्तम उत्तम कर्म करे और अपने अभ्युदयका साधन करता रहे।

मनका आकर्षण

१ त्वं प्रथमः मनोता (६।१।१)- तू पहिला सबके मनोंको आकर्षित करनेवाला है। जो श्रेष्ठ कर्म करता है, सबके हितकारी कर्म करता है वह सबके मनोंका आकर्षण करता है। इस तरह मनोंका आकर्षण करनेवाला मनुष्य बने। जो ऐसा होता है वह श्रेष्ठ बनता है।

अन्न

अन्नके विषयमें भरद्वाज ऋषि ऐसा कहते हैं—

३७ अन्नं अत्ति— अन्न खाता है (६।४।५) अन्न खाकर ही कोई रह सकता है, इसलिये अन्न और जलकी आवश्यकता देहधारीके लिये है। गीतामें कहा है कि '**पर्जन्यादन्नसंभवः**' पर्जन्यसे अन्न उत्पन्न होता है अर्थात् यह अन्न शाकान्न ही है इसमें संदेह नहीं है। क्योंकि मांस पर्जन्यसे उत्पन्न नहीं होता। और निघण्टुमें जो अन्ननाम दिये है वहां मांसवाचक एक भी पद नहीं है। इसलिये 'अन्नं अत्ति' इस वेदवचनका अर्थ धान्य खाता है ऐसा ही समझना चाहिये।

९ इषयन् (६।१।१२)- अन्नकी इच्छा करनेवाला। जिसको भूख लगी है, वह अन्नकी इच्छा करता है। उसको अन्न मिलना चाहिये।

२१ यवसे पशुः न त्वं त्या अच्युता (६।२।९)- जौके खेतको खानेके लिये पशु जाता है वैसा तू उस न गिरनेवाले अन्नोंके पास जाता है। यहां पशुका उदाहरण दिया है। पशु यदि भूख न लगी हो, यदि पशु बीमार हो, रोगी हो तो कभी अन्न खाता नहीं। मनुष्य घडी देखकर भोजन करता है। भूख लगी या नहीं लगी इसका विचार नहीं करता। इसलिये अनेक बीमारियोंका शिकार होता है। इसलिये वेदने अन्न खानेके विषयमें '**पशुः न**' पशुका उदाहरण मनुष्यके सामने रखा है। पशु जैसा भूख लगनेपर खाता है, रोग होनेपर नहीं खाता, वैसा मनुष्यको योग्य समयको देखकर खाना चाहिये।

८१ उशन् (६।१०।६)- अन्न प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला, यह अन्न स्वीकार करनेके पूर्वकी अवस्था है। किस समय मनुष्य अन्न खाये? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि (उशन्) अन्नकी इच्छा जिसमें उत्पन्न हुई है वह अन्न खाये! इच्छा न हुई हो तो समय हुआ है इसीलिये अन्न न खाये।

१०७ गर्भः अच्युत अत्ति (३।१५।१)- गर्भ जैसा न गिरने गिरानेवाला अन्न खाता है। माताके उदरमें गर्भ रहता है व परिशुद्ध रस सेवन करता है। च्युत अन्न और अच्युत अन्न ऐसे अन्नके दो भेद हैं। जिससे शरीरका ओजवीर्य बढानेका भाग कम होता है वह च्युत अन्न है, वह शरीरमें पचन न होकर मलरूपसे बाहर गिर जाता है इसलिये उसको च्युत अन्न कहते हैं। और जो दूध, दही, रस आदि सत्वान्न होता है जो सबका सब पच जाता है उसको अच्युत अन्न कहते हैं। गर्भको माताके पेटसे सत्व साररूप अन्न मिलता है, उसमें त्यागनेयोग्य भाग कम रहता है। इस कारण उसको अच्युत अन्न कहते हैं।

३ वपावान् (६।१।३)- वपावाला अन्न खानेवाला। यहां वपा पशुसे मिलनेवाला भाग है ऐसा माना जाता है। वपाका अर्थ चर्बी है। पशुके चमडीके नीचे जो होती है वह वपा है। जो पशु मारकर खाते है वे लोग इस वपाको खाते हैं तथापि फलके गूदेको जैसा 'मास' कहते हैं वैसा बीजके अन्दरके तेलको भी वपा कहते हैं। चर्म, मांस व आदि पद फलके भागोंके लिये भी प्रयुक्त होते हैं। इसलिये यह विषय खोज करनेयोग्य है ऐसा हमारा मत है। पशुसे भी चर्बी उसको न मारते हुए मिलती है जैसी घीके रूपमें मिलती है। दूध, दही, मक्खन और घी ये पदार्थ सबको परिचित हैं। यह जितने चाहिये उतने परिमाणमें मिलते हैं। इसलिये यहां पशुके मारनेका प्रश्न ही नहीं उठता और यह घी खानेयोग्य भी है।

धन

जिससे मनुष्य अपने आपको धन्य मान सकता है उसको धन कहते हैं, यह धन बहुत प्रकारका है। गृह, भूमि, पशु, स्त्री, पुत्र, रत्न आदि सब धन हैं। इसमें भी मानवी समाजके निवासके उपयोगी जो पदार्थ होते हैं उस धनको 'वसु' कहते है। 'वसु' वह है कि जो मानवी निवासके लिये उपयोगी है—

१३ पुरूणि वसूनि (६।१।१३)- अनेक प्रकारके ये धन हैं, जो मनुष्योंके रहने सहनेके उपयोगी होते हैं। ये सब मनुष्योंको मिलने चाहियें।

३१ दं सुपत्नी वसुना आ (६।३।७)- शत्रुका दमन करनेवाला वीर उत्तम पतिपत्नीको धनसे परिपूर्ण करता है। यहां (रोदसी सुपत्नी) द्यावापृथिवीको उत्तम पतिपत्नीके आदर्श करके वर्णन किया है और वे धनसे परिपूर्ण होते ही हैं। धन न होगा तो गृहस्थीका संसार किस तरह चल सकेगा? इसलिये गृहस्थियोंको धन अवश्य चाहिये।

१४० रणे रणे धनं जयः (६।१६।१५)- प्रत्येक युद्धमें धनको जीतना चाहिये। मनुष्य इस जगत्‌में स्पर्धामें है। चाहे वह जाने या न जाने। इस स्पर्धामें वह विजयी होना चाहिये। स्पर्धामें विजयी होनेका ही अर्थ धन जीतना है।

५६ रयीणां सदनं (६।७।२)- घर सब धनोंसे परिपूर्ण रहना चाहिये। किसी तरहकी न्यूनता घरमें नहीं चाहिये। ऋषि किस तरहका घर चाहते हैं यह यहां देखिये—

२३ विश्पते ! समृधः कृणु (६।२।१०)- हे प्रजापालक ! तू हमको समृद्ध बनाओ। प्रजापालक राजा ऐसा राज्यशासन करे कि जिससे प्रजाजन दिन प्रतिदिन धनधान्य ऐश्वर्यसे युक्त होते जांय। किसी तरह हीन दीन न हों।

९५ विश्वानि सौभगा त्वत् वियन्ति (६।१३।१)- सब प्रकारके सौभाग्य अर्थात् उत्तम धन तेरे अन्दर रहते हैं। तुम्हारे आधारसे सब भाग्य रहते हैं।

१५१ ते ते त्वोता विश्व आयुः इषयन्तः (६।१६।२७)- वे तेरे आश्रयसे रहकर पूर्ण आयुकी समाप्तितक अन्नादि भोग प्राप्त करते हैं। अर्थात् अन्न जिनमें मुख्य है, ऐसे सब भोग पूर्ण आयुके अन्ततक प्राप्त होने चाहियें।

३६ अन्नसद्वा अग्निः जनुषा अज्म अन्नं चक्रे (६।४।४)- खाद्य पदार्थोंपर बैठनेवाला अग्नि जन्मते ही घर और अन्नरूप धन तैयार करके देता है।

४१ विश्ववाराणि द्रविणानि इन्वति (६।५।१)- सबके द्वारा स्वीकार करनेयोग्य धन तू देता है। अर्थात् कई धन ऐसे हैं कि जो सबको स्वीकारने योग्य हैं और कई ऐसे हैं कि जो सबको स्वीकारने योग्य नहीं हैं। जो स्वीकरणीय हैं वे ही प्राप्त करने चाहिये।

७३ क्रत्वा कार्याणां रयीः अभवः (६।५।३)- पुरुषार्थ प्रयत्नसे वरणीय धनोंको ले जानेवाला तू हुआ है। अर्थात् पुरुषार्थ प्रयत्न करके श्रेष्ठ धन प्राप्त करता है और उनको संग्रहित करता है।

१७३ येन वाजिना रक्षांसि तृळ्हा वसूनि आ भृता (६।१६।४८)- इस बलसे राक्षसोंका नाश करके धन लाकर भर देता है। अर्थात् अपने बलसे शत्रुका नाश करो और विजय प्राप्त करके धनको भरपूर भर दो।

१६१ प्रजावत् ब्रह्म आ भर (३।१६।३६)- पुत्र-पौत्रोंसे युक्त ज्ञानरूपी धन लाकर भर दो। अर्थात घरमें पुत्र-पौत्रादि संतान हों, ज्ञान भी हो और धन भी भरपूर हो।

१५० ते अमृतस्य संदृष्टिः इषयते मर्त्याय वस्वी (६।१६।२५)- तेरी अमृतमयी दृष्टी अन्नादिकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके लिये धन देनेवाली होती है। तेरी कृपासे तेरे भक्तको धन, अन्न आदि सब सामग्री पर्याप्त प्रमाणमें प्राप्त होती है।

११३ अग्निः न: रयिं वनते (६।१६।२८)- अग्नि हमें धन देता है। अग्निके उपासकोंको वह धन देता है।

१५८ सप्रथः शर्म वरेण्यं वसु यच्छ (६।१६।३३)- यशस्वी घर और श्रेष्ठ धन प्रदान कर।

१५९ द्रविणस्युः अग्निः वृत्राणि जंघनत् (६।१६।३४) धनकी इच्छा करनेवाला अग्रणी शत्रुओंका नाश करे। शत्रुओंका नाश करनेवाला ही धन प्राप्त करता है।

९६ भूरेः वामस्य क्षत्ता असि (६।१३।२)- बहुत श्रेष्ठ धनका तू प्रदाता हो। अर्थात बहुत धन प्राप्त कर और बहुत दान कर।

४३ विधते वसूनि आनुषक् वि इनोषि (६।१०।३)- प्रयत्नशील मनुष्यको तू निरंतर धन देता है। मनुष्य प्रयत्न करता रहेगा, तो उसको उसके प्रयत्नके बलसे ही धन मिलता रहेगा। क्योंकि प्रयत्न ही धन है।

१४५ विश्वा पार्थिवा महित्वना रयिं अतिवाशत् (६।१६।२०)- सब पृथ्वीपरके धनोंसे अधिक श्रेष्ठ धन अपने सामर्थ्यसे वह वीर देता है। पृथ्वीपर उत्तम धन है उनमें जो श्रेष्ठ धन है उसको अपने सामर्थ्यसे प्राप्त करना चाहियें। ऐसे श्रेष्ठ धन प्राप्त करनेपर उनका दान श्रेष्ठ पुरुषोंको करना चाहिये। जिससे सबका कल्याण हो जाय ऐसे कर्म उससे

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

वर्ष ३७
अंक ५

मई
१९५६
★
चैत्र
२०१३

वैदिक धर्म

[मई १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वेदकी पुस्तकें

	मूल्य रु.		मूल्य रु.
ऋग्वेद संहिता	१०)	ऋग्वेद मंत्रसूची	१)
यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता)	१)	दैवत संहिता (प्रथम भाग)	६)
(यजुर्वेद) काण्व संहिता	४)	दैवत संहिता (द्वितीय भाग)	६)
(यजुर्वेद) मैत्रायणी संहिता	६)	दैवत संहिता (तृतीय भाग)	६)
(यजुर्वेद) काठक संहिता	६)	सामवेद कौथुम शाखीयः ग्रामगेय	
यजुर्वेद-सर्वानुक्रम सूत्र	१॥)	(वेय प्रकृति) गानात्मकः	६)
यजुर्वेद वा सं. पादसूची	१॥)	प्रकृति गानम्	४)

मूल्य के साथ डा. व्य., रजिष्ट्रेशन एवं पेकींग खर्च संमिलित नहीं है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, भारतमुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

वर्ष ३७ **वैदिक धर्म** अंक ५

क्रमांक ८९

चैत्र, विक्रम संवत् २०१३, मई १९५६

युध्मो अनर्वा खजकृत्समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः ।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥

ऋ० ७।२०।३

(युध्मः अनर्वा खजकृत्) युद्ध करनेवाला, शत्रुसे न भागनेवाला युद्धमें कुशल, (समद्वा शूरः जनुषा सत्राषाट्) युद्धमें जानेके लिये उत्साही शूर, जन्मस्वभावसे शत्रुका नाश करनेवाला (अषाळ्हः स्वोजाः इं इन्द्रः) स्वयं कभी पराभूत न होनेवाला, अपनी शक्तिसे युक्त, यह इन्द्र (पृतनाः वि आसे) शत्रुसेनाको अस्तव्यस्त करता है। और (अध) अनंतर (विश्वं शत्रूयन्तं जघान) सब शत्रुका नाश करता है।

स्वयं शूर बनकर शत्रुका नाश करना उचित है।

१ योगमहाविद्यालय- योगमहाविद्यालयके वासंतिक वर्गका प्रारंभ ता. १५ अप्रैलसे हुआ। स्थानिक २२ तरुण आने लगे और पूना, वऱ्हाड तथा सूरतसे ३ तरुण आये थे। सूरतके सज्जन योगासन व्यायाममें तैयार थे इस कारण वे शीघ्र चले गये। बाकीके तरुण आसन, सूर्यनमस्कारोंका व्यायाम करके लाभ उठाते रहे।

२ वेद महाविद्यालय- वेद सीखनेके लिये ७।८ सज्जनोंसे पत्र आये थे। पर एकही पूनासे आकर रहे। बाकीके सज्जन यहां आ न सके। जो आये उनका 'ईशोपनिषद् पृथ्वीसूक्त' आदिका अध्ययन अच्छी तरहसे हुआ।

यद्यपि इस वर्गमें संस्कृतज्ञ तरुण न आसके तथापि वेद विद्यालयमें आकर ५ वर्ष रहनेके लिये १०।१२ प्रार्थना पत्र हमारे पास इस समयतक आ गये हैं। हमने उन सबको बुलाया है। जो आवेंगे उनका वेदाध्ययन वैशाख मासमें प्रारंभ होगा।

चार वेद, ग्यारह उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, महाभारत, रामायण आदि ग्रंथोंका संपूर्ण अध्ययन यहां होगा और ये पंडित वैदिक धर्मका प्रचार करेंगे। यहां उनको छात्रवृत्ती पांच वर्षतक मिलती रहेगी। और पांच वर्षोंके संपूर्ण अध्ययनके पश्चात् वे वैदिक धर्मके प्रचारक बनेंगे और उनको योग्य वेतन मिलेगा। आशा है कि जो आना चाहते हैं वे शीघ्र प्रार्थना पत्र भेजेंगे और शीघ्र यहां पहुंच जायेंगे।

३ गायत्री जपका अनुष्ठान- गत मासमें प्रकाशित जपके पश्चात् इस मासमें यह जपसंख्या हुई है—

१ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	७०००
२ अहमदाबाद- श्री. अ. स. वणीकर	१९४४०
३ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१५००००
४ शिव, बम्बई- श्री हरीन्द्रनाथ त्रिवेदी	२७०००
५ बयावर- श्री रामकृष्णशर्मा भट्ट	५४९९८०
६ जामनगर- श्री जानी चिमणलाल लक्ष्मीशंकर और २४ तरुण	२८७२४
	७,८२,१४४
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	७७,८६,०५७
कुल जपसंख्या	८५,६८,२०१

अब जपसंख्याकी पूर्तिके लिये केवल ग्यारह लाख जप होनेकी आवश्यकता है।

मन्त्री
जपानुष्ठान समिति

"बहुपाय्य स्वराज्य" का

वेदका आदेश

लेखक— पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वेदमें अनेक प्रकारके राज्यशासनोंके नाम आए हैं। ऐतरेय ब्राह्मणके अन्तमें इनकी गिनती की है, देखियेः—

स्वस्ति। साम्राज्यं, भौज्यं, स्वराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं, महाराज्यं, आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्। ऐ० ब्रा०

"जनताका कल्याण हो। साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, समन्त-पर्यायी ये राज्यशासन, पृथक् पृथक् होते हैं।" ये राज्य जनताका कल्याण करनेके लिये ही करने चाहिये।

(१) "साम्राज्य" सबको मालूम है, अंग्रेजोंका साम्राज्य अभी चला गया है, इससे पूर्व मुगल साम्राज्य था। वे साम्राज्य हैं। अशोकका भी साम्राज्य था।

(२) "भौज्यं" वह राज्य है कि जिस राज्यमें प्रजाजनोंके भी जनाच्छादनकी जिम्मेवारी राज्यशासकोंपर होती है।

(३) "स्वराज्य" अथवा "बहुपाय्य स्वराज्य" जो राज्यशासन बहुसंमतिसे प्रजाजनोंके प्रतिनिधि मंडलके द्वारा चलाया जाता है।

(४) "वैराज्य" वह शासन है कि जिसमें राजा नहीं होता है, परन्तु सब लोग मिलकर अपना शासक बनाते हैं। 'वि+ राट्' राजा होनेके, राजा बननेके पूर्व "राजाविरहित जो अवस्था" थी वह यह है।

(५) "पारमेष्ठ्यं राज्य"— परमेष्ठी परमेश्वरका नाम है। सब राज्य ईश्वरका है, हम उसके विश्वस्त हैं, ऐसे पूर्ण सेवाभावसे जो विश्वस्तों द्वारा राज्यशासन, केवल जनता जनार्दनकी सेवाके लिये ही चलाया जाता है।

(६) "महाराज्य" वह है जो विशाल राज्य होता है जैसा इस समय रूसका है। बडा विशाल राज्य है।

(७) "आधिपत्यमयं"—वह राज्य है कि जिसमें राज्यशासनके अधिकारियोंके अधीन राज्य होता है। इसको 'ब्युरोक्रेटिक राज्य' कहते हैं।

(८) "समन्तपर्यायी" सामन्त अर्थात् मांडलिकोंके अधीन जो राज्यशासन रहता है।

इतने राज्यशासनोंका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मणमें दीखता है। इनके अतिरिक्त वेदमें कई राज्यशासनोंका वर्णन है देखिये—

(९) "जानराज्य"— जनोंका राज्य, लोकशाही राज्य, सब जनोंका मत जहां लिया जाता है।।

(१०) "विप्रराज्य"— विद्वानोंकी संमतिसे ही जो राज्यशासन चलता है।

(११) "राज्य (राज्ञः इद)- जहां राज्य राजाके इच्छानुसार चलता है, प्रजाकी सम्मति जहां पूछी भी नहीं जाती।

ऐसे अनेक राज्यशासन वेदमंत्रोंमें बताये हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें तो यह राज्य इस दिशामें था, वह राज्य उस दिशामें था ऐसा भी लिखा है। अर्थात् ब्राह्मणग्रंथोंके समय ये राज्य अथवा इनमेंसे कुछ राज्य इस भूमिपर चल रहे थे। इन सबमें "बहुपाय्य स्वराज्य" अर्थात् "बहुतों की सम्मतिसे चलाया जानेवाला स्वराज्य सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है।" इसका वर्णन करनेवाले वेदके मंत्र अब देखिये—

स्वराज्य शासन

आ यद् वां ईयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥
ऋ० ५।६६।३

"हे (ईय-चक्षसा) विशाल दृष्टिवालो! हे (मित्र) मित्र जैसा व्यवहार करनेवालो! तुम और (वयं सूरयः) हम विद्वान् मिलकर (व्यचिष्ठे) विस्तृत (बहुपाय्ये) बहुतों द्वारा जिसका पालन होता है, उस (स्वराज्ये) शासनमें (आ यतेमहि) जनताके सुखको बढानेके लिये हम प्रयत्न करते रहें।"

यहां "बहु-पाय्य स्व-राज्य" का आदर्श दिया है। बहुपाय्य स्वराज्यमें बहुतोंकी सम्मति आवश्यक होती है, यह बात इन शब्दोंसे ही स्पष्ट हो रही है।

यह "बहुपाय्य स्वराज्य" है जहां अनेक सदस्योंकी बहुसम्मतिसे राज्यका विधान होता है और राज्यशासनकी बातें निश्चित होती हैं। इसके मुकाबलेमें "एक पाय्य राज्य" भी है जहां एककी ही सम्मतिसे संपूर्ण राज्यशासन चलता है। एक ही शासक अपने मनमें जैसा आ जाय वैसा राज्य करता है। उसको देखनेवाला दूसरा कोई नहीं होता। इस "एक पाय्य राज्य" का नाम भी वेदमें नहीं है।

अकेले पुरुष द्वारा जो राज्यशासन चलाया जाता है, उसका नामतक वेद नहीं देता और "बहुपाय्य स्वराज्य" की घोषणा वेद करता है, यह वेदकी ही महत्ता है।

यहां सिद्ध हुआ कि बहुसम्मतिसे होनेवाला शासन ही वेदको संमत है जो पूर्वोक्त मंत्रमें वर्णन किया है। अब इसका विशेष विचार करना है।

सदस्योंके तीन गुण

राष्ट्रसभाके सदस्योंके तीन गुण यहां इस मंत्रमें वर्णन किये हैं। (१) "ईयचक्षाः", (२) "मित्र", तथा (३) "सूरि"। विधानसभाके सदस्य इन तीन गुणोंसे युक्त होने चाहिये। देखिये इनका आशय क्या है?

विशाल दृष्टि

(१) ईयचक्षाः- (य) व्यापक (चक्षाः) दृष्टिवाले, अर्थात् जो संकुचित दृष्टिवाले नहीं हैं। संकुचित दृष्टिवाले लोग अपने जातिवालोंका ही लाभ करेंगे, अपने सम्बन्धवालोंका पक्षपात करेंगे, जो अपने नहीं हैं उनकी हानि करनेमें पीछे नहीं हटेंगे। व्यापक दृष्टिवाले सब मानवोंका भला करनेमें तत्पर रहेंगे। अपने राष्ट्रमें स्वधर्म, स्वजाति आदिके लोग जैसे रहेंगे वैसे ही अन्य धर्मवाले तथा अन्य जातिवाले भी रहेंगे। विशाल दृष्टिवाले सबका हित करनेका प्रयत्न करेंगे। किसीको केवल वह स्वधर्म और स्वजातिका नहीं इसीलिये उसकी हानि करना यह व्यापक दृष्टिवालेसे नहीं हो सकता। इतने वर्णनसे स्पष्ट होता कि व्यापक दृष्टिवाले कौन हैं और संकुचित दृष्टिवाले कौन हैं। और बहुपाय्य स्वराज्यमें विशाल दृष्टिवाले ही क्यों लिये जायें यह भी स्पष्ट होगा।

संकुचित दृष्टिवाले विधानसभामें रहेंगे तो जातीय दृष्टिवाले विधान बनायेंगे, अतः उसमें सबके साथ समभाव नहीं रहेंगे। इस कारण संकुचित दृष्टिवाले सदस्य विधानसभामें न चुने जायें यह वेदका आदेश सदा सर्वदा सबको मननीय है।

मित्र दृष्टि

विधानसभाके सदस्योंका दूसरा गुण "मित्र" है। मित्रवत् व्यवहार करनेवाले सदस्य हों। जनताके वे मित्र हों। जनताके साथ मित्रवत् व्यवहार करनेवाले सदस्य हों। वे मित्रवत् व्यवहार करेंगे और व्यर्थ किसीके साथ शत्रुवत् व्यवहार नहीं करेंगे। जनताका हित करनेमें तत्पर रहेंगे, जो सबके साथ प्रेम रखें वे मित्र कहलाते हैं। मान्य करनेवाले और त्राण अर्थात् रक्षण करनेवाले 'मि-त्र' कहलाते हैं। मित्र अन्योंका हित भी करते हैं और उनका संरक्षण भी करते हैं। जनताका हित करनेमें जो तत्पर है और उनका संरक्षण करनेमें जो दत्तचित्त रहते हैं वे मित्र विधानसभाके सदस्य हों।

विद्वान सदस्य

तीसरा गुण 'सूरि' पदमें बताया है। इसका अर्थ विशेष विद्वान् है। जो बडे ग्रन्थपर टीका या भाष्य लिखता है उसको सूरि कहा जाता है। प्रचण्ड विद्वान ही सूरि होते हैं।

विशाल दृष्टिवाले, मित्रवत् आचरण करनेवाले और बडे विद्वान् ही राष्ट्रकी विधानसभाके सदस्य हों, यह वेदकी आज्ञा इस मंत्र द्वारा प्रकट हो गयी है। अर्थात् जो संकुचित दृष्टिवाले हैं, जो शत्रुता करते हैं और जो अज्ञानी हैं वे राष्ट्रकी विधानसभाके सदस्य न हों यह वेदके इस मन्त्रने सुझाया है।

इक्कीस वर्षोंकी आयु

अब भारतकी विधानसभाके सदस्य वे होते हैं कि जो केवल २१ इक्कीस वर्षकी आयुवाले होते हैं। इनके लिये विद्याकी कसौटी है ही नहीं। केवल आयुकी ही कसौटी लिखी है। इस कारण अपने नामका हस्ताक्षरतक न कर सकनेवाले भी हमारी विधानसभाके सदस्य बने है!!! वेद कहता है कि विधानसभाके सदस्य "सूरि" अर्थात् महाविद्वान् हों। पर हमारे धुरीण मानते हैं कि निरक्षर भी हमारी विधानसभाके सदस्य हो सकते हैं।

भारतमें इस समय फी सदी बीस भी साक्षर नहीं हैं। अमेरिका तथा यूरोपमें प्रतिशतक सौ साक्षर है। वहां इक्कीस वर्षकी आयुवाले अच्छी तरह सूरि नहीं तो साक्षर तो होते ही हैं। इसलिये वहांका नियम हमारे कामका नहीं हो सकता। वहां हरएक साक्षर है, इसलिये इक्कीस वर्षका स्त्री-पुरुष अच्छी तरह साक्षर है ही। पर यहां अपने भारतमें

आज वैसी स्थिति नहीं है। वेदविद्याकी कसौटी रखता है। विद्वान जैसा देशहित से च सकता है वैसा अनपढ नहीं सोच सकता। यद्यपि वह इक्कीस वर्षका वयस्क क्यों न हो।

इस तरह अपना भारतका विधान और वेदका विधान इनमें भिन्नता है। इसमें कौनसा अधिक योग्य है और किसमें दोष है इसका विचार जो समझ सकते हैं उनको करना चाहिए।

विशाल दृष्टिवाले, मित्रवत् व्यवहार करनेवाले और ज्ञानी जिन विधानसभाके सदस्य हों वह सभा राष्ट्रका कल्याण कर सकेगी या जिसमें केवल इक्कीस वर्षके ही सदस्य हों वह कर सकेगी इसका मनन पाठक करें।

अब इस मन्त्रमें आये अन्य पदोंका विचार करना आवश्यक है।

" व्यचिष्ठे बहुपाय्ये स्वराज्ये आ यतेमहि "—

ये पद विशेष हैं। इसमें स्वराज्यके दो विशेषण हैं। इनका विचार अवश्य ही होना चाहिये। " व्यचिष्ठ " पद स्वराज्य शासनका एक महत्त्वपूर्ण गुण बता रहा है। " व्यच् " धातुका अर्थ ' व्यापना, घेरना, चारों ओर रहना ' ऐसा होनेसे व्यचिष्ठका अर्थ ' विस्तृत, व्यापक, चारों ओर पहुँचनेवाला, चारों ओरसे घेरनेवाला ' ऐसा होता है। हमारा वैदिक स्वराज्य शासन ऐसा होना चाहिये कि जो राष्ट्रभरमें विस्तृत और व्यापक हो, राष्ट्रके चारों ओरके कोने कोनेतक पहुंचनेवाला हो, चारों ओरसे राष्ट्रको घेर कर रखे ? किसी स्थानसे शत्रु अन्दर आनेका प्रयत्न करे तो वह पूर्णतया असफल ही रहे, ऐसा चारों ओर अपना शासन दक्षतासे चलाया जाय।

व्यचिष्ठका यह अर्थ देखनेसे स्पष्ट रीतिसे पता चल सकता है कि स्वराज्य शासन सारे राष्ट्रमें व्यापक होनेका गुण इस पदसे प्रकट हो रहा है। राष्ट्रीय शासन यदि राष्ट्रभरमें व्यापक न होगा, तो जहां वह नहीं होगा, वहांसे शत्रु अन्दर घुसेगा और इस तरहकी निर्बलतासे राष्ट्रका नाश होगा। वेद चाहता है कि ऐसी निर्बलता अपने शासनमें कदापि न हो।

" व्यच् " धातुका दूसरा अर्थ ' ठगना, छलकपट करके धोखा देना भी है। यह अर्थ शत्रुके साथ हम कैसा बर्ताव करें यह भाव भी बता रहा है। हम शत्रुको ठगावें, फसावें धोखेमें डालें, छल कपट करके उसके मनमें भ्रम उत्पन्न करें। वह अपनी शक्तिको न समझे और फस जाय। शत्रुके मनमें अपने विषयमें भय रहे। शत्रु समझे कुछ और वहां उसके विपरीत ही हो। शत्रुको इस तरह फसाना और अन्तमें उसको पराभूत करना यह मुख्य बात है।

शत्रुको हमारी शक्तिका ठीक ठीक अन्दाजा नहीं होना चाहिये। शत्रुके मनमें भ्रम उत्पन्न करके उसका पराभव करना, अथवा वह शत्रुता न करे ऐसा करना आवश्यक है। यह सब भाव ' व्यचिष्ठ ' पद बता रहा है। राजनीतिमें यह सब आता है।

स्वराज्यका दूसरा विशेषण " बहुपाय्य " है। " बहुभिः पालयितव्यं " बहुतोंकी सम्मतिसे जिसमें राष्ट्रका पालन होता है। चारों वेदोंमें " बहुपाय्य " यह विशेषण केवल अकेले " स्वराज्य " का ही है, किसी दूसरे राज्यशासनका नहीं है। सच्चा स्वराज्य ही वह है कि, जो बहुसंमतसे चलाया जाता है।

प्रजाजनोंके अनेक प्रतिनिधियोंके द्वारा यह चलाया जाता है, इसलिये यह स्वराज्य " बहुपाय्य " है। वेदने स्वराज्यशासनका सच्चे जनतन्त्रशासनका स्वरूप बताया है।

वेदमें " स्वराज्यशासन ही बहुपाय्य है। " वेदमें अनेक प्रकारके राज्यशासन हैं जिनके नाम इसी लेखमें प्रारंभमें दिये हैं। उनमेंसे किसी राज्यशासनका विशेषण " बहुपाय्य " नहीं है। केवल अकेले स्वराज्यका ही यह विशेष है, इससे स्पष्ट होता है कि यहां स्वराज्यशासन बहुसम्मतिसे संचालित किया जाता रहा है। अन्य शासनोंके यह विशेषता नहीं हो सकती है।

अन्तिमपद " आ यतेमहि " है (आ समन्तात् प्रयतेमहि) चारों ओरसे हम सब मिलकर प्रयत्न करते हैं और जनताका कल्याण करनेकी पराकाष्ठा करते हैं। यह सब एक ही उद्देश्यकी पूर्तिके लिये करना है। वह उद्देश्य राष्ट्रकी उन्नति हो और सब जनताका हित हो यही एकमात्र है।

वेदके स्वराज्यशासनका यह स्वरूप है। इसका विचार पाठक करें और उचित ज्ञान पाकर वैसा अपना स्वराज्य शासन चलाकर अपने राष्ट्रका कल्याण करनेका यत्न करें।

समालोचना

श्री गुरुजी । व्यक्ति और कार्य । लेखक- श्री ना. ह. पालकर । प्रकाशक— श्री ना ह. पालकर, डा. हेडगेवार भवन, नागपुर २ । मूल्य ४ रु.

परम पूजनीय श्री गुरुजी, श्री माधवराव गोलवलकर, सर संघचालक, राष्ट्रीयस्वयंसेवक संघके एकावनवें जन्म दिवस-पर, अर्थात् माघ कृष्ण एकादशी सं. २०१२के दिनके सुअवसर पर यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। लेखकने प्रथम ही कहा है कि ' जिस जाग्रत संघटनाके कारण समाजका प्रत्येक घटक साभिमान कह सके कि मेरा जीवन त्रिभुवनमें निनादित हो उठनेवाला जयनाद है— ऐसी भव्योदात्त समाजरचनाके हेतु श्री गुरुजीके अनन्य साधारण नेतृत्वमें संघका महाप्रयास जारी है। श्री. गुरुजीका जीवन उस गौरवमय महाकाव्यका एक स्फूर्तिदायी सर्ग है जिसे संघ अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभासे भविष्यपटपर अंकित कर रहा है।

सचमुच परमपूजनीय सरसंघचालक श्री. गुरुजीका यह व्यक्तिदर्शन तथा उनके कार्यका दर्शन करनेवाला ग्रंथ, उनके दिव्यजीवनका परिचय दे रहा है, इतना ही नहीं, परंतु यह ग्रंथ तरुणोंको अपने सत्कर्तव्यका मार्गदर्शन कर रहा है। आज हमें अपने राष्ट्रके उद्धार करनेके लिये कौनसा कार्य करनेकी आवश्यकता है, इसका स्पष्ट दिग्दर्शन इस ग्रंथसे हो रहा है यह इसका महत्व है। इसलिये हम चाहते हैं कि यह ग्रंथ घर घर पढा जाय, विशेष कर तरुणोंको इसका विशेष पठन करना आवश्यक है।

इस पुस्तकका प्रत्येक प्रकरण बडा बोधप्रद है। और विचारप्रवर्तक भी है। इस पुस्तकमें १८ प्रकरण हैं और ३१९ पृष्ठोंमें वे प्रकरण फैले हैं। लेखकने सब विषय संक्षेपसे ही दिये थे, पर महत्त्वका विषय नहीं छोडा है।

प्रथम पांच प्रकरण श्री गुरुजीके जीवनीके हैं। इसमें 'अध्यात्मकी ओर' यह चौथा प्रकरण श्री गुरुजीकी अध्यात्म प्रवृत्ति दिखा रहा है। आगेके प्रकरण श्री गुरुजीने संघ-कार्यका नेतृत्व अपने हाथमें लेनेके बादके कार्यका वर्णन कर रहे हैं। अन्तिम दो प्रकरण ' गुरुजीकी विचार धारा और गुरुजीका व्यक्तित्व ' ये प्रकरण मननपूर्वक पढने योग्य हैं।

संपूर्ण पुस्तक आदिसे अन्ततक उत्तम ओजस्वी, स्फूर्ति बढानेवाला और राष्ट्रोत्थानके भावोंको जागृति करनेवाला है। इसलिये यह हरएक भारत हितैषीको पढने योग्य है। यह पढते ही श्री गुरुजीकी विचारधारासे पाठक आकर्षित होंगे इसमें संदेह नहीं है।

पुस्तक सचित्र है, छपाई उत्तम है। बाह्यांग और अन्तरंग चित्ताकर्षक है। पुस्तकके महत्त्वकी दृष्टिसे मूल्य कम ही है।

× × ×

ईशोपनिषद्भाष्य

(लेखक— प. इन्द्र विद्यावाचस्पति । मुद्रक श्री रामेशवेदी । गुरुकुल मुद्रणालय। प्रकाशक प्रकाशनमंदिर, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार। मूल्य २ पृष्ठ संख्या १५०)

इस ग्रंथके लेखक पं इन्द्र विद्यावाचस्पति हैं और प्रकाशक गुरुकुल कांगडी है इतना कहनेसे ही यह पुस्तक उत्तम है ऐसा सब जान सकते हैं। गुरुकुल कांगडीके प्रथम स्नातक प. इन्द्रजी हैं और हिंदी साहित्य लेखकोंमें यशस्वी लेखक हैं। उनकी लिखी यह पुस्तक भाषा, विषय प्रतिपादन आदि सब दृष्टिसे उत्तम है। यह ईशोपनिषद भाष्य है पर इसमें लेखकने अनेक उपनिषदों तथा वेदमंत्रोंके प्रमाण देकर उपनिषदोंका तत्वज्ञान सुबोध करनेका यत्न किया है। इस कारण यह पुस्तक बडी बोधप्रद और उपयोगी हुई है। पुस्तकके अन्तरंग और बहिरंग बडे आकर्षक हैं। इस कारण पाठकोंको यह पुस्तक रुचिकर प्रतीत होगी इसमें हमें संदेह नहीं है।

गत अप्रैल ' वैदिक धर्मके ' अंकमें " गीता विश्वसृष्टि " शीर्षक लेखके बदले पाठक " गीतामें तीन पुरुष " शीर्षक सुधारकर पढें। —संपादक

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २७

[गताङ्कसे आगे]

सत्ताके सात सूत्र

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ॥ ऋग्वेद १।१६४।५

मनके द्वारा न जान सकनेके कारण मैं प्रार्थना करता हू कि देवता अपने इन पदोंको मेरे भीतर रखें । सर्वज्ञ देवोंने एक वर्षके शिशुको लिया और यह ताना बनानेके लिए उसके चारों ओर सात सूत्रोंको बुना ।

हमने सत्ताके उन सात तत्वोंकी विवेचना की हैं जिन्हें कि प्राचीन ऋषियोंने सम्पूर्ण विश्व-सत्ताका आधार और सप्तविध रूप निर्धारित किया है, इससे अब हम विकास और अन्तर्भावकी भूमिकाओंका निर्णय कर चुके हैं और जिस ज्ञानके लिए हम प्रयास कर रहे थे उसके आधारपर पहुंच गये हैं । हम यह कह चुके हैं कि जो कुछ भी विश्वमें है उस सबका मूल, धाता, (धारण करनेवाला) आदि और अन्तिम परमार्थ तत्व परात्पर और अनन्त सत्ता, चेतना और आनन्दस्वरूप त्रिकैक तत्व है, और यह ब्रह्मका स्वरूप है । चेतनाके दो पक्ष होते हैं,— प्रकाशन और कार्यजनन, आत्म-संवित्की अवस्था एवं सामर्थ्य और आत्म-शक्तिकी अवस्था और सामर्थ्य, सत्पुरुष चाहे अपनी निष्क्रिय अवस्थामें हो अथवा चाहे सक्रिय अवस्थामें, ये दोनों पक्ष उसके स्वरूपके अंगभूत हैं ।

कारण जब सत्पुरुष अपनी सृजनात्मक कर्मकी स्थितिमें होता है तब वह सर्व शक्तिमती आत्म-चेतनाके द्वारा उस सबको जानता है जो कि उसके भीतर निहित होता है और अपनी सर्व ज्ञानमयी आत्म-शक्तिके द्वारा विश्वको उत्पन्न करता है और उसका शासन करता है । सर्व सत्तामयके इस सृजनात्मक कर्मकी ग्रन्थि चौथे मध्यवर्ती तत्व-विज्ञान या सत्य संकल्पमें मिलती है; इस विज्ञान (अतिमन) में दिव्य ज्ञान आत्म-सत्ता और आत्मसंवित्के साथ एकीभूत होता है; इसमें द्रव्यगत इच्छा उस ज्ञानके साथ पूर्ण समस्वरता रखती है, कारण अपने द्रव्य और स्वभावमें यह (इच्छा) ज्योतिर्मय कर्मवाली आत्म-चेतन आत्म-सत् क्रियात्मक शक्ति है; यह ज्ञान और इच्छा पदार्थोंके कर्म रूप और धर्मका, उनके स्वयं-सत् सत्यके ठीक अनुसार और उस सत्यकी अभिव्यक्तिके तात्पर्योंके साथ सामंजस्यमें, निर्भ्रान्त रूपमें विकास करते हैं ।

एकत्व और बहुत्वके द्विकैक तत्वके आधारपर सृष्टि आश्रित है और इन दोनोंके मध्यमें गति करती है; संकल्प, शक्ति और रूपका बहुत्व मूलभूत एकत्वकी अभिव्यक्ति है, और सनातन एकत्व बहु लोकोंका आधार और यथार्थ स्वरूप है और उनकी क्रीडाको संभव बनाता है । इसलिए अतिमन संज्ञान और प्रज्ञान रूप द्विविध शक्तिके द्वारा क्रिया करता है; वह मूलभूत एकत्वसे परिणत बहुत्वकी ओर गति करते हुए, समस्त पदार्थोंको अपनेमें, अपना स्वरूपभूत, एकमेवको उसके बहुरूपोंमें संज्ञान करता है; साथ ही वह समस्त पदार्थोंको अपने भीतर अपने ज्ञान और इच्छाके विषयके रूपमें पृथक् पृथक् प्रज्ञान करता है ।

उसकी मूलभूत आत्म-संवित्में समस्त पदार्थ एक सत्ता, एक चेतना, एक इच्छा, एक आत्मानन्द हैं और पदार्थोंकी जो भी क्रिया होती है वह एक और अविभक्त होती है; परन्तु अपनी सक्रिय अवस्थामें उसकी (अतिमनकी) क्रिया एकत्वसे बहुत्वकी ओर और बहुत्वसे एकत्वकी ओर होती है; वह पदार्थोंमें एक व्यवस्थित सम्बन्ध उत्पन्न करता है; वह इनमें ऐसा विभाग उत्पन्न करता है जोकि प्रतीयमान होता है, ऐसा यथार्थ नहीं होता जो कि बंधनकारी हों; वह ऐसा सूक्ष्म विभाग है जो कि पृथक् नहीं करता, अथवा दूसरे शब्दोंमें, अविभक्तके भीतर सीमानिर्धारण और नियतकरण है । अतिमन वह ईश्वरीय ज्ञान है जो कि लोकोंको सृष्ट करता है, धारण करता है और उनका शासन

करता है; यह वह गुप्त ज्ञान है जो कि हमारे ज्ञान और अज्ञान दोनोंको ही धारण करता है।

हम यह भी बतला चुके हैं कि मन, प्राण और भौतिक द्रव्य इन उच्च तत्वोंके त्रिविध रूप हैं। ये तीन तत्व (मन प्राण और भौतिक द्रव्य) हमारे विश्वके भीतर, अज्ञानकी आधीनतामें रहते हुए, एकमेवाद्वितीय तत्त्व जो विभाग और बहुत्वकी अपनी लीलामें अपने आपको स्थूल रूपमें और आपाततः भूला हुआ है उसकी इस आत्म-विस्मृतिकी आधीनतामें रहते हुए क्रिया कर रहे हैं। यथार्थमें, ये तीन दिव्य चतुष्ककी केवल उपाश्रित शक्तियां हैं। मन अतिमनकी उपाश्रित शक्ति है; यह विभागके दृष्टिकोणका आधार बनाकर अपना कार्य करता है; इस विभागके मूलमें रहनेवाला जो एकत्व है उसे वह यहां सचमुच भूला हुआ होता है, परन्तु अतिमनसे प्रकाशको प्राप्त करके वह उस एकत्वको फिर प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार प्राण सच्चिदानन्दके शक्ति-रूपकी उपाश्रित शक्ति है; यह ऐसी शक्ति है जो कि मनके द्वारा उत्पन्न किये हुए विभागके दृष्टिकोणसे चित्शक्तिके रूप और लीलाको व्यक्त करती है। भौतिक द्रव्य सत्पुरुषके द्रव्यका रूप है, जिस समय सच्चिदानन्द अपने आपको अपनी चेतना और शक्तिके इस लौकिक कर्मके आधीन कर देता है तब उसकी सत्ता भौतिक द्रव्यका रूप धारण करती है।

इनके अतिरिक्त, एक चौथा तत्व है जिसे हम अन्तरात्मा या पुरुष कहते हैं; यह उस समय अभिव्यक्त होता है जब कि मन प्राण और शरीरका गठबंधन होता है। परन्तु इसके दो रूप होते हैं, एक सामने और दूसरा पीछे; सामने का रूप सकाम आत्मा कहलाता है और यह पदार्थोंको अपने अधिकारमें करने और उनसे सुख भोगनेके लिए प्रयास करता है; सकाम-आत्माके पीछे और अधिकांशमें अथवा पूर्णतया उससे छिपा हुआ सच्चा चैत्य-पुरुष है जो कि आत्माके अनुभवोंका यथार्थ भंडार है। और हम पहले ही यह निर्णय कर चुके हैं कि यह चौथा मानव तत्व, तीसरा जो दिव्य तत्व अनन्त आनन्द है उसका उल्लेख और कार्य है; परन्तु यह ऐसा कार्य है जो कि हमारी चेतनाकी अवस्थाओंमें और इस लोकमें अन्तरात्माके विकासके अवबंधोंके आधीन है। जिस प्रकार ब्रह्मकी सत्ताका स्वभाव है अनन्त चेतना और इस चेतनाकी आत्म-शक्ति, इसी प्रकार उसकी अनन्त चेतनाका स्वभाव है शुद्ध और अनन्त आनन्द। सच्चिदानन्दने आत्मानन्दका सार है आत्म-निष्ठ और आत्म-संवित्।

यह विश्व भी इस दिव्य आत्मानन्दकी लीला है और विश्वात्मा इस लीलाके आनन्दको पूर्णतया अधिकृत करता है। परन्तु व्यक्तिगत आत्मा (जीव) में अज्ञान और विभागकी क्रियाके कारण यह आनन्द अन्तर्वर्ती और अतिचेतन सत्तामें अवरुद्ध रहता है, व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत चेतनाको वैश्वभाव और परात्पर भावकी ओर उन्नत करके इस आनन्दको खोज, प्राप्त और अधिकृत कर सकता है।

अतः यदि हम चाहें तो सातके बजाय आठ * तत्व मान सकते हैं, ऐसी अवस्थामें हम देखते हैं कि हमारी सत्ता ब्रह्म-सत्ताकी एक किरण है। ये तत्व आरोहण और अवतरणके विपरीत क्रममें इस प्रकार हैं,

सत्	भौतिक द्रव्य
चित्	प्राण
आनन्द	चैत्य पुरुष
अतिमन (विज्ञान)	मन

ब्रह्म अपनी शुद्ध सत्तासे चित्शक्ति और आनन्दकी लीलाके द्वारा और विज्ञानरूप सृजनकारी माध्यमके द्वारा विश्वसत्तामें अवतीर्ण होता है। हम भौतिक द्रव्यसे, उन्नत होते हुए प्राण, अन्तरात्मा और मनके द्वारा और प्रकाशदायक विज्ञान रूप माध्यमके द्वारा ब्रह्मकी ओर आरोहण करते हैं। इनमें ऊपरके चार तत्वोंको परार्ध और नीचेके चार तत्वोंको अपरार्ध कहा जाता है; इनका संयोग वहां होता है जहां कि मन और विज्ञान एक पर्देको बीचमें रखते हुए मिलते हैं। मानवमें दिव्यजीवन तब आ सकता है जब कि यह पर्दा विदीर्ण हो जाय; कारण इस विदीर्णतासे, निम्न सत्ताकी प्रकृतिमें उच्च सत्ताका प्रदीपनकारी अवतरण होता है और निम्नसत्ताका उच्चसत्ताकी प्रकृतिमें शक्तिशाली आरोहण होता है। इससे मन सर्व संज्ञानवाले अतिमनमें अपनी दिव्य ज्योतिको पुनः प्राप्त कर सकता है; अन्तरात्मा सर्वग्राही, सर्व आनन्दमय आनन्दमें अपने दिव्य स्वरूपको उपलब्ध कर सकता है; प्राण सर्वशक्तिमयी चित्शक्तिकी लीलामें अपनी दिव्य शक्तिको फिर प्राप्त कर सकता है;

* वैदिक ऋषियोंने सात किरणोंका वर्णन किया है, परन्तु उन्होंने आठ, नौ, दस और बारह किरणोंका भी कथन किया है।

भौतिक द्रव्य दिव्य सत्ताका एक रूप (दिव्य भाव) धारण करके दिव्य मुक्तिके प्रति अपने आपको खोल सकता है।

हम देखते हैं कि पृथ्वीपर विकासका वर्तमान शिखा मनुष्य है; यदि बिना किसी लक्ष्यके चक्कर काटने और उससे व्यक्ति विक्षेपके मुक्त होनेके कारण अतिरिक्त इस विकासका कोई दूसरा लक्ष्य है; यह जीव (मनुष्य) अकेला आत्मा और भौतिक द्रव्यके बीचमें मध्यस्थता करनेकी शक्ति रखता हुआ इन दोनोंके मध्यमें स्थित है, यह विश्वमें जो प्रयास करता है उसके परिणामस्वरूप इसे उसके प्रति निराशा और घृणा उत्पन्न होती हैं; इससे इसे जीवनके मोहके प्रति अन्तिम जागरण उत्पन्न होता है और वह उसका पूर्णतया परित्याग करदेना चाहता है; यदि इस मानव जीवकी अनन्त शक्यताका इससे भिन्न कोई दूसरा अर्थ हो; तो वह ज्योतिर्मय और बलशाली रूपान्तर और जीवमें ब्रह्मका अभिव्यक्त होना ही वह उच्च उन्नत लक्ष्य और परम-अर्थ होना चाहिये।

परन्तु जिन मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक अवस्थाओंमें यह रूपान्तर मूलभूत संभावनासे क्रियात्मक शक्यताके रूपमें परिवर्तित हो सकता है उनपर विचार करनेसे पहले हमें और बहुत कुछ विचार करना होगा। कारण सबसे पहले हमें सच्चिदानन्दके विश्वसत्तामें अवतरणके तत्त्वोंका निर्णय करना चाहिये और यह हम कर चुके हैं। इसके अनन्तर, यहां उस अवतरणके क्रमकी विशाल योजनाका और जिन अवस्थाओंमें हम वर्तमान समयमें हैं उस पर शासन करनेवाली जो चेतन शक्ति है उसकी अभिव्यक्त सामर्थ्यके स्वभाव और कर्मका निर्णय करना चाहिये। इस समय तो सबसे पहले हमें यह देखना है कि जिन सात या आठ तत्त्वोंकी हमने परीक्षा की है वे सब प्रकारकी विश्व-सृष्टिके लिए आवश्यक हैं और अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त रूपमें हमारे भीतर विद्यमान है और हमारी स्थिति एक वर्षके शिशुके समान है, क्योंकि विकासमान प्रकृतिमें हम अभी वयस्क होनेसे बहुत दूर हैं।

सत्, चित् और आनन्द रूप यह उच्च त्रिक सम्पूर्ण विश्वसत्ताका और विश्वसत्ताकी लीलाका उपादान और आधार है, इसलिए सम्पूर्ण विश्व अपने मूलभूत परमार्थ तत्त्वका एक आविर्भाव और कार्य होना चाहिये। विश्व किसी ऐसे सत्का रूप नहीं हो सकता जो कि पूर्ण शून्यमें प्रकट हुआ हो और पूर्ण शून्यकी श्रेणीमें हो और किसी असत् शून्यके विरोधमें खड़ा हुआ हो। विश्व या तो उस अनन्त सत्ताके भीतर सत्ताका रूप होगा जो कि समस्त रूपसे अतीत है अथवा वह (विश्व) स्वयं ही वह सर्व-सत् होना चाहिये। वास्तवमें, जब हम अपने आत्माको विश्व-सत्ताके साथ युक्त करते हैं तो हम देखते हैं कि यथार्थमें वह दोनों ही है। इसका तात्पर्य यह है कि सर्व-सत् (सर्व सत्तामय पुरुष) देश और कालके रूपमें अपना कल्पनात्मक आत्म-विस्तार करता हुआ सामंजस्योंकी अनन्त परम्पराका रूप धारण करता है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि यह विश्व-कर्म या कोई भी विश्व कर्म सत्ताकी अनन्त शक्तिकी लीलाके बिना असंभव है, क्योंकि सत्ताकी यह अनन्त शक्ति ही इन समस्त रूपों और क्रियाओंको उत्पन्न और व्यवस्थित करती है, और सत्ताकी यह शक्ति, समान रूपमें, अनन्त चेतनाका कार्य है, क्योंकि इस शक्तिका स्वभाव है विश्व-इच्छा। यह इच्छा समस्त संबंधोंको नियत करती है और अपने संविद्-रूप गुणके द्वारा उनको प्रज्ञान करती है। और यदि उस विश्व-संविद् रूप गुणके पीछे संज्ञान न हो तो यह विश्व-इन संबंधोंको इस प्रकार नियत और प्रज्ञान नहीं कर सकती; कारण सत्पुरुषके जिस परिवर्धित रूप या भूतभावको हम विश्व कहते हैं उसमें सत्के संबंधोंको उत्पन्न, धारण एवं स्थिर करनेवाला और उनपर विचार करनेवाला संज्ञान ही है।

अन्तमें जैसा कि हम देख चुके हैं चेतन इस प्रकार सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है, वह पूर्णतया ज्योतिर्मय रूपमें अपने आपको अधिकृत करता है; और ऐसे पूर्ण ज्योतिर्मय आत्माधिकारका स्वरूप है आनन्द, क्योंकि वह इस आनन्दसे भिन्न नहीं हो सकता; इसलिए एक बृहद् विश्वात्मक आत्मानन्द विश्व-सत्ताका कारण, सार और उद्देश्य होना चाहिये। प्राचीन ऋषिने कहा है "जिस सर्वव्यापी आकाशमें हम निवास करते हैं यदि वह आनन्दरूप न हो, यदि वह आनन्द हमारा आकाश न हो, तो न कोई श्वास ले सकता है न जीवन धारण कर सकता है। ×

यह आत्मानन्द अवचेतन अवस्थामें उत्तल पर आपाततः खोया हुआ हो सकता है, किन्तु न केवल यह हमारे मूलोंमें

× को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्॥ तैत्तिरीयोपनिषद् २।७॥

अवश्यम्भावी रूपसे विद्यमान रहना चाहिये, अपितु सम्पूर्ण सत्ता ही मूलतः इसका आविष्कार करने और इसे अधिकृत करनेके लिए अन्वेषण और विस्तार रूप होनी चाहिए। और विश्वमें रहनेवाला जीव जितना अधिक अपने आपको प्राप्त करता है, चाहे वह इच्छा और शक्तिमें प्राप्त करे, चाहे ज्योति और ज्ञानमें, चाहे सत्ता और विस्तारमें अथवा चाहे प्रेम और हर्षमें प्राप्त करे, हर दशामें वह गुप्त आनन्दके किसी रूपके प्रति उद्बुद्ध होता है। अस्तित्व रखनेका हर्ष ज्ञानके द्वारा अनुभूतिका आनन्द, इच्छा और बल या सृजनात्मक शक्तिके द्वारा अधिकृत करनेका प्रहर्ष, प्रेम और हर्षके द्वारा मिलनका आह्लाद,— ये जीवन विस्तारकी उच्चतम अवस्थायें हैं; कारण ये सत्ताकी गुप्त मूलोंमें और उसकी अभीतक अदृष्ट उच्चताओंपर रहनेवाले उसके सार-तत्त्व हैं। इसलिए जहां कहीं भी विश्वका अस्तित्व प्रकट होता है वहां ये तीनों उसके मूलमें और भीतर अवश्य विद्यमान रहने चाहिये।

परन्तु अनन्त सत्ता, अनन्त चेतना और अनन्त आनन्द यदि चतुर्थ तत्त्व विज्ञानको अपने भीतर धारण न करें या अपनेसे बाहर प्रकट न करें, तो यह संभव है कि वे अपने आपको दृश्यसत्ताके रूपमें बिल्कुल भी प्रकट न करें; अथवा यदि वे प्रकट करें भी तो यह सत्ता विश्व सत्ता न हो अपितु ऐसे अनन्तरूप हों जिनमें कुछ भी निश्चितक्रम, व्यवस्था और संबंध न हो। प्रत्येक विश्वके मूलमें ज्ञान और इच्छा वाली एक ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो कि अनन्त शक्यताओंसे नियत संबंधोंको स्थिर करती है, बीजसे परिणामको विकसित करती है, विश्व धर्म (नियम) के बलशाली सामंजस्योंको व्यक्त करती है, और समस्त लोकोंको उनके अमर अनन्त कवि, ऋषि, प्रभुके रूपमें देखती है और उनका शासन करती है। * यह शक्ति वस्तुतः स्वयं सच्चिदानन्द ही है उससे भिन्न नहीं है। वह कुछ भी ऐसा उत्पन्न नहीं करती जो स्वयं उसकी आत्म-सत्तामें विद्यमान न हो।

इसलिए विश्वका सम्पूर्ण और यथार्थ धर्म (नियम) कहीं बाहरसे आरोपित नहीं किया जाता अपितु भीतरसे ही प्रकट होता है; सम्पूर्ण विस्तार आत्म-विस्तार है; जो कुछ भी बीज है वह पदार्थोंका सत्य-रूप बीज है और उस बीजका जो परिणाम है वह उस बीजमें निहित शक्यताओंसे नियत होता है। इसी कारणसे कोई भी धर्म (नियम) निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि केवल अनन्त ही निरपेक्ष है; प्रत्येक पदार्थके भीतर अनन्त शक्यतायें रहती हैं जो कि उसके नियत रूप और कर्मसे सर्वथा परे होती हैं; ये शक्यतायें केवल ईश्वरीय संकल्पसे ऐसी आत्मपरिच्छिन्नताके द्वारा नियत होती हैं, जो (आत्म परिच्छिन्नता) भीतरी अनन्त स्वतंत्रतासे उद्भूत होती है। आत्म परिच्छिन्नताकी यह शक्ति सीमाहीन सर्व सत्के भीतर अवश्यम्भावी रूपमें निहित है। अनन्त अनन्त नहीं होगा यदि वह बहुविध सान्तताका रूप धारण न कर सके; निरपेक्ष निरपेक्ष नहीं होगा यदि उसके ज्ञान, शक्ति, इच्छा और अभिव्यक्तिमें आत्म-नियतकरणकी असीम सामर्थ्य न हो।

अतः यह आतिमन सत्य या सत्यसंकल्प है जो कि समस्त विश्वशक्ति और विश्व-सत्तामें अन्तर्निहित है। यह स्वयं अनन्त है और अभिव्यक्ति (विश्व) के संबंध, क्रम और महती दिशाओंको नियत संयुक्त और धारण करनेके लिए इसका होना आवश्यक है। वैदिक ऋषियोंकी भाषामें इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि अनन्त सत्ता चेतना और आनन्द जैसे नामरहितके तीन उच्चतम और गुप्त रूप हैं इसी प्रकार यह विज्ञान चौथा नाम + है, यह उस तत्की ओरसे उसके अवतरणमें चौथा है और हमारी ओरसे आरोहणमें चौथा है।

परन्तु मन, प्राण और भौतिक द्रव्यसे ये निम्नश्रेणीके तीन तत्त्व भी प्रत्येक विश्व-सत्ताके लिए अपरिहार्य हैं; यह आवश्यक नहीं है कि ये उसी रूपमें या वैसी ही क्रिया या अवस्थाके साथ हों जो कि हमें पृथ्वीपर या इस भौतिक विश्वमें दिखलाई देते हैं; वे किसी ऐसी क्रियाके रूपमें हो सकते हैं जो कि अधिक ज्योतिर्मयी, बलवती और सूक्ष्म होगी। कारण मन साररूपमें विज्ञानकी वह शक्ति है जो कि मापती है और सीमित करती है, जो एक विशेष केन्द्रको स्थिर करती है और उस केन्द्रसे विश्वकी गतिको और उसकी

* कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। ईशोपनिषद् ॥ ८॥

+ "तुरीयं स्विद्," विशेष चतुर्थ, एक "तुरीय धाम" चतुर्थ पद या स्थान भी कहा गया है।

अन्तर्क्रियाओंको देखती है। यह हो सकता है कि किसी विशेष लोकमें, किसी विशेष स्तरपर या विश्वव्यवस्थामें मन परिच्छिन्न न हो; अथवा जो प्राणी मनका एक उपाश्रित शक्तिके रूपमें उपयोग करता है वह पदार्थोंको दूसरे केन्द्रोंसे या दूसरे दृष्टिकोणोंसे अथवा सबके एकमात्र यथार्थ केन्द्रसे अथवा विश्वव्यापी आत्म-विकिरणकी बृहत्तामें देखनेमें असमर्थ न हो; परन्तु यदि वह ईश्वरीय क्रियाके विशेष प्रयोजनोंके लिए अपने निजी दृष्टिकोण पर सामान्यतया स्थिर नहीं हो सकता।

यदि वहां केवल विश्वव्यापी आत्मविकिरण है अथवा केवल ऐसे अनन्त केन्द्र हैं जिनमें प्रत्येकके लिए नियत करनेवाला और स्वतंत्रतापूर्वक परिच्छिन्न करनेवाला कर्म नहीं है, तब इस अवस्थाको विश्व नहीं कहा जा सकता। यह ऐसी स्थिति है जब कि सत्पुरुष सृष्टिकारक नियामक कर्ममें प्रवृत्त होनेसे पहले अनन्त रूपमें ध्यान, ईक्षण करता है, जैसे कि कोई स्रष्टा या कवि अपने नियत सृजनात्मक कर्ममें प्रवृत्त होनेसे पहले स्वतंत्रता पूर्वक, न कि नमनशील रूपमें, ध्यान किया करता है। सत्ताकी अनन्त श्रेणी परम्परामें ऐसी अवस्था कहीं न कहीं अवश्य रहनी चाहिए। परन्तु विश्व शब्दसे जिसका हमें बोध होता है यह वह नहीं है। उसमें चाहे जैसी भी व्यवस्था क्यों न हो वह एक प्रकारकी अस्थिर, शिथिल व्यवस्था होगी; इस व्यवस्थाको विज्ञान संबंधोंके स्थिर विस्तार, माप और अन्तर्कर्मरूप कार्यमें प्रवृत्त होनेसे पहले विकसित कर सकता है। इस माप और अन्तर्कर्मके लिए मनका होना आवश्यक है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उसे अपने विषयमें इससे अधिक ज्ञान हो कि वह (मन) विज्ञानका एक उपाश्रित कार्य है, और यह भी आवश्यक नहीं है कि उसने संबंधोंके अन्तर्कर्मको आत्म-बद्ध अहंकारके आधारपर विकसित किया हो, जैसा कि हम पार्थिव प्रकृतिमें देखते हैं।

एक बार मनका अस्तित्व हो जाता है तो प्राण और द्रव्यके रूपका अस्तित्व भी हो जाता है; कारण, प्राण चेतनाके अनेक स्थिर केंद्रोंसे शक्तिके बल एवं कर्मका और सम्बन्ध एवं अन्तर्कर्मका केवल नियत-रूप है। यह आवश्यक नहीं है कि चेतनाके इन केंद्रोंकी यह स्थिरता देशगत और कालगत हो; यह स्थिरता है विश्व-सामंजस्यको धारण करनेवाले ब्रह्मके आत्म-रूपों या जीवोंके दृढ सह-अस्तित्वके रूपमें। वह प्राण इस प्राणसे जिसे कि हम जानते हैं या कल्पना कर सकते हैं, बहुत भिन्न हो सकता है, परन्तु अपने मूल स्वरूपमें वह वही तत्त्व सक्रिय होगा जो कि हमें यहां जीवन-शक्तिके रूपमें दिखलाई देता है।

यह वह तत्त्व है जिसे भारतके प्राचीन ऋषियोंने वायु या प्राणका नाम दिया है; यह विश्वमें वह द्रव्यगत इच्छा और शक्ति है जो कि सत्ता (प्राणी) के नियत रूप, कर्म और सचेतन क्रिया-शक्तिका रूप धारण करती है। द्रव्य भी उससे बहुत भिन्न हो सकता है जिसे कि हम अपने भौतिक शरीरके संबंधमें जानते हैं; वह इसकी अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म हो सकता है; उसके आत्म-विभाग और परस्पर-प्रतिरोधका धर्म कम कठोरताके साथ बंधनकारी हो सकता है, और देह एकरूप कारागार न होकर उपकरण हो सकते हैं। परन्तु फिर भी विश्वके अन्तर्कर्मके लिए रूप और द्रव्यका कुछ न कुछ नियतकरण सर्वदा आवश्यक होगा, चाहे वह केवल मानस शरीर हो अथवा स्वतंत्र मानस शरीरसे भी अधिक ज्योतिर्मय, सूक्ष्म और बल एवं स्वतंत्रताके साथ प्रत्युत्तर देनेवाला शरीर हो।

इससे यह परिणाम निकलता है कि जहां कहीं भी विश्व है, यदि वहां केवल एक ही तत्त्व प्रारंभमें प्रकट हो; यदि वह तत्त्व ही समस्त पदार्थोंका एक मात्र कारण जान पड़ता हो और दूसरा सब कुछ जो कि जगत्‌में पीछेसे व्यक्त होता है, केवल उसका रूप और परिणाम जान पड़ता हो और विश्व-सत्ताके लिये अपरिहार्य नहीं जान पड़ता हो; तो सत्ताका ऐसा रूप उसके यथार्थ सत्यका केवल एक भ्रान्त या मिथ्या रूप ही हो सकता है; जहां विश्वमें एक तत्त्व आविर्भूत है वहां दूसरे सभी तत्त्व न केवल विद्यमान और निश्चेष्ट भावसे अन्तर्हित (सुषुप्त) होने चाहिये, अपितु गुप्तरूपमें सक्रिय होने चाहिए।

किसी विशेष लोकमें उसकी सत्ताको श्रेणी और समंजसता ऐसी हो सकती है कि जहां ये सातों तत्त्व स्पष्टतया उच्च या निम्न कोटिकी क्रियाके साथ विद्यमान हों, किसी दूसरे लोकमें दूसरे समस्त तत्त्व एक तत्त्वमे अन्तर्भूत हो सकते हैं और वह तत्त्व उस लोकमें विकासका प्रारंभिक या मूलभूत तत्त्व हो सकता है; परन्तु वहां अन्तर्भूत

तत्त्वका विकसित होना अवश्यम्भावी है। जिस लोकका प्रारंभ ऐसी अवस्थासे होता है कि जिसमें सब तत्त्व एक ही तत्त्वमें अन्तर्भूत हैं उस लोकमें सत्ताकी सातों शक्तियोंका विकास, उसके सत्लोक नामकी सार्थकता, उसका लक्ष्य होना चाहिये। × इसलिए इस भौतिक विश्वका स्वभाव इस प्रकारका है कि अपने भीतर छिपे प्राणसे दृश्य प्राणका, छिपे मनसे दृश्य मनका विकास करना इसके लिए अनिवार्य था, और इसी स्वभावके कारण अपने भीतर छिपे हुए विज्ञानसे व्यक्त विज्ञानका और छिपे आत्मासे सच्चिदानन्दके त्रिविध वैभवका विकास करना भी इसके लिए अनिवार्य है।

प्रश्न केवल यह है कि इस दिव्य विकासके लिए क्या पृथ्वी ही रंगमंच होगी? अथवा इस लोकमें हो अथवा किसी दूसरे भौतिक लोकमें हो, कालके विशालचक्रों (कल्पों) के इस या किसी दूसरे घुमाव (युग) में क्या मनुष्य ही उस विकासका उपकरण और वाहन होगा! प्राचीन ऋषियोंको मनुष्यके लिए इस संभावनामें विश्वास था और उन्होंने इसे मनुष्यकी भवितव्यता माना है। आधुनिक मनीषी इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता और यदि कल्पना करता भी है तो इसका निषेध करता है या इसपर संदेह करता है। यदि वह अतिमानवकी कल्पना करता है तो वह मन और प्राणकी कुछ बढी हुई मात्राके रूपमें ही कल्पना करता है; वह इन तत्त्वोंसे परे कुछ भी नहीं सोच सकता, कारण वह मानता है कि हमारी सीमा और परिधि इन तत्त्वोंके भीतर ही है।

इस प्रगतिशील जगत्में, इस मानव जीवके लिए जिसमें कि दिव्य ज्योतिकी चिंगारी प्रदीप्त हो चुकी है, यथार्थ बुद्धिमत्ता उच्च अभीप्सा रखनेमें है; अभीप्साके अस्वीकारमें अथवा ऐसी आशा रखनेमें जो कि उसे आपात संभावनाओंकी संकुचित दीवारोंमें, जो दीवारें कि हमारे लिए कुछ मध्यकालके लिए शिक्षणालय हैं, परिच्छिन्न और सीमित करती हैं, बुद्धिमत्ता नहीं है। आध्यात्मिक व्यवस्था ऐसी है कि हम अपनी दृष्टि और अभीप्साको जितना ही अधिक ऊंचा रखते हैं, उतना ही अधिक महत्तर सत्य हममें अवतीर्ण होता है; कारण वह सत्य हमारे भीतर पहलेसे ही विद्यमान है और अभिव्यक्त प्रकृतिमें जो पर्दा उसे ढके हुए हैं उससे अपनी मुक्तिके लिए पुकार रहा है।

अनु०— केशवदेवजी आचार्य

× यह भी संभव है कि किसी लोकमें अन्तर्भाव न हो अपितु, एक तत्त्वके दूसरे तत्त्व उपाश्रित या अन्तर्गत हों। तब इस लोक-व्यवस्थामें विकासका होना आवश्यक नहीं है।

गीतामें तीन पुरुष

ग्यारहवां परिच्छेद

(लेखक— श्री स्वा. केशवदेवजी आचार्य, मेरठ)

[गताङ्कसे आगे]

शंकर और रामानुज

गत प्रकरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीताके अनुसार तीन पुरुष हैं— क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम। क्षरका अर्थ है त्रिगुणमयी मूल प्रकृति, उसके महान् अहंकार आदि संपूर्ण विकार तथा प्रकृतिस्थ जीव। जीव जब प्रकृतिके बंधनसे मुक्त हो जाता है तो वह अक्षर कहा जाता है। यह सांख्यका अक्षर है, यह व्यष्टि अक्षर है। सांख्यके अनुसार प्रकृति और पुरुषका भेद और पुरुषोंका परस्परका भेद नित्य रहता है। परन्तु गीताके अनुसार ये समस्त जीव अपने मूलमें स्थित एक ही चेतनके नाना रूप हैं। प्रकृति और उसके विकार भी उसी चेतनके रूप या कार्य हैं।

वह चेतन इन समस्त जीवों और प्राकृतिक विकारोंका रूप धारण करते हुए भी सार रूपमें कूटस्थ निष्क्रिय और निर्विकार बना रहता है। उसके इस निष्क्रिय और निर्विकार रूपको अक्षर पुरुष कहा जाता है। यह समष्टि अक्षर है। और ये सक्रिय और निष्क्रिय, क्षर और अक्षर भाव जिस चेतनके दो आंशिक रूप या भाव हैं और जो इन दोनोंकी अपेक्षा अधिक पूर्ण और इसलिये उत्तम है वह पुरुषोत्तम है।

शांकर वेदान्तमें ब्रह्मको सर्वथा निष्क्रिय और निर्विकार माना जाता है। इस मतमें ब्रह्मसे संसारकी यथार्थ सृष्टि नहीं होती। वहां तो ब्रह्ममें संसारकी इस प्रकार प्रतीति होती है जैसे रज्जुमें सर्पकी। अतः यहां संसार मिथ्या है। इस मतके अनुसार मायामें प्रतिबिम्बित या मायोपाधिक ब्रह्मको ईश्वर कहा जाता है। कहीं कहीं इसे मायाका पुत्र + भी कहा जाता है। इस ब्रह्मके साथ चूंकि मायारूप उपाधिका संपर्क रहता है इस कारण इसे मायोपाधिक या सोपाधिक ब्रह्म कहते हैं और इसे निरुपाधिक ब्रह्मसे निकृष्ट कोटिका मानते हैं। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीताने ईश्वरको व्यापक अर्थमें लेकर उसे इस निरुपाधिक या अक्षर ब्रह्मसे उत्तम बतलाया है। यह सिद्धान्त शांकर वेदान्तके विरुद्ध होता है इस कारण इस मतके अनुयायी टीकाकारोंने गीताके अक्षर, ईश्वर और पुरुषोत्तम शब्दोंके अर्थोंमें खींचातानी की है जिसकी शेष गीताके साथ संगति नहीं लगती।

शंकराचार्यने क्षर शब्दका अर्थ किया है विनाशी; चूंकि उनके अनुसार प्रकृतिके समस्त विकार विनाशी होते हैं इसलिये वे क्षर होते हैं × और अक्षरका जो अर्थ गीताने कूटस्थ किया है, यहां शंकराचार्यने कूट शब्दका अर्थ किया है माया, धोखा, वंचना, जिह्मता, कुटिलता। उनकी दृष्टिमें यह समस्त जगत् आत्माको भ्रममें डालनेवाला है, भ्रमरूप है, मिथ्या है। इसका मूल कारण है भ्रमरूप अज्ञानरूप अविद्या, माया। अतः उन्होंने अक्षरका अर्थ किया है इस मिथ्या प्रपंचका कारणभूत अविनाशी माया *। मधुसूदन सरस्वतीने भी अक्षरका अर्थ अविनाशी किया है। (न क्षरतीति अक्षरो विनाशरहितः)। शांकर वेदान्तके अनुसार ये दोनों ब्रह्मकी कार्योपाधि और कारणोपाधि हैं अतः दोनों ही जड हैं। अतः मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं:—

"क्षराक्षरशब्दाभ्यां कार्यकारणोपाधी उभावपि जडावेवोच्येते"

\+ मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ॥ पञ्चदशी ६।२३६ ॥

× क्षरश्च क्षरतीति क्षरो विनाशी, सर्वाणि भूतानि समस्तं विकारजातम्।

* अक्षरः तद्विपरीतो भगवतो माया शक्तिः, क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्ति बीजम्। कूटो माया वंचना जिह्मता कुटिलतेति पर्यायाः, अनेक मायादि-प्रकारेण स्थितः संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीति अक्षर उच्यते।

इन दोनों उपाधियोंसे भिन्न इनके दोषसे अस्पृष्ट नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाले चेतनको पुरुषोत्तम कहा गया है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि क्षर और अक्षर शब्दोंसे मायाका प्रपंच और माया दोनों जड ही अभिप्रेत हैं तो इन्हें पुरुष क्यों कहा गया (द्वाविमौ पुरुषौ)? कारण पुरुष शब्द "पुरी आप्यायने" धातुसे बना है जिसका अर्थ होता है पूर्ण करनेवाला, व्याप्त होनेवाला। देहमें व्याप्त होनेके कारण जीवात्माको और जगतमें व्याप्त होनेके कारण परमात्माको पुरुष कहा जाता है। अमर-कोशमें इसके समानार्थक शब्द क्षेत्रज्ञ और आत्मा दिये गये हैं +। गीतामें क्षेत्रज्ञ शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनोंके लिये आता है। पुरुष शब्दका पुर अर्थात् नगरमें रहनेवाला अर्थ भी होता है।

जिस प्रकार मनुष्य किसी नगरमें रहता है और उसे पुरवासी कहते हैं इसी प्रकार जीवात्माको इस देहरूप नगरमें (नवद्वारे पुरे) रहनेके कारण और परमात्माको इस विश्वरूप नगरमें व्याप्त रहनेके कारण पुरुष कहा जाता है। उपनिषदोंमें पुरुषको पुरमें निवास करनेवाला (पुरि शयं पुरुषं) कहा गया है। शंकराचार्यने भी दूसरे अनेक स्थानोंपर इसका यही अर्थ किया है ×। वेद उपनिषद् गीता आदि ग्रन्थोंमें प्रायः सर्वत्र पुरुष शब्द चेतनके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
ऋग्वेद १०।९०

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः अक्षरात्परतः परः ॥
मुण्डकोपनिषद्

आनन्दगिरि और मधुसूदन सरस्वती आदि टीकाकारोंने इन समस्त जड वस्तुओंको पुरुष कहनेका कारण यह बतलाया है कि पुरुषकी उपाधि होनेके कारण इन्हें आध्यात्मिक संबंधसे पुरुष कहा गया है ÷। जिस प्रकार अज्ञानी मनुष्य देहमें आत्माका अध्यास करके देहको आत्मा कहा करते हैं इसी प्रकार गीताने पुरुषकी इन जड उपाधियोंको पुरुष या चेतन कह दिया है ॐ।

यहां यह विचारणीय विषय है कि गीताने जो इस स्थूल प्रपंचको और इसके कारणभूत मायाको पुरुष कहा है वह क्या इस कारण कहा है कि ये लोकमें पुरुष रूपसे प्रसिद्ध हैं? अज्ञानी मनुष्य इन्हें अज्ञानवश पुरुष समझते हैं? निःसन्देह अज्ञानी मनुष्य आध्यात्मिक संबंधसे स्थूलदेहको आत्मा या चेतन माना करते हैं। परन्तु क्षर शब्दसे अभिप्रेत केवल शरीर ही तो नहीं है; उसके अन्तर्गत तो सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, पत्थर, लोहा, पर्वत आदि समस्त प्राकृतिक पदार्थ (समस्त विकार जात) हैं; इन्हें कोई भी अज्ञानी मनुष्य आत्मा, पुरुष या चेतन नहीं मानता, सब जड ही मानकर व्यवहार करते हैं।

इसी प्रकार लौकिक मनुष्य इन सब जड पदार्थोंका कारण या तो न्यायकी भाषामें जड परमाणु मानते हैं या सांख्यकी भाषामें जड प्रकृति। भौतिक विज्ञानवादी भी इसे जड ही समझते हैं, वे तो चेतन आत्माका अस्तित्व ही नहीं मानते। अतः मायावादी टीकाकारोंका यह कथन कि ये वास्तवमें जड हैं किन्तु चूंकि अज्ञानी मनुष्य देहको आध्यात्मिक संबंधसे आत्माके समान इन्हें भी चेतन मानते हैं इस लिये गीताने आध्यात्मिक संबंधसे इन्हें पुरुष (चेतन) कह दिया है लौकिक व्यवहारका अनुवाद कर दिया है, ठीक नहीं है।

यहां मायावादकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि चाहे लौकिक मनुष्य इन्हें जड ही मानें किन्तु जिस प्रकार वे अध्याससे देहको आत्मा कहा करते हैं इसी प्रकार गीताने इन्हें पुरुष कह दिया है। इस कथनमें यह दोष उपस्थित होता है कि यदि ये गीताकी दृष्टिमें यथार्थमें जड हैं और लौकिक मनुष्य इन्हें जड ही मानकर व्यवहार करते हैं तो उनका ज्ञान यथार्थ ही है। ऐसी स्थितिमें गीताका इन्हें पुरुष कहना मनुष्योंको यथार्थ ज्ञानसे हटाकर उनकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना होगा, उन्हें यथार्थ ज्ञानसे भ्रष्ट करके अयथार्थमें प्रवृत्त करना होगा। ऐसी स्थितिमें गीता सत्य-ज्ञानका प्रकाशक ग्रन्थ न होकर मिथ्याज्ञानका प्रवर्तक दूसरोंको धोखा देनेवाला ग्रन्थ होगा और सत्यके जिज्ञासुओंसे परित्यक्त होगा। (क्रमशः)

+ क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः ।१।५।२८ ॥ × पूर्णमनेन सर्वं पुरिशयनाद्वा पुरुषः । गीता भाष्य ८।३ ॥

÷ पुरुषोपाधित्वात्पुरुषत्वम् – आनन्दगिरिः । पुरुषोपाधित्वेन पुरुषशब्द व्यपदेश्यौ ।
क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्यां अध्यासेन पुरुषव्यपदेश्याभ्याम् । मधुसूदन सरस्वती ।

ॐ अविवेकि लोकस्य शरीरेष्वेव पुरुषत्व प्रसिद्धेः (श्रीधरः ॥)

वेदार्थ परिचय

लेखक : श्री अनन्तानन्द सरस्वती, वेदपाठी

ऋषिवा दयानन्द सरस्वतीजीसे पूर्व अनुमान ६ सहस्र हुए होंगे, भारतवर्षके विद्वान् लोगोंमें विद्याविषयक प्रमाद छा गया था और आध्यात्मिक आधिदैविक तथा वैज्ञानिक भावरहित मौतिकवादमात्र शुष्क कुतर्कमें परिणत हो चुका था, केवल शारीरिक सुखोंको सिद्ध हस्त होता था ऐसा अनुमान लगता है। उसी हेतु उस कालमें कपिल मुनिजीने सांख्यदर्शनका सम्पादन किया होगा। उस कालमें जनता त्रिविध दु खोंसे आक्रान्त हो चुकी थी और धर्म, कर्म, सभ्यता व संस्कृति गिर चुकी थी। उसका दिग्दर्शन कापिल सूत्रोंसे ही प्रकट होता है जो लिखा है कि, नाऽत्यन्तोच्छेद इदानींवत्— (नात्यन्तोच्छेदः।) अर्थात् पूर्वकालमें धर्मकर्मका इस विद्यमानकालकी नाईं अत्यन्त च्छिन्न नहीं हुआ था। अतः इस अधर्म, अकर्म विरुद्ध कर्म और निषिद्ध कर्मोंका विनाश करनेके लिये (त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः) अर्थात् इन आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों दुःखोंकी अत्यन्त विवृत्तिके अत्यन्त अभाव करनेके लिये, तीन ही प्रकारके पुरुषार्थकी अपेक्षा है। उसी बातको ऋषिवर दयानन्द सरस्वतीजीने दोहराया है कि, संसारका उपकार करना इस समाजका मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना है।

अब देखना यह है कि, प्रथम शारीरिक उन्नतिका उपाय क्या है ? उत्तरः— ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करता हुआ योगाभ्यास और प्राणायाम करनेसे शारीरिक उन्नति होती है यही इसका उपाय है। उसी प्रकार जिस विधिसे विद्या धर्म-कर्मके विधानको प्रस्तुत करती है उसी प्रकारका आचरण करनेसे आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। तीसरे सामाजिक उन्नति तभी हो सकती है कि, जब प्रत्येक व्यक्तिका इष्टदेव एक ही ओ३म् वेदवाच्य ईश्वर हो, एक ही भाषा हो, एक समान गर्भाधानादि संस्कारजन्य संस्कृति सुशीलता और सभ्यता हो। तभी देशमें वेदार्थ करनेमें मतभेद नहीं हो सकेगा और जबतक वेदार्थ करनेमें विद्वानोंमें स्वमतकी खींचातानी रहेगी तबतक उक्त उन्नति नहीं हो सकती ऐसा सत्य जाने। यथा वेद ही ऐसी विद्याके पुस्तक हैं जो अपने अर्थ करनेके नियमोंका भी विधान करते हैं।

ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ १॥ यह अथर्ववेदका प्रथम मन्त्र है। इसके पांच अर्थ होते हैं जो आधि-भौतिक, अधिविद्या, अधिज्योतिष, अधिप्रजा और आध्यात्मिक रूपोंसे होते हैं। हम यहां केवल एक अर्थका प्रकाश करते हैं। जो अधिविद्या संज्ञक होगा।

(ये) जो (त्रिसप्ताः) तीन और सात= मिलके दश लटादि लकार हैं जिनमें सब आख्यात प्रकरण निहित है। यथा 'भू सत्तायाम्के' भवति, भवतः, भवन्ति ऐसे त्रिक हैं उसी प्रकार सात कर्ता, कर्म आदि कारक नामिक प्रकरणके पुरुष पुरुषौ, पुरुषा. ये त्रिक हैं। जिनमें (विश्वा सर्वाणि रूपाणि) धातु और प्रातिपदिक रूप (विभ्रतः) धारण हो वेदोंमें पुष्ट हो रहे हैं (तेषाम्) उन सबके सम्बन्धका बोध (वाचस्पतिः) वाणीका पालक वा रक्षक विश्वकर्मा (अत्र-प्रमाणम्) वाचस्पतिं विश्वकर्माणमद्याहुवेम। अर्थात् वाचस्पति विश्वकर्माका ही नाम है वह अन्यका वाचक नहीं हो सकता, विश्वकर्मा शिल्पीका नाम है। जो यदि हठात् अन्यका ग्रहण किया जावेगा तो वह गौण होगा मुख्य नहीं अस्तु। वह वाचाका स्वामी उन रूपोंके जो (बलाः) भद्ररूप हैं उनको कृपा करके सुविस्तारसे (मे) मेरे लिये बोलके सुनावे और (सद्यः दधातु) मेरी चित्तवृत्तिमें धारण करावे। यह विधि आदिमें लिङ्के समान ही (लोट् च) से प्रार्थनार्थक (दधातु) क्रियापद आया है ऐसा जानें।

जब छात्रविद्या पढनेके लिये गुरुकुलमें जावे तो वहां गुरुसे प्रार्थनापूर्वक विद्याप्राप्तिकी याचना करे। जिससे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति सुलभ होवे।

उपरोक्त मंत्रका यह अधिविद्यार्थका प्रकाश है, परन्तु इस पत्रमें स्थान होनेसे उसके आध्यात्मिकपर भी प्रकाश

डालते हैं, वा परिचय देते हैं। विद्वान लोग ध्यानसे पढ़कर मनन करें।

सप्तशीर्षिम् धियम् । ऐसा मन्त्र ऋग्वेद और अथर्ववेदमें आया है, उससे बुद्धिके सात शिर हैं। वे निम्न प्रकारसे जानें, (१) बुद्धि, (२) धी, (३) मेधा, (४) माया, (५) ऊमा, (६) ऋतम्भरा, (७) और प्रज्ञा ये हैं। मनुष्यके (१२) वर्षसे (१६) सोलके भीतर । बुध अवगमने, विद्या ग्रहण करनेमें आनेवाली बुद्धिके उपरांत 'धी ज्ञानं कर्म च 'का निश्चय करानेवाली दूसरी जो वैदिक शब्दमयी है। विज्ञानकर्मको दर्शानेवाली 'मेधा' विद्याके सम्बन्धोंको दिखानेवाली चौथी है। विद्या, आत्मा, परमात्माके विभिन्नत्वका परिचय करानेवाली, ऋतम्भरा । सम्पूर्ण खगोल भूगर्भ आदिका विद्या वा पदार्थोंका दर्शन करानेवाली, माया पांचमी है ऊमा अध्यात्मविद्यामयी छठी है और केवल उक्त बुद्धियोंसे जन्य ज्ञानसे स्वात्मा और परमात्मामें जो एकदेशित्वभाव तथा अल्पज्ञत्वका ग्रह है, उसको मिटानेवाली प्रज्ञा, यह बुद्धिका सातवां शिर है उसकी प्राप्ति होनेपर द्वन्द्व समाप्त (शिवं शान्तमद्वैतम्) अभेद शान्त चित्त कल्याणमय बन जाता है। वह पद 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे ' ऐसा है।

अस्तु। इस प्रकार बुद्धि भेद सात हैं उन सातोंके भेद सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनोंके योगसे बुद्धिके भेद (२१) इक्कीस होते हैं, मुख्यकर सब मनुष्यप्राणी उन्हीं इक्कीस बुद्धियोंवाला है। परन्तु उनमेंसे स्मृतियुक्त मननपूर्वक बुद्धिका व्यवसाय रहता है जो प्राय: वैखरी वाचामय है। दूसरी (यस्मिन्नृचः साम) जिस मनमें चारों वेद रथनाभीके आरेके सदृश स्थित हैं, उसके साथ 'धी' का अधिकरण है। जिससे योगी वेदमंत्रोंपर मानसिक विवेकरूप क्रिया करता हुआ मंत्रके विनियोगोंका निश्चय करता है। इस धरतीपर ही ब्राह्मण ग्रंथों और चतुर्दश विद्याओंकी आधारशिलाकी स्थापना हुई है। उक्त धी:= बुद्धिद्वारा विद्वान् वेदकी चर्चा भली प्रकार कर सकता है।

भद्रपुरुषो! इस लेखमें उक्त सातों बुद्धियोंके २१ प्रकार केवल प्रथम संख्यामें हैं और उक्त तीनों गुणोंके उत्तम, मध्यम, अधम प्रकार और भी होते हैं। उनके अनुसार उन सातोंके तीन तीन भेद और बन जाते हैं तब बुद्धिभेद (८४) चौरासी बन जाते हैं। जो २१को ४ से गुणा करनेपर (८४) होते हैं। सम्भव है इसी चौरासी बुद्धि भेदोंके कर्म विपाक भेद प्रत्येक बुद्धिसे एक एक लक्ष मनुष्य भेद बन जाते और उनके कर्म, विकर्म और अकर्म कर्मकृत कर्मफलोंकी संख्या (८४) चौरासी लक्ष योनियोंका निर्णय किया गया होगा।

उक्त बुद्धियोंमेंसे नित्य सत्वगुणमयी सत्वगुणके उत्तम प्रकारकी बुद्धिमें वेदोंकी वाचाका उपदेश ईश्वरने अग्नि आदि चारों ऋषियोंके आत्माओंमें किया था। किसी आप्तपुरुषका वाक्य भी मिलता है कि, पूर्वा बुद्धेः कृतिर्हि वेदेषु। वेदोंमें उत्तम नित्य सत्वप्रधान बुद्धिके सम्बन्ध रखनेवाली कृति है। इस अवतरणके अनुसार आजकलके विद्वान् लोगोंको वह कारण देहस्थ परावाणीका अधिकरण प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि, उस बुद्धिकी प्राप्ति उसीको हो सकती है जिसके संस्कार होके ब्रह्मचर्य योग और स्वाध्यायरूप तपस्वी होता है। अथवा जिस कुलमें ईश्वरकी ओरसे जन्म ही मेधा माया वा प्रज्ञा बुद्धिके लिये होता है वह वेदार्थ कर सकता है। अन्यके वशकी बात नहीं है और जो पूर्वाबुद्धि हीनबुद्धिसे करेगा तो धर्मकी हानी हो जाती है। केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः। युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते। प्रज्ञावान् ही तार्किक बनता है। अन्य कुतर्क दुर्मेधावी रहता है।

उसमें वेदका प्रमाण इस प्रकारसे उपलब्ध होता है। मायायै कर्मारम्, मेधायै रथकारम् ॥ यजुः अर्थात् मायाबुद्धिके लिये कर्मारको 'उत्पन्न' किया है। रथकारको मेधाबुद्धिके लिये जाने। रथकार शब्द शिल्पीके लिये आया प्रसिद्ध है। जो लकडीका कारीगर होता है। कर्मारका अर्थ आयस्कार होता है, वही सबके कर्मसाधनोंका और अपने साधनोंका निर्माता होता है वही सबको स्वअभीष्ट कर्म करनेमें पूर्ण वा अलंकृत करनेहारा होनेसे कर्मार शब्दसे ग्रहीत होता है। उनको ही वेदमें (ऋभवः पितरः) शिल्पी पितर कहा है। वे ही आद्य आर्य हैं और इस भूमिके पति हैं (अहं भूमिमाददामार्याय० ऋग्वेद) ईश्वर स्वयं कहता है कि, मैं इस भूमिको एक आर्यके लिये समस्त पदार्थोंसहित दान की है। यह भूगोल एक आर्यकी सम्पत्ति हुई। वह आर्य कौन हो

सकता है? इसके उत्तरमें तर्क और युक्तिसे काम लेना आवश्यक है। तर्कः- यह भूमि बहुरत्ना और वसुन्धरा है। इसमें सोना, चांदी, हीरे आदि रत्ननिहित हैं उनको कौन प्राप्त कर सकता है? क्या राजा=क्षत्रिय, वैश्य वा द्विजमात्र प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है? उत्तर नहीं। क्योंकि राजा तो शस्त्रास्त्रका भी निर्माता देखनेमें नहीं आता जो पराधीन रहता है। तब वह आर्य नहीं। वह आर्य तो वही है, जो शिल्पनिपुण ब्राह्मण है, जो भूगर्भ विद्याको जानता है वह अग्रजा है; न कि द्विज।

उन अग्रजा ब्राह्मणोंको ही ईश्वरने माया और मेधा विज्ञानवती बुद्धि दी है अतः शिल्पी ही, इस भूमिका पति है और वही सनातन आर्य है। तथा वही वाचस्पति होनेसे वेदोंका रक्षक सिद्ध होता है। वे शिल्पी ही इस अन्तर्यामी ईश्वरके औरस अमृतपुत्र हैं इन्हींपर प्रभुकी अमृत छाया है। उनसे अन्यों पर भगवानकी मृत्युच्छाया रहती है जो जन्मते और मरते रहते हैं। उनमें यह भेद है कि जो अग्रजा और द्विजत्व है। जिन अग्रजा ब्राह्मणोंसे द्विजमात्र और मनुष्य मर्त्य आदि लोगोंने स्वं स्वं चरित्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है, उस हेतु द्विजोंने उन पितरोंका सदाका कृतज्ञ बना रहना चाहिये तभी वेदकी परम्पराका यथोचित ईश्वर नियमानुसार व्यवहारसिद्ध बना रह सकता है। तभी मनुष्यमात्रके जन्म लेनेके जो पितृयाण और देवयान ये दो मार्ग हैं उनमें यथार्थ प्रयाण वा यातायात बना रह सकता है। जिससे इस मनुष्यजातिके जो विद्या बुद्धि तर्क युक्ति और वेदोंकी प्रामाण्यके विरोधी पथ हैं उनमें जानेसे बचाव हो सकता और मनुष्यजातिका मतैक्य होके अभ्युदय और निःश्रेयसका उपभोग कर सकते तथा सब वर्ण आश्रमोंमें परिणत होके सुख, शान्ति और आपसमें एक दूसरा अन्यके लिये मंगलकारी बन सकता है, वैसे वेदके अर्थ करनेसे ही मानव विद्वानोंका तात्पर्य सिद्ध हो सकता है, यह जानें।

पितृयाण और देवयान इन दोनों श्रुतियोंका विज्ञान उन लोगोंको होता है जिनको ईश्वरने जन्मतः ही माया वा मेधा बुद्धिका प्रसाद दिया है। निरुक्तकारजीके मतसे (माया वै प्रज्ञाः) अर्थात् माया नाम प्रज्ञा हीका है। जिनके आत्माके साथ प्रज्ञाका सम्बन्ध है उनको ही वेदार्थका अधिकार प्राप्त था। वे ही पितर कहाते हैं। वे ही द्विजमात्रके लिये साकार, सगुण ब्रह्मवत् पूज्य व माननीय थे, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थ रचनाकालमें आकर द्विज लोग उनकी पूजा-सत्कार करते करते ग्लान हो गये ऐसा प्रतीत होता है। तबसे ही पितर शब्दोंके वाचक शब्दोंका अर्थ चेतनके सम्बद्धोंका त्याग करके ऋतु और सूर्यकी रश्मियोंके साथ जोड दिया गया है। जिससे चेतनत्वसे जनताका चित्त हट गया और जडवादमें ग्रस्त होता गया है। आज दिन ऐसी परिस्थिति निर्माण होगई है कि, जिन मंत्रोंमें केवल चेतन जीवित पितरोंका निरूपण है उन मंत्रोंसे केवल जड सूर्यकिरण और ऋतुओंका ही ग्रहण करते हैं। जो अनुपयुक्त है। उन विद्वानोंका वह अर्थ केवल बुद्धि जिससे गुरुद्वारा व्याकरण आदि विद्याग्रहण की जाती है। और 'धी' जिसमें वेदशब्दोंका अधिकरण और मनन किया जाता है। इसी बुद्धिके साथ मध्यमा वाचा अधिकार प्राप्त होता है तस्मात् (माध्यमिका वै देवगणाः) देवगणको माध्यमिक कहते हैं।

इससे जो ब्राह्मणग्रन्थ बने हुए हैं और जिस वाचाका प्रयोग ऋषियोंने अपनी तर्कसे किया है वह 'धी बुद्धि, और वैखरी तथा मध्यमा' वाणीसे किया है। न कि पश्यन्ती मेधा और परा, वाचा और प्रज्ञा वा माया बुद्धिसे।

वेद सच्चिदानन्दविज्ञानघनस्वरूप ईश्वरकी कृति है। उस हेतु वेदोंमें अदेही और सदेही मुक्त, बद्धचेतन आत्माका ही मुख्य करके वर्णन किया है। क्योंकि, चेतन सयोगसे विना जड तुच्छ है। ऋषियोंने तर्कसे चेतन परमात्माकी व्याप्तियुक्त होनेसे और अल्पज्ञ जीवात्माके वा ईश्वरके गुण-कर्म स्वभावोंका आलोक करके जडोंमें लगा दिया है यह कर्म सूक्ष्मदेहस्थ मध्यमा वाचाका व्यापार है।

उपरोक्त कथनमें आधिभौतिक और आधिज्योतिषका समावेश हो सकता है। उन दोनों प्रकारके अर्थोंका ज्ञान प्राप्त करना साधारण तथा योग्य है परन्तु वह प्रेय है, जो पितरोंके स्वभावानुकूल है उसका निःश्रेयस मौलिक भाव नहीं हो सकता। क्योंकि वह 'धी, बुद्धि और मध्यमा' वाचाका विषय है। उस अर्थ सम्बन्धसे दैवत्य पंथियोंका हितविशेष सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो केवल उनका मनोविनोदमात्र है। उसमें विद्याके साथ क्रीडाका व्यवहार किया दीखता है। उस अर्थ परिचयसे वस्तुतः आधिभौतिक

*

विद्याका भी याथातथ्य अर्थ सम्बन्धका प्रलक्ष नहीं होता। आधिभौतिक अर्थ वहीं माननीय सिद्ध हो सकता है जिसके सम्बन्धसे धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होवे। जिस अर्थसे प्रजाका हित कुछ भी सिद्ध न होवे वह केवल विद्याकी प्रौढीका परिचय है।

अधिदैविक अर्थ भी वही शुद्ध माना जा सकता है जिससे सामाजिक उन्नति साध्य हो सके। सामाजिक उन्नति तभी हो सकती है जिस अर्थका सम्बन्ध पितरवाचक मंत्रोंका पितरोंके साथ और दैवत्य मंत्रोंका स्पष्ट देवोंके साथ तथा मनुष्यों और मर्त्योंका सम्बन्ध उन उनके साथ ही दर्शाया जावे। अन्यथा वेदार्थ नहीं किन्तु वेदानर्थ ही कहना योग्य होगा।

ये सत्यस्य पतयः शं नो भवन्तु अर्वन्तः
श मुतन्तु गाव.। शं नो ऋभवः सुकृतः
सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० ॥

इस मंत्रमें १ सत्यस्य पतयः, २ अर्वन्तः, ३ गाव. ४ ऋभवः, ५ सुकृतः, ६ सुहस्ताः, ७ पितरः, ये सात पद आये हैं इनसे हवेषु, इस अधिकरणमें (शम् न.- भवन्तु) कल्याणकारी होनेकी प्रार्थनापूर्वक याचना है। उसमें १ सत्यस्य पतयः पितर·, २ अर्वन्तः पितरः, ३ गाव· पितरः, ४ सुकृतः पितर·, ५ सुहस्तः पितरः, और ६ ऋभव· पितरः, इस प्रकार पितर शब्दका संबन्ध छः के योगमें प्रयोग किया है। यदि उनका अर्थ अधिदैवत्यके आधारसे किया जावे और (पितरो वै वसन्त ऋतुः) तो ऋतु सात हो जाते हैं पर ऋतु हैं छ. ही और ऋतुके लिये (हवेषु शं नो भवन्तु) कि, जब जब हमारे पर कोई विपत्ति आवे अथवा हम किसी शुभ विवाह आदि संस्कार करना हो, अथवा गृहनिर्माण करना हो उस प्रकारके अन्य युद्धादि (हवेषु) याद कर प्राप्त करनेके कालोंमें वे पितरलोग हे ईश्वर वा राजा (नः) हमारे लिये मंगलदायक कल्याणकारी सिद्ध होवें। इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ, सम्बन्ध चेतनवाच्य अधिप्रज्ञार्थ होता है। जिससे सामाजिक उन्नतिका साधन प्रतीत होता है। न कि उससे जड ऋतुके लिये (हवेषु शं न·—भवन्तु) कहना समीचीन होता है। परन्तु आधुनिक विद्वान् लोग चार छः व्याकरणके शब्द सीखके समझते हैं कि, मैं ही पाणिनी, कात्यायनी और पतञ्जली बन गया हुआ ऋषिपयदर्शक आर्ष हूं, और वेदार्थ करनेके लिये तत्पर हो जाते हैं। जिनको मध्यमा पश्यन्ती वाचाका विवेक और मेधा, माया वा ऋतम्भरा बुद्धिकी प्राप्ति ही नहीं हुई है। वह उनकी साहङ्कार कृति है। उससे वेदका गौरव कुछ भी नहीं न प्रजाका ही हित है। किंच धर्म हानि ही निहित है।

उक्त मंत्रमें (सत्यस्य पतय. पितर.) इस वाक्यपर प्रज्ञापूर्वक विचार करना योग्य है। हमारी अल्पप्रज्ञामें (सत्यस्य) इस षष्ठीका सम्बन्ध (वेदस्य) वेदका ही सम्बन्ध दीखता है। (तस्मात्, ऋभव पितर· वेदस्य पतयः) ऋभु लोग वेदके पति स्वामी वा पालक अर्थ होता है।

इस वाक्यका सम्बन्ध छ ऋतुओंके साथ जोडना प्रज्ञाविहीन पशुओंका काम है। पशुः कस्मात्, पश्यति यः स पशुः। दो वेदके शब्दोंको तर्क, युक्तिरहित केवल वैय्याकरण दृष्टिसे आख्यात, नामिक प्रत्यय, प्रत्यान्तको ही देखता है। स देवानां पशुरुच्यते। उसको विद्वान् पुरुष वेदविषयमें पशु अर्थात् जैसे गौ आदि चतुष्पाद अपने गोठानको वा गृहको पहिचान लेते हैं, वैसे तर्कयुक्तिशून्य वेदके शब्द पदपदार्थको देखा करता है। उन महानुभावोंकी दृष्टिसे निम्नमंत्रमें सूर्यकिरण दीखती हैं, वह मंत्र यह है—

ये निखाताये, परोप्ताः— ये चोद्धिताः। येऽ
अग्निदग्धास्तान् सर्वांस्त्वम्न आवह हविषे अत्तवे ॥

अर्थ.- हे अग्ने! अग्निगुणनिपुण अग्रणी पुरुष! अब मध्याह्न सूर्य आगया है। अत· (ये) जो लोग (निखाताः ये नितरां खनन्ति भूमिं भवनार्थमिति वा)(ये परोप्ताः) जो भवनकी नीव खोदनेवाले मजूरलोग, जो खुदी मिट्टीको उठाके परे फेंकनेवाले, और जो (उद्धिताः) छत्के वा भित्तीके ऊपर काम करते हैं, (येऽग्निदग्धाः) ईंट वा लोहेको अग्निमें दग्ध करनेवाले लोग हैं। आपके सहित उन सबको साथ लेकर मेरे झोपडेपर आइये और भोजन कीजिये ॥१॥

इस प्रकार इस मंत्रमें अर्थसम्बन्ध अधिप्रज्ञा विषयक भवन रचना करनेवालोंका वर्णन है। उस व्यवहार सिद्धिके लिये मंत्रमें (हविषे अत्तवे) ये पद मुख्यतया पढे हैं जिनसे मनुष्यव्यवहार ही सिद्ध होता है। जो (आ-वह) इस आङ् उपसर्गके साथ 'वह प्रापणे' धातुके प्रार्थनार्थक लोट

लेकार मध्यम पुरुषके क्रियापदसे स्पष्ट हो रहा है कि उन सबको सब ओरसे बुलाकर इकट्ठे करके आइये (हविषे अत्तवे) भोजन खानेको।

इस अर्थके विपरीत अर्थ सूर्यकिरणें मृतदेहसे सब धातुओंको खींचकर ले जानेवाली सूर्यरश्मियोंका ग्रहण करना केवल कुतर्क द्वारा मनघडत प्रयास है जैसे पौराणिक पण्डित उक्त मन्त्रसे मुर्दोंको गाड दिया है, परे फेक दिया है, ऊपर हैं और जो अग्निमें जला दिये हैं। हे अग्ने= "अग्निदेव भौतिको वा परमेश्वर आप उन सबको प्राप्त कर।" ऐसा तर्कयुक्तिहीन अटकलपच्चूसे अनुपयुक्त अनर्गल अर्थ करते हैं। उन दोनोंके अर्थ भूतनाथका भाई प्रेतनाथके समान समझना चाहिये। क्योंकि, अग्नि जडपदार्थ है, वह किसीकी प्रार्थना करनेपर किसीके पितरोंको वापस ले आनेकी बातको न सुनता और जो सुनता ही नहीं तो वह कार्य भी नहीं कर सकता, यह बात कालीदासके बनाये मेघदूतके सदृश मनःकल्पित हैं। जो सूर्यकिरण और मृतकके साथ सम्बन्ध लगाया है। पर वे अपनेको कदाचित् समझते होंगे कि, हमको धर्ममेघ समाधी सिद्ध हो गई है और हम वेदार्थरूपसे धर्मकी वृष्टि कर रहे हैं। परन्तु जब उनके किये अर्थको ८४ वें बुद्धिके अधिकरणसे परिचय वा परीक्षण— करके देखते हैं तो बुद्धिसीमांत हीका प्रत्यय होता है। उसके साथ उस मनका भी योग नहीं हुआ दीखता, जिस मनमें—

साम

यजु —(•)— अथर्व

ऋग्
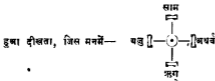
इस चित्रके समान चारों वेद रथनाभीके समान (साम, ऋग्, यजु, अथर्व। ये चारों वेद नित्य मनमें स्थिर हो रहे हैं।

उस मनोदेवकी प्राप्ति उसीको हो सकती है जिसने चारों संहिता कण्ठस्थ किये हों। जिस पुरुषको तत्वतः सांगोपांगसहित एक वेदको भी गुरुमुखसे नहीं पढा केवल स्वपुरुषार्थसे कुछ कुछ मंत्रोंको कण्ठमें रटके स्थिर कर लिया है, उसको तो धी, बुद्धिकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती। पुनः उसका वेदार्थ करनेका साहस प्रमाणिक कैसे माना जा सकता है?

वह सब लबडधों लबडधों वा पोंगापंथ ही समझना चाहिये।

देखो! यहां हम प्रज्ञाक्षेत्रका परिचय कराते हैं- विद्वान् लोग पक्षपात छोडकर उसपर विचार करें। जब जीवात्मा जन्म लेकर मातापिताके दर्शन करनेकी इच्छा करता है तब ईश्वर अपने चेतन करणाधिकरणमें स्थित नित्यमुक्तात्माओंको सम्बोधन कर कहते हैं कि, 'अग्न आ याहि वीतये०' साम० ११।१॥ हे मेरे अमृतपुत्र अग्ने! अब संसार संगतिकाल आगया है तू उसके लिये ज्ञान गमनप्राप्तिमें अग्रणीकरण है, अतः अब तू इस मुक्तिपद भोगकी इच्छाको फेक दो और मुझसे प्राप्त हुआ इस प्रकृति सयोगको प्राप्त हो के जन्मधारण करनेके लिये गर्भमें स्थिर हो जा, और इस खानेपीनेके गुणकर्मधर्मयुक्त व्यवहारकी सिद्धिमें तेरा ग्रहण करता हूं। अतः आओ! इस प्रकृतिमें अमुक स्थान सूर्यमें सवितारूपसे स्थित हो जा।

इस मंत्रमें वह प्रसंग है कि, जब एक जीवात्माने पितरोंके दर्शनकी इच्छा की थी। तब ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयालु होनेसे जीवात्माकी इच्छाको पूर्ण करनेमें स्वभावतः ही तत्पर रहता है। तस्मात् वह उस जीवेच्छाको जीवोंको करण बनाके उन्हींके द्वारा ही पूरी करता है, उस हेतु अपने गुणकर्म स्वभावपूर्ण आत्माका आह्वान करते हैं कि, हे अग्ने आइये—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे॥

विद्वद्वृन्द! यहांसे ही प्रथम पितृयाणका प्रारंभ हो जाता है, यह बात ध्यानमें रख लेना चाहिये। उक्त मंत्रमें हे अग्ने! यह एक वचन उपलक्षणसे आया है। वस्तुतः अग्नि, वायु, आदित्य, आङ्गिरा, सविता, इन्द्र, वरुण, पूषा, त्वष्टा, ऋभव-भृगु, नवग्वा, सोम्यासः, अग्निष्वात्ताः आदि पितर पालनमें तत्पर अनेक नित्यमुक्त आत्माओंका ग्रहण किया है। मधुच्छन्दा आदि सभीका जन्म अमैथुनी सृष्टिमें हुआ था। जो सभी पितृसंज्ञक थे। जब सूर्यसे लेकर पृथिवीपर्यंत खगोलोंकी उत्पत्ति हो गई और जो कारणमें विलीन प्रसुप्तके समान आत्मायें थी, उनमें अहंकारभाव जागृत हो गया था तभी यह भूमि भी षोडशी बन गई थी। उस समयमें ईश्वरने उक्त पितर आत्माओंको भूगर्भमें स्थिर किया था और उनको

पुसवन संस्कारकालमें चार ऋषियोंके आत्माओंमें चारों वेदोंका पृथक पृथक् ज्ञान, विद्या, वाचाके साथ साथ स्वर, पद, पदार्थ और छन्द आदिके सहित प्रकाश किया था। जो युवावस्थामें जन्मते ही उन्होंने वेदोंका उच्चारण किया था। उन पितरोंने गृहादि बना लिये थे। तब ईश्वरने स्त्री जातिको उत्पन्न किया और उन पितरोंने वेदोंके शब्दप्रामाण्यसे अपने अपने परस्पर विवाह किये, तदनन्तर जिस एक आत्माने जन्मेच्छा की थी उसका और जो कारणमें सोये पड़े थे उन सबका जन्म मैथुनीसृष्टिमें हुआ था। ऐसे जानें। इन सबकी देवसंज्ञा हुई और उन्हींसे देवयानका उद्घाटन हुआ।

इस मैथुनी प्रजामें आङ्गिरा ऋषिकी धर्मपत्नी आङ्गिरसीके उदरसे सर्वप्रथम ब्रह्माका जन्म हुआ, यह वही आत्मा था जिसने मुक्तिसे निवृत्ति और जन्ममें प्रवृत्त होके मातापिताके दर्शनोंकी इच्छा की थी। उसका नामकरण बृहस्पति हुआ था और अपने पिताजीसे गर्भाद् सत. अथर्ववेदको पढा और अग्निसे ऋग्, वायुसे यजुः, आदित्यसे सामको शिल्पयज्ञकी सिद्धिको पढे थे, तब (ब्रह्मादेवानां पदवी) चारों वेदोंको पढके विद्वानोंकी ब्रह्मा पदवीको प्राप्त हुआ था। उसी ब्रह्माने अपने पिता अंगिरासे प्रथम शिल्पयज्ञ संगतिकरण सहित सीखके ही वह (विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता) सब कर्मोंका कर्ता बना और इस भुवनलोकका रक्षक कहाया था। इसमें प्रमाण वेद, मनु और मुण्डक उपनिषद् ग्रन्थ विद्यमान हैं। वे वहां वहां देख लेवें।

पाठकगण यहां इस बातका निश्चय कर लेवें कि, ब्रह्माके पुत्र मनुमय और पौत्र मरीचि आदि हुए थे वे अप्रजा ब्राह्मण होते हुए पितर कहाते थे, हैं और रहेंगे भी। और जो शिल्पविज्ञानरहित अप्राप्त मेधा व मायाबुद्धिके लोग द्विज ब्राह्मण हैं वे सब देवसंज्ञक हैं। इन देवोंके पूज्य शिल्पी थे, हैं और रहेंगे भी। यह बात प्रज्ञाक्षेत्रसे देखकर निश्चय हो सकता है न कि प्राकृतिक बुद्धिवालोंको। इति विरमे॥१॥

संस्कृत-लोकोक्तियाँ

(ले० श्री पं० हरिदत्तजी शास्त्री, एम. ए., विद्याभास्कर)

४२४ न रुचौ कारणनिरूपणम् ।

अर्थ— पसन्दगी निष्कारण होती है ।

प्रयोगः— वेदनाथः क्षीरायैव स्पृहयति, इत्यत्र न रुचौ कारण० ।

४२५ न लोहमयी जिह्वा कर्तयित्री तथाप्यहो ।

अर्थ— वचनका घाव तलवारसे बढ़कर होता है ।

प्रयोगः— द्रौपद्याः वचनैः कर्णौ विव्यथे, यतः न लोहमयी० ।

४२६ नरोदत्त प्रतिग्राही ध्रुवं नरकमश्नुते ।

अर्थ— देकर लौटानेवाला मनुष्य नरकमें जाता है ।

प्रयोगः— सः तस्मै धौतवस्त्रं दत्वा पुनरयाचत, नूनं नर.० ।

४२७ न केवलमास्तित्वे जीवनं परन्तु स्वास्थ्य-सौख्ये एव ।

अर्थ— सांस लेना ही जीवन नहीं है परन्तु तन्दुरुस्त रहना ही जीवन है ।

प्रयोगः— बुद्धः शिष्यानुपदिदेश यन्न केवलं० ।

४२८ नर्तकोपेक्षया नूनं प्रेक्षकैर्दृश्यतेऽधिकम् ।

अर्थ— नटका वैराग्य दर्शकोंको राग उत्पन्न करता है।

प्रयोगः— मुनिः प्रकृतेरपसर्पति सा तमुपसर्पति, यतः नर्तको० ।

४२९ नास्ति स्वास्थ्यसुखं यस्य न किञ्चित्तस्य विद्यते ।

अर्थ— तन्दुरुस्ती हजार नियामत ।

प्रयोगः— रुग्णः सदा दुःखी भवति यतः नास्ति० ।

४३० न्याय्यं कुर्याद्यद्यपि सुरलोकाधिपतेयुः ।

अर्थ— न्याय करनेमें देवोंसे भी न डरो ।

प्रयोगः— स हि न्यायप्रियः पितरमपि न पर्यवर्जयत् यतः-

४३१ नारी च सुवर्णश्चेति द्वयं शास्त्यखिलं जगत् ।

अर्थ— कामिनी और कञ्चन ही संसार है ।

प्रयोगः— संसारे धने स्त्रियाञ्चानुरक्ता. बहवः, सत्यमेव नारी च० ।

४३२ निरर्थकं तस्य प्राज्ञत्वं यो न स्वविषये प्राज्ञः ।

अर्थ— जो अपने विषयमें निपुण नहीं है उसकी निपुणता व्यर्थ है ।

प्रयोगः— अविशेषज्ञः मूर्ख एव यतः निरर्थकं० ।

४३३ नियमा न युद्धे विजृम्भमाणे ।

अर्थ— लड़ाईमें कोई कायदा नहीं होता ।

प्रयोगः— महाभारते भ्राता भ्रातरं जघान, यतः नियमा० ।

४३४ पङ्कादतितरां ग्राम्यभावः स्याद् वेषदूषकः ।

अर्थ— देहातीपनसे कीचड़ कहीं अच्छी है ।

प्रयोगः— नागरैरेतदवधारणीयम् यत् पङ्काद्०

४३५ परोपकाराद्नैवान्यद्देवैः साधारणं नृणाम्

अर्थ— मनुष्य परोपकार करनेसे देवता बन जाता है ।

प्रयोगः— नरोऽप्यसौ दाता नारायण इव परोपकारात्०

४३६ परिहासा नृतैश्चापि शोकः संजायते महान् ।

अर्थ— झूठ और हंसीसे शोक उत्पन्न हो जाता है ।

प्रयोगः— 'वृक' भाषी बालो वृकेण हतः, सत्यमुक्तम् परिहासा०

४३७ परांस्त्रासयितुं वाञ्छाश्नितरां त्रस्यति स्वयम् ।

अर्थ— खाईखोदे और को-ताको कूप तयार ।

प्रयोगः— हिटलरः सर्वान् भीषयतिस्म परमन्ते स्वयं हतः, परांस्त्रासयितुम्० ।

४३८ परनिन्दा प्रवीणेषु विश्वासो न विधीयते ।

अर्थ— निन्दकोंका विश्वास नहीं किया जाता ।

प्रयोगः— निन्दकं रामं जनास्तिरस्कुर्वन्ति, प र० ।

४३९ परैर्विहीनस्त्वसहाय एव ।

अर्थ— दूसरोंके बिना अकेला क्या कर सकता है ।

प्रयोगः— अभिमन्युर्हतः कौरवैर्यतः परैः ।

४४० परकीयमयशस्करणं पापिष्ठम् ।
अर्थ— पर निन्दा नीचोंका कार्य है ।
प्रयोगः— तपहीनो दोषमेवान्वेषयति यत· परकीय० ।

४४१ परिणामे शुभं यत् स्यात् सततं शुभमेव तत् ।
अर्थ— अन्त भला सो सब भला ।
प्रयोगः— रात्रिंदिवं कुसीदेन वर्तमानः कृष्णमन्दिर निर्माय मृतोऽभूत् जनैश्चोक्तं परिणामे शुभं यत् स्यात् ।

४४२ परामर्शे त्वरानेष्टा सहाय्य चातुरा त्वरा ।
अर्थ— सहायतामें देरी न करो । सलाह देनेमें देरी करो ।
प्रयोगः— रामः पथि पतितं उद्तिष्ठिपत् तत् चिकित्सायांच विलम्बे ; यतः परामर्शेत्वरानेष्टा ।

४४३ पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ।
अर्थ— सांपोंको दूध पिलाना विषका बढाना है ।
प्रयोग — उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पय.पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम ।

४४४ परीक्ष्य दानं कर्त्तव्यं परीक्षा सा शुभावहा ।
अर्थ— दान परीक्षा करके दो उससे भला होता है ।
प्रयोगः— अपरीक्ष्यदाता नरकं ययौ यत परीक्ष्य० ।

४४५ पापाचारात् वरं सदाचारः ।
अर्थ— दुराचारसे सदाचार श्रेष्ठ है ।
प्रयोगः— धार्मिकाः सदाचारमनुवर्त्तन्ते यतः पापाचारात् ।

४४६ पात्रेण बहुरन्ध्रेण कृतघ्नः सदृशो मतः ।
अर्थ— कृतघ्न मनुष्य छलनी जैसा है ।
प्रयोग — नीचस्तस्य कृतं न मन्यते यतः पात्रेण० ।

४४७ पिशाचानां प्रत्युत्तर पिशाचभाषयैव देयम् ।
अर्थ— जैसेको तैसा ।
प्रयोगः— यादृशो मनुष्यः स्तादृशेनैव व्यवहारेण स प्रत्युदेयः ।

४४८ पिता पायाद्दशसुतान्न दशापि तु तं सुताः ।
अर्थ— पिता दसपुत्रोंकी रक्षा करता है- पर दसों पुत्र पिताकी रक्षा करनेमें असमर्थ रहते हैं ।
प्रयोगः— प्रभुः प्रभुरेव, नाश्रिताः प्रभुतां वहन्ति, यतः पिता० ।

४४९ पुत्रो न स्तोतव्यः ।
अर्थ— पुत्रकी प्रशंसा न करे ।
प्रयोग— य आर्जवं पुत्रेषु आधित्सेत् ते न पुत्र० ।

४५० प्रियवक्तुर्न शात्रवम् ।
अर्थ— प्रियभाषीके सब मित्र बन जाते हैं ।
प्रयोगः— श्यामस्य सर्वे मित्राणि यतः प्रिय० ।

४५१ प्रत्ता येनैव मे चञ्चुश्चर्वणं सैव दास्यति ।
अर्थ— जिसने पेट दिया वही खानेको देगा ।
प्रयोगः— ईश्वरपरा निर्भयं तिष्ठन्ति यतः प्रत्ता० ।

४५२ प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।
अर्थ— कीचडमें पैर न रक्खो नहीं तो धोना पडेगा ।
प्रयोगः— दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन् । प्रक्षालनात्० ।

४५३ प्रायशो वामना वक्राः प्रकृत्यैव विनिर्मिताः ।
अर्थ— बौने आदमी स्वभावसे कुटिल होते हैं ।
प्रयोगः— सूर्यः प्रायो वञ्चयति वाचा, प्रायशो० ।

४५४ प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ।
अर्थ— उपजीवीका मान अस्थिर रहता है ।
प्रयोगः— विद्याधरो अस्संयति हरिं यतः प्रायः० ।

४५५ प्रथमग्रासे मक्षिकापातः ।
अर्थ— सिर मुँडाते ही ओले पडे ।
प्रयोगः— यदा स प्रस्थितस्तदैव कन्याऽस्वस्थताऽभवत् प्रथम० ।

४५६ प्राणिनां जन्मभूरेव परमप्रेम भाजनम् ।
अर्थ— जन्मभूमि सबको प्रिय होती है ।
प्रयोगः— रसिक (रूस) देशीयाः प्राणान् जन्मभूहते त्यजन्ति यतः प्राणिनाम्० ।

आवश्यक सूचनायें

ता. २५-२६ फरवरी ५६ को की परीक्षाओंका परिणाम सभी केन्द्रोंको भेज दिया गया है। परीक्षार्थी अपना परीक्षाफल अपने केन्द्रव्यवस्थापकसे प्राप्त करें। परीक्षाफल विषयक पत्रव्यवहार केन्द्र व्यवस्थापकद्वारा करना आवश्यक है। परीक्षार्थी सीधे पारडी कार्यालयसे इस संबंधी कोई भी पत्रव्यवहार न करें।

प्राप्तांक— फरवरी ५६ को की गई परीक्षाओंमें जो उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण परीक्षार्थी अलग-अलग प्रश्नपत्रोंके प्राप्तांक मंगवाना चाहें, तो उन्होंने अपना पूरा नाम, परीक्षाका नाम, परीक्षा क्रमसंख्या, केन्द्र, महिना, वर्ष आदिकी आवश्यक जानकारीका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ता. ३१ मई ५६ तक चार आने शुल्कके साथ प्रार्थनापत्र भेजना चाहिये।

पुनर्निरीक्षण— जो परीक्षार्थी अपनी उत्तरपुस्तकोंका पुनर्निरीक्षण करवाना चाहें उन्होंने ता. ३१ मई ५६ तक प्रार्थनापत्र केन्द्रव्यवस्थापकों द्वारा पारडी कार्यालय भेजना चाहिये।

प्रार्थनापत्र पर अपना पूरा नाम, परीक्षाका नाम, परीक्षा क्रमसंख्या, प्रश्नपत्रसंख्या, तथा केन्द्र आदिका संपूर्ण विवरण अवश्य लिखकर भेजना चाहिये। प्रार्थनापत्रके साथ ही प्रत्येक उत्तरपुस्तकके आठ आनेके हिसाबसे निरीक्षण शुल्क भेजना अनिवार्य है। शुल्क तथा आवश्यक जानकारीके अभावमें उत्तरपुस्तकोंका पुनर्निरीक्षण नहीं किया जायगा।

सूचना— पुनर्निरीक्षणमें केवल इतना ही देखा जायगा कि प्रत्येक प्रश्नके उत्तरके प्राप्तांक दिये गये हैं या नहीं और दिये गये प्राप्तांकोंका योग बराबर है या नहीं।

प्रमाण-पत्र— फरवरी ५६ को की गई परीक्षाओंके प्रमाण-पत्र १५ जून ५६ तक सभी केन्द्रोंमें भेज दिये जायेंगे।

साहित्य-प्रवीण-साहित्यरत्न--साहित्याचार्य परीक्षाओंके केन्द्र

गुजरात— १ पारडी, २ नवसारी, ३ सूरत, ४ भरुच, ५ हांसोट, ६ बडौदा, ७ आणंद पा. हा., ८ अहमदाबाद, ९ आंकलाव, १० महेसाणा, ११ बोरसद, १२ नडियाद, १३ महेमदाबाद, १४ कडी, १५ पाटण, १६ सोनगढ, १७ मांडवी।

मध्यप्रदेश— १ यवतमाल ग. हा., २ वर्धा स. हा., ३ अमरावती नू. क. शा, ४ नागपूर न. वि., ५ छिंदवाडा, ६ बुलढाणा प. हा., ७ सागर, ८ चांदा, ९ जबलपुर, १० अकोला, ११ बैतूल, १२ नन्दुरबार, १३ उमरेड न्यू. आ. हा., १४ मलकापुर म्यु. हा., १५ चिखली, १६ तुमसर, १७ खामगांव, १८ धामणगांव।

हैद्राबाद— १ मेदक, २ परभणि, ३ शहाबाद, ४ औरंगाबाद, ५ बीड, ६ निजामाबाद।

उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान आदि— १ उन्नाव, २ किशनगढ, ३ लाखेरी, ४ खरगोन, ५ मंडलेश्वर, ६ जोधपुर, ७ धार, ८ अजमेर, ९ इन्दौर, १० सेंधवा, ११ महवा, १२ भिकनगांव, १३ बडवानी।

काश्मीर— श्रीनगर, सांबाम। **पंजाब—** पटियाला। **मद्रास—** मद्रास।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव
पोतंगल

दिनांक ता. १२-४-५६ सायंकालके ठीक ५ बजे प्रमाण-पत्र-वितरणोत्सवके अवसर पर अध्यक्षका स्थान स्थानीय कांग्रेसके सुप्रसिद्ध अधिकारी श्री. गिरिराव बोधनकरजीने सुशोभित किया। उत्सवके प्रारम्भमें सर्वप्रथम संस्कृत गीत गाया गया। उसके बाद आगेकी कार्यवाही शुरू की गई।

श्री. नारायण स्वामी केन्द्र व्यवस्थापकजीने अपने केन्द्रका विवरण पढकर सुनाया। पश्चात् उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको श्री अध्यक्ष महोदयके करकमलोंद्वारा प्रमाण पत्र वितरित किये गये तथा साथ ही पारितोषिकका वितरण भी किया गया। श्री. विश्वनाथ महाराजजीने संस्कृत भाषाका महत्व समझाते हुए सारगर्भित भाषण किया। अन्तमें भगवत् चिंतनके साथ उत्सवका कार्यक्रम समाप्त हुआ।

×

संस्कृत-भाषा-प्रचार-समिति
सागाम (काश्मीर)

श्री. सूर्यनाथ ज्योतिषी "प्रभाकर" केन्द्रव्यवस्थापक
संस्कृत-प्रचार केन्द्र (सागाम)

सन् १९५३ से यहां एक संस्कृत प्रचार केन्द्र चल रहा है। जो कि स्वाध्याय मंडल किल्ला पारडी (सूरत) द्वारा संचालित किया गया था। गत वर्षों अर्थात् १९५३-१९५४ में इस केन्द्रके द्वारा तीन बार परीक्षायें ली गई हैं। जिसमें कई विद्यार्थियोंने भाग लेकर प्रारम्भिणी, प्रवेशिका तथा परिचय परीक्षाके प्रमाण पत्र भी प्राप्त किये। इन २ वर्षोंमें हमारे केन्द्रने दूर दूर तक प्रचार करनेमें काफी उन्नति की। जिनमें उत्तरस् (वेरीनाग, हांगलगुड, क्रूरस् मार्तण्ड) फतेहपोरा, अछत (पुलवाना) चोगाम, काठसू आदि स्थान प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त १९५३ में यहां पर संस्कृत-भाषा प्रचार समितिकी स्थापना की गई थी। परन्तु दुर्भाग्यवश समितिके सदस्योंमें शिथिलता आनेके कारण गत वर्षमें प्रचारकार्य स्थगित रहा। अब चूंकि संस्कृत प्रेमियोंके आग्रहसे तथा परिश्रमसे इस कार्यको फिरसे जीवित किया जा रहा है। हमें पूर्ण आशा है कि ईश्वरके अनुग्रह तथा स्वाध्याय मंडलके संचालकोंकी हार्दिक सहायतासे इस कार्यमें सफल हो जायेंगे।

×

संस्कृत विश्व परिषद्
फतेगढ चूडियाँ
(गुरुदासपुर)
प्र स्ता व

कश्मीर निवासी श्री प० जानकीनाथजी वानप्रस्थी, सिद्धान्तशास्त्रीके निरन्तर प्रचारसे कल रविवार दि. ८-३-५६ को फतेहगढ चूडियाँ, गुरदासपुर-पञ्जाबमें संस्कृत प्रचार तथा प्रसारके लिए वहांके लोगोंने एक साधारण बैठकमें संस्कृत विश्व परिषद्की एक शाखा स्थापित करनेका निश्चय किया। जिसके अधिकारी निम्नलिखित सज्जन निर्वाचित हुए—

संरक्षक- श्री. १०८ श्री महन्त द्वारकादासजी,
ध्यानपुर गद्दी।

प्रधान- श्री पं० जयचन्द्रजी, चित्तोडगढ,
उपप्रधान- श्री डा० जगन्नाथजी।
मंत्री- श्री पं० कृष्णचन्द्र शास्त्री।
उपमंत्री- श्री प० जगन्नाथजी मुंशी बी. ए.
प्रचारमंत्री- श्री पं० कन्हैयालालजी शास्त्री।
उप ,, - श्री पं० ज्ञानचन्द्रजी शास्त्री।

संयोजक तथा प्रचारक- श्री पं० जानकीनाथ सि. शास्त्री

ध्यानपुरमें एक पुरानी गद्दी है जिसके महन्तजी सदाचारी और विशाल हृदयके सज्जन हैं। उनको प्रतिदिन पर्याप्त आमदनी प्राप्त होती है। वहां भी श्री जानकीनाथजी वानप्रस्थीने प्रचार किया जिसके फलस्वरूप श्री महन्तजीने संस्कृत प्रचारमें समय समय पर सहायता देनी स्वीकार की है और स्वाध्याय मंडल, किल्ला पारडी- सूरतकी संस्कृत परीक्षाओंका एक केन्द्र ध्यानपुरमें खोलना स्वीकार किया है। फतेहगढ चूडियांके आसपास संस्कृत भाषा प्रचार पुस्तकोंद्वारा प्रचार करनेका भी निश्चय किया गया है।

कृष्णचन्द्र
मंत्री परिषद्

उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको अभिनन्दन

प्रारम्भिणी, प्रवेशिका, परिचय तथा विशारद परीक्षाओंमें अच्छे अङ्क प्राप्त करके उत्तीर्ण होनेवाले परीक्षार्थियोंको संस्कृतभाषा प्रचार समिति द्वारा (स्वाध्याय मण्डल द्वारा संचालित) पुस्तकरूपमें पारितोषिक देना निश्चय किया है। जो परक्षार्थी अपने केन्द्रमें सर्वप्रथम आये हैं उन्हें यह पारितोषिक दिया जायगा। पारितोषिककी पुस्तकें यथा समय केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेजदी जावेंगी। प्रमाणपत्र वितरणोत्सवके समय केन्द्रव्यवस्थापक महानुभाव समितिकी तरफसे पारितोषिक पुस्तकोंका वितरण करेंगे।

२५-२६ फरवरी १९५६ ई. की संस्कृत परीक्षाओंके

पुरस्कृत परीक्षार्थियोंके नाम तथा केन्द्र

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
मलाड	परिमल कवि	कु. इन्दु महेता		
कीम	चंपकलाल मोदी	ठाकोरभाई भगवाकर		
राजपारडी	भरतकुमार शाह	इन्दुवदन देसाई		
कडी	व्रजलाल पटेल	भोलाभाई पटेल		परमानन्द पटेल
धरमपुर	रतनभाई अटारा	धनसुखलाल भरूचा		
पाटण सा. हा.	ईश्वरलाल केडिया	त्रिकमलाल परमार		
गडत	जयसिंगलाल पटेल	रणछोडभाई पटेल	नाथुभाई नायक	
विसनगर नू. स. वि.	जयंतिलाल पटेल	जगदीशकुमार भट्ट	जोईताराम पटेल	नरसिंहभाई पटेल
सांधीयेर	दीनमणीशंकर भट्ट			
चोईला	वसन्तलाल जोषी			
	नवनीतलाल शाह			
हांसोट	रमणलाल राणा			
बारडोली	ठाकोरभाई पटेल			
ओड	नटवरलाल शाह			
सारसा	चम्पकलाल शाह	मनहरलाल सोनी		
राजपीपला	रसीकलाल शाह	नगीनभाई पटेल	नरेशचन्द्र परीख	
लाडोल	कीर्तिकुमार शाह	फकीरभाई पटेल		
पिळवाई	गोवर्धनभाई कडिया	भीखुभाई रावल		
रणुंज	दक्षा बहन अमीन			
मावली	रावजीभाई पटेल			
सैजपुर	फूलाभाई सुथार			
चकलाशी		इन्दिराबहन पटेल		
खंभात	कोकिलाबहन ठाकोर	अम्बालाल ब्रह्मभट्ट	शैलेयकुमार पाठक	
महेलोल	रावजीभाई परमार			
ओधनज	भलाभाई सोलंकी	गडबडभाई पटेल		

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
नारगोल ता. वा.		जगमोहन पटेल		
सोनगढ	मधुकान्ता गांधी			
आमोद		अमृतलाल शाह		
नडियाद	सेम्युअल सोलंकी	नीलाबहन कालुस्कर		
डभोई	चीमनभाई पटेल	जयवन्तकुमार मस्के	प्रकाशचन्द्र शुक्ल	
		शान्तिलाल शाह		
चिखली	रमणभाई लाड	गुमानभाई पटेल		
देत्रोज	लालुभाई पटेल	चन्दुभाई पटेल		
सूपा	हीराभाई पटेल	गोपालसिंह राजपूत		
कलोल		नरेन्द्रकुमार पटेल		
बिलीमोरा	गोवनभाई पटेल	केशवभाई पटेल		
कपडवणज	जोईताराम पटेल			
गवाडा	डाह्याभाई पटेल			
बगवाडा	रजनीकान्त देसाई			
पाटण न्यू. हा.	गोविंदभाई परमार	जशवन्त जोशी		
साबरमती	उषा महेता			
जेतलपुर		सुभाषचंद्र पटेल		
थराद	रमणीकलाल संघवी			
धोलका	सावित्रीबेन गोसलीया	विनोदराय त्रिवेदी		
कुर्ला	ईश्वरलाल पटेल	निखिलेश पंड्या		धीराराम काम्रा
	चंद्र ईसरानी			
टंकारीया	गजेंद्र ठाकर			
बलसाड	बाबाभाई पटेल			
नवसारी	विनयचंद्र नायक	हेमंतकुमार देसाई	जयेंद्रकुमार आचार्य	
आणंद पा. हा.	कनुभाई सोनी	रतिलाल मिस्त्री		
भरुच	ज्योति चांपानेरीया	जबालाल मसीदीयावाला		
महेसाणा	पोपटलाल पंचाल	बलवंतभाई वणकर		
संतरोड	ठाकोरसिंह बारैया			
व्यारा	किरणकुमार देसाई	बालुभाई दरजी		
बडौदा	अरविंद ढोकरकर	सुहास पै		
डांगरवा	डाह्याभाई पटेल	नटवरभाई पटेल		
बोरसद	नटवरलाल बारोट			
विसनगर आ. वि.	प्रफुलचंद्र शाह	ईश्वरलाल शाह	ईश्वरभाई पटेल	
सूरत	गोविंदभाई बधवार	अमृतलाल मोदी	मोहनलाल जरीवाला	
धनसुरा	हरिभाई पटेल	चीमनलाल शाह		
सिद्धपुर	गणपतिशंकर पंड्या			
अमलसाड	सोमाभाई दीमर			
पालीताणा	विनायक पवे			

केन्द्र	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
महेमदाबाद	मूलजीभाई पड्या	नटवरलाल गोसलीया		महेशचन्द्र महेता
	किशोरकुमार शाह			
	रमेशचंद्र पंड्या			
वडनगर	ज्योत्स्ना व्यास			
सिनोर	ईश्वरभाई पटेल		कु. निरंजनाबहन शाह	
	रतिलाल पटेल			
धीनोज	ईश्वरभाई पटेल		जयन्तिभाई पटेल	
	कीर्तिकुमार शाह			
मणुन्द	सुमतीलाल शाह		त्रिकमभाई पटेल	
मालेज	गोकलभाई परमार			
गोंदिया	मदनगोपाल दुबे		चन्द्रशेखर दलाल	
कारंजा	कु. शालिनी बाहहळ	सुभाषचन्द्र फुरसले		
यवतमाल म्यु. हा.	दिगंबर बरडे	विनायक दाते		
मंगरूळपीर	कान्तिलाल छल्लाणी		सुधाकर संगवई	
अमडापूर	हरीभाऊ आंभोरे			
यवतमाल ग. हा.	कु. विमल देशपांडे	कु. आशा देशपांडे	कु. कुसुम सरंबेकर	
नेरपरसोपंत	सुदाम टाके			
बनासिंग	कु. सुमन धुनागे			
उमरेड न्यू. आ. हा.	कुंडलिक भिवापुरकर			
मलकापुर	पोपटलाल गुजराती	कृष्णाजी घिर्णीकर		
जगदलपुर	पी. वी. रघुनाथ स्वामी	भोलानाथ साव		
मूर्तिजापूर	त्र्यम्बक पातुर्डे			
कवर्धा	ईश्वरीप्रसाद गुप्त	भरतलाल तिवारी		
लोणार वि. वि.	फूलचन्द खिवसरा	निर्मलकुमार महाजन		
बरोरा	विश्वनाथ मत्ते	कु. लतिका काळे		
शेलगांवबाजार	इन्दुमती चोपडे			
सिंदी	कु. तारा दवंडे	मनोहर गाडे		
अमरावती	रमेश भोपळे			
नागपुर सु. म. वि.	विजय पिंपरीकर	कु. रजनी बसले	दामोदर इन्दूरकर	
छिंदवाडा	मुकुंद चांदे	संतोषकुमार गुप्ता	कु. सुमन देशमुख	भास्कर ढोक
खमरिया	विठ्ठल वैद्य			कन्हैयालाल पालीवाल
अळगांव आमोद	वसन्त देशपाण्डे	मधुमिलींद सावजी		
देवळी	हरिश्चन्द्र सूतडा			
मलकापूर	सुमतीचन्द जैन			
बुलडाणा	मांगीलाल अग्रवाल		कु. कुमुदिनी भालेराव	
चिखली	दत्तू जाधव	कु. प्रतिभा गुप्ता		
मालेगांव	पुंडलिक वाजणे	सुरेश बिडवई		

केन्द्र	प्रारंभिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
हिंगणघाट	गोविंद वन्हाडे	गुलाबसिंह सुसुदे		
सागर	गयादत्त मिश्र	नन्हेलाल साहू		राजाराम गौतम
पवनी	तुलाराम कुंभारे			
तेल्हारा				कु. ताराबाई मुळे
उमरखेड	रामकृष्ण मानेगांवकर	भास्कर पाठक		
नवरगांव	कृष्णा बोनगिरवार			
	तुळशिराम बोरकर			
तुमसर	शालीग्राम कुंभलकर	दशरथ निखाडे		
मोर्शी	सहदेव चिंचमलातपूरे	बापूराव चिंचमलातपूरे		
साखरखेर्डा	सुरेशचन्द्र माथी	श्रीकृष्ण कुलकर्णी	गुणवन्त देशपांडे	
रमखिरिया		देवीप्रसाद कोष्टा		
खामगांव	दामोदर सुपे	दत्तात्रय कुलकर्णी		
	राधाकृष्ण पुरोहित			
पातुर	सुधाकर देशपांडे	मोतीराम मळसुरे		
चांदा	प्रभाकर रेगुलवार	भालचन्द्र देशमुख		
	दत्तात्रय ताम्हण			
अमरावती नू. क. शा.	कुमारी प्रमिला कडू	कु. सुमति पांडे	कु आशालता भोंदू	
	कु. कुसुम देशमुख			
दिग्रस	भीमराव भट्ट	रामलाल बानपुरे		
पनागर	राजकुमारी आनंद	मुरारीलाल नामदेव		
बुरहानपुर	लक्ष्मीनारायण पिठवें			
धामणगांव	कु. आशालता थोते	शरद वडोदकर	हरिश्चन्द्र बुधवानी	
		हनुमन्त महाजन		
जबलपुर	महाशंकर रावल	नरहरि चौधरी		
अमरावती सं म.		रामकृष्ण हिर्लेकर		
मान्धूरा	मोतीलाल खंडेलवाल	नारायण नाफडे		
नागपूर न. वि.	चंद्रशेखर रतकंठीवार	कु. सरोज अळोणी		रामभाऊ देशमुख
नागपुर प. हा.	मधुसूदन दारोडकर	विश्वेश्वर मेंढी		
लाखनी	रतिराम गिन्हेपुंजे	भागवत भोयर		
अकोला	राजाराम मोहोरे	किरणचन्द्र कोचर		कु मालती हिंगवे
बैतूल	रमेशकुमार ठाकुर	आत्माराम मांडवीकर		
मेहेकर	भगवान देशपाण्डे	बाबूलाल अहीर		सुधाकर सकळकळे
	एम. सगीर वे. अमीर			
	सत्यनारायण मंत्री			
नन्दुरबार	कु. बेबी पटेल	विश्वासराव पाटील		रामसिंग पावरी
उमरेड प. हा.	भैया पोंगडे	नारायण भट्ट		
पंढरपुर	प्रल्हाद चन्द्रसिंबे			

केन्द्र	प्रारंभिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
नागपूर ध. हा.	मधुकर दक्षिणदास			कु. कुन्दा चौधरी
नासिक		रंगनाथ जोशी		
नरसिंहपुर	रघुवीरसिंह पटेल			
बामणोद्			हरचन्द वागुळदे	
बाशी	उत्तमराव गाडे			
	लक्ष्मीकान्त चिंचोळकर			
देऊळगांवराजा			तोताराम लहाने	हरीदास जोशी
नागरंकलां	चेपुल व्यंकटेशराव			
सोनपेठ		पंडितराव देशपाण्डे	दुर्गादास जोशी	
पैठण	कु. सावितादेवी सदावर्ते	कु. ललितादेवी सदावर्ते	वसंत कुलकर्णी	चम्पालाल देसरडा
हनमसागर	नीलकंठ बडीगेर			
नारायणपेठ	बी, नरसिंह रेड्डी			
मोमिनाबाद				रामचन्द्र कुलकर्णी
रायचूर	लक्ष्मीदेवी			
मेदक	बी वेंकटेश्वरराव			बी, नरसिंहाचार्य
धर्माबाद	गोविन्दराव संगमकर			
परभणि	सीताराम दहाळे			
तुळजापुर	विश्वनाथ जाधवभूषण			
शहाबाद	तिप्पण्णा खंडालकर			
मुकड	अच्युत दयाळ			
कोहारा	सौ. सीताबाई जेवळीकर			
त्रिशिर:पुरी	म. जानकी			
अम्मेम्बलम्	टी. शंभू हेब्बार			
कुकनूर	पांडुरंग कट्टी			
कल्वाकुर्ति	बी. रामाचारी			
शहापूर	सदाशिव भट्ट	बसलम्मा चिंचोलि		
कासारबोरी	श्यामसुन्दर चौधरी			
गंगाखेड		रामराव देशपाण्डे		
उडुपि	के. कमलाक्षी देवी	पु. नारायणाचार्य		
औरंगाबाद	मुरलीधर भागवत	कु. जयवन्ती कापडिया		
मानवत	भगवानराव विश्वामित्री			
गेवराई	सिन्धू देशमुख			
जालना श्री. शास्त्री	श्रीकिसन गहेडा		वसन्तराव पाठक	
जालना श्री त्रिपाठी	राधाकिसन गौड			
हुलुन्दु	रंगू चक्रपाणी			
वेंगुर्ला	विश्वनाथ पावस्कर	विनायक आकलेकर		भालचन्द्र आकलेकर

केन्द्र	प्रारंभिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
महुवा	केदारप्रसाद गर्ग	रमेशचन्द्र शर्मा		
	बाबूलाल गर्ग			
किशनगढ	प्रकाशचन्द्र पापडीवाला	चेतनप्रकाश पाटनी		
लाखेरी	रमेशकुमार झामनाणी			
रशीदपुर	जगनलाल जैन			
	पूरणमल शर्मा			
	जगदीशचन्द्र शर्मा			
देवास	कु. शालिनी देशपाण्डे			
वाडमड	किशनलाल			
बडवाह	वेदप्रकाश शर्मा			
फाजिलका	कृष्णकुमार			
भीकनगांव	कु उषादेवी मेवाडे			
मंडलेश्वर	प्रकाशचन्द्र महाजन	अमृतसिंह यादव		
मांदरा	फूलचन्द पाटीदार			
नीमचसिटी	कान्तिलाल हठीला	कु शान्ता कालेके		
गढीहाथीशाह	रामबहादुर मौर्य			
जोधपुर	राधाकृष्ण नागौरी			
धार	कु. प्रमीला जोषी			
बिजापूर	वेंकटेश कुलकर्णी	मधुकर देसाई		
अजमेर	इन्द्रदेव पीयुषआर्य	देवरत्न आर्य	कु वृजबाला गौड	
सेंधवा	विठ्ठलराव दादरे			
इन्दौर	कुंवरप्रताप			
बडवानी		रामनारायण गुप्ता		
पटियाला		शमशेरसिंह		
बाणगंगा			मोहनदास श्रीवैष्णव	

ॐ

वेदकी दैवत संहिता
और
वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह

(एक अत्यंत आवश्यक व्यवस्था)

वेदका धर्म सब धर्मोंसे प्राचीन है। विश्वके पुस्तकालयमें वेद, विशेषतः ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है। इस विषयमें सब विद्वानोंका ऐकमत्य है। ऐसे वेदके लक्षण पूर्व मीमांसाकार भगवान् जैमिनी मुनी इस तरह करते हैं—

ऋचाका लक्षण

ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ ३५ ॥

सामका लक्षण

गीतिषु साम ॥ ३६ ॥

यजुका लक्षण

शेषे यजुः शब्दः ॥ ३७ ॥ मीमांसा दर्शन २।१

१ ऋग्वेद मंत्रका लक्षण यह है— जहां अर्थके अनुसंधानसे चरणोंकी व्यवस्था होती है, वह ऋग्वेदका मन्त्र है।

२ साम मन्त्रका लक्षण यह है— जो मंत्र गाया जाता है वह सामका मत्र है।

३ यजुर्मंत्रका लक्षण यह है— जो ऋचा (पादबद्ध मत्र) नहीं है और जो (गाने योग्य) साम नहीं है वह गद्य मन्त्र यजु कहा जाता है।

ये तीन लक्षण तीनों वेदोंके मंत्रोंके जैमिनी महामुनिने अपनी पूर्व मीमांसामें दिये हैं। पादव्यवस्था जिस मंत्रमें है वह ऋग्वेदका मंत्र है, जो गाया जाता है वह वेदमंत्र साम है और जो शेष गद्य मंत्र है वह यजुर्वेद मंत्र है।

ये लक्षण सचमुच मननीय हैं। जिस मंत्रमें चरण हैं वह ऋचाका मंत्र है। इस लक्षणको मनमें धारण करनेसे आज प्राप्त होनेवाले ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके चरणवाले सब मंत्र ऋग्वेदके मंत्र हो गये। अथर्ववेदमें जो गद्य मंत्र होंगे उनको छोडकर चरणवाले सब मत्र ऋचा ही कहे जायंगे। इतना ही नहीं परतु यजुर्वेदमें जो जो मत्र चरणवाले हैं, पादबद्ध हैं उनका नाम भी ऋचा ही हुआ।

सामका निर्णय

जिनका गान किया जाता है वह साम है। 'साम' में 'सा+अम' ये दो पद हैं। 'सा' का अर्थ 'ऋचा' है और 'अम' का अर्थ स्वर या आलाप है। आलापके साथ जो मंत्र गाया जाता है उसको 'साम' कहा जाता है।

या ऋक्, तत् साम। छां० उ० १।३।४

सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्।
बृ० उ० १।३।२२

'जो ऋचा है वह साम है।' अर्थात् जो पादबद्ध मंत्र गाया जाता है वह साम कहलाता है। सामवेदमें जो मंत्र हैं वे ऋग्वेदके ही मंत्र हैं। जो सामवेदके मंत्र इस ऋग्वेदमें नहीं हैं वे ऋग्वेदकी शांख्यायन संहितामें हैं। तात्पर्य 'जो ऋचा है वही साम है' यह सत्य है। अर्थात् सब सामवेदके मंत्र ऋग्वेदके ही मंत्र हैं। प्रत्येक चरणबद्ध मंत्र गाया जा सकता है। हमने ऋग्वेदके तथा अथर्ववेदके मंत्र ताल स्वर आलापमें गानेवाले विद्वान् देखे हैं। अनेक रागोंमें वे इन मन्त्रोंका उत्तम गायन करते हैं। प० गजानंदशर्मा देवरात नामक एक वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। इनका पता– "ब्रह्मचर्याश्रम, गोकर्ण" है। वे इस तरह ऋग्वेद मंत्रों का गायन करते हैं। इनके शिष्य भी ऐसे

गायन करनेवाले हैं। कोई भी उनको बुलाकर वेदमंत्रोंका इस तरहका गायन करवा सकते हैं। और सुनकर अपूर्व आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

अर्थात् ऋग्वेदके मंत्रोंका गायन होता है और इस तरह जो गायन होता है उसका नाम साम गायन है। मूल ऋग्वेदके मन्त्रका गायन किस तरह होता है वह अब देखिये—

अग्न आ याहि वीतये, गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

ऋग्वेद ६।१६।१०

यही मंत्र सामवेदमें इस तरह लिखा जाता है—

अग्न आ याहि वीतये, गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

सामवेद १।१।१।१

जहां ऋग्वेदमें अक्षरके नीचे स्वर अर्थात् अनुदात्त स्वर होता है वहां सामवेदमें ३ अंक उस अनुदात्त स्वरका सूचक रहता है। जहां ऋग्वेदमें ऊपर अक्षरके सिरपर खडा स्वर होता है, उदात्त स्वर जहां होता है वहां ' २ ' अंक उदात्त स्वरका सूचक रहता है। अनुदात्त स्वरके पीछला स्वर उदात्त होता है किसी समय ऋग्वेदमें यह दर्शाया नहीं जाता, पर सामवेदमें यह ' २ ' अंकसे अवश्य दर्शाया जाता है। अर्थात् सामवेदके मंत्रोंपरके अंक ऋग्वेदके स्वरके बोधक हैं, और ये अंक गायनके आलापके दर्शक नहीं हैं।

जो लोग सामवेद मंत्र बोलते समय ' आ आ आ ' करके आलाप करते हैं, वह गलत उच्चारण है। सामवेदके मंत्रके स्वर ऋग्वेदके ही स्वर हैं अतः उनका उच्चारण ऋग्वेदके मंत्रके समान ही करना चाहिये। सामवेदमें जो मंत्र हैं, वे ऋग्वेदसे ही लिये हैं। ये गान बनानेके लिये हैं। इनको ' योनि-मंत्र ' कहते हैं। सामगायन इनसे होता है इसलिये ' सामगानकी यह योनि है '। सामगान इनसे बनता है जो गाया जाता है। पूर्व स्थानमें जो ऋग्वेदका मंत्र दिया है और वही सामवेदमें है ऐसा भी दर्शाया है उस मंत्रके गान इस तरह बने हैं—

(१) गोतमस्य पर्कम्।

ओग्नाई। आयाहीऽ ३। वोइतोयाऽ२इ। तोयाऽ२ इ। गृणानो ह। व्यदातयाऽ २ इ। तो या ऽ २ इ। नाइ होतासाऽ २३। त्साऽ २ इ। बाऽ२३४ औहोवा। हीऽ२३४षी ॥१

(२) कश्यपस्य बार्हिषम्।

अग्न आयाही वी। तया इ। गृणानो हव्यदा-ताऽ२३ याइ। नि होता सत्सि बर्हाऽ२३ इषी। बर्हाऽ२ इषाऽ२३४ औहोवा। बर्हीऽ३ षीऽ २ ३ ४ ५ ॥ २ ॥

(३) गोतमस्य पर्कम्।

अग्न आयाहि। वाऽ५ इतयाइ। गृणानो हव्य-दाऽ१ ताऽ३ ये। नि होताऽ२३४ सा। त्साऽ २३४ इषाऽ३। हाऽ२३४ इषोऽ६ हाइ ॥३॥

इस तरह जो ऋग्वेदका मंत्र सामवेदमें लिया गया, उस एक ही ऋग्वेद मंत्रके ३ सामगान बने। इन तीन सामगानोंमें गोतमके बनाये दो सामगान हैं और कश्यपका बनाया एक है। इसलिये कहा है कि—

ऋचि अध्यूढं साम गीयते। छां० उ० १।६।१

ऋचा पर आश्रित सामगायन होता है। इसी बातको विवाह प्रकरणका एक मंत्र कहता है—

अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, ताविह संभवाव, प्रजामाजनयावहै ॥ अथर्व० १४।२।७१; ऐतरेय ब्रा. ८।२७;

बृ. उ. ६।४।२०

विवाहके समय पति पत्नीको कहता है कि " (अमः अहं अस्मि) स्वरका आलाप मैं हूं और (सा त्वं) वह ऋचा तू ही है। सामगानका आलाप मैं हूं और ऋचा तू है।

यु मैं हूं और पृथिवी तू है, हम दोनों यहां मिलजुलकर रहें और प्रजाको उत्पन्न करें।"

यहां 'सा+अम' (साम) को विवाहित दंपती माना है। (सा) ऋचा रूपी उपवर कन्याके साथ (अम) आलाप स्वरका विवाह हुआ और इस विवाहसे सुन्दर मनोहारि गान उत्पन्न हुआ। इस अथर्ववेद मंत्रका भी, अथर्व ऋचाका भी गान होता है ऐसा यहां माना है। ऋचा वह है जो चरणवाला मंत्र है, वह आलापके साथ गाया जाता है, उस गानका नाम साम है। अर्थात् जो आज 'सामवेद' नामसे सुप्रसिद्ध वेद है वह सामगानोंके योनि-मंत्रोंका वेद है। वास्तवमें वह (सा+अमः) सामवेद नहीं है, क्योंकि वह केवल "सा" (ऋचा) ओंका संग्रह ही है। उन ऋचाओंके साथ "अम" स्वरका आलाप मिला ही नहीं है। इस कारण यह सत्य रीतिसे सामवेद नहीं है। वह ऋग्वेदके मंत्रोंका संग्रह मात्र है।

यहां यह भी समझना योग्य है कि सामवेदकी १३ शाखाएं सामतर्पणमें लिखी हैं-"राणायन-शाट्यमुग्रय-व्यास-भागुरि-औलुण्डी—गौल्गुलवी-भानुमानौ-पमन्यव- काराटि- मशकगार्ग्य- वार्षगव्य- कुथुम- शाली होत्र-जैमिनी" इन तेरह सामवेदकी शाखाओंके नाम सामतर्पणमें लिखे हैं। इनमें "राणायनी, कौथुमी (कुथुम शाखावाली) और जैमिनी" इन शाखाओंकी सामवेद संहिताएं इस समय हमारे पास हैं। और प्रत्येक साम संहितामें मन्त्रक्रमकी भिन्नता है। तथा मंत्रसंख्या भी न्यूनाधिक है। मंत्रोंसे बने गान भी विभिन्न हैं।

हमारे पास कौथुमी तथा जैमिनी शाखाके गान लिखे हैं, कौथुमी शाखाके ऊह, ऊह्य, ग्रामगेय ऐसे थोडे गान हमने छापे भी हैं। बाकीके छापने हैं। दोनों शाखाओंके मिलकर करीब ८००० गान हैं। राणायनी शाखाके गान हमें अभीतक प्राप्त नहीं हुए। पर कौथुमी और जैमिनी शाखाके गान भी सबके सब ८००० ठीक तरह छापना बहुत व्ययका कार्य है। प्रत्येक शाखाकी गानपद्धति विभिन्न है और स्वर तथा आलापकी पद्धति विभिन्न होनेसे ये इतने गान हुए हैं। सच्चा 'सामवेद' (सा+अम+वेद) ऋचाओंके स्वर आलापोंका वेद यही है। जो प्रसिद्ध 'सामवेद संहिता' करके है वह केवल ऋग्वेदके मंत्रोंका संग्रह मात्र है। उसमें गानका संबंध बिलकुल नहीं है।

ऋग्वेदके तथा अथर्ववेदके सब चरणबद्ध मंत्रोंका गान हो सकता है। और गान करनेवाले विद्वान गोकर्णमें इस समय हैं भी। इसलिये ये साम सहस्रों हो सकते हैं चारों वेदोंमें चरणवाले मंत्र १७००० से कुछ अधिक हैं। एक एक मंत्रके तीन सामगान भी हुए तो भी ५० हजार साम हो सकते हैं। इसलिये कहते हैं कि सामगानोंका अन्त नहीं है। ये तो अनन्त हो सकते हैं। 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' सामवेदके गानोंके सहस्रों मार्ग हैं ऐसा इसीलिये कहा है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें 'वेदानां सामवेदोऽस्मि।' (भ. गी. १०।२२) वेदोंमें सामवेद ईश्वरकी विभूति कही है वह इसीलिये है। महाभारतमें अनुशासन पर्वमें (१४।३१७) 'सामवेदश्च वेदानां।' इस तरह सब वेदोंमें सामका महत्त्व वर्णन किया है। इसकी विशेषता इस तरह दर्शायी है—

वाच ऋग्रसः, ऋचः सामरसः, साम्न उद्गीथो रसः। छां० उ० १।१।२

'वाणीका रस ऋग्वेद है, ऋग्वेदका रस सामगान है, सामगानका रस उद्गीथ गान है।' तथा—

सामवेद एव पुष्पम्। छां० उ० ३।३।१

'सामवेद यह वेदरूपी वृक्षका फूल है।' जैसा वृक्षकी शोभा फूल बढाता है वैसा वेदकी शोभा सामगान बढाता है। और देखिये—

का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच।
छां० उ० १।८।४

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्। बृ० उ० १।३।२५

सामकी गति स्वरमें है। सामका (स्वं) सर्वस्व स्वर ही है। अर्थात् सामवेद ऋग्वेदके मंत्रोंका संग्रह है और उन मंत्रोंपर ऋषियोंने गान रचे हैं। इसलिये सब सामगान ऋषियोंके नामसे बोले जाते हैं। 'गौतमस्य पर्क। कश्यपस्य बर्हिषं।' इत्यादि सामके नाम किस ऋषिने कौनसा गान रचा वह बता रहे हैं।

वेदमंत्रोंमें सामकी प्रशंसा

वेद मन्त्रोंमें सामका उल्लेख अनेक प्रकार आया है वह अब देखिये—

आङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः (देवाः)।
ऋ० १।१०७।२

आङ्गिरसो न सामभिः। ऋ० १०।७८।५

अंगिरसोंके सामगानका यह उल्लेख है। शकुनि पक्षीके स्वरके समान सामगान गाते हैं ऐसा कहा है—

उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानुराजति। उद्गातेव शकुने साम गायसि, ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि॥ ऋ० २।४३।१-२

'गायत्र और त्रैष्टुभ' सामके नाम इस मंत्रमें हैं। शकुन पक्षी उद्गाताके समान साम गाता है। शकुन पक्षीके स्वरके समान साम गायन हो ऐसा इससे सूचित होता है। जो जागता है उसको साम प्राप्त होते हैं, ऐसा कहनेवाला मंत्र यह है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते।
यो जागार तमु सामानि यन्ति॥ ऋ० ५।४४।१४

जो जागता है उसको ऋचाएं चाहती हैं, और जो जागता है उसको साम प्राप्त होते हैं। तथा—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः
यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। ऋ० १०।१०७।६

जो सामगान करता है उसको ऋषि, ब्रह्मा तथा यज्ञके लिये योग्य कहते हैं। तथा—

उपगासिषत् श्रवत्साम गीयमानम्। ऋ० ८।८१।५
यूयमृषिमवथ सामविप्रम्। ऋ० ५।५४।१४

(*सामविप्रं*) *सामगानमें* जो कुशल गायक होता है उसका संरक्षण देव करते हैं। इन्द्रकी सामसे स्तुति करनेके विषयमें ऐसा कहा है—

इन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना। ऋ० ८।९५।७
इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
ऋ० ८।९८।१; अथर्व० २०।६२।५

बृहस्पतिः सामभिः ऋक्वो अर्चतु। ऋ० १०।३६।५
अर्चन्त एके महि साम मन्वत। ऋ० ८।२९।१०

इन्द्रकी शुद्ध सामसे स्तुति करते हैं। बडे इन्द्रकी साम गाकर प्रशंसा करते हैं। सामोंसे अर्चना की जाती है। सामोंके अनेक नाम भी वेदमंत्रोंमें आये हैं देखिये—

आंगूष्यं शवसानाय साम। ऋ० १।६२।२
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। ऋ० १।१६४।२४; अथर्व. ९।१०।२
साम कृण्वन् सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेति।
ऋ० ९।९६।२२

'आंगूष्य, अर्क, गायत्र ये सामके नाम इन मंत्रोंमें आये हैं। (सामन्य- विपश्चित्) साम गायन करनेवाला ज्ञानी विद्वान् (साम क्रन्दन् एति) सामके आलाप जोरसे गाता हुआ आता है। यहां सामगान बडे स्वरसे करनेका उल्लेख है। सामगानमें प्रवीण बडे आवाजसे साम गाते हैं।

सामका वर्णन अन्य रीतिसे भी वेदमें हुआ है। देखिये-

ऋचं साम यजामहे। अथर्व० ७।५४।१
षड् सामानि षडहं वहन्ति। अथर्व० ८।९।१६
ऋक्संशित सामतेजाः। अथर्व० १०।५।३०
सामानि यस्य लोमानि। अथर्व० ९।६।२; १०।७।२०
ऋचः साम यजुर्मही। अथर्व० १०।७।१४
साम्ना ये साम संविदुः। अथर्व० १०।८।४१
ऋक्साम यजुः उच्छिष्टे उद्गीतः प्रस्तुतं स्तुतम्।
उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च॥ अथर्व० ११।७।५
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् ऋचः सामाथो यजुः।
अथर्व० ११।८।२३

ब्रह्माणो यस्यामर्चन्ति ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
अथर्व० १२।१।३८

ऋचां च वै स साम्नां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति। अथर्व० १५।६।९

"ऋचा और सामसे यज्ञ होता है। छः साम हैं। सामसे तेजस्वी होता है। परमात्माके लोम सामगान है। ऋचा, साम और यजु ये तीन वेदमंत्र हैं। ऋचा, साम, यजु, सामका स्वर और आलाप परमात्मामें हैं। शरीरमें ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है वह ऋचा साम तथा यजुरूपसे प्रकट है। यजु जाननेवाले ऋचाओंसे और सामसे अर्चना करते हैं। ऋचाओंका तथा सामोंका वह प्रिय धाम होता है।"

इस तरह ऋचा, साम और यजुका परस्पर संबंध वेद मंत्रोंमें बताया है। वदोंमें निम्नलिखित सामगानोंके नाम आये हैं। वैरूपं, बृहत्, गौरिवीति, रैवत, अर्क, गायत्र, श्लोक, भद्र इत्यादि नाम ऋग्वेदमें है। वाजसनेयी यजुर्वेदमें रथन्तरं (य. १०।१०), बृहत् (१०।११), वैरूपं (य. १०।१२), वैराजं (१०।१३), वैखानसं, वामदेव्य, यज्ञायज्ञियं (वा० य० १२।४), शाकरं, रैवतं (य० १०।४), गायत्र, गौरिवीत, अभीवर्त, क्रोश, सद्यस्पर्धि, प्रजापतेर्हृदयं श्लोक अनुश्लोक, भद्र, राजत्, अक्य, इलान्द इत्यादि नाम यजुर्वेदके हैं। प्रायः यजुर्वेदके सभी संहिताओंमें ये नाम हैं।

ऐतरेय ब्राह्मणमें— 'बृहत्, रथन्तर, वैरूप, वैराज, शाकर, रैवत, गायत्र, श्यैत, नौधस, रौरव, यौधाजय, अग्निष्टोमीय, भास, विकर्ण इत्यादि नाम आये हैं। इस तरह चारों वदोंमें और अनेक ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सामगानोंके नाम आये हैं। इनमें कई नाम छंदोंसे बने हैं, कई मधुर स्वरोंसे हैं।

ऋचा पादवाले, चरणवाले मंत्रका नाम है। इसी पादबद्ध मंत्रका गान होता है, जिसका नाम साम है। शेष गद्य मंत्रका नाम यजु है। वेदमंत्रोंमें, पूर्व स्थानमें दिये या न दिये मंत्रोंमें, जो साम शब्द आया है वह सामगानका वाचक है। सामवेद नामक मंत्र संग्रहका वाचक वह नहीं है। सामवेदमें संग्राहित योनिमंत्रोंसे भिन्न अन्य पादबद्ध मंत्र भी गाये जाते हैं और उनको भी 'साम' कहते हैं।

सामके विषयमें इतना कहना पर्याप्त है। इससे सामवेदके मंत्र ऋग्वेद मंत्र ही हैं यह सिद्ध हुआ है।

गानके लिये ऋग्वेदसे जो मंत्र संगृहित किये वही मंत्र संग्रह सामवेद करके प्रसिद्ध हुआ है। सामकी शाखाओंकी संहिताओंमें सामवेदके मंत्रोंका क्रम विभिन्न है, संख्या भी न्यूनाधिक है और उनसे बने सामगान भी विभिन्न हैं और अनेक हैं।

सामवेद मंत्रसंग्रह

सामवेद मंत्रसंग्रह पूर्वार्धमें 'आग्नेय काण्ड' (मंत्रसंख्या ११४), 'ऐन्द्र काण्ड (मंत्रसंख्या ३५२), पावमान काण्ड (सोमकाण्ड, मंत्रसंख्या ११९) आरण्यक काण्ड मंत्र५५, महानाम्नि मंत्र १० मिलकर ६५० मंत्र हैं। अग्नि, इन्द्र और सोम इन तीन देवताओंके ये तीन विभाग हैं। अतः इसको 'दैवत संहिता' हम कह सकते हैं।

उत्तरार्चिकमें करीब १२२५ मंत्रोंका संग्रह है। पर वह संग्रह देवतानुसार नहीं है।

राणायनीय तथा जैमिनीय सामवेद संहिताओंमें मंत्र-संख्या कुछ न्यूनाधिक है।

अथर्ववेदके विषयमें

अथर्ववेदके विषयमें अब विचार करते हैं। अथर्ववेद संहिताके दो प्रवाह आज मिलते हैं। एक पिप्पलाद अथर्ववेद और दूसरा शौनकीय अथर्ववेद। पतंजली महामुनिने अपने व्याकरण महाभाष्यके प्रारंभमें 'शं नो देवी' मंत्रसे अथर्ववेदका प्रारंभ लिखा है। वह पिप्पलाद शाखाका प्रतीत होता है क्यों कि शौनकीय अथर्ववेदका प्रारंभ 'ये त्रिषप्ता' मंत्रसे हुआ है।

अथर्ववेदकी काण्डगणना

अथर्ववेदकी काण्ड गणना प्रारंभमें विषयानुसार नहीं है *केवल सूक्तमें मंत्र संख्यानुसार हुई है, देखिये —*

१ प्रथम काण्ड

४ मंत्रवाले सूक्त	३०	मंत्र संख्या १२०
५ ,,	,, १	,, ५
६ ,,	,, २	,, १२
७ ,,	,, १	,, ७
९ ,,	,, १	,, ९
	३५	१५३

इस प्रथम काण्डकी प्रकृति ४ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

२ द्वितीय काण्ड

५ ,, ,,	२२ ,,	११०
६ ,, ,,	५ ,,	३०
७ ,, ,,	५ ,,	३५
८ ,, ,,	४ ,,	३२
	३६	२०७

इस द्वितीयकाण्डकी प्रकृति ५ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

३ तृतीय काण्ड

६ मंत्रवाले	सूक्त	१३	मंत्रसंख्या	७८
७ ,,	,,	६	,,	४२
८ ,,	,,	६	,,	४८
९ ,,	,,	२	,,	१८
१० ,,	,,	२	,,	२०
११ ,,	,,	१	,,	११
१३ ,,	,,	१	,,	१३
		३१		२३०

इस तृतीय काण्डकी प्रकृति ६ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

४ चतुर्थ काण्ड

७ ,,	,,	२१	,,	१४७
८ ,,	,,	१०	,,	८०
९ ,,	,,	३	,,	२७
१० ,,	,,	३	,,	३०
१२ ,,	,,	२	,,	२४
१६ ,,	,,	१	,,	१६
		४०		३२४

इस चतुर्थ काण्डकी प्रकृति ७ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

५ पञ्चम काण्ड

८ ,,	,,	२	,,	१६
९ ,,	,,	४	,,	३६
१० ,,	,,	२	,,	२०
११ ,,	,,	६	,,	६६
१२ ,,	,,	५	,,	६०
१३ ,,	,,	३	,,	३९
१४ ,,	,,	३	,,	४२
१५ ,,	,,	३	,,	४५
१७ ,,	,,	२	,,	३४
१८ ,,	,,	१	,,	१८
		३१		३७६

इस पञ्चम काण्डकी कोई विशेष सूक्त संख्याविषयक प्रकृति नहीं है।

६ षष्ठ काण्ड

३ ,,	,,	१२२	,,	३६६
४ ,,	,,	१२	,,	४८
५ ,,	,,	८	,,	४०
		१४२		४५४

इस षष्ठ काण्डकी प्रकृति ३ मत्रोंके सूक्तोंकी है।

७ सप्तम काण्ड

१ ,,	,,	५८	,,	५८
२ ,,	,,	२७	,,	५४
३ ,,	,,	१०	,,	३०
४ ,,	,,	१०	,,	४०
५ ,,	,,	३	,,	१५
६ ,,	,,	४	,,	२४
७ ,,	,,	३	,,	२१
८ ,,	,,	३	,,	२४
९ ,,	,,	१	,,	९
११ ,,	,,	१	,,	११
		१२०		२८६

इस सप्तम काण्डकी प्रकृति १ तथा २ मंत्रोंके सूक्तोंकी है। सात काण्डतक मन्त्रसंख्या २०३० होती है। सात काण्डतक ही विशेष मंत्र संख्यावाले सूक्तोंके अनुसार काण्डोंकी रचना हुई है। यह संग्रह विषयवार नहीं है और ना ही ऋषिवार वा देवतावार है। केवल सूक्तमें मन्त्रसंख्या कितनी है उसको देखकर यह संग्रह हुआ है। इसके आगेके काण्ड कुछ अंशमें विषयानुसार या प्रकरणानुसार हैं, ऐसा कह सकते हैं, देखिये—

	मन्त्र संख्या	विषय
१ से ७ काण्डतक	२०३०	
८ अष्टम काण्ड	१९३	दीर्घायु। शत्रुनाश। औषधि। विराट्।
९ नवम ,,	३१३	मधु। काम। शाला। वृक्ष। अज। गौ। अतिथिसत्कार। आत्मा। यक्ष्मनाश।
१० दशम ,,	३५०	कृत्यानाश। ब्रह्म। सर्पविषनाश। विजय। गौ।
११ एकादश ,,	३१३	ब्रह्मौदन। रुद्र। प्राण। ब्रह्मचर्य। ब्रह्म। अध्यात्म। शत्रु निवारण।
१२ द्वादश ,,	३०४	मातृभूमि। अग्नि। ओदन। गौ।
१३ त्रयोदश ,,	१८८	अध्यात्म
१४ चतुर्दश ,,	१३९	विवाह
१५ पञ्चदश ,,	२३०	अध्यात्म। व्रात्य
१६ षोडश ,,	१०३	दुःखनाश। विजय प्राप्ति

१७ सप्तदश ,, ३० अभ्युदय प्रार्थना
१८ अष्टादश ,, २८३ पितृमेध
१९ एकोनविंशति,,४५३ (फुटकर अनेक विषय)
२० विंश ,, ९५८ ,, ,, ,,
५९८७ अथर्ववेदकी कुल मन्त्रसंख्या

अष्टम काण्डसे १८ वे काण्डतक कुछ अंशमें प्रकरण दीखते हैं। परन्तु १९ वे और २० वे काण्ड फिर फुटकर हैं। और त्रयोदश, चतुर्दश तथा अष्टादश काण्डमें जैसे स्पष्ट प्रकरण हैं वैसे अन्य काण्डोंमें नहीं हैं। पर थोडे प्रयत्नसे इनके प्रकरण बन सकते हैं। प्रथम सात कांडोंके सूक्त तो केवल संख्याकी दृष्टिसे एकत्रित हुए है—

७ सप्तम काण्ड १ तथा २ मन्त्रोंके सूक्त बहुसंख्य हैं।
६ षष्ठ ,, ३ ,, ,,
१ प्रथम ,, ४ ,, ,,
२ द्वितीय ,, ५ ,, ,,
३ तृतीय ,, ६ ,, ,,
४ चतुर्थ ,, ७ ,, ,,

इस तरह यह गणना सूक्तमें मन्त्रसंख्याके अनुसार है। विषयवार नहीं, देवतावार नहीं और ऋषि अनुसार भी नहीं है। अठारहवे काण्डमें अन्त्येष्टी संस्कारके मन्त्र तथा पितृमेधके मन्त्र हैं। अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहिता यहीं समाप्त होती है। अगले दोनो काण्ड पिप्पलाद संहितामें नहीं है। इस कारण कई समझते है कि यहां अथर्ववेद संहिता समाप्त होती है। उन्नीसवां तथा वीसवां ये दो काण्ड पीछेसे संग्रहित हुए हैं ऐसा इस कारण कई मानते हैं। बीसवे काण्डमें प्रायः ऋग्वेदके ही मन्त्र हैं और उन्नीसवें काण्डमें बहुत सूक्त ऐसे हैं कि जो बडे मननीय हैं। इस कारण हम बीस काण्ड तकके संग्रहको ही अथर्ववेदमें संमिलित मानते हैं। अन्तिम दोनों काण्ड शौनकके पूर्व ही इसमें संमिलित हुए हैं। जो शौनकाचार्यने स्वीकारे हैं उनपर हमारा आक्षेप होना योग्य नहीं है। शौनकाचार्यके स्वीकृत होनेके कारण इस अथर्ववेदमें २० काण्ड और ५९८७ मन्त्र मानना सयुक्तिक है।

अथर्ववेदके नाम

अथर्ववेदके (१) अथर्ववेद, (२) ब्रह्मवेद, (३) आंगिरसवेद, (४) भिषग्वेद और (५) क्षत्रवेद ये नाम प्रसिद्ध हैं। पहिले तीन नाम तो अत्यंत प्रसिद्ध हैं। ये पहिले तीनों नाम ऋषियोंके नाम हैं यह विशेष रीतिसे यहां समझना आवश्यक है। अन्तिम दो नाम विषयके अनुसार हैं।

१ अथर्वा ऋषिके मन्त्र १७६८ हैं
२ ब्रह्मा ,, ,, ९६७ ,,
३ अंगिरा ,, ,, ६७० ,,

अंगिराको भृग्वंगिरा भी कहा जाता है। अन्य ऋषियोंके मंत्र संख्यामें कम हैं। जिस ऋषिके मंत्र इस वेदमें संख्यामें अधिक हैं उस ऋषिका नाम इस वेदको दिया है और इस कारण 'अथर्ववेद, ब्रह्मवेद अथवा अंगिरावेद' ये नाम इस वेदको मिले हैं।

व्युत्पत्ति करके हम इन नामोंका अर्थ अथर्ववेदके अनुकूल बता सकते हैं। जैसा पूर्व आचार्योंने किया भी है जैसा—

अथर्वाणोऽथर्वणवन्त । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ निरु दै ११।२।१७

'थर्वका अर्थ गति है, वह जहां नहीं वह अथर्वा है।' अर्थात् निश्चलता, चित्तवृत्तिका निरोध करनेसे जो मानसिक शान्ति प्राप्त होती है वह अ-थर्व पदसे सूचित होती है। तथा—

अथ अर्वाग् एनं... अन्विच्छेति। तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदर्थाऽभवत्।

गोपथ ब्रा. १।४

'अपने समीप इसकी खोज करो (अथ अर्वाक्) अब पास इसकी खोज करो ऐसा कहनेसे अथर्वा हुआ है।' यह अथर्वाकी व्युत्पत्ति गोपथ ब्राह्मणने दी है। (अथ) अब (अर्वाक्) पास अपनेमें खोज कर यह इसका अर्थ है। बाहर आत्माकी खोज न करते हुए अपनेमें देखो।

अथर्ववेदमें इस विषयके मंत्र भी हैं देखिये—

मूर्धानमस्य संसीव्य, अथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६
तद् वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
ऊर्ध्वोऽनुसृष्टास्तिर्यङनुसृष्टाः
सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

अथर्व. १०।२।२६-२८

' सिर और हृदयको अथर्वा सीता है और मस्तकके ऊपर प्राणको चलाता है। यह अथर्वाका सिर देवोंका कोश है। प्राण इस सिर मन और अन्नकी रक्षा करता है। ऊपर तिरछा सब ओर यह पुरुष ही है। यह ब्रह्मकी नगरी है, इसमें रहनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं। '

इस तरह अथर्वाका वर्णन इसी अथर्ववेदमें है। इस आत्माको अपने अन्दर खोजकर अपने अन्दर देखनेका यह विषय इस रीतिसे इस वेदमें है। इस कारण इस व्युत्पत्तिसे जो अर्थ प्रकट होता है वह अर्थ इस अथर्ववेदमें है इसमें संदेह नहीं है।

ब्रह्मवेद

ब्रह्मवेदका अर्थ ब्रह्मका ज्ञान देनेवाला वेद। इस अथर्ववेदमें स्पष्ट शब्दोंसे ब्रह्मका ज्ञान बताया है इस विषयके प्रमाण मंत्र अब देखिये—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ अथर्व. १०।२

' जो इस ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसके आंख और प्राण वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते। आठचक्र और नौ द्वार इस देवनगरी अयोध्याके हैं और इसके मध्यमें तेजसे आवृत्त सुवर्णका कोश है। इस सुवर्णमय कोशमें जो पूजनीय आत्मदेव है उसको ब्रह्मज्ञानी जानते है। '

यह ब्रह्मका ज्ञान इस वेदमें होनेसे इसका नाम ब्रह्मवेद सार्थ है। गोपथ ब्राह्मणमें भी ऐसा ही कहा है—

श्रेष्ठो हि वेदः, तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥ गोपथ ब्रा० १।९

' यह अथर्ववेद श्रेष्ठ वेद है, तपसे यह ब्रह्मज्ञानीयोंके हृदयमें प्रकट हुआ है। ' इस कारण इसको ' ब्रह्मवेद ' नाम सार्थ है।

आंगिरसवेद । भिषग्वेद ।

इस अथर्ववेदको ' आंगिरसवेद ' तथा ' भृग्वंगिरोवेद ' तथा ' भिषग्वेद ' भी कहते हैं। इस विषयमें गोपथ ब्राह्मणका वचन देखने योग्य है—

एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः।
योऽङ्गिरसः स रसः। ये अथर्वाणस्तद् भेषजम्।
यद् भेषजं तदमृतं। यदमृतं तद् ब्रह्म।
गोपथ ब्रा० ३।४

' भृग्वंगिरसोंका जो ब्रह्मज्ञान है वह बडा महत्त्वपूर्ण ज्ञान है। जो अंगरस है वह एक रस ही है। जो अथर्वा है वह औषध है। जो औषध है वह अमृत अर्थात् मृत्युसे बचानेवाला है और जो मृत्युसे बचाता है वही ब्रह्म है। ' इस तरहका वर्णन गोपथमें दिया है, वह ' भृग्वंगिरावेद, अंगिरावेद, भिषग्वेद और ब्रह्मवेद ' इन नामोंकी संगति बता रहा है।

आंगिरसका स्वरूप

आंगिरसका स्वरूप उपनिषदोंमें इस तरह समझाया है—

आंगिरसं मन्यन्ते, अङ्गानां हि यद् रसः।
छां० १।२।१०

आंगिरसोऽङ्गानां हि रसः। बृ० १।३।८
प्राणो हि अंगानां रसः। बृ० १।३।१९

' आंगिरसका अर्थ अंगोंका रस है। प्राण ही अंगोंका रस है। ' शरीरमें एक प्रकारका जीवन रस रहता है, उसको अंगरस कहते हैं। इस अंगरसकी जो विद्या है उसका नाम आंगिरसी विद्या है, यही ' आंगिरस वेद ' है। इस विषयमें निम्नस्थानमें लिखित मंत्र देखने योग्य है—

आथर्वणी आंगिरसीः दैवीः मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥
अथर्व. ११।४।१६

' आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी तथा मनुष्यजा औषधि-चिकित्सा तब यशस्वी सिद्ध होती है जब प्राण शरीरमें रहना चाहता है। ' यहां आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी तथा मानवी चिकित्साओंका वर्णन है। अथर्वाके मंत्रोंमें वर्णित चिकित्सा आथर्वणी चिकित्सा होगी, अंगीयरससे जो चिकित्सा की जाती है, वह करनेवाले आंगिरस ऋषि कहलाते हैं। दैवी चिकित्सा वह है कि जो अग्नि, जल, सूर्य, विद्युत्, औषधि आदिसे होती है। मनुष्यज चिकित्सा जो मानवों-द्वारा विविध साधनोंसे होती है। यहां इस मंत्रमें चार चिकित्साओंका उल्लेख है। अथर्ववेदके नामोंके विषयमें निम्न स्थानमें दिये वचन मननीय हैं—

१ 'अथर्ववेद' यह नाम गोपथ ब्राह्मणमें दिया है। 'शं नो देवीरभिष्टय' इत्यारभ्य 'अथर्ववेदं अधीयते।' (गो ब्रा. १।२९) यहां अथर्ववेद नाम आया है।

२ 'ब्रह्मवेद' यह नाम 'तं ऋचः सामानि यजूंषि ब्रह्म च अनुव्यचलन्। (अथर्व. १५।६।८) इसमें 'ब्रह्म' नाम अथर्ववेदके लिये आया है।

३ शतपथमें 'ता उपदिशति अङ्गिरसो वेद' (श. ब्रा. १३।४।३।८) 'आङ्गिरसवेद' यह नाम अथर्ववेदके लिये आया है।

४ 'सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखं' (अथर्व १०।७।२०) यहां 'अथर्वांगिरसो' वेदपद अथर्ववेदके लिये आया है।

५ 'एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वगिरसः।' (गो ब्रा.३।४) इस गोपथ ब्राह्मणमें 'भृग्वंगिरस' पद अथर्ववेदके लिये आया है।

६ 'ऋच, ... यजु .. साम ... क्षत्रं . वेद'। (श. ब्रा. ११।६।१४) इस शतपथ ब्राह्मणके वचनमें 'क्षत्र' पद अथर्ववेदका सूचक आया है।

७ 'ऋच सामानि भेषजा यजूंषि होत्रा ब्रूम।' (अथर्व. ११।६।१४) में 'भेषजा' पद अथर्ववेदका वाचक है।

अथर्व वेदमें चिकित्साएं हैं इसलिये 'भेषज्यवेद' नाम अथर्ववेदके लिये योग्य है। अथर्ववेदमें युद्ध विद्या है इस कारण 'क्षत्रवेद' यह नाम भी अथर्ववेदके लिये योग्य है। इस तरह अथर्ववेदके नाम हैं। ये सब अंशतः सार्थ हैं। अंशत सार्थ कहनेका कारण यह है कि ये नाम अथर्व वेदके अंशके हैं, परंतु वे सपूर्णके लिये प्रयुक्त हुए हैं। अब हम देखेंगे कि अथर्ववेदमें सूक्तोंके विषय कैसे हैं।

सूक्तोंके विषय

१ प्रथम काण्ड– १ मेधाजनन, २ रोगोपशमन, ३ मूत्रमोचन, ४-६ आपः, ७-८ यातुधाननाशन, ९ विजय प्रार्थना, १० पाशविमोचन, ११ सुख प्रसूति, १२ यक्ष्मनाशन, १३ विद्युत्, १४ कुलपा कन्या, १५ पुष्टिकर्म, १६ शत्रुबाधन, १७ धमनी बंधन, १८ अलक्ष्मी नाशन, १९-२१ शत्रुनिवारण, २२ हृद्रोगकामिलानाशन, २३-२४ श्वेतकुष्ठनाशन, २५ ज्वरनाशन, २६ शर्मप्राप्ति, २७ स्वस्त्ययन, २८ रक्षोघ्न, २९ सपत्नीक्षयण, ३० दीर्घायु, ३१ पापमोचन, ३२ महद्ब्रह्म, ३३ आप, ३४ मधुविद्या, ३५ दीर्घायु।

२ द्वितीय काण्ड– १ परमधाम, २ भुवनपति, ३ आस्रावभेषज, ४ दीर्घायु, ५ इन्द्र, ६ सपत्नहा, ७ शापमोचन, ८ क्षत्रियरोगनाशन, ९ दीर्घायु, १० पाशमोचन, ११ श्रेय प्राप्ति, १२ शत्रुनाशन, १३ दीर्घायु, १४ दस्युनाशन, १५ अभयप्राप्ति, १६ सुरक्षा, १७ बलप्राप्ति, १८-२४ शत्रुनाशन, २५ पृश्निपर्णी, २६ पशु संवर्धन, २७ शत्रुपराजय, २८-२९ दीर्घायु, ३० मनः, ३१ ३२ क्रिमिजम्भन, ३३ यक्ष्मनाशन, ३४ पशु, ३५ विश्वकर्मा, ३६ पतिवेदनम्।

३ तृतीय काण्ड— १-२ शत्रुसेना सम्मोहन, ३ स्वराज्ये राज्ञः पुनः स्थापनं, ४ प्रजाभी राज्ञः संवरणं, ५ राजा राजकृतश्च, ६ शत्रुनाशन, ७ यक्ष्मनाशन, ८ राष्ट्रधारण, ९ दुःखनाशन, १० रायस्पोषप्राप्ति, ११ दीर्घायु, १२ शाला, १३ आप, १४ गोष्ठ, १५ वाणिज्य, १६ स्वस्ति, १७ कृषि, १८ वनस्पति, १९ क्षत्रं, २० रयिसंवर्धन, २१ शान्ति, २२ वर्च प्राप्ति, २३ वीरप्रसूति, २४ समृद्धि, २५ कामस्य इषुः, २६ आत्मरक्षा, २७ शत्रुनिवारण, २८ पशुपोषण, २९ अवि, ३० सामनस्य, ३१ यक्ष्मनाशन।

४ चतुर्थ काण्ड— १ ब्रह्म, २ आत्मा, ३ शत्रुनाशन, ४ वाजीकरण, ५ स्वापन, ६-७ विषघ्न, ८ राज्याभिषेक, ९ आञ्जन, १० शङ्खमणि, ११ अनड्वान्, १२ रोहिणी, १३ रोगनिवारण, १४ स्वर्ज्योति, १५ वृष्टि, १६ सत्यानृतसमीक्षक, १७-१९ अपामार्ग, २० पिशाचक्षयण, २१ गावः, २२ अमित्रक्षय, २३-२९ पापमोचन, ३० राष्ट्री, ३१ सेना निरीक्षण, ३२ सेना सयोजन, ३३ पापनाशन, ३४ ब्रह्मौदन, ३५ मृत्युसंतरण, ३६ सत्यौजा अग्नि, ३७ क्रिमिनाशन, ३८ वृषभ, ३९ संनति, ४० शत्रुनाशन।

५ पंचम काण्ड— १ अमृतासु, २ भुवनज्येष्ठ, ३ विजय, ४ कुष्ठनाशन, ५ लाक्षा, ६ ब्रह्मविद्या, ७-८ शत्रुनाश, ९-१० आत्मा, ११ संपत्कर्म, १२ ऋतयज्ञ, १३ सर्पविषनाश, १४ कृत्यापरिहरण, १५ मधुला वनस्पति, रोगनाश, १६ वृषरोगनाश, १७ ब्रह्मजाया, १८-१९ ब्रह्मगवी, २०-२१ शत्रुसेनात्रासन, २२ तक्मनाशन, २३ क्रिमिघ्न, २४ ब्रह्मकर्म, २५ गर्भाधान, २६ नवशाला, २७ अग्निः, २८ दीर्घायुः, २९ रक्षोघ्न, ३० दीर्घायु, ३१ कृत्यापरिहरण।

यहांतक हमने पांच काण्डोंके विषय सूक्तक्रमसे दिये हैं। देखने ही यह स्पष्ट हो जाता है कि, ये सूक्त विषयानुसार नहीं हैं। यदि ये सब सूक्त विषयानुसार रखे जायगे, तो इनका अध्ययन अत्यंत सहज हो सकेगा। बिना कष्टके ये सूक्त समझमें आ सकते हैं।

विषयानुसार सूक्तसंग्रह

इस कारण विषयानुसार सूक्तोंका संग्रह करना चाहिये। पिप्पलाद संहिता तथा शौनक संहिता ये दो अथर्ववेदके प्रवाह हैं। दोनोंके अन्दर सूक्तोंमें थोडासा अन्तर है। इस लिये दोनोंके सूक्त विषयवार संग्रहित किये जाय तो वेदका अध्ययन सहज हो सकेगा। आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, राज्य-शासन, युद्ध, सैन्यसंचालन, रोगचिकित्सा, औषधप्रयोग आदि जितने विषय हैं उतने विषयोंके नीचे सूक्तोंका संग्रह करनेसे वेदका अध्ययन सहज हो सकेगा, और थोडे समयमें भी हो सकेगा। ऊपर जो सूक्तोंके शीर्षक दिये हैं, उनका देखनेसे ऐसा विषयवार सूक्तसंग्रह करना कोई कठीन नहीं है, परंतु उपयोगकी दृष्टीसे अधिक लाभकारी है यह सहज ही ध्यानमें आ सकता है। ऊपर जो नाम अथर्ववेदके दिये हैं वे अथर्ववेदके मुख्य प्रकरण हैं ऐसा माना जा सकता है। 'क्षत्रवेद' में सेना युद्धशास्त्र आदि विषय आ जायगे, 'भिषग्वेद' में औषधि, चिकित्सा आदि विषय आ जायगे, इस तरह यह विषयवार सूक्तसंग्रह किया जाय तो ५ वर्षोंका अध्ययन एक दो वर्षोंमें सहज हो सकेगा। यह इस तरह अथर्ववेदका विचार हुआ अब हम ऋग्वेदका विचार करते हैं—

ऋग्वेदका विचार

ऋग्वेदकी (१) शाकल संहिता, (२) बाष्कल संहिता और (३) सांख्यायन संहिता ऐसी तीन संहिताएं इस समय उपलब्ध हैं। शाकल संहितामें यथा स्थान परिशिष्ट जोड देनेसे सांख्यायन संहिता होती है। बाष्कल संहिताका पाठ भी थोडी न्यूनाधिकतासे ऐसा ही है। ये पाठ हमने अपनी ऋग्वेद संहितामें दिये है।

ऋग्वेद संहिता दस मंडलोंमें विभक्त है। आठ अष्टकोंकी गणना भी दूसरी है। मण्डलोंकी गणना ऋषिवार है, केवल नवममण्डल सोमदेवताका है। बाकी नौ मण्डल ऋषिक्रमसे संहिता है। अष्टकोंकी गणनामें कुछ विशेष हेतु नहीं है। कुल संहिता ६४ अध्यायोंमें विभक्त करके आठ आठ अध्यायोंके आठ अष्टक बनाये है। न ऋषिवार यह गणना है और नाही देवतावार है।

मण्डलोंकी गणना इससे अच्छी है। नवम मण्डल केवल सोम देवताके मन्त्रोंका संग्रह करके बनाया है। बाकी सब नौ मण्डल ऋषिक्रमसे संग्रहित हुए हैं। इस कारण ये नौ मण्डल 'आर्षेय संहिता' कही जा सकती है और नवम मण्डलको हम 'दैवत संहिता' कह सकते हैं। यह ऋग्वेदको देखकर पाठकोंको पता लग सकता है कि 'आर्षेय संहिता' किस तरह बनानी चाहिये और 'दैवत संहिता' किस रीतिसे बनानी चाहिये। इस ऋग्वेदने इन दोनों प्रकारके संग्रह करके स्वयं बताया है कि ये दो संग्रह इस तरह होते हैं। और दोनों संग्रह लाभकारी है।

दैवत संहिताका आदर्श
सोम देवताका मंत्रसंग्रह

ऋग्वेदका नवम मण्डल "दैवत संहिता" का एक भाग है। सोम देवताके ११०८ मन्त्र इस मण्डलमें एकत्रित किये हैं। सब मन्त्रोंको देवता 'पवमान सोम' है और एक एक ऋषिके मन्त्र क्रमशः संग्रहित हैं देखिये—

नवममण्डल (देवता पवमान सोम)– १ मधुच्छन्दा १०, २ मेधातिथि १०, ३ शुनःशेप १०; ४ हिरण्यस्तूप १०; ५-२४ असित १४४, २५ दृळ्हच्युत ६; २६ इध्मवाह ६, २७–२८ नृमेध ६; २९ प्रियमेध, ३० बिन्दु ६, ३१ गोतम ६; ३२ श्यावाश्व ६; ३३–३४ त्रित १२, ३५-३६ प्रभूवसु १२, ३७–३८ रहूगण १२; ३९–४० बृहन्मति १२, ४१-४३ मेध्यातिथि १८, ४४-४६ अयास्य १८, ४७–४९ कवि १८, ५०–५२ उचथ्य १५; ५३–६० अवत्सार ३२; ६१ अमहीयु ३०, ६२ जमदग्नि ३०; ६३ निध्रुवि ३०; ६४ कश्यप ३०, ६५ भृगु ३०, ६६ शतं वैखानसाः ३०; ६७ सप्त ऋषयः ३२, ६८ वत्सप्रि १०, ६९ हिरण्यस्तूप १०, ७० रेणु १०; ७१ ऋषभ ९, ७२ हरिमन्त ९; ७३ पवित्र ९, ७४ कक्षीवान् ९, ७५-७९ कवि २५, ८०–८२ वसु १५, ८३ पवित्र ५; ८४ वाच्य ५, ८५ वेन १२; ८६ अकृष्टा माषा, सिकता, अजा इ० ४८, ८७–८९ उशना २४; ९० वसिष्ठ ६, ९१–९२ कश्यप १२; ९३ नोधा ५; ९४

कण्व ५; ९५ प्रस्कण्व ५; ९६ प्रतर्दन २४, ९७ वसिष्ठो वासिष्ठाश्च ५८, ९८ अंबरीष १२, ९९-१०० रेभसूनू १७, १०१ अग्निपु आदय' १६; १०२ त्रित ८; १०३ द्वित ६; १०४-१०५ पर्वतनारदौ १२, १०६ अग्न्यादय' १४; १०७ सप्तर्षयः २६, १०८ गौरिवीति १६, १०८ अग्नयः २२, ११० च्यवन १२; १११ अनानत ३, ११२ शिशु ४; ११३-११४ कश्यप १५; (कुल ' पवमान सोम ' देवताकी मन्त्रसंख्या ११०८)

यह नवममण्डल ऋग्वेदका है । यह दैवत संहिता बनी बनायी है । इसी तरह अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके मन्त्र संग्रह हम तैयार कर सकते हैं । हमने ऐसी ही दैवत संहिता चारों वेदोंकी बनाई और मुद्रित भी की जो वेदप्रेमी जनताको बहुत ही पसंद आयी । इसीलिये उसकी दो सहस्र पुस्तकें हाथों हाथ बिक गयी । पुनः द्वितीयवार यह दैवत संहिता छापनी है ।

ऋग्वेदके शेष नौ मण्डल ' आर्षेय संहिता ' हैं । ऋषि क्रमसे जो मन्त्रसंग्रह होता है वह आर्षेय संहिता कहलाती है ।

आर्षेय संहिता

ऋग्वेदके १-८ तकके आठ मण्डल और दशममण्डल इन नौ मण्डलोंमें ऋषिक्रमसे मन्त्रसंग्रह कैसा है वह अब देखिये—

१ प्रथम मण्डल— १-१० मधुच्छन्दा ; ११ जेता, १२-२३ मेधातिथि, २४-३० शुनःशेप, ३१-३५ हिरण्य स्तूप; ३६-४३ कण्व; ४४-५० प्रस्कण्व, ५१-५७ सव्य; ५८-६४ नोधाः; ६५-७३ पराशर; ७४-९३ गोतम; ९४-९८ कुत्स ९९ कश्यप; १०० ऋज्राश्व; १०१-११५ कुत्स; ११६-१२६ कक्षीवान्; १२७-१३९ परुच्छेप, १४०-१६४ दीर्घतमाः; १६५-१९१ अगस्त्य इतने ऋषियोंके २००६ मन्त्र प्रथम मण्डलमें हैं ।

२ द्वितीय मण्डल— १-४३ सूक्तोंमें गृत्समद ऋषिके ४२९ मन्त्र द्वितीय मण्डलमें है ।

३ तृतीय मण्डल— १-६२ सूक्तोंमें विश्वामित्र ऋषिके ६१७ मन्त्र इस तृतीय मण्डलमें हैं ।

४ चतुर्थ मण्डल— १-५८ सूक्तोंमें वामदेव ऋषिके ५८९ मन्त्र इस चतुर्थ मण्डलमें हैं ।

५ पञ्चम मण्डल— १-८७ सूक्तोंमें अत्रि तथा अत्रिगोत्रके ऋषियोंके ७२७ मन्त्र इस पञ्चम मण्डलमें है ।

६ षष्ठ मण्डल— १-७५ सूक्तोंमें भरद्वाजके तथा भरद्वाज गोत्रके ऋषियोंके ७६५ मन्त्र इस षष्ठ मण्डलमें हैं ।

७ सप्तम मण्डल— १-१०४ सूक्तोंमें वसिष्ठ ऋषिके ८४१ मन्त्र इस सप्तम मण्डलमें है ।

८ अष्टम मण्डल— १-१०३ कण्व गोत्रके अनेक ऋषियोंके तथा अत्रि आदि गोत्रोत्पन्न ऋषियोंके १७१६ मन्त्र हैं ।

९ नवम मण्डल— सोम देवताके मन्त्रोंका संग्रह है यह इससे पूर्व बताया ही है ।

१० दशम मण्डलमें १९१ सूक्त हैं और अनेक गोत्रोंके अनेक ऋषियोंके १७५४ मन्त्र हैं ।

एक नवम मण्डल सोम देवताका है । शेष ९ मण्डल ऋषियोंके मण्डल हैं । अतः *ऋग्वेद संहिता मुख्यतः आर्षेय संहिता है,* ' केवल नवम मण्डल ही दैवत संहिता है ।

सामवेद संहिता ऋग्वेदसे मन्त्र लेकर तैयार हुई है । यह बात पूर्व स्थानमें बतायी ही है । इस सामवेद संहितामें पूर्वार्ध दैवत संहिता है, उत्तरार्ध वैसा नहीं है । सामवेद संहिता ऋग्वेदके मन्त्रोंका संग्रह होनेसे अर्थ जाननेके समय उसका पृथक् विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि ऋग्वेदके मन्त्रोंके अर्थमें सामवेदके मन्त्रोंका अर्थ आ जाता है ।

अथर्ववेदके मन्त्रोंकी रचना सूक्तमें मन्त्रसंख्याकी दृष्टिसे प्रथम ७ काण्डोंमें है । इसके आगेके १८ वें काण्ड-तकके ११ काण्ड कुछ अंशमें विषयवार मन्त्र संग्रहसे बने है । फिर अन्तिम उन्नीस और बीस ये दो काण्ड वसे नहीं है ।

दैवत संहितासे वेदाध्ययनकी सुविधा

यदि चारों संहिताओंके मन्त्र देवतानुसार संग्रहित किये गये, और उनके देवतानुसार प्रकरण बनाये गये, तो वेद-मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये बड़ी सरलता हो सकती है । वेदका अध्ययन इस समय एक कठिन समस्यासी बनी है, उसमें इस रीतिसे सीधी गति हो सकती है । और दैवत संहिता कोई नयी चीज हम बनाते हैं ऐसी बात नहीं है,

परन्तु ऋग्वेदका नवम मण्डल, और सामवेद पूर्वार्ध ये दैवत संहिताएं ही हैं। इस आधारपर सब वेद-मन्त्रोंकी हम दैवत संहिता बना सकते हैं।

ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये पद्यमय काव्य हैं। इनमें चरणबद्ध मन्त्र रचना है। इनके देवता निश्चित हैं। इसलिये इनका देवतानुसार मन्त्रसंग्रह बनाना कोई कठिन बात नहीं है और वसा हमने बनाया भी था और मुद्रित भी किया था। अब उसको पुन संशोधित रूपसे छापना है।

चारों वेदोंका सार्थ अध्ययन करनेके लिये ५।७ वर्ष लगते हैं। पर दैवत संहितानुसार चारों वेदोंका अध्ययन २।३ वर्षोंमें हो सकता है। आजकल लोगोंको अनेकानेक व्यवधान होनेसे समय कम मिलता है। इसलिये दैवत संहितामें जो विषय देखना हो वह झट देख सकते हैं और अपना कार्य कर सकते हैं। ऐसी अनेक सुविधाएं इस दैवत संहिताके प्रकरण बननेसे अनुभवमें आनेवाली हैं। इस-लिये हम और विद्वान अधिक लक्ष्य दें ऐसी उनके सामने हमारी प्रार्थना है।

यहांतक ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद संहिताओंका विचार किया। ये तीनों वेद पद्यवेद हैं। इसलिये तीनोंका एकत्रीकरण करना सहज बात है। यजुर्वेदमें जो पद्य मन्त्र हैं उनका समावेश पूर्वोक्त दैवत संहितामें हो सकता है। अब गद्य यजुर्वेदका विचार करना चाहिये।

यजुर्वेदका विचार

यजुर्वेदकी निम्नलिखित संहिताएं इस समय मिलती हैं-

१ वाजसनेयी यजुर्वेद संहिता
२ काण्व ,, ,,
३ मैत्रायणी ,, ,,
४ काठक ,, ,,
५ तैत्तिरीय ,, ,,
६ कपिष्ठलकठ ,, ,,

कपिष्ठलकठ यजुर्वेद संहिता संपूर्ण नहीं मिली, इस कारण छापी नहीं। शेष सब संहिताएं स्वाध्यायमण्डल द्वारा छप चुकी है।

वाजसनेयी और काण्व ये दो संहिताएं एक जैसी ही हैं। कुछ अध्यायोंमें तथा क्वचित् मंत्रोंमें विभिन्नता है। बाकी क्रम तथा प्रकरण एक जैसे हैं। काण्वसंहितावाले अपनेको 'आद्यशाखी' अथवा 'प्रथमशाखी' कहते हैं अर्थात् इनकी संमतिसे काण्वसंहिता दोनोंमें आदि संहिता है। वाजसनेयी शाखावाले कहते हैं कि सूर्यसे लाया वेद हमारा है। दोनों संहिताएं समान होनेसे इस विवादके होनेपर भी कोई विशेष मतभेदके लिये स्थान नहीं है।

कपिष्ठल कठ संहिता त्रुटित मिलनेके कारण उस विषयमें अधिक लिखना असंभव है मैत्रायणी और काठक ये संहिताएं पूर्वोक्त दोनों संहिताओंके समान ही प्रकरणबद्ध हैं।

तैत्तिरीय यजुर्वेद संहिताको "कृष्ण यजुर्वेद" कहते हैं। और वाजसनेयी तथा काण्वको "शुक्ल यजुर्वेद" कहते हैं। यह शुक्ल यजुर्वेद उत्तर भारत, गुजरात, हिमाचल, नासिक, आदि उत्तर महाराष्ट्रमें प्रचलित है। इनको माध्यंदिन शाखी कहते हैं। उपनयनमें इनकी संध्या मध्यदिनसे प्रारंभ होती है। इनमें यह परंपरा आज भी चालू है।

शुक्ल और कृष्ण यह भेद इस यजुर्वेदमें है। प्रथम जो संहिता प्रचलित थी वह कृष्ण यजुःसंहिता अर्थात् तैत्तिरीय संहिता थी। याज्ञवल्क्यका गुरुके साथ कुछ विवाद होनेके कारण याज्ञवल्क्यने इस यजुर्वेदका त्याग करके सूर्यसे शुक्ल-यजुर्वेद प्राप्त किया। यह कथा प्रसिद्ध है। इस कारण तैत्तिरीय संहिताको कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं और वाजसनेयी संहिताको शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद दक्षिण भारतमें है और उत्तर भारतमें शुक्ल यजुर्वेद है।

कृष्ण यजुर्वेदकी जो संहिता आज मिलती है वह बिलकुल प्रकरणबद्ध नहीं है। पहिले प्रकरणका विषय अन्तिम प्रकरणमें और अन्तिम प्रकरणके मंत्र किसी और स्थानपर हैं। ऐसी गडबड किसी अन्य संहितामें नहीं है।

यह तैत्तिरीय संहिता प्रथम जिस समय यजुर्वेदके रूपमें थी वह मंत्रक्रम कुछ और था और तैत्तिरीय संहिताके रूपमें जिस समय यह संहिता एकत्रित हो गयी, उस समय जो क्रम आज दीखता है वह मंत्रक्रम शुरू हुआ। प्राचीन पाठ कैसा था, इसका निर्णय हम आज भी कर सकते हैं। ऐसा खोजपूर्वक निर्णय गोकर्ण निवासी वेदके प्रकाण्ड विद्वान पं. श्री. देवरात गजानन्द शर्माजीने किया है और मुद्रणके लिये लिखित पुस्तक भी तैयार करके लिखकर रखी है। यह कई वर्षोंके खोजका परिणाम है। आज इस पुस्तकको छापकर प्रसिद्ध होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। पर इसका

मुद्रण व्यय १०००० दस हजार रु. होता है। वह कोई धनी देवे तो यह ग्रंथ जनताके सामने आ सकता है। शुद्ध प्रकरणबद्ध अवस्थामें यह यजुर्वेद जनताको प्राप्त हो सकता है। आज इसको तैयार होकर १०।१२ वर्ष हुए, परंतु अब-तक मुद्रणके लिये आवश्यक धनका प्रबंध न हो सकनेके कारण यह ग्रंथ वैसा ही लेखरूपमें पडा है।

शेष यजुर्वेद प्रकरणबद्ध हैं इस कारण इनकी परस्पर तुलना की जा सकती है। वाजसनेयी यजुर्वेदमें क्रमशः ये प्रकरण है—

वाजसनेयी यजुर्वेदके प्रकरण

१ अध्याय — दर्शपूर्णमास यज्ञ
२ ,, — अग्न्याधान, पितृयज्ञ
३ ,, — अग्निहोत्र, उपस्थान
४ ,, — अग्निष्टोम यज्ञ
५ ,, — सोम प्रकरण
६ ,, — अग्निषोमीय प्रकरण
७ ,, — ग्रह प्रकरण
८ ,, — द्वादशाह याग, गवामयन
९ ,, — वाजपेय यज्ञ, राजसूय यज्ञ
१० ,, — सौत्रामणि
११ ,, — अग्निचयन
१२ ,, — उखाप्रकरण
१३ ,, — पुष्कर पर्णोपधान
१४ ,, — तृतीया चिति आदि
१५ ,, — पंचम चिति
१६ ,, — रुद्रदेवता
१७ ,, — चित्यपरिषेकादि
१८ ,, — वसोर्धारादि
१९ ,, — सौत्रामणि
२० ,, — ,,
२१ ,, — पुरोऽनुवाक याज्य
२२ ,, — अश्वमेध यज्ञ
२३ ,, — ,,
२४ ,, — ,,
२५ ,, — ,,
२६ ,, — ,,
२७ ,, — अग्निचयन
२८ ,, — सौत्रामणि परिशेष
२९ ,, — अश्वमेध ,,
३० ,, — पुरुषमेध
३१ ,, — ,,
३२ ,, — सर्वमेध
३३ ,, — पुरोरुक्
३४ ,, — ब्रह्मयज्ञ
३५ ,, — पितृमेध
३६ ,, — शान्ति
३७ ,, — प्रावर्ग्य, महावीर निर्माण
३८ ,, — घर्म
३९ ,, — ,,
४० ,, — आत्मोपनिषद्

यहां क्रमश. इस यजुर्वेदमें यज्ञ प्रकरण किस तरह हैं यह बताया है। काण्व संहितामें अध्यायसख्यामें कुछ न्यूनाधिक है। अन्य संहिताओंमें भी ऐसा ही क्रम है। यह सब व्यवस्था यज्ञके लिये जैसी चाहिये वैसी की गयी है। अन्य सब वेदकी संहिताओंमें भी यज्ञके कर्मानुसार विभाग किये गये हैं। यज्ञकी दृष्टिसे यह व्यवस्था योग्य है। पर हम वेदमें अन्य व्यवस्थाएं जो हैं उनको भी देखना चाहते हैं। इस कारण हमें मंत्रोंके क्रममें बदल करना आवश्यक पड रहा है।

ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्रोंके देवता क्रमानुसार तथा जहां होंगे वहां विषयक्रमानुसार भी मंत्रोंका संग्रह करना अत्यंत आवश्यक है। वेदकी उपयोगिताकी दृष्टिसे ऐसा करना अत्यंत योग्य तथा आवश्यक भी है। यह तो पद्यमय तीनों वेदोंके मंत्रोंके वर्गीकरणके विषयमें हुआ। यजुर्वेदके मंत्रोंका विचार विशेष रीतिसे करना आवश्यक है।

यजुर्वेदमें ४० अध्याय, १९७५ कण्डिकाएं और ३९८८ मंत्र हैं। एक एक कंडिकामें कई मंत्र हैं और प्रत्येक मंत्रका विशेष महत्त्व है। इसलिये इन ३९८८ मंत्रोंके विषयवार प्रकरण बनाने चाहिये। इस समय यज्ञकर्मानुसार प्रकरण हैं वे यज्ञ करनेके समय उपयोगी हैं। अत. जो आजकी यज्ञ विषयक प्रकरण व्यवस्था है उसको वैसी ही रहने देना योग्य है। जो अश्वमेध, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करेंगे उनके लिये वह व्यवस्था उपयोगी सिद्ध होगी।

पर हमने तो वेदसे जनताकी शिक्षा, व्यवहार, राज्य-शासन, शत्रुसे युद्धादि व्यवहार करने हैं, सेनारचना, शस्त्र निर्माण, अस्त्र प्रयोग, चिकित्सा आदि करना है। इस कारण इन व्यवहारोंमें हमें वेदका मार्गदर्शन हो इस हेतुसे इन विषयोंके अनुसार मंत्रसंग्रह करनेकी अब आवश्यकता है। यह विषयवार मंत्रसंग्रह बनाना हमें आवश्यक है। वैसा विषयवार मन्त्र संग्रह बनाया जाय तो वेद दैनिक कार्यमें प्रयुक्त होता है ऐसा अनुभव पाठकोंको आजायगा और वेदका महत्त्व जनताके सामने प्रकट होगा। आज वेद है पर वह दैनिक कार्यमें प्रयुक्त नहीं है। एक तो सब वेद यज्ञ प्रकरणानुसार होनेसे व्यवहारकी दृष्टिसे उसका कोई उपयोग जनताके सामने नहीं जैसा हुआ है। और हरएक श्रेष्ठ मानवी व्यवहारका आदेश देनेवाले वेद होते हुए वे चारों ओरसे बंद होनेके समान बने हैं। ये यजुर्वेदके मंत्रभाग दैनिक व्यवहार में कैसे उपयोगी हैं देखिये। इसके उदाहरण हम देते हैं-

यजुर्वेदके सुभाषित

१ आप्यायध्वं (वा. यजु. १।१) - बढते जाओ। संपूर्ण अविकल उन्नति प्राप्त करो। अपना संपूर्ण विकास करो। आप्यायन क्रिया अपना सम विकास बता रही है। अपनी सत्कार्य करनेकी शक्ति पूर्ण विकसित होनी चाहिये। इसमें बाधा नहीं होनी चाहिये।

२ अनमीवाः, अयक्ष्माः (वा. यजु १।१)- रोगरहित तथा क्षयरहित रहो। 'अमीव' रोगका नाम है। अप-चित अन्नसे जो रोग होते हैं वे 'अमीव' कहलाते हैं। ये न हों। इस कारण अपचन न हो इसकी सावधानी रखो और इन अपचनसे होनेवाले रोगोंसे अपना बचाव करो। यक्ष्म रोग क्षय कहलाता है। इनको भी दूर रखो।

३ स्तेनः वः मा ईशत। अघशंसः वः मा ईशत (वा. यजु १।१) - चोर तुम्हारे ऊपर शासन न करे, पापी तुम्हारे ऊपर शासन न करे। तुम चोर और पापीके शासनमें न रहो। अपने शासक कैसे हैं इसका विचार करो। और अयोग्य शासकोंका सुधार करनेका उपाय सोचो।

४ कां अधुक्षः ? सा विश्वायुः। सा विश्वकर्मा। सा विश्वधायाः (वा. य. १।५) - किस गौका तुमने दोहन करके किसका दूध पिया है? तुम्हारी गोशालामें 'दीर्घायु' 'कर्मशक्ति' और 'विश्व धारक शक्ति' ये तीन गौवें हैं? इनमेंसे किस गौका तुमने दूध पीया है? क्या तुमने दीर्घायु प्राप्त की? क्या तुमने कौशल्य पूर्ण कर्म शक्ति बढायी अथवा धारणा शक्ति बढाई? तुमने क्या किया? आयुमें तुमने क्या किया?

५ व्रतं चरिष्यामि, तत् शकेयं, तत् मे राध्यतां। (वा० य० १।५) — मैं नियमोंका पालन कर सकूं, वह मुझे सिद्धि देनेवाला हो। मनुष्य उत्तम नियमोंका पालन करनेमें समर्थ बने।

६ रक्षः प्रत्युष्टं, अरातयः प्रत्युष्टाः (वा० य० १।७)- राक्षस दूर हो गये, दान न देनेवाले दूर हो गये। हमारे समाजमें अब कोई राक्षसी वृत्तीके लोग नहीं रहे, अनुदार या दान न देनेवाले भी कोई हमारे समाजमें रहे नहीं हैं।

७ दंहस्व। माह्वाः। (वा० य० १।९) — तू सुदृढ बन, तू कुटिल न बन। तू शक्ति प्राप्त कर। और अपने स्वभावमें टेढापन न रख।

८ भूताय त्वा। न अरातये। (वा० य० १।११)- प्राणीयोंका हित करनेके लिये तुझे उत्पन्न किया है। शत्रुता करनेके लिये नहीं।

९ प्रोक्षिताः स्थ (वा० य० १।१३) — तुम पवित्र बनकर रहो। अपवित्रताकी ओर कभी न झुको।

१० दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम् (वा० य० १।१३)- दिव्य कर्म करनेके लिये पवित्र बनो। पवित्र बनो और दिव्य कर्म करो।

११ इषं ऊर्जं आवद (वा० य० १।१६) — अन्न और बल बढानेके सम्बन्धमें बोल। यदि बोलना है तो अन्न और बल बढे ऐसा बोल। अन्न उत्तम मिले और उससे बल बढे ऐसा वक्तृत्व कर।

१२ शर्म असि (वा० य० १।१९) — तूं सुखस्वरूप हो। तेरा निज स्वरूप सुखमय है। दुःख आगन्तुक और बाहरसे आता है।

१३ मधुमतीः मधुमतीभिः संपृच्यन्तां (वा० य० १।२१) — मीठी भाषा बोलनेवाले मधुरभाषियोंके साथ मिलकर रहें। दोनों शान्ति बढावें।

१४ मा भेः। मा संविक्थाः। (वा० य० १।२३)- मत डर। मत पीछे हट। सत्कर्म करनेसे पीछे न हट। न डरता हुआ शुभ कर्म करके आगे बढ।

१५ सुक्ष्मा शिवा स्योना सुषदा ऊर्जस्वती पयस्वती आसि (वा० य० १।२७)– मातृभूमी सुख देनेवाली, कल्याण करनेवाली, हित करनेवाली, उत्तम स्थान देनेवाली, बल बढानेवाली, खानपान देनेवाली है। यह जानकर मातृभूमिकी उपासना लोग करें और आनन्दसे अपनी मातृभूमिमें रहें।

१६ तेजः असि। शुक्रं असि। अमृतं असि (वा० य० १।३१)– तू तेजस्वी बलवान तथा अमर आत्मस्वरूपसे हो।

इस तरह वा० यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके कुछ वाक्य यहां दिये हैं। ये वचन प्रतिदिन मननपूर्वक पढने योग्य हैं। ये पढे न जानेसे हानि हो रही है। यदि ऐसे वचन अर्थके साथ छपे मिलेंगे, तो लोग पढेंगे और उससे वैदिक धर्म जीवनस्तरमें उतरेगा। यजुर्वेदमें ऐसे वचन करीब चार हजार हैं। अन्य यजुर्वेद संहिताओंमें भी दो सहस्र वचन ऐसे ही उपदेश देनेवाले मिल सकते हैं।

विषयानुसार इनको छांटकर अर्थके साथ जनताके सामने ये वचन आजायंगे तो कितना अच्छा होगा?

यजुर्वेदके अनुषङ्ग

आजतक अनुषङ्ग सहित यजुर्वेद किसीने छापा नहीं वैसा छापना चाहिये। हमने इस समय तैत्तिरीय संहिता यजुर्वेदकी अनुषङ्ग समेत छापी है और वैसी वाजसनेयी संहिता अनुषङ्ग समेत छापनेकी तैयारी चल रही है।

यह अनुषङ्ग क्या है यह यहां हम बताते हैं। ग्रन्थका विस्तार न हो इसलिये यजुर्वेदके मन्त्र पुनः पुनः मन्त्रभाग का उच्चारण छोडकर यजुर्वेदकी कंडिकाएं संक्षिप्त की हैं। कहांका कितना मन्त्र भाग कहां लेना, इसको अनुषङ्ग कहते हैं। इसका एक उदाहरण हम यहां देते हैं—

विभूरसि प्रवाहणो०-वह्निरसि हव्यवाहनः०।
वा० यजु० ५।३१

इस कण्डिकामें कई ऐसे मन्त्रके टुकडे हैं और प्रत्येक मन्त्रके टुकडेके साथ 'रौद्रेणानीकेन पात, माग्नयः पिपृत, माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट। वा० यजु० ५।३४ यह मन्त्र भाग प्रत्येक मन्त्र खण्डके साथ जोडकर अर्थ समझना चाहिये। १२।१३ वार यह मन्त्र भाग संहितामें दिया नहीं होता। आगेसे या पीछेसे यह लेना होता है। जहां जो अनुषङ्ग लेना है उसका निर्देश यजुर्वेदकी टिप्पणीमें करना योग्य है। वैसा यजुर्वेद आजतक किसीने छापा नहीं। अर्थ करनेवालोंने भी इसका विचार किया नहीं है। जब इस अनुषङ्गके साथ यजुर्वेद छापा जायगा, तब वह अधिक सुबोध होगा। किस मन्त्र भागका किस मन्त्रभागसे सम्बन्ध है यह जाननेके विना न ठीक अर्थ हो सकता है न यज्ञ कर्म ठीक हो सकता है। यजुर्वेद अनेकोंने अनेकवार छापे, पर अनुषङ्ग बताये नहीं। यह दोष हम भविष्यमें दूर करना चाहते हैं।

अन्य वेदोंके सुभाषित

ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके पादबद्ध मंत्रोंमें अनेक सुभाषित हैं। उक्त तीनों वेदोंकी सब उपलब्ध संहिताओंमें सब मिलकर २०००० से अधिक सुभाषित हैं। इनका विषयवार संग्रह किया जाय तो दैनिक व्यवहारके तथा दैनिक पाठके लिये वह एक अत्यंत उपयोगी संग्रह हो सकता है। जो वेदपाठ नहीं कर सकते वे भी इसका पाठ करेंगे ऐसा यह संग्रह बोधप्रद तथा सुखसे समझने योग्य ग्रंथ होगा। इसके बनानेके लिये अवश्य बडी मेहनत करनी पडेगी और इसके लिये व्यय भी करना पडेगा। क्योंकि ऐसा परम उपयोगी संग्रह विना व्ययके तैयार होगा ऐसी बात नहीं है। अतः इसके लिये जो आवश्यक व्यय हो वह करना चाहिये और जितना सस्ता दिया जाय उतना देनेका प्रबंध करना आवश्यक है। हम यहां कुछ वैदिक सुभाषितोंके नमूने देते हैं, जिससे इस संग्रहकी कल्पना पाठक कर सकते हैं—

दांतोंकी शुद्धता

स शुचिदन् भूरिचित् अन्ना सद्यः समत्ति।
ऋ० ७।४।२

'वह उत्तम शुद्ध दंतवाला बहुत अन्न खाता है।' यहां दांत शुद्ध रखनेका बोध है वह महत्त्वपूर्ण उपदेश है। दांत स्वच्छ न रहे तो अनेक रोग होते हैं इसलिये 'अ-शोणा दन्ताः' (अ. १९।६०।१) दांत स्वच्छ रहने चाहिये ऐसा कहा है।

अज्ञानकी निन्दा और ज्ञानीकी प्रशंसा

अचेतनस्य पथः मा विदुक्षः। ऋ. ७।४।७
'अज्ञानीके मार्गसे हम न जांय।' अथवा कोई अज्ञानी के मार्गसे न जाय। तथा—

चिकित्वांसः अचेतसं अनिमिषा नयन्ति ।

ऋ. ७।६०।७

'ज्ञानी लोग अज्ञानीको योग्य मार्गसे आंखें खोलकर ले जाते हैं।' अज्ञानी लोग यदि ज्ञानीकी संगतिमें रहने लगे तो वे सुधरते हैं। ज्ञानी उनकी सहायता करते हैं और उनको उत्तम मार्गसे चलाते हैं और उन्नतिकी ओर ले जाते हैं।

अर्यः देवः अचितः अचेतयत् । ऋ. ७।८६।७

'श्रेष्ठ ज्ञानी अज्ञानीको ज्ञानवान् बनाता है।' और देखो—

अचितः परा शृणीत । ऋ० ७।१०४।१

'अज्ञानियोंको दूर करो' अर्थात् अपने समाजमें अज्ञानी न रहें ऐसा करो। सबको ज्ञानी बना दो।

सन्मार्गसे चलो

साधिष्ठेभिः पथिभिः प्र नयन्तु । ऋ. ७।६४।३

'उत्तम साधनोंसे युक्त मार्गसे हमें ले चलें।' अर्थात् मार्ग ऐसे हों कि जो सुखकर हों और ठीक उन्नतितक पहुंचानेवाले हों।

उत्तम बुद्धि प्राप्त करो

प्रशस्तां धियं पनयन्तः । ऋ. ७।१।१०

शुक्रा मनीषा देवी । ऋ. ७।३४।१

देवीं धियं अभिदधिध्वं । ७।३४।९

'प्रशस्त बुद्धिकी प्रशंसा करो: बल बढानेवाली दिव्य बुद्धिका धारण करो। दिव्य गुणवाली बुद्धिको धारण करो।' इस तरह उत्तम बुद्धिको धारण करनेके विषयमें कहा है।

शरीरका संवर्धन कर

अपने शरीरका संवर्धन करनेके विषयमें अच्छे आदेश है देखिये—

स्वयं तन्वं वर्धस्व । ऋ० ७।८।५

ऊर्जः न-पात् । ऋ० ७।१६।१

'अपने शरीरको बढाओ। बलको न गिरानेवाला बनो।' अपने शरीरकी उन्नति करना प्रत्येकका धर्म है। यह आवश्यक कर्तव्य है।

अपना घर हो

अपना निज घर हो इस विषयमें ये वचन देखिये—

नृणां मा निषदाम । ऋ० ७।१।११

स्वे दुरोणे समिद्ध दीदाय । ऋ० ७।१२।१

शुने मा निषदाम । ऋ० ७।१।११

'दूसरेके घरमें हम न रहें। अपने घरमें तेजस्वी बनकर हम रहें। शून्य घरमें अर्थात् जिसमें कोई रहते नहीं ऐसे शून्य स्थानमें हम न रहें।

अहं मृन्मयं गृहं मो गमं सु । ऋ० ७।८९।१

'हम मिट्टीके घरमें न रहें।' अर्थात् हमें रहनेके लिये उत्तम पक्का घर मिले।

इस प्रकार सहस्रों सुभाषित हैं जो दैनिक व्यवहारका बोध देते हैं। अतः इन वचनोंका विषयानुसार संग्रह होगा तो वह देखकर हरएक मनुष्य वेदके ज्ञानसे परिचित होगा और वेदके धर्मको अपने दैनंदिन जीवनमें हरएक पाठक ला सकेगा।

यहांतक हमने चारों वेदोंकी व्यवस्था वेदको दैनदिनके व्यवहारमें लानेके लिये कैसी करनी चाहिये यह बताया है। पाठक इसका मनन करें और वेदको मानवके दैनिक दिव्य धर्मके आचरणका ग्रन्थ बनावें।

हरएक मनुष्य कृतकृत्य बननेके लिये जो अनुष्ठान करना आवश्यक है, वह इस संग्रह ग्रन्थसे मनुष्य जान सकते हैं। इस कारण यह संग्रह ग्रन्थ शीघ्र बने ऐसा यत्न करना विद्वानोंका कर्तव्य है।

विद्वान् इसे बनावें, धनिक इसके लिये व्यय करें। ऐसा यह संग्रह ग्रन्थ अतिशीघ्र प्रकाशित किया जावे।

वर्ष ३७
अंक ५

फाल्गुन २०१२

श्री वामनाथ महादेव मंदिर,
सुरतमें सेतुबंध रामेश्वरका
घृतका बनाया हुआ कमल दर्शन।

वैदिक धर्म

[अप्रैल १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

परीक्षा विभाग

आवश्यक सूचनायें

तारीख २५-२६ फरवरी ५६ को ली गई संस्कृतभाषा परीक्षाओंका परीक्षा-परिणाम तारीख १० अप्रैल ५६ ई. को प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षाफल केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेजा जायगा और उनके द्वारा निश्चित तिथि एवं समयपर प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षार्थी अपना परीक्षाफल अपने केन्द्रव्यवस्थापकसे प्राप्त करें। परीक्षाफलविषयक पत्रव्यवहार केन्द्र-व्यवस्थापक द्वारा होना चाहिये। परीक्षार्थी सीधे पारडी कार्यालयसे इस सम्बन्धमें कोई भी पत्र-व्यवहार न करें।

वर्ष ३७ वैदिक धर्म अंक ४

क्रमांक ८८

फाल्गुन, विक्रम संवत् २०१२, अप्रैल १९५६

रक्षक वीर

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावान् चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन्।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिस्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित् ॥

ऋ० ७।२०।१

(स्वधावान् उग्रः इन्द्रः) अपनी धारणाशक्तिसे युक्त वीर इन्द्र (वीर्याय जज्ञे) पराक्रम करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। (नर्यः यत् करिष्यन्) मानवोंका हित करनेके लिये जो श्रेष्ठ कर्म वह करना चाहता है, वह (अपः चक्रि) कर्म वह करता ही है। बीचमें अधूरा छोडता नहीं। (युवा) वह तरुण वीर (अवोभिः नृषदनं जग्मिः) संरक्षणोंके साधनोंके साथ मनुष्योंके स्थानपर उनका रक्षण करनेके लिये जाता है। वह (महः एनसः चित्) बडे पापसे निःसंदेह (नः त्राता) हमारा संरक्षण करता है।

१ योगमहाविद्यालय- योगसाधन सिखानेका वर्ग १५ अप्रैलसे १५ मईतक चालू रहेगा। इसमें आरोग्य साधनके लिये आवश्यक सूर्यनमस्कार, वीरभद्र नमस्कार, आसन, संघव्यायाम तथा प्राणायाम आदि सिखाया जायगा। जो आना चाहें वे प्रथम लिखकर आज्ञा प्राप्त करके आवें और लाभ उठावें।

२ वेद महाविद्यालय- वेदका वर्ग १५ अप्रैलसे १५ मईतक चालू रहेगा। इसमें वेदके सूक्तोंका रहस्यार्थ बताया जायगा। आत्मसूक्त (ईशोपनिषद्), प्राणसूक्त, ब्रह्मचर्य-सूक्त, केनसूक्त, पृथ्वीसूक्त इन सूक्तोंपर विशेष विचार होगा। प्रतिदिन व्याख्यान, चर्चा और शंकासमाधान होगा। कालेजोंमें जो वेद पढते हैं वे विशेषकर इसमें संमिलित होकर लाभ उठा सकते हैं।

अप्रैल १५ से १५ मईतक यह स्वाध्याय होता रहेगा। इस वेदमहाविद्यालयके इस स्वाध्याय वर्गमें संस्कृत जाननेवाले ही शामील हो सकते हैं। यहां हिंदीमें ही व्याख्यान होंगे। योगमहाविद्यालयके लिये आनेवालोंके लिये यह संस्कृत जाननेका नियम नहीं है। पर वेदमहाविद्यालयके व्याख्यान संस्कृत न जाननेवाले नहीं समझ सकेंगे, यद्यपि वे व्याख्यान हिंदीमें होंगे।

यहां आनेवालोंके लिये रहनेके लिये स्थान मिलेगा, भोजनादि, दुग्धपानादि आनेवाले अपने व्ययसे करेंगे। सब भोजनादि व्यय प्रतिदिन सवा रु. तक होगा। यहांके होटेल-वालेने इतना व्यय होगा ऐसा कहा है। पुस्तकें आदि आनेवाले अपने व्ययसे लेगें।

आनेवाले समयके पूर्व प्रार्थनापत्र भेजकर प्रवेशकी आज्ञा लें।

गायत्री जपानुष्ठान— गत मासके पश्चात् गायत्री जपका अनुष्ठान नीचे लिखे अनुसार हुआ है—

१ वाशीम- श्री आ. श्री गुडागुळे	११०१००
२ वसई- श्री गो. कृ. मोवे	८८०००
३ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	१२३००
४ उमरा- श्री मोहिनीराज रा. चांदेकर	२४०००
५ बडौदा- श्री बा. का. विद्वास	१२५०००
६ बंगार्डी- श्री के. ग. अ. मेहेंदळे	४६४४
७ रामेश्वर- श्री रा. ह. रानडे	५१०००
८ शाहडोल- श्री आश्विनीकुमार	२४३००
	४,२९,३४४
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	७३,४७,०५७
कुल जपसंख्या	७७,८६,४०१

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

भारतीय संस्कृति और पश्चिमी जगत्

(लेखक : श्री डॉ. राममूर्ति, एम्. ए., एम्. एम्. एस., लन्दन)

लन्दनके वृद्ध पुरुषोंका कहना है कि यूरोपके मौसममें काफी परिवर्तन हो गया है। भारतके समान ही अब यूरोपमें भी स्वल्पाधिक मात्रामें छहों ऋतुओंका प्रभाव होने लगा है। सूर्य भी अब अधिक समयतक यूरोपमें अपना प्रकाश देने लगा है। ठीक यही दशा पश्चिमी संस्कृतिकी भी है, जिस प्रकार यहांका मौसम परिवर्तित होकर भारतीय होने लगा है, उसी प्रकार यहांकी संस्कृति भी शनैः शनैः रूप बदलकर भारतीय होती जा रही है।

चर्चों और गिरजाघरोंमें सुन सान दिखलाई पडता है। चर्चोंकी पुरानी बातोंको सुननेके लिए सिर्फ गिने चुने स्त्री-पुरुष ही आते हैं। उनकी अल्पतर मात्रामें उपस्थिति ही उनकी अरुचिकी द्योतक है।

लन्दन यूनिवर्सिटी चर्च प्रातःकाल ७ बजे और सायंकाल ८ बजे लगता है, इसकी उपस्थिति भारतीय चर्चोंके समान है। इसका प्रधान कारण यह है, कि यह चर्च नाममात्रका चर्च है, यहांपर विशुद्धरूपेण इंगलिश भाषामें भारतीय संस्कृतिका प्रवचन होता है।

मैंने लन्दनके लगभग १० चर्चोंकी चर्चायें सुनी, जिनमें लोगोंकी संख्या नहीं के बराबर ही थी।

जर्मन, स्वीटजरलैण्ड, फ्रांस, इटली, स्काटलैण्ड, रूस, अमेरिकाके लोगोंसे विशेष सम्पर्क हुआ, और उनके जिज्ञासाओंसे पता चला, कि वे जीवनके प्रारम्भकालसे ही भारतीय संस्कृतिके अनुरूप चलते हैं, और उसीमें विशेष श्रद्धा रखते हैं, और जिससे फाइस्टके लिए उतना ही श्रद्धा रखते हैं, जितनी कि भारतीय किसी उच्च कोटिके महात्माके लिए श्रद्धा रखते हैं। इस प्रदेशके पर्यटनसे मैंने काफी उनकी आन्तरिक जिज्ञासाओंका, तथा अभिलाषाओंका अध्ययन किया, तथा समस्त पश्चिमी जगत्के निवासियोंके निम्नलिखित ५ वर्ग किये हैं:-

(१) राजनैतिक व्यक्तिः— इस प्रकारके व्यक्तियोंकी पश्चिमी जगत्की फिलासफीमें बिल्कुल श्रद्धा नहीं है, वैदिक धर्म तथा उपनिषदोंसे प्रेम है परन्तु इनको समय न मिलनेके कारण केवल वैदिक अध्यात्मवादका पुजारी ही उनको मैं मानता हूं- वस्तुत. इनका कोई धर्म नहीं है— समस्त विश्वपर राज्य करना ही इनका प्रधानध्येय और धर्म है।

(२) अन्ध श्रद्धालु- इस वर्गके लोग आंख मींचकर चर्चोंमें जाते हैं, तथा इनकी संख्या बहुत कम है, और दिन प्रति दिन घटती जारही है।

(३) तत्व जिज्ञासु—इस वर्गके लोग भारतीय संस्कृतिपर लट्टू हैं, तथा पश्चिमी संस्कृतिको अध्यात्मक्षेत्रमें अपर्याप्त मानते हैं— इस वर्गके कुछ व्यक्ति तो इतनी अच्छी संस्कृत बोलते हैं कि शायद भारतीय लोगोंमें भी थोडे ही विद्वान इनके साथ बोल सकेंगे-इस वर्गमें जर्मन निवासियोंको मैंने अग्रगण्य पाया, और ये लोग मुझसे धाराप्रवाह संस्कृतमें ही बोलते हैं, एक रशियन प्रोफेसर भी मिला, जो धाराप्रवाह संस्कृत बोलता है। आचार्य शंकरको अपना धर्मगुरु मानता है— और अद्वैत वेदान्तके मननके लिए सारा जीवन उसने अर्पित कर दिया है।

(४) व्यवसायी वर्ग- इस वर्गके लोग भारतीय संस्कृति बडी रुचिके साथ सीखते हैं, और भारतीय संस्कृतिपर कार्यक्रमको देखनेके लिए काफी संख्यामें आते हैं, चर्चोंमें जानेके लिये न तो इनके पास समय है, और न श्रद्धा ही है।

(५) समान्य वर्ग— मिश्रित है- इस वर्गके लोगोंको किसी भी संस्कृतिका ज्ञान नहीं, और पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृतियोंको बडी रुचिके साथ देखते हैं।

भारतीय संस्कृतिके पुस्तकालय

मैंने यूरोपमें आकर ऐसी सुन्दर संस्कृत पुस्तकें देखीं, जिनका कि मैंने भारतमें नाम भी नहीं सुना था, लन्दनमें इंडिया संस्कृत पुस्तकालय तथा समस्त संसारमें आक्सफोर्ड

युनिवर्सिटीका प्रकाशन प्रसिद्ध है। ७५% विद्वान भारतीय पुस्तकोंको खरीदते हैं, चारों वेद, चारों उपवेद, छहों शास्त्र या दर्शन, अठारह पुराण, अठारह उपपुराण, बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म, जैन धर्म इत्यादि सभी प्रकारके ग्रन्थोंका अनुवाद इंग्लिशमें है- और तारीफ यह कि भारतीय नहीं पढते हैं, यूरोपियन पढते हैं। इण्डिया लाइब्रेरीका भारतीय धर्म विभाग तथा भारतीय फिलासोफी विभाग इन लोगोंसे खचाखच भरा रहता है। संसार प्रसिद्ध ब्रिटिश म्युजियम भारतीय कला, कौशल, तथा भारतीय पुस्तक भण्डारसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमाके समान जगमगा रहा है।

"सारांश" यहांकी ७५% जनता भारतीयोंसे संस्कृति सीखनेके लिये लालायित है। अफसोस यह है कि जो लोग भारतसे यहां आते हैं, वे स्वयं बिचारे भारतीय संस्कृतिसे, भारतीय होनेपर भी अपरिचित हैं। इन्हीं गिने चुने लोगोंसे ये लोग, जब भारतीय सस्कृतिके बारेमें पूछते हैं और कुछ सीखना चाहते हैं तो ये बिचारे बगलें झांकने लगते हैं। पश्चिमी जगत तत्व जिज्ञासारूपी तृषासे अब तड़प रहा है, इसे अब भारतीय संस्कृतिरूपी, वेदान्तरूपी जल चाहिये। भारतीय समाजोंका विशेषकर वैदिक धर्मावलम्बियोंका यह कर्तव्य है, कि वे ऐसा ठोस कार्य प्रारम्भ करें, और कुछ शास्त्र पारङ्गत विद्वानोंको भेजें- जो इनकी पिपासाको शान्त कर सकें। राजनैतिक व्यक्तियोंको छोडकर शेष सभी लोग भारतीय संस्कृतिको अपनी आत्मा मानते हैं। कुछ गिने चुने पादरी लोग इसके अपवाद हैं। परन्तु ७५% पादरी भी भारतीय अध्यात्मवादको मुकुटमणि मानते हैं, तथा बडी अभिरूचिके साथ उसे सीखते हैं।

अबतक यहां जो भारतीय आये, उनकी कथा आप सब लोग जानते हैं। जो संस्कृतके विद्वान् आये वे इंग्लिश ही सीखते रह गये, उन्हें प्रचारका समय शायद जीवन-भर न मिल सकेगा, और यदि समय मिला भी तो उनकी पशु भाषाका प्रभाव मैंने लन्दनमें विपरीत पडते देखा है। जो इंग्लिशके विद्वान आये हैं, वे तो बिल्कुल ही दयाके पात्र हैं, इन्हें तो अध्यात्मवादका ए० बी० सी० भी नहीं मालूम है, अपितु एक वाक्यमें यह कह दिया जावे, कि ये यहांके सामान्य वर्गसे भी गये गुजरे हैं, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। एक जर्मन विद्वानकी बात कटु होनेपर भी सत्य है कि "भारतीय संस्कृति अब भारतमें नहीं है वह अब जर्मनमें है, तथा वेदोपनिषदोंकी पुस्तकोंमें सुरक्षित है।" अतएव आर्यसमाजोंका यह कर्तव्य है वह कुछ सिद्धान्त सम्पन्न तथा इंग्लिश और सस्कृतके विद्वानोंको भेजे जो यहां भी यज्ञाग्निको प्रज्वलित कर सकें।

हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये शास्त्रीय योग्यताओंकी मान्यता

मुंबई सरकारने सरकारी और असरकारी हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये **स्वाध्यायमंडल, पारडी** की **तीन साहित्यिक परीक्षाओं**को मान्यता दी है। इनकी योग्यता निम्न प्रकार स्वीकृत की गई है—

स्वाध्यायमंडल किल्ला पारडी (जि. सूरत) की **साहित्यिक परीक्षाएं**—

साहित्यप्रवीण— **एस. एस. सी/मॅट्रिक** के समान है,
साहित्यरत्न — **इन्टर आर्ट्स** के समान है, और
साहित्याचार्य— **बी. ए.** के समान है।

मुंबई सरकारने हमारे संस्कृत प्रचारमें यह मान्यता देकर जो हमें प्रोत्साहित किया है उसके लिये हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

— परीक्षा-मन्त्री

भारतीय संस्कृतिका प्रचार करनेका साधन

संस्कृत-भाषाका प्रचार है !

▲

आप भारतीय संस्कृतिके प्रेमी हैं इसलिये आपके विचारार्थ तथा आपसे सुयोग्य संमति प्राप्त हो, इसलिये यह पत्र आपके पास भेज रहा हू। आप इसका विचार करके, तथा आपके इष्ट-मित्रोंके साथ परामर्श करके मुझे उत्तर देनेकी कृपा कीजिये।

आपके द्वारा संस्कृतभाषाका प्रचार हो रहा है यह उत्तम कार्य है और इस संस्कृतके प्रचार करनेके लिये आप जो प्रयत्न कर रहे है वह आदरणीय है, इसमें संदेह नही है।

संस्कृतके वर्ग

(१) संस्कृतका प्रचार भारतीय संस्कृतिके प्रचारके लिये अत्यंत आवश्यक है। आपके हायस्कूलमे संस्कृत प्रचारका केन्द्र है, परंतु आपके आजूबाजूमें १० मीलके क्षेत्रमे जितने हायस्कूल हैं उन सबमें संस्कृत प्रचारके केन्द्र कार्य कर रहे है या नहीं इसका ज्ञान आप हमें दीजिये। जहां संस्कृतका केन्द्र न हो वहां आप '**संस्कृतका केन्द्र**' स्थापन करनेका यत्न कीजिये, अथवा जहां आप नहीं जा सकते वहांके हायस्कूलके मुख्य अध्यापक तथा संस्कृत अध्यापकके नाम पतोंके साथ हमें भेजिये। हम उनसे पत्रव्यवहार करेंगे।

छुट्टीके समयमें आप जाकर केन्द्र स्थापन करेंगे, वह चलने लगेगा तो केन्द्र स्थापनाके लिये प्रतिकेन्द्र ३) तीन रु. यहांसे सहायताके रूपमें दिये जाते है। आप स्वयं यह कर सकते है अथवा दूसरोंको प्रेरणा करके करवा भी सकते हैं। संस्कृतका केन्द्र प्रत्येक हायस्कूलमे स्थापन हो यह हमारी इच्छा है।

(२) आपके चारों ओर दस मीलके अन्तरपर जितने हायस्कूल है उनके संस्कृत शिक्षक तथा मुख्य शिक्षकके पते और नाम आप हमारे पास भेजिये और आप उनको पत्रसे अथवा समक्ष जाकर प्रेरणा कीजिये। और हरएक हायस्कूलमें संस्कृतका केन्द्र हो और वहांके विद्यार्थी अधिकसे अधिक संख्यामे संस्कृत सीखे ऐसा करनेके लिये जो आप कर सकते हैं वह आप कीजिये और आप हमे भी सूचना कीजिये।

ग्रामोंमें संस्कृतके वर्ग

(३) प्रत्येक ग्राममें प्रौढ लोग, स्त्री या पुरुष, संस्कृत पढें इसलिये ग्रामके प्रौढोंके संस्कृतके वर्ग निकालने चाहिये। विद्यार्थी ही संस्कृत पढे और बडे लोग न पढें यह ठीक नहीं। जो प्रौढ होनेके कारण स्कूलोंमें नहीं जा सकते वे प्रौढ स्त्रीपुरुष भी संस्कृत पढें। इसके लिये ग्रामग्राममें संस्कृतके वर्ग निकालने चाहिये। आप अपने नगरमें इस विषयमे क्या कर सकते हैं तथा अपने इष्ट मित्रोंद्वारा क्या करवा सकते हैं इस विषयकी आपकी संमति हमें आप लिखकर भेजेंगे तो बडी कृपा होगी।

प्रतिदिन एक घण्टा ऐसे सौ घण्टे (तीन चार महिने) संस्कृत ठीक तरहसे सिखाया जाय, तो रामायण महाभारत समझनेयोग्य संस्कृत आ सकता है। संस्कृत अत्यंत सरल भाषा है। उससे प्रान्तिक भाषाएं बहुत ही

कठिन हैं, अंग्रेजी तो शतगुणित कठीन भाषा है। इस कारण आप इस संस्कृतके प्रचार करनेमें जितनी सहायता दे सकते हैं देनेकी कृपा कीजिये। इससे एक महान देशोद्धारका कार्य होनेवाला है।

गीतावाचनके केन्द्र

(४) आप अपने नगरमें गीता तथा उपनिषद्की टीकाओं समेत प्रतिदिन एक घण्टा (रातके फुरसतके समय या किसी अन्य समय) वाचन तथा विचार करनेके केन्द्र खोल सकते है तो देखिये। यह कार्य आपसे न होगा तो आपके नगरमें आपके कोई परिचित यह कार्य कर सकेंगे तो देखिये। नगरके छोटे या विस्तृत होनेपर ये केन्द्र अधिक भी खोले जा सकते हैं। **भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका** तथा **उपनिषदोंपर टीकाएं** अत्यंत सुबोध रीतिसे हिंदीमें तथा गुजरातीमें तैयार हैं। उनका केवल पठन करनेसे सब विषय समझमें आ सकता है।

ये ग्रंथ हिंदी और गुजराती भाषामें तैयार हैं।

गीता और उपनिषद्की परीक्षाएं

ऊपरकी पुस्तके संघमें बैठकर २१४ बार पढ लीं और संघमें बैठकर इनपर विचार किया तो गीता परीक्षा और उपनिषदकी परीक्षा देनेकी योग्यता सहजहींसे प्राप्त हो सकती है।

लोग परीक्षा दे या न दें, इन ग्रंथोंके ज्ञानका प्रचार होनेकी आवश्यकता है। यह प्रचार करनेके लिये '**गीता वाचन केन्द्र**' ग्रामग्राममें खोलने चाहिये। आप इस विषयमें स्वयं क्या कर सकते हैं, लिखिये तथा आपके अनेक इष्ट मित्रोंमें यदि कोई यह कार्य करनेके लिये तैयार हों, तो उनका नाम पतेके साथ हमें सूचित कीजिये।

कार्यकर्ताका लाभ

इस कार्यको करनेवालेका लाभ दो प्रकारसे हो सकता है। एक तो गीता और उपनिषद्का अध्ययन उनका होगा और दूसरा लाभ पुस्तकोंपर २५ फीसदी कमिशन मिलेगा। यदि कोई पुस्तक विक्रेता आपके नगरमें होगा तो आवश्यक पुस्तक उनके द्वारा भी मगाये जा सकते हैं।

'**गीतापाठ केन्द्र**' आपके नगरमें चल सकते या नहीं यह स्वयं तथा अपने मित्रोंके साथ विचार करके हमें सूचित करनेकी कृपा कीजिये।

साथवाले नगरोंमें प्रचार

आपके नगरसे आजूबाजूमें जो नगर होंगे, उनमें आप स्वयं जाकर वहांके स्कूलोंमें '**संस्कृतका केन्द्र**' आप खुलवा सकते हैं इसी तरह '**गीता केन्द्र**' भी खुलवा सकते हैं।

आप स्वयं यह कार्य नहीं कर सकते है तो आप वहांके भद्रपुरुषोंके नाम और पते हमारे पास भेज सकते हैं। जिनके प्रयत्नसे केन्द्र खुल जायगा और दस परीक्षार्थी परीक्षाके लिये बैठेंगे, उस केन्द्रके लिये केन्द्र स्थापनकर्ताको ३) रु. प्राप्त हो सकते हैं।

संस्कृतिके प्रचारका कार्य

भारतीय संस्कृतिके प्रचारका कार्य आप और हम मिलकर कर सकेंगे तो बहुत कार्य हो सकता है। इस लिये आपसे प्रार्थना की जाती है कि आपसे जो हो सकता है वह करके आप हमारी सहायता कीजिये। आशा है कि आप स्वयं तथा अपने मित्रोंके द्वारा यह कार्य चलानेमें आप हमें सहायता करेंगे।

श्री. दा. सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय मंडल
आनंदाश्रम, **पारडी** जि. सूरत

गीतामें विश्वसृष्टि

(लेखक— श्री स्वा. केशवदेवजी आचार्य, मेरठ)

[गताङ्कसे आगे]

गीताने अपने दार्शनिक तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हुए सम्पूर्ण विश्वको और जो कुछ भी विश्वसे अतीत हो सकता है उस सबको तीन पुरुषोंके रूपमें प्रकट किया है— क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। अत: वह कहता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१५।१७

" इस लोकमें दो पुरुष हैं— क्षर और अक्षर। क्षरका अर्थ है समस्त भूत। अक्षर कूटस्थको कहा जाता है। इन दोनोंसे उत्तम एक और पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है, जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है। वह अविनाशी है, ईश्वर है। "

क्षर शब्दका साधारणतया अर्थ होता है क्षीण या नष्ट होनेवाला। परन्तु सत्कार्यवादके अनुसार कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। जब कोई पदार्थ हमें स्थूल दृष्टिमें नष्ट होता प्रतीत होता है तो वहां उसकी सत्ताका अत्यन्त विनाश नहीं होता अपितु वह पदार्थ अपने उपादानभूत तत्त्वोंका रूप धारण कर लेता है। उदाहरण स्वरूप घट यदि टूटता है तो वह मृत्तिकाका रूप धारण कर लेता है। मृत्तिका जब छिन्न भिन्न होती है तो वह पार्थिव (आदि) परमाणुओंका रूप धारण कर लेती है। और जब यह विश्लेषणात्मका या कारणोन्मुखी क्रिया और आगे बढती है तो परमाणु रूपमें विद्यमान मृत्तिका क्रमशः तन्मात्रा, अहंकार, महत्‌का रूप धारण कर लेती है। और फिर महत् रूप धारण करनेवाली मृत्तिका सत्त्व रज और तम गुणवाली मूल प्रकृतिका रूप धारण कर लेती है। कुछ भी सर्वथा नष्ट या असत् नहीं होता।

सांख्य शास्त्रने इस सिद्धान्तको बहुत अधिक महत्त्व दिया है। गीता भी इस सिद्धान्तको स्वीकार करती है। अत: उसने कहा है कि सत्‌का अभाव या विनाश नहीं होता।+ अत: इस सिद्धान्तके अनुसार जब हम यह मान लेते हैं कि किसी भी पदार्थका अत्यन्त विनाश नहीं होता तो क्षर शब्दका अर्थ करना चाहिये— जैसा कि इसके धात्वर्थ (क्षर संचलने) से प्रकट होता है— सक्रिय, परिणामी, विकारी, परिवर्तनशील। सांख्यके अनुसार ऐसे पदार्थ चौबीस हैं— मूल प्रकृति, महान्, अहंकार, पंच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण), पांच कर्मेन्द्रियां (वाक्, पाणी, पाद, गुदा, उपस्थ) और पांच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी)। इन चौबीस तत्त्वोंमें सदा क्रिया होती रहती है, इस कारण ये सक्रिय, विकारी या परिणामी कहे जाते हैं और इसीलिये ये क्षर कहलाते हैं।

गीताने क्षर शब्दका अर्थ किया है सर्वभूत (क्षरः सर्वाणि भूतानि)। सर्वभूत यह शब्द गीतामें कहीं केवल सजीव प्राणियोंके लिये आता है, कहीं निर्जीव पदार्थोंके लिये और कहीं सजीव और निर्जीव दोनोंके लिये। ईश्वर समस्त भूतोंका सुहृद है (सुहृदं सर्वभूतानां ५।२९), ईश्वरका भक्त समस्त भूतोंसे द्वेष नहीं करता (अद्वेष्टा सर्व भूतानां १२।१३), ऋषिगण अपने मलोंको क्षीण करके समस्त भूतोंके हितमें लगे रहते हैं (सर्व भूतहितेरताः ५।२५)- इन वचनोंसे प्रकट होता है कि यहां भूत शब्द जीवोंका वाची है। कारण सुहृद्भाव हित और अद्वेष जीवोंके साथ ही हो सकते हैं पत्थर जैसे जड पदार्थोंके साथ नहीं हो सकते।

+ नाभावो विद्यते सतः ॥ २।१६

आठवें अध्यायमें गीता कहती है कि जब सृष्टि होनेका समय आता है तो समस्त व्यक्त पदार्थ अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और प्रलय काल आनेपर फिर उसी अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं। ये समस्त भूत (भूतग्राम) बार बार सृष्टिकाल आनेपर इस अव्यक्तसे उत्पन्न हुआ करते हैं और प्रलय काल आने पर फिर उसमें ही लीन हो जाया करते हैं +। यहां जिस अव्यक्तसे यह सृष्टि बतलाई गई है उसे श्री अरविन्दने सांख्यकी सत्व, रज, तम गुणवाली अव्यक्त नामकी प्रकृति × कहा है। शंकराचार्यने इसे अविद्या कहा है (भूतग्राम बीज भूताद् अविद्यालक्षणात् अव्यक्ताद्)। रामानुजाचार्यने भी अचेतन प्रकृति अर्थ किया है। (अव्यक्ताद् अचेतन प्रकृतिरूपात्)। अतः इस अपरा प्रकृतिसे महद् आदि भूतवर्गकी ही सृष्टि हो सकती है, जीवोंकी नहीं। अतः यहां समस्त भूत (भूतग्राम) शब्द केवल महद् आदि प्राकृतिक पदार्थोंका ही वाचक है।

दसवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि मै समस्त भूतोंका बीज हूं। चर और अचरमें कोई भी भूत मेरे बिना अपना अस्तित्व नहीं रखता *। इस वचनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहां सर्वभूत शब्द जीव (चर) और प्राकृतिक पदार्थ (अचर) दोनोंका वाचक है, कारण ईश्वरको सभीका बीज बतलाया गया है। इनमेंसे किसी भी एकको ईश्वरसे भिन्न, या ईश्वरसे भिन्न तत्वका कार्य नहीं कह सकते। कारण ऐसा करनेपर " वासुदेवः सर्वमिति, " " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " " पुरुष एवेदं सर्वं इत्यादि वेद, उपनिषद् और गीताके वचनोंका विरोध हो जाता है। " क्षरः सर्वाणि भूतानि, " यहां क्षर शब्दसे गीता इस तीसरे अर्थका ही ग्रहण करती है और इस प्रकार समस्त प्राकृतिक पदार्थ और समस्त जीवोंको क्षर कहती है, कारण इनमें क्रिया विकार या परिवर्तन होता है।

सांख्यमें प्रकृति और पुरुष दो तत्व माने जाते हैं। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन। प्रकृतिके तीन गुण होते हैं— सत्व रज और तम। ये गुण सदा सक्रिय अवस्थामें रहते हैं (चलं च गुणवृत्तम्)। सृष्टिकालमें इनकी क्रिया विषम रूपमें होती है। कहीं सत्व प्रधान होता है और रज एवं तम अभिभूत रहते हैं; कहीं रज प्रधान रहता है और सत्व एवं तम अभिभूत रहते हैं; कहीं तम प्रधान रहता है और सत्व एवं रज अभिभूत रहते हैं। सांख्य शास्त्रके अनुसार विश्वमें जो भी क्रिया होती है वह इन गुणोंमें या इनके द्वारा ही होती है। पुरुष निष्क्रिय असंग, उदासीन, साक्षी है। परन्तु वह अविवेकवश प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, उनमें आसक्त होकर सुख, दुःख, मोह, जन्म मरण आदि विकारोंको अपनेमें मानने लगता है।

इस काल्पनिक क्रिया या विकारको स्वीकार करनेके कारण ही वह क्षर कहा जाता है। जिस समय उसे विवेक हो जाता है तो वह प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना बंद कर देता है और मुक्त हो जाता है। उस समय वह अपने सच्चे निष्क्रिय और निर्विकार स्वरूपको प्राप्त हो जाता है उसकी इस अवस्थाको अक्षर कहा जाता है। यह सांख्यके अनुसार क्षर और अक्षर हैं— समूची प्रकृति और बंधनमें पडा हुवा जीव क्षर और मुक्तजीव अक्षर।

सांख्य बहु-जीव-वादी है, अतः इस दर्शनके अनुसार मुक्त हो जानेपर भी जीवोंका परस्परमें एक दूसरेसे भेद और उनका प्रकृतिसे भेद नित्य बना रहता है। गीता सांख्यके पुरुष बहुत्वको और पुरुष एवं प्रकृतिके भेदको स्वीकार करती है। यदि गीता यहीं रुक जाय तो इसे उन समस्त दार्शनिक दोषोंको ÷ जो इस भेदको माननेमें उपस्थित होते हैं, स्वीकार करना पडेगा। परन्तु गीता सांख्यकी सीमाका अतिक्रमण कर जाती है। वह पुरुषोंके परस्परके

+ अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। ८।१८ ।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ।। ८।१९ ।।

× The unmanifest principle of the original cosmic Prakriti, Areyakte.
(Essays. ch, 38 P. 263)

* यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।। १०।३९

÷ इन दोषोंकी विवेचना आगे " विश्वसृष्टि " नामक प्रकरणमें की गई है।

भेदको और पुरुष एवं प्रकृतिके भेदको व्यावहारिक सत्य मानती है, अन्तिम सत्य नहीं मानती। यह प्रकृति और जीव दोनोंको एकमेवाद्वितीय चेतन पुरुष रूप बीजकी दो शाखायें मानती है।* गीतामें सत्त्व रज और तम गुणों-वाली प्रकृति स्वतंत्र और जड नहीं है। यह उस एकमेवा-द्वितीय चेतनकी चेतनशक्तिका, जिसे गीताने पराप्रकृति कहा है, उद्भूत रूप है, आविर्भाव है।

चेतन शक्तिका कार्य होने पर भी इसमें चेतना स्थूल दृष्टिमें प्रतीत नहीं होती। कारण इसके भीतर चेतना इस प्रकार छिपी है जैसे काष्ठमें अग्नि! यही कारण है कि जो यह यथार्थमें चेतन होते हुए भी स्थूल रूपमें जड प्रतीत होती है। जिस पराप्रकृतिका यह आविर्भाव या कार्य है वह उस चेतन पुरुषसे कोई पृथक् या स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, अपितु उसके साथ एकीभूत है, कारण वह उसकी शक्ति है और शक्ति और शक्तिमान् एक होते हैं। यह पराप्रकृति ही उस चेतनकी प्रेरणासे असंख्य जीवोंका रूप धारण करती है। (पराप्रकृतिं जीवभूतां)। चूंकि यह पराप्रकृति उस चेतनसे भिन्न नहीं है, अतः जैसे यह कहा जाता है कि परा-प्रकृति सत्त्व, रज और तम गुणमयी अपरा प्रकृति (और उसके विकारों) का और समस्त जीवोंका रूप धारण करती है, ऐसे ही यह भी कहा जा सकता है कि वह चेतन ही (अपनी परा प्रकृतिके द्वारा) इन दोनोंका रूप धारण करता है—

> एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
> अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥७।६॥

विश्वमें जो हमें देवता, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पर्वत, वृक्ष आदि चर, अचर पदार्थ दिखलाई देते हैं ये सब उस एकमेवाद्वितीय चेतनके अनन्त सक्रिय रूप हैं। जो चेतन इस प्रकार अनन्त रूपोंमें व्यक्त हो रहा है उसे वेदोंमें पुरुष (पुरुष एवेदं सर्वं), उपनिषदोंमें ब्रह्म (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) और गीतामें पुरुषोत्तम या वासुदेव (वासुदेवः सर्वम्) कहा गया है। अतः उस चेतनके अनन्त रूप वाले, अनन्त प्रकारसे क्रिया करनेवाले इस रूपको गीताने क्षर कहा है और चूंकि यह चेतन पुरुषका ही एक रूप विशेष या कार्य है इस कारण इसे पुरुष कहा गया है। अतः श्री अरविन्द लिखते हैं—

There is a spirit at work in the world that is one in innumerable appearances. It is the constituting reality of all this stir in Time and Space, it is itself Time and Space and Circumstance. It is this multitude of senls in the world, it is the gods and men and creatures and things and forces and qualities and quantities and powers and presences. It is nature; which is power of the Spirit, and objects, which are its phenomena of name and idea and form and existences.

जगत्में एक पुरुष असंख्य रूपोंमें क्रिया कर रहा है। देश और कालमें जो कुछ भी हलचल होती है उस सबका वही स्रष्टा, परमार्थ तत्त्व है। वह स्वयं देशकाल और घट-नायें हैं। वही इस जगत्में जीवोंका रूप धारण किये हुए है। वही देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव और वस्तुएं शक्तियां, गुण, परिमाण और उपस्थितियां हैं। वही प्रकृति रूपमें है जो कि आत्माकी शक्ति है; वही पदार्थोंके रूपमें है जो कि नाम, रूप, विचारमय प्रपंच है।

It is the Kshara, the universal soue, the spirit in the multiplicity of cosmic phenomenon and becoming. The Kshara spirit (is) visible is us as all natural exestences and the tolality of all exestences.*

वही क्षर, विश्वात्मा, बहुविध विश्व प्रपंचका रूप धारण किया हुआ आत्मा (पुरुष है)। समस्त प्राकृतिक पदार्थों और समस्त जीवोंके रूपमें जो कुछ हमें दिखाई देता है वह सब क्षर पुरुष ही है।

परन्तु यह सक्रिय रूप जिसे क्षर कहा गया है उस चेतनका बहुत अल्प अंश है। ×

---

* बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥ ७।१० ॥ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥ १०।३९

* Essays on the Gita. 38

× पादोऽस्य विश्वा भूतानि। ऋग्वेद १०।९०।३ ॥ समस्त भूत उसके केवल स्वल्प अंश होते हैं।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ १०।४२ ॥
मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक बहुत स्वल्प अंशसे धारण किये हुए हूं।

इससे भिन्न उसका एक और भी रूप है जिसे अक्षर कहते हैं। अक्षर शब्दका अर्थ गीताने कूटस्थ किया है। कूट शब्दका अर्थ होता है लोह पिंड, निश्चल, निर्विकार, कठिन, ठोस पदार्थ। + कूटस्थ शब्दका अर्थ होता है कूट अर्थात् लोहपिंडके समान निश्चल निर्विकार रहनेवाला। ● अमरकोशमें शाश्वत ध्रुव, नित्य, सदातन, सनातन, स्थास्नु आदि शब्दोंके साथ इसका पाठ आया है और वहां इसका अर्थ किया गया है सब कालमें एक रूपमें रहनेवाला।:-: सुनारके अहरन (लोहपिंड) के ऊपर लाखों करोडों सोने और चांदीके पिंड टूट फूटकर अलंकारोंका रूप धारण कर लेते हैं और फिर टूटफूट जाते हैं परन्तु वह अहरन जैसा पहले था प्रायः वैसा ही बना रहता है।

इसी प्रकार जो चैतन्य सम्पूर्ण विश्वका, विश्वके समस्त विकारोंका आधार होता हुआ अपनी आत्मसत्तामें, सार रूपमें निर्विकार बना रहता है वह कूटस्थ या अक्षर कहलाता है। समस्त भूतोंके नष्ट होते हुए भी यह नष्ट नहीं होता इस कारण इसे अविनाशी, नित्य, अव्यय, स्थाणु, अचल, सनातन कहा गया है। | समस्त भूतोंका सार या आत्मा होनेके कारण इसे आत्मा (१०।२०) कहा गया है। बाह्य इन्द्रियोंका विषय न हो सकनेके कारण इसे अव्यक्त कहा गया है। यह अव्यक्त सांख्यके सत्त्व, रज और तम गुणोंकी साम्यावस्थावाले अव्यक्त (मूल प्रकृति) से परे है ⊞। हमारे साधारण मन और बुद्धिसे इसके स्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, कारण ये जिन रूप या गुणोंको आधार बनाकर क्रिया कर सकते हैं वे इसमें नहीं हैं अथवा कमसे कम स्थूल अवस्थामें नहीं हैं इसलिये इसे अचिन्त्य और निर्गुण कहा जाता है।

वाणीसे इसके स्वरूपका ठीक ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता इसलिये इसे अनिर्देश्य कहा जाता है। यही गीताका अक्षर है। सांख्यके अक्षरमें और गीताके अक्षरमें यह भेद है कि पहला व्यष्टि है, प्रकृतिसे भिन्न है, स्वयं अपने सजातीय अक्षरों (मुक्तजीवों) से भिन्न है अतः बहु है; गीताका अक्षर समष्टि है, प्रकृति और समस्त जीवोंसे अभिन्न और उनका आत्मा है, एकमेवाद्वितीय है।

इस प्रकार गीताने क्षर और अक्षरका स्वरूप बतलाया है। गीताके अनुसार यह अक्षर अन्तिम तत्त्व नहीं है। गीता इससे उत्तम एक और पुरुषकी सत्ता मानती है जिसे वह पुरुषोत्तम कहती है। क्षर और अक्षर दोनों इस पुरुषोत्तमके सक्रिय और निष्क्रिय दो रूप हैं। परन्तु ऐसा माननेमें हमारी बुद्धिके सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है कि एक ही तत्त्व कैसे सक्रिय और निष्क्रिय, चल और अचल, क्षर और अक्षर, सविकार और निर्विकार हो सकता है? अतः या तो हमें सांख्यके प्रकृति और पुरुषके समान इन दोनोंको एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न और मौलिक सत्य मानना चाहिये, अथवा मायावादके अनुसार कूटस्थ अक्षरको सत्य और संपूर्ण सक्रिय विश्व, क्षरको मायारूप मानना चाहिये। इन दोनोंको एकका रूप, एकत्र मानना असगत जान पडता है।

स्थूल रूपमें देखनेपर सक्रिय और निष्क्रियका, क्षर और अक्षरका यह विरोध अत्यन्त भीषण दिखाई देता है। परन्तु यदि हम इस विरोधकी तहमें घुसकर कुछ अधिक गंभीरतासे विचार करें तो पता चलता है कि ये एक दूसरेके परिपूरक हैं और दोनोंका एकत्र रहना अनिवार्य है। हम देखते हैं कि जहां भी कोई क्रिया या परिवर्त्तन होता है उसका आधार कोई न कोई स्थिर तत्त्व अवश्य होता है। मृत्तिकामें जब रचनात्मक, संघटनात्मक या संश्लेषणात्मक क्रिया होती है तो वह घट, घास, दूध, घृत, चीनी, काष्ठ, पुष्प, फल आदि विविध वस्तुओंका रूप धारण कर लेती है, परन्तु इन सब विकारोंमें मृत्तिकात्व स्थिर बना रहता है।

स्वर्ण अनेक प्रकारके अलंकारों और पात्रोंका रूप धारण

+ कूटनिश्चले अयोधने राशौ इति हेमचन्द्रः।

● कूटोऽयोधनवत् निश्चलं यथा तथा वा तिष्ठति (स्था+क), एक रूपतया सर्वकाल स्थायिनि परिणामशून्ये परमात्मनि। वाचस्पत्य अभिधान।

:-: एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः। ३।७३॥

|. नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २।२४॥ यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ ८।२०॥

⊞ परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः॥ ८।२०॥

करलेता है, परन्तु स्वर्णत्व सबमें समानरूपमें विद्यमान रहता है। चांदी पीतल और लोहा अपने अपने अलंकारों और विकारोंमें समानरूपमें विद्यमान रहते हैं, इस कारण सुनार किसी गहने या पात्रको देखकर उसके मूल धातुके अनुसार मूल्य निर्धारण करता है न कि उसके बाहरी रूपके अनुसार। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत सूर्य, चन्द्र, समुद्र, वृक्ष आदि समस्त भौतिक पदार्थोंका रूप धारण करते हैं परन्तु अपने मूल रूपमें वही रहते हैं। इसी प्रकार सांख्यके अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण महान्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंच महाभूत और सूर्य, चन्द्रमा आदि समस्त भौतिक पदार्थोंका रूप धारण करते रहते हैं परन्तु अपने मूल स्वरूपमें सदा निर्विकार बने रहते हैं। सत्त्व-रज या तम नहीं होता, रज-सत्त्व या तम नहीं होता, और तम- सत्त्व या रज नहीं बन जाता। सत्त्व सदा सत्त्व बना रहता है, रज सदा रज ही रहता है और तम भी सदा तम ही रहता है।

करोड़ों वर्षोंसे अनन्त रूपोंमें बनते और बिगड़ते हुए भी इनके मूल परिमाणमें लेशमात्र भी कमी या वृद्धि नहीं होती। जितने अबसे करोड़ों वर्ष पहले थे उतने ही अभीतक हैं और उतने ही भविष्यमें भी रहेंगे। ये कभी भी नष्ट नहीं होंगे। अतः सांख्यके अनुसार ये अविनाशी हैं ×। इन तीन गुणोंको यदि एक शब्दमें कहना हो तो प्रकृति कहा जाता है। इसी प्रकार जब हम सांख्यकी सीमाका अतिक्रमण करके प्रकृति और जीव इन दोनोंके मूलमें रहनेवाले किसी एक तत्त्वकी खोज करते हैं तो पता चलता है कि जैसे महान्, अहंकार, मन, पंचतन्मात्रा, पंच महाभूत सूर्य, चन्द्रमा, वृक्ष आदि समस्त सक्रिय भौतिक पदार्थोंके मूलमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण नित्य निर्विकार रूपमें स्थिर रहते हैं, इसी प्रकार इन तीन गुणोंवाली सक्रिय प्रकृति और समस्त जीवोंके मूलमें सत्ता चेतना और आनन्द ये तीन गुण नित्य स्थिर रहते हैं। ये तीन होते हुए भी यथार्थमें वहां एक ही है।

सत्ता चेतना है, चेतना आनन्द है। इन्हें यदि एक शब्दमें कहना हो तो सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म कहा जाता है। यही समस्त चराचरात्मक विश्वका आधार है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें ये तीनों गुण (सच्चिदानन्द ब्रह्म) व्यक्त या अव्यक्त रूपमें विद्यमान न हों। यदि कोई पदार्थ हमें जड प्रतीत होता है तो इसका कारण यह नहीं है कि वह यथार्थमें जड है, अपितु उसमें चेतना तिरोभूत है जो कि हमारी साधारण स्थूल दृष्टिका विषय नहीं हो पाती। सूक्ष्म दृष्टिके प्राप्त होनेपर अथवा उस वस्तुके रूपमें विशेष प्रकारका परिवर्तन होनेपर उसमें चेतना इस प्रकार देखी जा सकती है जैसे काष्ठमें अग्नि, दुग्धमें घृत, तिलोंमें तेल, घट घास दूध घृत आदिमें मृत्तिकात्व, + स्वर्णके विकारोंमें स्वर्णत्व इत्यादि।

अतः जैसे मृत्तिकाके विकारोंमें मृत्तिकात्व, स्वर्णके विकारोंमें स्वर्णत्व और प्रकृतिके समस्त विकारोंमें सत्त्व रज तम निर्विकार रूपमें स्थिर रहते हैं इसी प्रकार अनन्त प्रकारसे क्रिया करनेवाले, अनन्त नाम और रूप धारण करनेवाले इस चराचरात्मक विश्व (क्षर) के मूलमें यह सच्चिदानन्द तत्त्व ही सदा निर्विकार रूपमें स्थिर रहता है, इस कारण इसे कूटस्थ अक्षर कहा जाता है। यहां सक्रियता और निष्क्रियतामें कुछ भी विरोध नहीं है। इसलिये उपनिषदोंने इसे सक्रिय और निष्क्रिय दोनों कहा है (तदेजति तन्नैजति- ÷)। अतः इस विषयमें श्री अरविन्द लिखते हैं—

" The silence, the status are the basis of the movement, or eternal in mobility is the necessary condition, field, essence even, of the

× आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकोंने भी सांख्यके इस सिद्धान्तको मूल रूपमें स्वीकार किया है। अत. श्रीयुत जेम्स. जीन्स लिखते हैं—

" The first law of Thermodynamics ... ... teaches that energy is indestructible; it may change from one form to an other, but its total amount remains unalterable through all these changes, so that the total energy of the universe remains always the same.

(The Universe Aro[illegible]d us)

+ श्वेताश्वेतर। १।१५ ÷ ईशोपनिषद्। ५

infinite mobility, a stable being is the condition and foundation of the vast action of the Force of being. The apposition me make is mental and conceptval; in reality, the silence of the Spirit and the dynamis of the Spirit are complementary truths and inseparable." *

निश्चलता, स्थिरता क्रियाका आधार होती है; सनातन अचलता अनन्तचलताका अनिवार्य कारण क्षेत्र और सार होती है; स्थिर, निष्क्रिय, सत् सत्की शक्तिके विशाल कर्मका कारण और आधार होता है। इनमें जो विरोध हम करते हैं वह हमारे मनका बनाया हुआ और काल्पनिक होता है। वास्तवमें आत्माकी निष्क्रियता और सक्रियता परस्पर परिपूरक सत्य हैं और इनका एक दूसरेसे पृथक् करना संभव नहीं है।

साधारण दृष्टिमें हमें विश्वमें केवल क्षर पुरुषका अनुभव होता है, अक्षर पुरुषका नहीं होता। परन्तु जब मनुष्यको ब्रह्मका दर्शन होने लगता है तो उसे पहले इस कूटस्थ अक्षरका ही अनुभव होता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि ब्रह्मका नाम, रूप गुण और क्रियासे कुछ भी संबंध नहीं है। वह शान्त, अलक्षण है और यह नामरूपात्मक सक्रिय प्रपंच उससे बहिर्भूत है, जड प्रकृतिका विकार अथवा मिथ्या मायाका प्रपंच है। परन्तु इस भूमिकासे कुछ और आगे बढनेपर उसे यह अनुभव होता है जैसा कि उपनिषदोंने लिखा है— कि उस शान्त, अचल अक्षरसे यह विश्व इस प्रकार निकलता है जैसे मकडीके देहसे जाला, पृथ्वीसे वनस्पति, मानव शरीरसे केश, नख, लोम, अग्निसे चिनगारियां,+ मृत्तिकासे पात्र, स्वर्णसे अलंकार, बीजसे वृक्ष × वह अपने दिव्य ज्ञानके द्वारा अपनी सत्तासे इसे उत्पन्न करके इससे केवल बाहर ही नहीं रहता अपितु इसमें अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट होकर इसमें (बहिरन्तश्च भूतानां) इस प्रकार व्याप्त रहता है जैसे पृथ्वीमें उसका कारण गंध, जलमें रस, अग्निमें तेज, वायुमें स्पर्श, आकाशमें शब्द, सूर्य और चन्द्रमामें प्रकाश * ।

वही अपनी आत्मसत्तासे और आत्मसत्तामें इन्हें धारण करता है और जबतक चाहता है इनकी स्थिति बनाये रहता है (लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्ति) और जब चाहता है इन्हें अपने भीतर इस प्रकार समेट लेता है जैसे मकडी जालेको समस्त सात्त्विक राजसिक और तामसिक भावोंकी सृष्टि करके उनमें स्थित रहता हुआ भी यह उनमें सीमित नहीं हो जाता, उनमें बद्ध नहीं हो जाता, उनके आधीन नहीं हो जाता। वह इन्हें पूरी तरह अपने वशमें रखता है, जैसे चाहता है अपनी इच्छानुसार इन्हें नचाता रहता है। ॐ

अनन्त गुणोंको अपने भीतर धारण करता हुआ और प्रकट करता हुआ भी वह निर्गुण बना रहता है, न निर्गुणताके बंधनमें होता है न सगुणताके, दोनोंसे अतीत रहता है (निर्गुणं गुणभोक्तृ च १३।१४)। अनन्त प्रकारसे क्रिया करते हुए भी निष्क्रिय बना रहता है, न सक्रियताके बंधनमें होता है और न निष्क्रियताके दोनोंसे अतीत रहता है। ● अनन्त प्रकारसे विभक्त होकर भी अविभक्त रहता है, न विभागके बंधनमें होता है और न अविभागके दोनोंसे अतीत रहता है +। अनन्त रूप और आकारको धारण

---

* Life Divine II, 2 P. 63, 64 (edition 1940)

\+ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥
यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ मुण्डकोपनिषद् १।७॥२।५॥

× छान्दोग्य ६।१…१२॥ * गीता ७।८,९॥

ॐ ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥७।१२॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥९।५॥

● न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय । उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९।९ ॥

\+ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥ १३।१६ ॥

करता हुआ भी निराकार बना रहता है, न साकारताके बंधनमें रहता है न निराकारताके, दोनोंसे अतीत रहता है। यह जब अपनी परा प्रकृति या चेतन शक्तिके द्वारा जगत्‌की सृष्टि करता है तो इसे जगत्पिता कहते हैं और परा प्रकृति रूपमें इसे विश्वमाता कहते हैं (माता धाता पितामहः ९।१७॥)। समस्त जगत्‌का एक मात्र शासक होनेके कारण यह ईश्वर कहा जाता है।

यही जब मानव देहमें आकर अपने अनन्त ज्ञान और शक्तिको रखता हुआ प्रकृतिका अधिष्ठाता (प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय) रहता हुआ मानव जातिके उद्धारके लिये कर्म करता है तो अवतार कहलाता है। मायावाद और वैष्णव वेदान्तमें जिसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहा जाता है उसमें केवल विश्वमें क्रिया करनेवाले, विश्वका शासन करनेवाले चेतनका भाव आता है, उससे अतीतका नहीं आता। परन्तु गीताका ईश्वर विश्वका शासन करते हुए उससे अतीत भी रहता है। यह विश्वरूप है, विश्वका शासक एवं नियंता है और साथ ही उससे अतीत भी है; वह एक साथ इन तीनों भावोंको धारण करता है।

परन्तु यहां हम अक्षरताकी सीमाका अतिक्रमण करके पुरुषोत्तमके साम्राज्यमें आगये हैं। एक ही पुरुष अपने सच्चिदानन्द स्वरूपसे अंशतः क्रिया करता हुआ क्षर कहा जाता है, अंशतः निष्क्रिय रहता हुआ अक्षर कहा जाता है। क्षर पुरुष इसका आंशिक रूप है, निष्क्रिय कूटस्थ अक्षर भी इसका आंशिक और अपूर्ण रूप है। यह दोनोंको अपनी सत्तामें धारण करता है, इसलिये यह दोनोंका आधार और दोनोंकी अपेक्षा अधिक पूर्ण है, इस कारण इसे पुरुषोत्तम कहा गया है। अतः इस विषयमें श्री अरविन्द लिखते हैं—

In a certain sense, so seen and understood, this becomes the most comprehensive of the aspects of the Reality, since here all are united in a single formulation, for the Ishwara is supracosmic as well as intracosmic; He is that which exceeds and in habits and supports all individuality; He is the supreme and universal Brahman, the shsolute, the supreme Self, the supreme Purusha (of the Gita.) But this is nol the Saguna Brahman active and possessed of qualities, for that is only one side of the being of the Ishwara, the Nirguna immobile and without qualities is another aspect of his existence. Ishwara is Brahman the Reality, Self, Spirit, revealed as possessor, enjoyer of his own self existence, creator of the uninerse and one with it, Panthos, and yet superior to it, the Eternal, the Infinite, the Ineffable, the Divine Tranacendence. *

"एक विशेष अर्थमें, इस प्रकार देखा गया या ज्ञात हुआ यह परमार्थ तत्त्वका अत्यन्त व्यापक रूप होता है, कारण यहां उसके सभी भाव एकीभूत हैं; कारण ईश्वर विश्वातीत और विश्वान्तर्यामी दोनों हैं। वह व्यक्तित्व भावको धारण करता है, उसके भीतर निवास करता है और उससे अतीत भी होता है। वह परब्रह्म, वैश्वब्रह्म, कूटस्थ, परमात्मा और (गीताका) पुरुषोत्तम है। परन्तु यह वैष्णवोंका सगुण ब्रह्म नहीं है, कारण सगुण ब्रह्म ईश्वरकी सत्ताका केवल एक रूप है; निर्गुण, अचल उसकी सत्ताका दूसरा रूप है। ईश्वर ब्रह्म है, आत्मा है, वह अपनी आत्मसत्ताका प्रभु और भोक्ता है; विश्वका स्रष्टा और उसके साथ तादात्म्य रखनेवाला है, स्वयं विश्वरूप है परन्तु उससे उत्तम है, वह नित्य, अनन्त, अनिर्वचनीय, परात्पर पुरुष है।"

× × ×

पुरुषत्रयका यह सिद्धान्त उपनिषदोंमें अनेक रूपोंमें दिखलाई देता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में बतलाया गया है कि एक त्रिगुणमयी प्रकृति (अजा) है। एक पुरुष (अज) उसका भोग करता है, दूसरा (अज) भोग करके उसका परित्याग कर देता है +। यहां सांख्यके क्षर और अक्षरका भेद दिखलाया गया है; जो जीव प्रकृतिके भोगमें लिप्त है वह क्षर है और जो इससे मुक्त हो गया है वह अक्षर है। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं जो कि सनातनके सखा हैं। इनमें एक वृक्षके स्वादु फलको खाता है, दूसरा फलको खाता नहीं है अपितु केवल साक्षीरूपसे देखता है। इनमें पहला अनीश होनेके कारण शोक करता है, परन्तु जब वह अपने दूसरे साथीको देखता है और यह जानता है कि यह ईश्वर है और यह सब इसकी

* Life Divine II. 2. P. 87 (editior 1940)

+ श्वेताश्वतर ४।५ ॥

ही महिमा है, तो वह वीतशोक हो जाता है ०। इन श्लोकोंमें यह भाव दिखलाया गया है कि एक पुरुष प्रकृतिके भोगमें फंसा है और दूसरा नित्य मुक्त, निष्क्रिय, उदासीन, द्रष्टा, साक्षी है। उसने ही अपनी महिमासे इस विश्वका रूप धारण किया हुआ है। किसी जीवमें वह मुक्त हो जाता है। यहां गीताके क्षर और समष्टि अक्षरका भाव है। यहां पुरुषोत्तमका भाव भी है परन्तु अस्पष्ट है, स्पष्ट नहीं है। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि प्रधान या प्रकृति क्षर है, आत्मा अमृत अक्षर है इन दोनोंका शासन करनेवाला एक देव है।ॐ

यहां प्रकृतिको क्षर और जीवात्माको अक्षर मानकर इनसे भिन्न ईश्वर, परम देवका अस्तित्व माना है। मुण्डकोपनिषद्में पुरुषोत्तम भाव कुछ अधिक स्पष्ट है। वहां बतलाया गया है कि मकडीसे जैसे जाला उत्पन्न होता है, पुरुषके देहसे जैसे केश लोम निकलते हैं, अग्निसे जैसे चिनगारियां निकलती हैं इसी प्रकार अक्षरसे यह समस्त विश्व उद्भूत होता है। इस पर अक्षरसे परे एक दिव्य पुरुष है (दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः अक्षरात्परत. परः)। ×

अक्षर और पुरुषोत्तमका भाव गीतामें अधिक स्पष्ट रूपमें दिखलाया गया है। यहां अक्षरको आत्मा, कूटस्थ, अव्यक्त, ब्रह्म कहा गया है और इसके साथ अचल, ध्रुव अनिर्देश्य, अचिन्त्य, अविकार्य आदि विशेषण जोडे गये हैं, पुरुषोत्तमको ईश्वर, परमात्मा, परमपुरुष, दिव्यपुरुष आदि नाम दिये गये हैं। यहां "अहं" "माम्" शब्दोंसे प्रायः सर्वत्र पुरुषोत्तमका ही निर्देश है और चूंकि अक्षर और पुरुषोत्तम दोनों मूलरूपमें एक ही हैं अतः इन दोनोंको कहीं कहीं एक भी कर दिया है। परन्तु अधिकतर स्थानोंमें इनके आंशिक भेदको रखते हुए वर्णन किया गया है और जहां कहीं भी भेदकी झलक दी गई है वहां सर्वत्र अक्षरसे पुरुषोत्तमको उत्तम, अक्षरकी उपासनासे पुरुषोत्तमकी उपासनाको उत्तम, अक्षरकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले फलसे पुरुषोत्तमकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले फलको उत्तम और अक्षरके उपासकोंसे पुरुषोत्तमके उपासकोंको उत्तम बतलाया गया है।

चतुर्थ अध्याय (४।३५) में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करके तुम समस्त भूतोंको आत्मामें (आत्मनि) देखोगे और फिर मुझमें (मयि) देखोगे। यहां आत्मा शब्द अक्षर ब्रह्मका वाची है और मुझमें (मयि) शब्द पुरुषोत्तमका छठे अध्यायमें सर्वत्र समदर्शी योगीके लिये पहले आत्माका समस्त भूतोंमें और आत्मामें समस्त भूतोंका दर्शन बतलाया गया है (सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि), और इसके अनन्तर सबमें मेरा (मां) और मुझमें (मयि) सबका दर्शन बतलाया गया है (मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ६।३०)। यहां भी आत्मा शब्द अक्षर ब्रह्मका और मुझे मुझमें (मां, मयि) शब्द पुरुषोत्तमके वाची हैं। बारहवें अध्याय (१२।१-८) में अव्यक्त अक्षरकी और तेरी (त्वां) उपासनामें भेद किया गया है और श्रीकृष्णजीने मेरी (मां) उपासना करनेवालोंको उत्तम योगी कहा है। यहां भी अव्यक्त अक्षर शब्द अक्षर ब्रह्मका और तेरी मेरी (त्वां, मां,) शब्द पुरुषोत्तमके वाची हैं।

अठारहवें अध्याय (१८।५३,५४) में कहा गया है कि अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रहका परित्याग करके, निर्मम और शान्त होकर मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त करता है। ब्रह्मभूत हो जानेपर उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और इस पराभक्तिके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूप और परिमाणका ज्ञान होता है और फिर वह मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। यहां ब्रह्म शब्द अक्षर ब्रह्मका वाची है और मां शब्द पुरुषोत्तमका। यहां ब्रह्मभावकी प्राप्ति अहंकारादिके बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेपर होती है जो कि एक मध्यवर्ती भूमिका है अन्तिम नहीं। अन्तिम भूमिका है पुरुषोत्तममें निवास जो कि ब्रह्मभावकी प्राप्तिके अनन्त पराभक्तिके प्राप्त होनेपर होती है। चौदहवें अध्याय (१४।२६,२७) में कहा गया है कि अनन्य भक्तियोगके द्वारा जो मेरी उपासना करता है वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है और ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूं। यहां भी ब्रह्म शब्द अक्षर ब्रह्मका वाची है और मैं (अहं) शब्द पुरुषोत्तमका।

इस प्रकार श्री अरविन्दकी व्याख्याके अनुसार क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम इन तीन पुरुषोंका स्वरूप गीतामें दिखलाया गया है।

---

० श्वेताश्वतर ४।६, ७ ॥ ॐ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः। क्षरात्मानावीशते देव एकः ॥ १।१० ॥

× मुण्डकोपनिषद् १।७॥ २।१,२ ॥

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २६

[गताङ्कसे आगे]

द्रव्यकी ऊर्ध्वगामी क्रमपरम्परा

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। ... तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। ... अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। ... अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। ... अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तैत्तिरीयोपनिषद् २।१, २, ३, ४, ५॥

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्। तदिन्द्रो अर्थं चेतति॥ ऋग्वेद १।१०।१, २॥

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥
मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानोऽत्यो न सृत्वा सनये धनानाम्।
वृषेव यूथा परि कोशमर्षन् कनिक्रदच्चम्वोरा विवेश॥ ऋग्वेद ९।९६।१९,२०॥

एक आत्मा अन्नका साररूप है। इससे भिन्न प्राणमय अन्तरात्मा है जो कि पहले आत्माको पूर्ण (व्याप्त) करता है। इससे भिन्न अन्तरात्मा मनोमय है। इससे भिन्न अन्तरात्मा विज्ञानमय है। इससे भिन्न अन्तर-आत्मा आनन्दमय है।

वे सीढ़ीके समान इन्द्र पर चढ़े। जब कोई एक चोटीसे दूसरी चोटीपर चढ़ता चला जाता है तो उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कितना करना शेष है। इन्द्र यह चेतना लाता है कि वह तत् लक्ष्य है।

श्येनके समान, शकुनिके समान वह पात्रपर स्थित होता है और उसे ऊपर उठाता है; अपनी गतिधारामें वह किरणोंका आविर्भाव करता है, कारण वह शस्त्रोंको धारण किये हुए गति करता है। वह जलोंकी समुद्र-उर्मिसे संसक्त होता है; महान् रूपमें वह चतुर्थ धामकी घोषणा करता है। मरणशील मनुष्य जैसे अपने शरीरको शुद्ध करता है, युद्ध-अश्व जैसे धनोंको जीतनेके लिए दौड़ता है, इसी प्रकार वह आवाहन करता हुआ इन समस्त कोशोंमें अपने आपको उंडेलता है और इन पात्रोंमें प्रविष्ट होता है।

जब हम यह विचार करते हैं कि भौतिक द्रव्यका वह कौनसा धर्म है जो कि हमारे सामने उसकी भौतिकताको सबसे अधिक प्रकट करता है तो हम देखते हैं कि वह उसकी घनता (ठोसता), स्पर्श योग्यता, बढ़ता हुआ प्रतिरोध और इन्द्रिय-संसर्गको दृढ़ प्रतीति होता है जो द्रव्य जितना अधिक ठोस प्रतिरोध प्रकट करता है वह उतना ही अधिक सच्चे रूपमें भौतिक और यथार्थ प्रतीत होता है; और उस ठोस प्रतिरोधके अनुसार उसके इन्द्रिय-ग्राह्य रूपका वह स्थायित्व होता है जिस पर कि हमारी चेतना ठहर सकती है। वह जितना अधिक सूक्ष्म होता है जितना कम ठोस प्रतिरोध प्रकट करता है और इन्द्रियोंको जितना कम स्थायी गृहीत होता है वह हमें उतना ही कम भौतिक जान पड़ता है। भौतिक द्रव्यके प्रति जो हमारी साधारण चेतनाकी यह भावना है यह उस मुख्य उद्देश्यकी प्रतीक है कि जिसके लिए इसकी सृष्टि की गई है। मूक द्रव्य भौतिक अवस्थाको इस कारण प्राप्त होता है कि जिससे उस रूपमें वह अपनेसे व्यवहार करनेवाली चेतनापर ऐसे स्थायी, दृढ़तापूर्वक पकड़में आनेवाले प्रतिबिम्ब डाल सके जिन पर

मन स्थिर हो सके और जिन्हें वह अपने कार्योंका आधार बना सके; इसके अतिरिक्त, प्राणको भी कमसे कम यह सापेक्ष निश्चय हो जाय कि जिस पदार्थपर वह क्रिया करता है उसमें वे प्रतिबिम्ब स्थायी रूपमें रहते हैं।

इसलिए प्राचीन वैदिक भाषामें पृथ्वीको, जो कि द्रव्यकी अधिक ठोस अवस्थाओंका आदर्शरूप है, भौतिक तत्वका प्रतीकात्मक नाम दिया गया था। इसी कारण स्पर्श हमारे लिए इन्द्रिय ज्ञानका मुख्य आधार है। स्पर्शके अतिरिक्त रस, घ्राण, श्रवण, दर्शन इन सब इन्द्रिय-ज्ञानोंके लिए द्रष्टा और दृश्यमें अधिकाधिक सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष संनिकर्षकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार सांख्यमें आकाशसे लेकर पृथ्वीतक जो पांच भूतोंका विश्लेषण है उसमें हम देखते हैं कि वहां अधिक सूक्ष्मसे कम सूक्ष्मकी ओर निरंतर प्रगति होती है; इसके परिणाम स्वरूप वहां एक ओर शिखर पर आकाश तत्वके स्पंदन हैं और दूसरी ओर नीचे पार्थिव या ठोस तत्वकी स्थूल घनता है। इसीलिए शुद्ध द्रव्य अपने शिखरसे जब नीचेकी ओर प्रगति करता है तो इसकी अन्तिम अवस्था भौतिक द्रव्य है, यह ऐसी अवस्था है जो कि हमारे विश्वका आधार है; यहां हम यह कह सकते हैं कि यह आत्मा नहीं है अपितु रूप है, और यह ऐसा रूप है जहां कि घनता, प्रतिरोध, स्थायी स्थूल प्रतिबिम्ब, पारस्परिक अप्रवेश अधिकतम संभव वर्धित अवस्थामें हैं; यह विभेद, पार्थक्य और विभागकी पराकाष्ठा है। भौतिक विश्वका यही उद्देश्य और स्वभाव है; यह पूर्णताको प्राप्त हुए विभागका आदर्श रूप है।

और भौतिक द्रव्यसे आत्मातक यदि द्रव्यके स्वरूपकी आरोहण करती हुई क्रमपरम्परा है और वह होनी ही चाहिये, तो उसमें वे विशेषतायें जो कि भौतिक द्रव्यकी अधिकतम स्वभावभूत हैं, उत्तरोत्तर कम होती जानी चाहिए और इनकी विरोधी विशेषतायें जो कि हमें शुद्ध आत्मिक आत्म-विस्तारपर पहुंचा देंगी उत्तरोत्तर बढनी जानी चाहिए। इसका यह तात्पर्य है कि भौतिक द्रव्यसे ऊपरकी ओर क्रमशः आरोहण करते हुए द्रव्योंमें भौतिक द्रव्यकी अपेक्षा रूपका बंधन कम होता जायगा; द्रव्य और शक्ति अधिकाधिक सूक्ष्म और नमनशील होते जांयगे, उनमें अधिकाधिक अन्तःप्रवेश, अन्तर्मिश्रण, आत्मसात् करनेकी शक्ति, आदानप्रदानकी शक्ति, विविधताकी शक्ति, रूपान्तर और एकीकरणकी शक्ति अधिकाधिक होते जायेंगे।

रूपके स्थायित्वसे हटते हुए हम मूलतत्वकी नित्यताकी ओर जाते हैं, भौतिक द्रव्यके दृढ पार्थक्य और प्रतिरोधमें जो हमारी स्थिति है उससे दूर हटते हटते हम आत्माकी अनन्तता, एकता, अविभक्तताकी उच्चतम दिव्य स्थितिके समीप पहुंचते हैं। स्थूल द्रव्य और शुद्ध आत्म-द्रव्यमें यह मूलभूत वैधर्म्य होना चाहिये। भौतिक द्रव्यमें, जड द्रव्यमें चेतन-पुरुष अपने आपको इस प्रकार घनीभूत करता है कि जिससे उसका एक पिंड उसके अपने ही दूसरे पिण्डोंका अधिकाधिक प्रतिरोध करे और उनके विरोधमें खडा हो। आत्म-द्रव्यमें शुद्ध चेतन अपने आपको स्वतंत्रतापूर्वक अविभाग और एकीकरणात्मक आदानप्रदानके रूपमें देखता है, यह रूप स्वयं उसकी अपनी शक्तिकी अत्यन्त विभेदजनक क्रीडाका भी मूल होता है। इन दो सिरोंके बीचमें अनन्त भूमिकाओंकी संभावना है।

ये विचार उस समय बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब कि हम सिद्ध मनुष्यके दिव्य प्राण और दिव्य मनके स्थूल एवं आपाततः अदिव्य शरीरके साथ अथवा जिस भौतिक सत्तामें हम रहते हैं उसके धर्मके साथ संबंधपर विचार करते हैं। भौतिक सत्ताका जो धर्म है वह इन्द्रिय और द्रव्यके बीचमें एक विशेष निश्चित संबंधका परिणाम है जिससे कि भौतिक विश्व उत्पन्न होता है। परन्तु चूंकि यह संबंध ही एकमात्र संबंध नहीं है इसीलिए वह धर्म भी एक मात्र संभव धर्म नहीं है। प्राण और मन अपने आपको द्रव्यके साथ दूसरे संबंधमें भी प्रकट कर सकते हैं; वे भिन्न प्रकारके भौतिक नियमोंको, दूसरे और विशालतर चिर अभ्यासोंको व्यक्त कर सकते हैं; वे भिन्न प्रकारके ऐसे शारीरिक द्रव्यको भी व्यक्त कर सकते हैं जिसमें इन्द्रिय, प्राण और मन अधिक स्वतंत्र रूपसे क्रिया कर सकते हैं।

हमारी भौतिक सत्ताके धर्म हैं मृत्यु, विभाग और एक ही सचेतन प्राण-शक्तिके भिन्न भिन्न पिंडोंमें एक दूसरेका प्रतिरोध और निराकरण। ये धर्म पशु-देहमें व्यक्त होकर अपने जूएको उच्च तत्वोंपर रखते हैं; तब इनके प्रभावसे इन्द्रियोंकी क्रिया परिच्छिन्न हो जाती है; प्राणकी क्रियाओंके क्षेत्र अवधि और शक्ति एक संकीर्ण परिधिके भीतर निबद्ध

हो जाते हैं; मनकी क्रिया अंधकारमयी, स्खलनशील, खण्डात्मक और परिसीमित हो जाती है। परन्तु यही वस्तुएं विश्व-प्रकृतिके एकमात्र सम्भव रूप नहीं हैं। इनसे श्रेष्ठ भूमिकायें हैं और इनसे ऊंचे लोक हैं। यदि मनुष्य इस प्रकारकी उन्नति कर ले और हमारा द्रव्य अपनी वर्तमान परिच्छिन्नताओंसे इस प्रकार मुक्त किया जा सके कि इन श्रेष्ठ भूमिकाओं और उच्च लोकोंके धर्मको इस इन्द्रिय ग्राह्य द्रव्यपर और हमारी सत्ताके उपकरणों (इन्द्रियों) पर स्थापित किया जा सके, तो यहां पृथ्वीपर ही दिव्य मन और दिव्य इन्द्रियकी भौतिक क्रिया हो सकती है, मानव देहमें दिव्य प्राणकी भौतिक क्रिया हो सकती है और पृथ्वी पर एक ऐसी वस्तुका विकास हो सकता है जिसे कि हम दिव्य मानवदेह कह सकते हैं। यह भी सम्भव है कि किसी दिन मनुष्यका देह ही रूपान्तरित होकर दिव्य बन जाय; पृथ्वी माता भी हमारे भीतर अपने देवत्वको प्रकट कर सकती है।

भौतिक विश्वके भीतर भी भौतिक द्रव्यकी एक आरोहण करती हुई क्रमपरम्परा है जो कि हमें अधिक सघनसे कम सघनकी ओर और कम सूक्ष्मसे अधिक सूक्ष्मकी ओर ले जाती है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जब हम उस परम्पराकी उच्चतम अवस्था पर, भौतिक द्रव्यकी अथवा भौतिक शक्तिकी उस अत्यधिक सूक्ष्मतापर पहुंच जाते हैं जो कि आकाशसे अतीत है तो उससे परे क्या है? वहां शून्य नहीं है; कारण अत्यन्त शून्य या यथार्थ शून्य नामकी कोई वस्तु नहीं है; शून्य नामसे जिसे हम पुकारते हैं वह केवल कोई ऐसी वस्तु है जो कि हमारे इन्द्रिय, मन और हमारी अत्यन्त सूक्ष्म चेतनाकी ग्राह्यतासे परे है। यह भी सत्य नहीं है कि वह भौतिक आकाशीय द्रव्य ही सनातन मूल तत्त्व है और इससे परे कुछ भी नहीं है।

यह भी सत्य नहीं है कि आकाशीय द्रव्य ही विश्वका सनातन आदि कारण है और इससे परे कुछ भी नहीं है; कारण हम जानते हैं कि भौतिक द्रव्य और भौतिक शक्ति उस शुद्ध द्रव्य और शुद्ध शक्तिके केवल अन्तिम परिणाम हैं जिसमें कि चेतन ज्योतिर्मय रूपमें अपने आपको जानता और शुद्ध अधिकृत करता है, वह चेतन जिस प्रकार भौतिक द्रव्यके भीतर अचेतन निद्रामें और जड़ क्रियामें अपने आपको खोया हुआ (भूला हुआ) रहता है, इस प्रकार उस शुद्ध द्रव्य और शुद्ध शक्तिमें खोया हुआ नहीं रहता। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि इस भौतिक द्रव्य और उस शुद्ध द्रव्यके मध्यमें क्या है? कारण हम एकसे दूसरे पर कूद कर नहीं जाते, हम अचेतनसे पूर्ण चेतनपर एकदम नहीं पहुंच जाते। इसलिए जिस प्रकार भूतत्त्व और आत्मतत्त्वके मध्यमें क्रमसोपान हैं इसी प्रकार अचेतन द्रव्य और पूर्णतया आत्म-चेतन आत्म-विस्तारके मध्यमें भी क्रम सोपान होने चाहियें।

जिन्होंने इन अथाह गहराइयोंकी थाह ली है वे सब ऐकमत्यसे इस तथ्यको स्वीकार करते हैं और प्रमाणित करते हैं कि द्रव्यके सूक्ष्म और सूक्ष्मतर रूपोंकी क्रम परम्परायें हैं जो कि भौतिक विश्वके विधानसे परे और बाहर हैं। जो विषय हमारे वर्तमान अनुसंधानके लिए अत्यधिक गुह्य और कठिन हैं उनकी गहराइयोंमें न जाकर जिस विचार-धाराको हमने आधार बनाया हुआ है उसे ही अंगीकार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि द्रव्यकी ये भूमिकायें, अपनी क्रमपरम्पराके एक महत्त्वपूर्ण पक्षमें, भौतिक द्रव्य, प्राण, मन और सच्चिदानन्दके दिव्य त्रयकी क्रमपरम्पराके अनुसार आरोहण करती हुई देखी जा सकती हैं। दूसरे शब्दोंमें हम यह देखते हैं कि द्रव्य अपने आरोहण क्रममें इन तत्त्वोंमेंसे प्रत्येकको आधार बनाता है और इनमेंसे प्रत्येककी विश्वमें विशिष्ट अभिव्यक्तिके लिए अपने आपको प्रत्येकके स्वभावके अनुरूप क्रमपूर्वक वाहन बनाता है।

यहां भूलोकमें सब कुछ भौतिक द्रव्यपर प्रतिष्ठित होता है। इन्द्रिय, प्राण, विचार इन सबका आधार वह होता है जिसे प्राचीन ऋषियोंने पृथ्वी कहा है। इन्द्रिय प्राण और मन इससे ही प्रारंभ होते हैं, इसके धर्मों (नियमों) का पालन करते हैं, इस मूलभूत तत्त्वके अनुकूल अपनी क्रियाओंको करते हैं, अपने आपको इसकी संभावनाके भीतर सीमित करते हैं; और यदि ये दूसरी संभावनाओंको अभिव्यक्त करते हैं तो उस अभिव्यक्तिमें मूल तत्त्वको, इसके उद्देश्यको और दिव्य विकाससे इसकी मांगको सामने रखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्रियां शारीरिक अंगों (इन्द्रिय गोलकों) के द्वारा कर्म करती हैं और प्राण शारी-

रिक नाडी-संस्थान एवं दूसरे प्राणिक अंगोंके द्वारा कर्म करता है; मनको भी अपना सम्पूर्ण कार्य उस शारीरिक आधार पर ही करना होता है और यहांतक कि उसकी शुद्ध क्रियाओंको भी इस प्रकार प्राप्त हुए तथ्योंको क्षेत्र और उपादान बनाना पडता है। मन, इन्द्रिय और प्राणका जो शुद्ध स्वरूप है उसमें कोई ऐसी आवश्यकता नहीं है कि ये इस प्रकार परिच्छिन्न हों; कारण शारीरिक इन्द्रियां इन्द्रिय-प्रत्यक्षोंकी सृष्टि करनेवाली नहीं हैं अपितु स्वयं विश्व-इन्द्रियकी सृष्टि, उसके उपकरण और यहां आवश्यक साधन हैं। नाडी-संस्थान और प्राणिक अंग प्राणकी क्रिया और प्रतिक्रियाके स्रष्टा नहीं हैं अपितु वे स्वयं ही विश्व-प्राणकी सृष्टि, उसके उपकरण और यहां आवश्यक साधन हैं।

मस्तिष्क विचारका स्रष्टा नहीं है अपितु वह स्वयं ही विश्व मनकी सृष्टि, उसका उपकरण है और यहां उसका आवश्यक साधन है। अतः मन, इन्द्रिय और प्राणके परिच्छिन्न होनेकी जो आवश्यकता है वह निरपेक्ष नहीं है अपितु एक विशेष उद्देश्यको लक्ष्यमें रखते हुए है, यह भौतिक विश्वमें निहित भगवानके एक विश्वसंबंधी संकल्पका परिणाम है, भगवानका संकल्प यहां इन्द्रियां और उनके विषयोंमें दैहिक संबंध स्थापित करना चाहता है; वह चित्शक्तिके भौतिक नियमको यहां स्थापित करता है और इसके द्वारा चेतन-सत्के भौतिक चित्रों (संस्कारों) को उत्पन्न करता है जिससे कि ये, जिस जगत्में हम रहते हैं उसमें, प्रारंभिक, प्रधान और नियामक तथ्य रहें। यह सत्का कोई मूलभूत धर्म नहीं है अपितु रचनात्मक तत्त्व है; इसकी आवश्यकता इस कारण है क्योंकि आत्मा अपने आपको विश्वके रूपमें विकसित करना चाहता है।

द्रव्यकी दूसरी भूमिकामें प्रारंभिक, प्रधान और नियामक तथ्य द्रव्यके रूप और शक्ति नहीं हैं, अपितु प्राण और सचेतन कामना हैं इसलिए इस भौतिक स्तरसे ऊपर जो लोक है वह ऐसा होना चाहिये जो कि सचेतन विश्व-प्राणशक्ति पर प्रतिष्ठित हो, ऐसी शक्तिपर प्रतिष्ठित हो जोकि प्राणमयी स्पृहा, कामना और उनकी अभिव्यक्तिकी शक्ति है, वह लोक उस अचेतन या अवचेतन इच्छापर प्रतिष्ठित नहीं होगा जो कि भौतिक शक्तिका रूप धारण करती है। इस लोकसे समस्त रूप, शरीर, शक्तियां, प्राण-क्रियायें, इन्द्रिय-क्रियायें, मन-क्रियायें, उन्नतियां, परिसमाप्तियां, आत्मपरिपूर्णतायें-सचेतन प्राणके इस प्रारंभिक तथ्यके आधीन और इससे नियत होने चाहिये; भौतिक द्रव्य और मन इस प्राणशक्तिके आधीन होने चाहिये, उससे ही प्रारंभ होने चाहिये, उसपर ही प्रतिष्ठित होने चाहिए, उसके धर्मों (नियमों), शक्तियों, सामर्थ्यों, परिच्छिन्नताओंसे परिच्छिन्न या परिवर्धित होने चाहिए। और यदि मन यहां इनकी अपेक्षा उच्चतर संभावनाओंको अभिव्यक्त करना चाहता है तब भी उसे कामना-शक्तिके मूलभूत प्राणतत्त्वको, उसके उद्देश्य और दिव्य अभिव्यक्तिसे उसकी मांगको सामने रखकर ही वैसा करना पड़ेगा।

प्राणसे उच्चतर भूमिकाओंके विषयमें भी यही बात है। तीसरी क्रम-परम्परामें मन प्रधान और नियामक होना चाहिए। उस लोकका द्रव्य इतना पर्याप्त सूक्ष्म और नमनशील होना चाहिये कि मन साक्षात् जैसे आकार उसे देना चाहे वह वैसे ही धारण कर सके, मनकी क्रियाओंके अनुसार गति करे, मन अपने आपको अभिव्यक्त और परिपूर्ण करनेके लिए उससे जैसी मांगको उसके अपने आपको आधीन कर दे। इन्द्रिय और द्रव्यके संबंधोंमें भी तदनुरूप सूक्ष्मता और कोमलता होनी चाहिये; उन संबंधोंके नियामक शारीरिक अंगोंके भौतिक पदार्थके साथ सन्निकर्ष नहीं होंगे, अपितु जिस सूक्ष्मतर द्रव्यपर मन क्रिया करता है उसके साथ मनके साक्षात् संबंध होंगे। ऐसे लोकका प्राण ऐसे अर्थमें मनका सेवक होगा कि हमारी दुर्बल मानसिक क्रियायें और हमारी परिच्छिन्न, स्थूल और विद्रोही प्राण शक्तियां उसकी यथेष्ट कल्पना नहीं कर सकतीं।

वहां मन मूलतत्त्व होनेके कारण प्रभुत्व करता है, उसका उद्देश्य प्रमुखता रखता है, उसकी मांग दिव्य अभिव्यक्तिके विधानमें दूसरोंसे प्रधान रहती है। इससे ऊंची भूमिका पर विज्ञान या उससे स्पृष्ट कोई मध्यवर्ती तत्त्व अथवा विज्ञानसे भी ऊंचे शुद्ध आनन्द, शुद्ध चित् या शुद्ध सत् मनके बजाय प्रधान तत्त्व होते हैं, प्राचीन वैदिक ऋषियोंने विश्व-सत्ताके इन स्तरोंको ज्योतिर्मय लोक (दिव्य धाम) कहा है और इन्हें अमृतत्वकी प्रतिष्ठा माना जाता था। इन्हें पिछले भारतीय धर्मों (पुराणों) में ब्रह्मलोक या गोलोक कहा गया है। यह सदात्माकी वह उच्चतम आत्माभिव्यक्ति है जिसमें कि जीवात्मा अपनी पूर्ण सिद्ध मुक्त अवस्थाको प्राप्त होकर सनातन ईश्वरके आनन्त्य और आनन्दको प्राप्त करता है।

भूलोकसे ऊपरके लोकोंका जो यह निरंतर आरोहण करता हुआ अनुभव और दर्शन है उसकी तहमें यह सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण विश्व अनेक तत्त्वोंके मेलसे बना हुआ एक सामंजस्य है, और हमारे साधारण मानव मन और प्राणको जिस सीमित क्षेत्रकी चेतना होती है वहां उसका अन्त नहीं हो जाता। सत्, चेतना, शक्ति, द्रव्य अनेक डंडोंवाली सीढीके समान उतार और चढाव रखते हैं। इस सीढीके समान प्रत्येक डंडेपर सत्का अपना बृहत्तर आत्मविस्तार होता है, चेतनाको अपने क्षेत्र, विशालता और हर्षका व्यापक आभास रहता है; शक्तिमें अधिक तीव्रता, अधिक वेगवती और आनन्दमयी सामर्थ्य होती है; द्रव्य अपने मूलतत्त्वको अधिक सूक्ष्म, नमनशील और हलका करता है। कारण जो जितना अधिक सूक्ष्म होता है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है–और यह कहा जा सकता है कि वह उतने ही अधिक सच्चे रूपमें ठोस होता है। वह स्थूल द्रव्यकी अपेक्षा क्रमबद्ध होता है, उसकी सत्तामें अधिक स्थायित्व होता है, उसके परिणाममें अधिक शक्यता, नमनशीलता और विशालता होती हैं। सत्तारूपी पर्वतके प्रत्येक अधित्यिकापर आरोहण करते समय हमारी चेतना उच्चतर स्तरकी ओर वह लोक अधिक समृद्ध अनुभूत होता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह आरोहण करती हुई क्रमपरम्परा किस प्रकार हमारी भौतिक सत्ताकी संभावनाओंको प्रभावित करती है? यदि चेतनाका प्रत्येक स्तर, सत्ताका प्रत्येक लोक, द्रव्यकी प्रत्येक भूमिका, विश्व शक्तिकी प्रत्येक श्रेणी अपनेसे पूर्ववर्त्ती और अनुवर्त्तीसे सर्वथा विच्छिन्न हो तो वह क्रमपरम्परा हमारे लोककी संभावनाओंको केशमात्र भी प्रभावित नहीं करेगी।

परन्तु सत्य इससे विपरीत है; आत्माकी अभिव्यक्तिरूप यह विश्व एक मिला जुला बाना है और एक तत्त्वकी बनावटमें दूसरे सभी तत्त्व आत्मिक पूर्णके अंगके रूपमें प्रविष्ट रहते हैं। हमारा भूलोक दूसरे सभी तत्त्वोंका परिणाम है; कारण, दूसरे सभी तत्त्व भौतिक विश्वकी रचना करनेके लिए इसके भीतर अवतीर्ण हुए हैं और जिसे हम भौतिक द्रव्य कहते हैं उसका प्रत्येक परमाणु दूसरे समस्त तत्त्वोंको अपने भीतर अव्यक्त रूपमें रखता है। परमाणुके अस्तित्वके प्रत्येक क्षणमें और उसकी क्रियाके प्रत्येक स्पंदनमें दूसरे समस्त तत्त्वोंका कर्म गुप्तरूपमें अन्तर्भूत रहता है। और जैसे भौतिक द्रव्य इस अवतरणमें सबसे अन्तिम पदार्थ है इसी प्रकार वह आरोहणमें सबसे पहला पदार्थ है और जैसे इन समस्त स्तरों, लोकों, श्रेणियों, भूमिकाओंकी शक्तियां भौतिक सत्तामें अन्तर्भूत होती हैं, इसी प्रकारके उससे विकसित होनेकी सामर्थ्य भी रखती हैं।

इस लिए भौतिक सत्ताका आदि और अन्त गैसों, रासायनिक योगों, भौतिक शक्तियों एवं क्रियाओंमें और नीहारिकाओं, सूर्यों, पृथ्वियोंमें नहीं हो जाता; वह प्राण और मनको विकसित करती है और अन्तमें वह अतिमनको और आत्म-सत्ता (सच्चिदानन्द) की उच्चतर भूमिकाओंको भी विकसित करेगी। अतिभौतिक स्तरोंसे जब भौतिक स्तर पर निरंतर दबाव पडता है तो इससे इसके भीतर छिपे तत्त्वोंका विकास होता है; यह दबाव भौतिक द्रव्यको विवश करता है कि वह अपने अन्तर्गत तत्त्वों और शक्तियोंको उन्मुक्त करे; इस दबावके बिना वे तत्त्व और शक्तियां संभवतः भौतिक द्रव्यके कठोर बंधनमें सुषुप्त ही पडे रहते हैं—यद्यपि वस्तुतः ऐसा होना असंभव है, कारण उनकी वहां विद्यमानता यह सूचित करती है कि वे उन्मुक्त होनेके लिए ही वहां हैं; *तथापि नीचेसे विकासकी इस आवश्यकताको सजातीय ऊपरी दबावसे सहायता मिलती है।*

यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस समय प्राण, मन, विज्ञान और आत्माका स्वरूप आविर्भाव हो जाय और भौतिक द्रव्यकी शक्ति अनिच्छासे इन उच्च शक्तियोंको स्वीकार करले तो वहीं यह विकास समाप्त हो जाय। कारण जैसे जैसे ये विकसित, जागृत, अधिक सक्रिय और अपनी शक्यताओंके प्रति अधिक लालायित होते जाते हैं वैसे वैसे उनपर ऊंचे स्तरोंका दबाव भी अपनी दृढता, शक्ति और परिणाममें बढता जाता है; यह दबाव उन लोकोंकी सत्ता, उनके घनिष्ठ संबंध और परस्पर आश्रयतामें अन्तर्भूत रहता है। यह भी नहीं है कि ये तत्त्व नीचेसे केवल एक विशिष्ट और परिमित रूपमें ही अपने आपको अभिव्यक्त करें; इन्हें ऊपरसे अपनी नैसर्गिक शक्ति और अपनी पूर्णतया संभव प्रस्फुटित अवस्थामें भौतिक सत्तामें अवतीर्ण होना चाहिये। भूलोकके प्राणीको भौतिक द्रव्यमें उनकी अधिकाधिक विशाल क्रियाके प्रति अपने आपको खोलना चाहिये; इस कार्यके लिये आवश्यकता है केवल उपयुक्त पात्र, माध्यम,

उपकरण। यह सब कुछ मनुष्यके शरीर प्राण और चेतनामें प्रदान किया गया है।

यदि मानव शरीर, प्राण और चेतना स्थूल शरीरकी संभावनाओंतक ही सीमित रहनेवाले हों, और ये संभावनायें उतनी ही हों जितनी कि हमारी शारीरिक इन्द्रियां और हमारा शारीरिक मन स्वीकार करते है तो यह इस विकासका बहुत ही संकुचित रूप होगा; इसका यह अर्थ होगा कि मनुष्यने अभीतक जो कुछ प्राप्त किया है वह उससे कुछ भी मूलतः महत्तर वस्तु नहीं प्राप्त कर सकेगा। परन्तु प्राचीन गुह्य विद्याने आविष्कृत किया है कि हमारा यह शरीर हमारी शारीरिक सत्ताका भी पूर्ण रूप नहीं है; यह स्थूल घनता हमारे द्रव्यका पूरा स्वरूप नहीं है।

प्राचीनतम वेदान्तने कहा है कि हमारे आत्माकी पांच भूमिकायें होती हैं— अन्नमय (भौतिक), प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय; आत्माकी इन भूमिकाओंमेंसे प्रत्येकके अनुरूप हमारे द्रव्यकी भूमिका होती है जिसे प्राचीन आलंकारिक भाषामें कोष कहा गया है। इसके पीछे आनेवाले मनोविज्ञानने यह आविष्कार किया है कि हमारे द्रव्यके ये पांच कोष हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंके उपपादन हैं; हमारा अन्तरात्मा (पुरुष) इन तीनोंमें वस्तुतः और एक साथ निवास करता है यद्यपि यहां और अब हम स्थूल रूपमें केवल भौतिक शरीरकी ही चेतना रखते हैं।

परन्तु जिस प्रकार हमें स्थूल शरीरकी चेतना है इसी प्रकार दूसरे शरीरोंकी चेतना रखना भी संभव है; ऐसा करना वस्तुतः इनके बीचसे पर्देको हटाना है और इसके परिणामस्वरूप हमारे अन्नमय (भौतिक) मनोमय और विज्ञानमय पुरुषों (व्यक्तित्वों) के मध्यसे पर्देको हटाना है; इस मध्यवर्ती पर्देके निराकरणके परिणामस्वरूप ही वे चैत्य और गुह्य घटनायें होती हैं जिनकी अब अधिकाधिक परीक्षा होने लगी है, यद्यपि वह परीक्षा अभी बहुत कम और अत्यधिक मंद रूपमें ही है चाहे उन्हें जितना भी बढा चढाकर क्यों न कहा जाय। भारतके प्राचीन हठयोगियों और तान्त्रिकोंने उच्च मानव प्राण और शरीरसे संबंध रखने वाले इस विषयको बहुत पहले विज्ञानका रूप दे दिया था। उन्होंने यह आविष्कार किया था कि स्थूल देहके भीतर प्राणके छप चक्र (नाडीकेन्द्र) हैं और ये चक्र सूक्ष्म देहमें प्राण और मनकी शक्तिसे छपचक्रोंके अनुरूप हैं; उन्होंने ऐसे सूक्ष्म दैहिक अभ्यासोंको भी खोजा है कि जिनके द्वारा ये चक्र जो कि इस समय बंद हैं खोले जा सकते हैं, हमारी सूक्ष्म सत्ताके अनुरूप उच्च आत्मिक जीवनमें मनुष्य प्रवेश कर सकता है और विज्ञानमयी और आनन्दमयी सत्ता (पुरुष) के अनुभवमें जो शरीर और प्राणने बाधायें उपस्थित होती हैं उनका विनाश किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि हठयोगियोंने अपने अभ्यासोंका एक मुख्य फल, जो कि अनेक रूपोंमें प्रमाणसिद्ध हो चुका है। देहस्थ प्राणको अपने वशमें करना बतलाया है; प्राणके वशमें हो जानेसे वे कुछ ऐसे साधारण चिर-अभ्यासों अथवा नियमोंसे मुक्त हो जाते हैं जिन्हें कि शरीर विज्ञानवाले शारीरिक जीवनके लिए अनिवार्य मानते हैं।

प्राचीन मनो-दैहिक विज्ञानके इन समस्त रूपोंके मूलमें हमारी सत्ताका एक महान् तथ्य और नियम विद्यमान है; वह यह है कि इस भौतिक विकासमें हमारी सत्ताके रूप, चेतना और शक्तिकी चाहे जैसी भी स्वल्पकालीन स्थिति क्यों न हो, उसके पीछे एक ऐसी महत्तर, सत्यतर सत्ता रहनी चाहिये और है भी कि जिसका यह केवल बाह्य परिणाम और शरीर द्वारा संवेदनाई रूप है। हमारे द्रव्यका अन्त भौतिक शरीरतक नहीं हो जाता, यह शरीर तो केवल हमारे लिए पार्थिव आधार भौतिक प्रारंभ-बिन्दु है।

हम जानते ही हैं कि हमारे जागृत मनकी तहमें चेतनाकी बृहत्तर भूमिकायें हैं, जो कि उसके लिए अवचेतन और अतिचेतन हैं और जिनका हमें कभी कभी असाधारण अवस्थामें अनुभव होता है; इसी प्रकार हमारे स्थूल शरीरकी तहमें द्रव्यकी दूसरी और सूक्ष्म भूमिकायें हैं जिनका नियम सूक्ष्म है, जिनकी शक्तियां महत्तर हैं और जो स्थूल शरीरका आधार हैं और जब हम द्रव्यकी इन सूक्ष्म भूमिकाओंसे संबंध रखनेवाली चेतनाकी भूमिकाओंमें प्रवेश कर लेते हैं तो द्रव्यकी सूक्ष्म भूमिकाओंके उस नियम और शक्तिकी क्रिया हमारे स्थूल शारीरिक द्रव्यपर भी कराई जा सकती है; तब हमारे वर्तमान दैहिक प्राण, अन्तर्वेगों और चिर-अभ्यासोंकी स्थूलता और परिच्छिन्नताके स्थानपर उन भूमिकाओंकी शुद्धतर, उच्चतर, तीव्रतर अवस्थाओंको लाया जा सकता है। ऐसी अवस्थामें एक श्रेष्ठ शरीरका विकास केवल स्वप्न और असंभव कल्पना नहीं रह जाता जो कि पाशव जन्म, जीवन और मरणकी साधारण अवस्थाओंसे परिच्छिन्न न हो, कठिन भरण-पोषण, अव्यवस्था एवं रोगके

बंधनमें न हो और दरिद्र और अतृप्त प्राणिक तृष्णाओंके आधीन न हो; तब तो ऐसे शरीरका विकास एक ऐसी संभावना हो जाता है कि जिसका आधार ऐसा युक्तियुक्त दार्शनिक सत्य होता है जो कि इस सबके अनुकूल है जो कि हमने अभीतक अपनी सत्ताके स्पष्ट और प्रच्छन्न सत्यके विषयमें जाना, अनुभव किया या विचारा है।

यह होना युक्तियुक्त है भी; कारण हमारी सत्ताके तत्त्वोंकी जो निरवच्छिन्न क्रमपरम्परा है और उनका जो घनिष्ठ संबंध है वह इस बातको स्पष्ट प्रमाणित करता है कि जब कि दूसरे समस्त तत्त्व दिव्य मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं तो एक उनसे विच्छिन्न नहीं पड़ा रह सकता। मनुष्यके भौतिक भूमिकासे विज्ञानमयी भूमिकामें आरोहणसे यह संभावना खुल जाती है कि विज्ञानमयी सत्ताके उपयुक्त जो विज्ञानमय या कारण शरीर है उसके अनुरूप द्रव्यकी भूमिकाओंमें भी आरोहण हो, और विज्ञानके द्वारा निम्न तत्त्वोंपर विजय और उनकी दिव्य प्राण और दिव्य मनमें मुक्तिके साथ साथ यह भी संभव होना चाहिए कि विज्ञानमय द्रव्यके तत्त्व और शक्तिकी हमारी शारीरिक द्रव्यकी परिच्छिन्नतापर विजय हो। इसका अर्थ केवल ऐसा विकास नहीं है कि जिसमें चेतना निर्बाध हो, मन और इन्द्रियां शारीरिक अहंकारकी दिवारोंमें बंद न हों अथवा शारीरिक इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञान रूप दरिद्र आधारमें सीमित न हों; इसका अर्थ है ऐसा विकास जिसमें प्राण अपनी मृत्युकारी परिच्छिन्नताओंसे अधिकाधिक मुक्त हो, शरीर भगवान्‌के निवासका उपयुक्त मन्दिर (निवास स्थान) हो; प्राण और देहकी इस अवस्थाका यह अर्थ नहीं है कि हमारी वर्त्तमान देहमें आसक्ति न हो या इसकी बाधा न हो अपितु यह कि हमारा देह भौतिक देहके नियमसे अतीत हो— मृत्यु पर विजय हो, पार्थिव अमरता हो।

कारण अमृतका प्रभु अपने दिव्य आनन्दसे, उस आनन्दरूपी मधुको, सोमरसको मनोमय सप्राण द्रव्यके इन घड़ोंमें डालता हुआ आ रहा है, द्रव्यके इन कोषोंमें प्रवेश कर रहा है जिससे कि वह सत्ता और प्रकृतिका पूर्ण रूपान्तर साधित करे। (क्रमशः)

अनु०- केशवदेवजी आचार्य

भारतीय सेना, युद्धकला व पद्धति

(लेखक— श्री शिवराज सिंहजी)

महाभारत कालमें भारतकी सैन्यव्यवस्था बहुत उन्नत अवस्थाको पहुंच चुकी थी। युद्धके प्रकार बहुत सुधरे और सभ्य मनुष्योंके से हुआ करते थे। आजके राष्ट्र जिस प्रकार युद्धमें क्रूरता पाशविकता और विनाशके बर्बर ढंग अपनाते हैं इसको रोकनेके लिये युद्धके निश्चित नियम हुआ करते थे। इन नियमोंका युद्धमें उल्लंघन करनेवालोंको असभ्य दानव दस्यु अनार्य आदि अनादर सूचक नाम दिये जाते थे। समाजमें इस प्रकारके लोगोंको सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता था। आर्यसाहित्यमें इसीलिये आर्य और दस्यु संघर्षकी बहुत कहानियां और विवरण पाए जाते हैं।

युद्ध होनेसे पूर्व कौरव पाण्डव दोनों पक्षोंने युद्धके धर्मकी स्थापना की इसका भविष्य पर्वमें सुन्दर वर्णन है।

(१) युद्धके प्रारम्भ और समाप्त होने पर परस्पर हमारी प्रीति ही रहे। उस समय अपने प्रतिपक्षीके साथ उचित और यथायोग्य ही व्यवहार होना चाहिये। आपसमें एक दूसरेको छलना ठीक नहीं।

(२) वाणीसे युद्ध हो तो उत्तर भी वाणीसे ही दिया जाना चाहिये शस्त्र आदिसे नहीं।

(३) सेनासे युद्ध छोडकर भागे हुओंको नहीं मारना चाहिये।

(४) रथी रथीसे, गजारोही गजारोहीसे, घुडसवार घुडसवारसे, पदाति पदातिसे यथोचित रूपमें यथेच्छ उत्साह और बलसे युद्ध करे।

(५) प्रहार करनेसे पहले बतलाकर प्रहार करना चाहिये विश्वास दिलाकर तथा घबराहटमें डालकर प्रहार नहीं किया जाए।

(६) किसीके साथ युद्धमें लगे हुये को युद्धसे पीठ दिखानेवालेको निःशस्त्र और निष्कवचको नहीं मारना चाहिये। घोडों, घोडोंके सारथियों, तथा शस्त्रादि बनाकर देनेवालों या शस्त्रोंको उठाकर लानेवाले नौकरोंको न मारना चाहिये। प्रतिपक्षीके शांख भेरि मृदंग आदि बाजे न तोडने चाहिये।

सेनाके ४ विभाग हुआ करते थे। पदाति (पैदल) (फौज Armforce) अश्व (रिसाला Cavalary) गज (हाथियोंका दस्ता) रथ (जिसमें अनेक प्रकारके वाहनोंका समावेश होता था) इसीलिये सेनाको चतुरंगिणी कहा जाता था। जिसमें ४ प्रकारका सैन्य दल हो।

आज तो केवल ३ ही शक्तियां रह गई हैं। हाथी इतनी संख्यामें नहीं मिलते कि उनका सेनामें उपयोग किया जा सके। नहीं उनसे काम लेनेकी विद्याका ज्ञान रह गया है। हाथी सेनाके लिये कितना उपयोगी है और उसका महत्व कितना है यह इतिहासकी प्रसिद्ध घटना सिकन्दरकी पराजयसे प्रकट है।

चन्द्रगुप्तकी सेनाकी शक्तिसे टक्कर लेनेसे पहले ही पुरुने हाथी सेनाके बलपर ही सिकन्दरके सिपाहियोंको इतना भयभीत कर दिया था कि वे लडनेका साहस ही नहीं कर सके। हाथी सेनाका युद्ध इतना भयंकर और विचित्र होता है कि विदेशियों ने इस भयसे भारतपर आक्रमण करनेका साहस ही नहीं किया था। सैल्यूकसने चन्द्रगुप्तको अपनी कन्याका विवाह कर पुरस्कारमें ५०० हाथी दिये थे।

फौजें नियमित व्यवस्थित और स्थायी रहा करती थी। उन्हें समय पर वेतन और राशन मिला करता था।

समयपर वेतन

महाभारत सभा पर्वमें नारदजीने युधिष्ठरसे एक प्रश्न किया है:—

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्
संप्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि।

अर्थात्:— सिपाहीको समयपर वेतन और राशन मिलना चाहिये अन्यथा सेनामें अव्यवस्था फैल जानेसे राजाको हानि होगी।

पैंशन

युधिष्ठरसे एक दूसरी महत्वपूर्ण बात नारदजीने कहीः-

कच्चिद्दारान् मनुष्याणां युद्धार्थे मृत्यु मीयुषाम्
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभम्।

अर्थात:— महाराज ! आपके राज्यकी रक्षाके लिये युद्धमें प्राण त्याग करनेवाले सैनिकोंके परिवारके भरण पोषणकी व्यवस्था आप करते हैं या नहीं ? इस प्रकार पेंशनके नियम बनाए गये ।

फौजोंका संगठन

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा
ततः सहस्राधिपतिं कुर्यात् शूरमतंद्रितम् ।

सेनाकी चारों शक्तियों (Forces) में सचालनके लिये सगठन इस प्रकार किया जाए कि प्रत्येक १० पर एक अधिकारी फिर १०×१० = १०० पर एक अधिकारी और १०×१०० = १०००पर एक उच्चाधिकारी । इस उच्चाधिकारीका सीधा सम्मान और सम्पर्क राजासे होना चाहिये ।

कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वे युद्धविशारदाः
धृष्टा वदाता विक्रांताः त्वया सत्कृत्य मानिताः ।

राजाको अपनी सेनाके उच्चाधिकारीका पूरी तरह सम्मान करना चाहिये ।

सेनापतिके गुणोंके सम्बन्धमें जहां आज केवल शारीरिक व बौद्धिक योग्यता देखी जाती है वहां उस समय ऐसे उत्तरदायित्वके पदपर जिन लोगोंको नियुक्त किया जाता था उनमें धय, शूरवीरता, बुद्धिमत्ता, शुचिता, अनुशासन, अपने विषयमें प्रवीणता तथा मुख्य वस्तु कुलीनता भी देखी जाती थी । अकुलीन व्यक्तियोंको महत्वके पद नहीं दिये जाते थे । यह अधिकारी व्यूह यन्त्र और आयुध की विद्याओंके जाननेवाले होते थे । उनमें ग्रीष्म, शीत वर्षाको सहन करनेकी शक्ति होना आवश्यक थी ।

सेनाके इन चार विभागोंके अतिरिक्त सेनाके चार विभाग और होते थ जिन्हे वष्टि (Transport) नौका (Navy) जासूस (Inteligence) और देशिक (Scout) कहा जाता था ।

रथा नागा हयाश्चैव पदाताश्चैव पाण्डव
विष्टि नविश्चराश्चैव दशिका इति चाष्टमः
महा० शान्ति अ० २५

पैदल सेनाके पास ढाल तलवारके अतिरिक्त प्राम (भाला), परशु कुल्हाड़ी (भिंडीपाल), तोमर ऋष्टि और शुल्क नामके हथियार भी होते थे । यह हथियार किस प्रकारके होते थे, शस्त्रविद्याके ग्रन्थोंका अभाव हो जानेसे इनका ठीक ठीक प्रयोग आज बताना कठीन है । परन्तु निश्चय ही तोमर ऋष्टी और शुल्क बारूदसे चलनेवाले आयुध (हथियार) थे । हथियारोंके नाम अधिकारियोंके नाम पर रखनेकी परम्परा पुरानी है जिससे सर्व साधारण जनता इन हथियारोंको बना कर उनका दुरुपयोग न करने लगे । आज भी बन्दूकें रायफलें बनानेका अधिकार व उसका ज्ञान सामुान्यतया प्रत्येकको नहीं दिया जाता । राज्यकी ओरसे प्रमाणित कारखानों और विशेष व्यक्तियोंको ही दिया जा सकता है । हथियार बनानेकी शिक्षा जनताके स्कूल कोलेजोंमें नहीं दी जा सकती है । केवल सेनामें नियुक्त होनेवाले सिपाहियों, अधिकारियोंको ही, राज्यद्वारा इसी शिक्षाके लिये खोले गये शिक्षणालयों व यन्त्र निर्माण करनेवाले कारखानोंमें दे दी जाती हैं । वहां भी इनके रहस्योंको गुप्त रखनेकी विशेष व्यवस्था होती है । (Ordanence factories) अस्त्रनिर्माणालयोंके बड़े कड़े नियम होते हैं । उनकी गोपनीयता (Secracy) को न रखनेवाले दण्डभागी होते हैं ।

अस्त्रोंके उपयोगके लिये कड़े कानून बने होते हैं । शासकोंपर भी वे समान लागू होते हैं । एक बार द्रोणाचार्यने क्रोधमें आकर अस्त्रका दुरुपयोग कर डाला तो उन्हे भी अपयशका भागी होना, पड़ा ।

ब्रह्मास्त्रेण त्वया दग्धा अनस्त्रास्त नराभुवि:
यदेतदीदृशं कर्म कृतं विप्र न साधु तत्
(द्रोण पर्व)

धनुर्विद्या मानवी विद्या मानी जाती थी वह अभ्यासकी वस्तु थी । अर्जुनको इसके लिये रातदिन अभ्यास करना पड़ा था । परन्तु अस्त्रविद्याको अधिकारी गुरु (व्रत पारायण-आजकी भाषामें licenced) से ही सीखा जा सकता था । शंकरने एक क्षणमें ही पाशुपतास्त्रकी उपयोगविधि अर्जुनको बता दी थी । इस विद्याको दैवी विद्या इसलिये माना जाता था क्योंकि इस विद्याके लिये प्रत्येकको दिव्य गुणोंका धारण करना आवश्यक था । यह अनधिकारी और कुपात्रको नहीं दी जा सकती थी । इन नियमोंको प्राचीन आचार्योंने धर्मका रूप दिया या जिसका उल्लंघन अपराध पाप माना जाता था । इसी भावको

निरुक्तमें यास्काचार्यने अपने शब्दोंमें इस प्रकार वर्णन किया है —

> विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

दूसरोंको हानि पहुंचानेवाले कुटिल तथा केवल पेटके लिये परिश्रमशील कुपात्रको विद्या नहीं देनी चाहिये। यदि इस मर्यादाका नियमित पालन होगा तो विद्या संसार को सुखी व सम्पन्न बना सकेगी। और यदि ऐसे लोगोंको दी जाने लगी तो विद्याकी उपयोगिता अवश्य नष्ट हो जाएगी। अस्त्र दिव्य विद्याका विषय है। इसे प्राप्त करनेका अधिकार सदाचारी, परोपकार रत तथा त्यागी, जितेन्द्रिय उत्तम पुरुषोंको ही प्राप्त होता है।

उस समय युद्धोंमें जो अस्त्र प्रयोग होते थे उसमें आधुनिक यन्त्रों जैसे और उनसे भी अधिक प्रभावशाली अस्त्र होते थे। जैसे भीष्मने बाणोंसे शतघ्नी (तोपों) को मर्दन किया। भीष्म पर्व अ० १७, इस लेखका तात्पर्य स्पष्ट है कि जो बाण तोपोंके प्रहारको नष्ट कर दे वे सामान्य लोहेके न होंगे।

कर्णीशर और नालिकास्त्रका प्रयोग स्थान स्थान पर आता है यह मशीन व बन्दूक जैसे अस्त्र हैं। भीष्म पर्व १०७, अशनिअस्त्रमें १ मनका गोला डाला जाता था उसके नीचे चक्र लगे रहते थे। गोले वायुमें फूटते थे उससे बादलोंकी गडगडाहटसा घोर नाद होता था वे बडा धक्का पहुंचाते थे। वन पर्व अ० ४२

द्रोणपर्वमें नारायण अस्त्रका वर्णन है। पहले अगले भागोंसे जलते हुये बाण प्रगट हुये और सारी दिशाओंमें फैले। उसके पश्चात् तारोंकी तरह दीप्यमान संसिके चमकते हुये गोले निकले। फिर चार चक्रोंवाले विचित्र प्रकारकी तोपें, बडे बडे गोले और ऐसे चक्र जिनकी धारायें छुरेके समान तेज थी प्रकट हुई। वे ज्यों ज्यों बढने गये त्यों त्यों यह अस्त्र (नारायण) भी बढता गया। इससे शत्रुसेनाके सैनिक ऐसे मारे गये जैसे उन्हें अग्निने भून दिया है। वनपर्वमें आता है:—

कुबेरने अन्तर्धानास्त्र अर्जुनको दिया। यह शत्रुसेनामें ऐसी नींद ला देता जिससे शत्रु मारे जाते हैं।

वैदिककालमें योग्यतम व्यक्ति ही

राजा चुना जाता था

[लेखक— श्री सुरेशचन्द्र, वेदालंकार, एम्. ए., गोरखपुर]

कोई भी मनुष्य समाज, राजा अथवा किसी अन्य प्रकारकी व्यवस्था राजसस्थाके बिना नहीं रह सकती। शत्रुओंसे अपने जान मालकी रक्षा करना, अपने देशके निवासियोंकी सुख समृद्धिके लिये प्रयत्न करना आदि कार्योंके लिये प्रजा किसीको अधिकार और शक्ति देकर उसे अपना शासक नियुक्त करती है। वास्तवमें राजाका कार्य प्रजाकी रक्षा एवं वृद्धि करना है। आज हम अपने प्रस्तुत लेखमें यह बतानेका प्रयत्न करेंगे कि पुराने समयमें राजाकी नियुक्ति प्रजा द्वारा होती थी और वह प्रजाकी भलाईके लिये ही नियुक्त किया जाता था।

राजाका राज्याभिषेक किया जाता था। राज्याभिषेकके समय वह कहता था कि ' योगक्षेमं व आदाय अहं भूयाम-मुत्तमः ' ऋ० १०।१६६ अर्थात्— हे प्रजाजनों! तुम्हारा अन्न खाता हुआ मैं अपने कामको श्रेष्ठतासे निभा सकूं। राजाका योगक्षेम प्रजाके हाथमें समझा जाता था न कि प्रजाका योगक्षेम राजाके हाथमें राजनीतिज्ञ चाणक्य लिखता है " जिसकी लाठी उसकी भैंस " इस सिद्धान्तका भयंकर रूप जब दिखाई देने लगा तो उस समय सब प्रजा मिलकर मनुके पास गई और बोली कि हम आपको अपना रक्षक बनाना चाहते हैं। आप राजा बनकर हमारी रक्षा कीजिये और उसके बदलेमें हमारी आयका छठा भाग लीजिये। इस सबका यह अभिप्राय है कि राजा प्रजाका स्वामी नहीं था बल्कि वह प्रजाका सेवक था।

वैदिक कालमें योग्यतम पुरुषको ही राजा चुना जाता था। राजा बननेके लिये राजकुलमें उत्पन्न होना कोई आवश्यक शर्त नहीं थी। राष्ट्रमें सर्वश्रेष्ठ पुरुष ही प्रजाकी अनुमतिसे राजसिंहासन पर बैठाया जाता था। ऋग्वेदमें एक मन्त्र आया है —

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्।

ऋ०।१०।१६६।

अर्थात्—मैं समान देशीय पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ हूँ। विरोधियोंके आक्रमणको सहनेवाला हूँ तथा शत्रुओंको मार भगानेवाला हूँ, इसलिये मुझे आप राजा बनाकर मेरा अभिषेक कीजिये। राज्य भार उठानेके लिये योग्यतम पुरुष हो उसको राज्य पदके लिये चुननेकी आज्ञा देता हुआ यजुर्वेदमें एक मन्त्र नवें अध्यायका ४० वां है। वह कहता है: —

असपत्नं सुवध्वम् महते क्षत्राय, महते ज्ये-
ष्ठाय महते ज्ञानराज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुमुष्य पुत्रं अमुष्यै पुत्रं अस्यै विश एष
वोऽमी राजा। यजुर्वेद० ९।४०।

अर्थात् जिसका विरोधी कोई न हो और सारा राष्ट्र जिसके पक्षमें हो ऐसे पुरुषको बडे भारी विस्तृत राज्यकी अभिवृद्धि, कीर्ति और ऐश्वर्य बढानेके लिये चुनो और सब लोग कहें कि अमुक पिता और अमुक माताके पुत्रको हम राजा बनाते हैं।

राजाको चुननेका उपदेश देते हुए वेद भगवान मनुष्योंको कहते हैं.—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयन्ते
राड्यन्तासिऽयमनो ध्रुवोऽसि धरुण। कृष्यै
त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

यजु० ९।२२

प्रजाके नेता कहते हैं " हे मातृभूमि तुझे नमस्कार है, हे राजन् तू हमारी मातृभूमिका नियन्ता और धारण करनेवाला है तुझको हम इसकी कृषिको प्रफुल्लित करनेके लिये उनको सम्पत्तिकी रक्षाके लिये और उनके पालन पोषणके लिये राजा बनाते हैं। फिर वे कहते हैं—

वार्त्रहत्याय शवसे इन्द्र त्वा वर्त्तयामसि।

यजुर्वेद १८।६९

अर्थातः— शत्रुओंसे देशकी रक्षाके लिये तुझे राजा बनाते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि देशकी कृषि, देशका आनन्द, देशका धन, देशका पालन पोषण तथा शत्रुओंसे देशकी रक्षा करनेका भार जो व्यक्ति अपने ऊपर लेनेके योग्य होता था उसको सारी प्रजा मिलकर राजा बनाती

थी। राजाभी यह समझता था कि राष्ट्र उसकी सम्पत्ति नहीं है, राष्ट्र प्रजाका अपना है इस लिये सिंहासनके समय राजा प्रजासे राष्ट्र मांगता था। यजुर्वेदके १०।४ में मन्त्र आया है।

सूर्यत्वचसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।
... ...
विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त।

अर्थात् सूर्यके समान तेजस्वी प्रजा पुरुषो! राष्ट्रका दान आपका अधिकार है आप मुझको राष्ट्र दीजिये आप सबको आनन्द देनेवाले, गौ आदि पशुओंकी रक्षा करनेवाले, बलशाली, समस्त जीवमात्रकी रक्षा करनेवाले हैं। 'आप मुझे राष्ट्र दीजिये' इसका यह स्पष्ट मतलब है कि राष्ट्रको राजा प्रजाकी सम्पत्ति समझता था।

एक मन्त्र वेदमें और आया है, जिससे प्रजा राजाको राष्ट्र देती थी यह स्पष्ट होता है:—

"सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे। यजु०९।२६

अर्थातः- प्रजाओंके प्रति शान्तिसे बर्तनेवाले और शत्रुओंके प्रति अग्निके समान क्रोध दिखानेवाले वीर पुरुषको हम राजा बनाते हैं।

अथर्ववेदके एक मन्त्रके आधार पर राजाको राज्य सौंपते हुए पुरोहित कहता है:—

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशोह्वयन्तु उपसद्यो नमस्योभवेह। अथर्व० ३।४।१

सारी दिशाओं प्रदिशाओंकी प्रजाएं तुम्हें राजा चुनें। राष्ट्रका तू मुखिया है। राष्ट्रके शिखर पर तू विराजमान होकर हम सबको धन धान्यसे अलंकृत कर।

यह तो हुए वैदिक प्रमाण जिनसे प्रजाद्वारा राजा चुने जानेका विधान है। इतिहास द्वाराभी यह बात सिद्ध होती है। पृथु राजाका इतिहास लिखते हुए वेद व्यासने लिखा है ऋषियों, ब्राह्मणों और प्रजाके मुखियोंने मिलकर पृथुको राजा बना सिंहासन पर बैठाया। इस तरहके अनेकों प्रमाण और उदाहरण दिए जा सकते हैं।

यहां यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा कि स्त्रियां भी राजसिंहासन पर बैठ सकती थीं और उनकोभी राजा चुना जा सकता था। शान्तिपर्वमें व्यास जी कहते हैं "कुमारो नास्ति येषांच कन्यास्तत्राभिषेचय" यदि किसी कुलमें राजकुमार न हो तो, युधिष्ठिरको व्यास भगवान राजसूय यज्ञके समय कहते हैं कि, राजकन्याओंको सिंहासन पर बैठाकर राज्याभिषेक करो।

इसके अतरिक्त प्राचीन कालमें जो राजा, राज्य पानेके बाद प्रजाको सताता था तो उसको च्युत करनेका भी अधिकार प्रजाको था। मनु कहते हैं.

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षत्यनवेक्षया। सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः।

अर्थात् राजा मोहवश होकर राष्ट्रको सताता है वह न केवल राज्यसे ही च्युत कर दिया जाता है परन्तु प्राणोंसे भी विमुक्त कर दिया जाता है।

राजाकी सत्ताको चुनावके बादभी नियन्त्रित रखनेका विधान है। वेदमें अनेक स्थानों पर सभा समितियों द्वारा राज्य करनेका उपदेश है। उस समय राजाकी दो सभायें होती थीं एकका नाम सभा और दूसरीका नाम समिति था। राजा कुछ चुने हुए विद्वानोंके साथ बैठकर विचार करता था इस समूहको सभा कहते थे। किन्तु जिसमें दूर दूर से सर्व साधारण पुरुष आकर एकत्रित होते थे। उसे समिति नामसे पुकारा जाता था। अथर्व वेद सप्तम काण्ड १२ वे सूक्तमें भगवानके उपदेशसे पता लगता है कि इन सभाओंमें बडे बडे विद्वान पितर इकट्ठे होते थे और राजा को राज्य कार्यके लिये शिक्षा देते थे। राजा प्रजाका इन सभाओंकी अवहेलना नहीं कर सकता था। इन सभाओंको नरिष्ठाके नामसे भी पुकारा जाता था।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।

इसी प्रकार दूसरे स्थानपर आया है:-

स विशोऽनुव्यचलत्। तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्। अथर्व० १५।९।२

इस प्रकारका राज्यका शासन राजा करता था, वह प्रजा द्वारा नियुक्त होता था, वा पुरुष दोनों राजा चुने जा सकते थे और सभाओं द्वारा शासन करते थे, अत्याचारी होनेपर उन्हें हटाया भी जा सकता था। ऐसा वैदिक राजाके विषयमें वेदोंमें आदेश है।

मुक्तात्मासे विचार-विनिमय

(लेखक— एक सत्संगी)

प्रश्न- मानसिक स्थितिका शरीरकी स्थितिसे संबन्ध है या नहीं ? शरीर अच्छी होनेपर मनकी स्थिति विकृत देखी जाती है।

उत्तर- मन शरीरका स्वामी है। शरीरको अर्थात् इन्द्रियोंको मनके वशमें रखना ज्ञान है। मनका शरीरके अर्थात् इन्द्रियोंके वशमें होना अज्ञान है। मनका स्पष्ट कर्तव्य है कि वह शरीर रक्षाकी सीमामें रहकर उसकी अर्थात् इन्द्रियोंकी भूख, प्यास, शीत, उष्ण रोग, आघात आदि विपत्तियोंसे त्राण पानेकी मांगोंको पूरा किया करे। इन्हें पूरा करना शरीरकी दासता नहीं है। शरीर तो ज्ञानका साधन है ज्ञानके साधनको सुरक्षित रखना ज्ञानमें ही सम्मिलित है। ज्ञानके साधनका दुरुपयोग करना या उसे नष्ट करना अज्ञान है। रुग्णावस्थामें जो रोगमुक्तिकी इच्छा होती है और उनके उपाय किये जाते हैं यह मनकी विकृत अवस्था नहीं है। यह तो देह धारणके प्रयोजनके अन्तर्गत होनेसे शान्त स्थिति है। शरीरके जीवित रहनेके स्वभावकी अनुकूलता करना देह धारणका उद्देश्य है। जिजीविषा मनुष्यमें स्वभावसे है। जीवन ज्ञानोपभोगका एक महान सुअवसर है। इस दृष्टिसे रोग मोक्षेच्छा और उसके उपाय दोनों शान्त स्थिति हैं। देहका स्वभाव है कि वह रोग कष्टोंकी अनुभूतिको प्रकट करे। इसी प्रकटीकरणसे ही वह रोगोंके उपाय कराता है। इसलिये देहकी रोग कष्टानुभूति भी मनकी अशान्तस्थिति कदापि नहीं है।

प्रश्न- भोजनका मनसे कैसा संबन्ध है ? कहते हैं मनुष्य जैसा भोजन करता है वैसा ही उसका मन बन जाता है। यह उक्ति कहांतक ठीक है ?

उत्तर- भोजनके अनुसार मन बननेकी कल्पनामें भ्रान्ति है। बात सर्वथा विपरीत है। मनुष्य अपनी मानसिक स्थितिके अनुसार भले बुरे भोजन ग्रहण करता है। शुद्ध मन शुद्ध भोजन और अशुद्ध मन अशुद्ध भोजन स्वीकार करता है। इसका अर्थ यह है कि शुद्ध मन जब भोजन ग्रहण करता है तब केवल सदुपायोंसे स्वाभिमानके साथ स्वास्थ्यके अनुकूल भोजन ग्रहण करता है। शुद्ध मनका स्वभाव होता है कि वह अपनी शुद्धताके प्रतिकूल भोजनोंको त्याग देता है। किसी विशेष प्रकारका भोजन करनेसे मनको पवित्र बना सकनेकी कल्पना भ्रान्तिसे पूर्ण है। पाप पुण्योंका निवास स्थान भोजन नहीं है। पाप पुण्योंका निवास और विकास मनमेंसे होता है। भोजन सुधारके साथ स्वास्थ्यका संबन्ध तो है परन्तु उसके साथ मनके सुधारका कोई संबंध नहीं है।

प्रश्न- कोई द्वेषवश या लाभवश या अन्य किसी कारणसे अपना अपकार कर दे उसे क्षमा करना साधुपन है या दण्ड देना उचित है। सन्तोंकी कथाओंमें प्रायः क्षमाकी प्रधानता सब शास्त्रोंमें देखनेको मिलती है। प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है कि शत्रुके साथ शत्रुताका भाव न रखकर मैत्री भाव रखनेसे शत्रुता घट जाती है। और शत्रुताके उत्तरमें शत्रुता करनेसे शत्रुता बढ जाती है। इस संबन्धमें आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर- यह तो मानना पडेगा कि ज्ञानीका शत्रु अज्ञानी ही हो सकता है। अज्ञानी शत्रुको क्षमा करना दुष्टताको प्रोत्साहित करनेवाला होनेके रूपमें घातक भ्रान्ति है। शत्रुको क्षमा करनेकी मनोदशामें उदारताका तो लेश भी नहीं है। मानवीय मनोविज्ञान तो शत्रुको क्षमा करनेकी स्थितिको स्वीकार ही नहीं करता। मानवीय मनोविज्ञानने शत्रुको क्षमा करनेके उदारताके अतिरिक्त बहुतसे कारण खोज निकाले हैं। मनुष्य चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी दोनों हीका स्वभाव शत्रुके अस्तित्वको मिटा डालना है। शत्रुके साथ सह अस्तित्व केवल मुखसे रहनेकी वस्तु तो हो सकती है परन्तु यह जीवित प्राणी मात्रके स्वभावके विरुद्ध है। अज्ञानी अज्ञानीके शत्रुको मिटानेके उपायोंमें भेद होना अनिवार्य है। दोनोंको उपायोंमें दूरगामिता तथा अदूरगामिता तात्कालिकता आदि भेद हो सकते हैं। यह कोई

क्षमा नहीं है कि मनुष्य अपने असामर्थ्यके कारण शत्रुको मिटानेसे निवृत्त रहे। शत्रुको क्षमा करनेसे शत्रुता घट जानेका जिन लोगोंका अनुभव है वे भ्रान्तिमें हैं। ऊपर कहा गया है ज्ञानीका शत्रु अज्ञानी ही होता है। अज्ञानी न तो ज्ञानीका मित्र बनने योग्य होता है और न ज्ञानोचित उदारताका गुणग्राही ही होता है। यह एक ऐसी सचाई है जो स्वतः प्रमाण है। इस सचाईको किन्हीं सन्त नाम धारियोंकी कसौटीपर नहीं परखा जा सकता। हमें तो इसी सत्यकी कसौटीपर व्यक्तियोंको परख करनी है। व्यक्तिकी कसौटीपर सत्यको परखना तो भ्रान्ति है। हमें किसी व्यक्तिकी तुलासे सत्य नहीं तोलना है। अपितु सत्यकी तुलापर व्यक्ति तोलने हैं।

इस संबन्धमें एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शत्रुकी शत्रुताके बदलेमें उसे जिस किसी प्रकार हानि पहुंचाना उसकी शत्रुताका उचित दण्ड नहीं है। जो ज्ञानी का शत्रु है वह सारे ही समाजका शत्रु है। ज्ञानीके शत्रुको यदि किसी विवशताके कारण सामाजिक शक्तिसे दण्डित न किया जा सके तो उससे अपनी ओरसे संबन्धविच्छेद कर देना ही शत्रुको अपने सामर्थ्याधीन दण्ड दे देना है। जब ज्ञानी किसीको दण्ड देता है तब वह क्रोधरिपुके अधीन हो गया नहीं माना जा सकता। ज्ञानीके दण्डदानमें एक तो आत्मसाक्षीकी भावना दूसरे समाजका कल्याण करनेकी बुद्धि काम करती रहती है।

अज्ञानी शत्रुसे समझौता करके उसे क्षमा कर देना ज्ञानीका चरित्र नहीं है। यह तो मूढ चरित्र है। अज्ञानी शत्रुको क्षमा करनेका किसी कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं है। अज्ञानी शत्रुसे समझौता और क्षमा समाजका अकल्याण करनेवाले कापुरुषका स्वभाव है।

यदि ज्ञानियोंकी क्षमाके प्रभावसे अज्ञानियोंकी शत्रुताकी प्रवृत्ति हटनी होती तो अज्ञानी ज्ञानी बन जाया करते। इस प्रकारकी मिथ्या क्षमाका प्रचार करनेवाले धर्मध्वजी लोग या तो गुंडोंके चाटुकार होते हैं या स्वयं दण्डसे बचे रहकर निर्विघ्नतापूर्वक गुंडापन करना चाहनेवाले गुंडे होते हैं।

ज्ञानी लोग अज्ञानियोंकी शत्रुताके पात्र तभी बनते हैं जब वे अज्ञानियोंकी लोभ पूर्तिके विघ्न बनते हैं या जब उन्हें कर्तव्यवश उनकी लोभ पूर्तिका विघ्न बन जाना पडता है। लोभी अज्ञानियोंका ज्ञानियोंकी क्षमाके प्रभावसे ज्ञानी बन जाना संभव नहीं है। जैसे भेडियेको अहिंसाकी दीक्षा नहीं रुचती इसी प्रकार अज्ञानियोंको ज्ञान दीक्षा नहीं सुहाती। जब कि ज्ञानियोंके प्रभावसे अज्ञानियोंके ज्ञानी बन जानेकी कोई निश्चित आशा नहीं है तब ऐसी क्षमाके संदेह युक्त परिणामपर भरोसा करके किसी समाज शत्रुको अपनी ओरसे क्षमा कर देना अज्ञजनोचित अनधिकार है। इस प्रकारकी अनधिकार पूर्वक क्षमा जहां कहीं देखो वहीं समझ जाओ कि इस क्षमामें क्षमाकर्ताकी निर्बलता, कायरता तथा यशोलिप्सा आदि दुर्भावनायें गुप्तरूपसे काम कर रही हैं।

जाति निर्माण

: लेखक :
श्री सर्वजित गौड

किसी देशकी जाति, उसकी भाषा, पहिरन, खानपान और शिष्टाचारसे जानी जाती है। जिस देशके जनसमूहमें ये बातें नहीं मिलती हैं, वहां संस्कृति भिन्न भिन्न होनेसे अनेक जाति होना ही सभव है।

जिस देशमें भिन्न भिन्न जातिका वास होता है वह देश वैभवको प्राप्त नहीं होता। इसीलिए आर्य जातिको वेदने शिक्षा दी है, कि तुम्हारे मन और हृदय पवित्र हों, एक दूसरेका द्वेष करनेवाले न हों। बल्कि ऐसा आपसमें प्रेम हो जैसे नवजात बछडेका अपनी माता गौसे होता है। यह बात तब हो सकती है, जब देशवासियोंकी शिक्षा निमन्त्रणमें एक ही प्रकारकी हो। जहां भिन्न भिन्न प्रकारके विचार हों, देश और जातिका गौरव अपना अपना हो, वहां सदा ही विदेशी जातियां आक्रमणकारी होती हैं और वह देश दासताको प्राप्त होता है। इस प्रकार उस देशके वासी वर्णसंकरता बढकर नाशको प्राप्त होते हैं।

यही दशा भारतकी महाभारतके पश्चात् हुई। यहां यवन आए, मुसलमान आए, फ्रांसीसी आए पुर्तगाल आए अंग्रेज आए। यहांका धन दौलत लूटा। इतिहास, साहित्य नष्ट भ्रष्ट किया। अपनी भाषा फैलाई और आर्य सभ्यताको मिटानेका भरसक प्रयत्न अपने अपने ढंगसे किया और हमें सैंकडों वर्ष दासता भोगनी पडी।

आर्य जातिका ह्रास इसने वैदिक शिक्षाके लुप्त होनेमें हो गया। संस्कृत भाषाके अभावसे वेदशास्त्रोंपर ताला लग गया। हम अपने आपको भूल गए। श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज आए! वेदका नाद बजाया, सोई पडी जातिको जगाया, यवन, मुसलमान और इसाई होनेसे बचाया। स्वराज्य, स्वतन्त्रता, स्वदेशीका प्रचार किया, स्त्री शिक्षाकी ओर ध्यान दिलाया, अछूत उद्धार किया और गौ रक्षाका संदेश दिया। आर्य जातिने इसे अपनाया और भारतमें फलतः आजादीका झंडा लहराया।

इस सारे विवरणका सार यह है कि भारतमें अभी भी दासताके लक्षण हैं और इनको दूर करनेकी परम आवश्यकता है। इसमें संदेह नहीं कि हमारे नेता श्री जवाहर लालजी बडी धुन और तेजीसे इस ओर अपना पूरा ध्यान दे रहे हैं, परन्तु जबतक सब मिलकर ऐसा न करें सफलता कठिन नजर आती है। इस समय हम अपने प्रतिदिनके व्यवहारमें और मेल जोलमें यह देखते हैं कि यहां एक दूसरेसे प्रेम और बराबरीका बर्ताव नहीं है। Superiarity and inferiarty Complex अभी मौजूद है। यह अधिकारमें और विहारमें देखा जाता है। अंग्रेजी लिबास वालेका ज्यादा मान हर जगह होता है। इंग्लिश बोलने और लिखनेवाला बडा आदमी समझा जाता है। देशी लिबासमें अच्छा आदमी भी अदना समझा जाता है और उसके साथ यथायोग्य बर्ताव नहीं किया जाता। पण्डित जवाहरलालजीने यही बात देखकर रुडकीमें कहा था कि जनताको हर बातमें अपने समीप लाना चाहिए। अधिकारियोंमें और आम लोगोंमें कोई भेद नहीं होना चाहिए। यही एक जातिका निशान है।

जाति निर्माणके लिए अच्छे शिक्षक और उत्तम शिक्षाकी जरूरत होती है। इस कार्यको नेता तथा राजा तक हो सके मुफ्त होनो चाहिए। शुरुसे ही बच्चाका मानव धर्मकी शिक्षा दी जाए। भगवानमें विश्वास, सत्य बोलना, चोरी न करना, किसीको न सताना, न्याय करना, दया करना, लालच न करना, तप करना, दान करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, सब प्रकारसे शुद्ध रहना और हर कार्य देश जातिके लाभके लिए करना और नि:स्वार्थ भावसे अपने धर्मका पालन करना आदि नेक बातें पढाना और हर व्यक्तिको उसका फर्ज देश और जातिके प्रति सिखाना मुख्य उद्देश्य शिक्षाका होना चाहिए। यह कार्य सिर्फ ब्राह्मण वर्गको ही देना चाहिए।

धार्मिक शिक्षाके अभावसे ही सरकारी कर्मचारी Carruption, fivouritism, unpotism and gobry के शिकार होनेके कारण अपनी ड्युटी पूरी नहीं निभाते और सरकारको Anti Corruphon Department खोलनेकी जरूरत पड रही है। जिन बच्चोंने आनेवाले समयमें राजकाजकी डोर संभालकर देशको आगे ले जाना है यदि उनको धार्मिक शिक्षा (Duty towards Country and nation) ठीक न दी गई तो कैसे देश वैभवको प्राप्त होगा।

आर्य जाति जिसके पास सृष्टी सम्वत् और उसका इतिहास है, उस जातिको अपने प्राचीन इतिहाससे पूर्ण शिक्षा प्राप्त होनेके कारण उन जातियोंके पीछे नहीं चलना चाहिए जो अभी उन्नतिशील हैं और अनुभव कर रहे हैं। हमारा कल्याण तो वैदिक शिक्षामें ही है। हमें पक्षपात रूढियायत छोडकर देश जातिके लिए कल्याणका मार्ग अख्तियार करना चाहिए। किसी मिशन, पन्थ या जातीको मर्यादासे बाहर बढने देना देश और जातिके लिए घातक है।

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

वैदिक व्याख्यान माला

(ये व्याख्यान क्रमश: छप रहे हैं।)

वेद अनेक विद्याओंका महासागर है। उनमेंसे व्यवहारका दर्शन करानेवाले ये व्याख्यान हैं। आजके उपयोगी विषयोंको अनुभव करके देखिये। आर्योंके सत्सगमें इनको पढकर सुनाइये। सहज ही से वैदिक ज्ञानका प्रचार होगा।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वका सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है ?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया ?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है ?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये त्रिविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।

प्रत्येक पुस्तकका मूल्य छः आने डाकव्यय प्रत्येकके लिये ≈)

१ से १० व्याख्यान सजिल्द	५)	१।)
११ से २० व्याख्यान सजिल्द	५)	१।)

संस्कृत-पाठ-माला

[२४ भाग]

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन करनेसे एक वर्षमें आप स्वयं रामायण-महाभारत समझ सकते हैं।

२४ भागोंका मूल्य	१२)	१।)
प्रत्येक भागका मूल्य	॥)	≈)

संस्कृत पुस्तकें

१ कुमुदिनी चन्द्रः	४)	॥≈)

संस्कृतमें अत्यंत सुबोध भाषामें यह उपन्यास लिखा है। आप पढकर समझ सकते हैं।

२ सूक्ति-सुधा	।-)	-)
३ सुबोध संस्कृत ज्ञानम्	१।)	।)
४ सुबोध संस्कृत व्याकरण। भाग १	॥)	=)
५ सुबोध संस्कृत व्याकरण। भाग २	॥)	=)
६ साहित्य सुधा (पं. मेधाव्रतजी) भाग १	१।)	।)

बालकोंकी धर्मशिक्षा

आप अपने घरके बालकोंको ये धर्मवचन कण्ठस्थ कराइये।

१ प्रथम भाग	≡)	-)
२ द्वितीय भाग	।~)	~
३ वैदिक पाठमाला (तृतीय श्रेणीके लिए)	।-)	~)

अन्य पुस्तकें

१ विजया दशमी (दशहरा)	।।	~)
२ आर्योंका भगवाध्वज	।)	~)
३ गोपगायी नारायण	=।	-)
४ विष्णु सहस्रनाम	१॥)	।~)
५ मंगलमूर्ति गणेश	१॥)	८≡)
६ संध्या उपासना	८=	८-)
७ शतपथ बोधामृत	।=)	-)
८ छूत और अछूत (भाग २ रा)	१)	=)

(भाग १ समाप्त है।)

९ हिन्दी मुसलमानोंके कारनामोंका चिट्ठा	।=)	~)
१० इस्लामके आक्रमणकी जागतिक पार्श्वभूमि	१।)	।~)
११ श्री छत्रपति शिवाजी महाराजका जयसिंहको पत्र	≶)	~)
१२ स्पिनोझा और उसका दर्शन	२)	।-)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

२ मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम् ।
स त्वं सुप्रीतो वीतहव्ये अद्भुत प्रशस्तिभिर्महयसे दिवेदिवे ॥ १०८ ॥

३ स त्वं दक्षस्यावृको वृधो भूरर्यः परस्यान्तरस्य तरुषः ।
रायः सूनो सहसो मर्त्येष्वा छर्दिर्यच्छ वीतहव्याय सप्रथो भरद्वाजाय सप्रथः ॥ १०९ ॥

४ द्युतानं वो अतिथिं स्वर्णरमग्निं होतारं मनुषः स्वध्वरम् ।
विप्रं न द्युक्षवचसं सुवृक्तिभिर्हव्यवाहमरतिं देवमृञ्जसे ॥ ११० ॥

---

[२] (१०८) (वनस्पतौ सुधितं, ईड्यं उर्ध्वशोचिषं) अरणियोंमें अच्छी तरहसे रहनेवाले, स्तुत्य, जिसकी ज्वाला ऊपर जाती है ऐसे (यं मित्रं न भृगवः दधुः) जिस मित्ररूप अग्निको भृगु आदि ऋषियोंने स्थापित किया है। हे (अद्भुत) आश्चर्यकारक अग्नि! (सः त्वं वीतहव्ये सुप्रीतः) वह तू हवि देनेवालेपर सुप्रसन्न हो! (दिवेदिवे प्रशस्तिभिः महयसे) जो प्रतिदिन उत्तम स्तोत्रों द्वारा तुम्हारी महिमा गाता है।

अरणियोंमें रहनेवाले प्रशंसा योग्य उर्ध्वगतिवाले मित्रवत् पूज्य अग्निकी भृगुऋषि स्थापना करते है। हे आश्चर्यकारक अग्नि! तू वीतहव्य ऋषिपर प्रसन्न हो। वह ऋषि प्रतिदिन स्तोत्रोंसे तुम्हारी महिमाका वर्णन करता है।

१ **उर्ध्वशोचिः**— अग्निकी ज्वाला ऊपर जाती है। वैसा उच्च जीवन मनुष्यका होना चाहिये।

२ **वीतहव्य**— जो हवनीय पदार्थ अग्निमें अर्पण करता है। हविका हवन करनेवाला। यह ऋषिका भी नाम है और हवन करनेवालेका भी यहांपर वर्णन करता है।

[३] (१०९) हे अग्नि! (सः अवृकः त्वं दक्षस्य वृधः भूः) वह क्रूरता रहित तू दक्ष मनुष्यका संवर्धन करनेवाला हो। तथा (परस्य अन्तरस्य अर्यः तरुष) दूरके और पासके शत्रुओंसे तारनेवाला हो। हे (सहसः सूनो) बलपुत्र अग्नि! (सप्रथः मर्त्येषु वीतहव्याय भरद्वाजाय) सब प्रकारसे बलवान तू सब मनुष्योंमें हवि देनेवाले (भरद्वाजके लिये) अन्न समर्पण करनेवालेके लिये (रायः छर्दिः आयच्छ) धन और रहने योग्य घर देओ।

१ **सः अवृकः त्वं दक्षस्य वृधः भूः**— तू स्वयं क्रूरता रहित होकर दक्ष मनुष्यको बढानेवाला हो। जो कर्ममें दक्ष होता है उसीकी वृद्धि और उन्नति हो सकती है।

२ **परस्य अन्तरस्य अर्यः तरुषः भूः**— दूरके और समीपके शत्रुओंका नाश करनेवाला हो।

३ **सप्रथः मर्त्येषु वीतहव्याय भरद्वाजाय रायः छर्दिः आयच्छ**— मनुष्योंमें जो हविष्यान्नका हवन करता है और अन्नदान करता है उसको धन और घर दे दो। '**वीत-हव्य**' — हव्यका- अन्नका- हवन करनेवाला, '**भरत्-वाजः**' — भरपूर अन्नका दान करनेवाला। **स-प्रथः**— प्रसिद्ध, सबसे बलिष्ठ, सामर्थ्यवान्।

४ **रायः छर्दिः आयच्छ**— व्यवहारके लिये धन, और रहनेके लिये घर दे दो। हरएक मनुष्यके लिये इतना तो मिलना चाहिये।

मानव धर्म— क्रूरता छोडो और सब कार्य दक्षतासे करो। दूरके और समीपके शत्रुओंका नाश करो। धनका दान करो।

[४] (११०) तू (सुवृक्तिभिः हव्यवाहं देवं) उत्तम स्तुति-द्वारा, हव्यको ले जानेवाले, दिव्य गुणयुक्त (द्युतानं वः अतिथिं स्वर्णरं) दीप्यमान, तुम सबके लिये अतिथिके समान पूज्य स्वर्गको ले जानेवाले (मनुषः होतारं स्वध्वरं विप्रं न द्युक्षवचसं अरतिं) मनुष्योंके यज्ञमें देवोंको बुलानेवाले, उत्तम हिंसा-रहित यज्ञ करनेवाले विद्वान्की तरह कान्तिके निवासभूत (अग्निं ऋञ्जसे) अग्निको- अग्रणीको- प्रसन्न करो।

१ **द्युतानं, अतिथिं, स्वर्णरं, स्वध्वरं, विप्रं द्युक्ष-वचसं अरतिं अग्निं ऋञ्जसे**— तेजस्वी, पूज्य, सुखपूर्ण लोकको देनेवाले, हिंसारहित कर्म करनेवाले, ज्ञानी, तेजस्वी, श्रेष्ठ अग्रणिका सत्कार करो।

५ पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्नुरुच उषसो न भानुना ।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण आ यो घृणे न ततृषाणो अजरः ॥ १११ ॥

६ अग्निमग्निं वः समिधा दुवस्यत प्रियंप्रियं वो अतिथिं गृणीषणि ।
उप वो गीर्भिरमृतं विवासत देवो देवेषु वनते हि वार्यं देवो देवेषु वनते हि नो दुवः ॥ ११२

७ समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम् ।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम् ॥ ११३ ॥

[५] (१११) (यः पावकया चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचे) जो अग्नि पवित्र ज्ञान देनेवाली कान्तिसे भूमिपर प्रकाशता है। (उषसः न भानुना) जैसी उषा अपने प्रकाशसे प्रकाशित होती है और (एतशस्य रणे यामन् तूर्वन् न) एतशके संग्राममें शत्रुका नाश करनेके समय (यः नु आघृणे) अग्नि शीघ्र प्रदीप्त हुआ था। (ततृषाण अजरः) वह भूख और तृषासे पीडित जरारहित अग्नि है। उस अग्निको प्रसन्न करो।

जैसी उषा अपने प्रकाशसे प्रकाशती है, जैसे शत्रुसे युद्ध करनेके समय शत्रुपर विनाशक प्रहार करनेवाला वीर तेजस्वी दीखता है। वैसा यह अग्नि पवित्र ज्ञान देनेवाले तेजसे इस पृथ्वीपर प्रकाशता है। वह अतिशय कर्म करनेसे भूख और प्यासरो पीडित जैसा है उसको हवन द्वारा प्रसन्न कर।

१ पावकया चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचे— पवित्र ज्ञान बढानेवाली कान्तिसे पृथ्वीपर प्रकाशित होते रहो।

२ रणे यामन् तूर्वन् न आघृणे— रणसंग्राममें शत्रुका नाश करनेवाला वीर जैसा प्रकाशता है। वैसा तू शूरवीर बनकर प्रकाशित हो जाओ।

३ ततृषाणः अजरः— कार्य करते करते भूख और प्यास लगे यह शोभाका चिह्न है। वृद्ध अवस्थामें भी जरारहित तरुण जैसा उत्साही हो। मनुष्यको ऐसा बनना चाहिये।

[६] (११२) हे स्तोताओ! (वः प्रियं प्रियं वः अतिथिं गृणीषणि) तुम अत्यन्त प्रिय अतिथिके समान पूज्य, स्तुत्य (अग्निं अग्निं समिधा दुवस्यत) अग्निकी समिधासे सेवा करो। (वः अमृतं गीर्भिः विवासत) वैसे ही तुम मरणरहित अग्निकी वाणी द्वारा सेवा करो। (हि देवेषु देवः वार्यं वनते) क्योंकि देवोंके बीच अग्नि देव ही वरणीय धनको अपने पास रखता है। (हि देवेषु देवः नः दुवः वनते) इस कारण देवोंके बीच अग्नि देव ही - अग्रणी ही- हमारी सेवाको ग्रहण करता है।

१ प्रियं अतिथिं गृणीषणि— प्रिय तथा भ्रमण करके जो जनोंको उत्तम उपदेश देता है उसकी प्रशंसा कर।

२ अमृतं विवासत— जिसके विचार मरियल नहीं हैं उसकी सेवा करो। उत्साही अमर विचारवालेकी प्रशंसा हो।

३ देवः वार्यं वनते— जो दिव्यगुणवाला है वही उत्तम धन अपने पास रखता है।

४ देवः नः दुवः वनते – दिव्यगुणवाला ही हमारी सेवा प्राप्त कर सकता है।

भ्रमण करके उत्तम उपदेश करनेवाले, उत्साही विचारवाले दिव्य नेताकी प्रशंसा करना योग्य है।

[७] (११३) (समिद्धं अग्निं समिधा गिरा गृणे) अच्छी प्रकारसे प्रदीप्त तेजस्वी अग्निकी स्तोत्रों द्वारा मैं स्तुति करता हूँ। (शुचिं पावकं ध्रुवं) शुद्ध सबको पवित्र करनेवाले निश्चल अग्निको (अध्वरे) यज्ञमें मैं स्थापित करता हूँ। (विप्रं होतारं पुरुवारं अद्रुहं) मेधावी होता बहुतों द्वारा प्रशंसनीय, द्रोह न करनेवाले (कविं जातवेदसं सुम्नैः ईमहे) ज्ञानी ज्ञानप्रसारक अग्निकी उत्तम स्तोत्रों द्वारा हम प्रार्थना करते हैं।

प्रदीप्त अग्निकी समिधाके साथ स्तोत्रद्वारा मैं स्तुति करता हूँ। अग्नि स्वयं शुद्ध है और दूसरोंको पवित्र करता है तथा वह स्थिर है। वह ज्ञानी, देवोंको बुलानेवाला, अनेकोंद्वारा प्रशंसित किसीका द्रोह न करनेवाला ज्ञानी ज्ञानप्रसारक है उसकी मैं प्रशंसा करता हूँ।

१ समिद्धं अग्निं गृणे— प्रदीप्त अग्निकी मैं प्रशंसा करता हूँ। जो तेजस्वी नहीं उसकी प्रशंसा करना भी योग्य नहीं।

८ त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम् ।
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे ॥ ११४ ॥
९ विभूषन्नग्न उभयाँ अनु व्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव ॥ ११५ ॥
१० तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चमविद्वांसो विदुष्टरं सपेम ।
स यक्षद्विश्वा वयुनानि विद्वान्प्र हव्यमग्निरमृतेषु वोचत् ॥ ११६ ॥

---

१ शुचिं पावकं ध्रुवं—स्वयं शुद्ध, सर्वत्र पवित्रता करनेवाले शाश्वत नेताकी प्रशंसा होती है। अपवित्र, अशुद्ध, चंचल पुरुषकी कोई प्रशंसा नहीं करता।

२ विप्रं पुरुवारं अद्रुहं कविं जातवेदसं सुम्नैः ईमहे— ज्ञानी प्रशंसनीय, अद्रोही, दूरदर्शी ज्ञानप्रचारककी हम प्रशंसा करते हैं। अनाडी, अप्रशस्त, द्रोही, हिंसक, अदूरदर्शी, ज्ञान विध्वंसककी कोई प्रशंसा नहीं करता।

मानव धर्म— तेजस्वी, शुद्ध, सदाचारी, ज्ञानी, अद्रोही, दूरदर्शी जो होगा वह प्रशंसा योग्य है।

[८] (११४) हे (अग्ने) अग्नि! (देवास च मर्तासः च) देवता और मनुष्य (त्वां दूतं दधिरे) तुझे दूत बनाते हैं। (अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं पायुं ईड्यं) मरणरहित, युगयुगमें हव्य वहन करनेवाले, पालन करनेवाले, स्तवनीय (जागृविं विभु विश्पतिं) जाग्रत सर्वत्र व्याप्त प्रजाओंका पालन करनेवाले (त्वां) तुझ अग्निकी (नमसा) नमस्कार द्वारा (निषेदिरे) सेवा करते हैं।

१ अमृतं पायुं जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे— जो अमर रक्षक, जाग्रत, वैभववान, प्रजाका पालक है, उसको नमन करते है। ऐसे जाग्रत रक्षक प्रजापालककी प्रशंसा करना योग्य है। पर जो मरियल, रक्षा न करनेवाला, आलसी, सुस्त, प्रजाके नाशका हेतु बनेगा उसका सत्कार कोई न करे।

[९] (११५) हे (अग्ने) अग्नि! (उभयान् विभूषन् अनुव्रता) देव और मनुष्योंको विभूषित करके यज्ञादि कर्ममें (देवानां दूतः रजसी समीयसे) देवोंका दूत होकर तू द्यावापृथिवीमें घूमता है। (यत् ते धीतिं सुमतिं आवृणीमहे) हम तेरे उद्देश्यसे कर्म और स्तुति करते हैं। (अध त्रिवरूथः नः शिवः भवस्व) और तीनों संरक्षणोंसे युक्त तू हमको सुखकर हो।

१ उभयान् अनुव्रता विभूषन्— दोनों प्रकारकी प्रजाके अनुकूल आचरण करनेवाला होकर उनको सुभूषित कर। प्रजामें ज्ञानी-अज्ञानी, सबल-निर्बल, शूर-भीरु ऐसे द्विविध लोग होते हैं। इनको सुख प्राप्त होना चाहिये।

२ देवानां दूतः समीयसे—दिव्य गुणवालोंको बुलानेके लिये, ज्ञानीयोंको बुलानेके लिये जाना योग्य है।

३ धीतिं सुमतिं आवृणीमहे— धारणावती बुद्धि, कर्मशक्ति तथा सुमतिका हम अपनेमें धारण करते हैं।

४ त्रिवरूथः शिवः नः भव— तीनों संरक्षणोंसे हमें सुखदायी हो।

शरीर, मन तथा बुद्धिका संरक्षण तीन प्रकारका संरक्षण है। यह तीन प्रकारका संरक्षण होना चाहिये।

[१०] (११६) (अविद्वांसः विदुष्टरं तं) अल्प ज्ञानवाले लोग उस सर्वज्ञ (सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चं) शोभनांग सुन्दर दिखनेवाले गमनशील (सपेम) अग्निकी-अग्रणीकी- परिचर्या करते है। (सः यक्षत्) वह अग्नि यजन करे। (विश्वा वयुनानि विद्वान्) वह संपूर्ण कर्मोंको जाननेवाला (अग्निः अमृतेषु हव्यं प्रवोचत्) अग्नि मरणरहित देवोंके बीच हमारे हव्य पदार्थोंके विषयमें वर्णन करके कहे।

१ अविद्वांसः विदुस्-तरं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चं सपेम— हम अज्ञानी हैं इसलिये हम अत्यन्त ज्ञानी, उत्तम शरीरवाले सुन्दर और प्रगतिशील नेताकी सेवा करते हैं। वह हमें ज्ञान देवें और ज्ञानी बनावें।

२ सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चं— सुन्दर आदर्श प्रगति करनेवाला नेता पूजनीय होता है।

११ तमग्ने पास्युत तं पिपर्षि यस्त आनट्कवये शूर धीतिम् ।
यज्ञस्य वा निशितिं वोदितिं वा तमित्पृणक्षि शवसोत राया ॥ ११७ ॥
१२ त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसावन्नवद्यात् ।
सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री ॥ ११८ ॥
१३ अग्निर्होता गृहपतिः स राजा विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः ।
देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः स प्र यजतामृतावा ॥ ११९ ॥

---

३ **विश्वा वयुनानि विद्वान्—** सब कर्मोंका ज्ञान प्राप्त करे।

मानव धर्म— अज्ञानी ज्ञानीकी सेवा करे और उससे ज्ञान प्राप्त करे। मनुष्य कर्मोंको करनेका उत्तम ज्ञान प्राप्त करे।

[११] (११७) हे (शूर अग्ने) शौर्यवान् अग्नि ! (यः) जो (कवये ते धीतिं आनट्) बुद्धिमान् पुरुष तेरे लिये कर्म करता है। (त पासि) उस पुरुषको तू रक्षा करता है। (उत तं पिपर्षि) और उसकी इच्छाओंको पूर्ण करता है। (यज्ञस्य वा निशितिं वा) जो यज्ञको वा, संस्कारको (उदितिं वा) तथा उन्नतिको करता है। (तं इत् शवसा उत राया पृणक्षि) उसको ही बलसे और धनसे तू पूर्ण करता है।

हे शूर अग्नि! तुझ जैसे बुद्धिमानके लिये जो कर्म करता है, उसका तू संरक्षण करता है और उसको परिपूर्ण बना देता है। जो तेरे लिये यज्ञ करता है, उसको तू धन और बलसे भरपूर भर देता है।

१ **कवये धीतिं आनट् तं पासि, पिपर्षि—** ज्ञानीकी सेवाके लिये जो कर्म करता है, उसकी सुरक्षा वह करता है और उसकी इच्छाएं वह पूर्ण करता है।

२ **निशितिं उदितिं आनट् तं शवसा राया पृणक्षि—** जो तेजस्विता और उदयके लिये कर्म करता है उसको बल और धनसे भरपूर भर देता है।

[१२] (११८) हे (अग्ने) अग्नि ! (त्वं वनुष्यतः नि) तू हिंसक शत्रुसे हमारी सुरक्षा कर। हे (सहसावन्) बलवान् अग्नि ! (त्वं उ नः अवद्यात्) तू ही हमको पापसे बचाओ। (त्वा ध्वस्मन्वत् पाथः सं अभ्येतु) तुझे दोषरहित अन्न प्राप्त हो। (स्पृहयाय्यः सहस्री रयिः) स्पृहा करने योग्य सहस्र प्रकारका धन हमें प्राप्त हो।

१ **त्वं वनुष्यतः नि—** तू हिंसक शत्रुसे हमारी सुरक्ष कर।

२ **हे सहसावन्! त्वं नः अवद्यात्—** हे बलवान्! तू हमें पापसे बचाओ।

३ **ध्वस्मन्वत् पाथः त्वा समभ्येतु—** निर्दोष अन्न तुझे प्राप्त हो।

४ **स्पृहयाय्यः सहस्री रयिः—** वर्णनीय सहस्रों प्रकारका धन हमें प्राप्त हो।

मानव धर्म— हिंसक शत्रुका नाश कर, पापसे हमारी सुरक्षा कर। निर्दोष अन्नका सेवन कर। स्पृहणीय सहस्रों प्रकारका धन प्राप्त कर।

[१३] (११९) (होता राजा सः अग्निः गृहपतिः) देवोंको बुलानेवाला राजा वा प्रकाशमान् वह अग्नि घरोंका पति है। तथा (जातवेदाः विश्वा जनिम वेद) वह ज्ञाता संपूर्ण प्राणिमात्रोंको जानता है। (यः देवाना उत मर्त्याना यजिष्ठः) जो देवों और मनुष्योंमें अतिशय यजनीय अर्थात् पूज्य है। (ऋतावा सः प्र यजतां) सत्यपालक वह अग्नि देवोंको यज्ञसे सन्तुष्ट करे।

१ **गृहपतिः जातवेदाः राजा विश्वा जनिमा वेद—** गृहस्थी ज्ञानी राजा सब प्राणियोंको जानता है। गृहस्थी तथा राजा ज्ञानी हो और सबका ज्ञान प्राप्त करे।

२ **देवानां उत मर्त्यानां यजिष्ठः—** देवों और मानवोंका वह सत्कार करे। वह मानवोंको सत्कार करने योग्य है।

३ **सः ऋतावा प्र यजतां—** वह सत्यपालक यज्ञ करे।

मानव धर्म— गृहपति अथवा गृहस्थी ज्ञानी हो। राजा भी ज्ञानी हो। सब भूतोंका ज्ञान वह प्राप्त करे। देवों और मानवोंके लिये वह यज्ञ करे।

१४ अग्ने यदद्य विशो अध्वरस्य होतः पावकशोचे वेष्ट्वं हि यज्वा।
ऋता यजासि महिना वि यद्भूर्हव्या वह यविष्ठ या ते अद्य ॥ १२० ॥

१५ अभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यो नि त्वा दधीत रोदसी यजध्यै।
अवा नो मघवन्वाजसातावग्ने विश्वानि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम ॥ १२१ ॥

१६ अग्ने विश्वेभिः स्वनीक देवैरूर्णावन्तं प्रथमः सीद योनिम्।
कुलायिनं घृतवन्तं सवित्रे यज्ञं नय यजमानाय साधु ॥ १२२ ॥

---

[१४] (१२०) हे (अध्वरस्य होतः पावकशोचे अग्ने) यज्ञके होता, पवित्र कान्तिवाले, अग्नि! (अद्य विशः यत् वेः) इस समय मनुष्यका जो कर्तव्य है उसको वर्णन करनेकी इच्छा कर। (हि त्वं यज्वा ऋता यजासि) क्योंकि तू यज्ञ करनेवाला है अतः यज्ञमें देवोंका यजन कर। (महिना यत् वि भूः) अपने माहात्म्यसे तू व्याप्त होता है। इसलिये हे (यविष्ठ) युवान् अग्नि! (ते अद्य या हव्या वह) तेरे पास आज जो हव्य देते हैं उनका वहन कर।

१ अध्वरस्य होतः पावकशोचे— हिंसारहित कर्मका संपादन करनेवाला पवित्र तेजस्वी हो।

२ विशः यत् अद्य वेः— प्रजा जो चाहती है वही (राजा) करे। प्रजा जो शुभ यज्ञ कर्म करना चाहती है वही राजा करे।

३ ऋता यजासि, महिना विभूः— सत्यसे यज्ञ कर और अपनी महिमासे सर्वत्र प्रभावी बन।

मानव धर्म- पवित्र और तेजस्वी होकर हिंसारहित कर्म कर। प्रजाजनोंका हित कर। सत्यपालनपूर्वक शुभ कर्म कर और अपने महत्त्वसे चारों ओर प्रकाशता रह।

[१५] (१२१) हे अग्नि! (सुधितानि प्रयांसि अभि-ख्यः) यज्ञस्थानमें अच्छी तरहसे रखे हुए अन्नादि हव्योंको देख। (रोदसी यजध्यै नि दधीत) द्यावापृथिवीमें रहनेवाले देवोंको देनेके लिये ये रखा है। हे (मघवन् अग्ने) ऐश्वर्यवान् अग्नि! (वाजसातौ नः अव) संग्राममें हमारी रक्षा कर (विश्वानि दुरितानि तरेम) संपूर्ण दुःखोंसे हम पार हो जाँय।

१ सुधितानि प्रयांसि अभिख्य- उत्तम संस्कारोंसे सुसंस्कृत ये अन्न रखे हैं उनको तू देख।

२ यजध्यै नि दधीत— यज्ञके लिये ये अन्न रखे हैं।

३ वाजसातौ नः अव— युद्धोंके समय हमारा संरक्षण कर। (वाज-सातौ= अन्नका बँटवारा करनेके समय स्पर्धा और युद्ध होते हैं। उनमें हम सुरक्षित हों।)

४ विश्वानि दुरिता तरेम— सब पापोंसे हम पार हो जांय। हमारे पास पाप न हों।

मानव धर्म— उत्तम सुसंस्कृत अन्नोंको यज्ञदानके लिये रखो। युद्धोंमें संरक्षण कर। सब पापोंसे दूर रह।

[१६] (१२२) हे (स्वनीक अग्ने) सुन्दर ज्वालावाले अग्नि! (विश्वेभिः देवैः ऊर्णावन्तं योनिं) सब देवोंके साथ ऊनका आसन बिछाये वेदी स्थानपर आकर (प्रथमः सीद) प्रथम बैठो। (कुलायिनं घृतवन्तं सवित्रे) घरमें रहनेवाले और घृतसंयुक्त हवि देनेवाले (यजमानाय यज्ञं साधु नय) यजमानके यज्ञको ठीक प्रकारसे देवोंतक पहुंचाओ।

१ स्वनीकः अग्निः— (सु-अनीकः) उत्तम सेनावाला (अग्निः) अग्रणी हो। अग्निपक्षमें उत्तम ज्वालावाला, प्रदीप्त।

२ ऊर्णावन्तं योनिं प्रथमः सीद— जहां आसन बिछाये हैं ऐसी वेदीपर आकर तुम प्रथम स्थानमें बैठो।

३ कुलायिनं घृतवन्तं सवित्रे यजमानाय यज्ञं साधु नय— (कुलायिनं) जिसका अपना घर है ऐसे गृहस्थीके घृतमिश्रित आहुति देनेवाले यजमानके यज्ञको उत्तम रीतिसे संपन्न कर। **कुलाय**- घर, **कुलायी**- जिसका अपना घर निजघर है। गृहस्थी।

मानव धर्म— उत्तम वीरोंकी सेनाके साथ अग्रणी रहे। प्रथम स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करे। गृहस्थीके यज्ञको उत्तम रीतिसे समाप्त करे, उसमें त्रुटी रहने न दे।

१७ इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः ।
यमङ्कूयन्तमानयन्नमूरं श्याव्याभ्यः ॥ १२३ ॥
१८ जनिष्वा देववीतये सर्वताता स्वस्तये ।
आ देवान्वक्ष्यमृताँ ऋतावृधो यज्ञं देवेषु पिस्पृशः ॥ १२४ ॥
१९ वयमु त्वा गृहपते जनानामग्ने अकर्म समिधा बृहन्तम् ।
अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस्तेजसा सं शिशाधि ॥ १२५ ॥

(मं० ६, सू० १६)

१ त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ १२६ ॥

---

[१७] (१२३) (वेधसः इमं त्यं अग्निं अथर्ववत् मन्थन्ति) कर्म करनेवाले ज्ञानी मनुष्य उस अग्निका अथर्वाके समान मन्थन करते हैं (अंकूयन्तं अमूरं यं श्याव्याभ्यः आनयन्) इधर उधर जानेवाले गतिमान् इस ज्ञानी अग्निको अन्धकारसे यहां लाया है ।

ज्ञानी मन्थन करके अग्निको सिद्ध करते हैं । प्रथम वह इधर उधर जाता है, पर उस ज्ञानीको अन्धकारके स्थानसे लाकर यहां यज्ञस्थानमें रखते हैं ।

१ श्याव्याभ्यः अंकूयन्तं अमूरं आनयन्— अन्धकारसे प्रगतिशील ज्ञानीको लाते हैं । ज्ञानी किसी स्थानपर रहता हो तो उसको लाकर शुभ कार्यमें लगाना चाहिये ।

[१८] (१२४) हे अग्नि ! (सर्वताता जनिष्व) सबका विस्तार करनेवाले यज्ञमें तू उत्पन्न हो । (देववीतये स्वस्तये अमृतान् ऋतावृधः) देवत्व प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके कल्याणके लिये मरणरहित यज्ञके वर्द्धक देवोंको (वक्षि) लाओ । (देवेषु यज्ञं पिस्पृशः) और देवोंको हमारे यज्ञका समर्पण करो ।

सर्वताता— (सर्व-ताता) सबका शक्ति विस्तार जिससे होता है उसका नाम यज्ञ है । ऐसे शुभ कर्ममें कर्तव्य करनेके लिये (जनिष्व) जन्म लिया है ।

१ देववीतये स्वस्तये ऋतावृधः अमृतान् वक्षि— देवत्वकी प्राप्तिके लिये और कल्याण करनेके लिये सत्यको बढानेवाले अमर शक्तिवाले विबुधोंको यहां ले आओ ।

मानव धर्म— सब सत्कर्म करनेवालोंकी शक्ति जिससे बढेगी ऐसे शुभ कर्म करने चाहिये । दैवी शक्तियोंकी प्राप्ति करनी चाहिये । सबका कल्याण होना चाहिये । इसलिये सत्य-मार्गको बढानेवाले अमर शक्तिवाले विभूतियोंसे अपना संबंध जोडना चाहिये ।

[१९] (१२५) हे (गृहपते अग्ने) गृहपति अग्नि ! (वयं उ त्वा समिधा बृहन्तं अकर्म) हम तुझे समिधा द्वारा बढाते हैं । इसलिये (नः गार्हपत्यानि अस्थूरि) हमारे घरके पास अनेक अश्ववाले रथ हों और हम (तिग्मेन तेजसा नः सं शिशाधि) बडे तेजसे युक्त हों ऐसा करो ।

१ नः गार्हपत्यानि अस्थूरि— हमारे घर अनेक घोडोंवाले रथोंसे युक्त हों । **स्थूरिः**-एक घोडेका रथ । **अ-स्थूरि**-अनेक घोडोंका रथ । एक घोडेकी गाडी रखना दरिद्रताका चिन्ह है । अनेक घोडोंवाले रथ धनवान होनेका चिन्ह है । वैसे रथ हमारे घरके पास रहें । अर्थात् हम बडे धनवान बनें ।

२ तिग्मेन तेजसा नः सं शिशाधि— उग्र तेजसे हम युक्त हों । जो शत्रुका पराभव करता है । वह उग्र तेज है । वैसा तेज हमारा हो ।

[१] (१२६) हे (अग्ने) अग्नि ! तेजस्वी देव ! (त्वं मानुषे जने) तू सब मनुष्य लोगोंके बीच (विश्वेषां यज्ञानां होता) सब यज्ञोंको करनेवाला करके (देवेभिः हितः) विबुधोंने यहां रखा है ।

१ मानुषे जने विश्वेषां यज्ञानां होता हितः— मानवी समाजमें सब यज्ञोंको कुशलतासे करनेवालेको आदरपूर्वक सन्मानके स्थानमें रखते हैं ।

२ विश्वेषां यज्ञानां होता मानुषे जने हितः— सब यज्ञोंको कुशलतासे करनेवाला मानवी समाजमें हितकारी होता है ।

२ स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः । आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥ १२७ ॥
३ वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा । अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ॥ १२८ ॥
४ त्वामीळे अध द्विता भरतो वाजिभिः शुनम् । ईजे यज्ञेषु यज्ञियम् ॥ १२९ ॥
५ त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते । भरद्वाजाय दाशुषे ॥ १३० ॥

३ विश्वेषां यज्ञानां होता, मानुषे जने देवेभिः हितः— सब यज्ञोंको प्रवीणतासे करनेवाला, मानवी समाजमें ज्ञानियोंने ही हितकारक करके रखा होता है ।

मानव धर्म— सब यज्ञोंको कुशलताके साथ करनेवाला विद्वान् नेता मनुष्यसमाजमें हितकारी करके दिव्य विबुधोंद्वारा सम्मानके स्थानमें रखने योग्य है ।

'**यज्ञ**' वह है कि जिसमें (१) विबुधोंका सत्कार, (२) आपसकी संघटना और (३) न्यूनताकी पूर्ति करनेके लिये दान ये तीन कार्य होते हैं ।

[२] (१२७) हे अग्ने ! (सः नः अध्वरे) वह तू हमारे हिंसारहित यज्ञ कर्ममें (मन्द्राभिः जिह्वाभिः) आनन्द देनेवाली वाणियोंके साथ (महः देवान्) महान् तेजस्वी विबुधोंको (आ वक्षि) बुला ले आओ और (यक्षि च यज) उनके लिये यजन करो और हवन करो ।

मानव धर्म— मनुष्योंको हिंसा तथा कुटिलतारहित कर्म करने चाहिये । उनमें दिव्य विबुधोंको बुलाना चाहिये और उनका संमान करना चाहिये ।

१ मन्द्राभिः जिह्वाभिः— आनंद बढानेवाली जिह्वा अर्थात् आनन्द बढानेवाली वाणी (का प्रयोग मनुष्योंको करना चाहिये ।)

२ महः देवान् आ वक्षि यक्षि च— बडे विबुधोंको बुलाकर उनका सत्कार करो ।

[३] (१२८) हे (वेधः सुक्रतो) निर्माण करनेवाले और अच्छे कर्म करनेवाले (देव अग्ने) दिव्य ज्ञानी तेजस्वी देव ! तू (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (अध्वनः पथः च) अच्छे मार्गोको और बुरे मार्गोको (अञ्जसा) अतिशीघ्र (वेत्थ हि) जानता है ।

१ वेधाः सुक्रतुः देवः— निर्माण करनेके कार्यमें विबुध कुशल होते हैं ।

१ अध्वनः पथः च अञ्जसा वेत्थ— अच्छे और बुरे मार्गोको सत्वर जानना चाहिये । जो यह जानता है वह दिव्य ज्ञानी होता है ।

मानव धर्म— मनुष्य सत्वर अच्छे और बुरे मार्गोको जाने, जो कर्म करता है वह उत्तम कुशलतासे करे ।

वेधाः- विधाता, निर्माता, निर्माण करनेवाला ।

अञ्जस्- गति, त्वरा, सुंदरतासे, स्वच्छतासे ।

[४] (१२९) हे अग्नि ! तेजस्वी देव ! (भरतः) भरतने (वाजिभिः) बलवान् पुरुषोंके साथ (द्विता शुनं) दोनों प्रकारके सुखोंके देनेवाले (त्वां) तुम्हारी (इळे) स्तुति की और (यज्ञियं) यजनीय देवका, तुम्हारा (यज्ञेषु ईजे) यज्ञोंमें यजन किया ।

१ भरतः वाजिभिः द्विता शुनं त्वां इळे- भरण-पोषण करनेवाला पुरुष अन्य बलवान् मनुष्योंके साथ दोनों प्रकारके सुख देनेवाले तुझ विबुधके गुण गाता है । विबुधके गुणोंका वर्णन करता है । (भरतः) दूसरोंका भरणपोषण करनेवाला पुरुष (वाजिभिः) अन्नवाले पुरुषोंके साथ रहकर दोनों प्रकारके सुखोंको देनेवाले विबुधके गुण वर्णन करता है ।

१ यज्ञियं यज्ञेषु ईजे— सत्कारके योग्य वीरका सत्कार यज्ञमें करता है । यजनीयका यज्ञोंमें यजन करता है ।

भरतः- भरणपोषण करनेवाला, भारत देशका रहनेवाला । **वाजी**- बलवान्, अन्नवान् । **शुनं**- सुख, अभ्युदय, उत्कर्ष । **द्विता**- दो प्रकारका, ऐहिक-पारमार्थिक, शारीरिक-मानसिक, भौतिक-आत्मिक ।

मानव धर्म— भरणपोषण करनेवाला पुरुष अनेक अन्नवान् और बलवान् पुरुषोंके साथ मिलकर भौतिक और अभौतिक सुख देनेवाले नेताकी प्रशंसा करे और सत्कारके योग्य पुरुषोंका सत्कार करे ।

[५] (१३०) हे अग्नि ! तेजस्वी देव ! (त्वं) तुमने (इमा) ये (पुरु) बहुतसे (वार्या) स्वीकारणीय धन (सुन्वते दिवोदासाय) सोमयाजी दिवोदासको दिये वैसे (दाशुषे भरद्वाजाय) दाता भरद्वाजको देओ ।

६ त्वं दूतो अमर्त्य आ वहा दैव्यं जनम् । शृण्वन्विप्रस्य सुष्टुतिम् ॥ १३१ ॥
७ त्वामग्ने स्वाध्यो३ मर्तासो देववीतये । यज्ञेषु देवमीळते ॥ १३२ ॥
८ तव प्र यक्षि संदृशमुत क्रतुं सुदानवः । विश्वे जुषन्त कामिनः ॥ १३३ ॥
९ त्वं होता मनुर्हितो वह्निरासा विदुष्टरः । अग्ने यक्षि दिवो विशः ॥ १३४ ॥
१० अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १३५ ॥
११ तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ १३६ ॥

दिवोदासः— प्रकाशके मार्गको बतानेवाला, दिनभर दान करनेवाला, दिवोदास नामक एक राजा। **भरद्वाजः**—(भरत्-वाजः) अन्नका दान करनेवाला, अन्न बढानेवाला, बल बढानेवाला। **सुन्वत्**- सोमरस निकालनेवाला, सोमयाजक। **दाशुष्**- दाता।

[६] (१३१) (अमर्त्यः दूतः) मरणधर्मरहित दूत होकर (त्वं) तू (दैव्यं जनं) दिव्यजनोंको (विप्रस्य) बुद्धिमान्की (सुष्टुतिं) उत्तम स्तुतिको (शृण्वन्) सुननेके लिये (आ-वह) बुला ले आओ।

१ विप्रस्य सुष्टुतिं शृण्वन् दैव्यं जनं आवह— ज्ञानी मनुष्यने की हुई स्तुतिको सुननेके लिये दिव्य विबुधोंको ले आओ।

[७] (१३२) हे (अग्ने) अग्ने! हे अग्रणे! (देवं त्वां) तुझ तेजस्वीकी (स्वाध्यः मर्तासः) स्वाध्यायशील मनुष्य (देववीतये) देवोंके लिये किये यज्ञमें (ईळते) स्तुति करते हैं। तेरा गुण वर्णन करते हैं।

[८] (१३३) हे अग्नि! (तव संदृशं प्र यक्षि) तेरे सुन्दर तेजका मैं सत्कार करता हूं। (उत) और (विश्वे सुदानवः कामिनः) सब शोभन दान करनेवाले तथा तेरे अनुग्रहकी इच्छा करनेवाले मनुष्य (क्रतुं जुषन्त) तेरे अच्छे कर्मकी सेवा करते हैं।

१ संदृशं प्रयक्षि— तेजस्विताका सत्कार कर।

२ विश्वे सुदानवः कामिनः क्रतुं जुषन्तः— सब दानी सुखकी इच्छा करते हुए शुभ कर्म करते हैं। दान देनेवाले सुखकी इच्छासे शुभ कर्म करते हैं।

मानव धर्म— तेजस्विताका आदर करो। सुखप्राप्तिके लिये दान देओ और प्रशस्त कर्म करो।

[९] (१३४) हे (अग्ने) अग्नि! तेजस्वी देव! (त्वं होता मनुर्हितः) तू होता रूपसे मनुष्योंके लिये हितकारी है। (आसा वह्निः विदुष्टरः) अपने मुखद्वारा शब्दोंका हवन करनेके कारण तू अतिशय विद्वान् है।

१ होता मनुर्हितः- हवन करनेवाला मनुष्योंका हितकारी होता है। यज्ञसे रोग दूर होते हैं और निरोगतासे मनुष्योंका हित होता है।

२ आसा वह्निः विदुष्टरः- मुखसे शब्दोंका-मन्त्रोंका हवन करनेवाला अधिक ज्ञानी होता है। **विदुष्टरः**- (विदुः-तरः) अधिक ज्ञानी, विद्वान्।

३ दिवः विशः यक्षि- दिव्य प्रजाका सत्कार कर।

मानव धर्म- हवन करनेसे मनुष्योंका कल्याण होता है। अपने मुखमें मंत्रोंको धारण करनेवाले विद्वान् होते हैं। ऐसी दिव्य प्रजाजनोंका सदा सत्कार करना उचित है।

[१०] (१३५) हे (अग्ने) अग्नि! तेजस्वी देव! तू (वीतये) हविषान्नका ग्रहण करनेके लिये और (हव्यदातये) हविषान्न देनेके लिये (आ याहि) आ और (गृणानः बर्हिषि होता) प्रशंसित होकर तू आसनपर होता बनकर (नि सत्सि) बैठ।

[११] (१३६) हे (अंगिरः) ज्वालारूप तेजोमय देव! (तं त्वा) तुझे (समिद्भिः च घृतेन) समिधाद्वारा और घीसे (वर्धयामसि) हम बढाते हैं, प्रदीप्त करते हैं। इसलिये, हे (यविष्ठय) अतिशय तरुण! तू (बृहत् शोच) अत्यन्त प्रदीप्त हो।

१२ स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि । बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ १३७ ॥
१३ त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ १३८ ॥
१४ तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः । वृत्रहणं पुरंदरम् ॥ १३९ ॥
१५ तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनंजयं रणेरणे ॥ १४० ॥
१६ एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः । एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १४१ ॥
१७ यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् । तत्रा सदः कृणवसे ॥ १४२ ॥
१८ नहि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां वसो । अथा दुवो वनवसे ॥ १४३ ॥

[१२] (१३७) हे (देव) देव ! (सः) वह तू (पृथु श्रवाय्यं) विशेष यशस्वी और (बृहत् सुवीर्यं) बडे उत्कृष्ट बलसे युक्त धन (नः) हमें (अच्छ विवाससि) प्राप्त हो, दे दो ।

१ पृथु श्रवाय्यं बृहत् सुवीर्यं नः अच्छ विवाससि— बडा यशस्वी और विशेष वीर्य-पौरुष-बढानेवाला धन हमें मिले।

[१३] (१३८) हे (अग्ने) अग्नि ! (त्वां) तुझे (वाघतः विश्वस्य मूर्ध्नः) आधार देनेवाले सब विश्वके मुख्य स्थान रूप (पुष्करात् अधि) पुष्करपत्रके ऊपर (अथर्वा निरमन्थत) अथर्वाने मन्थन करके उत्पन्न किया था ।

१ वाघतः विश्वस्य मूर्ध्नः पुष्करात् अधि अथर्वा त्वां निरमन्थत— आधाररूप सब विश्वके शिरस्थानमें रहनेवाले कमलसे अथर्वाने मन्थन करके अग्निको निकाला है ।

सिरमें ' सहस्रार कमल ' है । यह सब शरीरका आधार है । यहाँसे मज्जातन्तु सब शरीरमें जाकर सब कार्य करते हैं । इस सिर स्थानीय कमलसे आत्मारूप अग्निका प्रकटीकरण हुआ है, अथर्ववेदमें कहा है—

तद् वा अथर्वणः सिरः देवकोशः समुब्जितः ।
तत्प्राणो अभिरक्षति सिरो अन्नं मथो मनः ॥२७॥
अथर्व० १०।२

' वह अथर्वाका सिर है, वह देवोंका तेजस्वी कोश है । इस सिर, अन्न और मनका संरक्षण प्राण करता है । ' यह सिर ही देवकोश है । सब ३३ देवोंका यह कोश है । सब दैवी शक्तियोंके केन्द्र यहाँ है । सिरमें सब इंद्रियोंके केन्द्र हैं अथर्वा इसको प्रकाशित करता है, अथवा प्रकट करता है । यही इस मंत्रमें कहा है ।

अथर्वाने काष्टमन्थन करके अग्निको उत्पन्न किया ।

[१४] (१३९) हे अग्नि ! (वृत्रहणं) दुष्ट शत्रुओंका नाश करनेवाले, और (पुरंदरं) शत्रुके नगरोंका नाश करनेवाले, (तं उ) तुझे (अथर्वणः पुत्रः दध्यङ् ऋषिः) अथर्वाके पुत्र दध्यङ् ऋषिने प्रथम (ईधे) प्रदीप्त किया ।

वृत्रहण— घेरनेवाले शत्रुका हनन करनेवाला । **पुरंदरः—** युद्धमें शत्रुके नगरोंको तोडा जाता है । **अग्नि-मानवोंका अग्रणी** यह करता है । यह युद्धकी नीति है ।

[१५] (१४०) हे अग्नि ! (पाथ्यो वृषा) मार्गमें हितकारी तथा बलवान् ज्ञानी (दस्युहन्तमं) दुष्टोंका नाश करनेवाले और (रणेरणे धनंजयं) युद्धमें धन जीतनेवाले (तं उ त्वा) तुझे ही (समीधे) प्रज्वलित करता है ।

[१६] (१४१) हे (अग्ने) अग्नि ! (ते गिरः इत्था सु ब्रवाणि) तेरे लिये यह स्तुति करता हूं । वह (एहि) यहाँ आओ और सुनो । तथा (उ इतराः) दूसरी स्तुति भी सुनो, और (एभिः इन्दुभिः वर्धासे) इन सोमरसोंसे वर्धित होओ ।

[१७] (१४२) हे अग्नि ! (ते मनः) तेरा मन (यत्र क्व च) जहाँ कहाँ रहता है, (तत्र उत्तरं दक्षं दधसे) वहाँ उत्तरोत्तर अधिक बल धारण करता है । और वहाँ (सदः कृणवसे) अपना स्थान भी बना लेता है ।

[१८] (१४३) हे अग्नि ! (ते पूर्तं अक्षि-पत् नहि भुवत्) तेरा प्रदीप्त तेज नेत्रका विनाशक नहीं होता है । हे (नेमानां वसो) कतिपय मनुष्योंको धन देनेवाले ! (अथ दुवः वनवसे) अब हमारी सेवा ग्रहण कर ।

१९ अग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः । दिवोदासस्य सत्पतिः ॥ १४४ ॥
२० स हि विश्वाति पार्थिवा रयिं दाशन्महित्वना । वन्वन्नवातो अस्तृतः ॥ १४५ ॥
२१ स प्रत्नवन्नवीयसाग्ने द्युम्नेन संयता । बृहत्ततन्थ भानुना ॥ १४६ ॥
२२ प्र वः सखायो अग्नये स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया । अर्च गाय च वेधसे ॥ १४७ ॥
२३ स हि यो मानुषा युगा सीदद्धोता कविक्रतुः । दूतश्च हव्यवाहनः ॥ १४८ ॥

१ ते पूर्त अक्षि-पत् नहि भुवत्— अग्निका प्रज्वलित तेज आंखका विनाशक नहीं होता है ।*

[१९] (१४४) (भारत) भारतोंका हितकर्ता (वृत्रहा) वृत्रादि असुरोंका नाश करनेवाला, (पुरुचेतन) अत्यन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ, (दिवोदासस्य सत्पतिः) दिवोदासके सज्जनोंका पालन करनेवाला (अग्निः) अग्नि (आ अगामि) आया है ।

१ भारत, वृत्रहा पुरुचेतन, सत्पतिः आ अगामि- भारतका हितकर्ता, शत्रुनाशक विशेष ज्ञानी सज्जनोंका रक्षक अग्रणी आया है, उसका स्वागत करो ।

२ पुरुचेतनः सत्पतिः— विशेष ज्ञानी ही उत्तम पालक होता है ।

३ सत्पतिः— (परित्राणाय साधूनां । गी०)- साधुओंका परित्राण करो ।

४ वृत्रहा— (विनाशाय च दुष्कृतां । गी०)— दुर्जनोंका विनाश करो ।

५ पुरुचेतन — विशेष ज्ञानसे उत्साह फैलाओ ।

मानव धर्म— पितृ देशका हित करो, शत्रुओंका वध करो, ज्ञान बहुत फैलाओ, सज्जनोंका पालन करो ।

भारतः— भरण-पोषण करनेवाला । **दिवोदास**.— प्रकाशका उपासक, सन्मार्गसे चलनेवाला, प्रकाशके मार्गसे चलनेवाला ।

[२०] (१४५) (वन्वन् अवातः अस्तृतः) शत्रुओंका नाश करनेवाला, स्वयं अपराजित, और अहिंसित (सः हि) ऐसा वह अग्नि (विश्वा पार्थिवा) सब पृथिवी परके धनोंमें (महित्वना रयिं अति दाशत्) अधिक श्रेष्ठ धन अपने सामर्थ्यसे देता है ।

१ अवातः अस्तृतः वन्वन्— अपराजित और अहिंसित वीर शत्रुके साथ युद्ध करे । और विजय प्राप्त करे ।

२ महित्वना विश्वा पार्थिवा रयिं अतिदाशत्- अपने महत्वसे सब पार्थिव धनोंसे श्रेष्ठ धन वह देता है ।

मानव धर्म— स्वयं अपराजित और अजिक्य होकर शत्रुका पराभव कर और पृथ्वीपरके सब धनोंसे श्रेष्ठ धन प्राप्त कर और उसका दान कर ।

[२१] (१४६) हे (अग्ने) अग्नि ! (सः) वह तू (प्रत्नवत् नवीयसा) जैसे प्राचीन वैसे अतिशय नवीन (द्युम्नेन संयता भानुना) प्रकाशमान्, स्वाधीन रहनेवाले अपने तेजसे (बृहत् ततन्थ) इस महान् अन्तरिक्षको व्याप रहा है ।

मानव धर्म— अपने तेजसे विश्वको व्यापनेका यत्न करो ।

[२२] (१४७) हे (सखायः) मित्रो ! (वः) तुम लोग (धृष्णुया वेधसे अग्नये) शत्रुका नाश करनेवाले, विधाता रूप, अग्निकी (स्तोम गाय) स्तुतिका गान करो । तथा (यज्ञं च प्र अर्च) यज्ञका सत्कारपूर्वक अनुष्ठान करो ।

१ धृष्णुया वेधसे अग्नये स्तोमं गाय— शत्रुका घर्षण करनेवाले, निर्माण करनेवाले विधाता तेजस्वी अग्रणीके गुणगान करो ।

[२३] (१४८) (यः होता कविक्रतुः मानुषा युगा) जो अग्नि देवोंको बुलानेवाला तथा ज्ञानी और सत्कर्मकर्ता है वह, मनुष्योंके युगों, मनुष्योंके संघसे किये जानेवाले कर्ममें

* ओगलेवाडी जि. सातारामें शीशा बनानेका बडा कारखाना है । वहाँ तेज अग्निके पास काम करनेवाले सैकडों कार्यकर्ता हैं । वहाँका अनुभव यह है कि जो इतने तेज अग्निके पास काम करते हैं । उनके आँख बिगडते नहीं, ऐसा वहाँके कारखानेदारने कहा । इससे अनुमान हो सकता है कि प्रतिदिन यज्ञ करनेवालोंके आँख प्रायः अच्छी अवस्थामें रहेंगे ।

२४ ता राजाना शुचिव्रताऽऽदित्यान्मारुतं गणम् । वसो यक्षीह रोदसी ॥ १४९ ॥
२५ वस्वी ते अग्ने संदृष्टिरिषयते मर्त्याय । ऊर्जो नपादमृतस्य ॥ १५० ॥
२६ क्रत्वा दा अस्तु श्रेष्ठोऽद्य त्वा वन्वन्त्सुरेक्णाः । मर्त आनाश सुवृक्तिम् ॥ १५१ ॥
२७ ते ते अग्ने त्वोता इषयन्तो विश्वमायुः ।
तरन्तो अर्यो अरातीर्वन्वन्तो अर्यो अरातीः ॥ १५२ ॥
२८ अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम् ।
अग्निर्नो वनते रयिम् ॥ १५३ ॥

(च हव्यवाहनः दूत.) हविष्यान्न वहन करनेवाला दूत होता है। (स हि सीदत.) वह अग्नि यहाँ आकर बैठें।

१ होता कविक्रतुः— मनुष्य विबुधोंको बुलावे और क्रान्तदर्शी ज्ञानी तथा कुशलतासे कर्म करनेवाला हो।

[२४] (१४९) हे (वसो) धनवान्! (रोदसी) द्यावापृथिवीका (ता राजाना शुचिव्रता) उन प्रसिद्ध, तेजस्वी, पवित्र कर्म करनेवाले मित्रावरुण नामक राजाओंका (आदित्यान् मारुतं गण) आदित्योंका और मरुतोंके गणोंका (इह) इस यज्ञमें (यक्षि) यजन कर। इनका सत्कार कर।

१ राजाना शुचिव्रता— राजालोग शुद्ध आचरण करनेवाले हों।

[२५] (१५०) हे (ऊर्जो न-पात् अग्ने) बलको न गिरानेवाले अग्नि! (ते अमृतस्य) तुझ मरणरहितकी (संदृष्टिः) उत्तम दृष्टि (इषयते मर्त्याय) अन्नादिकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके लिये (वस्वी) धन देनेवाली होती है।

१ ऊर्जो न पात्— अपने बलको अधःपतित न कर।
२ सं दृष्टिः इषयते मर्त्याय वस्वी— उत्तम दृष्टी मनुष्यको धन देनेवाली हो।

[२६] (१५१) (अद्य) आज ही (क्रत्वा त्वा वन्वन् दाः) कर्म द्वारा तेरी सेवा करनेवाला और दान देनेवाला मनुष्य (श्रेष्ठः सुरेक्णाः अस्तु) अत्यन्त श्रेष्ठ और उत्तम धनोंसे युक्त हो। तथा (मर्तः सुवृक्तिं आ अनाश) वह मनुष्य उत्तम भाषण करनेवाला हो।

१ दाः, क्रत्वा वन्वन् श्रेष्ठः सुरेक्णाः अस्तु— दाता मनुष्य अपने कर्मसे सेवा करनेवाला, श्रेष्ठ तथा उत्तम धनधान्य संपन्न हो।

२ मर्तः सुवृक्तिं आ-अनाश— मनुष्य उत्तम भाषण करे।

मानव धर्म— मनुष्य दान देवे, कर्म द्वारा सेवा करे, तथा श्रेष्ठ धनधान्यसंपन्न हो। मनुष्य उत्तम भाषण करे। मनुष्यके मुखमें उत्तम वचन रहें।

[२७] (१५२) हे (अग्ने) अग्नि! (ते ते) वे तेरे भक्त (त्वोताः विश्वं आयुः इषयन्तः) तेरेसे सुरक्षित होकर पूर्ण आयुतक अन्नादि भोगोंको प्राप्त करते हैं। और (अर्यः अरातीः तरन्तः) शत्रुकी आक्रमणकारी सेनाको पराजित करते हैं। (अर्यः अरातीः वन्वन्त.) और आक्रमणकारी शत्रुओंका नाश करते हैं।

१ ते त्वोताः विश्वं आयुः इषयन्त— वे तेरे द्वारा सुरक्षित होकर सपूर्ण दीर्घ आयुतक अन्नादि भोग प्राप्त करते हैं।

२ अर्यः अरातीः तरन्त— शत्रुकी सेनाको पार करते हैं।

३ अर्यः अरातीः वन्वन्तः— शत्रुसेनाका नाश करते हैं।

४ अरातीः— अदाता, अनुदार, शत्रुकी आक्रमणकारी सेना।

मानव धर्म— मनुष्य ऐसा यत्न करे कि जिससे वे अपनी पूर्ण आयुतक अन्नादि सब भोग प्राप्त करके आनन्दसे रहें, शत्रुके आक्रमणोंको दूर करें और विजय प्राप्त करें।

[२८] (१५३) (अग्निः) अग्नि! (तिग्मेन शोचिषा) अपने तीक्ष्ण तेजसे (विश्वं अत्रिणं) सब दुष्ट राक्षसोंका (नि यासत) नाश करता है। और (नः अग्निः रयिं वनते) हमको अग्नि धन देता है।

२९ सुवीरं रयिमा भर जातवेदो विचर्षणे । जहि रक्षांसि सुक्रतो ॥ १५४ ॥
३० त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः । रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे ॥ १५५ ॥
३१ यो नो अग्ने दुरेव आ मर्तो वधाय दाशति । तस्मान्नः पाह्यंहसः ॥ १५६ ॥
३२ त्वं तं देव जिह्वया परि बाधस्व दुष्कृतम् । मर्तो यो नो जिघांसति ॥ १५७ ॥
३३ भरद्वाजाय सप्रथः शर्म यच्छ सहन्त्य । अग्ने वरेण्यं वसु ॥ १५८ ॥

अत्री— (अत्ति इति)— जो खाता है, दुष्ट राक्षस।

१ तिग्मेन शोचिषा विश्वं अत्रिणं नियासत्— अग्रणी अपने तीक्ष्ण तेजसे सब शत्रुको दूर करे।

२ अग्निः रयिं नः वनते— अग्रणी हमें धन देता है।

मानव धर्म— अपने तेजसे शत्रु दूर हो जाय इतना अपना तेज बढाओ। धन प्राप्त करो और उसका दान करो।

[२९] (१५४) हे (जातवेदः विचर्षणे) ज्ञानी और विशेष द्रष्टा ! (सुवीरं रयिं) उत्तम वीरोंसे युक्त धन हमारे लिये (आ भर) भर दो। और हे (सुक्रतो) अच्छे कर्म करनेवाले ! (रक्षांसि) राक्षसोंका (जहि) नाश कर।

१ सुवीरं रयिं आ भर— उत्तम वीर जिसके साथ रहते हैं ऐसा धन हमें भरपूर भर दो। वीरपुत्र पौत्रोंसे युक्त धन दो।

२ रक्षांसि जहि— दुष्टोंका नाश कर।

३ जातवेदाः विचर्षणिः सुक्रतुः— विद्या प्राप्त कर, विशेष दृष्टि धारण कर और उत्तम कर्म कर।

मानव धर्म— ज्ञानी बन, निरीक्षक बन और उत्तम कर्म कर। उत्तम वीरोंके साथ रहनेवाला धन प्राप्त कर और दुष्टोंका दमन कर।

[३०] (१५५) हे (जातवेदः) जिससे ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे देव ! (त्वं नः अंहसः पाहि) तू पापसे हमारी रक्षा कर। हे (ब्रह्मणः-कवे) ज्ञानके द्रष्टा ! (अघायतः नः रक्ष) पापी शत्रुओंसे हमारी रक्षा कर।

१ जातवेदाः— जिसने ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा ज्ञानी। जो बने हुए पदार्थोंकी विद्या जानता है। वेद जिससे प्रकट हुए।

२ ब्रह्मणः कविः— ज्ञानका द्रष्टा, ज्ञान प्राप्त करके जो अतीन्द्रियार्थदर्शी ज्ञानी बना है।

३ अंहसः नः पाहि— पापसे हमारा बचाव कर।

४ अघायतः नः पाहि— पापियोंसे हमारी सुरक्षा कर।

मानव धर्म— ज्ञान प्राप्त कर, द्रष्टा बन, पापसे बचाओ और पापियोंसे बचाओ।

[३१] (१५६) हे (अग्ने) अग्नि ! (दुरेवः यः मर्तः) दुष्ट अभिप्रायवाला जो मनुष्य है (नः वधाय आ दाशति) जो हमारे वधके लिये यत्न करता है। (तस्मात् अंहसः नः पाहि) उस पापीसे हमें बचाओ।

मानव धर्म- जो दुष्ट अभिप्राय अपने मनमें धारण करता है। जो हमारा वध करता है उस पापीसे अपना बचाव करो।

[३२] (१५७) हे (देव) तेजस्वी विबुध ! (त्वं) तू (यः मर्तः नः) जो मनुष्य हमको (जिघांसति) मारनेकी इच्छा करता है। (तं दुष्कृतं जिह्वया परि बाधस्व) उस दुष्ट कर्म करनेवाले मनुष्यका अपनी तीक्ष्ण ज्वालासे सब प्रकारसे नाश कर।

मानव धर्म— जो मनुष्य अपना नाश करनेकी इच्छा करता है। उस पापीका नाश करना उचित है।

[३३] (१५८) हे (सहन्त्य अग्ने) सामर्थ्यवाले अग्नि ! तेजस्वी देव ! (भरद्वाजाय सप्रथः शर्म यच्छ) भरद्वाजको सब प्रकारका यशस्वी गृह दे। तथा (वरेण्यं वसु) श्रेष्ठ धन दे।

१ सहन्त्यः— शत्रुका पराभव करनेके सामर्थ्यसे युक्त होना चाहिये।

२ भरद्वाजः- (भरत-वाजः) जो अन्नका दान करता है।

४ शर्म— संरक्षक घर, जिस घरमें दुष्टोंका प्रवेश नहीं हो सकता ऐसा किले जैसा घर।

मानव धर्म- मनुष्य यशस्वी घर प्राप्त करे और श्रेष्ठ धन प्राप्त करे।

३४ अग्निर्वृत्राणि जंघनद्द्रविणस्युर्विपन्यया । समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ १५९ ॥
३५ गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे । सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ १६० ॥
३६ ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे । अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥ १६१ ॥
३७ उप त्वा रण्वसंदृशं प्रयस्वन्तः सहस्कृत । अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ १६२ ॥
३८ उपच्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् । अग्ने हिरण्यऽसंदृशः ॥ १६३ ॥
३९ य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृंगो न वंसगः । अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥ १६४ ॥

---

[३४] (१५९) (विपन्यया) स्तोत्रोंके साथ (आहुतः समिद्धः) हवन होनेके कारण प्रदीप्त और (शुक्रः अग्नि.) पवित्र तेजवाला अग्नि (द्रविणस्युः) धन देनेकी इच्छा करता हुआ (वृत्राणि जंघनत्) राक्षसादि शत्रुओंका नाश करे ।

[३५] (१६०) (मातुः गर्भे अक्षरे) मातापृथ्वीके बीच स्थानकी अविनाशी वेदीमें (विदिद्युतान.) प्रकाशनेवाला (पितुः पिता) पिताका पिता (ऋतस्य योनिं) यज्ञकी वेदीपर (आ सीदन्) आकर बैठता है ।

अग्नि पुत्र है, उसकी माता पृथिवी है । पृथिवीका पुत्र अग्नि है । पृथिवीका पति द्युलोक है । द्यावापृथिवी ये दो परस्पर पिता-माता है । यह अग्नि पिताका भी पिता है । द्युलोकका भी पिता मूल अग्नितत्त्व है । मूल आग्नेय तत्त्वका केन्द्र सूर्यमें हुआ है । सूर्यसे पृथ्वीपरका अग्नि जन्मा है । इससे यज्ञ होता है ।

[३६] (१६१) हे (जातवेदः विचर्षणे अग्ने) सब पदार्थोंको जाननेवाला, विशेष द्रष्टा अग्नि ! (यत् दिवि दीदयत्) जो द्युलोकमें प्रकाशित होता है, वह (प्रजावत् ब्रह्म आ भर) पुत्रपौत्र देनेवाला ब्रह्मरूपी अन्न हमें भरपूर भर दो।

१ प्रजावत् ब्रह्म आ भर— पुत्रपौत्रोंको बढानेवाला ज्ञान हमें चाहिये । अन्न भी ऐसा चाहिये जिससे वीर्यवान् पुत्र-पौत्र उत्पन्न हो सकते हों । ब्रह्म- ज्ञान, अन्न ।

[३७] (१६२) हे (सहस्कृत अग्ने) बलपुत्र अग्नि ! (प्रयस्वन्तः) अन्न देनेवाले हम लोग (रण्व संदृशं) देखनेमें रमणीय ऐसे (त्वां गिर) तेरे समीप स्तुति (उप ससृज्महे) करते हैं ।

सहस्+कृतः— बल बढानेवाला, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य निर्माण करनेवाला ।

रण्व+संदृशः— रमणीय दर्शन जिसका है । सुन्दर, रमणीय ।

प्रयस्+वान्— अन्नवाला, प्रयत्नशील ।

१ प्रयस्वन्तः रण्वसंदृशं गिरः उप ससृज्महे— अन्नदान करनेवाले हम सब रमणीय ज्ञानी पुरुषकी प्रशंसा अपनी वाणीसे करते हैं ।

[३८] (१६३) हे (अग्ने) अग्नि ! (हिरण्यसंदृशः घृणेः) सुवर्णके समान कान्तिमान् तथा दीप्तिमान् (ते) तेरे समीप (उप अगन्म) हम प्राप्त होते हैं और (छाया इव शर्म) छायामें जैसा सुख मिलता है । उस प्रकार तेरे समीपमें हमें सुख मिलता है ।

१ छायां शर्म इव— धूपमें तपा हुआ मनुष्य जैसा छायामें आकर सुखका अनुभव करता है, वैसा सुख तेजस्वी नेताके समीप अनुयायीको प्राप्त होता है । इसलिये कहा है—

१ हे अग्ने ! हिरण्यसंदृशः घृणेः ते उप अगन्म— हे अग्ने ! हे अग्रणी ! सुवर्ण जैसे तेजस्वी नेताके पास हम जाते है । और सुखका अनुभव करते है ।

तेजस्वीके पास जानेसे अन्धकारका भय दूर होता है । ज्ञानीके पास जानेसे अज्ञानका भय दूर होता है ।

[३९] (१६४) (य) जो (उग्र इव शर्यहा) उग्रवीरकी तरह बाणोंसे शत्रुओंका नाश करनेवाला (तिग्मशृंगो न) तीक्ष्ण सींगवाले बैलकी तरह, हे (अग्ने) अग्ने ! तू (पुरः रुरोजिथ) असुरोंकी तीन पुरियोंका नाश करता है ।

१ उग्रः शर्य-हा पुरः रुरोजिथ— उग्रवीर अपने बाणोंसे शत्रुकी नगरियोंको तोड देता है ।

४० आ यं हस्ते न खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति । विशामग्निं स्वध्वरं ॥ १६५ ॥
४१ प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम् । आ स्वे योनौ नि षीदतु ॥ १६६ ॥
४२ आ जातं जातवेदसि प्रियं शिशीतातिथिम् । स्योन आ गृहपतिम् ॥ १६७ ॥
४३ अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाऽश्वासो देव साधवः । अरं वहन्ति मन्यवे ॥ १६८ ॥
४४ अच्छा नो याह्या वहाऽभि प्रयांसि वीतये । आ देवान्त्सोमपीतये ॥ १६९ ॥
४५ उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् । शोचा वि भाह्यजर ॥ १७० ॥

---

[४०] (१६५) (शिशुं जातं न) नवजात बालकको जैसे (हस्ते आ बिभ्रति) हाथमें धारण करते हैं। अथवा (खादिनं न) हिंस्र प्राणीको जैसे सावध रहकर हाथसे पकडते हैं वैसे (विशां स्वध्वरं यं अग्निं) मनुष्योंके यज्ञके निष्पादक इस अग्निकी सेवा यत्नसे करो।

१ जातं शिशुं न हस्ते आ बिभ्रति— नवजात बालकको जैसे हाथसे सावधानीसे पकडते हैं।

२ खादिनं न हस्ते आ बिभ्रति— क्रूर हिंस्र पशुको जिस तरह सावध रहकर पकडते हैं।

३ विशां स्वध्वरं अग्नि— उस तरह अत्यन्त सावधान रहकर इस अग्निकी सेवा करनी चाहिये।

मानव धर्म— नवजात बालकको सावधानताके साथ पकडना चाहिये; नहीं तो उसको दुःख होगा। तथा व्याघ्र आदि हिंसक प्राणीको सावध रहकर पकडना चाहिये, नहीं तो वह अपनेको ही काट देगा।

पहिली सावधानता दूसरेको संभालनेकी है और दूसरी सावधानता अपनी सुरक्षा करनेके लिये है।

[४१] (१६६) (देवं वसुवित्तमं) दीप्तिमान् और धनोंको पास रखनेवाले अग्निको (देव वीतये) देवोंको देनेके लिये (प्र भरत) अन्नका अर्पण करो। वह अग्नि (स्वे योनौ) अपनी वेदीके स्थानमें (आ नि षीदतु) आकर बैठे।

[४२] (१६७) (जातं अतिथिं) आये अतिथिके समान (प्रियं) प्रिय (गृहपतिं) गृहपतिको (आ शिशीत) स्थापित करो। और (जातवेदसि स्योने) ज्ञान देनेवाले सुखकर अग्निमें आह्वनीय द्रव्य अर्पण करो।

अतिथि- (अतति) जो गतिमान् है। अतिथिके समान पूज्य है।

प्रथम अग्निको स्थापन करो, पश्चात उसको प्रदीप्त करो और पश्चात् उसमें हवन करो।

अतिथि आनेपर उसको प्रथम आसनपर बिठला और उसको प्रसन्न करो तत्पश्चात् उसको खानेके लिये अन्न समर्पण करो।

[४३] (१६८) हे (देव अग्ने) प्रकाशमान् अग्रणे! (ये तव साधवः अश्वासः) जो तेरे उत्तम घोडे अपने रथको (युक्ष्व) जोड, वे (मन्यवे हि अरं वहन्ति) यज्ञके प्रति जानेके लिये तुझे इच्छानुसार वहन कर सकते हैं।

१ साधवः अश्वासः युक्ष्व— उत्तम शिक्षित घोडे रथको जोडने चाहिये। अशिक्षित घोडे रथको गढेमें फेंक देंगे।

२ मन्यवे अरं वहन्ति- इच्छानुसार जो रथको चलाते हैं वे घोडे उत्तम हैं।

[४४] (१६९) हे अग्रणे! (न अच्छ याहि) हमारे पास आओ। (प्रयांसि देवान् वीतये सोमपीतये) अन्नोंको विबुधोंको देनेके लिये सोमपानके समय (आ वह) ले चलो।

[४५] (१७०) हे (भारत अग्ने) भरणपोषण करनेवाले अग्नि! (उत् शोच) ऊर्ध्व गतिसे जानेवाली ज्वालाओंसे प्रकाशित हो। हे (अजर) वृद्धावस्थासे रहित! (दविद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान तू (द्युमत्) कान्तिमान् होकर (अजस्रेण) अविच्छिन्न तेजसे (वि भाहि) अच्छी तरहसे प्रकाशित हो।

१ भारत! उत् शोच- हे भरण करनेवालेके हितकर्ता! अपने तेजसे प्रकाशित हो।

२ दविद्युतत् द्युमत् अजस्रेण वि भाहि— तेजस्वी

४६ वीती यो देवं मर्तो दुवस्येदग्निमीळीताध्वरे हविष्मान् ।
होतारं सत्ययजं रोदस्योरुत्तानहस्तो नमसा विवासेत् ॥ १७१ ॥
४७ आ ते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि ।
ते ते भवन्तूक्षण ऋषभासो वशा उत ॥ १७२ ॥
४८ अग्निं देवासो अग्रियमिन्धते वृत्रहन्तमम् ।
येना वसून्याभृता तृळ्हा रक्षांसि वाजिना ॥ १७३ ॥

और प्रकाशित होकर प्रचण्ड तेजसे उत्तम रीतिसे प्रकाशित हो जाओ।

[४६] (१७१) (यः हविष्मान् मर्तः) जो हविर्द्रव्यसे युक्त मनुष्य (वीती देवं) कान्तिमान् होकर देवकी (दुवस्येत्) परिचर्या करता है, उस (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञमें (रोदस्योः) द्यावापृथिवीमें (होतारं सत्ययजं अग्निं) वर्तमान देवोंको बुलानेवाले सत्यरीतिसे यजन करनेवाले अग्निकी (ईळीत) स्तुति गाओ। और (उत्तानहस्तः) हाथ उठाकर (नमसा) नमस्कारसे (आ विवासेत) सेवा करे।

१ उत्तानहस्तः नमसा आविवासेत्- हाथ उठाकर नमस्कार करके सेवा करे। हाथ उठाकर नमस्कार करना चाहिये। ऊपर फैले हाथका नाम उत्तानहस्त है। जिस ओरसे भोजन करते है उस हथेलीको ऊपर उठाकर नमस्कार करना ऐसा भी भाव यहाँ दीखता है।

२ मर्तः देवं दुवस्येत्— मनुष्य देवताकी सेवा करे।

[४७] (१७२) हे (अग्ने) अग्नि ! (ते हृदा ऋचा तष्टं हविः) तुझे अन्तःकरणपूर्वक मंत्रोंसे संस्कार किया अन्न (आ भरामसि) हम देते हैं। (ते) तेरे लिये (उक्षणः ऋषभासः) वहन समर्थ बैल (उत वशाः) और गौ अन्न देनेवाले (भवन्तु) हों।

१ ते हृदा ऋचा तष्टं हविः आ भरामसि-तेरे लिये अन्तःकरणपूर्वक मंत्रोंद्वारा सुसंस्कृत अन्न अर्पण करते हैं। इस तरह हवि अर्पण करना चाहिये।

२ ते उक्षणः ऋषभासः उत वशाः भवन्तु- तेरे लिये बलवान् बैल और गायें अन्न देनेवाली हों। बैल अन्न उत्पन्न करते हैं। बैल हल चलाते हैं, उससे धान उत्पन्न होता है। वह हवि है। गौ दूध, घी देती है जो हवि होता है। इस तरह बैल और गाय अग्निको हवि देते हैं।

[४८] (१७३) (येन वाजिना रक्षांसि तृळ्हा) जिस बलवान्ने राक्षसोंका नाश किया और जिस अग्निने (वसूनि आभृता) धन लाकर भर दिये हैं। उस (अग्रियं वृत्रहन्तमं अग्निं) अग्रेसर, मुख्य, शत्रुनाशक, अग्निको अग्रणीको (देवासः) विबुध लोग (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं, प्रज्वलित करते हैं और उसमें हवन करते हैं।

१ वाजिना रक्षांसि तृळ्हा- बलवान् वीर राक्षसोंका नाश करता है।

२ येन वाजिना वसूनि आभृता— बलवान् वीरने धनोंको लाकर भर दिया है।

३ देवासः अग्रियं अग्निं इन्धते— देव अग्रगामी अग्निको प्रदीप्त करते हैं [और उसमें हवन करते हैं।]

॥ अग्नि सूक्त समाप्त ॥

भरद्वाज ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन

षष्ठ मण्डलका द्रष्टा ऋषि बृहस्पति पुत्र भरद्वाज ऋषि है। वह अग्निके मन्त्रोंद्वारा अग्निका वर्णन करता है। यह अग्नि 'अग्रणी पुरुष' है। किसी कार्यको अन्ततक पहुंचाना अग्रणीका कार्य है। अर्थात् अग्निके गुण नेताके गुण है। नेता अग्रणी कैसा होना चाहिये, यह अग्निके वर्णनमें पाठक देख सकते हैं। यह वर्णन देखिये—

अग्रणी बुद्धिमान हो।

अग्रणी ज्ञानी, बुद्धिमान तथा ज्ञाता हो, इस विषयमें वेदमंत्र इस तरह वर्णन करते है—

९७ विप्रः (६।१३।३)— विशेष प्राज्ञ, विशेष ज्ञानी, विशेष विद्यावान्।

१ धियः होता (६।१।१)- बुद्धिका दाता, सुबुद्धि देनेवाला, बुद्धियुक्त कर्मोंका प्रवर्तक (धी-बुद्धि और कर्म)

८६ अपाकः विभावा (६।१२।४) -विद्वान व प्रभावी। प्रभावशाली परिपक्व बुद्धिमान्। **'पाकः पक्तव्यप्रज्ञो मूर्खः तद्विलक्षणोऽपाकः।** सायनः' पाकका अर्थ जिसकी बुद्धि परिपक्व होनेवाली है अर्थात् मूर्ख। और अपाकका अर्थ जिसकी बुद्धि परिपक्व हो चुकी है। परिपूर्ण रीतिसे परिपक्व बुद्धिवाला और प्रभावी ज्ञानी।

१३४ आसा वह्निः विदुष्टरः (६।१६।९)- मुखसे जिह्वाद्वारा बोलनेमें अधिक ज्ञानी। **'विदुः-तरः'**— ज्ञानियोंमें, विद्वानोंमें अधिक या विशेष विद्वान्। **'वह्निः'**- वहन करनेवाला, अर्थका वहन करनेवाला। **'आसा वह्निः'**- मुखसे अर्थका वहन करनेवाला, भाषण करनेवाला, विशेष प्रभावी वक्तृत्व करनेवाला, मुखसे वक्तृत्व करके उत्तम भाव प्रकट करनेमें बडा चतुर। उत्तम कुशल और प्रभावी वक्ता। विशेष ज्ञानी और विशेष प्रभावी वक्ता। वक्ताओंमें विशेष उत्तम वक्ता और उत्तम आशय मुखसे बोलनेमें प्रवीण।

ऐसा नेता होना चाहिये।

अग्रणी ज्ञानी हो

अग्नि अर्थात् अग्र-णी ज्ञानी होनेके विषयमें निम्न स्थानमें दिया वर्णन देखने योग्य है—

८ कविः (६।१।८)— कवि, ज्ञानी, दूरदर्शी काव्य करनेवाला, क्रान्तदर्शी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, शब्दशास्त्रमें प्रवीण।

३४ जातवेदाः (६।४।२)— जो **(जातं वेत्ति)** बने हुए पदार्थोंको जानता है। जो बनता है उसको यथावत् जानता है। **(जाताः वेदाः यस्मात्)** जिससे वेद प्रकट हुए। जिससे ज्ञानके प्रवाह प्रचलित हुए।

४३ चिकित्वः जातवेदः (६।५।३)— ज्ञानी और विद्वान्।

११९ जातवेदाः विश्वा जानिम वेद (६।१५।१३)- ऐसा ज्ञानी जो सब जन्मे हुए, उत्पन्न हुए पदार्थोंके गुणधर्मोंको यथावत् जानता है। सब पदार्थोंके जन्मोंके वृत्तान्तको जानता है।

११६ विश्वा वयुनानि विद्वान् (६।१५।१०)- सब कर्मोंको जो जानता है। उत्तम कर्म उत्तम रीतिसे कैसे करने चाहिये इसका उत्तम ज्ञान जिसको है।

४१ प्रचेताः (६।५।१), **५ चेत्यः** (६।१।५)- विशेष ज्ञानी, विशेष ज्ञानविज्ञानसे संपन्न विद्वान्। ऐसा नेता होना चाहिये।

५७ त्वत् विप्रः वाजी जायते, त्वत् वाजी विप्रः जायते (६।७।३)- तुझसे ज्ञानी बलवान् अथवा अन्नवान् होता है, अथवा तुझसे बल प्राप्त करके बलवान् पुरुष ज्ञानी बन जाता है। अर्थात् यह अग्रणी ज्ञान, बल और अन्न बढानेके साधन जानता है।

७१ ऋतुथा वक्त्वानि वदाति (६।९।३)- वह ज्ञानी ऋतुके अनुकूल जैसा बोलना चाहिये, वैसे वक्तृत्व करता है। वसंत-ग्रीष्म आदि ऋतु राष्ट्रमें होते हैं, व्यक्तिमें बाल्य, तारुण्य आदि ऋतु होते हैं, इन ऋतुओंमें जैसा भाषण करना चाहिये, वैसा यथायोग्य भाषण वह करता है।

७१ सः तन्तुं ओतुं च विजानाति (६।९।३)- वह तन्तुको जानता है और वह ओतुको भी जानता है। कपडेमें लंबे धागेका नाम तन्तु और आडे धागेका नाम ओतु है। एकको ओत और दूसरेको प्रोत कहते हैं। जो इस विश्वमें ओतप्रोत भरा है, वह विश्वरूपका तन्तु, विश्वका सूत्रात्मा है,

ा। हम
होकर रहें।
ही सब काम
धनोंसे प्रजाज-
र मनुष्य प्रभुके

मार्च १९५६

वैदिक धर्म

[मार्च १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

. आ. से ५) रु.

शके लिये ६॥) रु.

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय १ श्रेष्ठतम कर्मका आदेश १॥) रु
,, ३२ एक ईश्वरकी उपासना अर्थात् पुरुषमेध १॥) ,,
,, ३६ सच्ची शांतिका सच्चा उपाय १॥) ,,
,, ४० आत्मज्ञान – ईशोपनिषद् २ ,,
डाक व्यय अलग रहेगा।

मन्त्री— स्वाध्याय मण्डल 'आनन्दाश्रम
किल्ला-पारडी जि. सूरत)

३७

वैदिक धर्म

अंक ३

क्रमांक ८७

माघ, विक्रम संवत् २०१२, मार्च १९५६

स्वयं पुरुषार्थी बनो

मा ते अस्यां सहसावन् परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै।
त्रायस्व नोऽवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ॥

ऋ० ७।१९।७

हे (सहसावन्) बलवान् (हरिवः) उत्तम घोडे अपने पास रखनेवाले इन्द्र ! (तव अस्यां परिष्टौ) तुम्हारी प्रशंसा करनेके समय (परादै अघाय मा भूम) दूसरेसे सहायता लेनेका पाप हमसे न हो, अर्थात् हम स्वयं तुम्हारी स्तुति करनेमें समर्थ हों। (नः अवृकेभि. वरूथैः त्रायस्व) हमारा संरक्षण क्रूरता जिसमें नहीं है ऐसे उत्तम साधनोंसे करो। हम (सूरिषु प्रियासः स्याम) विद्वानोंमें तुम्हारे लिये अधिक प्रिय होकर रहें।

मनुष्य स्वयं शक्तिशाली हो। दूसरेकी सहायता लेकर ही सब काम करनेका पाप न करे। जिसमें हिंसक भाव नहीं है ऐसे साधनोंसे प्रजाजनोंका संरक्षण किया जाय। ज्ञानियोंमें अधिक ज्ञानी बनकर मनुष्य प्रभुके प्रिय भक्त बनकर रहे।

वेदमन्दिर-वृत्त

योगमहाविद्यालयका वर्ग— ग्रीष्मावकाशमें पुन आरंभ होनेवाला है। ८ दिन, १५ दिन या एक महिना इस वर्गकी अवधि रहेगी। सूर्यनमस्कार, योगासन और आवश्यक प्राणायाम इन दिनोंमें सिखाये जांयगे। जो आना चाहते हैं वे अपना नाम लिख भेजें। अभ्यासक्रम विनामूल्य सिखाये जांयगे। रहनेके लिये स्थान मिलेगा। भोजनकी व्यवस्था बोर्डिंगमें अथवा भोजनालयमें होगी और वहां प्रतिदिनका ॥ रु या १॥ रु खर्च लगेगा।

वेदमहाविद्यालयका वर्ग- गर्मीकी छुट्टीमें आरंभ होनेवाला है। विशेषतया इस वर्गमें उपनिषद्, गीता और वेद संबंधि व्याख्यानें होंगी। यह वर्ग ८ दिन, १५ दिन या एक महिना तक चलेगी। शिक्षण, स्थान और भोजनकी व्यवस्था उपर्युक्त अनुसार रहेगा।

जो आना चाहें वे शीघ्र सूचना दें ताकि उनके लिये स्थान सुरक्षित रखे जा सकेंगे।

सब शिक्षण-वर्गोंका कार्य यथायोग्य पूर्ववत् चालू है।

गायत्री जपानुष्ठान— गत मासके पश्चात् गायत्री जपका अनुष्ठान नीचे लिखे अनुसार हुआ है—

१ वाशीम- श्री भा श्री गुंडागुळे	६००००
२ अहमदाबाद- श्री. रा. ज. सोमण	६७००००
३ बंगाडी- श्री के. ग. भ. मेहेंदळे	३५५४
४ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	१७५००
५ उमरा- श्री मोहिनीराज रा. चांदेकर	२४०००
६ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१२५०००
७ रामेश्वर- श्री रा ह. रानडे	५१०००
	९,५१,०५४
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	६३,९६,००३
कुल जपसंख्या	७३,४७,०५७

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

विशाल भारतपर एक दृष्टि

(लेखक— श्री शिवपूजन सिंह कुशवाहा, बी. ए. कानपुर)

वर्तमान भारतवर्षका पुराना नाम आर्यावर्त है। दुष्यन्तके पुत्र भरतके नाम पर इसका नाम भारतवर्ष हो गया ऐसा कहा जाता है। जब यवनोंका पदार्पण हुआ तो इस पवित्र देशका नाम 'हिन्दुस्तान' और यहांके निवासियोंको हिन्दू कहा जाने लगा। जब गौराङ्गोंका पदार्पण हुआ तो इसका नाम 'इण्डिया' पड गया। अब दुर्भाग्यसे 'विशाल भारतके' दो टुकडे हो गये हैं और इसका एक भाग पाकिस्तानके नामसे है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाए तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि भारत एक विशाल देश है।

भारतवर्षमें कई एक सागर हैं जिनका ऐतिहासिक दृष्टिसे महान महत्व है। प्राचीन आर्य लोग जहां सागर द्वारा व्यापार अन्य देश देशान्तरोंमें करते थे वहां वे सुदूर प्रान्तोंमें वैदिक धर्मका भी प्रचार करते थे। आज सम्पूर्ण देशोंमें वैदिक संस्कृतिका प्रभाव है।[1]

भारतीयों को भारत देश अत्यन्त प्रिय है। वे इसको अपनी मातृभूमि मानते हैं। पुराणमें इसकी महिमामें कहा गया है:–

'गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु
ये भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गस्य च हेतु
भूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

देवतागण भी इस भारत भूमिको धन्य बतलाते हैं।

यहांके निवासी भारतवर्षके पहाडों, नदियों, वनों तथा पुरियोंको पवित्र दृष्टिकोणसे देखते हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, और कावेरी ये नदियां अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं। वैज्ञानिकोंने गंगाजलकी परीक्षा करके बतलाया है कि इसमें अनेक जंगली जडी, बूटियोंका मिश्रण है। इसके जलमें अनेक संक्रामक कीटाणुओंके मारनेकी शक्ति है। गंगाजल बोतलोंमें बन्द करके रखने पर भी कई वर्षोंतक खराब नहीं होता है। काश्मीरसे कन्याकुमारी, तथा पंजाबसे आसाम तकके आर्य इस गंगाजलको अत्यन्त पवित्र मानते हैं जिससे इनमें धार्मिक एकता है। केरल देशोत्पन्न आद्यगुरु श्री शङ्कराचार्यजी ने इसी धार्मिक एकताका ध्यान रखते हुए उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिममें मठोंकी स्थापना की और प्रयाग, हरिद्वार, नासिक, उज्जैनमें १२ वर्षके पश्चात कुम्भका नियम प्रचलित किया था जिससे समस्त भारतवासी एकत्रित होकर अपने धार्मिक विषयों पर वार्तालाप करें और आपसके मतभेदको दूर हटा दें।

वर्णाश्रम धर्मका पालन सम्पूर्ण भारतवर्षमें एकसा है। बिहार, बंग, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र आदि सभी प्रदेशोंमें विभिन्न भाषाभाषी निवास करते हैं, पर वे सभी एक ही संस्कृतिके अनुयायी हैं। जहां बिहारी, बंगाली, व्रज, उडिया, गुजराती, हिन्दी, तामिल, तेलगू, मलयालम, कनाडी आदि भाषाएं बोली जाती हैं, पर इनमें संस्कृतके शब्दोंकी अधिकता है।[2]

प्राचीन भारतवर्षमें बहुतसे छोटे बडे राज्य थे जिनका अब विलय हो गया है। इस देशमें यह विचार भी विद्यमान था कि यह विशाल देश एक चक्रवर्ती साम्राज्यका क्षेत्र है। आचार्य चाणक्यने कहा है कि हिमालयसे सागर पर्यन्त जो सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती शासनका क्षेत्र है। इस प्रकार राजनैतिक एकता भी है।

१६ संस्कार प्रायः सभी प्रान्तोंमें समान हैं। प्रायः सभी प्रान्तोंके निवासियोंका परिधान समान है। बिहार, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, सौराष्ट्र आदिके लोग धोती पहिनते हैं। आर्योंका परिधान ही सर्वोत्तम माना गया है।[3]

प्रकृतिने इस महान देशमें समृद्धि, परिपूर्णता और वैभवके जितने सामान एकत्रित कर दिए हैं वे किसी अन्य देशको कभी स्वप्नमें भी नहीं प्राप्त हो सकते हैं। सभी प्रकारके लोग, छः ऋतुएं, आदि इस देशकी महान विशेषता है।

वेदज्ञ प्रो० मैक्समूलरकी सम्मति है, " यदि मुझसे प्रकृति-प्रदत्त सम्पत्ति, और सौन्दर्यमें सर्वोत्कृष्ट देश या भूमण्डल पर स्वर्ग खोजनेके लिये कहा जाय तो मैं भारतकी ओर निर्देश करूंगा। "[4]

भूमण्डलके साधारण पर्यटकसे लेकर सम्राट तक, छोटेसे लेखकसे बडे २ विद्वान दार्शनिकों तक, सभी इस दिव्य भूमिको देखकर कुछ समयके लिये विस्मय-विमुग्ध बन चुके हैं। लार्ड मैकाले 'बंगाल'को पूर्वीय देशोंका 'नन्दन विपिन' बतलाते हैं, तो 'डाक्टर लीटनर' इसे 'सूर्यका देश' कहते हैं, लुटेरा महमूद गजनी तक इसे 'बहिश्त-स्वर्ग।' तो विख्यात फ्रांसीसी पीयरर लोटी बडी श्रद्धा भक्तिसे वेदोंको इस भूमिको नमस्कार करता है " इस प्राचीन भारतको, जिसकी मैं सन्तान हूं, जो ऐश्वर्य, कला-कौशल और दर्शनमें सर्वोच्च था मैं श्रद्धाके साथ नमस्कार करता हूं।"[५]

भारतवर्षका आधुनिक क्षेत्रफल ११६ करोड एकड है। इस दृष्टिकोणसे भारत जर्मनीसे सात गुणा, जापानसे ग्यारह गुणा, ग्रेट ब्रिटेनसे १५ गुणा और इंगलैण्डसे २२ गुणा है। जनसंख्याके हिसाबसे ब्रिटिश द्वीप पुञ्जके आठ गुणोंसे भी बडा है।

भारतवर्ष विश्वका भाग्य है, भूमण्डलका भूषण है।

इतिहासकार ए० वासफके शब्दोंमें "स्वर्गभी इसकी समताका नहीं।" सर हर्बर्ट रिसले कहते हैं— "यद्यपि बाह्य प्रकारसे भारतवर्षमें धर्म भाषा, सामाजिक आचार-विचार आदिकी अनेकता प्रतीत होती है, तथापि इन सबकी आधारभूत एकताको सुगमतासे देखा जा सकता है।

रीति-रस्मों, भाषाओं और प्रथाओंके आधार पर जातीयताकी एकतापर सन्देह करना अदूरदर्शिता है। भारतवर्षकी जातीय एकता यूरोपकी रेखाओंपर नहीं। अतः उसका मननभी भारतीय दृष्टिकोणसे होना चाहिए। भारतकी सभ्यताके मूलमें एकता है। संस्कृतिमें एकता है, धर्मोंमें एकता है और भावनाओंमें भी ऐक्य है।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता विन्सेन्ट स्मिथका कथन है:... "भारतवर्षकी भौगोलिक सीमा पर समुद्र या पहाड हैं। एशियाके अन्य देशोंसे वह नितान्त अलग है।

इन कारणोंसे वह एक देश है। और समस्त देशके लिये एक उपयुक्त और आवश्यक नाम है, भारतवर्ष। यहां (भारतमें एक भिन्न प्रकारकी सभ्यता है, जिसके कारण यह संसारके सब देशोंसे अलग है। यह भारतीय सभ्यता भारतवर्षके अन्तर्गत सब प्रान्तोंमें प्रायः एकसी ही पाई जाती है। इसलिये हम अखिल भारतवर्षको भूमण्डलकी राजनैतिक, सामाजिक और मानसिक उन्नतिके इतिहासमें एक देश कह सकते हैं।"[६]

जैकोलियटकी दृष्टिमें:—संक्षेपमें भारतका अध्ययन, सच्चे रूपमें मानवताका अध्ययन है। अभाग्यवश बिना इस देशमें रहे, इसके रस्मो-रिवाजसे पूर्ण परिचित हुए, और सबसे अधिक इसकी जीवित भाषा संस्कृतका पूर्ण परिज्ञान प्राप्त किए बिना इसके गौरवका अनुसन्धान करना कठिन है।"[७]

प्राध्यापक हीरेन भी भारतकी प्राचीनता और महत्ताको स्वीकार करते हुए कहते हैं:— "भारतवर्ष ज्ञानका वह उत्पत्ति स्थान है जहांसे एशियाके ही नहीं अवशिष्ट अंशने अपितु निखिल पाश्चात्य जगतने अपने ज्ञान एवं धर्मको प्राप्त किया है।[८]

वास्तवमें भारतवर्ष विशाल है, विश्वका गुरु है। विश्वमें वैदिक संस्कृतिको प्रसार करनेका श्रेय इसीको है। सम्प्रति यह किसी भी देशसे कम नहीं है। अंग्रेजोंने अपनी कूटनीतिसे इसे दो टुकडोंमें विभक्त करवा दिया, पर वह दिन दूर नहीं जब भारतवर्ष अखण्ड होकर रहेगा।

---

१ देखो पं. विश्वनाथशास्त्री, वेदतीर्थकृत 'विश्वपर हिन्दुत्वका प्रभाव' तथा पं. रघुनन्दनशर्मा साहित्यभूषणकृत 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ। २ पं. रघुनन्दनशर्माकृत 'अक्षर विज्ञान' पुस्तक।
३ पं. रघुनन्दनशर्माकृत 'वैदिक सम्पत्ति' पुस्तक।
४ 'India what can it teaches us.' ५ 'The Arya' August 1914.
६ 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' ७ 'बाइबिल इन इण्डिया'
८ 'Historical Researches.' V. II P. 45.

गीतामें विश्वसृष्टि

(लेखक— श्री स्वा. केशवदेवजी आचार्य, मेरठ)

प्रचलित सांख्यके अनुसार सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको मूल प्रकृति कहते हैं। यह प्रलय अवस्था है। जब इस साम्यावस्थामें विषमता उत्पन्न होती है तो महद्, अहंकारादि क्रमसे सृष्टि होने लगती है।

सांख्यका यह सिद्धान्त मूलरूपमें आधुनिक विज्ञानने भी अपनाया हुआ है। न्यूटन × ने विश्वके मूल तत्वको अनन्त आकाशमें समानरूपमें फैला हुआ माना है। आधुनिक विज्ञान सांख्यकी मूल प्रकृतिको शक्ति (energy) नाम देकर, सांख्यके सत्कार्यवादके समान हर प्रकारके परिणामों और विकारोंका रूप धारण करनेवाली, किन्तु अपने मूलमें निर्विकार और परिणाममें अविनाशी मानता है। इस समान रूपमें व्याप्त द्रव्यमें कहीं अचानक विषमता हो गई जिससे धन और ऋण विद्युत् स्फुलिंगों (Proton and electron) की सृष्टि हुई। इन विद्युत् स्फुलिंगोंमें अचानक कहीं संयोग हो गया और फिर आकर्षण शक्ति (gravitation) से दूसरे विद्युत् स्फुलिंग उसमें आकर मिलते गये* और नीहारिकाओं (Nebulae) की रचना हुई। इनमें अपने ही वेगसे आवर्त्तन (Rotation) होने लगा जिससे इनका विभाग हुआ और सूर्य आदि नक्षत्रों (Stars) की सृष्टि हुई। इन नक्षत्रोंमें भी आवर्तन और विभागके द्वारा पृथ्वी आदि ग्रहों (Planets) की सृष्टि हुई। पृथ्वीसे आवर्त्तन और विभागके द्वारा चन्द्र आदि उपग्रहों (Satellites) की सृष्टि हुई।

भौतिक विज्ञानके इस मतसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मूल शक्ति (energy) की, जिसे सांख्य मूल प्रकृति या प्रधान कहता है, साम्यावस्थामें विषमता होनेपर विश्वकी सृष्टि मानता है। परन्तु उससे जब यह पूछा जाता है कि किसी दूसरी प्रेरकशक्तिके बिना अचेतन प्रकृतिकी यह साम्यावस्था किसी विशेष समयपर क्यों और किस प्रकार भंग होती है, तो इसका कोई संतोषदायक उत्तर नहीं मिलता। ·|· सांख्यने प्रकृतिसे भिन्न चेतनपुरुषकी सत्ताको मानकर इस समस्याको सुलझानेका प्रयत्न किया है। सांख्य कहता है कि चेतन पुरुषके संयोगसे यह विषमता उत्पन्न होती है। इसकी व्याख्या करते हुए सांख्यने बतलाया है कि मानो किसी वनमें दो मनुष्य रहते हैं जिनमें एक लंगडा है और दूसरा अन्धा। उसमें आग लग जानेपर लंगडा

× Newton supposed " Matter evenly disposed throughout an infinite space. " We return in imagination to a time when all the smbstance of the present stars and nebulae was spread uniformly throughout space. (The Universe Around Us. Sir James Jeans)

* In the beginning was vastness, solitude and deepest night. The world was without form and almost void: But at the earliest stage we can contemplate the void sparsely broken by tiny electric particles, the germs of the things that are to be; positive and negative they wander aimlessly in solitude, rarely coming near enough to seek or shun one another. They range everywhere so that all space is filled, and yet so empty that in comparison the most highly exhausted vaccum or earth is a jostling throng. Slight aggregations occuring casually in one place and another drew to themselves more and more particles. Thus gravitation slowly parted the primal chaos. (Science and the Unseen World. Eddington.)

·|· कुछ वैज्ञानिकोंने इसका कोई भौतिक समाधान न पाकर साम्यावस्था भग्न करनेवाले कारणकी कल्पना ईश्वरकी उंगलीके रूपमें की है।

If we want a concrete picture of such a creation, we may think of the finger of God agitating the ether. (The Universe Around Us. P. 354)

अन्धेको इस विपत्तिकी सूचना देता है। अन्धा उसे अपने कन्धेपर बिठलाकर चलता है। लंगडा उसे मार्ग दिखलाता है और दोनों कष्टसे मुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार निष्क्रिय (पंगु) पुरुष और अविवेकी (अन्ध) प्रकृतिका संयोग होता है, जिससे यह सृष्टि होती है। इसका उद्देश्य होता है पुरुषके द्वारा प्रकृतिका दर्शन और पुरुषका मोक्ष + अथवा जैसे बछडेकी उपस्थितिमें उसकी पुष्टिके लिये गायके स्तनोंके अज्ञ (अचेतन) दुग्धमें क्रिया होती है इसी प्रकार पुरुषके मोक्षके लिये प्रकृतिमें क्रिया होती है। ❀ अथवा जैसे चुम्बककी समीपतामें लोहेमें क्रिया हो जाती है इसी प्रकार पुरुषकी उपस्थितिमें अचेतन प्रकृतिमें क्रिया होती है।

प्रचलित सांख्यका यह समाधान निःसन्देह भौतिक विज्ञानकी एक कमीकी पूर्ति करता है, परन्तु इससे दार्शनिक बुद्धिका पूरा संतोष नहीं होता। लंगडा जो अंधेको कर्ममें प्रवृत्त करता है वह अपने और अंधे दोनोंके हितोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और वह स्वयं भी शब्द-प्रयोगके द्वारा क्रिया करता है। अंधा भी अपने हितका समझ लेता है तभी लंगडेको अपने कंधेपर बिठाकर चलता है। ये दोनों चेतन हैं। परन्तु पुरुषमें शब्दप्रयोग जैसी कोई क्रिया संभव नहीं है और जड प्रकृतिमें अपने या पुरुषके हितको समझनेकी चेतना नहीं है। अत इस उदाहरणके अनुसार इनमें संयोगजन्य क्रिया संभव नहीं है। गायके स्तनोंमें जो वत्सको देखकर दूधका प्रवाह होता है वह स्नेहके कारण स्नेह चेतनमें होता है, अचेतनमें नहीं होता। लकडीकी बनी (जड) गायके स्तनोंसे बछडेको देखकर दूधका प्रवाह नहीं होगा। दूधके प्रवाहमें अचेतन दूधसे अतिरिक्त तीसरी शक्ति चेतन गाय कारण है।

अतः इस उदाहरणके अनुसार पुरुष (चेतन) और प्रकृति (अचेतन) से भिन्न गाय जैसी कोई तीसरी चेतन शक्ति होनी चाहिये जो प्रकृतिमें क्रिया उत्पन्न कर दे। चुम्बकके समीप जड लोहेमें जब क्रिया होती है तो वह उस समय तक होती ही रहती है जबतक कि लोहा उससे नहीं मिल जाता। लोहेके चुम्बकसे मिलते ही उसकी क्रिया समाप्त हो जाती है। यदि लोहा चुम्बकसे मिलनेसे पहले रुकता है अथवा मिलनेपर फिर क्रिया करता है तो यह किसी तीसरी शक्तिके द्वारा ही संभव हो सकता है। अतः यदि पुरुषकी उपस्थितिसे, लोहेके समान प्रकृतिमें क्रिया होती है तो वह तबतक बंद नहीं हो सकती जबतक सभी पुरुष मुक्त न हो जाय। बीच बीचमें जो प्रलय और सृष्टि होते रहते हैं ये किसी तीसरी शक्तिके बिना संभव नहीं हैं।

पातंजल योगने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार किया है। इस योगके अनुसार यह ईश्वर एक पुरुष विशेष है जो कि दूसरे जीवोंसे इस अंशमें भिन्न है कि उन्हें कभी न कभी बंधन होता है और ईश्वरको कभी भी बंधन नहीं होता। वह नित्य मुक्त है। इसमें निरतिशय सर्वज्ञता है। इसमें ऐश्वर्यकी चरमकाष्ठा है। इसकी उपासनासे दूसरे जीव स्वर्गादि ऐश्वर्यों और मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इस ईश्वरकी सर्वज्ञता और सर्वैश्वर्यता प्रकृतिके प्रकृष्ट सत्त्वगुणके आश्रित होती हैं। यह प्रकृष्ट सत्त्वप्रकृतिका ही विकार है, जिसका ईश्वरसे संयोग सृष्टिकालमें, प्रकृतिकी साम्यता भंग होनेपर ही होता है।

जब प्रलय होती है तो यह प्रकृष्ट सत्त्वप्रकृतिमें लीन हो जाता है। उस समय ईश्वर योगनिद्रामें सो जाता है। यदि यह प्रकृष्ट सत्त्व प्रलयकालमें प्रकृतिमें लीन न हो तो उसे प्रकृति, ईश्वर और जीवोंसे भिन्न एक चौथा तत्त्व मानना पडेगा। परन्तु योगमें ऐसा नहीं माना जाता ×। प्रकृष्ट सत्त्वके संयोगके बिना केवल ईश्वर (चिति शक्ति) में क्रिया संभव नहीं है। अतः पातंजल योगमें भी साम्यावस्था भंग होनेकी समस्या सांख्यके समान बनी रहती है।

न्यायदर्शनने प्रकृति और जीवसे भिन्न सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता माना है। परन्तु यहां यह कठिनाई उपस्थित होती है कि यदि ईश्वर परमाणु रूप

+ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वंधवदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः। (सां. का. २१)

❀ वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य। (सां. का. ५७)

× प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः। न चेश्वरस्य चित्तसत्त्वं महाप्रलयेऽपि न प्रकृतिसाम्यमुपैतीति वाच्यम्। यस्य हि न कदाचिदपि प्रधानसाम्यं न तत् प्राधानिकं; नापि चितिशक्तिः अशुद्धत्वात्, इत्यर्थान्तरं अप्रामाणिकमापद्यते। तच्चायुक्तं, प्रकृतिपुरुषव्यतिरेकेण अर्थान्तराभावात्। (पातंजल योगसूत्र १-२४ वाचस्पत्य टीका)

प्रकृतिसे भिन्न है तो वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता। कारण, परमाणुमें उससे भिन्न ईश्वरकी विद्यमानताके लिये रिक्त स्थान मानना पड़ेगा और उसके प्रवेशके लिए छिद्र या द्वार मानने पड़ेंगे। ऐसी स्थितिमें परमाणु एक ऐसा पदार्थ हो जाता है जैसा पानी या हवासे भरा घड़ा। यदि ऐसा है तो उसके और भी टुकड़े हो जायेंगे और वह परमाणु नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, जैसे घड़ेके भीतर पानी या हवाकी विद्यमानताके मानलेने पर भी, जिस पीतल या तांबे आदि धातुका वह घड़ा बना है उस धातुके भीतर उनका प्रवेश नहीं हो जाता। उस धातुके भीतर पानी या हवाकी विद्यमानताके लिये उसमें भी छिद्र मानने पड़ेंगे और उस धातुमें भी छिद्र माननेपर छिद्रोंके चारों ओर जहां भी उस धातुका अंश होगा वहां पानी या हवा नहीं रह सकेंगे और यदि पानी या हवाको सर्वत्र मानेंगे तो अन्तमें केवल छिद्र और पानी या हवा ही रह जायेंगे, उस धातुका लेशमात्र भी अंश कहीं भी नहीं रहेगा।

इसी प्रकार (घड़ेके भीतर पानी या वायुके समान) परमाणुके भीतर ईश्वरको मानलेने पर भी (पीतल आदिके समान) जिस जड़ द्रव्यका उस परमाणुके चारों ओरका भाग बना है उसके भीतर ईश्वर नहीं होगा। उसके भीतर ईश्वरको माननेके लिये वहां भी छिद्र मानने पड़ेंगे और वहां भी छिद्र माननेपर अन्तमें सर्वत्र केवल छिद्र और ईश्वर ही रह जायगे, परमाणुका कुछ भी अंश कहीं भी नहीं रह सकेगा। वास्तविक तथ्य यह है कि कोई भी दो भिन्न पदार्थ एक दूसरेमें सर्वव्यापी नहीं हो सकते। केवल कारण ही कार्यमें सर्वव्यापी हो सकता है, जैसे पानी बरफमें, मिट्टी घड़ेमें, रूई वस्त्रमें। यदि दो पदार्थ परस्पर व्यापी होंगे तो वे मिलकर एक हो जायेंगे जिसका अर्थ यह हुआ कि वे पहले एक ही थे, एक मूल पदार्थके दो कार्य, रूप या शक्ति विशेष थे, जैसे उष्णता और प्रकाश अग्निके रूप या कार्य हैं। कुछ व्यक्ति ईश्वरकी परमाणुमें व्यापकताके लिये लोहेमें उससे भिन्न अग्निकी व्यापकताका उदाहरण देते हैं। परन्तु पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार अग्नि (heat) लोहेका उपादान कारण मानी जाती है। न्यायशास्त्रने भी लोह आदि धातुओंको अग्निका विकार (तैजस) माना है। अतः यह उदाहरण कारणकी ही कार्यमें व्यापकताको सिद्ध करता है, दो भिन्न पदार्थोंकी नहीं। अतः प्रकृतिको ईश्वरसे भिन्न मानने पर वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

सर्वव्यापी न होनेसे ईश्वर सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता। कारण, यथार्थ ज्ञान ज्ञाताके ज्ञेयके साथ तादात्म्य संयोगसे ही हो सकता है। जब ईश्वरका परमाणुके भीतर प्रवेश ही नहीं हो सकता तो उसे उसके भीतरी तत्त्वका यथार्थ ज्ञान भी नहीं हो सकता। उसका परमाणु आदिका ज्ञान इस प्रकारका होगा जैसे कोई साधारण मनुष्य स्थूल चक्षुओंसे वस्तुओंके केवल बाहरी रूप और आकारको देखता है। साधारण मनुष्यके सामने यदि ऐसे दो गोले रखे जांय जिनमें एकके भीतर साधारण मिट्टी हो और दूसरेमें विस्फोटक पदार्थ किन्तु बाहरी रूप और आकार समान हों तो वह उन्हें समान ही मानेगा। यह उसका अल्पज्ञान है।

अत इसी प्रकार ईश्वर भी सर्वज्ञके बजाय अल्पज्ञ हो जायगा। और सर्वज्ञ न होनेसे वह सर्व शक्तिमान् भी नहीं हो सकता। कारण किसी पदार्थके यथार्थ और पूर्ण ज्ञानके बिना उसके साथ जो क्रिया की जाती है उसमें अपूर्णता रहती है। यदि ईश्वर परमाणुओंके भीतरी तत्त्वोंके यथार्थ और पूर्ण ज्ञानके बिना उनसे सृष्टि रचना करना चाहेगा तो वह उसपर अपना नियंत्रण नहीं रख सकेगा। वह करना कुछ चाहेगा और हो जायगा कुछ दूसरा ही। उसकी दशा उस मनुष्यके समान होगी जो कि किसी विस्फोटक द्रव्यसे भरे गोलेको साधारण मिट्टीका गोला मानकर उससे खेल करना चाहता है और आत्मविनाश कर लेता है। अतः वह सर्वशक्तिमान नहीं होगा। और जो न सर्वव्यापी है, न सर्वज्ञ है और न सर्वशक्तिमान है वह न इस विश्वकी रचना कर सकता है और न इसकी स्थिति बनाये रह सकता है।

मायावाद इन कठिनाइयोंसे बचनेके लिये एकमेवाद्वितीय ब्रह्मको सम्पूर्ण विश्वका कारण मानता है। वह इस ब्रह्मको सांख्यके पुरुषके समान निष्क्रिय, निर्विकार मानता है और चूंकि निष्क्रिय ब्रह्मसे विश्वकी यथार्थ सृष्टि नहीं हो सकती। इसलिये वह सांख्यकी प्रकृतिके समान एक अज्ञानमयी मिथ्या मायाकी कल्पना करता है। इस मतमें ब्रह्मसे विश्व इस प्रकार उत्पन्न नहीं होता जैसे सांख्यकी प्रकृतिसे महान् अहंकार आदि द्रव्य, अपितु वह उसमें इस प्रकार प्रतीत होता है जैसे रज्जुमें सर्प। यहां ब्रह्म विश्वका केवल अधिष्ठान कारण है उपादान कारण नहीं है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि इस विश्वकी मिथ्या प्रतीति किसे होती है? यहां चूंकि जीव कोई स्वतंत्र पदार्थ

नहीं है, इसलिये यह प्रतीति ब्रह्मको ही हो सकती है। + परन्तु पूर्ण ज्ञान, अनन्त ज्ञान, सर्व ज्ञान, प्रज्ञान घन ब्रह्म किस प्रकार मिथ्या, तुच्छ अज्ञानमयी मायाके जालमें फंस जाता है, किस प्रकार अनंतकोटि सूर्यके समान प्रकाशवाला ब्रह्म अंधकारके वशमें हो जाता है और इस विश्वकी रचना कर देता है तथा अपने आपको सुखी, दुःखी, मोही और बद्ध मानने लगता है? इस प्रश्नका कोई समाधान नहीं मिलता। जब वह पूर्णतया निष्क्रिय है तो उसमें विश्वकी मिथ्या कल्पनारूप क्रिया ही कैसे संभव हो सकती है? सांख्यके पुरुष और प्रकृति द्वैतके समान ब्रह्म और मायाका द्वैत यहां भी दूसरे रूपमें विद्यमान है और मूल समस्या अधूरी पडी रहती है *।

+ आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभागाचितिरेव केवला। संक्षेप शारीरिक।

* यह लेख वैदिक धर्मके जनवरी १९५६ के अंकमें छपे "गीतामें विश्वसृष्टि" शीर्षक लेखसे संबंध रखता है और विषयक्रममें उससे पूर्ववर्ती है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि इसे पढकर शेषभागकी पूर्ति उस लेखसे कर लें।

यज्ञ के नौ अर्थ

(आचार्य श्री विश्वश्रवा, वेदमन्दिर बरेली)

प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः ।
याञ्चयो भवतीति वा ।
यजूँष्येनं नयन्तीति वा ।
यजुरुन्नो भवतीति वा ।
बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः (निरुक्त ३।१९॥)

निरुक्तके इस प्रकरणको प्रायः सब वेदभाष्यकारोंने उद्धृत किया है। योरोपके विद्वानोंने भी निरुक्तके इस स्थलका अर्थ किया। आर्य समाजके भी कुछ विद्वान् सायण आदि भाष्यकारोंको विद्वान समझ बैठे हैं और निरुक्तके भ्रष्ट टीकाकार दुर्गाचार्य और स्कन्दकी आंखोंसे निरुक्तको पढते हैं। इनकी यह निश्चित धारणा है कि ऋषि दयानन्द खेंच-तान करते थे और निराला अर्थ पुराने ग्रन्थोंका करते हैं जो न किसीने किया और न हो सकता है। स्वामी दयानन्दजीने गुरुवर विरजानन्द जीसे केवल व्याकरण पढा था। अन्य सब ग्रन्थोंको स्वामीजीने स्वयं पढा था। आर्य ग्रन्थ गुरुपरम्परासे स्वामीजी नहीं पढे थे। अब हम ऋषिका वेद भाष्यमें पाण्डित्य तथा अन्य सबका खोखलापन दिखाते हैं।

अ० १।१।१ में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि दयानन्दने यज्ञ शब्दके नौ वाच्यार्थ किये हैं—

१- विद्वानोंका सत्कार। २- विद्वानोंसे की हुई पूजा। ३- सत्संगति। ४- विद्यादि दान। ५- महिमा। ६- कर्म। ७- अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त यज्ञ। ८- योगादि। ९— जगत्।

इनमेंसे एकका भी अर्थ लक्षणार्थ या व्यङ्ग्यार्थ नहीं है सभी अभिधेयार्थ है। ऋषिने इसको इस रूपमें समझा था कि यज्ञ शब्द ६ प्रकारका है अर्थात् ६ यज्ञ शब्द हैं जो एक दूसरेसे भिन्न हैं— १ यज्ञ, २-यज्ञ, ३-यज्ञ, ४-यज्ञ, ५-यज्ञ, ६-यज्ञ, इन सबकी आकृति एक है अतः अविद्वानोंको एक यज्ञ शब्द दिखाई देता है जैसे--मुद्रया सहितः समुद्रः और सागर वाचक समुद्र शब्दकी आकृति एक होनेसे कोई एक शब्द समझ ले, वैसे ही ये ६ यज्ञ शब्द हैं। इनको अज्ञ लोग एक शब्द गिनते हैं। ये यज्ञ शब्द भिन्न २ हैं। एक यज्ञशब्द यजनसे बनता है, दूसरा यज्ञ शब्द याच् +न+ अ से बनता है, तीसरा यज्ञ शब्द यजुः+णीञ्+क्विप्से बनता है, चौथा यज्ञ शब्द यजुः+उन्दी+कसे बनता है, पांचवा यज्ञ शब्द अजिन+अ से बनता है और छठा यज्ञ शब्द इण शतृ+जनी++ड से बनता है। ये सब कैसे हो सकते हैं। लोट पोट कर सबकी आकृति 'यज्ञ' हो जाती है इससे लोगोंको भ्रम हो जाता है कि यह एक शब्द है—

भट्टिकाव्यमें एक श्लोक है—

बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः।
बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः।
बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः।
बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः।

इस श्लोकमें जो समुद्र आदि शब्द आये हैं उनके अनेक अर्थ नहीं हैं प्रत्युत वे शब्द ही अनेक हैं- समुद्रः समुद्र -- समुद्रः इत्यादि। इसी प्रकार यज् + न, याच् + नः, यजु×उन्नः, अजिन+अ, यत् + जनः=यज्ञ सब हो जाते हैं। ये एक शब्द कैसे हैं।

पाश्चात्य विद्वान्

योरोप और अमरीकाके विद्वान् कहते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके रचयिताओंको और यास्क आदिको निश्चित रूपसे नहीं पता था कि ये शब्द कैसे बना है। अतः अनुमान लगा कर कहा है कि इससे बना है या इससे बना है निश्चय नहीं था। उनकी इस भ्रान्तिका कारण स्कन्द और दुर्गाचार्य थे। जो कि निरुक्तके टीकाकार तो बने पर वस्तुतः निरुक्त शास्त्रकी परम्परा भूल चुके थे। इन दोनोंके किये निरुक्तके व्याख्यान पदे--पदे स्खलनसे भरे हैं। हमने इस विषयपर एक छोटासा ग्रन्थ निरुक्तके समझनेमें 'प्राचीन आचार्योंकी भूल' नामक लाहौरमें छापा था। ये दुर्गाचार्य और स्कन्द भी यह प्रश्न उठाते हैं कि एक शब्दके अनेक निर्वचन क्यों हैं और इसका असगत उत्तर देते हैं। लेख विस्तार-भयसे हम उद्धृत नहीं करते। उनकी टीकाओंके आरम्भमें ही यह विषय विद्यमान है। वस्तुतः उत्तर यह देना चाहिये कि ये एक शब्द ही नहीं हैं अनेक शब्दोंके अनेक निर्वचन हैं और ऋषियोंको शब्द निर्वचनमें कोई सन्देह नहीं था। निरुक्तादिमें जो निर्वाचन प्रसंगमें 'वा' शब्द है वह सन्देह-सूचक नहीं है प्रत्युत समुच्चयार्थ है। जैसा यास्ककी भूमिकामें ही लिखा है कि 'अथापि समुच्चये वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' वायुश्च मनुश्च त्वा यह उसका अर्थ है।

स्वामीजीके ऋग्वेद भाष्यकी जो संस्कृत टीका हमने लिखी है वहां विस्तारसे हमने दिखाया है। ऋषिने जो अर्थ किसीके किये हैं उसकी पुष्टिमें ऋषिने स्वयं प्रमाण दिये हैं और जिस अर्थमें प्रमाण नहीं दिये हैं वे हमने पूरे कर दिये हैं। इन यज्ञ शब्दोंके जो नौ अर्थ ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें ऋषिने दिये हैं उनमें आठ अर्थोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त निरुक्तका उद्धरण ऋषिने दिया पर जन् धातुसे यज्ञ शब्द सिद्ध होता है इसका प्रमाण ऋषिने नहीं दिया। वह हमने निम्नलिखित अपने ऋग्वेदभाष्य प्रदीपमें दे दिये हैं-

" स यञ् जायते तस्माद् यज्ञः।

यज्ञो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः ॥ " शत० ३।१।९।२३

अर्थात् एक यज्ञ शब्द शतृ प्रत्ययान्त इण् धातु पूर्वमें रखकर जनी प्रादुर्भावे धातुसे ड प्रत्यय होनेपर बनता है- इ+अत्=यत्, जनी+डः =जाःयन्+जः= यज्+नः यज्ञः। यो हि प्रकृत्यादि पृथिव्यन्त कार्यकारण संगति यन् गच्छन् प्राप्नुवन् जातः स यज्ञः जगत् इत्यर्थः।

भिन्न भिन्न निर्वचनोंके भिन्न भिन्न अर्थ

१- इस प्रकार इण् धातु और जन् धातुसे जो यज्ञ शब्द बनता है उसका अर्थ जगत् है।

२- " यजुरुन्नो भवतीति वा "

अर्थात् जो यजुः मन्त्रोंसे पूर्ण हो जिसमें यजुर्वेदके मन्त्र भरे हों वह अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त यज्ञ है क्योंकि यज्ञ विधियोंमें अधिकतर यजुर्वेदके ही मन्त्र होते हैं अतः यजुः+उन्दी+क्त से जो यज्ञ शब्द बनता है उसका अर्थ अग्निहोत्रसे लेकर जो अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ हैं वह इस यज्ञ शब्दका अर्थ है।

३- " यजूंष्येनं नयन्तीति वा " यजूंषि=यजुर्वेद मंत्रा एवं कर्मरूपं यज्ञं नयन्ति=आदितः आरभ्य अन्तपर्यन्तं प्रायः प्रापयन्ति।

अर्थात् यजुर्वेदके मंत्र आदिसे लेकर लगभग अन्ततक जिसका प्रधान रूपसे वर्णन करते हैं वह यज्ञ है। ऋग्वेदमें ज्ञानकाण्ड यजुर्वेदमें कर्मकाण्ड और सामवेदमें उपासना काण्ड और अथर्ववेदमें विज्ञानकाण्ड है अतः यजु+नीसे जो यज्ञ शब्द बनता है उसका अर्थ कर्म है।

४- " याञ्चयो भवतीति वा " यो हि याच्यते स यज्ञः महिमा हि याचनीयो भवति। " यज्ञो वै महिमा " शत० १।३।१।१८॥

अर्थात् 'याच्+नः' से जो यज्ञ शब्द बनता है उसका अर्थ महिमा है क्योंकि महिमाको सब चाहते हैं। ऐसा ही उपरिलिखित शतपथ ब्राह्मणकी पंक्तिसे ध्वनित होता है।

५- " बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः " औपमन्यव आचार्य मन्यते अजिनानि अस्य सन्तीति विग्रहेण यज्ञ शब्दः सिध्यति। अजिन+अअज्+इन+न्+अ= इ+ अज् नः = यज्+नः= यज्ञः।

अर्थात् जिसमें कृष्णाजिन चर्मका प्रयोग हो वह यज्ञ है। योगाभ्यास आदिमें कृष्णाजिनका प्रयोग होता है अतः 'अजिन+अ' से जो यज्ञ शब्द बनता है उसका अर्थ योग है।

६, ७, ८, ९- प्रसिद्ध यज्ञ शब्द ' यज देवपूजा संगतिकरणदानेषु ' इस धातुसे नङ् प्रत्यय करनेपर यज्ञ शब्द सिद्ध होता है इस धातुके तीन अर्थ हैं। १- देवपूजा, २- संगतिकरण, ३-दान। अतः जो यज्ञ शब्द यज धातुसे बनता है उसके द्वारा तीन अर्थ हुए। ' देवपूजा ' इस शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं एक तो विद्वानोंका सत्कार करना और दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि विद्वानोंसे की हुई पूजा। इस प्रकार यज्ञ शब्दके चार अर्थ हुए। १-विद्वानोंका सत्कार, २- विद्वानोंसे की हुई पूजा, ३- सत्संगति, ४- विद्यादि दान। देवपूजाके जो दो अर्थ हमने किये हैं उसका भाव यह है कि ऋषिने अपने वेदभाष्यमें लिखा है कि "यज्ञ×होतारम् " अर्थात् वह परमात्मा विद्वानोंको सत्कार कराता है और विद्वानोंसे की हुई पूजाको स्वीकार करता है। स्वामीजीके वेदभाष्यमें ' विदुषां सत्कारः ' लिखा है। वहां हमने कर्तरि कर्मणि षष्ठी मानकर यह अर्थ निकाला है। इस प्रकार पांच यज शब्दोंके पांच अर्थ और एक यज्ञ शब्दके चार अर्थ होते हैं। इस रूपमें मन्त्रगत यज्ञ शब्दके नौ अर्थ वाच्य अर्थात् अभिधेयार्थ हुए। ये सभी अर्थ मुख्यार्थ हैं इनमेंसे एक भी लक्ष्यार्थ तात्पर्यार्थ या अर्थापत्तिसे नहीं हैं वे नौ अर्थ ये हैं—

१- विद्वानोंका सत्कार, २- विद्वानोंसे की हुई पूजा, ३- सत्संगति, ४- विद्यादान, ५- महिमा, ६- कर्म, ७- अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त यज्ञ, ८- योगादि, ९- जगत्।

इस प्रकार सही अर्थ समझकर हम अपना और विश्वका कल्याण कर सकते हैं।

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २५

[गताङ्कसे आगे]

अन्न (भौतिक द्रव्य) की ग्रन्थि

नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः।
के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥ ऋग्वेद ५।१२।२,४
नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राञ्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्। ऋग्वेद १०।१२९।१-५

मैं ज्योतिर्मय प्रभुके सत्यके समीप न शक्तिके द्वारा पहुंच सकता हूं और न द्वैतके द्वारा। ... वे कौन हैं जो कि असत्यके आधारकी रक्षा करते हैं? असत्य लोकके संरक्षक कौन हैं?

उस समय न सत् था न असत् था, न अन्तरिक्ष था, न आकाश था और न वह था जो परे है। इस सबको किसने आवृत किया था? वह कहां था? किसकी शरणमें था? वह सघन (गहन) और गहरा समुद्र क्या था? न मृत्यु थी न अमृत था और न दिन और रातका ज्ञान था। वह एकमेव श्वासरहित अपने स्वधर्मसे स्थित था, न उससे कुछ भिन्न था न परे था। प्रारंभमें तमसे आवृत्त तम था, यह सब अचेतनाका समुद्र था। जब वैश्व सत् खंडभावसे छिपा हुआ था, तब अपनी शक्तिकी महत्तासे वह एक उत्पन्न हुआ। पहले उसने भीतर काम (कामना) के रूपमें स्पंदन किया, जो कि मनका प्रथम बीज था। सत्यदर्शी ऋषियोंने हृदयस्थ संकल्पके द्वारा और विचारके द्वारा यह आविष्कार किया कि असत्में सत्का निर्माण हुआ है; उनकी किरण तिरछी विस्तृत हुई; किन्तु वहां नीचे क्या था और ऊपर क्या था? वहां बीजका आधान करनेवाले थे; वहां महत्तायें थी; नीचे स्वधर्म था, ऊपर संकल्प था।

जिस तथ्यके आधारपर हम विचार कर रहे हैं उससे वही निष्कर्ष निकल सकता है जिसपर कि हम पहुंचे हैं; यदि वह निष्कर्ष ठीक है तो हमारा व्यावहारिक अनुभव और मनका चिरकालीन अभ्यास जो आत्मा और भौतिक द्रव्यमें तीक्ष्ण विभाग करता है उसमें कोई मूलभूत यथार्थता नहीं रह जाती। यह जगत् विभिन्नताको प्राप्त हुआ ऐक्य (भिन्नाभिन्न) बहु रूपधारी एकत्व है; यह कोई ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसके सनातन भिन्न तत्त्वोंमें समझौतेका सतत् प्रयत्न होता रहता हो, जिसके असंधेय विरोधीभावोंमें सदा संग्राम होता रहता हो। इसका आधार और आदि एक ऐसा अविच्छेद्य एकत्व है जो कि अनन्त विविधताको उत्पन्न करता है।

इसका मध्यकालीन स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें आपाततः विभाग और संग्रामके पीछे एक निरंतर संगति है; इसमें अन्तर्गूढ एक चेतन और संकल्प है जो कि सर्वदा एक है और स्वयं अपने समस्त जटिल कर्मोंका प्रभु है; उसके महान् उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए यह संगति समस्त संभव असंबद्ध तत्त्वोंको संबद्ध करती है। इसलिए हमें यह मानना पडता है कि इस जगत्का अन्त होना चाहिये। उन्मज्जमान संकल्प और चेतनका परिपूर्णत्व और सविजय सामंजस्य। द्रव्य इस चेतनका स्वयं अपना एक रूप है जिसपर कि वह कार्य करता है, और उस द्रव्यका यदि भौतिक द्रव्य (जड) एक सिरा है तो आत्मा दूसरा सिरा है। ये दोनों एक हैं; जिसका हमें भौतिक द्रव्यके रूपमें इन्द्रिय-ज्ञान होता है उसका अन्तरात्मा और यथार्थस्वरूप आत्मा है; जिसका हमें आत्माके रूपमें प्रत्यक्ष होता है उसका भौतिक द्रव्य या जड एकरूप और देह है।

निश्चय ही व्यवहार दशामें आत्मा और भौतिक द्रव्यमें, चित् और जडमें बहुत बडा भेद है और उस भेदके आधार पर ही विश्व-सत्ताकी अविच्छिन्न क्रमपरम्परा और निरंतर आरोहण करती हुई श्रेणियां प्रतिष्ठित हैं। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि चेतन-सत् जब अपना ऐसा रूप धारण करता है जो कि इन्द्रियका विषय हो तो वह द्रव्य कहलाता है, चेतन-सत्का ऐसा करनेका यह उद्देश्य होता है कि द्रव्य और इन्द्रियमें जो भी संबंध स्थापित हो उसके आधार पर विश्व-निर्माणका और विश्वकी प्रगतिका कार्य आगे बढ सके। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इन्द्रिय और द्रव्यके बीचमें संबंधका केवल एक ही आधार हो, केवल एक ही अपरिवर्तनीय मूलभूत तत्त्व हो, केवल एक ही प्रकारका द्रव्य हो और एक ही प्रकारकी इन्द्रिय हो।

इसके विपरीत एक आरोहण करती हुई और उन्नत होती हुई क्रम परम्परा है। हम एक ऐसे द्रव्यको जानते हैं जो कि, हमारी शारीरिक इन्द्रियां जिस भौतिक द्रव्यकी कल्पना कर सकती हैं उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और अधिक नमनशील है और जिसे शुद्ध मन अपना स्वाभाविक विषय बनाकर उसमें किया करता है। हमें एक ऐसे सूक्ष्मतर तत्त्व (विषय) का ज्ञान होता है जिसमें कि रूप उत्पन्न होते हैं और कर्म निष्पन्न होते हैं, इसे हम मनोमय या मानस द्रव्य कह सकते हैं। भौतिक द्रव्यके जो सूक्ष्मतम रूप हो सकते हैं और उसकी जो इन्द्रिय-ग्राह्य शक्ति-तरंगें हो सकती हैं उनसे भिन्न एक शुद्ध क्रियात्मक प्राण-द्रव्य भी होता है।

आत्मा स्वयं भी शुद्ध सत्-द्रव्य कहलाता है जब कि वह स्वयं अपने आपको विषय बनाता है, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक इन्द्रियका विषय न होकर शुद्ध आत्मिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञानकी ज्योतिका विषय होता है; इस ज्ञान-ज्योतिमें ज्ञाता स्वयं अपना विषय होता है, दूसरे शब्दोंमें, इस ज्ञान-ज्योतिमें कालरहित और देशरहित सदात्मा अपने आपको शुद्ध आध्यात्मिक कल्पनामय आत्म-विस्तृत रूपमें देखता है और इसे विश्व-सत्ताका आधार और मूल उपादान जानता है। इस आधारसे ऊपर विषयी और विषयके बीचका सम्पूर्ण पचेतन भेद पूर्ण तादात्म्यमें विलीन हो जाता है, और वहां हम द्रव्य शब्दका प्रयोग नहीं कर सकते।

अतः यह शुद्ध आध्यात्मिक कल्पनात्मक भेद है जो कि आत्मासे लेकर मनके द्वारा भौतिक द्रव्यतक अवतरण करती हुई श्रेणीकी ओर फिर भौतिक द्रव्यसे मनके द्वारा आत्मा तक आरोहण करती हुई श्रेणीकी सृष्टि करता है; यह वह मानस भेद नहीं है जिसका कि अन्त व्यावहारिक भेदमें होता है। उस शुद्ध आध्यात्मिक कल्पनात्मक भेदमें सच्चा एकत्व कभी भी नष्ट नहीं होता; और जब हमें पदार्थोंका मूल भूत और समग्र ज्ञान पुनः प्राप्त होता है तो हम देखते हैं कि वह एकत्व कभी भी, यहां तक कि भौतिक द्रव्यकी स्थूलतम सघनताओंमें भी सच्चे रूपमें न कम होता है न विकृत होता है। ब्रह्म विश्वका केवल निमित्त कारण, इसे धारण करनेवाला और अन्तर्यामी (अन्तःस्थ) तत्त्व ही नहीं है; वह उसका उपादान और एकमात्र उपादान भी है (अभिन्न निमित्तोपादान)। भौतिक द्रव्य भी ब्रह्म है और वह ब्रह्मसे भिन्न कुछ और या भिन्न नहीं है। यदि भौतिक द्रव्य आत्मासे विच्छिन्न हो तो यह ऐसा नहीं हो सकता; परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, यह ब्रह्मसत्ताका अन्तिम रूप और विषयात्मक रूप है और इसके भीतर और मूलमें संपूर्ण ब्रह्म सर्वदा विद्यमान रहता है।

यह आपाततः जड और निश्चेष्ट भौतिक द्रव्य सर्वत्र और

सर्वदा प्राणकी बलशाली क्रियात्मक शक्तिसे अनुप्राणित होता है; यह क्रियात्मक किन्तु आपाततः अचेतन प्राण अपने भीतर इस सर्वदा सक्रिय अदृश्य मनको छिपाये रखता है। जिसके गुह्य व्यवहारोंकी वह दृश्य शक्ति है, यह सजीव देहस्थ अज्ञ, प्रकाशहीन और अंधकारमें टटोलनेवाला मन अपने इस यथार्थ आत्मा, अतिमनसे धारित और प्रधानतया पथप्रदर्शित होता है जो कि समानरूपमें मानसिक अवस्थाको न प्राप्त हुए भौतिक द्रव्यके भीतर भी विद्यमान है; इसी प्रकार संपूर्ण भौतिक द्रव्य और इसके साथ साथ प्राण मन एवं अतिमन ब्रह्म (आत्मा, सच्चिदानन्द) के केवल रूप या अवस्थाये हैं, ब्रह्म इनमें केवल निवास ही नहीं करता अपितु वही इन सब पदार्थोंके रूपमें है, (उसने ही इन सब पदार्थोंका रूप धारण किया है), यद्यपि इनमें कोई भी उसका पर-स्वरूप (परभाव) नहीं है।

यद्यपि ये सब पदार्थ ब्रह्म (आत्मा) हैं किन्तु फिर भी एक कल्पनागत भेद और व्यावहारिक विभेद है, यद्यपि भौतिक द्रव्य आत्मासे यथार्थमें विच्छिन्न नहीं है किन्तु फिर भी वह इतनी व्यावहारिक सुनिश्चितताके साथ ऐसा विच्छिन्न, इतना भिन्न, अपने धर्मोंमें इतना विपरीत प्रतीत होता है, भौतिक पदार्थोंसे व्यवहार करनेवाला जीवन आध्यात्मिक जीवनका इतना अधिक विरोधी जान पड़ता है कि उसका परित्याग कठिनाईको पार करनेका एकमात्र सीधा मार्ग जान पड़ सकता है— और ऐसा निःसन्देह है भी, परन्तु सीधा मार्ग हो या कैसा भी मार्ग हो, यह कोई समाधान नहीं है।

तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भौतिक द्रव्य समस्याका, कठिनाईका मूल है। यह बाधा उत्पन्न करता है, क्योंकि भौतिक द्रव्यके ही कारण प्राण स्थूल एवं परिच्छिन्न है और मृत्यु एवं दुःखसे पीड़ित है; भौतिक द्रव्यके ही कारण मन आधेसे अधिक अंधा है, उसके पंख कटे हुए हैं उसके पैर एक क्षुद्र वस्तुसे बंधे हुए हैं और उसे ऊपरकी जिस विशालता और स्वतंत्रताकी चेतना है उसके समीप आनेसे रुके हुए हैं। इसलिए अध्यात्मका अनन्य साधक यदि भौतिक द्रव्यकी दलदलसे निर्विण्ण होता है, प्राणकी पशुभवी स्थूलताके प्रति विद्रोह करता है अथवा मनकी आत्म-सीमित संकीर्णता और अधोमुखी दृष्टिसे अधीर हो गया है, और वह इस सबसे अपना विच्छेद करनेका और अकर्म एवं निश्चलताके द्वारा आत्माकी अचल मुक्तिकी ओर प्रवृत्त होनेका निश्चय करता है, तो उसके अपने दृष्टिकोणसे यह उचित ही है। परन्तु यही एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है और यद्यपि अनेक तेजस्वी महापुरुषोंने इसे बहुत ऊंचा स्थान दिया है किन्तु इसे पूर्ण और अन्तिम ज्ञान मान लेना आवश्यक नहीं है।

इसकी अपेक्षा उचित यह है कि हर प्रकारके आवेश और विद्रोहको दूर हटाकर हम यह देखें कि विश्वकी इस दिव्य व्यवस्थाका क्या अर्थ है और आत्माका प्रतिषेध करनेवाली जड़की जो यह ग्रन्थि है इसके संबंधमें हमारा कर्त्तव्य यह है कि हमें धैर्यके साथ इसके सूत्रोंको ढूंढने और पृथक् पृथक् करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि हम यथार्थ समाधानके द्वारा इसे खोल सकें, आवेशमें या उतावलेपनमें इसे काट देना उचित नहीं होगा। हमें सबसे पहले कठिनाईका विरोधका पूरी तरह, कठोरताके साथ, यदि आवश्यक हो तो कमी करनेके बजाय अत्युक्तिके साथ निरूपण करना चाहिये और फिर इसमेंसे निकलनेका पथ खोजना चाहिये।

इस प्रकार भौतिक द्रव्यका आत्माके साथ पहला विरोध यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप (प्रज्ञान घन) है और भौतिक द्रव्य अज्ञानकी पराकाष्ठा है। यहां चेतन अपने कर्मोंके एक रूपमें खोया हुआ और अपने आपको भूला हुआ है; यह ऐसा है जैसे कि कोई मनुष्य किसी कर्मके करते समय उसमें अत्यन्त लीन होकर न केवल यह भूल जाय कि 'मैं कौन हूं' अपितु यह भी भूल जाय कि "मैं हूं" और क्षणभरके लिए केवल जो कर्म हो रहा है वह कर्म और जो शक्ति उसे कर रही है वह शक्ति हो जाय। आत्मा स्वयं ज्योति है; वह शक्तिकी समस्त क्रियाओंके पीछे अनन्त रूपमें अपने आपको जानता है और उनका प्रभु है, परन्तु भौतिक द्रव्यमें वह ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह विलुप्त हो गया है और उसका अस्तित्व ही नहीं है; संभव है वह कहीं हो, किन्तु यहां तो उसने केवल ऐसी मूढ़ और अचेतन भौतिक शक्तिको उपस्थित किया हुआ है कि जो सनातनसे सृष्टि और विनाश करती रहती है और वह नहीं जानती कि वह स्वयं क्या है, वह क्या सृष्टि

करती है, सृष्टि करती ही क्यों है, अथवा जिसे उसने एक बार सृष्ट किया है उसका क्यों विनाश करती है।

वह इसलिए नहीं जानती क्योंकि उसके पास मन नहीं है; वह इसलिए परवाह नहीं करती, क्योंकि उसके पास हृदय नहीं है और यदि हम यह कहें कि यह भौतिक विश्वका यथार्थस्वरूप नहीं है, इस मिथ्या जगत्के पीछे एक मन, एक संकल्प और मन और मानस संकल्पसे महत्तर कोई तत्व है, तब भी यह अंधेरा सादृश्य तो है ही कि भौतिक विश्वकी रात्रिमें उससे प्रकट होनेवाली चेतनाको वह सत्य ही भासित होता है; और यदि हम यह कहें कि यह अनुभव सत्य नहीं है अपितु असत्य है, किन्तु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह अत्यन्त शक्तिशाली असत्य है, कारण यह हमारी व्यावहारिक सत्ताकी अवस्थाओंको नियत करता है और हमारी सम्पूर्ण अभीप्साओंको और हमारे प्रयासको घेरे रहता है।

कारण भौतिक विश्वका यह अत्यन्त विलक्षण कर्म, भीषण, और निर्दय चमत्कार है कि इस मन-हीन जडसे एक मन या, कमसे कम, असंख्य मन उद्भूत होते हैं। ये मन व्यक्तिगत रूपमें असहाय होकर प्रकाशके लिए दुर्बल प्रयास करते रहते हैं, वे तभी कम असहाय होते हैं जब कि वे आत्मरक्षार्थ विश्वके स्वधर्म-रूप महा-अज्ञानके मध्यमें अपनी व्यक्तिगत दुर्बलताओंको एक साथ मिला देते हैं। इस हृदय-हीन अचेतनसे और इसकी कठोर अधिकार-सीमाके भीतर ही हृदय उत्पन्न हुए हैं और ये इस लोह-सत्ताकी अंध और संवेदन-हीन क्रूरताके बोझसे दबे हुए अभीप्सा करते हैं उत्पीडन और दुःखका अनुभव करते हैं; यह क्रूरता अपने धर्मको उनपर लादती है और उन्हें नृशंस, भीषण, भयंकर संवेदित होती है।

परन्तु अन्तमें, इन प्रतीतियोंके पीछे कौन पदार्थ है जो कि रहस्यमय जैसा जान पडता है? हम देख सकते हैं कि वह चेतन है जो कि अपने आपको खोकर फिर प्राप्त कर रहा है, अपनी अतिमहती आत्म-विस्मृतिसे धीरे धीरे, कष्टके साथ उन्मजन कर रहा है; यह अपनी आत्म-निद्रासे ऐसे प्राणके रूपमें उन्मीलित हो रहा है जो कि प्रारंभमें संवेदन क्षमताको छिपाये रखता है। इसके अनन्तर यह अर्ध-संवेदनक्षम, अस्पष्टतया संवेदनक्षम, पूर्णतया संवेदनक्षम हो जाता है और अन्तमें संवेदनक्षमसे अधिक होनेके लिए, पुनः दिव्य रूपमें आत्म-चेतन, मुक्त, अनन्त और अमर होनेका प्रयास करता है। परन्तु उसका यह कार्य उस धर्मके आधीन, भौतिक द्रव्यके अवयवोंके आधीन होता है जो कि इन सबका विरोधी है, अर्थात् अज्ञानके बंधनके विरोधमें होता है। उसे जो कर्म करने होते हैं, जिन कारणोंका उसे उपयोग करना होता है उनका निर्धारण करनेवाला और बनानेवाला यह जड और भौतिक द्रव्य ही है और यह उसपर पद पदपर अज्ञान और परिच्छिन्नताको लादता है।

कारण भौतिक द्रव्यका आत्माके प्रति दूसरा मूलभूत विरोध यह है कि यह जड (यांत्रिक) नियमके प्रति बंधनकी पराकाष्ठा है और इस बंधनसे मुक्त होनेका जो प्रयत्न किया जाता है उसके विरोधमें यह महती जडता (तामसिकता) को उपस्थित कर देता है। यह बात नहीं है कि भौतिक द्रव्य स्वरूपतः निश्चेष्ट है; इसके बजाय इसमें एक ऐसा अनन्त स्पंदन, ऐसी अचिन्त्य शक्ति, ऐसा असीम कर्म है कि इसकी अद्भुत क्रियायें निरंतर हमारी प्रशंसाकी पात्र रही हैं। परन्तु एक ओर आत्मा स्वतंत्र है, अपना और अपने कर्मोंका प्रभु है इनके बंधनमें नहीं है, नियमका बनानेवाला है उसके आधीन नहीं है, दूसरी ओर यह विशाल भौतिक द्रव्य एक ऐसे स्थिर और यांत्रिक (जड) नियम (धर्म) से जकडा हुआ है जो कि इसके ऊपर लादा हुआ है, जिसे यह न तो समझता है न जिसकी इसने कभी परिकल्पना की है, यह उस धर्म (नियमको) अचेतन भावसे इस प्रकार कार्यान्वित करता है जैसे कि कोई यंत्र कार्य करता है; वह यंत्रके समान यह नहीं जानता कि किसने उसे उत्पन्न किया है, किस प्रकार और किस उद्देश्यसे किया है।

एक समय आता है जब कि भौतिक द्रव्यमें प्राण उद्बुद्ध होता है और वह अपने आपको भौतिक रूप (पदार्थ) और भौतिक शक्ति पर आरोपित करनेका प्रयास करता है; तब वह समस्त पदार्थोंका अपनी इच्छाके अनुसार और अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये उपयोग करनेका यत्न करता है। इसके अनन्तर मन उद्बुद्ध होता है और वह यह जाननेका यत्न करता है कि वह स्वयं और समस्त पदार्थ क्या है। इन सबका स्रष्टा कौन है, वह क्यों सृष्टि करता है

और किस विधिसे करता है, इन सबके अतिरिक्त वह अपने ज्ञानका उपयोग अपने अधिक स्वतंत्र धर्म (नियम) और आत्म-पथदर्शक कर्मका भौतिक पदार्थोंपर स्थापित करनेके लिए करता है।

ऐसी अवस्थामें भौतिक प्रकृति आत्मसमर्पण करती, यहां तक कि अनुमोदन करती और सहायता देती जान पडती है, यद्यपि कुछ संघर्ष करनेपर, अनिच्छासे और कुछ सीमा तक ही। परन्तु उस सीमासे आगे वह एक हठी जडता, बाधा, निषेधको उपस्थित करती है। मन और प्राणको यह माननेके लिए विवश करती है कि वे आगे नहीं बढ सकते और अपनी आंशिक विजयको अन्ततक नहीं ले जा सकते। प्राण अपने आपको लम्बा और दीर्घजीवी करनेका प्रयत्न करता है और सफल होता है; किन्तु जब वह पूर्ण विस्तार और अमरताके लिए चेष्टा करता है तो उसे भौतिक द्रव्यकी ओरसे लोह-बाधाका सामना करना पडता है और वह अपने आपको संकीर्णता और मृत्युमें जकडा हुआ पाता है।

मन प्राणको इस कार्यमें सहायता देनेका प्रयत्न करता है, इसके साथ साथ वह संपूर्ण ज्ञानको ग्रहण करने; पूर्ण ज्योतिरूप होने, सत्यको ग्रहण करने और सत्य होने, प्रेम और हर्षको स्थापित करने और स्वयं प्रेमरूप और हर्ष-रूप होनेके अपने अन्तर्वेगको परिपूर्ण करनेका भी प्रयत्न करता है; किन्तु इस कार्यमें सर्वदा मनकी अपनी च्युति एवं भ्रान्ति और भौतिक प्राण-सहज प्रवृत्तियोंकी स्थूलता बाधा डालती हैं; इसके साथ साथ भौतिक इन्द्रिय और शारीरिक अंग भी निषेध और बाधा उपस्थित करते हैं। भ्रान्ति सदा इसके ज्ञानके पीछे लगी रहती है, अंधकार इसके प्रकाशका सदा अपृथक्करणीय सखा और पृष्ठभूमि है, सत्यका सफलता पूर्वक अन्वेषण कर लिया जाता है, किन्तु जब उसे ग्रहण किया जाता है तो वह सत्य नहीं रहता और अन्वेषणको चालू रखना पडता है। प्रेम है किन्तु वह अपने आपको संतुष्ट नहीं कर सकता; हर्ष है किन्तु वह अपना औचित्य सिद्ध नहीं कर सकता; और इनमेंसे प्रत्येकके पीछे प्रत्येकके अपने विरोधी भाव, क्रोध, घृणा एव उदा-सीनता और अतितृप्ति, शोक एवं दुःख श्रृंखला या छायाके रूपमें लगे रहते हैं। जिस जडता (तामसिकता) के साथ भौतिक द्रव्य मन और प्राणकी मांगोंका प्रत्युत्तर देता है वह अज्ञान और जड शक्तिपर जो कि अज्ञानकी ही शक्ति है, विजयको रोकती है।

और जब हम यह जाननेका प्रयत्न करते हैं कि ऐसा क्यों है तो हम देखते हैं कि इस जडता और बाधाकी सफल-ताका कारण है भौतिक द्रव्यकी तीसरी शक्ति; कारण आत्माके प्रति भौतिक द्रव्यकी ओरसे तीसरा मूलभूत विरोध यह उपस्थित किया जाता है कि यह विभाग और संग्रामकी पराकाष्ठा है। यद्यपि अपने यथार्थस्वरूपमें यह अविभक्त है किन्तु इसके कर्मका आधार विभाग है जिसे छोडनेके लिए इसे सदाके लिए मना किया गया जान पडता है। कारण इसके संयुक्त होनेके दो साधन हैं, इनमें प्रथम है एकांकोंका समष्टि भवन और दूसरा है आत्मसात्क-रण। जिसमें कि एक एकांकका दूसरेके द्वारा विनाश किया जाता है और संयोगके ये दोनों साधन सनातन विभागको स्वीकार करते हैं, कारण पहला साधन भी एकीभूत करनेकी अपेक्षा संघटित करता है और अपने इस मूलतत्त्वसे ही विघ-टनकी, विलयकी सतत संभावनाको और चरम आवश्यकता को अंगीकार करता है।

ये दोनों साधन मृत्युका आश्रय ग्रहण करते हैं, एक साधन रूपमें और दूसरा जीवनके अवबंधके रूपमें। और दोनों यह भी सूचित करते हैं कि विश्वसत्ताके लिए आव-श्यक है विभक्त एकांकोंका एक दूसरेके साथ निरंतर संग्राम प्रत्येक एकांक अपने आपको बनाये रखनेके लिए, अपने संघटनोंको बनाये रखनेके लिए प्रयास करता है। जो इसका प्रतिरोध करता है उसे अपने वशमें करने या उसका विनाश करनेका प्रयास करता है। दूसरोंको आहाररूपमें अपने भीतर लेने और भक्षण कर जानेका प्रयास करता है, किन्तु यदि कोई दूसरा एकांक उसे अपने आधीन करने, उसका विनाश करने या भक्षण करके आत्मसात् करनेका प्रयास करता है तो वह इनका विरोध करता है और इनसे दूर भागना चाहता है।

जिस समय प्राण-तत्त्व भौतिक द्रव्यमें अपनी क्रियाओं-को अभिव्यक्त करता है, तो उसे अपनी समस्त क्रियाओंके लिए केवल यही आधार मिलता है और विवश होकर जूए-के नीचे सिर झुकाना पडता है। उसे मृत्यु, कामना एवं परिच्छिन्नता-रूप धर्मको और भक्षण करने अधिकृत करने

और प्रभुत्व करनेके उस सतत संग्रामको, जिसके विषयमें हम कह चुके हैं कि यह प्राणका पहला रूप है, स्वीकार करना पडता है और जब भौतिक द्रव्यमें मनस्तत्त्व अभिव्यक्त होता है तो उसे उस उपादानसे और उसके बने देहसे जिनमें कि उसे कर्म करना पडता है उसी परिच्छिन्नता-तत्त्वको स्वीकार करना पडता है, वह खोज करता है किन्तु उसे जो प्राप्त होता है वह सुरक्षित, सुनिश्चित नहीं होता; उसके लाभोंमें और उसके कार्योंमें वही सतत संघटन और विघटन रहता है; इन कारणोंसे मनुष्य, मनोमय प्राणी जिस ज्ञानको प्राप्त करता है वह कभी भी अन्तिम या सन्देह और प्रतिषेधसे रहित नहीं जान पडता; उसका सम्पूर्ण प्रयास क्रिया एवं प्रतिक्रिया और निर्माण एवं विनाशकी पुनरावृत्तिमें, रचना, स्वल्परक्षा और विनाशके चक्रोंमें गति करता प्रतीत होता है और कुछ भी सुनिश्चित प्रगति नहीं जान पडती।

विशेषकर और अत्यन्त विनाशकारी रूपमें भौतिक द्रव्यके अज्ञान, जडता और विभाग उसमें उन्मज्जित होनेवाली प्राणिक और मानसिक सत्ताके ऊपर दुःखरूप धर्मको, अतृप्ति-जन्य अशान्तिको और विभाग जडत्व और अज्ञानकी अवस्थाको स्थापित करते हैं। निःसन्देह, यदि मनोमयी चेतना पूर्णतया अज्ञ हो, यदि वह किसी रिवाजके खोकमें तृप्त होकर ठहर जाय, स्वयं अपने अज्ञानसे अज्ञ हो अथवा चेतना और ज्ञानके उस अनन्त सागरसे अज्ञ हो जिससे कि वह घिरी होकर रहती है, तो निश्चय ही अज्ञान अतृप्तिजन्य दुःखको उत्पन्न नहीं करेगा। परन्तु भौतिक द्रव्यमें उन्मज्जित होती हुई चेतना इसके प्रति ही जागृत होती है; पहले वह उस जगत्के अज्ञानके प्रति जागृत होती है जिसमें कि वह रहती है और जिसे कि उसे सुखी होनेके लिए जानना और आधीन करना है।

दूसरे वह इस ज्ञानकी अन्तिम निष्फलता और परिच्छिन्नताके प्रति, उससे प्राप्त होनेवाले शक्ति और सुखकी स्वल्पता एवं अस्थिरताके प्रति और अनन्त चेतन, ज्ञान, सच्चे आत्माके प्रति, केवल जिसमें विजय और अनन्त सुख मिल सकता है, जागृत होती है। जडताकी बाधासे असंतुष्टि और अशान्ति न आय यदि भौतिक द्रव्यमें उन्मज्जित होनेवाली प्राणिक संवेदन-शक्ति पूर्णतया जड (मूढ) हो; यदि उसे उसकी अर्ध-चेतन सीमित सत्तामें संतुष्ट रखा जा सके; जिस अनन्त शक्ति और अमरसत्तामें, उसका अंग होते हुए भी उससे पृथक् रूपमें वह रहती है यदि उसका उसे ज्ञान न हो; अथवा यदि उस अनन्तता और अमरतामें यथार्थतः भाग लेनेके लिए प्रयास करनेकी प्रेरणा करनेवाली उसके भीतर कुछ भी वस्तु न हो। परन्तु सम्पूर्ण प्राण प्रारंभसे यही अनुभव करने और खोजनेके लिए,— अपनी अरक्षा एवं आवश्यकताको अनुभव करने और अपने स्थायित्व एवं आत्म-संरक्षणके लिए संग्राम करनेको प्रेरित किया जाता है। वह अन्तमें अपनी सत्ताकी परिच्छिन्नताके प्रति जागृत होता है और विशालता एवं स्थायित्वकी ओर, अनन्त और नित्य (अमरता) की ओर प्रेरणाका अनुभव करने लगता है।

जब मनुष्यमें प्राण पूर्णतया आत्म-चेतन हो जाता है तो यह अपरिहार्य संग्राम, प्रयास और अभीप्सा अपनी पराकाष्ठाको पहुंच जाते हैं और संसारके दुःख और वैषम्य अन्तमें अत्यधिक उग्रताके साथ अनुभूत होते हैं जिससे कि इनके सहन करनेमें संतुष्ट रहना असंभव हो जाता है। यह हो सकता है कि मनुष्य दीर्घकालतक अपनी परिच्छिन्नताओंमें संतुष्ट रहकर अपने आपको शान्त रखे, वह अपने संग्रामको, जिस भौतिक जगत्में वह निवास करता है उसके ऊपर जितना वह प्राप्त कर सके उतना प्रभुत्व प्राप्त करने तक सीमित रख सकता है; वह अपने प्रगतिशील ज्ञानके द्वारा जगत्की अचेतन स्थिरताओंपर कुछ मानसिक और शारीरिक विजय प्राप्त कर सकता है, वह भौतिक जगतकी जडरूपसे क्रिया करनेवाली प्रचंड शक्तियोंपर अपनी स्वल्प, एकाग्र सचेतन इच्छा और शक्तिको विजयी बना सकता है और इन सबमें संतुष्ट होकर रह सकता है।

परन्तु जो भी महान्से महानतम् सफलतायें वह यहां प्राप्त करता है इनमें भी उसे परिच्छिन्नता और अनिश्चितता दिखाई देती है और उसे इनसे परे दृष्टि ले जानेके लिए विवश होना पडता है। सान्त व्यक्तिको जबतक अपनी अपेक्षा किसी महत्तर सान्तका अथवा अपनेसे परे किसी ऐसे अनन्तका ज्ञान है कि जिसकी वह अभीप्सा कर सकता है, तब तक वह सदाके लिए संतुष्ट नहीं रह सकता। और यदि हमारे भीतरका सांत व्यक्तित्व इस प्रकार संतुष्ट हो जाय तब भी जो केवल आपाततः शान्त है और जो अपने

आपको यथार्थतः अनन्त संप्रतीत करता है अथवा जो केवल अपने भीतर अनन्तकी उपस्थिति, उसका अन्तर्वेग और स्पंदन अनुभव करता है वह तबतक सन्तुष्ट नहीं रह सकता जबतक कि ये दोनों संगत नहीं हो जाते, जबतक कि सान्त उस अनन्तको अधिकृत न कर ले और अनन्त सान्तको अधिकृत न कर ले, चाहे यह कितनी भी मात्रामें और किसी भी विधिसे क्यों न हो।

मनुष्य ऐसा ही सान्त प्रतीत होनेवाला अनन्त है और वह अनन्तका अन्वेषण किये बिना नहीं रह सकता। वह पृथ्वीका सबसे पहला ऐसा पुत्र है जो कि अपने भीतर ईश्वरका, अपनी अमरताका अथवा अपनी अमरताकी आवश्यकताका अस्पष्टतया अनुभव करता है, और ज्ञान ही ऐसा कोड़ा है जो कि उसे आगे चलाता है और जबतक मनुष्य उसे अनन्त ज्योति हर्ष और शक्तिके स्रोतके रूपमें परिणत नहीं कर लेता तबतक हर प्रकारका बलिदान करनेको विवश करता है।

भौतिक द्रव्यके अज्ञान और जड़ता (मूढ़ता) में अपने आपको खोये हुए दिव्य चेतना और शक्ति, ज्ञान और संकल्पकी यह क्रमिक वृद्धि, यह बढ़ती हुई अभिव्यक्ति एक हर्षसे महत्तर हर्षकी ओर और अन्तमें अनन्त आनन्दकी ओर प्रगति करनेवाले विकासके समान हो सकती है, यदि इसमें बाधा डालनेवाला कठोर विभाग तत्व, जिससे कि भौतिक द्रव्य प्रारंभ होता है, न हो। व्यक्तिका पृथक् और परिच्छिन्न मन, प्राण और शरीरकी स्वयं अपनी व्यक्तिगत चेतनामें अपने आपको बंद कर लेना हमारी स्वाभाविक उन्नतिमें बाधा डालता है। यह शरीरमें आकर्षण और विकर्षण, रक्षण और आक्रमण, विषमता और पीड़ा रूप धर्मको लाता है। कारण प्रत्येक शरीर एक परिच्छिन्न चेतन-शक्ति होनेके कारण अपने विषयमें यह संप्रतीत करता है कि वह अपने समान दूसरे परिच्छिन्न शक्तियोंके या वैश्व शक्तियोंके आक्रमण, आघात और बलकाकी संसर्गका पात्र है।

जब कभी वह बाहरसे आक्रमण होनेपर भग्न हुआ संप्रतीत करता है अथवा बाहरसे संसर्ग करनेवाली और उसे ग्रहण करनेवाली चेतनामें सामंजस्य करनेमें असमर्थ होता है तो वह कष्ट और पीड़ाका अनुभव करता है; तब वह आकुल या विक्षुब्ध होता है अपनी रक्षा करता है या आक्रमण करता है; जिसे वह नहीं चाहता अथवा सहन करनेमें असमर्थ होता है उसे ही सहन करनेके लिए वह निरंतर विवश किया जाता है। विभागधर्म हृदय और इन्द्रिय-मनमें उन्हीं प्रतिक्रियाओंको ऊंचे रूपमें लाता है; वहां इनका रूप होता है हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, दमन और अवसाद; ये सब कामनाके सांचेमें ढाले जाते हैं, कामनाका रूप धारण करते हैं और कामनासे प्रयास और अतिप्रयास प्रकट होते हैं; अतिप्रयाससे अतिशक्ति, अवरशक्ति और अशक्ति, प्राप्ति और निराशा, अधिकृत करना और पीछे हटना, निरंतर संघर्ष, कष्ट और व्याकुलता प्रकट होते हैं। पूर्ण मनके क्षेत्रमें भी विभाग-धर्मका कार्य देखा जाता है।

दिव्य नियम तो यह है, संकीर्ण सत्य महत्तर सत्यमें प्रवाहित हो, अल्प प्रकाश व्यापक प्रकाशका रूप धारण करे; निम्न इच्छा उच्च रूपान्तरकारी इच्छाके प्रति अपने आपको समर्पित कर दे; क्षुद्र तृप्ति उदारता और पूर्णतर तृप्तिकी ओर प्रगति करे; परन्तु विभाग- धर्म इनके उच्च भावोंके बजाय इनके विरोधी भावोंको लाता है, सत्यके पीछे भ्रान्ति, प्रकाशके पीछे अंधकार, शक्तिके पीछे अशक्ति खोजने और प्राप्त करनेके सुखके पीछे जो कुछ प्राप्त हुआ है उसके प्रति घृणा और असंतोषका दु:ख लगे रहते हैं। प्राण और शरीरकी व्यथाके साथ मन अपनी व्यथाको भी ले आता है और हमारी प्राकृतिक सत्ताके त्रिविध दोष और त्रुटिका अनुभव करता है। इस सबका अर्थ है आनन्दका प्रतिषेध, सच्चिदानन्दके त्रयका निषेध और इसलिए, यदि यह निषेध अनतिक्रमणीय हो तो, सत्ताकी व्यर्थता। चूंकि सत्ता चेतना और शक्तिकी क्रीडामें अपने आपको डालकर न केवल अपने आपको पानेके लिए अपितु, उस क्रीडामें तृप्तिको पानेके लिए इस लीलाको चालू रख सकती है। और यदि उस लीलामें कोई यथार्थ तृप्ति नहीं मिलती है तो अन्तमें उसे, अपने आपको समूर्त करनेवाले आत्माका व्यर्थ प्रयास, एक भारी भूल, एक उन्माद मानकर उसका परित्याग कर देना होगा।

निराशावादी मतका यही सम्पूर्ण आधार है; इस लोकसे परवर्ती लोकों और अवस्थाओंके विषयमें वह आशावादी हो सकता है, किन्तु भौतिक विश्वके साथ व्यवहारोंके संबंध

रखनेवाला जो मनोमय प्राणीका पार्थिव जीवन और उसका भविष्य है उसके विषयमें तो वह निराशावादी ही है। कारण वह मानता है कि भौतिक सत्ताका स्वभाव है विभाग और देहधारी मनका बीज है आत्म-परिच्छिन्नता, अज्ञान और अहंकार; इसलिए पृथ्वीपर आत्माकी तृप्तिको खोजना अथवा लोक लीलाका कोई लक्ष्य, कोई दिव्य उद्देश्य और अन्त खोजनेका प्रयत्न करना व्यर्थता और मोह है। केवल ब्रह्मके, आत्माके दिव्यधाममें न कि इस पृथ्वीलोकमें, अथवा केवल आत्माकी सच्ची शान्त निश्चलतामें न कि उसकी लौकिक क्रियाओंमें हम सत्ता और चेतनाको दिव्य आत्मानन्दके साथ पुन: युक्त कर सकते हैं।

अनन्त आत्मा अपने यथार्थस्वरूपको तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह सान्त सत्तामें अपने आपको खोजनेके अपने प्रयत्नको भ्रान्ति और विपथ जानकर उसका परित्याग कर दे। भौतिक विश्वमें मानसचेतनाका उन्मज्जन भी अपने साथ दिव्य सिद्धिका कोई आश्वासन नहीं लाता। कारण विभाग-तत्त्व वास्तवमें भौतिक द्रव्यका धर्म नहीं है अपितु मनका है; भौतिक द्रव्य तो केवल मनका एक भ्रम है जिसमें कि वह विभाग और अज्ञान-रूप अपने नियमको ले आता है। इसलिये इस भ्रमके भीतर मन केवल अपने आपको ही पा सकता है; उसने जो विभक्त सत्ताके तीन रूपों (भौतिक द्रव्य प्राण और मन) की सृष्टि की है केवल उनके बीचमें ही वह यात्रा कर सकता है; वह वहां ब्रह्मके ऐक्यको अथवा अध्यात्म सत्ताके सत्यको नहीं पा सकता।

यह सत्य है कि भौतिक द्रव्यमें विभागतत्त्व केवल विभक्त मनकी ही, जिसने कि भौतिक सत्तामें प्रवेश किया है, सृष्टि हो सकता है। कारण वह भौतिक सत्ता कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती; वह कोई मूलभूत पदार्थ नहीं है अपितु सर्वविभाजक मनकी कल्पनाओंको कार्यान्वित करनेवाला जो सर्वविभाजक प्राण है उसके द्वारा सृष्ट हुआ एक रूप (पदार्थ) है। शुद्ध सत्को भौतिक द्रव्यके अज्ञान जडत्व और विभागका रूप प्रदान करते समय विभाजक मन स्वयं अपने बनाये हुए भवनकी अन्ध कारागारमें खोया गया और बंदी हो गया है, स्वयं निर्मित श्रृंखलाओंमें बद्ध हो गया है। यदि यह सत्य हो कि विभाजक मन ही यथार्थमें सृष्टिजनक प्रथम मूल तत्त्व है तो सृष्टिके भीतर अन्तिम प्राप्य वस्तु भी वही होनी चाहिये। इसका यह परिणाम होगा कि मन जो प्राण और भौतिक द्रव्यके साथ संग्राम किया करता है वह व्यर्थ होगा; वह उन्हें अपने वशमें करनेके बजाय स्वयं ही उनके वशमें रहेगा; विश्व-सत्ताका अन्तिम और उच्चतम स्वरूप होगा निष्फल चक्रको नित्य घुमाते रहना।

परन्तु यह परिणाम तब नहीं निकल सकता यदि, इसके विपरीत, यह सत्य हो कि यह अमर और अनन्त आत्मा (ब्रह्म) है जिसने कि भौतिक द्रव्यरूपी घने वस्त्रमें अपने आपको आच्छादित किया हुआ है; वह वहां अतिमनकी परम सृजनकारी शक्तिके द्वारा क्रिया करता है; वह मनके विभागोंका और निम्नतम या भौतिकतत्त्वके शासनका अनुमोदन एक और बहुकी एक विशेष विकास-लीलाकी केवल प्रारंभिक अवस्थाओंके रूपमें करता है। दूसरे शब्दोंमें, यदि विश्वके रूपोंमें छिपा हुआ केवल मन ही नहीं है अपितु अनन्त सत्, ज्ञान, संकल्प है; यह भौतिक द्रव्यसे पहले प्राणके रूपमें, फिर मनके रूपमें उन्मज्जित होता है और उसका शेष भाग अभी अप्रकट ही है, ऐसी दशामें, आपाततः अचेतनसे चेतनाके उन्मज्जनका कोई दूसरा और पूर्णतर रूप होना चाहिए। तब पृथ्वीपर ऐसे अतिमानस आध्यात्म प्राणीका प्रकट होना असंभव नहीं रह जाता, जो कि अपने मन प्राण और शरीरके व्यापारोंपर विभाजक मनके धर्मकी अपेक्षा उच्चतर धर्मको स्थापित करेगा। विश्व सत्ताका जैसा स्वरूप है उसका यह स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम सिद्ध होता है।

ऐसा अतिमानस प्राणी, जैसा कि हम देख चुके हैं, मनको उसकी विभक्त सत्ताकी ग्रन्थिसे मुक्त करेगा और मनके व्यष्टिरूपका सर्वग्राही अतिमनके केवल उपयोगी उपाश्रित कर्मके रूपमें उपयोग करेगा। वह प्राणको उसकी विभक्त सत्ताकी ग्रन्थिसे मुक्त करेगा और प्राणके व्यष्टि-रूपका उस एकमेव चित्शक्तिके केवल एक उपयोगी उपाश्रित कर्मके रूपमें उपयोग करेगा जो कि (चित्शक्ति) अपने सत् और आनन्दको विविधभावापन्न ऐक्यमें परिपूर्ण कर रही है। तब फिर इस बातका कोई हेतु नहीं जान पडता कि वह अतिमानस प्राणी अपने शरीरको भी वर्तमानकालीन

मृत्यु, विभाग और परस्पर भक्षण रूप धर्मसे क्यों न मुक्त करले; वह व्यष्टि-शरीरका एकमेव दिव्य चेतन-सत्के केवल एक उपयोगी उपाश्रित द्रव्यके रूपमें क्यों न उपयोग करे और उसे सान्तमें अनन्तके आनन्दकी सेवाका पात्र क्यों न बनाये।

अथवा इसका भी कोई हेतु नहीं है कि यह आत्मा (ब्रह्म) इस देहपर प्रधानतया अधिकार करनेमें स्वतंत्र क्यों न हो, भौतिक द्रव्यके बने इस वस्त्र (देह) के परिवर्तन करते हुए भी अमरताकी चेतना क्यों न रखे, इस जगत्को ऐक्य प्रेम और सौंदर्य रूप धर्मके आधीन करके इसमें अपने स्वरूपानन्दका क्यों न अनुभव करे और यदि पृथ्वीलोकके निवासियोंमें मनुष्य ही वह प्राणी हो कि जिसके द्वारा मनका अतिमनमें वह रूपान्तर सिद्ध किया जा सकता है, तो क्या यह संभव नहीं है कि यह दिव्य मन और दिव्य प्राणके साथ साथ दिव्य शरीरका भी विकास कर ले? अथवा यदि मानव शक्यताके विषयमें हमारी जो वर्तमान सीमित धारणायें हैं उनके अनुसार ये वचन अत्यधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं तो क्या मनुष्य अपने सच्चे आत्मा और उसके प्रकाश हर्ष और शक्तिका वर्धन करता हुआ ऐसी अवस्थामें नहीं पहुंच सकता जब कि वह मन प्राण और शरीरका ऐसा दिव्य उपयोग करने लगे कि जिसके द्वारा आत्माका रूपमें अवतरण मानव रूपसे और दिव्य रूपसे दोनों प्रकारसे औचित्य रखेगा?

इस अन्तिम पार्थिव संभावनाके मार्गमें एक वस्तु बाधक हो सकती है; वह यह है कि भौतिक द्रव्य और उसके धर्मोंके विषयमें जो हमारी वर्तमान दृष्टिकोण है यदि एक मात्र वही सत्य हो। इन्द्रिय (ज्ञान-शक्ति) और द्रव्यमें प्रमाता ब्रह्म और प्रमेय ब्रह्मके बीचमें जिस संबंधको हम साधारणतया मानते हैं। यदि वही एकमात्र संबंध हो, अथवा यदि दूसरे संबंध संभव हो किन्तु वे यहां संभव न हों। अपितु उन्हें सत्ताके उच्चतर स्तरोंमें (दूसरे लोकोंमें) प्राप्त किया जा सकता हो। ऐसी अवस्थामें हमें अपनी पूरी दिव्य परिपूर्णताको पृथ्वीसे ऊपरके दिव्य लोकोंमें ही प्राप्त करना होगा, जैसा कि अनेक धर्म-संप्रदाय कहते हैं। तब तो पृथ्वीपर ईश्वरके साम्राज्य अथवा सिद्ध मनुष्यके साम्राज्यसंबंधी इन धर्मोंके दूसरे वचनोंको मूढ-वचन मानकर उनका परित्याग कर देना होगा।

इसका परिणाम यह होगा कि पृथ्वी पर हम केवल आन्तरिक तैयारी या विजयको ही प्राप्त कर सकते हैं; हमें अपने दिव्य द्रव्य (आत्म) को प्राप्त करनेके लिए अपने मन प्राण और अन्तरात्माको मुक्त करना होगा और फिर अजित और अजेय जड तत्त्वका, असंशोधित और अदृश्य पृथ्वीका परित्याग करना होगा और इनसे कहीं बाहर जाना होगा। परन्तु हमारे लिए इस संकीर्ण परिणामको स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। पूर्ण निश्चयताके साथ यह कहा जा सकता है कि स्वयं भौतिक द्रव्यकी भी दूसरी अवस्थायें हैं; इनमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि द्रव्यके दिव्य रूपोंकी आरोहण करती हुई श्रेणी परम्परा है। यह संभावना है कि भौतिक द्रव्य (देह) स्वयं अपने धर्मके बजाय, उच्च धर्मको स्वीकार करके अपना रूपान्तर कर ले; कारण वह धर्म स्वयं उसकी सत्ताके गुह्यभागमें (गहने गभीरे) सर्वदा अन्तर्निहित और शक्यताके रूपमें रहता है, इसलिए वह उसका अपना ही धर्म (स्वधर्म) है।

[क्रमशः]

अनुवादक- केशवदेवजी आचार्य

सूर्य-नमस्कार

मंत्रोंकी छान्दस् शक्ति

[लेखक — श्री पं० वीरसेन]

वेदमंत्रोंके स्वर सहित उच्चारण द्वारा भौतिक तत्वों एवं भौतिक जगत् पर एवं जिस मन्त्रका जो देवता है उन मन्त्रों द्वारा उस उस देवतापर प्रभाव डाला जा सकता है या उसको वशीभूत किया जा सकता है। अर्थात् मन उनके गुणोंका सूक्ष्म अध्ययन एवं निरीक्षण करके उनके यथाविधि उपयोग लेनेका रहस्य ज्ञात हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वेदमन्त्रोंके शुद्ध, स्वरसहित उच्चारण एवं उनकी क्रियाओंद्वारा अग्नि, जल, वायु, मेघ, विद्युत आदि तत्व एवं शक्तियोंका विविध उपयोग मंत्रशक्ति द्वारा किया जा सकता है। वैदिक कर्मकांड इसी विज्ञानसे ओतप्रोत है। प्राचीनकालमें दिव्य द्रष्टा महर्षि एक एक मंत्रके ही रहस्य एवं विज्ञानके अन्वेषणमें अपना सुदीर्घ ब्रह्मचर्यमय जीवन इसके लिए अर्पित कर देते थे।

वेदमन्त्रोंमें प्रयुक्त उदात्तादि स्वर तथा षड्जादि स्वर एवं उनका छंदोमय रूप विशेष सामर्थ्यमय है। स्वरोंमें पर्याप्त सामर्थ्य है। संगीत शास्त्रमें दीपक राग द्वारा दीपकों का जलना, मल्हार राग द्वारा वर्षाका होना इत्यादि बातें भारतके कोने कोनेमें सदियोंसे आबाल वृद्ध श्रुत हैं। अभी वैज्ञानिकोंने परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि तीव्र स्वरोंके भोंपू जिनकी फ्रीक्वेन्सी १००० से लगाकर १४००० साइकल प्रति सेकन्ड हो तो इसके द्वारा उत्पादित ध्वनि तरंगोंके बीच काफीकी एक बड़ी केटली रखनेसे वह काफी उबल जाती है और यदि उनकी गति और बढा दी जावे तो छोटे छोटे सिक्के हवामें भी तैराये जा सकते हैं। अतः वर्तमान विज्ञानने जो शक्ति स्वरोंमें या ध्वनिमें ज्ञात की है इससे हमें अपने प्राचीन स्वर विद्याकी उपेक्षा न करते हुए इसके अनुसंधानमें और अग्रसर होना चाहिये।

'छन्दांसि छदनात्' की व्युत्पत्तिसे छन्दोंका प्रसारण कर्म एवं आच्छादन कर्म प्रकट होता है। पिंगलशास्त्रमें छन्दोंका नियत मात्रा व वर्णमें छादन कर्म बताया है। संगीतशास्त्रमें उन्हीं छन्दोंका नियतकालमें छादन कर्म होता है और वेदमंत्रोंका यथाविधि उच्चारण द्वारा छन्दोंका छादन कर्म ब्रह्मांड पर होता है।

> 'गायत्रेण त्वा छंदसा परिगृह्णामि, जागतेनत्वा छन्दसा परिगृह्णामि, त्रैष्टुभेनत्वा छंदसा परिगृह्णामि,' (यजु. अ १ मं. २७)

एव 'गायत्रेण त्वा छदसा मंथामि, त्रैष्टुभेनत्वा छंदसा मंथामि,' एवं 'रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयंतु, आदित्यास्त्वा जागतेनच्छंदसा भक्षयन्तु, वसवस्त्वा गायत्रेणच्छन्दसा भक्षयन्तु' इत्यादि मन्त्र वाक्य छन्दोंकी उक्त व्युत्पत्तिको सार्थक करते हैं।

जब छन्दोंका छादन कर्म अथवा प्रसारण कर्म अथवा उनके द्वारा इष्टकी प्राप्ति उपरोक्त प्रमाणसे प्रतीत होने लगती है तो यह बात स्वभावतः ज्ञात होने लगती है कि उन छन्दोंका ग्रहण या उनका लाभ दूर देशस्थ व्यक्ति देश या स्थान आदिको भी प्राप्त हो सकता है। यदि किसी एक स्थानसे उपयुक्त साधनों द्वारा छन्दोंका प्रसारण किया जावे।

अथवा यह भी समझ सकते हैं कि छान्दस क्रिया वह है जिसके द्वारा याज्ञिक द्रव्य एवं वाक्को अथवा विचारोंको इस विश्वमें यथास्थान पहुंचाते थे। इस छान्दस क्रियाकी क्रमानुसार शक्ति या स्थानान्तरेण सामर्थ्य छन्दोंके पृथक् पृथक् वर्गीकरण द्वारा नियत की गई ज्ञात होती है। वैदिक विविध छन्दोंके इस छान्दस विज्ञान एवं उनके सामर्थ्यको ज्ञात करके जनताके सन्मुख रखनेके लिये समय एवं परीक्षण की सुविधाकी अपेक्षा है।

भारतीय शिलाजीत अमृत है

[लेखक— श्री पं. बालकृष्ण शर्मा, वैद्यराज, भोपाल]

आर्यावर्त सरीखे धर्म प्राणदेशमें लोगोंको वर्णाश्रम धर्मके अनुसार चलना पड़ता है। और अभक्ष्य भक्षणसे बचकर रहना पड़ता है। इसलिये ईश्वरने भारतवासियोंपर दयाकर कॉड लिवर ऑइल (मछलीका तेल) और फास्फोरस (हड्डियोंका सत्व) आदि अभक्ष्य तथा कुछ ही रोगोंमें काम आनेवाली औषधियोंके बदले शिलाजीत गुग्गुल आदि सरीखी अमोघ शक्ति रखनेवाली और अनेक रोगोंको नष्ट करनेवाली दिव्य औषधियां प्रदान की हैं। इनके सेवनसे केवल रोग ही नहीं नष्ट होते प्रत्युत शरीर अजर और पूर्णायुतक अमर हो जा सकता है।

फिर भी कितने आश्चर्यकी और शौककी बात है कि आजकलके अभागे भारतीय द्विज और ऋषि सन्तान होकर अस्पतालोंका गंदा पानी पीनेके लिये मुंहभरा गिर रहे हैं। ये समझते हैं कि कॉडलिवर ओइल आदिके समान इस संसारमें और कोई शक्तिवर्धक औषधियां है ही नहीं।

आजकलके प्रचंड विद्वान डॉक्टरोंके द्वारा अंग्रेजी औषधियोंके प्रयोगोंपर प्रयोग होते जा रहे हैं, नये नये आविष्कारोंपर आविष्कार निकल रहे हैं। संसारके लोगोंकी आंखें मंत्रमुग्धके समान उनकी चमचमाहटसे तिलमिला रही है, परन्तु हमारा जीर्ण शीर्ण और प्राचीन आयुर्वेद आज भी अपने सूखे शरीरपर ताल ठोंककर और ललकारकर मेघ गर्जन कर रहा है कि, भारतके वैद्यक शिलाजीत, चन्द्रप्रभावटी, शिवागुटी आदि औषधियोंके समान शक्तिवर्धक, रक्तशुद्धिकारक, मलशुद्धिकारक, तथा चित्तोत्साहवर्धक आदि अनेक गुणोंसे भूषित औषधियां दिखाते हैं। कहां है अपनी विद्वत्ता और अपनी "पेथीज" की शेखी बघारनेवाले डॉक्टर हकीम लोग। जरा सामने आकर शिलाजीत आदि औषधियोंके समान दिव्य और योगवाही औषधियां अपनी 'पेथीज' में निकालते हैं।

परन्तु दोष उनका नहीं हमारा ही है। हमी तो अपने घरके रत्न छोडकर पराये घरके कांचके टुकडे बिन रहे हैं। जो भारतवासी अज्ञातवश विदेशी और धर्मभ्रष्टकारी औषधियोंपर असंख्य रुपये खर्च कर रहे हैं, वे ही रुपये यदि देशी वैद्योंके उत्साह बढाने और स्वदेशी दिव्य औषधियोंके सेवन करनेमें व्यय किये जावें तो इस जमानेमें भी आयुर्वेदकी बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

ऊपर जिन प्रयोगोंका वर्णन आया है उसमें दो प्रयोग लिखते हैं।

१ शिलाजीत रसायन

केशर ४, मासा, दालचीनी, कबाबचीनी, पत्रज, इलायची, बालछड, तालीसपत्र, वंशलोचन और नागकेशर ३२-३२ मासा, विदारीकंद और शतावर दस दस तोले, पीपल २ तोले, उत्तम लोहभस्म २० तोले, उत्तम अभ्रकभस्म ४० तोले, गोघृत ६० तोले, शुद्ध शिलाजीत ८० तोले, शहद २० तोले, शकर ४० तोले, द्राक्षासव २८० तोले।

द्राक्षासवमें शकर डालकर चासनी करें और काष्टिक दवाओंको वस्त्र गालकर तथा सब भस्में और शिलाजीत मिलाकर उतार लें तथा ठंडा होनेपर शहद मिलाकर कांचकी बरनीमें भरकर रख लेवें। उसमेंसे ३ मासासे १ तोलातक सायंप्रातः खाकर ऊपरसे दूध पियें। इसके सेवन करनेसे वृद्ध पुरुष भी तरुणके समान शक्तिसम्पन्न होता है, ध्वजभंग, शुक्रतारल्य, स्वप्नदोषका नाश होता है तथा दृढकाम, हृष्टपुष्ट हो जाता है।

२ चन्द्रप्रभावटी

वायविडंग, चित्रक, त्रिफला, त्रिकुटा, देवदारु, चिरायता, पीपरामूल, मोथा, कचूर, बच, सनाय, सज्जीखार, यवक्षार, सैंधव, सोंचर, विडनोन, हलदी, दारुहलदी, धनिया, गजपीपल और अतीसयवसव १-१ तोला, निशोथ, दन्तीमूल, तज, तमालपत्र, वंशलोचन और इलायची ४-४ तोले इन सबको पीसकर वस्त्रगालकर इसमें ३२ तोले शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुल १६ तोले, लोहभस्म उत्तम ८ तोले,

स्वर्ण माक्षिकभस्म १ तोला, शकर १६ तोले मिलाकर खूब कूटकर १-१ मासाकी गोली बनावें यही चन्द्रप्रभावटी है। इसको सायंप्रातः १-१ गोलीसे ३-३ गोलीतक खाकर इसके ऊपर दूध, छाछ, दहीका पानी अथवा केवल जलके साथ खावें यह सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करनेमें समर्थ है।

विशेषकर २० प्रकारके प्रमेह, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ, अश्मरी, मलबद्धता, शूल, सोजाक, प्रमेहपिडिका, अर्बुद, वृषणवृद्धि, पाण्डु, कमला, हलीमक, अन्तरगळवायु, कटिशूल, खांसी, श्वास, विपादिका, विचर्चिका, कुष्ट, ववासीर, गृहणी, भगदर आदि रोगोंको नष्ट कर अत्यन्त मन्द अग्निको भी दीपन करती है। वात, पित्त, कफसे उत्पन्न हुए रोगोंपर, नाणीवृणपर, मर्मगतवृणोंपर, क्षतक्षयपर, पथरी, गृधसी, प्रबल गजमेह, वीर्यक्षीणता, वीर्यतारल्य और उदर रोगोंपर रामबाणसा काम करती है।

इन गोलियोंके सेवनकालमें मनुष्योंको भोजन, पान, शीत, पवन, धूप और मैथुनका परहेज नहीं है। यह गोलियां वीर्यके आठ प्रकारके दोषोंको नष्ट कर सन्तानोत्पादक कीटाणुको बलवान बनाती हैं। वृद्धवलि पलितयुक्त भी युवा होता है। मस्तिष्क और नेत्रोंके विकार नष्ट होकर उनमें ठंडक आती है। दिमाग ताजा होकर बुद्धि और स्मरणशक्ति बढती है। तथा भिन्न भिन्न अनुपानोंमें संपूर्ण रोग नष्ट होते हैं तथा सुन्दर कान्ति तथा प्रफुल्लता प्राप्त होती है।

इसे धैर्यपूर्वक निरन्तर २-४ मास सेवन करना चाहिये।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

आणन्द

ता. ७ फरवरीको पायोनियर हाईस्कूलमें वल्लभविद्यानगरके प्रोफेसर श्री ओमानन्द सारस्वत, एम्. ए. की अध्यक्षतामें प्रमाणपत्र वितरणोत्सव मनाया गया। प्रारंभमें श्री स्नातक सुबोधचन्द्र साहित्याचार्य ने मंगलगीतके बाद अध्यक्षका परिचय दिया। राष्ट्रभाषामण्डलके मन्त्री श्री उमियाशंकर ठाकर ने केन्द्रविवरण तथा मण्डलकी कार्यप्रणालीका इतिहास उपस्थित किया। वर्धाकी राष्ट्रभाषा परीक्षाओंके प्रमाणपत्र, स्वाध्यायमण्डल—पारडीकी संस्कृत परीक्षाओंके प्रमाणपत्र एवं व्यायाम दिवस स्पर्धाके पारितोषिक वितरण करते हुए सारस्वतसाहबने अपनी रोचक एवं साहित्यिक शैलीमें राष्ट्रभाषा और संस्कृतका महत्व बताया और अपनी वीररसपूर्ण स्वरचित 'चित्तौड' कथाकाव्यकी रसधारासे सबके दिलोंको आन्दोलित किया और भारतके भावी नवयुवकोंमें वीरताकी आवश्यकतापर भार दिया। अन्तमें केन्द्रव्यवस्थापक श्री शंकरभाई र. पटेल ने आभारविधि एवं पुष्पहारविधिके साथ समारम्भकी पूर्णाहुति की।

गढीहाथीशाह

दिनांक २-२-५६ को प्रमाणपत्र वितरणोत्सव मनाया गया जिसमें ग्रामके २००-३०० पुरुषों तथा स्त्रियोंने भाग लिया था। सभाके सभापति श्री १०००८ ओरेमप्रकाश स्वामी जी थे। प्रारम्भमें मंगलगान हुआ।

श्री रामप्रसाद जी प्रधान अध्यापक धिनौना तथा पं. नेतरामजी प्रधान अध्यापक गढीहाथीशाहने अपने भाषणमें बताया कि संस्कृतसे समस्त विद्याओंका प्रादुर्भाव हुआ है। संस्कृतका निश्चित व्याकरण है तथा यह सरल किया है, अंग्रेजी भाषा तो केवल भोगका साधन है और संस्कृतभाषा भोगपरायण नहीं है बल्कि योगपरायण है।

केन्द्रव्यवस्थापक श्री गोवर्धनदास शर्मा ने बताया कि केवल संस्कृतभाषा ही एक अपनी मातृभाषा ऐसी है जिससे महाकाव्यका ज्ञान होता है तथा आत्मा शुद्ध होती है इसलिये प्रत्येकका धर्म होना चाहिये कि अपनी मातृभाषा कोन भूलें और अध्ययन अवश्य करें।

श्री परमानन्द वैद्य ने भी संस्कृतभाषाको सर्व उन्नत बनानेका भाषण दिया। अन्तमें स्वामीजीका भाषण हुआ। उन्होंने बताया कि संस्कृतसे परमात्मतत्वका ज्ञान होता है और यह ब्रह्माण्डके पवित्र करनेवाली भाषा है। संस्कृतके अर्थ 'पवित्र वाणी' बतलाया और बताया कि प्रत्येक प्राणीके अन्तःकरणमें होना चाहिये। इसके बाद प्रमाणपत्र स्वामीजी द्वारा वितरण किये गये। अन्तमें ईश्वरगानके बाद सभा समाप्त हुई।

माणकेश्वर

प्राथमिकशालाके निरिक्षण अवसरपर दि. २८-१-५६ को निरिक्षकसाहेब श्री न. वि. आगाशे शिक्षणकार्यालय उस्मानाबाद इनकी अध्यक्षतामें प्रमाणपत्र वितरणोत्सव मनाया गया। उत्सवका आरम्भ "राष्ट्रगीत तथा सरस्वतीके स्तुति गीत" से हुआ। उसके बाद श्री सु. शे. देशपाण्डे जीने केन्द्रके बारेमें जानकारी देकर अहवाल सुनाया और उत्तीर्ण छात्रोंको प्रमाणपत्र दिये गये।

श्रीमान् निरीक्षकसाहेब न. वि आगाशे जीने शिक्षणका महत्व विद्यार्थियोंको समझाते हुए बोले, "सर्व भाषाओंकी उत्पत्ति संस्कृतसे ही है। संस्कृतभाषा ही हमारी माता है। उसका अध्ययन करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। सर्व साहित्योंका ज्ञान संस्कृतसे ही होता है।"

श्रीमान् माधवराव जोशी ने भी विद्यार्थियोंको कहा कि "जिस प्रकार संस्कृत हमारी मातृभाषा है। उसी तरह हिन्दी भी हमारी राष्ट्रभाषा है। इन्हीं दोनोंका ज्ञान पाना बहुत आवश्यक है।

अन्तमें श्री केन्द्रव्यवस्थापक महोदयने सब लोगोंका आभार माना और 'वन्दे मातरम्' गीतके बाद कार्यक्रम समाप्त हुआ।

परीक्षा विभाग

आवश्यक सूचनायें

तारीख २५-२६ फरवरी ५६ को की गई संस्कृतभाषा परीक्षाओंका परीक्षा-परिणाम तारीख १० अप्रैल ५६ ई. को प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षाफल केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेजा जायगा और उनके द्वारा निश्चित तिथि एवं समयपर प्रकाशित किया जायगा।

परीक्षार्थी अपना परीक्षाफल अपने केन्द्रव्यवस्थापकसे प्राप्त करें। परीक्षाफलविषयक पत्रव्यवहार केन्द्र-व्यवस्थापक द्वारा होना चाहिये। परीक्षार्थी सीधे पारडी कार्यालयसे इस सम्बन्धमें कोई भी पत्र-व्यवहार न करें।

हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये शास्त्रीय योग्यताओंकी मान्यता

मुंबई सरकारने सरकारी और असरकारी हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये **स्वाध्यायमंडल, पारडी** की **तीन साहित्यिक परीक्षाओं**को मान्यता दी है। इनकी योग्यता निम्न प्रकार स्वीकृत की गई है—

स्वाध्यायमंडल किल्ला पारडी (जि. सूरत) की **साहित्यिक परीक्षाएं—**

साहित्यप्रवीण— एस. एस. सी/मेट्रिक के समान है,
साहित्यरत्न —इन्टर आर्ट्स के समान है, और
साहित्याचार्य— बी. ए. के समान है।

मुंबई सरकारने हमारे संस्कृत प्रचारमें यह मान्यता देकर जो हमे प्रोत्साहित किया है उसके लिये हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते है।

— परीक्षा-मन्त्री

वेदकी पुस्तकें

	मूल्य रु.		मूल्य रु.
ऋग्वेद संहिता	१०)	ऋग्वेद मंत्रसूची	१)
यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता)	३)	दैवत संहिता (प्रथम भाग)	६)
(यजुर्वेद) काण्व संहिता	४)	दैवत संहिता (द्वितीय भाग)	६)
(यजुर्वेद) मैत्रायणी संहिता	६)	दैवत संहिता (तृतीय भाग)	६)
(यजुर्वेद) काठक संहिता	६)	सामवेद कौथुम शाखीयः गामगेय	
यजुर्वेद-सर्वानुक्रम सूत्र	१॥)	(वेय प्रकृति) गानात्मकः	६)
यजुर्वेद वा. सं. पादसूची	१॥)	प्रकृति गानम्	४)

मूल्य के साथ डा. व्य., रजिष्ट्रेशन एवं पेकींग खर्च संमिलित नहीं है।

मंत्री— **स्वाध्याय-मण्डल, भारतमुद्रणालय,** आनन्दाश्रम, किल्ला-**पारडी,** (जि. सूरत)

७ वि द्वेषांसीनुहि वर्धयेळां मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ८२ ॥

(मं० ६, सू० ११)

१ यजस्व होतरिषितो यजीयानग्ने बाधो मरुतां न प्रयुक्ति ।
आ नो मित्रावरुणा नासत्या द्यावा होत्राय पृथिवी ववृत्याः ॥ ८३ ॥

२ त्वं होता मन्द्रतमो नो अध्रुगन्तर्देवो विदथा मर्त्येषु ।
पावकया जुह्वा३वह्निरासाऽग्ने यजस्व तन्वं१तव स्वाम् ॥ ८४ ॥

३ धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवाञ्जन्म गृणते यजध्यै ।
वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्रो मधुच्छन्दो भनति रेभ इष्टौ ॥ ८५ ॥

---

१ उशन् इमं यज्ञं चनः धाः- यज्ञ करनेकी इच्छासे अपने पास अन्नका संग्रह कर ।

२ हविष्मान् आसानः जुह्वते- अन्नवाला बैठकर हवन करता है, अन्न लेकर बैठे और अन्नका दान करे ।

३ गव्यस्य वाजस्य सातौ अवीः- अन्नधनकी प्राप्तिके कार्यमें संरक्षण मिले ।

४ भरद्वाजेषु सुवृक्तिं दधिषे- अन्न दान करनेवालोंके विषयमें स्तुति कर, दाताओंके विषयमें उत्तम भाषण कर।

[७] (८२) हे अग्नि ! (द्वेषांसि वि इनुहि) शत्रुओंका नाश करो । (इळां वर्धय) हमारे लिये अन्न बढाओ । (सुवीराः शतहिमाः मदेम) उत्तम वीर पुत्रपौत्रादिसे युक्त होकर सौ वर्ष तक आनन्दसे रहें ।

१ **द्वेषांसि इनुहि**- शत्रुओंका नाश कर ।

२ **इळां वर्धय**- अन्नकी वृद्धि कर । बहुत अन्न उत्पन्न कर।

३ **सुवीराः शतहिमाः मदेम**- हम वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त होकर सौ वर्षतक आनन्दमें रहें ऐसा कर ।

मानव धर्म- शत्रुओंका नाशकर, अन्नको बहुत उत्पन्न कर और सौ वर्षतक पुत्रपौत्रोंके साथ आनन्दसे रहेंगे ऐसा कर।

[१] (८३) हे (होतः) देवोंको बुलानेवाले (अग्ने) अग्नि ! तेजस्वी देव ! (यजीयान् इषितः) यज्ञ करनेवाला तू हमारे द्वारा प्रार्थना करनेपर (न) इस समय (प्रयुक्ति मरुतां बाधः यजस्व) यज्ञमें मरनेतक लडनेवाले वीरोंके शत्रुनाशक संघके लिये यजन कर । (मित्रावरुणा नासत्या द्यावापृथिवी) मित्र, वरुण, श्रेष्ठ देव सत्यके नेता अश्विनौ और द्यावापृथिवीको (होत्राय आ ववृत्याः) हमारे यज्ञके लिये लाओ ।

मरुतोंका संघ सैनिक वीरोंका संघ है। वह शत्रुका नाश त्वरासे करता है। यज्ञमें उनके लिये अन्न समर्पण करना चाहिये।

१ **यजीयान् इषितः प्रयुक्ति मरुतां बाधः यजस्व**- यज्ञ करनेवाला अतएव प्रशंसाके योग्य वीर इस कार्यमें वीरोंके शत्रुनाशक संघटनका सत्कार करे ।

मित्रः- सूर्य, मित्र । **वरुणः**- वरिष्ठ श्रेष्ठ देव । **अश्विनौ**- देवोंके वैद्य, चिकित्सक ।

[२] (८४) हे अग्नि ! (त्वं मर्त्येषु अन्तः विदथा होता) तू मनुष्योंके बीच यज्ञमें देवोंको बुलानेवाला है । तू (मन्द्रतमः नः अध्रुक् देवः) अतिशय आनन्द देनेवाला और हमारा द्रोहरहित मित्र और दिव्य है । हे (अग्ने) अग्नि ! (जुह्वा पावकया आसा वह्निः) ज्वालायुक्त पवित्र मुख द्वारा हव्य वहन करनेवाला तू (तव स्वां तन्व यजस्व) तेरे स्वभूत शरीरका भी हव्यसे पोषण कर । अथवा समर्पण कर ।

१ **मर्त्येषु अन्त विदथः होता**- मर्त्योंमें, मर्त्य शरीरोंमें पूज्य दाता तू हो ।

२ **मन्द्रतमः अध्रुक् देवः**- आनन्द बढानेवाला, द्रोह न करनेवाला, दिव्यगुण युक्त मित्र बनो ।

३ **तव स्वां तन्वं यजस्व**- तुम्हारे अपने शरीरका सत्कार कर । मनुष्य अपने शरीरका सत्कार करे । शरीरका यज्ञ करे । शरीरको पवित्र रखे । शरीरका समर्पण करे ।

विदथ- ज्ञान, यज्ञ, युद्ध । अध्रुक्- द्रोहन करनेवाला ।

[३] (८५) (यत् ह अंगिरसां वेपिष्ठः विप्रः) जब अंगिरस् ऋषियोंके बीच अतिशय स्तुति करनेमें प्रवीण विद्वान् (रेभः) स्तोता (इष्टौ मधु छन्दः भनति) यज्ञमें मधुर छन्दका

४ अदिद्युतत्स्वपाको विभावाग्ने यजस्व रोदसी उरूची ।
आयुं न यं नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पंच जनाः ॥ ८६ ॥

५ वृञ्जे ह यन्नमसा बर्हिरग्नावयामि स्रुग्घृतवती सुवृक्तिः ।
अम्यक्षि सद्म सदने पृथिव्या अश्रायि यज्ञः सूर्ये न चक्षुः ॥ ८७ ॥

६ दशस्या नः पुर्वणीक होतर्देवेभिरग्ने अग्निभिरिधानः ।
रायः सूनो सहसो वावसाना अति स्रसेम वृजनं नांहः ॥ ८८ ॥

गान करता है । (चित् हि देवान् प्र यजध्यै जन्म गृणते) तब देवोंका यज्ञ करनेके लिये तेरे जन्मका वर्णन करनेवालेकी (धन्या धिषणा त्वे वष्टि) धनकी इच्छा करनेवाली बुद्धि तेरी कामना करती है । तेरी भक्तिसे धन मिलता है—

१ इष्टौ मधु छन्दः भनति- यज्ञमें मधुर छन्दका गान करते हैं ।

२ त्वे वष्टि धिषणा धन्या- तुझ (प्रभुकी प्राप्ति) की इच्छा करनेवाली बुद्धि धन्य है ।

अंगिरस्- अंगके रस जीवनरसकी विद्या जाननेवाला ज्ञानी । **धिषणा-** बुद्धि ।

[४] (८६) यह (अपाकः विभावा) बुद्धिमान् और दीप्तिमान् अग्नि (सु अदिद्युतत्) विशेष रीतिसे प्रकाशित होता है । हे (अग्ने) अग्नि ! तू (उरूची रोदसी यजस्व) विस्तीर्ण द्यावापृथिवीका यजन कर । (आयुं न रातहव्याः पञ्चजनाः) अतिथिकी पूजा करनेके समान, हवि अर्पण करनेवाले पाँचों जातिके लोग (यं सुप्रयसं नमसा अञ्जन्ति) जिसको उत्तम हवि दिया जाता है, ऐसे अग्निको अन्नसे तृप्त करते हैं ।

१ अपाकः विभावा अग्निः सु अदिद्युतत्- परिपक्व बुद्धिवाला वैभवसम्पन्न अग्रणी अत्यन्त तेजस्वी दीखता है । (**पाक-** जो परिपक्व होनेवाला है, मूर्ख । **अ-पाकः-** परिपक्व बुद्धिवाला, बुद्धिमान, ज्ञानविज्ञानसंपन्न । **अग्निः-** अग्रणी । **अपाकः विभावा स्वदिद्युतत्-** पूर्ण विद्वान् तथा जो प्रभावी होता है वह तेजस्वी होता है ।

२ रातहव्याः पंचजनाः सुप्रयसं नमसा अर्चन्ति- हविके अर्पण द्वारा यज्ञ करनेवाले पांचों प्रकारके लोग उत्तम हवि जिसमें अर्पण करते हैं, ऐसे अग्निकी अन्नसे तृप्ति करते हैं । **नमः-** अन्न, नमस्कार ।

[५] (८७) (यत् ह नमसा अग्नौ बर्हिः वृञ्जे) जब अन्नकी अग्निमें आहुती डाली जाती है । तथा (सुवृक्तिः घृतवती स्रुक् अयामि) उत्तम दोषरहित घृतसे पूर्ण स्रुचा रखी जाती है । तब (पृथिव्याः सदने सद्म अम्यक्षि) पृथ्वीके ऊपरके यज्ञगृहमें वेदी रची जाती है । (सूर्ये न चक्षुः) सूर्यमें जिस प्रकार चक्षु आश्रय करता है । उस प्रकार (यज्ञः अश्रायि) यज्ञ यज्ञकर्त्ताका आश्रय करता है ।

[६] (८८) हे (पुर्वणीक होतः अग्ने) बहुत ज्वालायुक्त और देवोंके आवाहन करनेवाले अग्नि ! (देवेभिः अग्निभिः इधानः) अन्य दिव्य अग्नियोंके साथ प्रदीप्त होनेवाला तू (नः रायः दशस्य) हमें धन दे । हे (सहसः सूनो) बलके प्रेरक अग्नि ! (वावसानाः, वृजनं न, अंहः अति स्रसेम) हविष्यान्न देनेवाले हम, शत्रुके समान, पापको भी दूर करते हैं ।

१ पुर्वणीकः अग्निः- बहुत (अनीक) सेनावाला अग्रणी हो ।

२ नः रायः दशस्य- हमें धन दो । धनका दान कर ।

३ सहसः सूनुः- बलका प्रेरक बन ।

४ वावसानाः, वृजनं न, अंहः अति स्रसेम- भक्ति करनेवाले हम सब शत्रुको दूर करते हैं । और पापको भी दूर करते हैं ।

मानव धर्म- अग्रणी अपने पास पर्याप्त संरक्षक दल रखें । दिव्य विभूतियोंके साथ प्रकाशित होता रहे । अनुयायियोंको धन देवे । अनुयायियोंमें बल बढानेकी प्रेरणा करे । प्रभुकी सेवा करे । शत्रुको तथा पापको दूर करे ।

(मं० ६, सू० ११)

१ मध्ये होता दुरोणे बर्हिषो राळग्निस्तोदस्य रोदसी यजध्यै ।
अयं स सूनुः सहस ऋतावा दूरात्सूर्यो न शोचिषा ततान ॥ ८९॥

२ आ यस्मिन्त्वे स्वपाके यजत्र यक्षद्राजन्सर्वतातेव नु द्यौः ।
त्रिषधस्थस्ततरुषो न जंहो हव्या मघानि मानुषा यजध्यै ॥ ९० ॥

३ तेजिष्ठा यस्यारतिर्वनेराट् तोदो अध्वन्न वृधसानो अद्यौत् ।
अद्रोघो न द्रविता चेतति त्मन्नमर्त्योऽवर्त्र ओषधीषु ॥ ९१ ॥

[१] (८९) (होता, बर्हिषः राट् अग्निः) देवोंको बुलानेवाला, यज्ञका राजा, अग्नि (तोदस्य दुरोणे मध्ये) यज्ञकर्ताके घरके बीचमें (रोदसी यजध्यै सः अयं) द्यावापृथिवीका यजन करनेके लिये बैठा है । वह यह (सहसः सूनुः) बलका प्रेरक (ऋतावा सूर्यो न दूरात्) यज्ञ करनेवाला अग्नि सूर्यकी तरह दूरसे ही (शोचिषा ततान) अपने तेजसे जगत्‌को प्रकाशित करता है ।

यजमानके यज्ञगृहमें यज्ञ करनेके लिये अग्नि प्रदीप्त हुआ है। सूर्य जैसा विश्वको प्रकाशित करता है वैसा यह अग्नि भी जगत्‌को प्रकाशित करता है ।

१ **बर्हिषः राट्**- यज्ञका राजा बनो ।

२ **दुरोणे मध्ये यजध्यै**- घरके बीचमें यज्ञके लिये निवास कर ।

३ **सहसः सूनुः ऋतावा सूर्यः न दूरात् शोचिषा ततान**- बलके कार्य करनेके लिये जन्मा सत्यवान् वीर सूर्यके समान दूरसे ही चमकता है ।

ऋतावा- सत्यवान् । **दुरोण**- घर ।

[२] (९०) हे (यजत्र राजन्) पूज्य और प्रकाशमान अग्ने ! तेजस्वी देव ! (द्यौः सर्वताता इव) प्रकाशमान स्तोता यज्ञमें (अपाके त्वे यस्मिन्) बुद्धिमान् ऐसे तुझमें (नु सु आ यक्षत्) उत्तम रीतिसे हवन करता है । (त्रिषधस्थः ततरुषः न) तीनों लोकोंमें तारक सूर्यकी तरह (मानुषा मघानि हव्या यजध्यै) मनुष्योंके प्रशंसनीय हव्योंका यजन करनेके लिये तू (जंहः) शीघ्र जानेवाला हो ।

द्यौः— प्रकाशमान आकाश, द्युलोक । स्तुति अर्थके दिव् धातुका यह रूप माननेपर इसका अर्थ ' स्तोता ' होता है। **सर्वताता**— सबका विस्तार करनेवाला यज्ञ । सबकी शक्ति बढानेवाला कर्म । **अपाक**— पूर्ण ज्ञानी, **पाक**— परिपक्व होनेवाला, मूर्ख । **ततरुषः**— तारक, तैरकर तारण करनेवाला ।

हे अग्ने ! यज्ञमें याजक प्रदीप्त अग्निमें यजन करता है । तीनों लोकोंमें सूर्यका प्रकाश जाता है और वहां वह तारण करता है उस तरह यज्ञमें किये हवनोंका प्रभाव तीनों लोकोंमें हो और वहांका तारण हो ।

[३] (९१) (यस्य अरतिः तेजिष्ठा वनेराट्) जिस अग्निकी ज्वाला अत्यन्त तेजवाली होकर अरण्यमे सुशोभित होती है, (वृधसानः तोदः न अध्वन् अद्यौत्) वह बढनेवाला अग्नि सबके प्रेरक सूर्यकी तरह, अपने मार्गमें भी प्रकाशित होता है । (अद्रोघः न अमर्त्यः ओषधीषु) द्रोह न करनेवालेके समान मरणरहित वह अग्नि वनोंमें (द्रविता अवर्त्रः) शीघ्र फैलनेवाला और किसीसे रोका न जानेवाला (त्मन् चेतति) अपने प्रकाशसे सबको प्रकाशित करता है ।

अग्निकी ज्वाला बढनेपर वनमें शोभती है, उसके और बढ जानेपर सूर्यकी तरह वह अपने जानेके मार्गमें भी प्रकाशने लगता है। द्रोह न करनेवालेके समान यह अमर अग्नि किसीसे रोका नहीं जाता और अपने प्रकाशसे सबको प्रकाशित करता है।

१ **अरतिः तेजिष्ठा वनेराट्**— उसकी शोभा वनमें भी शोभती है ।

२ **वृधसानः तोदः न अध्वन् अद्यौत्**— बढनेवाला वह प्रेरक सूर्यके समान मार्गमें भी प्रकाशता है। सर्वत्र प्रकाशता है ।

३ **अद्रोघः अमर्त्यः त्मन् चेतति**— द्रोह न करनेवाला अमर होकर स्वयं अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है ।

मानव धर्म— मनुष्य तेजस्वी हो, बढता जाय, द्रोह न करे । अपने प्रकाशसे प्रकाशित हो जाय ।

४ सास्माकेभिरेतरी न शूषैरग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः ।
द्रुन्नो वन्वन् क्रत्वा नार्वोस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः ॥ ९२ ॥
५ अध स्मास्य पनयन्ति भासो वृथा यत्तक्षदनुयाति पृथ्वीम् ।
सद्यो यः स्पन्द्रो विषितो धवीयानृणो न तायुरति धन्वाराट् ॥ ९३ ॥
६ स त्वं नो अर्वन्निदाया विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधानः ।
वेषि रायो वि यासि दुच्छुना मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ९४ ॥

[४] (९२) (जातवेदाः सः अग्नि.) वह ज्ञानी अग्नि (एतरी न अस्माकेभि- शूषैः दमे आ स्तवे) मार्गसे जानेवाले गायकके समान हमारे सुखकर स्तोत्रोंसे हमारे यज्ञगृहमें प्रशंसित होता है। (द्रुवन्न वन्वन् क्रत्वा न अर्वा) वही वृक्षोंको खानेवाला, वनोंका आश्रय करनेवाला, अपना कर्म करते हुए जानेवाले घोडेके समान गतिमान् (उस्रः पिता इव, यज्ञैः जारयायि) वत्सोंके पिता वृषभकी तरह याजक मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होता है।

यह ज्ञानी अग्रणी, मार्गपरसे जानेवाले गायकके गानेके समान हमारे उत्तम स्तोत्रोंके गायनसे प्रशंसित होता है। वृक्षोंको जलानेवाला, अपनी गतिसे जानेवाले घोडेके समान गतिमान्, वत्सोंके पिता बैलके समान तरुण अग्रणी याजकों द्वारा प्रशंसित होता है।

एतरी— जानेवाला, गतिमान्, मार्गपरसे जानेके समय गानेवाला सुन्दर गान गाता है। वैसे याजक स्तोत्रगान करते हैं। **द्रुवन्न**- (द्रु+अन्न) वृक्षरूप अन्न खानेवाला। समिधा खानेवाला। **उस्रः पिता**- बछडोंका पिता सांड, बैल।

१ जातवेदाः अग्निः शूषैः दमे आ स्तवे— ज्ञानी अग्रणीकी स्तोत्रोंसे यज्ञ स्थानमें प्रशंसा गायी जाती है। ज्ञानीकी प्रशंसा सर्वत्र होती है।

[५] (९३) (अध स्म) इस लोकमें लोग (अस्य भासः पनयन्ति) अग्निके किरणोंका वर्णन करते हैं। (यत वृथा तक्षत् पृथ्वीं) जब सहज ही से यह वनोंको जलाकर पृथ्वीके ऊपर (अनुयाति) भ्रमण करता है। (यः स्पन्द्रः विषितः सद्यः धवीयान्) जो अग्नि स्वयं गतिमान है और प्रतिबन्ध रहित होनेके कारण अत्यन्त वेगसे जाता है। वह (ऋणो न तायुः) दौडनेवाले चोरकी तरह (धन्व राट्) भूमिके ऊपर प्रकाशित होता है।

लोग अग्निकी ज्वालाओंका वर्णन करते हैं। यह पृथ्वीके ऊपरके वनोंको जलाता हुआ चलता है। यह अग्नि स्वयं गतिमान् है, परंतु बंधनसे मुक्त होनेके कारण इसका वेग अधिक होता है। और यह दौडनेवाले चोरकी तरह भूमिपर चलता हुआ प्रकाशता है।

१ तायुः न, ऋणः स्पन्द्रः विषितः धवीयान्— जैसा चोर पहिलेसे ही दौडनेमें प्रवीण होता ही है, परन्तु बन्धनसे मुक्त होनेके कारण अधिक ही वेगसे दौडता है। (तायु.) चोर (ऋण. स्पन्द्रः) दौडनेवाला चपल, (वि-षित·) बन्धनसे मुक्त होनेपर अधिक ही (धवीयान्) वेगसे दौडता है। वैसा अग्नि बढनेपर अधिक ही बढता है।

चोरको बन्धनमें रखते थे और वह (वि-षितः) बंधनसे मुक्त होकर भाग भी जाता था। यहांकी उपमासे यह दीखता है।

१ भासः पनयन्ति— तेजकी प्रशंसा होती है।

२ वृथा तक्षत् पृथिवीं अनुयाति— सहज ही से दौडकर वह पृथिवीपर दूर जाता है। ऐसी दौडनेकी शक्ति वीरमें हो।

३ स स्पन्द्रः विषित· सद्यः धवीयान्— वह वेग· वान् बंधनसे मुक्त होनेपर अधिक वेगवान होता है।

[६] (९४) हे (अर्वन् अग्ने) गतिशील अग्नि! (सः त्वं निदाया.) वह तू निन्दासे हमारी रक्षा कर। (विश्वेभिः अग्निभिः इधानः) सर्व अग्नियोंसे प्रज्वलित होकर (रायः वेषि) हमें धनोंका प्रदान करो। (दुच्छुना· वि यासि) और दुष्ट शत्रुसैन्यको दूर करो। (सुवीराः शतहिमाः मदेम) तथा उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त होकर सौ वर्षतक हम आनन्दसे रहें।

मानव धर्म— निन्दासे अपनी रक्षा कर। धनोंका दान कर। दुष्ट शत्रुसे अपनी रक्षा कर। उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त होकर सौ वर्षतक हम आनन्दमें रहें ऐसा कर।

(मं० ६, सू० १३)

१ त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः ।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ॥ ९५ ॥
२ त्वं भगो न आ हि रत्नमिषे परिज्मेव क्षयसि दस्मवर्चाः ।
अग्ने मित्रो न बृहत ऋतस्यासि क्षत्ता वामस्य देव भूरेः ॥ ९६ ॥
३ स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो वि पणेर्भर्ति वाजम् ।
यं त्वं प्रचेत ऋतजात राया सजोषा नप्त्रापां हिनोषि ॥ ९७ ॥

---

१ त्वं निदायाः पाहि- तू निंदासे संरक्षण कर।

२ रायः वेषि- धनोंका दान कर।

३ दुच्छुनाः वियासि- दुष्ट शत्रुओंको दूर कर।

४ **सुवीराः शतहिमाः मदेम**- उत्तम वीर पुत्रोंसे युक्त होकर हम सौ वर्ष आनन्दसे रहें। (यहां वर्षवाचक ' हिमा ' पद है। सौ शीतकाल, सौ हिमकाल हम जीवित रहें। यहां हिमकालकी प्रखरता व्यक्त होती है। अन्यत्र ' शरदः शत ' सौ शरत् ऋतु ऐसा कहा है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः । शतं हेमन्तान् शतमु वसंतान् ॥ (ऋ. १०।१६१।४)

" सौ शरदृतु बढता हुआ जीवित रह, सौ हेमन्त ऋतु और सौ वसन्त ऋतुतक जीवित रह। " यहां वसंत, हेमन्त इन ऋतुओंका भी नाम है। पर शरत् और हिम ये पद अधिकवार आये हैं।

[१] (९५) हे (सुभग अग्ने) उत्तम भाग्यवान् अग्नि ! (विश्वा सौभगानि त्वत् वि यन्ति) सब भाग्य तेरेसे ही निकलते हैं। (वनिनो न वयाः) जिस प्रकार वृक्षसे शाखाएं निकलती हैं। (रयिः श्रुष्टी) धन भी तेरेसे ही शीघ्रतासे उत्पन्न होते हैं। (वृत्रतूर्ये वाजः) संग्राममें शत्रुओंको जीतनेके लिये बल भी तेरेसे ही उत्पन्न होता है। (दिवः वृष्टिः) अन्तरिक्षसे वृष्टि तुझसे ही होती है। (ईड्यः अपां रीतिः) इसलिये स्तुति योग्य तू पानी लानेवाला है।

हे भाग्यवान् अग्ने ! सब भाग्य, वृक्षसे शाखाएं निकलती हैं, उस तरह तुझसे प्राप्त होते हैं। सब धन, शत्रुसे संरक्षण करनेवाला बल, आकाशसे होनेवाली वृष्टि यह सब तुझसे ही होता है। तू इस कारण प्रशंसनीय है। अतः तू पानी हमारे पास भेज दो।

वृक्षसे शाखाएं सहज ही से निकलती हैं। वैसे सब भाग्य अग्र्णीसे मिलते हैं। सब धन उससे मिलते हैं। युद्धमें विजय देनेवाले बल उसीसे मिलते हैं।

[२] (९६) हे अग्नि ! (भगः त्वं नः रत्नं आ इषे) भाग्यवान् तू हमको रमणीय धन दे। (दस्मवर्चा परिज्मा इव क्षयसि) दर्शनीय दीप्तिमान् तू चारों तरफ जानेवाले वीरकी तरह सब जगह रहता है अथवा सब पर शासन करता है। हे(अग्ने) अग्नि ! (मित्रो न, बृहतः ऋतस्य क्षत्ता असि) मित्रके समान महान सत्य मार्गका चलानेवाला है। हे (देव) दीप्तिमान् अग्नि ! (भूरेः वामस्य) तू बहुत प्रशंसनीय धनका देनेवाला हो।

हे अग्नि ! तू हमें उत्तम रत्न दे। तू दर्शनीय और तेजस्वी है। तू वायुकी तरह सब पर अधिकार चलाता है। मित्रके समान सत्यका प्रवर्तक है। अब तू हमें उत्तम संपत्ति देनेवाला हो।

१ भगः त्वं नः रत्नं आ इषे— तू भाग्यवान है इसलिये हमें भाग्य दे।

२ दस्मवर्चा परिज्मा इव क्षयसि— दर्शनीय तेजस्वी होकर चारों ओर जानेवाले वीरके समान निवास कर।

३ मित्रः न बृहत ऋतस्य क्षत्ता असि— मित्रके समान बडे सन्मार्गको चलाओ। चलानेवाला हो।

४ भूरेः वामस्य देव— बहुत धनको प्रदान कर।

[३] (९७) हे (अग्ने) अग्नि ! (सत्पतिः सः वृत्रं शवसा हन्ति) सज्जनोंका पालन करनेवाला वह पुरुष आवरक शत्रुका अपने बलसे नाश करता है (विप्रः पणेः वाजं बिभर्ति) वह बुद्धिमान् असुरके अन्नका हरण करता है। हे (प्रचेतः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् (ऋतजात) सत्यके रक्षणके लिये उत्पन्न होनेवाले अग्नि ! (अपां नप्त्रा सजोषाः) पानीको न गिरानेवाला

४ यस्ते सूनो सहसो गीर्भिरुक्थैर्यज्ञैर्मर्तो निशितिं वेद्यानट् ।
विश्वं स देव प्रति वारमग्ने धत्ते धान्यं१पत्यते वसव्यैः ॥ ९८ ॥

५ ता नृभ्य आ सौश्रवसा सुवीराग्ने सूनो सहसः पुष्यसे धाः ।
कृणोषि यच्छवसा भूरि पश्वो वयो वृकायारये जसुरये ॥ ९९ ॥

६ वद्मा सूनो सहसो नो विहाया अग्ने तोकं तनयं वाजिनो दाः ।
विश्वाभिर्गीर्भिरभि पूर्तिमश्यां मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १०० ॥

वैद्युताग्निसे संगत होकर (त्वं यं राया हिनोषि) तू जिसको धनके लिये प्रेरित करता है। वही शत्रुओंको मारता है।

१ सः सत्पतिः वृत्रं शवसा हन्ति— वह सत्यका पालक अपने बलसे शत्रुका वध करता है। राजा सत्यका पालन करे और दुष्टका दमन करे।

२ विप्रः पणेः वाजं बिभर्ति— ज्ञानी वीर दुष्ट व्यवहार करनेवालेसे अन्न वा धन छीन लेता है। दुष्ट पद्धतिसे व्यापार व्यवहार करनेवालेसे राजा धन छीन ले।

३ सजोषाः त्वं यं राया हिनोषि स शवसा वृत्रं हन्ति— तू उत्साही वीर जिसको धन प्राप्तिके लिये प्रेरित करता है। वह अपने बलसे शत्रुका वध करता है।

मानव धर्म— राजा सत्यका सरक्षण करे और अपने बलसे शत्रुका नाश करे। ज्ञानी राजा दुष्ट व्यापारियोंसे धन छीन ले। वह लोगोंका बल बढावे जिससे वे अपने बलसे शत्रुका नाश कर सकें।

[४] (९८) हे (सहसः सूनो) बलपुत्र अग्नि! (ते निशितिं यः मर्तः गीर्भिः उक्थैः) तेरे तीक्ष्ण सामर्थ्यको जो मनुष्य अपने भाषणों, स्तोत्रों द्वारा (यज्ञैः वेद्या आनट्) तथा यज्ञोंद्वारा वेदीमें प्राप्त करता है। (स.) वह मनुष्य हे (देव अग्ने) कान्तिमान् अग्नि! (विश्वं अरं धान्यं प्रतिधत्ते) सब पर्याप्त धान्य प्राप्त करता है। और (वसव्यैः पत्यते) बहुत धनोंसे युक्त होता है।

जो तीक्ष्ण सामर्थ्य प्राप्त करता है, वह पर्याप्त अन्न और बहुत धन प्राप्त करता है।

[५] (९९) हे (सहसः सूनो) बलपुत्र अग्नि! (ता सुवीराः सौश्रवसा नृभ्यः) उन उत्तम वीरोंसे युक्त उत्तम अन्नोंको उन शत्रुओंसे हरण कर और (पुष्यसे आ धाः) पोषणके लिये हमें देदो। (शवसा भूरि पश्वः यत् वयः) तथा बलसे युक्त तू जो बहुत पशु और अन्न (वृकाय जसुरये अरये कृणोषि) क्रूर द्वेषकर्ता शत्रुओंके लिये दिया है वह भी हरण करके हमें ला दो।

शत्रुओंका पराभव करके उनका सब ऐश्वर्य अपने देशमें लाना और अपने लोगोंमें बांटना।

[६] (१००) हे (सहसः सूनो अग्ने) बलपुत्र अग्नि! (विहायाः नः वद्मा) तू महान् ज्ञानी हमारे लिये हितोपदेष्टा हो। (वाजिनः तोकं तनयं दा) हमें धनधान्यसे संपन्न पुत्र-पौत्र देओ। (विश्वाभिः गीर्भिः पूर्तिं अभि अश्यां) सब स्तोत्रोंका गान करनेसे हमारी कामनाओंकी पूर्ति हो। (सुवीराः शतहिमाः मदेम) वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त होकर सौ वर्ष आनंदसे हम रहें।

तू हमें हितकारक उपदेश कर। धनधान्यसे समृद्ध पुत्रपौत्र हमें प्राप्त हो। हमारी कामनाओंकी पूर्ति होती रहे। उत्तम वीर संतानोंसे युक्त होकर हम सौ वर्षतक आनंदसे रहें।

१ विहायाः नः वद्मा— विशेष ज्ञानी हमें उपदेश करे।

२ वाजिनः तोकं तनयं दाः— बलिष्ठ पुत्रपौत्र हमें प्राप्त हो।

३ विश्वाभिः गीर्भिः पूर्तिं अभि अश्यां— सब उत्तम भाषणोंसे पूर्णता हम प्राप्त करें।

४ सुवीराः शतहिमा मदेम— उत्तम वीर संतानोंके साथ हम सौ हिमकालतक आनंद करते रहें।

(मं० ६, सू० १४)

१ अग्ना यो मर्त्यो दुवो धियं जुजोष धीतिभिः ।
भसन्नु ष प्र पूर्व्य इषं वुरीतावसे ॥ १०१ ॥
२ अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः ।
अग्निं होतारमीळते यज्ञेषु मनुषो विशः ॥ १०२ ॥
३ नाना ह्यग्नेऽवसे स्पर्धन्ते रायो अर्यः ।
तूर्वन्तो दस्युमायवो व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम् ॥ १०३ ॥
४ अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम् ।
यस्य त्रसन्ति शवसः संचक्षि शत्रवो भिया ॥ १०४ ॥

---

[१] (१०१) (यो मर्त्यः अग्ना दुवः धियं) जो मनुष्य अग्निकी सेवा बुद्धिपूर्वक (धीतिभिः जुजोष) स्तुतिके साथ करता है। (सः पूर्व्यः नु प्र भसत्) वह मनुष्य पहिला होकर प्रकाशमान् होता है। (अवसे इषं वुरीत) और अपनी सुरक्षाके लिये पर्याप्त अन्न प्राप्त करता है।

जो मनुष्य अग्रणी बुद्धिपूर्वक सेवा करता है। वह शीघ्र ही प्रमुख स्थानपर विराजमान होता है और अपनी सुरक्षाके साथ पर्याप्त अन्न प्राप्त करता है।

१ मर्त्यः दुवः धियं धीतिभिः जुजोष— जो मनुष्य आशीर्वादके भाषण अपनी बुद्धिमें रखता है।

२ सः पूर्व्यः प्रभसत्— वह पहिला होकर प्रकाशता है।

३ अवसे इषं वुरीत— अपनी सुरक्षाके लिये अन्न अपने पास रखता है।

[२] (१०२) (अग्निः इत् प्रचेताः) अग्नि ही उत्तम ज्ञानी है। (हि वेधस्तमः ऋषिः) और वह कर्ममें अत्यन्त कुशल द्रष्टा ऋषि है। (मनुषः विशः) मानवी प्रजा इस (होतारं अग्निं यज्ञेषु इळते) होता अग्निकी यज्ञमें स्तुति करते हैं।

अग्नि-अग्रणी-उत्तम ज्ञानी और कर्ममें कुशल द्रष्टा ऋषि है। मानवी प्रजाजन इस अग्निकी यज्ञमें स्तुति गाते है।

१ अग्निः प्रचेताः वेधस्तमः ऋषिः— अग्रणी ज्ञानी और कर्मप्रवीण द्रष्टा ऋषि है।

२ मनुषः विशः होतारं अग्निं यज्ञेषु ईळते— मानवी प्रजा दाता अग्रणीकी यज्ञोंमें स्तुति गाते हैं।

[३] (१०३) हे (अग्ने) अग्नि ! (अर्यः रायः अवसे नाना स्पर्धन्ते) शत्रुके धन भक्तोंकी सुरक्षा करनेके लिये शत्रुसे पृथक होकर स्पर्धा करते हैं। (आयवः दस्युं तूर्वन्तः) भक्त मनुष्य शत्रुका नाश करनेकी इच्छा करते हुए (व्रतैः अव्रतं सीक्षन्त.) व्रतोंसे व्रत विरोधियोंका पराजय करते हैं।

शत्रुके धन शत्रुसे पृथक् होते है और हमारे पास आनेकी त्वरा करते हैं। वे धन हमारा संरक्षण भी करते हैं। मनुष्य शत्रुका नाश करनेके लिये और विरोधियोंका पराभव करनेके लिये यज्ञादि कर्म करते हैं।

१ अर्यः नाना रायः अवसे स्पर्धन्ते— शत्रुकी नाना प्रकारकी संपत्ति अपनी सुरक्षाके लिये स्पर्धा करते है।

२ आयवः दस्युं तूर्वन्तः व्रतैः अव्रतं सीक्षन्तः— मनुष्य शत्रुका नाश करते हैं और व्रतोंसे व्रतविरोधियोंका पराजय करते हैं। स्वयं नियमोंका पालन करके नियम पालन न करनेवालोंका पराभव करते हैं। उत्तम नियमोंके पालनसे अव्रतियोंको समझाते हैं कि व्रतहीन रहना बुरा है।

[४] (१०४) (अग्निः) यह अग्नि (अप्सां ऋतीषहं सत्पतिं वीरं ददाति) अच्छे कर्म करनेवाले शत्रुओंका पराजय करनेवाले, सज्जनोंका पालन करनेवाले वीर पुत्रको देता है। (यस्य संचक्षि शवसः) जिस पुत्रको देखकर उसके बलसे (भिया शत्रवः त्रसन्ति) डरकर शत्रु लोग कांपने लगते हैं।

पुत्र ऐसा होना चाहिये कि जो कर्म करनेमें प्रवीण हो, शत्रुओंका पराभव करनेवाला हो, सज्जनोंका उत्तम पालन करनेवाला हो और जिसको देखनेसे ही उसके बलसे शत्रु भयभीत होकर कांपने लगते हों।

५ अग्निर्हि विद्मना निदो देवो मर्तमुरुष्यति ।
सहावा यस्यावृतो रयिर्वाजेष्ववृतः ॥ १०५ ॥

६ अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने वोचः सुमतिं रोदस्योः ।
वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवो नॄन्द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम ॥ १०६ ॥

(मं० ६, सू० १५)

१ इममू षु वो अतिथिमुषर्बुधं विश्वासां विशां पतिमृञ्जसे गिरा ।
वेतीद्दिवो जनुषा कच्चिदा शुचिर्ज्योक्चिदत्ति गर्भो यदच्युतम् ॥ १०७ ॥

१ अग्निः अप्सां ऋतीषहं सत्पतिं वीरं ददाति— अग्नि कर्म करनेमें कुशल, शत्रुका नाश करनेवाला, सज्जनोंका उत्तम पालन करनेवाला वीर शूर पुत्र देता है। पुत्र ऐसा होना चाहिये।

२ यस्य संचक्षि शवसः भिया शत्रवः त्रसन्ति— जिसके दर्शनसे उसके बलके कारण शत्रु भयभीत होकर पराभूत होते हैं।

इसमें पुत्रके जो गुण कहे हैं उनको ध्यानमें धारण करना योग्य है।

[५] (१०५) (सहावा देवः अग्निः विद्मना मर्तं) बलवान् दिव्य अग्नि ज्ञानसे मनुष्यकी (निदः उरुष्यति) निन्दासे रक्षा करता है और (हि यस्य रयिः वाजेषु अवृतः) उस मनुष्यका धन युद्धोंमें (अवृतः) सुरक्षित होता है।

बलवान् अग्निदेव अपने अद्भुत ज्ञानसे अपने भक्तका संरक्षण निन्दा करनेवाले शत्रुसे करता है। तथा उसका धन युद्धोंके समय भी सुरक्षित रहता है। कोई उस धनको उससे पृथक् कर नहीं सकता।

१ सहावा देवः अग्निः विद्मना मर्तं निदः उरुष्यति— बलवान् अग्निदेव अपने ज्ञानसे अपने भक्तकी निंदक शत्रुसे सुरक्षा करता है।

२ यस्य रयिः वाजेषु अवृतः— उसका धन युद्धोंमें सुरक्षित रहता है। शत्रु उस धनको उससे पृथक् नहीं कर सकता,

मानव धर्म— अपने बलसे निंदकोंसे अपनी रक्षा करो। अपने धनकी युद्धोंमें सुरक्षा करो।

[६] (१०६)—
(२४ वां मंत्र देखो, वहां अर्थ दिया है।)

[१] (१०७) हे ऋषि ! (वः) आप (इमं ऊं गिरा सु ऋञ्जसे) इस अग्निको अपनी वाणी द्वारा प्रसन्न कीजिये। यह (अतिथिं उषर्बुधं विश्वासां विशां पतिं) अतिथिकी तरह पूज्य, उषःकालमें प्रबुद्ध, सब प्रजाओंका पालन करनेवाला (जनुषा शुचिः कच्चित् दिवः आ वेति) जन्मसे ही पवित्र है और यह द्युलोकसे यहाँ आता है। (गर्भः) द्यावापृथिवीके बीचमें यह विद्यमान् रहकर (यत् अच्युतं ज्योक् चित् अत्ति) जो हवि नियमपूर्वक दिया जाता है वही सदा खाता रहता है।

१ अतिथिं उषर्बुधं विश्वासां विशां पतिं इमं गिरा ऋञ्जसे— इस अतिथिवत् पूज्य, उषः कालमें जागनेवाले, सब प्रजाजनोंके पालनकर्ताकी अपनी वाणीसे प्रशंसा करो। (जो भ्रमण करके उपदेश नहीं देता, जो सबेरे जल्दी उठता नहीं, सब प्रजाओंका जो योग्य पालन नहीं करता उसकी प्रशंसा कोई न करें।)

२ जनुषा शुचिः— यह जन्मसे ही पवित्र है। अतः प्रशंसाके योग्य है।

३ यत् अच्युतं तत् ज्योक् अत्ति— जो गिरा हुआ नहीं होता वही अन्न सदा खाता है। दूसरों द्वारा त्यागा हुआ, फेंका हुआ अन्न कभी नहीं सेवन करता।

४ गर्भः— गर्भ जैसा पवित्र और पवित्र अन्नरस खाने वाला होता है वैसा यह है। गर्भ माताके गर्भाशयमें सुरक्षित रहता है। और अन्नका पवित्र सारभूत रस खाता है वैसा यह है। ऐसा सार ग्रहण करनेवाला जो हो उसकी प्रशंसा करनी चाहिये।

ॐ

मनका प्रचण्ड वेग

सब कहते हैं कि ' मन ' बडा ही चंचल है और मन अत्यंत वेगवान् है; परंतु मनका वेग कितना है और वह एक निमेषमें कितनी दूर जा सकता है, इसका विचार इस समयतक किसीने नहीं किया है। बैल, घोडा, रेलगाडी, चंद्र, सूर्य, आदि वेगवान् पदार्थ हैं। वायु, प्रकाश और विद्युत्का भी वेग अत्यंत है, इन सब पदार्थोंके वेग प्रतिक्षणमें इतने हैं, ऐसा सिद्ध हो चुका है। प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थोंसे अदृश्य पदार्थोंतक सबके वेग इस समय विदित हैं, परंतु जिस मनसे उक्त पदार्थोंके वेग नापे जाते हैं, उस मनके वेगका अभीतक किसीको पता ही नहीं है।

मनके अंदर वेग है, और वह एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जा सकता है, इसका भी बहुत थोडे लोगोंको ज्ञान है। वेग दो प्रकारका होता है, एक अपने ही अंदरकी गति और दूसरी स्थानांतरमें जानेकी गति। मनकी चंचलताका जो मनुष्य अनुभव करते हैं, वे उसकी आंतरिक गतिको मानते ही हैं। चंचलताका यही अर्थ है कि उसके घटक अवयवोंमें बडी विलक्षण गति है। यह आंतरिक गति इतनी अधिक है कि इस गतिके कारण मनको स्थिर करना बडा ही मुश्किल हो गया है। साधारण प्रयत्नसे मनकी स्थिरता होती ही नहीं। योगाभ्यास द्वारा प्रबल निश्चयपूर्वक बडे प्रयत्नोंके साथ इसका निरोध हो सकता है। पचीस घोडोंकी शक्तिसे चलनेवाली मोटार गाडीको सुगमतासे कोई पहलवान रोक सकता है, परंतु मनकी आंतरिक गतिका निरोध करना बहुत ही कठिन कार्य है।

यह विचार मनके आंतरिक वेगका हो गया। परंतु इसका दूसरा भी एक वेग है कि जो एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेसे संबंध रखता है। मनके इस वेगके विषयमें कई विद्वान् संदेह करते हैं। इसलिये इस बातका जहां विचार करना है कि वेदमंत्रोंके कथनका क्या तात्पर्य प्रतीत होता है। आत्माका वेग वर्णन करते हुए वेद कहता है कि—

एकं मनसो जवीयः॥ यजु ४०।४

" आत्मा अथवा ब्रह्म मनसे वेगवान् हैं। " आत्माका वेग मनसे अधिक है, इस कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि मनकी गति आत्मासे कम है। अर्थात् आत्मासे भिन्न अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा मनका वेग अधिक है। हमारे पास निम्न पदार्थ हैं—
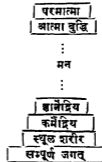
इंद्रियोंकी शक्ति और गति सबके अनुभवमें हैं। उनसे मन वेगवान् है और उससे भी आत्मा वेगवान् है, यह उक्त वचनका तात्पर्य है। अर्थात् यद्यपि मनकी गति आत्मासे कम है, तथापि अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा उसकी गति अत्यंत अधिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। क्या यह मनकी गति स्थानिक है अथवा स्थानांतरीय है ? अर्थात् क्या यह मन अपने स्थानमें रहता हुआ चंचल रहता है अथवा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जाता है ? यही बडा गहन प्रश्न है, जिसका विचार इस लेखमें करना है। मनके दूर जानेके विषयमें वेदमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं —

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ॥ १ ॥
यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ॥ २ ॥
यत् ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ॥ ४ ॥
यत् ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ॥ ५ ॥
यत् ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ९ ॥
यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ॥ १० ॥
यत् ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ११ ॥
ऋग्वेद १०।५८

"जो मन द्युलोक, पृथिवी, चारों दिशाएं, समुद्र, बडे बडे पर्वत, सब जगत् और दूरदूरके स्थानोंमें चला जाता है" उसको वापस लानेका यत्न करो। यह उपदेश उक्त मंत्रमें है। इन मंत्रोंमें—

मनः दूरकं जगाम।

इन शब्दों द्वारा "न समझते हुए मन दूर गया था" यह भाव स्पष्ट रीतिसे व्यक्त हो रहा है। "जगाम" क्रिया अज्ञात गतिकी द्योतक है। प्रत्यक्ष गति, जो स्वयं देखी होती है, उसका उल्लेख "जगाम" क्रियासे नहीं हो सकता। मन जो भटकता है वह न समझते हुए ही भटकता है। आप उसको एकाग्र करनेका प्रयत्न करते रहिए किस समय वह दूर भाग जायगा, इसका पता नहीं लगेगा। वह इतना चंचल है। उक्त मंत्रमें "दूरकं" शब्द द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक भाग जानेका मनका धर्म व्यक्त हो रहा है। तथा और मंत्र देखिए—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवैति ॥
दूरंगमं० ॥ १ ॥ हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं ॥ ६ ॥
यजु. ३४

"जो मन जागृत अवस्थामें दूर जाता है, वैसा ही सोनेपर भी दूर जाता है। इसका दूर जानेका स्वभाव ही है।.. हृदयमें रहनेवाला यह मन अत्यंत वेगवान् है।" ये मंत्र मनकी सब शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। परंतु सब मंत्र यहां नहीं लिये हैं। उसकी गतिके दर्शानेवाले जितने शब्द हैं, उनका ही यहां विचार करना है। इन मंत्रोंके विभाग निम्न प्रकार कीजिए, जिससे उनका तात्पर्य ठीक प्रकार ध्यानमें आ जायगा—

दैवं	दूरं गमं
जाग्रतः दूरं उदैति	सुप्तस्य तथैव दूरं एति
अजिरं	जविष्ठं

उक्त मंत्रोंमें "अजिर" और "जविष्ठ" ये दो शब्द भिन्न गतिके वाचक हैं। "अजिर" शब्द अपने अंदरकी चंचलता बता रहा है और "जविष्ठ" शब्द अन्य स्थानमें जानेके स्वभावका वर्णन कर रहा है "दैवं" शब्दमें भी गति अर्थ है क्योंकि "दिव्" धातुके अनेक अर्थोंमें गति भी एक अर्थ है। "अजिर" शब्दका अर्थ "वृद्धावस्थासे रहित" ऐसा करनेकी परिपाटी है, परंतु गत्यर्थक 'अज्' धातुसे वह शब्द बन सकता है, और इस प्रकार इसका 'गतिमान्' ऐसा अर्थ हो सकता है। वृद्धावस्थासे रहित वह अर्थ "अ-जर" शब्दका हो सकता है। "अजिर" शब्द 'अ-जर' शब्दसे भिन्न है, इसलिये इसका 'गतिमान्' यह अर्थ उचित दीखता है।

संस्कृत ... अजिर
फ्रेंच .. Agile (अजिल)
लातिन ... Agilis (आजिलिस्)

संस्कृतमें 'र ल' एक ही समझे गये हैं, इस नियमानुसार 'अजिर, अजिल' एक ही हैं। यही गत्यर्थक शब्द लातिन आदि भाषामें गया है। इस निरुक्त-दृष्टिसे भी 'अजिर' का अर्थ 'गतिमान्' करना योग्य है, क्योंकि लातिन, फ्रेंच, अंग्रेजी भाषाके '(Agile) अजिल्' शब्दका अर्थ भी 'गतिमान्' ही है। अस्तु।

उक्त मंत्रमें 'अजिर' शब्द अपनी गति बता रहा है। और 'जविष्ठ' शब्द स्थानांतरमें जानेकी गति बता रहा है। ये दोनों गतियां ऋग्वेदके मंत्रमें "दूरकं जगाम" शब्दों द्वारा सामान्य रीतिसे व्यक्त हो रही हैं। तथा—

मनो जूतिः ॥ यजु. २।१३

"मन वेगरूप ही है" ऐसा इस मंत्रमें कहा है। "जूति" का अर्थ "वेग" है। वेग ही मन है, अर्थात् मन अत्यंत वेगवाला है। निम्न मंत्रमें मनका वेग विशेष रीतिसे बताया है—

मनो-जवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्।
ऋ. ८।१००।८

"मनके वेगके समान दौडता हुआ (आयसीं पुरं) लोहेके कीलेमें पहुंच गया।" इस मंत्रमें 'मनके वेगके समान (अयमानः) दौडनेवाला' यह वर्णन स्पष्ट रूपमें मनका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना बता रहा है। यही मनकी "जूतिः" अर्थात् वेग है। यही बात निम्न मंत्रमें अधिक स्पष्ट हो गई है—

मनो न योऽध्वनः सद्य एति ॥ ऋ० १।७१।९

" मनके समान जो (अध्वनः सद्यः एति) मार्गके पार तत्काल जाता है।" यह मंत्र तो मनका अन्य स्थानमें जानेका भाव विशेष रूपमें बता रहा है। यह मार्गके पार ऐसे वेगसे जाता है कि जैसा मन मार्गके परे जाता है। तथा और देखिए—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वंतः॥ ऋ० ६।९।५

" जो (ध्रुवं ज्योतिः) स्थिर तेज (कं) सुख देनेवाला (दृशये) देखनेके लिये हृदयमें रखा है वही मन है, वही (पतयत्सु) दौडनेवालोंके (अंतः) अंदर (जविष्ठं) वेगवान् है "

हृदयमें जो मन है वह सब गतिमान पदार्थोंमें अत्यंत गतिमान है। इस प्रकार वेदमंत्रोंका कथन मनके विषयमें है, जिससे सिद्ध है कि मनकी अपने अदरकी एक गति है, जिसको चंचलता कहते हैं। और उसकी दूसरी दूर देशमें जानेकी गति है, जिससे योगी एक स्थानमें बैठा हुआ दूसरे स्थानकी बात जान सकता है। साधारण मनुष्यके मनमें भी ये दोनों गतियां हैं, परंतु वह दूसरी गतिका उपयोग कर नहीं सकता, क्योंकि साधारण मनुष्यके स्वाधीन उसका मन नहीं रहता। बडे परिश्रमसे और योगके विविध प्रकारके प्रयत्नोंसे जब उसको वश किया जाता है, तब वह उक्त सब कार्य कर सकता है। किसी समय योगसाधनके विना भी मनकी उक्त शक्तिका अनुभव आ सकता है। साधारण मनुष्य भी जब अपने प्रेमी मनुष्यके संबंधमें विशेष प्रबल इच्छा करता है, तब उसकी मानसिक इच्छाका आघात दूर स्थानके मनुष्यके मनपर होता है। इस विषयमें एक प्रत्यक्ष देखा हुआ उदाहरण नीचे देता हूं—

प्रत्यक्ष अनुभव

वर्धा नगरकी अंग्रेजी पाठशालामें म० गोविंदराव वावले (बी. ए., एल्. टी.) अध्यापकका कार्य कर रहे थे। और इनकी धर्मपत्नी श्रीमती चंद्राबाई, बालक कमल और बालिका लीलाके साथ, औंध (जि. सातारा) में अपनी माताके घर कुछ दिन विश्रामके लिये आ गई थीं। औंध ग्रामसे वर्धा नगर प्रायः छः सौ मीलके अंतरपर है। अर्थात् पतिपत्नीमें इस समय छः सौ मीलका अंतर था कि जिस समय निम्न बात हो गई।

सन १९१८ का अक्टूबर मासका प्रारंभ था कि जिस समय श्री० चंद्राबाईजी अपने पतिके स्थानपर जानेकी तैयारी कर रही थी और उन्होंने तिथिका निश्चय करके अपने पतिको पत्र भी लिखा था कि मैं फलाने दिन वर्धाको अवश्य पहुंचूंगी। पत्नीका आनेका निश्चय विदित करके म० गोविंदरावजीने मकान आदिका प्रबंध भी सब प्रकारसे कर दिया था। इस प्रकार पतिपत्नीके मनमें परस्परके विषयमें समागमके प्रेममय विचार उत्पन्न हो गये थे और मिलनेकी आतुरता भी बढ गई थी।

यह समय इन्फ्लुएंझा बुखारका था। यह जगी बुखार बंबईसे पूना होकर औंध पहुंच चुका था और जिस समय धर्मपत्नीके शुभागमनकी तिथिका पत्र म० गोविंदरावजीके हाथमें पहुंचा था, उसके थोडे दिन पश्चात् ही इधर धर्मपत्नी अपने लडकेके साथ उस ज्वरसे बीमार हो गई थी, तथा उनके मकानके सब लोग उसी ज्वरसे बीमार पडे थे।

धर्मपत्नीके मनमें जो पतिदर्शनकी आतुरता थी, वह ऐसे समयमें हदसे अधिक बढना संभव है। परंतु बेचारी कर क्या सकती थी? घरके लोग सभी बीमार पडे थे, इसलिये अपनी बीमारीका वृत्तांत भी पतिको पत्रद्वारा विदित करना उनको असंभव हो गया। अर्थात् इनकी बीमारीकी कोई खबर म० गोविंदरावजीको न थी और वे इनकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे और भावी सुखकी कल्पनाओंमें मग्न थे।

शुक्रवार ता. ४ अक्टूबरतक म० गोविंदरावजीके मनमें पूर्वोक्त सुखमय कल्पना ही रही। शनिवारके दिन बिना किसी खास कारणके म० गोविंदरावजीके मनमें भयानक उदासीनता उत्पन्न हो गई, संपूर्ण जगत्में जिधर उनकी दृष्टि जाती थी, उधर उदासीनता ही उदासीनता उनके सामने खडी होने लगी। सब मित्र, जो उनके प्रतिदिन मिलने जुलनेवाले थे, आश्चर्यचकित हो गये और उनको नाना प्रकारसे समझाने लगे कि अभी तुम्हारी पत्नी आवेगी और यह होगा इ०। परंतु म० गोविंदरावकी उदासीनता प्रतिक्षण बढने ही लगी।

इतना होनेपर भी अपनी धर्मपत्नीकी बिमारीका वृत्तांत उनको यद्यपि बिलकुल मालूम नहीं था, तथापि उनके मनकी चंचलता और उदासीनता बढ रही थी। सब उनके

मित्रोंने यही समझा था कि ये महाशय पागल बन गये हैं। परंतु वास्तविक बात और ही थी।

सोमवार ता. ७ अक्टूबरतक यही अवस्था रही। बीचमें म० गोविंदरावजीने छुट्टी लेकर स्वयं औंध आनेका भी विचार किया, परंतु छुट्टी न मिलनेके कारण वे बिचारे वर्धासे चल ही न सके। सोमवारके दिन रात्रिके भोजनके पश्चात् म० गोविंदरावजी अपने बिस्तरेके साथ बैठ ही रहे थे इतनेमें उनको किंचित् मात्र निद्रा आ गई, जिसमें उनको स्वप्नमें अपनी पत्नीकी मूर्ति दीखने लगी और उन्होंने स्वप्नमें ही ये शब्द सुने कि— " अब होनेसे क्या लाभ ? मैंने आपसे कई वार कहा था कि, आप आकर मुझे ले जाइए अथवा मुझे मिल लीजिए, परंतु आपने कहां सुना ! अब भला रोनेसे क्या लाभ होगा ! जो होना था सो हो चुका। "

यह स्वप्न देखते ही म० गोविंदरावजीके मनमें पूरा पूरा निश्चय हो गया कि अपनी धर्मपत्नीको सचमुच किसी प्रकारका बड़ा ही क्लेश है और कदाचित् अब उनके साथ मिलना भी असंभव होगा। परंतु रात्रिमें इस समयके पश्चात् कोई रेल गाडी जाती न थी, इसलिये मंगलवारके दिनतक उनको वहां ही उसी प्रकारकी उदासीनतामें रहना पडा।

मंगलवारके दिन प्रातःकालके समय एक और आश्चर्य हुआ। वह यह कि अपना पुत्र अपनेको अपने नामसे पुकार रहा है ऐसा तीन चार वार उन्होंने सुना। पुत्रका परिचित शब्द सुनकर उनको भास हुआ कि पुत्र आदि आ गये हैं। परंतु इधर उधर देखनेके पश्चात् विदित हुआ कि वह केवल भ्रम ही था।

इतना होनेपर भी म० गोविंदराव और उनके मित्र यही समझते थे कि ये सब चित्तकी भ्रांतिके प्रकार हैं। अंतमें बुधवारके दिन उन्होंने वर्धासे औंधको तार दिया और पत्नीकी कुशलताका वृत्तांत पूछा। परंतु तारका जवाब न आया जिससे दुःखित होकर वे वर्धासे चल पडे और औंध पहुंचे। तब उनको पता लगा कि धर्मपत्नी और प्रिय पुत्र इस लोकसे क्रमशः उसी रात और उसी दिनके समय चल बसे कि जिस समय उन्होंने स्वप्न देखा और जिस समय पुत्रके शब्द सुने।

इस लेखका लेखक संपादक जहां रहता था वहां ही यह वृत्तांत हुआ इसलिये उक्त सब बातें उसको पूर्ण रीतिसे विदित हैं। जब औंधका वृत्तांत और वर्धाका पतिका भ्रम साथ साथ मिलाया गया, तब विशेष ही आश्चर्य प्रतीत हुआ। उसका सारांश निम्न प्रकार है—

स्वप्नका विचार

(१) पति और पत्नीमें करीब छः सौ मीलका अंतर था। पति और पत्नीके मनमें परस्पर मिलनेकी आतुरता बहुत ही बढ गई थी।

(२) पत्नी और पुत्रकी बीमारीका कोई ज्ञान पतिको न था, परंतु पतिके मनमें यही विश्वास था, कि अब धर्मपत्नी शीघ्र ही आ जायगी और पुत्र आदि सब कुशल ही हैं। क्योंकि ऐसा ही पत्र एक सप्ताह पूर्व पतिके हाथमें पहुंच गया था।

(३) पत्नीका बुखार जिस दिन और जिस समय बढ गया, उसी समय और उसी दिन पतिका मन उदासीनतासे व्याकुल होने लगा, जिस उदासीनताके लिये वहांका कोई स्थानिक कारण न था। और यह उदासीनता उसी प्रमाणसे बढ गई कि जिस प्रमाणसे यहां पत्नीकी बीमारी बढने लगी। साथ साथ पुत्रका ज्वर भी प्रारंभ हुआ।

(४) जिस रात्रिमें पत्नीकी मृत्यु हो गई उसी रात्रिमें दो तीन घंटे पूर्व पतिको पूर्वोक्त स्वप्न हुआ।

(५) पुत्रकी मृत्यु भी ठीक उसी समय हुई कि जिस दिन और जिस समय पिताने पुत्रका आवाज तीन चार बार सुना था। इसमें सबसे आश्चर्य यह है कि मृत्युके पूर्व पुत्रने अपने पिताका नाम जोर जोरसे तीन चार बार लिया था और तत्पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई थी।

(६) इस समयतक पतिको अपनी पत्नी और पुत्रकी मृत्युकी कोई खबर नहीं थी। परंतु उनका चित्त इतना शोकमय हो गया था कि, जैसा इनका मृत्यु साक्षात् देखनेसे हो सकता था। यहां आनेके पश्चात् ही पतिको उनकी मृत्युका ज्ञान हुआ था।

पूर्वोक्त कथनमें जो विचार करने योग्य बातें हैं, उनको ऊपर रखा है। प्रत्यक्ष देखनेके कारण इनके सत्य होनेमें कोई शंका ही नहीं है। यद्यपि हरएक बात विचार करने योग्य है, तथापि—

(१) स्वप्नकी बात और (२) पुत्रका शब्द सुननेकी बात विशेष विचार करने योग्य है। उनमें भी पुत्रका आवाज जैसा सुननेका वृत्तांत विशेष महत्व रखता है। क्योंकि मृत्युके पूर्व पुत्रने "काका, काका, काका" ये ही शब्द पुकारे थे और पिताने भी ये ही शब्द सुने थे। यह लडका अपने पिताको "काका" नामसे ही पुकारा करता था और पितापुत्रका प्रेम विलक्षण दृढ था।

संभव है कि पिताके मनमें विलक्षण उदासीनता अपनी ही संशयवृत्तिसे उत्पन हो गई होगी; परंतु यह संभव मानना कठिन है, कि जिस समय जिस दिन पुत्रने "काका" नामसे पिताको जितनी बार पुकारा हो, उसी दिन उसी समय और उतनी बार पिताके कानमें वे ही शब्द पडना, पिताकी ही मनकी कल्पना है। इसलिये इसमें कोई बात "मानसिक संदेश" की होना अधिक संभव है। स्वप्नके विषयका भी इसी बातसे संबंध प्रतीत होता है।

कई लोग कहेंगे कि स्वप्न भी कल्पनासे हो सकेगा। परंतु उक्त शब्दोंका सुनना तो जागृतिमें ही हुआ था। जागृत अवस्थामें शब्दका सुनना विशेष बातकी सिद्धि कर सकता है। कई भोले लोग कहते हैं कि मृत्युके समय स्त्रीका आत्मा भूत बनकर वहाँ पहुचा था, परंतु विचार करनेसे भूतप्रेतकी कल्पना यहां सजती ही नहीं। क्योंकि भूत प्रेत तो शरीरका और सूक्ष्म देहका माना भी जा सकता है, परंतु कपडेलत्तोंका भूत मानना असंभव है। जिस समय जो कपडे मरनेवाली स्त्रीके शरीरपर थे, यदि वैसे ही कपडोंके साथ उसी ही प्रकार दिखाई देता, तो भूतकी कल्पना संभव मानी जाती। परंतु वैसा नहीं हुआ। स्वप्न में जो पत्निकी मूर्ति नजर आगई वह हमेशाके कपडोंमें और हमेशाके जेवरोंके साथ साथ थी। इसलिये यहांसे भूत वहां गया ऐसा नहीं माना जा सकता। पतिके मनमें जो स्त्रीविषयक चिंता और उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, उसके कारण पतिकी स्त्रीविषयक मानसिक कल्पना ही स्वप्नमें प्रकट हो गई। स्वप्नकी मूर्तिका यह स्पष्टीकरण हो सकता है, परंतु उदासीनताका कारण केवल काल्पनिक नहीं माना जा सकता। क्योंकि उसका संबंध पत्नीके ज्वरके समयके साथ स्पष्ट दिखाई देता है।

जब पत्नी ज्वरित हो गई और जब पतिके पास जानेका उनका मनोरथ सिद्ध होना असंभव हुआ, तथा जब उनको अपनी बीमारीका असली भयानक स्वरूप विदित हुआ, तब उनका मन मानसिक संदेह द्वारा पतिके मनको धक्का देने लगा। यही कारण है कि जिससे पतिका मन एकाएक उदासीन बन गया और अंततक पूर्ववत् उत्साहपूर्ण नहीं हुआ।

जहां प्रेमका संबंध होता है, जिनके हृदय परस्पर प्रेम-भावसे मिले हुए होते हैं, उनमेंसे एक हृदय दुःखी अथवा सुखी हो जानेसे दूसरेके हृदयमें भी, बिना किसी दृश्य कारणके, वे ही सुख अथवा दुःखके भाव उत्पन्न होते हैं। यह मनका धर्म है। तथा इसके लिये स्थानकी दूरतासे कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता। क्योंकि मन अत्यत वेगवान् है। उसी क्षणमें जितना चाहे दूर जा सकता है।

पुत्रका आवाज सुननेके विषयमें इतना कहना आवश्यक है, कि यहांसे छः सौ मील अंतरपर यहांकी आवाज पहुंची यह संभव ही नहीं है। यह भी मानसिक संदेशका ही प्रकार है। पुत्रके मनकी प्रबल भावनाका परिणाम पिताके मनपर हुआ और उसके कारण उक्त शब्द सुननेका भ्रम हो गया। मनमें जो दृढ भावना हो जाती है, वह जैसी मूर्तिरूपमें आंखोंसे दिखाई देती है; उसी प्रकार शब्दरूपमें कानोंसे सुनाई देती है। इसलिये शब्दोंका स्थानांतर माननेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। मानसिक संदेशके मानसिक आघातोंका यह चमत्कार है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गधकी कल्पना मनसे होती है, इसलिये जैसा मनमें रूपका भास हो सकता है, वैसा ही शब्दोंका श्रवण मनमें भी भासरूपसे हो सकता है। तथा अन्य विषयोंका भी भास हो सकता है। भास उसको कहते हैं कि जो विषयकी वास्तविक अनुपस्थिति होनेपर भी उसकी प्रतीति होती है। इसी नियमके अनुसार पूर्वोक्त कथनमें पुत्रके शब्दोंका भावरूप श्रवण उसके पिताको हो गया था। इसमें मुख्य बात मानसिक आघातकी है और शब्दश्रवण मानसिक आघातोंका ही परिणाम है।

कानसे शब्दोंका श्रवण होता है, परंतु मनका संबंध कर्ण इंद्रियके साथ न हुआ, तो बडेसे बडा भी शब्द सुनाई नहीं देता, इस बातका अनुभव हरएकको है। जब एक

मित्र दूसरेको कई बार पुकारता है, जब वह बार बार पुकारनेपर भी नहीं सुनता, तब इस समय वह पुकारनेवाला दूसरेसे कहता है कि ' अरे ! तेरा मन कहां गया है ? ' अर्थात् मनके संबंधसे श्रवण होता है इस बातको सभी जानते हैं। जिस प्रकार बाहिरके शब्द कर्णेन्द्रियद्वारा मन ही सुनता है, तद्वत् ही मनमें उद्भूत होनेवाली शब्दोंकी अथवा अन्य विषयोंकी कल्पना, कानोंसे अथवा उस उस विषयके अन्य इंद्रियसे प्रत्यक्ष होनेका भास होता है। बाहरसे धक्का आ जावे अथवा अंदरसे प्रेरणा हो जावे, दोनोंका परिणाम एक समान होता है। इतनी विलक्षण शक्ति मनमें है।

उक्त पतिको यदि योगसाधनादि द्वारा मनकी स्वाधीनताकी सिद्धि प्राप्त होती, तो स्त्रीके मनद्वारा प्रेरित मानसिक संदेश ठीक रूपमें देखने और जाननेकी संभवना होती है। परंतु प्रेरणा भेजने और प्रेरणा लेनेवाले साधारण जन होनेसे केवल मनपर उदासीनता ही रही और कारणका ज्ञान न हुआ।

अस्तु। इस प्रकारकी थोडीसी बातें इस पुस्तकके लेखकने देखीहैं। इस प्रकारकी दो चार कथाओंसे मनोविज्ञानके किसी सिद्धांतका निश्चयात्मक ज्ञान अथवा आविष्कार होना नहीं है। एक एक बातको सिद्ध करनेके लिये भिन्न भिन्न परिस्थितिके प्रत्यक्ष देखे उदाहरण सैकडोंकी संख्यामें एकत्रित करने चाहिए और इन कथाओंकी परीक्षा करनेवाले अंधविश्वासी नहीं होने चाहिए। तब कभी जाकर किसी सिद्धांतकी स्थिरता हो सकती है।

ऊपरकी कथासे जो अनुमान ऊपर लिखे हैं, उससे वे ठीक प्रकार अवश्य ही सिद्ध हो रहे हैं, यह मेरा बिलकुल आग्रह नहीं है। कदाचित् होंगे और कदाचित् न भी होंगे। जब इस प्रकारकी सैकडों बातें सैकडों प्रसंगोंमें देखी जायगीं तब कभी जाकर हम किसी परिणामतक पहुँच सकेंगे।

पाठकोंको भी उचित है कि वे जब कभी संभव हो तब इस प्रकारके कथाप्रसंगोंका ध्यान रखा करें और भोलेपनका विचार छोडकर चिकित्सक दृष्टिसे निरीक्षण और परीक्षण करके, उन प्रसंगोंकी प्रसिद्धि करें, जिससे किसी मनोविज्ञानकी बातका पता लगना संभव हो। यों ही मन.कल्पित कथाएँ नहीं चाहिए। जो वास्तवमें जिस रूपमें हुई हैं उनको वैसा ही बताकर यदि उससे किसी सिद्धांतका पोषण हो सके, तो करनेका यत्न करना चाहिए। आशा है कि पाठक भी इस दृष्टिसे बातें देखकर विचारकी संगतिद्वारा सहायता करेंगे। यह कार्य किसी एकका नहीं है, परंतु सब वैदिक धर्मियोंका है। वेदके मंत्रोंका इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव देखा जा सकता है। यदि इस समय हमारी गलती हो जायगी तो हमारे पीछेसे जो अच्छे मनुष्य आ रहे हैं, वे उसको ठीक करेंगे। हमारा अनुमान यदि गलत होगा, तो दूसरे ठीक अनुमान निकाल सकेंगे। परंतु इस मार्गसे कार्यका प्रारंभ होना चाहिए। इसी उद्देशसे ऊपर लिखी कथा और अपने अनुमान पाठकोंके सम्मुख रखे हैं। सिद्धि असिद्धिका किसी प्रकार आग्रह रखनेकी इच्छा ही नहीं है। आशा है कि पाठक भी यही निर्विकार दृष्टि धारण करके इसका विचार करेंगे।

वेदमें मनका " दूरं-गमं, जविष्ठं " आदि शब्दोंद्वारा वर्णन किया है। मन एक स्थानसे दूसरे स्थानको पहुंचता है, इस विषयमें वेदके कथन स्पष्ट हैं। योगके पुस्तकोंमें भी यह सिद्धि लिखी है कि एक स्थानपर बैठा योगी ध्यानद्वारा दूसरे स्थानकी बात जान सकता है। तथा मनके स्थानान्तरके लिये स्थानकी दूरताका कोई प्रतिबंध नहीं है। एकके मनकी शक्तिका दूसरेके ऊपर परिणाम होता है, मानसिक चिकित्साका यही मूल मंत्र है। जो मानसचिकित्सा वेद कह रहा है, उसको प्रत्यक्ष करनेके लिये वैदिक धर्मियोंके यत्न होने चाहिए। मानसचिकित्साका उपहास करना योग्य नहीं है, क्योंकि वेदमें यही मुख्य और श्रेष्ठ चिकित्सा कही है।

वैद्युत् मन है

" जो देवताओंमें विद्युत् है, वही शरीरमें मन है।" यह बात केनोपनिषद्के अंतमें कही है। अन्य स्थानोंमें प्रायः चंद्रमाका मनके साथ संबंध बताया गया है। बहुत थोडे स्थानमें विद्युत्का मनसे संबंध बताया है। यह मुझे पता नहीं कि " विद्युत् " और " चंद्रमा " शब्द वैदिक वाङ्मयमें समानार्थक हैं वा नहीं। परंतु इन दोनोंका मनके साथ संबंध जोडा है, इस बातसे कुछ न कुछ उनका परस्पर संबंध माना गया है, ऐसा पता लगता है।

केनोपनिषद्के अनुसार मन विद्युत् तत्त्वका बना है। उपनिषदोंमें मनको वैद्युत् ही कहा है, इसका यही हेतु प्रतीत होता है। यदि मन वैद्युत है तो विद्युतके वेगके समान उसका वेग होना चाहिए। विद्युत्का वेग प्रतिक्षण सवा लाख मील समझा जाता है। यदि मन वैद्युत है तो उसका भी यही वेग होना उचित है। यदि इसका वेग इतना बडा है और यह क्षणमें लाख मील दूर तक पहुंच सकता है, तो स्थानकी दूरी इसके लिये कुछ भी नहीं है।

पाठक इन बातोंका विचार करें और मनकी विलक्षण शक्ति जानकर उसका विकास करनेका यत्न करें।

स्वप्नका दूसरा अनुभव।

श्री० म० ख्यालीराम हीरालालजी गुप्त, नया बाजार, छावनी नीमचका लिखा हुआ ता. २५।६।२१ का पत्र प्राप्त हुआ, उसमें निम्न बातें लिखी हैं—

"(१) मैं ता० २७ फर्वरी स० १९२१ को गुरुकुल इंद्रप्रस्थमें मेरा इकलौता बालक (चि. वासुदेव उर्फ म० भवभूति) प्रवेश कर आया था। तत्पश्चात् कई पत्र उनकी राजीखुशीके आते रहे। ता० १४ अप्रैल स० १९२१ का गुरुकुलसे लिखा हुआ पत्र मुझे ता. १६ अप्रैलको प्राप्त हुआ, जिसमें पुत्रकी राजीखुशीके समाचार थे।

"(२) ता० १७ अप्रैल स० १९२१ के दिन किसी विशेष कारणके बिना मेरा चित्त गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जानेके लिये बहुत ही उत्सुक हुआ। परंतु मैं वहां न जा सका। दूसरे दिनसे मेरा चित्त बहुत ही व्याकुल और उदास हुआ और साथ साथ शरीर भी बिगडता गया। भूख वगैरा मिट गई। प्रतिक्षण वहां पहुंचनेकी इच्छा बराबर प्रबल होती गई।

"(३) ता० २० अप्रैल स० १९२१ की रात्रिके चौथे प्रहरमें अर्थात् ता. २१ के प्रातःकालमें अनुमान ५॥ बजेके मेरी स्त्री मेरे पिताजी, जो क्रमशः ६ और १८ वर्ष पूर्व मर चुके थे, स्वप्नमें आकर कहते हैं कि- "घबराओ मत, होशियार रहो, अब सोचो कि यह क्या होता है।"

"(४) मुझे पहिले भी दो वर्ष पूर्व (स० १९१९में) स्वप्न हुआ था, उस स्वप्नमें मेरे मृत पिताजीने आकर कहा कि "वासुदेव गुजर गया।" मैंने पूछा कि "कहां?" उत्तर मिला कि "गुरुकुलमें।" पिताजीने उसी स्वप्नमें फिर कहा कि "तेरा एकही बालक था, वह गुजर गया, तू किसीकी मानता नहीं।" यह स्वप्न देखकर मेरी आंखें खुल गईं, घबराकर देखा तो पुत्र मेरे बिस्तरे पर ही सो रहा था (यह दो वर्ष पूर्वके समय स्वप्न हुआ, मैं इसको असत्य समझता था। परंतु बात वैसी ही बन गई।)

"(५) ता० २१ अप्रैल स० १९२१ के प्रातःकालसे गुरुकुल जानेकी इच्छा मंद हो गई और फिर कभी वैसी उत्सुकता नहीं हुई।

"(६) ता० २३ अप्रैल स० १९२१ के प्रातःकाल ही गुरुकुलका पत्र प्राप्त हुआ, उसमें लिखा था कि "बालकका स्वर्गवास ता. २१।४।२१ को ६ बजे प्रातः हो गया। ता १९ को विशेष ज्वर हुआ, ता. २० को सरसाम (सन्निपात) हो गया और ता. २१ को प्रातः यह घटना हो गई।"

"(७) न कोई बालककी बीमारीकी खबर थी, अचानक यही पत्र प्राप्त हुआ और विशेष कुछ लिखा नहीं जाता। मैं स्वप्न वगैरा की बातें झूठीं समझा करता था, और न मुझे बहुत स्वप्न आते हैं, जो जैसे आये वैसे ही आपको लिखे।

"(८) उक्त घटना होनेके पश्चात् इंद्रप्रस्थ गुरुकुलमें जाकर वहांके डाक्टरजीसे पूछनेपर विदित हुआ कि ता. २०।४।२१ के रात्रिको तथा ता. २१ के प्रातःकाल ठीक जिस वक्त मुझे स्वप्न हुआ मेरा प्रिय पुत्र मेरे लिये तडफ रहा था, मुझे पुकारता तथा मेरे लिये उठ उठ कर भागता था। डाक्टरजीने पूछा कि 'कहां जाता है?' पुत्रने उत्तर दिया कि 'हमारे वर मेरे दादाजीके पास जाऊंगा।' (पुत्र मुझे दादाजी कहता था)"

स्वप्नपर विचार

इस प्रकार स्वप्नका वृत्तांत किसी किसी समय बराबर अनुभव में आता है। उक्त स्वप्नके संबंधमें निम्न बातें विचार करनी योग्य हैं—

(१) पुत्रकी बीमारीका वृत्तांत पिताको बिलकुल विदित नहीं था, परंतु पत्रद्वारा पुत्रकी कुशलताकाही पिताको पता हुआ था।

(२) जिस समय पिताके मनमें गुरुकुल जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई थी उसी समय गुरुकुलमें उनका पुत्र अस्वस्थ होने लगा था और जब पुत्रकी बीमारी बढ गई तब उस उदासीनताका परिणाम भूख आदि मिटनेमें हुआ। +

(३) पुत्रकी मृत्यु होनेके पश्चात् गुरुकुल पहुंचनेकी पिताके मनमें इच्छा कम हो गई और फिर वैसी इच्छा हुई ही नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय पुत्र रोगवश होनेके कारण अस्वस्थ हुआ, उसी समयसे पुत्रके मनमें पिताके पास जानेकी इच्छा हुई, वह पिताका स्मरण करने लगा और उसका परिणाम पिताके मनपर होनेसे, पिताके मनमें भी गुरुकुलमें जाकर पुत्रको देखनेकी इच्छा प्रबल हुई। पुत्रकी बीमारीकी प्रबलताके साथ, पिताके मनकी इच्छा भी वहां पहुंचनेके लिये प्रबल हो गई, यह बात मानसिक संदेशका वेग बता रही है।

उक्त बातोंका परस्पर संबंध अत्यंत स्पष्ट है। स्वप्नका समय और पुत्रके मृत्युका समय ठीक एकही है। इस स्वप्नके पश्चात् पुत्रदर्शनकी अभिलाषा पिताके मनमें न होनेका कारण स्पष्ट ही है, क्योंकि मानसिक संदेशा भेजनेवाला पुत्रका मन उस समय पुत्रके शरीरसे अलग हो चुका था और पुत्रका आत्मा मरणोत्तरकालीन सुप्त अवस्थामें पहुँचनेके कारण, न तो उसको अपनी बीमारीका पता था और न पिताका स्मरण था।

स्वप्नमें मृत पिताका और मृत स्त्रीका दर्शन और उनके शब्द विचार करने योग्य हैं। उन शब्दोंका संबंध मृत पुत्रकी मृत्युके समयकी अवस्थाके साथ स्पष्ट है। इस विषयमें विशेष निश्चयकी बात लिखी नहीं जा सकती, क्योंकि इस प्रकारके मृत पुरुषोंके स्वप्नमें दर्शन होनेके विषयमें अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता है, तथा अधिक सूक्ष्म विचार होनेकी भी आवश्यकता है। इसलिये इस विषयमें यहां कुछभी लिखनेका विचार नहीं है, परंतु जो बातें बाह्य सृष्टिमें हो गई हैं, उस विषयमें स्पष्ट प्रमाण होनेके कारण थोडासा लिखनेका विचार किया है।

पितापुत्रका अत्यंत प्रेम था। अकेला एक पुत्र दूर गुरुकुलमें होनेसे पिताका मन पुत्रके विषयमें आतुरताका भाव रखता होगा। इस प्रकारका आतुर मन अत्यंत नरम और कोमलसा होता है, इसी कारण उसपर मानसिक आघात शीघ्र परिणाम कर सकते हैं। यही कारण है कि जिस समय पुत्रके मनमें पितृदर्शनकी उत्सुकता हो गई, अथवा पुत्रका मन शरीरकी अस्वस्थताके कारण व्याकुल हुआ, उसी समय पिताके मनपर भी उसका परिणाम हो गया।

सितार, बीन आदि वाद्य जो बजाते हैं, उनको अनुभव है कि एक तार बजानेसे, उस तारके स्वरके साथ मिले हुए जितने तार होंगे उतनेही बिना बजाये आवाज देने लगते हैं। पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष, इष्टमित्र आदिमें यदि मानसिक संबंध अत्यंत प्रेमका होगा, तो एकके भाव दूसरेके मनमें उठ्त होना अत्यंत स्वाभाविक बात है। एकको दुःख होनेसे दूसरेका मन इसी कारण उदास होने लगता है।

मन विद्युत् तत्वका बना है, अथवा यों समझिये कि विद्युत्शक्ति मनमें केंद्रित हुई है। तथा संपूर्ण जगत्में विद्युत्तत्व पूर्णतासे व्याप्त है। अर्थात् जगद्व्यापक विद्युत्तत्वके साथ हमारे मनका संबंध है। इसलिये एक मनमें सुखदुःख आदि विचारोंके कारण जो न्यूनाधिक हलचल होती है, उसके आघात बाहरके विद्युत्में होते हैं और वे आघात इस विद्युत्द्वारा तत्सदृश दूसरेके मनतक पहुंचते हैं। ये आघात हरएकके मनपर इसलिये असर नहीं कर सकते, क्योंकि हरएकका मन एकसाही नरम अथवा सख्त नहीं होता। मनकी न्यूनाधिक अवस्थाके कारण सम अवस्थाका मनही कंपित हो सकता है।

इतना विचार होनेपर भी दो वर्ष पूर्वके स्वप्नमें, जब

+ यहां पता लग सकता है कि मनकी उदासीनतासे पेटके पचनव्यापारमें भी कितना परिवर्तन होता है। इसका उलटाभी परिणाम होता है, अर्थात् यदि मन उत्साहपूर्ण आनंदित रहा तो पेटकी कमजोरी दूर होकर भूख बढती है। मन प्रसन्न रखनेका इस प्रकार शरीरपर हितकारक परिणाम होता है। यही कारण है कि उदासीन विचारोंसे आयुष्य घटता है और उत्साहपूर्ण विचारोंसे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने स्वास्थ्यकी कुंजी अपने ही मनमें है और वैद्यकी गोलीमें नहीं है।

कि पुत्र गुरुकुलमें दाखिल भी नहीं किया गया था, उस समयके स्वप्नमें 'गुरुकुलमें पुत्रकी मृत्यु हुई' यह बात दिखाई पडना विलक्षण प्रतीत होता है। परंतु आश्चर्य यह है कि उसी स्वप्नके अनुसार अतमें बात बन गई। कई विचारी पुरुष ऐसे प्रसंगोंको देखकर ही कहने लगते हैं कि मृत्युका समय निश्चित हुआ करता है। परंतु "मृत्यु दूर किया जा सकता है," इस विषयमें वेदके मंत्र अत्यंत स्पष्ट है, दीर्घ आयु प्राप्त करनेके विषयमें योगके कथन तथा आर्ष वचन इतने स्पष्ट हैं कि उनके संबंधमें शंका भी नहीं हो सकती।

इसलिये विचार करना चाहिये कि दीर्घ आयुष्य कौन प्राप्त कर सकता है और कौन नहीं। यद्यपि स्वप्नका विचार करना ही इस लेखका मुख्य उद्देश है, तथापि प्रसंगतः यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि, (१) बालक अवस्थामें स्वतंत्र पुरुषार्थकी कर्तृत्वशक्ति विकसित न होनेके कारण, उस अवस्थामें जो बातें होती हैं, उनका संबंध निश्चितरूपसे पूर्वकर्मोंके साथ ही होता है। (२) "मैं यह करूँगा, और मैं ऐसा बनूँगा" इस प्रकारकी प्रबल इच्छाशक्ति यौवनके प्रारंभसे अर्थात् १५ वर्षकी आयुके पश्चात्, किंवा विशेष अवस्थामें ८ वर्षकी अवस्थामें भी बनती है। (३) जो सज्जन इस प्रकारकी प्रबल इच्छाशक्ति बनाते हैं और योग्य सुनियमानुसार योगाभ्यासादिद्वारा अपनी आयु बढानेका पुरुषार्थ करते हैं, उनकी दीर्घ आयु होती है। (४) परंतु सर्वसाधारण जनता योगादि श्रेष्ठ मार्गके अनुसार नहीं चलती, इसलिये उनका संपूर्ण जीवन पूर्वकर्मके वेगके अनुसार ही हुआ करता है।

इस स्पष्टीकरणसे पता लग सकता है कि कौन पूर्वकर्मके प्रवाहमें बह जानेवाले होते हैं, और कौन पूर्वकर्मोंके प्रवाहको तोडकर अपनी इच्छानुसार उसका वेग बदलनेवाले होते हैं। वैदिक धर्मके उपदेशानुसार मनुष्य अपना व्यवहार करेगा, तो वह कर्मोंके वेगको अपनी इच्छानुसार बदलनेकी योग्यता निश्चयसे प्राप्त कर सकता है, परंतु ऐसा होनेके लिये वैदिक धर्मके लोग अनुष्ठानी होने चाहिये। जो अनुष्ठान करेंगे वे प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त कर सकते हैं। आजकल जो वेदके विषयमें प्रेम दिखाई देता है वह केवल बातोंमें है, तथा सब प्रयत्न दूसरोंके सुधारके लिये हो रहे हैं!! परंतु स्मरण रहे कि फुरसतके समयके प्रचारसे सच्चे धर्मकी जाग्रति नहीं हो सकती; क्योंकि जो दीप स्वयं जलता नहीं है, वह दूसरे दीपोंको जगा नहीं सकता। अस्तु। यही कारण है कि वैदिक धर्मके प्रचारका कार्य भी प्राचीन आर्योंकी रीतिके अनुसार नहीं होता है, परंतु पश्चिमीय विचारोंकी लहरोंके अनुसार होता है। स्वयं अपने अंतःकरणका दीप वेदाध्ययनसे जगाकर, अनुभवके पश्चात् ही दूसरेके अन्दर दीप जगानेका यत्न होना चाहिये। अस्तु।

प्रचलित विषय स्वप्नका है। दो वर्ष पूर्व अपने पुत्रका मरण जिसने अपने स्वप्नमें देखा था, उसीने अपने पुत्रका मरण गुरुकुलमें होनेका अनुभव लिया और पुत्रके मरणसमयमें भी स्वप्नसे ही उसको मृत्युकी सूचना मिली। इसका विचार करनेके समय यह मृत्यु बाल्यावस्थामें हुई है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। पूर्व स्थलमें कहा ही है कि बाल्यावस्थामें होनेवाली मृत्यु पूर्वकर्मानुसार होती है अर्थात् जो बात पूर्वकर्मानुसार होती है वह निश्चित होती है। जो बात निश्चित होती है, उसका समय और स्वरूप भी निश्चित हो सकता है। जो बात निश्चित समयमें, निश्चित रूपसे होनेवाली होती है, उसका जैसा पता उस समयमें लग सकता है, उसी प्रकार उस समयके पूर्व भी लग सकता है। जैसा सूर्यचंद्रके ग्रहणोंका पता कई वर्ष पूर्व भी लग सकता है, क्योंकि सूर्यचंद्र आदि ग्रहोंकी गति निश्चित है। निश्चित होनेसे ही पहिले पता लग सकता है। जो कोई बात निश्चित होती है उसका पता पहिले भी लग सकता है, परंतु पुरुषार्थकी बात अनिश्चित होनेके कारण पुरुषार्थी योगी इच्छामरणी भी हो सकता है, इसलिये उसके विषयमें भविष्यकी बातें जानना असंभव है। परन्तु जो कर्मके प्रवाहकी गतिके अनुसार बह रहे हैं, वे इतने समयमें वहांतक पहुचेंगे, ऐसा कहा जा सकता है। जो कर्मकी गतिका विज्ञान जानेंगे उनका अनुमान ठीक होगा, औरोंका गलत भी हो सकता है।

उक्त पुत्रकी मृत्यु गुरुकुलमें निश्चित थी, क्योंकि पुरुषार्थकी आयु प्राप्त होनेके पूर्व ही वह होनेवाली थी। उसकी मृत्युका निश्चय होनेके कारण उसकी मृत्युकी कल्पना सर्वव्यापक यमस्वरूप परमेश्वरकी व्यापक बुद्धिमें पहिले ही

निश्चयरूपसे होनी स्वाभाविक है। यदि किसीका मन किसी कारण परमेश्वरकी बुद्धिके साथ संलग्न हो गया तो वह मृत्युकी उस कल्पनाको जान सकता है। इस प्रकार किसी किसीको इन बातोंका पता पहिले ही स्वप्नमें होता है कि, जो बातें भविष्यमें बननेवाली होती हैं। इसका और एक उदाहरण जो अभी प्रत्यक्ष देखनेके कारण विश्वास करने योग्य है, जैसा हुआ वैसा ही यहाँ लिखता हूं—

और एक स्वप्न

"(१) ता १० जून स. १९२१ शुक्रवारकी रात्रिमें मेरी धर्मपत्नीको एक स्वप्न हुआ। जिसमें उन्होंने देखा कि श्री. युवराज राजासाहिब महाराजाका द्वितीय पुत्र सायंकालके समय मर गया और उसके शवको नौकर लेजा रहे हैं" इ०।

"(२) दूसरे दिन उक्त स्वप्नका वृत्तांत धर्मपत्नीने मुझे सुनाया, परंतु जिस पुत्रके विषयका स्वप्न था वह वैसा बीमार न होनेके कारण हमको उक्त स्वप्न केवल कल्पनारूप ही विदित हुआ।"

"(३) उस पुत्रकी बीमारीकी अथवा स्वास्थ्यकी कोई बात धर्मपत्नीको विदित न थी। और जिस समय उक्त स्वप्न हुआ उस समय वह कोई विशेष बीमार भी नहीं था।"

"(४) शनिवारके दिन सायंकाल राजासाहिबके डाक्टरोंने पुत्रके स्वास्थ्यकी परीक्षा की तो पता लगा कि उसको घटसर्पकी (डिप्थेरिया) बीमारी हो गई है। यह बीमारी भयानक होनेके कारण बडे बडे डाक्टर बाहरसे भी बुलाये गये और बडे प्रयत्नसे इलाज होता रहा।"

"(५) सोमवार (ता० १३ जून १९२१) के दिन पूरे दिनभर आराम भी रहा। तीन डॉक्टर अपनी पराकाष्ठा कर रहे थे। परंतु अंतमें सोमवारके सायंकालमें सात बजनेके समय दस पांच मिनिटोंमें ही बीमारी बढ गई और उस तीन वर्षकी आयुके बालकका देहांत हो गया।"

इस प्रकार प्रत्यक्ष मेरे सामने यह स्वप्नका अनुभव हुआ है। यह बात आँखोंमें मेरे सन्मुख हुई। जैसी घटना हुई वैसी ही ऊपर लिखी है। जिस दिन जिसके विषयमें स्वप्न हुआ उस दिनके तीन दिन पश्चात् उसी लडकेका देहांत हुआ। स्वप्नमें देहान्तका समय सायंकालका ही था। मृत्यु होनेसे तीन दिन पूर्व लडकेके स्वास्थ्यके ही समय, उसीके मृत्युका दृश्य स्वप्नमें दिखाई दिया, यह विलक्षण बात है; इसलिये मानसशास्त्रका विचार करनेवालोंके लिये यह विचार करनेयोग्य बात है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

स्वप्न कैसे होते हैं और इनमें सत्यका भाग रहता है वा नहीं, इसका यहां अवश्य विचार करना है। स्थूल शरीरका संबंध छूटने और सूक्ष्म शरीरपर ही केवल कार्य करनेकी अवस्थामें आत्मा स्वप्न देखता है। प्रायः स्वप्न ऐसे ही होते हैं कि जो विचार मनमें होते हैं; सौमें निन्यानवे स्वप्न अपनी इच्छाके प्रतिबिंबरूप ही होते हैं। जीवात्माके लिये तीन अवस्थाओंका अनुभव प्रतिदिन आता है—
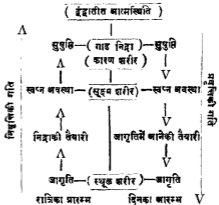
जीवात्मा स्थूल शरीरमें जबतक कार्य करता है तबतक जागृति होती है। जब शरीर थक जाता है तब उसको विश्रांति देनेके लिये तथा उसमें नवीन शक्तिकी स्थापना करनेके लिये जीवात्मारूपी सूर्य स्थूल शरीरमें फैली हुई अपनी किरणोंको आकर्षित करता है और सूक्ष्म शरीरमें ही अपना "मनो-राज्य" करने लगता है। यही स्वप्नावस्था है। जागृतिसे सुषुप्तिमें जानेके समय बीचकी यह अवस्था होती है। प्रतिदिनके स्वप्न हरएकको स्मरण नहीं होते, इससे यह अनुमान करना गलत होगा कि स्वप्न हुए ही नहीं। प्रतिदिन स्वप्नसृष्टिका अनुभव होता है, परंतु हमारी स्मरणशक्तिकी कमजोरीके कारण उनका स्मरण नहीं रहता। इस विषयमें उपनिषदोंका निम्न मंत्र विचार करने योग्य है—

स्वप्न-स्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशति-मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥ स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति० ॥ १० ॥ मांडूक्य उ०

" स्वप्नस्थानमें जब आत्मा जाता है तब इसकी प्रज्ञा-बुद्धि अंदर ही कार्य करने लगती है, इस समय इसके सात अंग (पांच सूक्ष्म भूत, अहंकार और महत्तत्त्व ये सात अंग) होते हैं, इस समय इसके उन्नीस मुख होते हैं। (७ ज्ञानेंद्रियों और ७ कर्मेंद्रियोंके मूल सूक्ष्म चौदह केंद्र, पंच सूक्ष्म प्राण मिलकर उन्नीस मुख हैं, आंख, कान, नाक प्रत्येकके दो दो केंद्र मिलकर छः केंद्र हुए, त्वचा सातवा केंद्र है। दो पांव दो हाथ मिलकर चार और मूत्रद्वार, गुदा और वाणी इनके तीन इंद्रिय मिलकर सात होते हैं) इन अंगों और मुखोंसे सूक्ष्म कल्पनाके ही भोग इस स्वप्न अवस्थामें आत्मा भोगता है। यह आत्माका बीचवाला तैजस द्वितीय पाद है। स्वप्नस्थानका तैजस रूप है, इसका दर्शक उकार ओंकारके बीचमें है। यह उत्कृष्ट अवस्था है और (जागृति तथा सुषुप्ति इन) दोनों अवस्थाओंके साथ संबंध रखनेवाली है। "

स्वप्नकी अवस्थाका वास्तविक वर्णन इन मन्त्रोंके विचारसे प्राप्त हो सकता है। जागृतिमें स्थूल शरीरका संबंध रहता है वह संबंध इस अवस्थामें नहीं होता, इसलिये स्वप्नमें स्थूल सृष्टिका दर्शन नहीं होता। इस अवस्थामें केवल कल्पनाका ही मनोराज्य चलता है, इसलिये जैसी जिसकी कल्पना और जैसे जिसके संस्कार होते हैं वैसे उसको स्वप्न दीखते हैं। इस विषयमें उपनिषदोंके निम्न मंत्र देखिये—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति ॥
छा. उ. ८-१०-१

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति० ॥ छां. उ. ८-११-१

" स्वप्नमें जो अपने गौरवके साथ चलता है वह आत्मा है। गाढ निद्रा प्राप्त होनेपर आनंदित होता हुआ जो स्वप्नकोभी नहीं जानता वह आत्मा है। "

इस छांदोग्य वचनमें स्पष्ट कहा है कि सुषुप्तिके पूर्वकी यह स्वप्नावस्था है। तथा बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है-

स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति ॥ तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च ॥ बृ. ४।३।९

" वह आत्मा स्वप्न अवस्थामें जाकर इस लोकका अतिक्रमण करता है। इस पुरुषके दो स्थान होते हैं, एक इस लोकका और दूसरा परलोकका स्थान, तीसरा संधिस्थान है जिसको स्वप्नस्थान कहते हैं, इस संधिस्थान अर्थात् स्वप्नस्थानमें रहता हुआ यह दोनों स्थानोंको देखता है। "

१ परलोक	स्वः	स्वर्ग	सुषुप्ति	कारणदेह
२ संधिलोक	भुवः	अंतरिक्ष	स्वप्न	सूक्ष्मदेह
३ इहलोक	भूः	पृथिवी	जागृति	स्थूलदेह

उक्त बृहदारण्यकवचनके तात्पर्यसे यह कोष्टक बनता है। इससे स्वर्गलोककी भी कल्पना हो सकती है। गाढ निद्रामें मनुष्य स्वर्गधामतक पहुंचकर पुन: जागृतिमें इस भूलोकमें प्राप्त होता है। और बीचके संधिस्थानमें उसको स्वप्नका अनुभव होता है। इस प्रकार मनुष्यको प्रतिदिन स्वर्गधामका आनंद प्राप्त होता है, स्वप्नका मुकाम तो उसके मार्गमेंही है। तथा —

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ॥ उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥ स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च० ॥ बृ. ४-३-९, १५ ॥

" स्वप्नमें वह अच्छे अथवा बुरे भाव, सुखके अथवा भयके दृश्य देखता है। " यह उसका अनुभव वह जागृतिमें आकर कहता है। आनंदकारक स्वप्नोंसे आनंदित होता है और भयके स्वप्नोंसे भयभीत होता है। इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ॥ समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥
छां. उ. ५-२-९

" जब काम्य कर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीका दर्शन होगा, तब वहां उस स्वप्नदर्शनसे समृद्धि सूचित होगी। " यदि छांदोग्य उपनिषद्के मतानुसार कई स्वप्न समृद्धिसूचक होंगे, तो निःसंदेह ऐसेभी दूसरे स्वप्न होंगे कि जो विपत्तिके सूचक हो सकते हैं। विचारशील मनुष्य सहस्रों स्वप्नोंके अनुभव एकत्रित करके उसका एक शास्त्र बना सकते हैं, जिसमें शुभ स्वप्नोंके लक्षण प्रकाशित किये जा सकते हैं। परंतु इस समयतक वैसा प्रयत्न किसीने नहीं किया। इसका कारण इतनाही है कि ऐसा करनेसे कोई लाभ होना संभव ही नहीं है। स्वप्नसे यदि किसी बातकी सूचना मिलभी गई तो, उसको जानना "कठिन है, और जाननेके पश्चात् अनिष्टको दूर करना असंभव है, इसलिये ऋषियोंने स्वप्नशास्त्र बनानेका यत्न नहीं किया। किसी किसी समय स्वप्नका अर्थ भी तबतक समझता नहीं जबतक कि वह बात बन नहीं जाती। तथापि स्वप्नका तत्त्व जाननेका हरएकको अवश्य यत्न करना चाहिये, क्योंकि उससे अपने आत्माकी शक्तिका पता लगता है, परंतु दुष्ट स्वप्नके कारण अपना मन विनाकारण उदासीन भी नहीं करना चाहिये, तथा उत्तम स्वप्नसे व्यर्थ खुश भी नहीं होना चाहिये। स्वप्नके विषयमें प्रश्नोपनिषद् का कथन अब देखिये —

> अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगंतरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति॥
> प्र० उ० ४।५

" यहां स्वप्नमें यह आत्मदेव अपनी महिमाका अनुभव करता है। जो देखा हुआ होता है वह फिर देखता है, सुनी हुई बातोंको सुनता है, देशदेशांतरोंमें अनुभव की हुई बातोंका पुनः पुनः अनुभव करता है। देखा अथवा न देखा, सुना अथवा न सुना हुआ जो होता है तथा अनुभव किया हुआ अथवा न किया हुआ भी, तथा सत् और असत् सब कुछ यह स्वप्नमें देखता है। "

" सत् और असत् " अर्थात् सत्य असत्य, अच्छी बुरी सभी बातें यह स्वप्नमें देखता है। प्राय. देखी और अनुभूत बातोंको ही देखता है, परंतु किसी समय न देखी हुई बातें भी स्वप्नमें दिखाई देती हैं, कल्पनातरंगोंसे ऐसा होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। कल्पनामें दो बातें एकत्रित मिलाई जाती हैं, जैसे पक्षीका उडना और मनुष्यका चलना, इन दोनों अनुभवोंको मिलाकर "मैं उड रहा हूं" ऐसा अनुभव स्वप्नमें हुआ करता है। इस प्रकार उपनिषदोंका कथन है। अब वेदमंत्रोंका विचार करते हैं—

> विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ० निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० अभूत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० निर्भूत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० पराभूत्याः पुत्रोऽसि ॥ अ० १६।५।१-८

"हे स्वप्न! तेरी उत्पत्तिका हमें पता है, तू (ग्राह्याः) चिरकालीन रोग, (निर्ऋत्याः) सत्य नियमोंके विरुद्ध आचरण, (अभूत्याः) दारिद्र्य, (निर्भूत्याः) उदासीनता तथा (पराभूत्याः) पराभव आदिका बच्चा है, और तू यमका सहायक है। "

इस मंत्रमें स्वप्नके पांच कारण दिये हैं। (१) चिरकालीन रोगोंकी शरीरमें स्थिति, (२) सुनियमोंके विरुद्ध आचरण, (३) दारिद्र्यकी विपन्न अवस्था, (४) उदासीनता, दुर्मुखता, (५) जगत् व्यवहारोंमें पराभव प्राप्त होना, ये पांच कारण हैं कि जिनसे बुरे स्वप्न होते हैं, " ये बुरे स्वप्न मृत्युके सहायक हैं। " उक्त विपत्तियोंके कारण मन सदा चिंतातुर रहता है, जिससे बुरे स्वप्न होते हैं। स्वप्नके कारणोंके विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

> अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्। प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहंतु ॥
> अ० १०।५।२४

" निर्दोष जल हमारे (रिप्रं अप) दोष दूर करे, तथा (एनः) पाप, मल और दुष्ट स्वप्नका कारण (प्र वहन्तु) दूर करे। "

(१) शरीरमें मलोंका संचय, (२) मनमें पापभावना और अन्य दोष होनेके कारण बुरे स्वप्न होते हैं, जलचिकित्सासे अथवा निर्दोष और स्वच्छ जलके प्रयोगसे इन दोष दूर हो जाते हैं और दुष्ट स्वप्न नहीं आते। तथा—

> दुःष्वप्न्यं दुरितं निःष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं। अ. ७।८३।४

" (दुरितं) पाप और दुष्ट स्वप्न दूर करके (सुकृतस्य) सत्कर्मके लोकको प्राप्त करेंगे।" यहां 'दुरित' (दुः+इत) शब्दसे केवल पापका बोध ही नहीं होता, परन्तु जो बुराई शरीर, मन और बुद्धिमें प्रविष्ट होती है, वह सब इस शब्दसे बोधित होती है। दुष्ट स्वप्नोंका यह कारण है। तथा—

असम्मंत्राद्दुःष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्यांजन ॥
अ. ४।९।६

"(१) (अ-सत्-मंत्रात्) दुष्ट विचार, (२) दुष्ट स्वप्न, (३) दुराचार, (४) (शम-लात्) शांतिका नाश करनेवाले प्रकार, (५) (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय, (६) (घोरात्) भयंकर नेत्रोंके भाव आदिसे हम सबको बचाओ।" ये सब दुष्ट स्वप्नोंके साथी हैं। ये ही दुष्ट स्वप्नके कारण हैं। जो कोई चाहता है कि बुरे स्वप्नोंसे अपने आपको कष्ट न हो, वह इन मन्त्रोंमें कहीं बातोंका विचार करे, उसको बुरे स्वप्न कष्ट नहीं देंगे, अर्थात् उसको बुरे स्वप्न ही नहीं दिखाई देंगे। बुरे स्वप्नोंके उदाहरण निम्न मन्त्रोंमें देखिए—

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥
अ. ७।१०।११

"स्वप्नमें जो अन्न मैं खाता हूं, वह प्रातःकाल दीखता नहीं है। वह सब मेरे लिये शुभ हो, जो दिनमें दीखता नहीं है।" इससे प्रतीत होता है कि स्वप्नमें भोजन करना अच्छा नहीं है। शरीरमें बीमारी प्रविष्ट होनेसे इस प्रकारके स्वप्न होते हैं, इसलिये ये स्वप्न अस्वास्थ्यके सूचक हैं। पूर्व मन्त्रोंमें दुष्ट स्वप्नोंके कारणोंमें इस प्रकारके स्वप्नोंका कारण पाठक देख सकते हैं। तथा इस विषयमें निम्न मन्त्र देखने योग्य है —

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
अ. २०।९६।१६

"जो तमरूप स्वप्नके द्वारा तुझे मोह करता है।" अर्थात् वे सब स्वप्न तम अवस्थाके कारण होते हैं। तमोगुणकी प्रधानतासे इनकी उत्पत्ति है। इसलिये सात्विक भावनाकी वृद्धि करनेसे दुष्ट स्वप्नोंको दूर किया जा सकता है। तमोगुण जिनमें प्रधान रहता है, इस प्रकारके मनुष्योंमें ज्ञान कम होता है, और चित्तमें भ्रांति बहुत रहती है, यह कारण है कि उनको स्वप्नमें नाना प्रकारके आकार दिखाई देते हैं, अपने सम्बन्धियोंका दर्शन स्वप्नमें होनेके विषयमें वेदका कथन निम्न मन्त्रोंमें देखने योग्य है—

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥
अ. ८।६

"तेरा भाई अथवा पिता होकर जो तेरे स्वप्नमें आता है, इन वाचक क्लीबरूपोंको (बजः) बलवान् बनकर ही दूर किया जा सकता है।"

तात्पर्य मनकी कमजोरीके कारण इस प्रकारके आकार स्वप्नमें दिखाई देते हैं। यद्यपि ये आकार भयानक भी होते हैं तो भी ये स्वयं (क्लीबरूप) असमर्थ होनेके कारण बलवान्‌का घात नहीं कर सकते, इसलिये मनको बलवान् बनानेसे उक्त स्वप्नोंका भय दूर किया जा सकता है। कई लोग इन स्वप्नोंसे डरते हैं, और उसकी फिकरमें ही मरने लगते हैं। उनको उक्त मंत्रका उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य है। स्वप्नोंके आकार क्लीब होते हैं, उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होता, इसलिये धैर्य धारण करनेसे कोई बिगाड नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य डरपोक होंगे उनका नाश इन स्वप्नोंके कारण हो सकता है, परंतु यहां स्मरण रहे कि, "यह स्वप्नका दोष नहीं, प्रत्युत उनके मनकी कमजोरीका दोष है।" इसलिये वैदिक उपदेशके अनुसार धैर्य धारण करके स्वप्नोंसे डरना नहीं चाहिये। स्वप्नदोष दूर करनेका उपाय निम्न मंत्रमें देखिये—

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यसि पापं० ॥ ऋ० १०।३।६
पर्यावर्ते दुःष्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्याद्भूत्याः ॥
ब्रह्माहमंतरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥
अ० ७।१००।१

"यदि स्वप्नमें बुरा भाव देखा तो इस प्रकारके दुष्ट स्वप्नों और पापमूल आपत्तिसूचक स्वप्नोंके पश्चात् मैं (अंतरं) मनके अंदर (ब्रह्म कृण्वे) ब्रह्मकी उपासना-प्रार्थना-करता हूं, जिससे (शुचः) शोक उत्पन्न करनेवाले स्वप्नके मुख्य परिणाम (परा) दूर होते हैं।"

यह उपाय है कि जिससे पाठक अपने मनको दृढ बना सकते हैं। परमेश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह इस प्रकार भयसे अपनेको बचा सकता है। अब किसी प्रकारके बुरे स्वप्नसे कोई भी न डरे। पहिले तो यह विश्वास रखे कि स्वप्नके आकार और दृश्य शक्तिहीन होनेसे हमारा बुरा नहीं कर सकते। पश्चात् यदि किसीका मन कमजोर रहा तो इस प्रकारके स्वप्नके पश्चात् ईश्वरोपासनासे अपने मनमें बल बढावे। सर्वशक्तिमान परमेश्वर इस समय अवश्य ही बल देगा। मनकी सब कमजोरी ईश्वरउपासनासे दूर होगी। इसी विषयकी और एक प्रार्थना देखिये—

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह ॥ स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद् वरुण पाह्यस्मान् ॥
ऋ. २।२८।१०

"हे वरुण राजन्! हे देव! जो मेरा मित्र, साथी, चोर, हिंस्र पशु आदि स्वप्नमें आकर (भीरवे मह्यं) मुझ भीरुको डराता है, उससे मुझे बचाओ।" यह वह प्रार्थना है जो कि स्वप्नके पश्चात् करनी चाहिये। इससे उपासकके मनमें बल प्राप्त होता है। इस प्रार्थनामंत्रमें ऐसी शब्दयोजना है कि जो स्वप्नके भयकी वस्तविक बात प्रकट कर रही है। मंत्रमें "भीरवे मह्य" (डरपोक मैं हूं इसलिये मुझे डर होता है) ये शब्द हैं। अर्थात् यदि किसीके मनमें भीरुता अथवा डर न होगा तो उसको किसी प्रकारके स्वप्नसे भय न होगा। परंतु सर्वसाधारण जनतामें ऐसे धैर्यवान् पुरुष कम होते हैं, इसलिये दुष्ट स्वप्नका मनपर जो बुरा असर होता है, उसको दूर करनेके लिये "ब्रह्मकी उपासना" यह एक मात्र उपाय है। ईश्वर-भक्तिसे मन बलवान् होता है और बल प्राप्त होनेसे मनके सभी कुसंस्कार दूर हो सकते हैं। आशा है कि पाठक इससे उचित बोध लेंगे।

स्वप्न मनके संस्कारोंके कारण होते हैं। इसलिये अपने मनके संस्कारोंकी परीक्षा करनेके लिये स्वप्नोंका विचार करना चाहिये। इतनी मनकी उन्नति करनी चाहिये कि स्वप्नमें भी मनसे पाप न हो, स्वप्नका किया हुआ पाप भी बुराही है—

यदि जाग्रद् यदि स्वप्ने एनांसि चकृमा वयं॥ सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वस्मान्मुंचत्वंहसः॥
यजु० २०।१६

"यदि हम जागृतिमें अथवा स्वप्नमें पाप करेंगे, तो उससे हम सबको (सूर्यः) देव बचावे।" अपने स्वप्नकी परीक्षासे अपनी धार्मिक अवस्थाका पता लग सकता है। इसलिये हरएकको अपने स्वप्नकी परीक्षा करना उचित है। इस प्रकार वेदका स्वप्न विषयक आदेश है।

अब इस लेखका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि कई स्वप्न भविष्यमें होनेवाले बातोंके ठीक ठीक निदर्शक होते हैं, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि हरएक स्वप्नका संबंध इस प्रकार बताया जा सकता है। तथा स्वप्नकी सचाई परिणाम देखनेके पश्चात् ही विदित होनेवाली होनेसे स्वप्नकी सूचनासे होनेवाली बातमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। इसलिये केवल स्वप्नोंका डर ही नहीं मानना चाहिये, परंतु अपने ऊपर स्वप्नसे कोई परिणाम होगा ऐसा विचार भी कभी धारण नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्वप्नके दृश्यमें ऐसी कोई शक्ति नहीं होती। तथापि यदि किसीको स्वप्नकी भीति प्रतीत होती हो, तो उसको ईश्वरउपासनाद्वारा उसका निवारण करना चाहिये।

यद्यपि उक्त हेतुके कारण स्वप्नोंका विचार भी करनेकी कोई जरूरत नहीं है, तथापि स्वप्नोंसे अपने मनकी विलक्षण शक्तिका ज्ञान होता है इसलिये स्वप्नोंका तत्त्वविचारकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। स्वप्नकी अवस्थाका ठीक ठीक विचार होनेसे आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है, इस दृष्टिसे स्वप्नोंका आंदोलन करना चाहिये। इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे किसी प्रकारके स्वप्नसे न डरें परंतु उसको "आत्मा, बुद्धि, मन और चित्त इनकी शक्तियोंका ज्ञान होनेका साधन समझकर इस दृष्टिसे उनका विचार करें" इस समयतक स्वप्नोंके कई वृत्तांत प्रकाशित हुए हैं और प्रत्येक स्वप्नसे मनके विलक्षण सामर्थ्यका प्रमाण मिला है। यदि पाठक इस प्रकारके अपने अनुभव लिखेंगे, तो लोगोंपर बडा उपकार हो सकता है।

जो मनकी शक्ति स्वप्नद्वारा प्रकट होती है, वह योग-साधनसे यदि बढाई जाय तो जागृतिमें भी काममें लाई जा सकती है। पाठक इस दृष्टिसे इन स्वप्नोंका विचार करें और इनके विचारसे अपनी शक्तिको जानकर उस शक्तिका विकास करके सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें।

विजय प्राप्त करनेकी कला

अजीताः स्याम शरदः शतं ॥ तै. आ. ४।४२।५
अदीनाः स्याम शरदः शतं ॥ यजु. अ. ३६।२४

"हम सब सौ वर्षपर्यंत पराजित न होते हुए जीवित रहें, तथा हम सब सौ वर्षपर्यंत अदीन अर्थात् उत्साही जीवनसे युक्त रहें" यह वैदिक धर्मकी आकांक्षा प्रसिद्ध है। हर एक मनुष्यको उचित है, कि वह सदा ऐसे पुरुषार्थ करता रहे, कि जिससे वह कभी पराजित न हो सके। पराजय होनेसे सब प्रकारकी आपत्तियां प्राप्त होती हैं। पराजितोंको ही सब कष्ट भोगने पडते हैं। पराजितोंके सद्गुण बुरे समझे जाते हैं, और विजयी लोगोंके दुर्गुण अनुकरणीय समझते हैं। विजयका इतना प्रभाव है। इसलिये विजय प्राप्त करनेका यत्न हरएकको करना उचित है। विजय किस प्रकार मिलता है इस प्रश्नके उत्तरमें वेद कहता है—

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या। अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ ऋ. ४।५०।९

जो (अ-प्रति-इतः) पीछे नहीं हटता वह पुरुषार्थी मनुष्य ही (जयति) विजय प्राप्त कर सकता है। वही प्रतिजन्यानि) व्यक्तिविषयक तथा (सजन्या) समूह अथवा समाजविषयक (धनानि) धनोंको (सं जयति) विजयसे प्राप्त करता है। (यः) जो राजा (अवस्यवे) अपना रक्षण करनेवाले (ब्रह्मणे) ज्ञानीको ही (वरिवः) सहायता (कृणोति) करता है, (तं देवाः अवन्ति) उसीका देव रक्षण करते हैं।

इस मंत्रमें विजयकी कुंजी रखी है। (१) जो पीछे नहीं हटता वही विजय प्राप्त करता है। यह मंत्रका पहिला विधान है।...

प्र-इत	प्रति-इत
प्र-गति	प्रति-गति
आगे-बढना	पीछे-हटना

'प्र- इत और प्रति-इत' ये दो शब्द वेदमें वारंवार आते हैं पहिला उन्नति और अभ्युदयका दर्शक है और दूसरा अवनति अथवा पीछे हटनेका दर्शक है। जो पीछे नहीं हटता अर्थात् जो अपने स्थानपर स्थिर रहता है, (युधि-ष्ठिर) जीवन कलहके घनघोर युद्धमें जो न डरता हुआ अपने स्थानसे पीछे नहीं भागता, अथवा जो अपने पुरुषार्थके साथ आगे बढता है, वही विजय पाता है। परंतु जो जीवन कलहमें पीछे रहेगा वह गिरेगा। इस लिये निर्भयताके साथ आगे बढनेकी तैयारी करना सबको उचित है।

आगे बढनेका तात्पर्य यहां मनुष्यकी उन्नतिके सब भूमिकाओंमें उन्नति प्राप्त करनेसे है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रियविषयक, शारीरिक, वैयक्तिक तथा सामाजिक अथवा सर्व राष्ट्रीय प्रयत्नोंमें सर्वप्रकारके पुरुषार्थोंके साथ आगे बढनेका संदेश [अ-प्रति-इतः] "अप्रतीतः" इस शब्दद्वारा वेदने सब लोगोंको पहुंचाया है। जो सुनेंगे और जो इस आदेशके अनुसार अपना आचरण करेंगे वेही विजयी और यशस्वी हो सकते हैं। जो सुनते हुए आचरण नहीं करेंगे वे गिर जायेंगे।

सत्यका पालन करो

(१) जब आप सचाईपर रहेंगे, अपने शब्दको सदा सत्यसे पूर्ण रखेंगे, प्रामाणिकता, सीधा सरल व्यवहार और उन्नत आचरणसे आप पवित्र बनेंगे, (२) शुद्ध संस्कारोंसे युक्त रहनेका आप प्रयत्न करेंगे, उन्नति और अभ्युदयके लिये ही सदा पुरुषार्थ करेंगे, जगतका सुधार करनेके लिये स्वयं अपने आपको अर्पण करेंगे, लोगोंको उच्च, श्रेष्ठ और अधिक पवित्र भूमिकामें पहुंचानेके लिये जब आप अपनी पराकाष्ठा करेंगे; (३) जब आप निर्भयतासे कार्य करेंगे, भीतिसे दूर रहेंगे, सत्कर्म करनेके लिये किसीसे नहीं डरेंगे, अपनी पूर्णता करनेके लिये अहर्निश प्रयत्न करेंगे; (४) जब आप ऐश और आरामकी पर्वा छोडकर, सुस्तीको दूर करके अपने ही इंद्रियोंके सुखोंमें मस्त न होंगे, तथा श्रेष्ठ कार्य करनेके लिये योग्य स्वार्थत्याग आनंदके साथ करेंगे; (५) संदेहको दूर करके निश्चयात्मक बुद्धिसे सतत पुरुषार्थ करेंगे, सोचने विचार करनेमें ही जब आप अपना सब समय न गमायेंगे, परंतु सोच विचारपूर्वक कार्य करनेके लिये सदा तत्पर रहेंगे, (६) जब आप विजयी पुरुषवीरोंके समान अपने विचार प्रकट करेंगे अपना चाल-चलन शूरोंके समान उदात्त करेंगे अपने कार्य धैर्यशील उदार चरितोंके समान करेंगे, अपने सब खूनमें विजयकी ध्वनि कूट कूट कर भर देंगे; (७) जब आप विजयी पुरुषोंके चरित्र पढेंगे उनके गीत गायेंगे, उनके समान बननेका यत्न करेंगे, उनके चरित्र दूसरोंको सुनायेंगे, तथा उनके जीवनोंमें प्रेममय भक्ति रखेंगे, (८) जब आप श्रेष्ठ पुरुषोंकी संमति आदरके साथ विचार कोटिमें लेंगे, अपनी निंदा स्तुतिकी पर्वाह न करते हुए योग्य कार्य दक्षतासे

करेंगे, (९) जब कष्ट और आपत्तियाँ आजायँगी तब न डरते हुए बडे विलक्षण धैर्यके साथ अपना ही योग्य धार्मिक सत्कार्य चलाते रहेंगे, (१०) जब आप दैवका विचार न करते हुए, पुरुषार्थका ही ख्याल मनमें धरेंगे, सत्कार्य करते हुए यदि सब दुनिया आपके विरुद्ध हो गई तो भी जब नहीं डरेंगे; (११) अपने पुरुषार्थके बलपर जब आप निर्भर रहेंगे, सत्कार्य करते हुए यदि विष आपको प्राप्त हुवा तो भी यदि आप निर्भयतासे उसको स्वीकार करनेके लिए तैयार होंगे, (१२) जब आप अच्छे नागरिक, भले पडौसी, उत्तम राष्ट्रहितैषी, और मानवी हितका कार्य करनेमें तत्पर बनेंगे, (१३) अपने सुविचार प्रकट करने और अपना जीवन विशेष उच्चप्रकारसे व्यतीत करनेके लिये जब आप किसीसे नहीं डरेंगे, (१४) जब अपने आपको पूर्ण धैर्यवान मानेंगे, अपनी वैयक्तिक उच्चताकी सिद्धता करनेका सुविचार करेंगे, अपने आपको गिरा हुआ न मानेंगे; (१५) जब आप अपनी इंद्रियोंका शमन और दमन करेंगे, उनको स्वाधीन रखेंगे, आप अपनी शक्तियोंके प्रभु बनेंगे सब दुष्टभावोंको दूर करेंगे; (१६) जब आप सदा उच्च विचार उच्चार और आचारको ही पसंद करेंगे, उच्च आकांक्षा धरेंगे और अभ्युदयके मार्गसे चलेंगे; (१७) जब आप अपना जीवनका सुधार करनेका दृढ निश्चय करेंगे, जीवन कलहमें सत्यके साथ आगे बढेंगे, अपना आदर्श जीवन बनानेका यत्न करेंगे; (१८) जब आप उत्साह, उल्लास और आनंद अपने चेहरेपर सदा रखेंगे; अपना वायुमंडल उत्साहपूर्ण बनायेंगे और अपना घर, पोशाक और अपने अन्य पदार्थ उल्लासपूर्ण सदा रखेंगे; (१९) जब आप सुधारके मार्गसे प्रगति करेंगे, और हीन मार्गसे दूर रहेंगे; (२०) जब आप द्वेष, मत्सर, और दूसरेकी निंदा न करते हुए दूसरोंके उत्तम गुणोंका ही विचार करेंगे; (२१) अपने निश्चित विचारसे इधर उधर न भटकेंगे, अपने मार्गमें ही सुदृढ विचारसे चलेंगे, (२२) सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करके सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेके लिये जब आप दृढ विश्वाससे प्रयत्न करेंगे; (२३) जब आप जगत्‌की ओर पूर्णताकी भावनासे देखेंगे, और दोषकी दृष्टिसे ही सब दुनियाकी ओर देखना छोड देंगे; (२४) जब आप निश्चयका बल धारण करके बंधनोंको तोडनेका प्रबल यत्न करेंगे (२५) जब आप सत्य तत्वोंके प्रेमसे कार्य करेंगे और छोटे मोटे प्रलोभनोंमें न फंसेंगे; (२६) जब आप सदा सर्वदा अविचारसे दूसरोंका अनुकरण न करेंगे, परंतु अपनी बुद्धिसे अपनी स्वतंत्रताका मार्ग ढूंढेंगे; (२७) जब आप उचितको निकट और अनुचितको दूर करनेमें धैर्य बतायेंगे, 'न' कहनेके समय 'हां' नहीं कहेंगे, और 'हां' कहनेके समय 'न' नहीं कहेंगे, दूसरोंकी मोहब्बतसे अपना सत्यमार्ग न भूलेंगे, (२८) धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके कर्तव्योंमें जब आप सदा आगे ही बढते जायंगे; (२९) परमात्माकी भक्तिसे अपने अंत:करणोंको पवित्र रखेंगे; (३०) जब आप हृदयसे न डरेंगे, मनमें विश्वास रखेंगे, और आत्मामें बल रखेंगे; (३१) 'मैं अवश्य विजय प्राप्त करूंगा' ऐसी ही भावना जब मनमें दृढ करेंगे, (३२) शरीर, मन आदि अपने साधनोंको जब एक ही श्रेष्ठ पुरुषार्थमें लगायेंगे; (३३) जब आप अपने आपको परमेश्वरके अंदर समझकर पूर्ण विश्वाससे कार्य करेंगे; तब आप आगे बढ सकते हैं और आगे बढनेसे विजय प्राप्त कर सकते हैं।

इससे आप और अधिक सोच कर अपने काया वाचा मनकी शुद्धि करने, अपने आपको योग्य बनाने और पूर्ण विजय प्राप्त करनेका मार्ग ढूंढ सकते हैं। सोचिए और सीधे मार्गको प्राप्त करके उसपर चलिए।

उक्त मंत्रमें (प्रतिजन्य धन) वैयक्तिक धन तथा (सजन्य धन) समुदाय, समूह, संघ अथवा समाजका धन, ऐसे दो प्रकारके धन कहे हैं। उन्नति, अभ्युदय, विकास आदि सब दो प्रकारका होता है। एक मनुष्यके संबंधसे जो उन्नति आदि है उसको वैयक्तिक, व्यक्तिविषयक प्रतिजन्य, प्रत्येक जनके संबंधमें कहा जाता है। तथा जो अभ्युदय सब जनताके संबंधमें होता है उसको सामुदायिक, सामाजिक सजन्य संपूर्ण जनोंके संबंधमें, राष्ट्रीय, समाज अथवा जातिके संबंधमें, कहते हैं। देखिए—

व्यक्ति	समाज
मनुष्य	संघ
प्रति-जन	स-जन
प्रति-जन्य	स-जन्य
अ-संभूति	सं-भूति

यजु० अ० ४० अथवा ईशोपनिषद्में संभूति और असंभूतिका विचार आगया है। वहां कहा है कि "जो केवल व्यक्तिकी उन्नति करनेमें मस्त रहते हैं, वे गिर जाते हैं तथा जो केवल सामाजिक सुधारमें ही लग जाते हैं वे भी गिर जाते हैं व्यक्तिकी उन्नतिका एक विशेष महत्व है, और समाजके सुधारका एक विशेष महत्व है। इस बातको जान कर जो दोनों प्रकारके सुधारको साथ साथ करते जाते हैं, वे व्यक्तिकी उन्नतिसे दुःखको दूर करके सार्वजनिक अभ्युदयसे अविनाशी स्वातंत्र्यको प्राप्त करते हैं।" अर्थात्, व्यक्तिका अभ्युदय और सार्वजनिक निःश्रेयसका साधन करना वैदिक धर्मका मुख्य उद्देश है जो इस उद्देशको छोड देते हैं वे अवनत होते हैं। इसलिये इस मन्त्रमें विजय प्राप्तिके उपदेशमें 'प्रतिजन्य और सजन्य' अर्थात् एक एककी और संघकी उन्नतिका समावेश किया है। यहां धनका तात्पर्य 'धन्यताका साधन' है, न कि रुपया आना पाई। जिससे मनुष्य अपने आपको धन्य समझ सकता है वह उस मनुष्यके लिये उस समय धन होता है। इसलिये धन्यताके सब साधन धन ही हैं।

सुविचारी सदाचारी

वैदिक धर्ममें रहता हुवा जीता जागता सुविचारी सदाचारी और सच्छील मनुष्य व्यक्तिके और जातिके सुधारक विचारोंसे दूर नहीं रह सकता। वर्णाश्रम धर्ममें सब जातीय व्यवस्था ही है ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो आश्रम व्यक्तिके सुधारक हैं। गृहस्थमें जनताके विचारोंका प्रारंभ होता है, तथा वानप्रस्थ और सन्यास ये दो आश्रम केवल जनताकी उन्नति करनेके ही हैं। व्यक्तिके स्वार्थको छोडना और जनताकी भलाई करनेका विचार मनमें दृढ करना, यही संन्यासका तत्त्व है। जनतारूपकी सेवा करना ही संन्यास धर्म है। चार वर्णोंके धर्ममें तो प्रसिद्धिसे ही सार्वजनिक सुव्यवस्थाका मार्ग है। इसलिये उसका विचार करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। इस कारण सब वैदिकधर्मियोंको उचित है कि वे जिस प्रकार अपने सुधारका विचार करते हैं, उसी प्रकार वे जनताका अथवा जातिका भी अवश्य विचार करें। क्योंकि जबतक दोनों उन्नतियोंकी प्राप्ति न होगी तबतक धर्मको पूर्ण सिद्धि प्राप्त होना असंभव है।

पूर्वोक्त मंत्रके उत्तर चरणमें 'अवस्युः ब्रह्मा' ये शब्द आये हैं। 'अवस्यु' का अर्थ-संरक्षण, हलचल, प्रेम समाधान शांति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, विनती, पुरुषार्थ, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, ऐश्वर्य, स्वीकार, अस्तित्व, वृद्धि और विरोधका परिहार करनेवाला है। ये उन्नीस कार्य मनुष्यके अभ्युदयके साधक हैं। पाठक यहां विचार करें कि इन उन्नीस कार्योंसे मानवी उन्नति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है। मनुष्य मात्रके सब हलचलके प्रयत्न जो व्यक्तिकी उन्नतिके लिये होते हैं तथा जो जातीयताके विकासके लिये हो सकते हैं, उन सबकी सूचना उक्त अर्थोंमें आ रही है। इतना व्यापक अर्थ बतानेवाला 'अवस्यु' शब्द है। 'अव्' धातुसे यह शब्द बनता है और इसी धातुसे 'ऊति, अवन, ओं' आदि शब्द बनते हैं। इसलिये इन सब शब्दोंमें मुख्यतया अथवा गौणवृत्तिसे सब पूर्वोक्त अर्थ विद्यमान रहते ही हैं। पाठक इस शब्दके ये अर्थ विशेष स्मरणपूर्वक मनमें धारण करें, क्योंकि 'अवन' शब्दका प्रयोग तथा इस धातुसे बने हुए शब्द वेदमें विशेष हेतुसे दिये हैं।

जो अपनी व्यक्तिकी, समाजकी, राष्ट्रकी तथा जनताकी सुयोग्य उन्नति करनेकी पराकाष्ठा करता है वही 'अवस्यु' हो सकता है।

सदाचारका स्वप्नसे संबंध

यहां सदाचारका थोडासा वर्णन किया है वह इसलिये है कि मनुष्य अपने आपको ऐसे सुयोग्य पुरुषार्थके कार्योंमें सदा लगाकर रखे। इससे स्वप्न भी उसको उत्तम पुरुषार्थके ही आजायगे और बुरे स्वप्नसे उसको किसी तरहके क्लेश नहीं होंगे।

मनुष्य अपने आपको शुभ पुरुषार्थके कार्योंमें सदा लगावे और कभी बुरे कार्योंमें न लगावे। इससे उसका मन सदा सुविचारसे युक्त रहेगा और स्वप्न भी उसको अच्छे ही आजायगे।

मनुष्य जिस कर्ममें अपने आपको लगाता है उस प्रकारके स्वप्न उसको आते हैं। इसलिये मनुष्य अपने आपको शुभ कर्ममें लगावे। पुरुषार्थके श्रेष्ठ कर्ममें दत्तचित्त रहे जिससे मनुष्यका संपूर्ण जीवन ही परिशुद्ध बनेगा। वेदमें इसीलिये कहा है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।
आप्यायध्वम्। वा० य० १।१

'परमेश्वर आपको श्रेष्ठतम कर्म करनेके लिये प्रेरित करे। इससे आप परम उन्नतिको प्राप्त होंगे।' मनुष्य श्रेष्ठतम कर्म करे और अपनी उन्नति करे। इससे अशुभ स्वप्न दूर हो सकते हैं।

Regd .No. B 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

वर्ष ३७

वैदिकधर्म

अंक २

नटराज

फरवरी १९५६ पौष २०१२

वैदिक धर्म

[फरवरी १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष ३७ अंक २

वैदिक धर्म

क्रमांक ८६

पौष, विक्रम संवत् २०१२, फरवरी १९५६

दुष्टोंको दण्ड देता है

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥

ऋ० ७।१९।१

(यः तिग्म-शृंगः) जो प्रभु तीक्ष्ण सींगवाले (वृषभः न भीमः) बैलके समान भयंकर है, जो (एकः) अकेला ही (विश्वाः कृष्टीः प्र च्यावयति) सब शत्रुओंको स्थानसे भ्रष्ट कर देता है, तथा (यः) जो (अ-दाशुषः शश्वतः गयस्य) दान न देनेवाले बहुतसे दुष्ट कंजूसोंके घरोंको भी उखाड़ देता है वह तू (सुष्वि-तराय वेदः प्रयन्ता असि) यज्ञ करनेवाले उत्तम सत्पुरुषोंको धनका प्रदान करता है और सुखमें रखता है।

शत्रुके लिये जो भयंकर है, शत्रुको जो स्थानभ्रष्ट करता है, वही प्रभु उदार दाता यज्ञकर्ताको पर्याप्त धन देता है। ईश्वर दुष्टोंको दण्ड देता है और सज्जनोंका पालन करता है।

संस्कृत-विश्व परिषद्

हैद्राबाद शाखाका उद्घाटन

(निज संवाददाता द्वारा)

हैदराबाद। स्थानीय महिला महाविद्यालयके दरबार हालके उद्यानमें गत २५ दिसम्बरको प्रातःकाल ब्राह्मवेलामें यजुर्वेदके मंत्रोच्चारणके साथ संस्कृत विश्व परिषद्की हैदराबाद शाखाका उद्घाटन समारंभ हुआ। हैदराबादमें इस परिषद्के अध्यक्ष मुख्य मन्त्री श्री. बी. रामकृष्णराव उपाध्यक्ष डॉ. एस. भगवंतम् (उपकुलपति, उस्मानिया विश्वविद्यालय) तथा श्री. विट्ठलराव (न्यायमूर्ति, हैदराबाद हाईकोर्ट) और मंत्री डॉ. आर्येन्द्र शर्मा, (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय) हैं।

इस अवसर पर मध्यप्रदेशके राज्यपाल डॉ पट्टाभि सीतारामैयाने कहा:– " संस्कृत मृत भाषा नहीं; जीवित भाषा है। तेलुगुमें ५० प्रतिशत शब्द संस्कृतके हैं। मलयालम् तो संस्कृतके बहुत निकट है।" अस्वस्थताके कारण वे विशेष नहीं बोले।

इस समारोहका संपूर्ण वातावरण संस्कृतमय था। डॉ. भगवंतम्ने संस्कृतमें ही " स्वागतपत्रम् " पढा।

परिषद्के अध्यक्ष श्री. बी. रामकृष्णरावने भी संस्कृतमें ही भाषण किया। आप संस्कृत, हिन्दी, तेलुगु, मराठी, कन्नडी, उर्दू, फारसी, अरबी; और अंग्रेजीमें धारा-प्रवाह भाषण करते हैं। संभवतः आप इस देशके एकमात्र मुख्यमन्त्री हैं, जो इतनी भाषाएं जानते हैं। आपने कहा " संस्कृत देववाणी है, जिसका आदर भारत ही नहीं विदेशोंमें भी विद्वान करते हैं। इसके अध्ययनसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। यह संसारकी भाषाओंमें सर्वोत्तम है। "

डॉ. आर्येन्द्र शर्माने हैदराबाद राज्यमें संस्कृतकी शिक्षाके लिए किये जानेवाले कार्यों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कहा " १९४८ तक यहां १०० विद्यार्थी ही थे। अब उनकी संख्या ७०० है। पहले यहां संस्कृतकी परीक्षाएं मद्रास आन्ध्र और काशी विश्वविद्यालयोंकी होती थी, १९५४से उस्मानिया विश्वविद्यालयमें प्राच्य विद्याके शिक्षणका प्रबंध है। सरकारी कालेजों और स्कूलोंके अतिरिक्त सीताराम बाग संस्कृत महाविद्यालय और मुक्ताला संस्कृत विद्यालय सिकन्दराबादमें भी पढाई होती है। इनके अतिरिक्त संस्कृत भाषा प्रचार समिति; पारडी, और संस्कृत भाषा प्रचारिणी सभा, नेल्लोरकी परीक्षाएं भी यहां पर होती हैं, उनमें हिंदू ही नहीं, मुसलमान, और ईसाई भी बैठते हैं " डॉ. आर्येन्द्र शर्माने आगे बताया कि उस्मानिया विश्वविद्यालयमें संस्कृत अकादमीकी स्थापना श्री. कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी के हाथों हुई थी। इसे हैदराबाद सरकार और विश्वविद्यालयसे १५-१५ हजार रु का वार्षिक अनुदान मिलता है। संस्कृतको लोकप्रिय पुस्तकमाला प्रकाशित हो रही है। अन्तमें श्री. क्षीरसागर शास्त्रीने संस्कृतमें धन्यवाद दिया।

स्वागतपत्रम्

स्वागतपत्रम् श्रीमद्भ्यः पट्टाभि सीताराम महोदयेभ्यः भाग्यनगरसंस्कृतविश्वपरिषच्छाखापक्षे समर्पितं।

श्री महोदयाः संस्कृतविश्वपरिषदः भाग्यनगरशाखापक्षे श्रीमतां इदम् स्वागतम् समर्पयामः। विदितमेव खलु आर्यमिश्राणां यत्पवित्रसोमनाथक्षेत्रे संस्कृतविश्वपरिषदिति एका संस्था स्थापिता विजयतेतरा चेति। संस्कृत भाषा समुद्धरणस्याभिप्रचाराः तस्याः परिषद् आशयाः। अचिरमेव एतत्परिषदः चतुर्थ अधिवेशन पावन श्रीपतिक्षेत्रे निर्वर्तितमित्यपि विदितचरमेव युष्माकं। इतः पूर्वं यदा परिषत्कार्यदर्शिनः श्री. टी. ए. वेंकटेश्वर दीक्षित महाशयाः अत्र आगताः तदा तत्परिषदः एका शाखा अस्मिन् भाग्यनगरेऽपि स्थापितव्येति निश्चितं अस्माभिः गीर्वाणभाषाभिमानिभिः। उद्घाटनमुहूर्तं अन्वेषमाणानां नः भाग्यशालो उस्मानिया विश्वविद्यालय पट्टप्रदानोत्सवसन्दर्भे स्नातकोपन्यासम् प्रदातुं भवन्तः आगमिष्यन्तीति श्रुतमस्माभिः। एतदवकाशमुपलभ्य परिषच्छाखाप्रारंभोत्सवं निर्वर्तितुं अस्माभिः अभ्यर्थिना यूयं इति अस्मत्प्रार्थनां अंगीकृतवंतः। तदस्माकं भागधेयं। गीर्वाणभाषाभिमानिनः बहुभाषाकोविदाः, सर्वतोमुखप्रज्ञावन्तो भवन्तः नागपुर विश्वविद्यालये गैर्वाण्या वाण्या भवद्भिः प्रसादितः स्नात-

कोपन्यासः अस्मदीय स्मृतिपथे अद्यापि जागर्ति। एतच्छाखाध्यक्षपदवीं स्वीकर्तुं माननीयाः राष्ट्रप्रधानामात्याः श्री. डॉ. बी. रामकृष्णराव महाशयाः सानुग्रहं अंगीचकुरिति अस्माकं सन्तोषं प्रकटयामः। तदिदानीं संस्कृतविश्वपरिषदः भाग्यनगरशाखां उद्घाटयितुं भवन्तं श्रीमन्तं सविनयं अभ्यर्थयाम ।

डॉ. एस. भगवंतम (उपकुलपति) उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा पठित।

सम्माननीय मध्यप्रदेशराज्यपालवर्याः डा. भोगराजु पट्टाभि सीतारामार्य महोदयाः, सदसि समुपस्थित विबुधवर्याश्च नमो भवद्भ्यः।

मम संस्कृतभाषाज्ञानं अत्यन्तम् स्वल्पमिति सर्वविदितमेव तथापि संस्कृतविश्वपरिषत् शाखारंभसुसमये तत्र भवतः पंडितवर्यानुद्दिश्य गैर्वाण्यैव कानिचित् स्वागतवाक्यानि निवेदयितुमिच्छामि ।

प्राचीनकाले सदाचारानुसारिणः अर्घ्यपाद्याचमनादि समर्पण विधानेन महार्हेभ्यः अतिथिगणेभ्यः स्वागतमकुर्वन्त। अस्मिन् काले तु केवल शुष्कालापैरेव स्वागतं कुर्वन्ति। तथापि प्रेमरससंभरितेन हृदयेन श्रीमतां सादरं स्वागतं वाचयामि अस्तु ।

डॉ पट्टाभि महोदयस्य आजन्ममातृदेशसेवापरत्वं अतिशयविज्ञानवैदुष्यप्रतिभासम्पन्नत्वं च जगद्विदितमेव। प्राक्प्रतीची वाङ्मयेषु एतेषां अत्यन्तम् पांडित्यमस्तीति एतैर्विरचितेभ्य· ग्रंथेभ्य एव सुस्पष्टं भवति। अमर भारत्यामपि निष्णाता· डॉ. महोदया· एकोनविंशतिशततमे (१९५३) क्रिस्ताब्दे संस्कृत परिषत् स्थापिता तदुद्घाटनं श्री के. एम्. मुन्शी महोदयैः कृतं। तदा प्रभृति तत्र कतिचन अपूर्वान् ग्रन्थान् संशोध्य तन्मुद्रापणार्थम् यत्नः क्रियते। तस्याः परिषदो निर्वहणार्थम् विश्वविद्यालयेन, सर्वकारेण च धनसाहाय्यमपि कृतं। अथ च, सीतारामबागनगरस्थ मुक्ताकाल संस्कृतविद्यालयश्च संस्कृतसाहित्य, वेद शास्त्राणामध्यापने व्यग्रौ भवतः। एवमेव, एतद्राज्यस्थ मण्डलेष्वपि तत्र तत्र संस्कृतविद्यालयाः भाषाभिवृद्धौ बद्धपरिकरास्सन्ति तैः केश्चित् धनसाहाय्यं सर्वकारात् लभ्यते, अन्याश्च, 'संस्कृतभाषाप्रचार समितिः, संस्कृतभाषा प्रचारणी सभा', इत्यादिकाः काश्चित् संस्था अपि देववाणी सेवां सश्रद्धं कुर्वन्ति।

अस्माकं स्वतंत्रे भारते वर्षे संस्कृतभाषाभिवृद्धौ न कोपि विप्रतिपद्यते। अस्माकं प्रथमराष्ट्रपति महोदयाः, डॉ॰ राजेन्द्रप्रसादाः, उपराष्ट्रपति महोदयाः, डा॰ राधाकृष्ण कोविदाश्च संस्कृतभाषाभिवृद्धौ बहुमुखं प्रयत्नं कुर्वन्तीति सर्वेषां सुविदितमेव।

एतदर्थमेव हि, अस्मद्राष्ट्रपति महोदयाः, अन्येच उन्नत पदवीषु अधिकृताः बहवो राज्यपालकाः, मुख्यमंत्रिणः, मन्त्रिणः, प्राड्विवाकाः, अन्ये संस्कृतविद्वांसश्च एकत्र मिलित्वा संस्कृतविश्वपरिषदः चतुर्थं अधिवेशनं तिरुपति नगरे निर्विघ्नं सादरं च अस्मिन् वर्षे प्रचालयामासुः। तस्याश्च बह्व्यश्शाखाः भारते अन्यत्रापि च विराजन्ते इति सुविदितमेव।

मासद्वयात्पूर्वं अत्रापि भाग्यनगरे तस्याः परिषदः काचन शाखास्थापिता शैशवावस्थां विद्यमानापि इयं शाखा, विद्वदग्रेसराणां, मान्यवराणां डा. भोगराजु सीतारामार्य महोदयानां शुभाशीर्बलेन अस्मिन् राज्ये संस्कृतभाषासेवां अतितरां कुर्यादिति वयं सर्वेपि सुदृढं विश्वसिमः।

अद्य सुसमये अस्याश्शाखायाः उद्घाटनं क्रियतामिति डा महोदयान् अहं स प्रश्रयं प्रार्थयामि।

हैद्राबाद् राज्यके मुख्यमन्त्री श्री बी. रामकृष्णराव द्वारा पठित।

इति हेम्नः परमामोदः।

वयसि, ज्ञाने, देशसेवायाम्, राज्याधिकारे च वृद्धाः इमे महान्तः अद्य अस्मन्निकटमागत्य अस्याः संस्कृत विश्वपरिषत् शाखायाः प्रारम्भोत्सवं कुर्वन्तीति अस्माकं भाग्यनगरवासिनां अचिन्तितोपनतं महत्सौभाग्यमिति मोदामहे।

देवभाषा तु न केवलं भारतीयानां भाषाणां अपितु विदेशीयानामपि मातृस्थानीया इति बहुभिः भाषातत्त्वज्ञैः अंगीकृतमेव। एवं सति अस्याः गीर्वाणवाण्याः सर्वोत्तमत्वं तथा प्रशस्यतमत्वं प्रति न केषामपि विद्वद्वर्याणां विप्रतिपत्तिस्स्यात्।

एतादृश्याः देवभाषायाः दिनदिनाभिवृद्धिं ईहमानाः स्वतंत्रभारतदेशवासिनः महान्तं प्रयत्नं विरचयन्ति। एवमेव, अस्माकं भाग्यनगरराज्येऽपि शासकाः शासिताश्च देववाण्यास्सर्वत्र व्याप्तिम्, अभिवृद्धिं च कामयमानाः पूर्वापेक्षया अधिकतरं प्रयत्नं कुर्वन्ति।

वेदमन्दिर-वृत्त

सब शिक्षण-वर्गोंका कार्य यथायोग्य पूर्ववत् चालू है।

गायत्री जपानुष्ठान— गत मासके पश्चात् गायत्री जपका अनुष्ठान नीचे लिखे अनुसार हुआ है—

१ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१०००००
२ खंगाडी- श्री के. ग. अ. मेहेंदळे	१०२६
३ वाशीम- श्री आ. श्री. गुंडागुळे	५८०००
४ बलसाड- पं. शिवकुमारजी शुक्ल	१००००
५ वसई- गो. कृ. मोघे	९८४००
६ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	१४६००
७ रामेश्वर- श्री रा. ह. रानडे	५४०००
८ उमरा- श्री मोहिनीराज रा. चांदेकर	२४०००
	५,८२,०२६
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	५८,१३,९७७
कुल जपसंख्या	६३,९६,००३

गायत्री जपानुष्ठान

चौबीस लक्ष गायत्रीमन्त्रका पुरश्चरण करनेका संकल्प करके गतमाससे श्री शान्तिलालजी त्रिवेदी यहां आये हुए हैं। ये स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रममें ठहरे हैं और जप कर रहे हैं। तबसे उन्होंने मौनव्रत धारणकर केवल दूध और फलोंका आहार करके अनुष्ठान चलाया है। प्रतिदिन इनका जप ९००० होता है, अर्थात् लगभग ११।१२ दिनोंमें एक लाख जप होता है। इस अनुपातसे २४ लक्ष जप होनेके लिये लगभग एक वर्षका समय लगेगा। श्री त्रिवेदीजीकी गायत्री जपका अनुष्ठान २८।१२।५५ को आरम्भ हुआ था और २७।१।५६ तक उनकी कुल जप-संख्या २,७९,००० हुआ है।

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

सांमनस्यम् सौमनस्यम्

[लेखक— श्री. सोमचैतन्य प्रभाकर सांख्यशास्त्री, वेदवागीश, दयानन्दमठ, दीनानगर पंजाब]

[गताङ्कसे आगे]

राजस सत्त्वके ६ भेद—

१ आसुर— जो शूरवीर प्रचण्ड, दूसरेकी निन्दा करनेवाला, ऐश्वर्यशाली, छलकपट करनेवाला, रुद्र-तुल्य कोपसे शत्रुओंको रुलानेवाला, भयंकर, दूसरोंपर दया न करनेवाला, अपनी ही बड़ाई चाहनेवाला, आत्माभिमानी हो उसको ' आसुर ' जाने।

२ राक्षस—जो असहनशील, कारणसे कुपित होनेवाला, छिद्र अर्थात् शत्रुके कमजोर स्थानपर चोट करनेवाला, क्रूर, भोजनमें अधिक रुचि रखनेवाला, मांसका बहुत प्यारा, खूब सोने और खूब परिश्रम करनेवाला, ईर्ष्याशील हो उसको ' राक्षस ' चित्तवाला समझें।

३ पैशाच— जो बहुत खानेवाला, स्त्रीके समान स्वभावका, स्त्रियोंके साथ एकान्तमें रहनेकी इच्छावाला, अपवित्र, शुचिद्वेषी, भीरु, दूसरोंको डरानेवाला और विकृताहाराविहारशील हो उसे पैशाच जाने।

४ सार्प— जो क्रोधित होनेपर शूर और अक्रोधित होनेपर भी तीखे स्वभावका, परिश्रम करनेवाला, भययुक्त स्थानोंमें भी दीखनेवाला और आहारविहारपरायण हो उसे ' सार्प ' स्वभावका जाने।

५ प्रेत— आहारकाम, अतिदुःखशील; आचार और उपचारसे युक्त असूयक, दूसरोंको अपने धनमेंसे भाग न देनेवाला, बहुत लोभी, कर्म न करनेवाला ' पुरुष ' हो उसे ' प्रेत ' समझें।

६ शाकुन— जो काममें आसक्त, सदा आहारविहारमें लिप्त, चंचल, असहनशील, संचय न करनेवाला पुरुष हो उसको ' शाकुन ' जाने।

इस प्रकार क्रोधके अंश होनेसे राजस सत्त्वके ये छः भेद जाने।

तामसके तीन प्रकार—

१ पाशव— जो शरीरको अलंकृत करनेकी इच्छा न रखनेवाला, अपवित्र स्वभाव, निन्दित आचार और भोजनवाला, मैथुनकामी, सोनेके स्वभाववाला पुरुष हो उसे ' पाशव ' प्रकृतिका समझे।

२ मात्स्य— जो डरपोक, अज्ञानी, भोजनका लोभी, अस्थिरचित्त, चंचल, कामक्रोधमें आसक्त, भ्रमणशील, पानीकी अधिक चाहकरनेवाला हो उसे ' मात्स्य ' समझे।

३ वानस्पत्य— जो आलसी, केवल भोजनमें ही दत्तचित्त सर्वबुद्धिसे रहित जड़ पुरुष हो उसे ' वानस्पत्य ' अर्थात् स्थावर प्रकृतिका समझे। इस प्रकारसे मोहका अंश होनेसे तामस सत्त्वके तीन भेद हैं।

इस प्रकारसे तीन प्रकारके चित्तों॰ असंख्य भेद होने पर भी कुछ भेदोंके कुछ अंशोंकी व्याख्या कर दी है। ब्रह्मा, ऋषि, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, गन्धर्व इनके सत्त्वके अनुसार क्रमसे शुद्ध सत्त्वके सात भेद हैं। दैत्य, पिशाच, राक्षस, सर्प, प्रेत और शकुनि इनके सत्त्वके अनुसार राजस मनके छः भेद हैं। पशु, मत्स्य और वनस्पति इनके सत्त्वके अनुसार तामस मनके तीन भेद हैं।— चरकसंहिता-शा० स्थान ४। ३६-५७

प्रज्ञापराध— रोगोंका प्रथम कारण प्रज्ञापराध, दूसरा कारण अतियोग, अयोग और मिथ्यायोगसे इन्द्रियोंके विषयोंका उपभोग, तीसरा कारण परिणाम (काल) है॥ शा. स्था. २।४०

बुद्धि, धृति और स्मृतिसे भ्रष्ट हुआ पुरुष जो अशुभ, अहित, कर्म करता है वह सब शारीरिक एवं मानसिक दोषोंको कुपित करनेवाला ' प्रज्ञापराध ' कहा जाता है।

गमनशील मूत्र पुरीषके अनुपस्थित वेगोंको बलात् निकालना, उपस्थित मलमूत्रादिके वेगोंको रोकना, साहसिक

कार्योंका करना, स्त्रियोंका अतिसेवन, चिकित्साकालका अतिक्रमण, मन आदि कार्योंका मिथ्यारम्भ, विनय और आचारका लोप, पूज्य जनोंका तिरस्कार; जाने हुए अहितकारी पदार्थोंका सेवन, उन्मादरोगमें कहे कारणोंका सेवन करना, निषिद्ध समयों और निषिद्धस्थानोंमें जाना, पतित आचारवाले मनुष्योंके साथ मैत्री करना, 'इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय' (सूत्र० ८) में कहे सद्वृत्तोंका* पालन न करना, ईर्ष्या, मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम इन मानस दोषोंका वा इनसे उत्पन्न, निन्दित कर्मोंको करना, शरीरको दुःख देनेवाले कर्म करना, इनके अतिरिक्त और जो भी इस प्रकार रज और मोहसे उत्पन्न कर्म होते हैं उन सब रोगकारक कारणोंको शिष्ट मनुष्य 'प्रज्ञापराध' ही कहते हैं।

बुद्धिसे विषम (समके विपरीत, अयथार्थ) जानना, विषमरूपमें प्रवृत्ति करना, यह प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध मानसदोष है। शा० स्थान १। १०२—१०९

जो भूत—विष—वायु—अग्नि— अभिघातजन्य मनुष्योंके आगन्तुक रोग होते हैं वे सब प्रज्ञाके अपराधसे होते हैं।

ईर्ष्या, शोक, अभिमान, भय, क्रोध, द्वेषादि जो मनके विकार हैं वे सब प्रज्ञापराधजन्य हैं। सूत्र० ७। ५१, ५२

देव- गो- ब्राह्मण- गुरु- वृद्ध- सिद्ध आचार्योंकी पूजा करे, होम करे, प्रातः सायं स्नान करे, पवित्र वस्त्र पहने, सुमनाः सुन्दर- भद्र मनवाला हो। साधुवेश, सुमुख, होता, यजनशील, दानशील, हित मित मधुर-भाषी, अतिथियोंका पूजक, वश्यात्मा, धर्मात्मा निश्चिन्त, निर्भीक, धीमान्, लज्जाशील, महोत्साही, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक, मङ्गलाचारशील, सर्वप्राणियोंमें बन्धुभूत, क्रुद्धोंको शान्त करनेवाला, डरे हुओंको आश्वासन देनेवाला, दीनोंपर कृपालु, सत्यप्रतिज्ञ, शान्तिप्रधान, दूसरोंके कठोर वचनको सहनेवाला, अक्रोधी, राग और द्वेषके कारणोंको नष्ट करनेवाला होवे।

अनृत न बोले, दूसरे धन न ले, अन्य स्त्री और अन्य श्रीकी इच्छा न करे, वैर पसन्द न करे, पाप न करे और न पाप करनेवालेके प्रति भी पापी हो, दूसरेके दोषोंको और अन्यके रहस्यको न कहे, अधार्मिक, उन्मत्त, पतित-भ्रूणहन्ता-क्षुद्र-दुष्ट इन लोगोंका संग न करे।

आपसमें किये हुए वायदेको न तोडे, नियमभङ्ग न करे, मद्य-द्यूत-वेश्याप्रसङ्गमें रुचि न करे, किसीका अपमान न करे, अहङ्कारी, निन्दक और गुरुजनोंका तिरस्कारकर्ता न हो। अति बोलनेवाला न हो।

अधीर न हो। सर्वविश्रम्भी सर्वाभिशङ्की न हो। सदा सोच-विचार करनेवाला न हो। समय न गँवाया करे। इन्द्रियोंके आधीन न हो। चञ्चल मनका अनुगामी न हो और न उसे अधिक चञ्चल बनावे। दीर्घसूत्री न हो। क्रोध और हर्षके आधीन न हो। शोकमें दुःखी न हो। सिद्धिमें प्रसन्न और कार्यसिद्ध न होनेपर अप्रसन्न न हो। वीर्यका नाश न करे। अपवादका ध्यान न करे। अङ्गस्पर्शमार्जनपूर्वक सन्ध्योपासना करे। ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, करुणा, हर्ष, उपेक्षा, प्रशमपरायण होवे।

सूत्रस्थान ८। १८-२९

व्याधियाँ तो असंख्येय हैं परन्तु दोषोंकी गणना हो सकती है। रज और तम मनके दोष हैं। इन दोनोंके काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिंतोद्वेग, भय, हर्षादि विकार हैं। वात पित्त, श्लेष्मा शरीरके दोष हैं। इन दोनों प्रकारके दोषोंका तीन प्रकारसे प्रकोप होता है— असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम। विमान० ६।५।६

अरोगता और सुखका हेतु—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ ३६

हितकारी आहार और हितकारी विहारका सेवन करनेवाला तथा सोच विचारकर कार्य करने, विषयोंमें न फँसे, त्यागशील, दानी, सब प्राणियोंमें समानभाव रखनेवाले, सत्यपरायण, क्षमाशील, आप्तजनके सेवी, सत्संग करनेवाले पुरुषको रोग नहीं सताते।

मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धिसत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥

* सद्वृत्त— इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले सभीका सदा सद्वृत्तोंका अनुष्ठान करना चाहिये। इनके अनुष्ठानसे इन्द्रियोंपर विजय और आरोग्य दोनोंका एक साथ संपादन होता है।

जिसका मन, कर्म और वचन सुख उत्पन्न करनेवाले हों, जिसका मन पापरहित और वशमें है, जिसकी बुद्धि विशद हो, जिसमें ज्ञान और तप है, जो योगमें तत्पर होता है, उसको रोग नहीं सताते। शरीर. ४।४१, ४७

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि मन यदि 'सु' न रहे तो वह असत्य भाषण, काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्यादिमें फँस जाता है। इससे असत्कर्मकी प्रवृत्ति होती है। तब अधर्म उत्पन्न होता है। क्रमशः बढ़ता हुआ अधर्म धर्मको दबा लेता है। अधर्म और उसके साथ ही नरकद्वार काम, क्रोध, लोभकी वृद्धि होनेसे भूतल पर नाना प्रकारके ध्वंसकार्य उत्पन्न होते हैं। अन्नका अभाव, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वायुके उपद्रव, युद्ध, इत्यादि, इन सबका कारण मनका बिगड़ना है। मनकी ही उच्चता और नीचताके मनुष्योंकी दशाओंमें अन्तर हो जाता है। मानसपापोंके ही कारण अन्त्य जातिमें जन्म लेना पड़ता है। समाजमें जिस प्रकार पापकी उत्पत्ति हुई और लोगोंका मन बिगड़ा। चरकने ठीक ठीक बता दिया है। कुछ सम्पन्न लोगोंने श्रमसे बचनेके लिये संचय करना प्रारम्भ कर दिया। इस संचयसे लोभ बढ़ा। स्वयं श्रम न करके दूसरोंके श्रमसे अर्जित वस्तुपर अधिकाधिक अधिकार करनेकी लालसा बढ़ी। इसी प्रवृत्तिने अधर्म, पाप, अन्याय, नाना प्रकारके रोग और समाजकी विषमताको उत्पन्न किया। लोग सुमना न रहे। मनुने शुद्धियोंमें अर्थशुद्धिको सबसे बड़ा कहा है। मनकी पवित्रताका धनसे बड़ा सम्बन्ध है। संसारमें शान्ति फैलाने; रामराज्य स्थापित करने, जनताके नैतिक आदर्शको उन्नत करनेके सभी प्रयत्न निष्फल होंगे जबतक दूसरोंके श्रम-फलको हड़पना बन्द न किया जायगा। प्रत्येक व्यक्ति श्रम करे और अपने श्रमके पूर्ण फलका भोक्ता हो, जबतक यह व्यवस्था नहीं बनती लोग सुमना नहीं होंगे। फलतः जब लोभ है, मन बिगड़ा हुआ है– अनाचार, अत्याचार, लूट, हत्या, आक्रमण सब इसी प्रकार होते रहेंगे।

कितने आश्चर्यकी बात है कि हम अपने पतनपर चिल्लाते भी हैं और पतनकी ओर दौड़ते भी हैं। शरीरकी परवाह है मनकी नहीं। भौतिकताकी परवाह है– अध्यात्मिकताकी नहीं। बच्चा यदि दस बार झूठ बोले हम हँसकर टाल देते हैं, पर यदि एकबार चोरी करे तो हम उसे कठोर दण्ड देते हैं। सरकार चोरी, व्यभिचारके लिये तो सजा देती है, पुलिस रखती है, पर समाजमें उनके हेतु स्वयं पैदा करती है। आप बाजारमेंसे निकल जाइये नये पुराने अखबारों और पुस्तकोंके ढेर देखिये और फिर सोचिये कि कितना श्रम और सम्पत्ति लोगोंके दिमाग और दिलको दूषित करनेवाले कूड़ा करकटके निर्माणमें खर्च हो रही है। दिल बहलाव और मनोरंजनके लिये सिनेमा, नाटक, उपन्यास, खेलादिकों छोड़ अन्य कोई साधन ही मानो नहीं रह गया है। जनसाधारण पेटके लिये जो तोड़कर काम करना और अपनी गाढ़ी कमाईका अधिकांश भाग फिजूलमें खर्च करना ही जानता है। आजके जन जीवनमें मनपर ध्यान देनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। योगके नामपर जो बड़े बड़े शहरोंमें योगाश्रम खोलकर ठगी चल रही है वह पतनकी सीमा पार कर गई है।

मनके बिगड़नेमें दूसरा हेतु यह भी है कि समाजमें शक्ति और प्रतिष्ठाका सन्तुलन ज्ञानके हाथमें न होकर धनके हाथमें चला गया है। और तो और हम यह भी तो भूल गये हैं कि ज्ञान होता क्या है? ज्ञान भी आज ज्ञानका वेश धारण किये हुए अज्ञानकी वृद्धि कर रहा है। पढ़िये आप 'भगवान् उवाच' श्रीमद्भगवद्गीताके इन वचनको–

> अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
> आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
> इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
> जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
> असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
> नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
> मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
> विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
> अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
> एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥ अ. १३

दम्भ और मानसे रहित होना; निर्वैरता, सरलता, सहिष्णुता, तन और मनकी पवित्रता, आत्मसंयम, आचार्यकी पूजा–भावना, विषयोंमें वैराग्य, इष्टनाश और अनिष्टकी प्राप्तिमें समचित्त होना, पदार्थोंका यथार्थ बोध, आसक्तिका न होना, ईश्वरमें अनन्यभक्ति यह ज्ञान है और इसके अतिरिक्त अन्य बातें अज्ञान है।

*

वस्तुतः यही ज्ञान है, जो उभयलोकमें हमारी उन्नति करता है। आजकलकी शिक्षामें इन बातोंपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। फलतः साक्षर राक्षस सिद्ध होते जा रहे हैं। पुस्तकोंकी शिक्षाका क्या मूल्य यदि दम्भ, मान, कपट आदि पाशवगुणकी वृद्धि हुई। दुनियामें पढे लिखे न हों तो काम चल सकता है, सुखशान्तिको हानि नहीं पहुँच सकती, परन्तु सुमना - सुशील, सद्गुणी, भद्र मनवाले पुरुषोंके अभावसे यह जगत् भयंकर नरक बन जायगा। शिक्षा+शीलका योग ही शिक्षा है। ऋषि दयानन्दने सत्यार्थ प्रकाशमें स्वमन्तव्यामन्तव्य २२ में लिखा है- ' शिक्षा '- जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादिकी बढती होवे और विद्यादि दोष छूटें उसे शिक्षा कहते हैं। इसी- लिये वेदारम्भ संस्कारमें — वेदमधीष्व- (वेद पढो) के साथ ही ब्रह्मचारीको क्रोधानृते वर्जय। मैथुनं वर्जय। अत्यन्त स्नान अंजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभय- शोकान् वर्जय। प्रतिदिनं सन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनो- पासनायोगाभ्यासाश्चित्यमाचर (असत्याचरण, क्रोध, मैथुन, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोकको छोड दे। अत्यन्त स्नान, अतिभोजन, अतिनिद्रा, अति जागरणका त्याग कर। ईश्वर- की उपासना प्रतिदिन किया कर। - आदि बातोंकी शिक्षा दी जाती है। इसी ज्ञानके लिये आचार्य नाचं ते शुन्धामि, ॥ यजु० ॥ इस वेदमंत्रके अनुसार उपनीत शिष्यको सत्या- चरण, सद्गुणोंका ग्रहण दुर्गुणोंका त्याग, इन्द्रियदमन, धर्माचरण, विद्याकी उन्नति और ईश्वरोपासनाकी शिक्षा प्रारम्भमें ही देता था। इसीलिये मनुने लिखा— आचारः परमो धर्मः और—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

यदि इन्द्रियसंयम नहीं, मनमें भद्रभावना नहीं, विचारोंमें अत्यन्त दुष्टता आ गई है तो वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, व्रत, तप कोई भी फलदायक नहीं हो सकता।

इससे यह बात तो स्पष्ट है कि मनुष्योंको सुमनाः बनानेके लिये आजकी शिक्षा प्रणालीमें आमूल चूल परिव- र्तनकी आवश्यकता है। शिक्षाके साथ शील सदाचारका समन्वय आवश्यक है। यदि ऐसा न हुआ तो अंग्रेजी कवि कोपर Cowper के शब्दोंमें स्कूलोंसे पढे लिखे मूर्ख निकलते रहेंगे, अविद्या दौडती फिरेगी, शिक्षाका भार माँ- बापका खून चूसता रहेगा और ये स्कूल निरे ' धार्मिक स्वांग ' बने रहेंगे—

But Discipline at length,
O'er looked and unemployed, grew sick and died. Then study languished, emulation slept, and virtue fled. The school became a secne of solemn farce, where ignorance on stilts, His cup well lined with logic not his own, with parrot tongue performed the scholar's part, proceeding soon a graduated dunce. A dissolution of all bonds ensued, and such expense as pinches parents blue, and mortifies the liberal hand of looc, Is squandered in persuits of idle sports and vicious pleasures.

मनुष्योंके मनको ' सु '' शिव ' बनानेके लिये जहाँ शिक्षामें शीलका समन्वय आवश्यक है वहाँ आज जो धनका सर्वातिशायी प्रभुत्व भी है, उसे भी समाप्त करना होगा। यह सच है कि धनका मानवजीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता, पर यह भी सच है कि वही सब कुछ नहीं है, लक्ष्मीका वाहन उल्लू है, धन अनेक अनर्थोंकी जड है, वह अन्धा है, अविवेकी है, उसके हाथमें नेतृत्वकी बागडोर देना आजकी भाँति सदाके लिये विनाशको आमन्त्रण दिये रहना है। नचिकेताने यमको सत्य ही कहा था—

न हि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः॥

मनुष्य धनसे तृप्त नहीं हो सकता। याज्ञवल्क्य जब परिव्राजक होने लगे तब उन्होंने अपनी सम्पत्तिका बँटवारा दोनों पत्नियोंमें कर देना चाहा। मैत्रेयी सत्त्व प्रकृति की थी। उसने पूछा— यदि सारी पृथिवी धनधान्यसे परि- पूर्ण मेरे पास हो तो क्या मैं अमृता हो जाऊँगी? तब याज्ञवल्क्यने जो उत्तर दिया वह स्मरणीय है—

यथोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृत- त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति॥ बृहदा० ५।४॥

जैसे धनवानोंका विलासमय जीवन होता है, वैसा तेरा जीवन हो सकता है, धनसे अमृतत्वकी आशा नहीं की जा सकती।

सचमुच धन हमें भोगकी सामग्री दे सकता है, शक्ति नहीं। शक्ति तो जितेन्द्रियतासे ही आयेगी। धन, दम्भ, लोभ, मान, ईर्ष्या, भय, कलहकी सृष्टि कर सकता है, सुख, शान्ति, करुणा, सत्य, शम, दमकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। महर्षि व्यासने लिखा है— प्राणियोंको बिना कष्ट पहुँचाए द्रव्यार्जन नहीं हो सकता। इसलिये समाजकी शक्तिका सन्तुलन, उसका नेतृत्व तपत्याग युक्त ज्ञानके हाथमें होना चाहिये। तभी सौमनस्य लोगोंमें पनप सकेगा।

सौमनस्य और मादक पदार्थका सेवन-दोनों परस्पर विरोधी बाते हैं। शराब और तम्बाकूके रूपमें मादक द्रव्योंने भारतवर्षकी बहुसंख्यक जनताको अपने पंजेमें फसा लिया है। तम्बाकूके बारेमें 'स्वास्थ्य और जीवन' बम्बई अप्रैल १९५० के अंकमें लिखा है—

१. यह वैज्ञानिक तौरसे सिद्ध किया जा चुका है कि तम्बाकू शरीरकी प्रगतिको रोकती है और साथ ही शारीरिक और मानसिक क्षमताको भी क्षीण करती है। अन्तमें यह नैतिक पतनकी ओर ले जाती है और मनुष्यका सर्वनाश करती है।

२. तम्बाकूमें उन्नीस ऐसे वीस होते हैं जिनका प्रभाव भयंकर होता है। निकोटिन इन सबमें मुख्य है। दूसरे विष जैसे Prussic Acid, Carbon Monoxide, Pyridine और Furfaral थोड़ी मात्रामें भी अति ही भयकर है, जिनके हानिकारक प्रभावसे तम्बाकू पीनेवाला किसी तरह बचनेकी आशा नहीं कर सकता।

३. तम्बाकूका विष मस्तिष्ककी क्षमताको दस प्रतिशत कम कर देता है और मस्तिष्कके कार्य करनेकी योग्यताको भी शक्तिहीन कर देता है, बुद्धिपर परदा डाल देता है और स्मरणशक्तिको भी क्षीण व निर्बल बना डालता है। सोचनेकी तीव्रता और मानसिक एकाग्रताकी योग्यता भी निर्बल हो जाती है। नस-मांस-पेशी नियंत्रण और शारीरिक सूक्ष्मताएं भी कमी हो जाती है। निकोटिनका नसोंके केन्द्रिय स्थानोंपर भीषण असर होनेसे मस्तिष्कके सेल खराब हो जाते हैं और कंपकंपी, ऐंठन और चक्करके आक्रमण होते हैं।

४. तम्बाकूका सबसे बुरा प्रभाव रक्तकी संचारप्रणाली पर पड़ता है। इससे नाड़ीकी गतिमें तेजी, हृदयकी धड़कन, हृदयप्रदेशमें फाकन्, धड़कन और क्रूशकी उत्पत्ति होती है। यह मानी हुई बात है कि तम्बाकू पीनेवालेका हृदय तेज और अनियमित कार्य करता है।

५. निकोटिन आँखकी नसमें खराबी उत्पन्न कर देता है और दृष्टिमें धुंधलेपनके कारणोंमेंसे यह एक है।

६. तम्बाकू कानके नसोंको शिथिल कर देती है जिसका परिणाम कम सुनना है।

७. तम्बाकू निःसन्देह पेटके घाव बनानेमें सहायता देनेका एक आवश्यक अंग है। मुँहका नासूर तम्बाकू पीने व चबानेसे हो सकता है जब कि फेफड़ोंका नासूर, बहुतोंका मत है कि सिगार और सिगरेट पीनेके कारणसे होता है।

८. तम्बाकूका स्त्रियोंके ऊपर निश्चित कुप्रभाव पड़ता है। यह बाँझपनके कारणोंमेंसे एक है। तम्बाकू पीनेवाली स्त्रियोंमें गर्भपात भी अधिकतासे होते हैं और ऐसी स्त्रियोंके बच्चे शारीरिक और मानसिक रूपसे पिछड़े और दुर्बल रहते हैं और इन स्त्रियोंमें बच्चोंके मरनेकी संख्या भी अधिक होती है।

ऐसी भयंकर वस्तु तम्बाकूका हुक्का, बीड़ी, सिगरेट और अनेक छोटे छोटे रूपोंमें समस्त देशमें व्यापक प्रचार है। फिर हम स्वस्थ मन और स्वस्थ तनवाले नागरिक जनोंकी आशा किस प्रकार कर सकते हैं?

यही पत्र आगे लिखता है—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लोग तम्बाकूके आदी होते हैं वे दूसरे दोषोंमें भी फंस जाते हैं। मदिरा और तम्बाकू दोनोंका लगभग साथ है। मदिरा भी उतनी ही नशीली है जितनी तम्बाकू। वैज्ञानिक रीतिसे सिद्ध किया जा चुका है कि मदिराका अति हानिकारक प्रभाव मस्तिष्क और रीढ़के मेरुदण्डपर होता है। यह नसों और मस्तिष्कको शिथिल कर देती है। समस्त विशेष इन्द्रियां जैसे दृष्टि, सुनने, सूंघने, स्वाद और छूनेकी शक्तियां सुस्त हो जाती हैं। मदिरा हृदय-कार्यमें बाधा डालती है, हृदय मांसपेशीको हानि पहुँचाती और रक्तके दबावकी ओर ले जाती है। मदिराके आरम्भिक प्रभावोंमेंसे एक दृष्टिको निर्बल करना है। तम्बाकू, जुआ, वेश्याबाजी और इन्हींकी भाँति दूसरी बुरी बातोंका मदिरासे अत्यन्त निकट सम्बन्ध है।

शेक्सपियरने अथेलो नाटक (अंक २ दृश्य ३) में मदिरा और तम्बाकूके बुरे प्रभावको इस प्रकार प्रकट किया है—

"ओह यह कैसी खेदकी बात है कि मनुष्य अपनी मति हरणके लिये अपने मुखोंमें शत्रुको डालते हैं और यह कि हम हर्ष, आनन्द और रंगरलियां मनाते हुये और वाह वाहके साथ अपने आपको पशुओंमें बदल दें। बुद्धिमान् मनुष्य होते हुये भी धीरे धीरे मूर्ख बनें और तुरन्त ही पशु बन जाएँ।"

इसी अंकमें डब्ल्यू. ए० कैलकाडने लिखा है— मदिराके व्यापारसे अधर्म, पाप, व्यभिचार और हिंसक कार्योंको बडी सहायता मिलती है। मदिराका व्यापार अधिकतर मात्रामें हत्याओं, पत्नियोंकी मार-पीट, तलाकों, अकस्मात् घटनाओं तथा व्यवसायोंकी असफलताका उत्तरदायी है।

मदिराका व्यापार केवल धनहानि, मनुष्यत्वके नाश और परिवारोंकी दुर्दशापर ही फलता फूलता है।

मदिरा एक प्रकारका विष है। वह मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक और नैतिक क्षेत्रोंमें निर्बल कर देती है और वह पागलपनके मुख्य कारणोंमेंसे एक है।

मदिराके व्यापारके परिणामस्वरूप अदालतें फौजदारीके मुकद्दमोंसे, बन्दीगृह बन्दियोंसे, अस्पताल रोगियोंसे, अनाथालय अनाथबालकोंसे एवं पागलखाने पागलोंसे भर जाते हैं।

इसी पत्रिकाके जून १९५० के अंकमें पृष्ठ ८ पर लिखा है—

वैज्ञानिक अनुसन्धानने प्रकट कर दिया है कि भ्रष्टव्यक्ति ढीठ तथा धूर्त तब ही होता है जब वह मदिराको अपने रक्तमें सचार करते हुए अनुभव करता है। अनेक निरीक्षणों तथा अध्ययनोंके फल-स्वरूप मानसिक रोगोंके चिकित्सक इस बातको घोषित करनेमें सहमत हुये हैं कि व्यभिचार सम्बन्धी अपराधोंकी अत्यधिक प्रतिशत संख्या दुर्बल मस्तिष्कवाले तथा भ्रष्ट प्रकृतिवाले व्यक्तियों द्वारा हुये थे जब कि वे नशेमें थे। जितनी अधिक मदिराका सेवन किया जायगा उतना ही मानसिक विकार बढता जायगा। मदिरा मानसिक भ्रष्टताको बढाती है और व्यसनी जो लगातार पीता रहता है मानसिक और दण्डनीय चालाकोंके दयनीय बहुत-से सहवासियोंके भाग्यका साथी बन जाता है।

तम्बाकू और मदिरा मनको कितना भ्रष्ट करनेवाले हैं, यह उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है। जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि प्रसिद्ध ही है। अतः वहाँ राज्य का कर्तव्य है कि लोगोंको सुखी, शान्त, सदाचारी बनानेके लिये प्रत्येक प्रकारके मादक पदार्थोंका सेवन और विक्रय बंद करे, वहां प्रत्येक व्यक्तिका भी जो सुमनाः बनना चाहता है कर्तव्य है कि वह मादक पदार्थोंके पास भी न फटके।

प्रस्तुत लेख मनके 'सु' और 'दुर्' होनेसे ही सम्बन्ध रखता है, अतः मनकी गति-विधियों, भावनाओं और उसके स्वरूपका विश्लेषण मैं नहीं करूंगा, परन्तु मनकी समनस्कताका प्रभावक्षेत्र विस्तृत है, यह उसकी सभी प्रकारकी क्रियाओं, भावनाओं और जन्मजन्मान्तरको अपनेमें समेट लेता है। योगकी आधारभूमि चित्त है। पुनर्जन्म, कर्म मीमांसा, वासनाचक्र, सुखदुःखकी अनुभूति- ये सब मनकी अपेक्षा रखते हैं। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् कहकर उपनिषत्ने परमात्मदर्शनमें तथा अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते— कहकर मनुने धर्मज्ञानमें अशान्तचित्त व्यक्तिको अधिकारी ही नहीं माना है। मैत्रायणीय आरण्यक ६।३४ में लिखा है—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यते।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यते ॥ १ ॥
स्वयोनाउपशान्तस्य मनसः सत्यकामतः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ २ ॥
चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ॥ ३ ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥ ४ ॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ५ ॥
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ ६ ॥
लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ७ ॥
तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ८ ॥
समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ ९ ॥
अपामापोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्।
एवमन्तर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते ॥ १० ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तिः मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥११॥ इति

भाव यह है कि मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण मन है। विषयोंमें आसक्त मन बन्धका हेतु है। निर्विषय मन मोक्षका हेतु है। चित्त ही संसार है। जैसा मनुष्यका मन होता है वह तद्रूप हो जाता है। अतः चित्तको निर्मल बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। चित्तके विमल होनेपर शुभाशुभ कर्मोंका नाश हो जाता है और आत्मा सुखी हो जाता है। प्राणियोंका चित्त जैसे विषयोंमें आसक्त है उसी प्रकार यदि भगवान्‌में आसक्त हो तो बन्धनसे कौन न छूट जाय? जैसे घटाकाश महाकाशमें मिलनेपर पृथक् प्रतीत नहीं होता अथवा जैसे जलमें जल मिल जाता है इसी प्रकार जब व्यष्टिचित्त समष्टिचित्तमें मिल जाता है तब वह मुक्त हो जाता है।

मन यदि सु या दूर हो, शुद्ध या अशुद्ध हो, विक्षिप्त हो या एकाग्र हो तो इसके सुखदुःख या दुष्टदुःखका क्या परिणाम होता है, इसके लिये योगदर्शन व्यासभाष्यकी निम्न पङ्क्तियोंको पढ़ें—

चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्, प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति, तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति, तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति, तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। (१।२)

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः (जात्यायुर्भोगाः), तदनुगुणा वासना आशयः,– ते च मनसि वर्तमानाः। (१।२४)

नवान्तराया श्चित्तस्यविक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति एतेषामभावे न भवति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः, व्याधि.– धातुरसकरणवैषम्यम् स्त्यानम्— अकर्मण्यता चित्तस्य, संशयः– उभयकोटिस्पृग् विज्ञानं स्यादिदं नैवं स्यादिति, प्रमादः– समाधिसाधनानामभावनम्, आलस्यम् कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः, अविरतिः– चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः, भ्रान्तिदर्शनम्— विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वम् समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थितत्वं— यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि तदवस्थितं स्यात्— इत्येते चित्तविक्षेपा नवयोगमला, योगप्रतिपक्षाः, योगान्तराया इति विधीयन्ते ॥ १।३१ ॥

दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकम् च येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्, दौर्मनस्यम्— इच्छाभिघाताच्चेतसो क्षोभस्तः, यदङ्गानि एजयति कम्पयति तद् अङ्गमेजयत्वम्, प्राण यद्बाह्यवायुमाचामति स श्वासः, यत् कोष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः एते विक्षेपसहभुवो=विक्षिप्त चित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ १।३१ ॥

भाव यह है– चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिशील होनेसे तीन गुणोंवाला है। यही चित्त तमोगुण युक्त हो तो अधर्म-अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य युक्त होता है, रजोगुणयुक्त हो तो धर्म-ज्ञान-वैराग्यादिसे युक्त होता है। रजस्तमस्‌से रहित होनेपर धर्ममेघसमाधिसे युक्त होता है। अविद्यादि पञ्चक्लेश, शुभाशुभ कर्म, उनके फलजाति-आयु और भोग, तथा तदनुकूल वासनाएं मनमें होती है।

व्याधि, चित्तकी अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषयतृष्णा, विपर्ययज्ञान, समाधिभूमिकी प्राप्ति न होना या प्राप्त होनेपर भी वहां चित्तका स्थिर न होना– ये सब योगके विघ्न हैं और चित्तके विक्षेप हैं। चित्तवृत्तियोंके साथ ही ये होते हैं, उनके अभावमें नहीं होते।

चित्त विक्षिप्त होनेसे ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख, चित्तका क्षोभ, अङ्गोंकी गति-कम्पन, श्वास-प्रश्वास होते हैं।

जो लोग दुर्मना हैं—काम, क्रोध, लोभ, दर्प, अहंकार, बल, दम्भ, हठ, अज्ञान-नास्तिकता-मोहमें फसे हुए हैं श्रीमद्‌भगवद्गीताके शब्दोंमें वे असुर हैं। प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गका उन्हें बोध नहीं। शौच-सत्य-आचार उनमें नहीं है। जगत्‌को ईश्वरका बनाया नहीं मानते। इस प्रकार के अल्पबुद्धि लोग जो संसारके लिये अहितकारी हैं मिथ्याबोधका अवलम्बन कर संसारके नाशके लिये उग्र कर्म करने पर उतारु हो जाते हैं (आजकलकी दशापर विचार कीजिये। क्या समाजमें प्रवृद्ध आसुरभाव ही संसारसंहारका हेतु नहीं?) कभी पूर्ण न होनेवाले कामका आश्रय करके, पाखण्ड, दम्भ, अभिमान, मदसे युक्त, मोहसे असत्य बातोंको भी पकड़कर अपवित्राचरण करते हैं। ये नाना प्रकारकी सैकड़ों इच्छाओंसे युक्त होते हैं और कामभोगके लिये

अन्यायसे अर्थसञ्चय करनेकी चेष्टा करते हैं। वे सोचते हैं— आज मैंने यह पा लिया, इस मनोरथको भी पूर्ण करूंगा। यह तो मेरे पास है ही, यह धन भी मेरे पास हो जायगा। मैं धनी हूं, प्रभु हूं, सुखी हूं, बलवान्, कुलवान् भोगी हूं— मेरे सदृश दूसरा कौन है? इत्यादि। (भगवद्गीता १६।६-२०)

यह तो सौमनस्यकी बात हुई। पाठक देखेंगे कि वेदके एक शब्दमें कितना गूढ ज्ञान और संकेत भरा हुआ है। सांमनस्यके लिये मनके एक होनेके लिये ऋषि दयानन्द कहते हैं—

जबतक एक मत, एक हानि लाभ, एक सुखदुःख परस्पर न माने तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है। (स. प्र. ३९१ श. स०)

मनुष्य उसीको कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्योंके सुख दुःख और हानिलाभको समझे। (स. प्र. ७९० श. स०)

जो सुमनाः है वही संमनाः बन सकता है। संमनाः— मनका एक होना सुखदुःखकी अनुभूतिका एकसा अनुभव करना, प्राणिमात्रमें आत्मदर्शन करना सीखाता है। यह मानवताका पाठ है और है आध्यात्मिकताकी उच्च भूमि— जहां पहुंचकर न विचिकित्सा रहती है, न मोह और न शोक—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु.४०।६,७

संमनाः जहां अनुभूतिकी एकताको बताता है, वहां विचारोंकी एकताको भी। विचारोंकी भिन्नता अनैक्यको जन्म देती है, ततः असन्तोष, दुराग्रह, संघर्षकी उत्पत्ति होती है। परिवारोंमें मन समान न हो तो कलह मचता है। विद्यालयोंमें संमनाके अभावमें हडताल होती है। नाना प्रकारकी पार्टियोंका जन्म और उनके कारण देशकी जनतामें बुद्धि व्यामोह और उपद्रव इस संमनाः के अभावमें ही होते हैं। वेदारम्भ संस्कारमें गुरुशिष्यसे तथा विवाह-संस्कारमें वर वधूसे इसीलिये कहता है—

मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु॥

संसारमें सभी समय समस्याएं एकसी होती हैं, यद्यपि उनका बाह्यरूप भिन्न होता है। सामान्यतः मनुष्य बहुत कुछ अदूरदर्शी और उतावला है। वह भूल करनेवाला है। इसीलिये नैगम पथ, वेदमार्ग और शास्त्रपथसे च्युत न होनेका हमारे पूर्वजोंने बारबार आग्रह किया है। वेदमार्गका आश्रय लेनेसे हम भूलों और आपत्तियोंसे बच सकते हैं तथा प्रत्येक समस्याका निश्चित सर्वसम्मत हल पा सकते हैं। आज भी वेदपथका अतिक्रमण ही हमें दुःखी कर रहा है। भगवान् कृष्णके शब्दोंमें—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६।२२)

जो शास्त्रविधिको छोडकर स्वच्छन्द आचरण करता है उसे न सफलता मिलती है, न सुख और न उत्तम गति ही। इसलिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ॥

कार्याकार्यका निर्णय करनेमें सदा शास्त्रको प्रमाण समझना चाहिये।

इसके अनुसार भगवद्वाणी श्रुतिका आदेश मानते हुए परिवार और समाजमें समना होना चाहिये वहां व्यक्तिगत जीवनमें सुमनाः बननेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। संमनाः और सुमनाः बन जानेपर हमारे पास ही स्वर्ग होगा, शान्ति होगी, सुख होगा, शक्ति होगी तथा स्वयं अपवर्ग हाथ फैलाकर हमारे सामने उपस्थित होगा।

अन्तमें अथर्व श्रुतिके निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा प्राणिमात्रमें 'सांमनस्य' और 'सौमनस' की कामना करता हुआ परमेश्वरसे प्रार्थना करता हूं—

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि॥ १३।१।९

प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम॥ १९।५५।४

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वय सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥
६।५५।३

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥
१८।१।५८

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २३

[गताङ्कसे आगे]

मनुष्यमें जो ये दूसरी पुरुषशक्तियां (मन, प्राण, शरीर) हैं इनका भी सच्चा स्वरूप छिपा रहता है; परन्तु ये अपने अस्थायी व्यक्तित्वोंको सामने उपस्थित करती हैं जिनसे कि हमारे बाह्य व्यक्तित्वका ग्रहण होता है और जिनके सम्मिलित बाह्य कर्मको और अवस्थाके प्रतीयमान रूपको हम अपना स्वरूप मानते हैं। यह अन्तस्तम तत्त्व भी हममें चैत्य पुरुषका रूप धारण करके एक चैत्य व्यक्तित्वको सामने उपस्थित करता है; यह चैत्य व्यक्तित्व एक जन्मसे दूसरे जन्ममें परिवर्तित और परिवर्धित होता रहता है; कारण यह जन्म एवं मृत्यु और मृत्यु एवं जन्मके बीचमें यात्रा करता है; हमारे प्रकृतिके बने अंग इसके केवल बहुविध और परिवर्तनशील वस्त्र हैं।

चैत्य पुरुष प्रारंभमें मन, प्राण और शरीरके द्वारा केवल गुप्त, आंशिक और अप्रत्यक्ष कर्म ही कर सकता है; कारण चैत्य पुरुषकी आत्माभिव्यक्तिके लिए प्रकृतिके इन अंगोंको उन्नत करना, इनका विकास करना आवश्यक है, और जबतक इनका विकास न हो जाय तबतक दीर्घकालतक उसे अवरुद्ध रहना पड़ता है। अज्ञानी मनुष्यको ब्रह्मचैतन्यकी ज्योतिकी ओर ले जाना इसका उद्देश्य है जिसके लिये वह यहां भेजा गया है; इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए यह अज्ञानावस्थामें होनेवाले सभी अनुभवोंके सारको ग्रहण करता है जिससे कि वह उसे प्रकृतिमें अन्तरात्माकी उन्नतिका एक केन्द्र बना सके; अनुभवके शेषभागको वह उन उपकरणोंकी भावी उन्नतिके लिए उपादान-सामग्री बनाता है जिनका कि उपयोग उसे उस समयतक करते रहना होता है जबतक कि वे भगवान्के ज्योतिर्मय यन्त्र नहीं हो जाते।

यही गुह्य चैत्य पुरुष हमारे भीतर सच्ची मूल सदसद्विवेक-शक्ति है जो कि नैतिकतावादीकी निर्मित और प्रचलित सदसद्विवेक-शक्तिकी अपेक्षा अधिक गहरी है; कारण यह पुरुष ही हमें सदा सत्य, न्याय, सौन्दर्यकी ओर, प्रेम, सामंजस्य और हममें जो कुछ भी दिव्य संभावना है उसकी ओर प्रवृत्त करता है, और जबतक ये वस्तुयें हमारी प्रकृतिकी प्रधान आवश्यकतायें नहीं हो जाती तबतक वैसा करता रहता है। हममें वह चैत्य व्यक्तित्व ही है जो कि सन्त, साधु और ऋषिके रूपमें पुष्पित होता है, जब यह अपने पूर्ण बलको प्राप्त कर लेता है तब यह हमारी सत्ताको आत्मा और परमात्माके ज्ञानकी ओर, परमगम्य परमश्रेय, परमसौंदर्य, परमप्रेम और परमानन्दकी ओर, दिव्य उच्चताओं और विशालताओंकी ओर प्रवृत्त कर देता है और हमें आध्यात्मिक सहानुभूति विश्वात्मकता और एकत्वके स्पर्शके लिए खोल देता है।

दूसरी ओर, जहां चैत्य व्यक्तित्व दुर्बल, अपरिणत या अल्पपरिणत होता है वहां हममें अधिक उत्तम अंश (गुण) और अधिक उत्तम कर्म नहीं होते, अथवा यदि होते भी हैं तो उनकी शक्ति कम होती है; चाहे मन शक्तिशाली और प्रतिभाशाली हो, प्राणिक भावावेगोंवाला हृदय दृढ, बलवान् और प्रभुत्ववाला हो, प्राण-शक्ति शासन करनेवाली और सफल हो, शरीर समृद्ध, सौभाग्यशाली और देखनेमें शासक और विजयी हो, किन्तु फिर भी अधिक उत्तम गुण और कर्मोंका अभाव या अप्रभाव रहता है। ऐसी अवस्थामें बाह्य सकामात्मा, कृत्रिम चैत्य व्यक्तित्व शासन करता है; यह चैत्य पुरुषकी सूचना और अभीप्साको भ्रान्तरूपमें ग्रहण करता है, और हम इसके उस भ्रान्त ज्ञानको, इसके भावों और आदर्शोंको, इसकी कामनाओं और तृष्णाओंको भ्रमसे

यथार्थ आत्म-तत्व और अपनी अध्यात्म-सत्ताका धन समझते हैं। *

यदि गुह्य चैत्यपुरुष ऊपरी तलपर और सम्मुख आ जाय और सकामपुरुष स्थान ग्रहण करके मन, प्राण और शरीरकी इस बाह्य प्रकृतिका संचालन स्पष्टतया और पूर्णतया करे, न कि आंशिक रूपमें और पर्देके पीछे रहकर, तो मन, प्राण और शरीरको सत्य, न्याय्य और सुन्दरके अध्यात्म सांचेमें ढाला जा सकता है और अन्तमें सम्पूर्ण प्रकृतिको जीवनके यथार्थ लक्ष्यकी ओर, उच्चतम विजयकी ओर, अध्यात्म सत्तामें आरोहणकी ओर प्रवृत्त किया जा सकता है।

परन्तु ऐसी अवस्थामें यह प्रतीत हो सकता है कि इस चैत्यपुरुषको, अपने भीतर इस सच्चे अन्तरात्माको सम्मुख लानेपर और वहां नेता और शासक बनानेसे हम अपनी प्राकृतिक सत्ताकी उस सम्पूर्ण परिपूर्णताको प्राप्त कर लेंगे जिसे कि हम खोज रहे हैं और आत्म-साम्राज्यके द्वारोंको खोल देंगे और यह भी युक्ति भले प्रकारसे दी जा सकती है कि दिव्य भाव या दिव्य पूर्णताकी प्राप्तिमें हमें ऋत्-चित् या अतिमनके हस्तक्षेपकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। तथापि हमारी सत्ताके पूर्ण रूपान्तरके लिए चैत्य रूपान्तर एक आवश्यक अवबन्ध है, किन्तु विशालतम आध्यात्मिक परिवर्तनके लिए जिसकी आवश्यकता है वह इतना ही नहीं है। कारण, प्रथम, चूंकि यह प्रकृतिस्थ व्यक्तिगत अन्तरात्मा (जीव) है, इसलिये यह हमारी सत्ताके छिपे हुए दिव्यतर स्तरोंके लिये अपने आपको खोल सकता है और उन स्तरोंके प्रकाश, शक्ति और अनुभवको ग्रहण कर सकता है। परन्तु अपने आत्माको इसकी विश्वात्मकता और परात्परतामें अधिकृत करनेके लिए हमारे लिए ऊपरसे एक दूसरे, आध्यात्मिक रूपान्तरकी आवश्यकता है।

चैत्यपुरुष स्वयं अपने प्रयाससे, एक विशेष भूमिकापर सत्य, शुभ और सौन्दर्यकी रचना करके संतुष्ट हो सकता है और वहां ठहर सकता है, इससे अगली भूमिकापर वह निश्चेष्ट भावसे विश्वात्माके आधीन वैश्वसत्ता, चेतना, शक्ति, आनन्दका दर्पण हो सकता है परन्तु उनका पूरा भागीदार या अधिकारी नहीं हो सकता। यद्यपि वह ज्ञान, भावावेग और इन्द्रिय-ज्ञानमें विश्व-चैतन्यके साथ अधिक समीपतासे और हर्षोन्मादके साथ युक्त होकर केवल गृहीता और निष्क्रिय हो सकता है, किन्तु वह जगतमें प्रभुत्व और कर्मसे रहित होगा। अथवा वह विश्वके मूलमें रहनेवाले कूटस्थ (निष्क्रिय) आत्माके साथ तादात्म्य करके आन्तरिक रूपमें जगत्‌के व्यापारसे पृथक् रह सकता है; वह अपने व्यक्तित्वको अपने मूल कारणमें लीन करके उस कारणको प्राप्त हो सकता है; ऐसी अवस्थामें, यहां आनेका जो इसका चरम उद्देश्य था— प्रकृतिको भी उसके दिव्य भावकी प्राप्तिमें उसका नेतृत्व करना, इसके लिए उसमें न इच्छा रहेगी और न शक्ति। कारण चैत्यपुरुष प्रकृतिमें आत्मा, ब्रह्मसे आया है और वह फिर प्रकृतिसे आत्माकी शान्ति और आध्यात्मिक परम अचलताके द्वारा शान्त-निश्चल ब्रह्मको फिर लौट सकता है।

इसके अतिरिक्त, यह ब्रह्मका सनातन अंश+ है, अतः यह अंश अपने दिव्यपूर्णसे अपृथक् है, क्योंकि यह नियम है कि अनन्तका अंश उससे पृथक् नहीं हो सकता; वस्तुतः यह अंश स्वयं ही वह पूर्ण है, केवल अपने बाहरी रूपमें अपने बाहरी पृथक् आत्मानुभवमें पृथक् है। यह अपने इस यथार्थ स्वरूपके प्रति उद्‌बुद्ध हो सकता है और व्यक्ति-

---

* चैत्य शब्द हमारी साधारण भाषामें अधिकतर सच्चे चैत्यपुरुषकी अपेक्षा इस सकाम-पुरुषके लिये प्रयुक्त होता है। इससे भी अधिक शिथिलताके साथ इसका प्रयोग मनोवैज्ञानिक या दूसरे असाधारण या अतिसाधारण स्वभाववाली उन घटनाओंके लिए होता है जो कि हमारे अन्तस्तलीय आन्तरिक मन, आन्तरिक प्राण, सूक्ष्म देहसे संबंध रखती हैं; ये लेशमात्र भी चैत्य पुरुषकी क्रियायें नहीं हैं। प्रेत-विद्याके पंडित कहते हैं कि आत्मा स्थूल शरीरमें प्रकट और अन्तर्धान किया जाता है; इन घटनाओंको यदि प्रामाणिक मान भी लिया जाय तब भी ये स्पष्टतया अन्तरात्माकी क्रियायें नहीं हैं और इनसे चैत्य पुरुषके अस्तित्व और धर्मपर कुछ भी प्रकाश नहीं पडता। इसकी अपेक्षा ये गुह्य सूक्ष्म भौतिक शक्तिके असाधारण कर्म हैं, यह शक्ति पदार्थोंके स्थूल शरीरकी साधारण स्थितिमें हस्तक्षेप करती है, उसे अपनी सूक्ष्म अवस्थामें ले जाती है और फिर स्थूल द्रव्यका रूप दे देती है।

+ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥

मय सत्ताका उसमें आपाततः निर्वाण, मज्जन करके उसमें लीन हो सकता है।

यह यहां हमारी अज्ञ प्रकृतिके समुद्रमें एक लघुकेन्द्र है; इसलिए उपनिषदोंने इसे मनुष्यके अंगूठेके समान परिमाणवाला (अंगुष्ठमात्र) कहा है; यह अध्यात्म अन्तः-प्रवाहके द्वारा अपना विस्तार कर सकता है और अपने हृदय और मनसे सम्पूर्ण विश्वके साथ अन्तरंग संसर्ग और एकत्व रखता हुआ उसके साथ तादात्म्य कर सकता है (सर्व भूतात्मभूतात्मा)। अथवा वह अपने सनातन सत्ताको जान सकता है और सदाके लिए उसकी समीपतामें, उसके साथ अविनाशी सायुज्यमें सनातनके प्रियतमके साथ सनातनके प्रेमीके रूपमें रह सकता है। यह स्थिति सभी आध्यात्मिक अनुभवोंमें अत्यन्त तीव्र सौन्दर्य और आनन्दसे युक्त है। ये सब हमारी अध्यात्म आत्मप्राप्तिकी महती और उज्ज्वल सिद्धियां हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यही अन्तिम सीमा और पूरी परिसमाप्ति हो, इससे अधिक भी संभव है।

कारण ये मनुष्यमें आध्यात्मिक मनकी सिद्धियां हैं। ये उस मनकी अवस्थायें हैं जो अपने ही स्तरपर रहता हुआ अपनेसे ऊपर आत्माके उज्ज्वल वैभवोंमें जाता है। मनकी उच्चतम भूमिकायें यद्यपि हमारी वर्तमान मानसिक अवस्थासे बहुत ऊपर है किन्तु वहां पहुंचकर भी मन अपने स्वधर्मके अनुसार विभागके द्वारा क्रिया करता है। यह ब्रह्मके पक्षोंको ग्रहण करके उनमेंसे प्रत्येकको इस प्रकार मानता है मानो वही ब्रह्मका पूरा स्वरूप हो; यह उनमेंसे प्रत्येकमें स्वयं अपनी परिपूर्णता पा लेता है। यह ब्रह्मके पक्षोंको एक दूसरेके विरोधियोंके रूपमें भी खड़ा कर देता है और इन विरोधियोंकी एक पूरी पंक्ति बना देता है। ये विरोधी इस प्रकार हैं– ब्रह्मकी निश्चल नीरवता और क्रियात्मकता विश्व-सत्तासे दूर अचल, निर्गुणब्रह्म और विश्वसत्ताका प्रभु सक्रिय सगुणब्रह्म, आत्मा और भूतानि, व्यक्तित्व रखनेवाला भगवान् पुरुष और निर्व्यक्तिक शुद्ध सत्। इस प्रकार विरोधी भावोंकी सृष्टि करके वह इनमेंसे एकसे अपने आपको पृथक् कर लेता है और दूसरेको एकमात्र सनातन सत्य मानकर उसमें आसक्त हो जाता है।

वह या तो पुरुष (व्यक्ति) को एकमात्र परमार्थतत्त्व मान सकता है या निर्व्यक्तिकको एकमात्र सत्य; वह प्रेमीको सनातन प्रेमकी आत्माभिव्यक्तिका केवल एक साधन मान सकता है अथवा प्रेमको प्रेमीकी केवल आत्माभिव्यक्ति मान सकता है; वह सत्ताओं (प्राणियों) को एक निर्व्यक्तिक सत्ताकी केवल सव्यक्तिक शक्तियां देख सकता है अथवा निर्व्यक्तिक सत्ताको एक सत्, अनन्त पुरुषकी केवल अवस्था देख सकता है। मनकी आध्यात्मिक सिद्धिका मार्ग, उसके उच्चतम लक्ष्यका मार्ग इन्हीं विभाजक रेखाओंके अनुसार जायगा। परन्तु आध्यात्मिक मनकी इस क्रियासे ऊपर अतिमानस ऋत्-चित्का उच्चतर अनुभव है; वहां ये विरोधीभाव लुप्त हो जाते हैं और सनातन सत्पुरुषकी परम और पूर्ण अनुभूतिकी समृद्ध संपूर्णतामें ये आंशिक भाव छूट जाते हैं। यही वह लक्ष्य है जिसकी हमने कल्पना की है; इसका अभिप्राय है अतिमानस ऋत्-चित्में आरोहण करके और अपनी प्रकृतिमें उसका अवतरण कराके अपनी सत्ताको यहीं (पृथ्वीपर मानवदेहमें) परिपूर्ण करना। चैत्य रूपान्तर ऊपर आध्यात्मिक परिवर्तनमें उठकर फिर अतिमानस रूपान्तरके द्वारा अतिक्रान्त, उत्थापित और परिपूर्ण किया जाता है। अतिमानस रूपान्तर चैत्य रूपान्तरको आरोहणके प्रयासके उच्चतम शिखरपर चढा देता है।

जिस प्रकार कि अभिव्यक्त ब्रह्मके दूसरे विभक्त और विरोधी भावोंमें पूर्ण सामंजस्य केवल अतिमानस-चेतना, शक्ति ही स्थापित कर सकती है, उसी प्रकार हमारी सदेह सत्ताके भीतर आत्म-स्थिति (आत्माकी अपने अध्यात्मभावमें स्थिति) और लौकिक क्रियात्मकता इन दो अवस्थाओंमें भी जो कि केवल अज्ञानके कारण आपाततः विरोधी जान पड़ती हैं, पूर्ण सामंजस्य केवल अतिमानस-चेतना-शक्ति ही स्थापित कर सकती है। अज्ञानावस्थामें प्रकृति अपनी मनोवैज्ञानिक क्रियाएं अन्तर्गूढ आत्माको केन्द्र बनाकर नहीं करती अपितु उसके स्थानपर आरूढ अहंकारको केन्द्र बनाकर करती है। जिस संसारमें हम रहते हैं उसके जटिल स्पर्शों, विरोधों, द्वन्द्वों और असंगतियोंके बीच हम अपने संबंधों और अनुभवोंको एक विशेष अहं-केन्द्रताके आधारपर एकसाथ बांधते हैं।

यह अहं-केन्द्रता वैश्व और अनन्तसे हमारी रक्षा करनेमें आधारशिलाका कार्य करती है। परन्तु अपने आध्यात्मिक

परिवर्तनमें हमें इस सुरक्षाका परित्याग करना होता है। अहंकारका विनाश हो जाता है और व्यक्ति अपने आपको विलीन हुआ पाता है; इस निर्व्यक्तित्वमें प्रारंभमें व्यवस्थित क्रियाके लिये कोई कुंजी नहीं है। इसका बहुत सामान्यतया यह परिणाम होता है कि मनुष्य अपनी सत्ताके दो भागोंमें विभक्त हो जाता है, भीतर आध्यात्मिक और बाहर प्राकृतिक। एक भागमें ब्रह्मकी अनुभूति रहती है और वह पूर्ण स्वतंत्रतामें प्रतिष्ठित होती है; दूसरे प्राकृतिक भागमें प्रकृतिकी पुरानी क्रिया होती रहती है, उसमें प्रकृतिके पूर्व-अन्तर्वेगके वश पुराने संस्कारोंके अनुसार यांत्रिक क्रिया होती रहती है।

यदि सीमित व्यक्तित्व पूरी तरह विलीन हो जाता है और पुरानी अहंकेन्द्रित व्यवस्था भग्न हो जाती है, तो बाहरी प्रकृति आपाततः असंगतिका क्षेत्र हो जाती है, यद्यपि भीतरी भाग आत्मज्योतिसे जगमगाता रहता है, ऐसी स्थितिमें हम बाहरी रूपमें जड, निष्क्रिय हो जाते हैं, जैसे हमको परिस्थितियां या शक्तियां चलाती हैं वैसे ही चलते रहते हैं किन्तु स्वयं चेष्टा नहीं करते (जडवत्), यद्यपि भीतरी चेतना सप्रकाश रहती है; अथवा हम बालक के समान (बालवत्) हो जाते हैं, यद्यपि भीतर पूर्ण आत्मज्ञान रहता है; अथवा विचार और कर्म असंबद्ध हो जाते हैं (उन्मत्तवत्), यद्यपि भीतरमें पूर्ण शान्ति और गंभीरता रहती है, अथवा जंगली और अव्यवस्थित मनुष्यके जैसे कर्म होते हैं (पिशाचवत्), यद्यपि भीतरमें आत्माकी शुद्धि और आत्मामें स्थिति रहती है।

अथवा यदि बाहरी प्रकृतिमें व्यवस्थित कर्म होता है तो वह उत्तम आहंकारिक कर्म ही होगा, जिसको अन्तःपुरुष साक्षी रूपसे देखता तो होगा किन्तु स्वीकार नहीं करता होगा; अथवा ऐसा मानसिक कर्म हो सकता है जो कि आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूतिको पूरीतरह अभिव्यक्त नहीं कर सकता, कारण मनके कर्ममें और आत्माकी स्थितिमें समान बल नहीं है। यदि सर्वोत्तम रूपमें, भीतरी ज्योतिसे आन्तर्भासिक पथप्रदर्शन मिलता है तो उसकी कर्ममें अभिव्यक्तिपर मन, प्राण और शरीरकी त्रुटियोंकी छाप होगी; यह अवस्था ऐसी है जैसी कि अयोग्य मन्त्रियोंवाले राजाकी; यहां ज्ञानकी अभिव्यक्ति अज्ञानके मूल्योंमें होती है। हमारी आन्तरिक सत्ताके समान बाहरी सत्तामें भी आत्माका सामंजस्य केवल अतिमनका अवतरण ही, जिस अतिमनमें सत्य-ज्ञान और सत्य-इच्छा पूर्णतया एक होते हैं, स्थापित कर सकता है; कारण केवल यही अज्ञानके मूल्योंको ज्ञानके मूल्योंमें परिवर्तित कर सकता है।

जिस प्रकार हमारे मन और प्राणके अंगोंकी पूर्णताके लिए इनका इनके मूलकारणसे संबंध करना होता है, उसी प्रकार चैत्यपुरुषकी परिपूर्णताके लिए भी उसके दिव्य कारणके साथ, परब्रह्ममें उसके सजातीय सत्यके साथ उसे युक्त करना अनिवार्य है; और मन एवं प्राणके समान चैत्य-पुरुषके विषयमें भी, वह अतिमनकी ही शक्ति है जो कि इस कार्यको पूरी पूर्णताके साथ, ऐसी घनिष्ठताके साथ जो कि सच्चा तादात्म्य हो जाय, कर सकती है; कारण वह अतिमन ही है जो कि एकमेव सत्पुरुषके परार्ध और अपरार्धको जोडता है। अतिमनमें पूर्ण करनेवाली ज्योति, पूर्ण करनेवाली शक्ति, परमानन्दमें विस्तृत प्रवेशद्वार रहता है।

इस ज्योति और शक्तिके द्वारा ऊपर उठकर चैत्यपुरुष उस मूल आनन्दसे युक्त हो सकता है जिससे कि वह आया है; सुख और दुःखके द्वन्द्वोंपर विजय प्राप्त करके, समस्त भय और जुगुप्सासे मन प्राण और शरीरको मुक्त करके वह जगत्में सत्ताके स्पर्शोंको ब्रह्मानन्दके रूपमें फिर परिणत कर सकता है।

अध्याय २४

भौतिक द्रव्य

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीयोपनिषद् ३।२॥

उसने जाना कि भौतिक द्रव्य ब्रह्म है।

अब हमारे पास यह युक्तियुक्त समाश्वासन है कि प्राण न तो कोई अनिर्वचनीय स्वप्न है और न कोई ऐसा असंभव पाप है जो कि अब दुःखदायी तथ्य बन गया है, अपितु, वह सर्वसत्तामय ब्रह्मका एक बलशाली स्पंदन है। हम उसके आधार और मूल तत्त्वके कुछ अंशको देखते हैं, हम ऊपरकी ओर उसकी उच्च सम्भवताको और उसके अन्तिम

दिव्य विकासका भी अवलोकन करते हैं। परन्तु सबसे नीचे एक ऐसा तत्व है जिसपर हमने पर्याप्त विचार नहीं किया है, वह तत्व है भौतिक द्रव्य जिसपर कि प्राण इस प्रकार खड़ा है जैसे कोई स्तंभ अपने आधारपर, अथवा जिससे वह इस प्रकार विकसित होता है जैसे कि अपने बीजसे अनेक शाखाओंवाला वृक्ष। मनुष्यके मन, प्राण और शरीर इस भौतिक तत्त्वके आश्रित हैं। यद्यपि हमारे प्राण-का प्रस्फुटन चित्के मनके रूपमें उन्मज्जनका परिणाम है, अतिमानस सत्ताकी विशालतामें चित्के स्वयं अपने सत्यका अन्वेषण करते हुए अपने विस्तार और उत्थानका परिणाम है; किन्तु फिर भी प्राणका यह प्रस्फुटन शरीर रूप कोषसे और भौतिक द्रव्यरूप आधारसे अवबंधित भी जान पड़ता है। शरीरका महत्त्व स्पष्ट है; मनुष्यने चूंकि एक ऐसे शरीर और मस्तिष्कका विकास किया है या उसे दिया गया है जो कि प्रगतिशील मानस प्रकाशको ग्रहण और उसका उपयोग करनेमें समर्थ हैं, इसलिए वह पशुसे ऊपर उठ गया है। इसी प्रकार समान रूपमें, शरीरका अथवा कमसे कम शारीरिक अंगोंकी क्रिया-शक्तिका ऐसा विकास करनेपर कि जो ये और भी उच्चतर प्रकाशको ग्रहण और उसका उपयोग करनेमें समर्थ हों, मनुष्य अपनेसे ऊपर उठ सकता है; तब वह न केवल विचार और अपनी आन्तरिक सत्तामें अपितु अपने जीवनमें पूर्ण दिव्य मनुष्यत्वको प्राप्त कर लेगा।

इसके बिना पार्थिव प्राणीको दिया हुआ अमर जीवनका समाश्वासन निराकृत हो जाता है, उसका अर्थ नष्ट हो जाता है; ऐसी दशामें पार्थिव प्राणी सच्चिदानन्दको तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह अपना विनाश कर दे, अपनेसे मन, प्राण और शरीरका परित्याग कर दे और शुद्ध अनन्त-में विलीन हो जाय। अथवा मनुष्य भगवान्का करण नहीं है; उसमें जो सचेतन भावसे प्रगति करनेकी शक्ति है, जिस कारण वह समस्त दूसरे पार्थिव प्राणियोंसे श्रेष्ठ माना जाता है, उसकी एक निर्दिष्ट सीमा है और जिस प्रकार प्रगतिके पथमें उसने दूसरोंमें अग्रस्थान ग्रहण किया है इसी प्रकार कोई दूसरा प्राणी प्रकट होना चाहिये जो मनुष्यसे आगे बढ़कर इस प्रगतिके भारको संभाल ले।

निःसन्देह, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभसे ही शरीर अन्तरात्माके लिए एक भारी कठिनाई रहा है, इसकी प्रगतिके पथमें निरन्तर बाधा और बाधक-शिला रहा है। इसलिए अध्यात्म सिद्धिके उत्सुक साधकने शरीरपर रोक लगाई है और संसारके प्रति उसकी जुगुप्साकी भावना दूसरे समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा इस विश्व-तत्त्वको विशेष रूपमें घृणास्पद मानती है। इसकी दृष्टिमें शरीर एक अन्धकारमय बोझ है जिसे वह सहन नहीं कर सकता, उसकी हठीली भौतिक स्थूलता एक ऐसा कष्ट है कि जिससे मुक्त होनेके लिए उसे परिव्राजक जीवनको स्वीकार करना पड़ता है। उससे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए वह यहांतक बढ़ गया है कि उसने उसके अस्तित्वका ही निषेध कर दिया है और भौतिक विश्वको मिथ्या मान लिया है।

अधिकतर धर्म ऐसे हैं कि जिन्होंने भौतिक द्रव्यकी निन्दा की है और उन्होंने धार्मिक सत्य और आध्यात्मिक-ताकी कसौटी बतलाई है शारीरिक जीवनका अस्वीकार या उदासीनतापूर्वक स्वल्पकालके लिए सहन करना। परन्तु प्राचीनकालके धर्म अधिक घोर और अधिक गंभीर विचार-वाले थे, वे कलियुगके भारसे दबे हुए अन्तरात्माकी पीड़ा और त्वरित अधीरतासे प्रभावित नहीं थे; अतः उन्होंने यह भीषण विभाग नहीं किया था। उन्होंने पृथ्वीको माता और द्युलोकको पिता माना था और दोनोंको समान प्रेम और आदरप्रदान किया था।

परन्तु उनके प्राचीन रहस्य हमारे युगके मनुष्योंकी दृष्टि-के लिए अन्धकारावृत और अग्राह्य हैं, चाहे हमारी दृष्टि जड़वादी हो या अध्यात्मवादी, हम समान रूपमें, सत्ताकी समस्याकी ग्रन्थिको एक ही सुनिश्चित आघातसे काटना चाहते हैं; हम संसारका परित्याग करके एक सनातन आनन्दमें परित्राण पाना चाहते हैं अथवा एक सनातन विनाश या सनातन निश्चलता, निष्क्रियतामें जीवनका अन्त करना चाहते हैं।

विवाद वस्तुतः हमारे अपनी आध्यात्मिक संभावनाओंके प्रति जागरणसे प्रारंभ नहीं होता; यह तो उस समयसे ही प्रारंभ हो जाता है जब कि भौतिक द्रव्यमें प्राण प्रकट होता है और वह अपनी क्रियाओंको और सजीव रूपके अपनी स्थायी समूहोंको जड़ताकी शक्तिके विरोधमें, निश्चेतनाकी शक्तिके विरोधमें, आणविक विश्लेषणकी शक्तिके विरोधमें, जो कि भौतिक तत्त्वमें महा-प्रतिषेधकी ग्रन्थि हैं, स्थापित

करनेकी चेष्टा करता है। प्राण भौतिक द्रव्यके साथ निरंतर संग्राम करता रहता है और सर्वदा इस संग्रामका अन्त होता प्रतीत होता है। प्राणकी आपाततः पराजयमें और नीचे भूतत्वमें उस क्षय-विलयमें जिसे हम मृत्यु कहते हैं।

मनके प्रकट होनेपर यह विरोध गहरा हो जाता है, कारण मनका प्राण और भौतिक द्रव्य दोनोंके साथ अपना स्वतंत्र झगडा है; वह उनकी परिच्छिन्नताओंके साथ निरंतर संग्राम करता रहता है; वह भौतिक द्रव्यकी स्थूलता एवं तामसिकताके और प्राणके कामावेगों और दुःखोंके निरंतर वशमें रहता है और उनके प्रति विद्रोह करता रहता है; और ऐसा प्रतीत होता है कि इस संग्रामका अन्त होता है– चाहे पूरे निश्चित रूपमें न सही– मनकी आंशिक और महंगी विजयमें, इस विजयमें मन प्राणकी तृष्णाओंपर विजयी होता है, उनका दमन या हनन करता है, शारीरिक बलको क्षीण करता है और महत्तर मानसक्रिया और उच्चतर नैतिक सत्ताके हितके लिए शरीरके संतुलनको विकृत कर देता है।

इस संग्राममें प्राणके प्रति अधीरता और शरीरके प्रति जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती हैं और इन दोनोंसे उपरति होकर शुद्ध मानसिक और नैतिक जीवन प्रकट होता है। जब मनुष्य मनसे ऊपरी सत्ताके प्रति जागृत होता है तो वह इस विरोधको और भी आगे बढा देता है। मन, शरीर और प्राणको संसारके तीन रूप, काम, असुर और शैतान कहकर इनका तिरस्कार किया जाता है। मनको समस्त व्याधियोंका मूल कारण मानकर इसपर भी रोक लगाई जाती है, आत्मा और उसके करणों (मन, प्राण, शरीर) में युद्धकी घोषणा की जाती है और आत्माकी विजय इस बातमें खोजी जाती है कि वह अपने इस संकुचित घरका, मन, प्राण और शरीरका परित्याग करके अपनी अनन्तताको प्राप्त कर ले। संसार एक असंगति है और हम इसकी पेचीदगियोंको सर्वोत्तम रूपमें तभी सुलझा सकते हैं जब कि हम उस असंगतितत्वको उसकी चरम सम्भावनातक ले जांय, संसारको अपनेसे काटकर अलग कर दें, और हम सदाके लिए इससे विच्छिन्न हो जांय।

परन्तु ये जय और पराजय केवल आपाततः हैं, यह समाधान कोई समाधान नहीं है अपितु समस्यासे दूर भागना है। प्राण वस्तुतः भौतिक द्रव्यसे पराजित नहीं होता; वह जीवनको बनाये रखनेके लिए मृत्युका उपयोग करके भौतिक द्रव्यके साथ समझौता करता है। मन, प्राण और भौतिक द्रव्यपर यथार्थमें विजयी नहीं हुआ है; उसने केवल अपनी कुछ शक्यताओंको रोककर दूसरी कुछ शक्यताओंका अपूर्ण विकास किया है; और जिन शक्यताओंको उसने रोका है वे प्राण और शरीरके अधिक उत्तम उपयोग की अप्राप्त या परित्यक्त सम्भावनाओंके साथ बधी हुई हैं। उनका विकास तभी हो सकता है जब कि वह प्राण और शरीरका अधिक उत्तम उपयोग करके उनकी अप्राप्त या परित्यक्त सम्भावनाओंका विकास कर ले।

जीवात्माने निम्नत्रयको विजय नहीं किया है; उसने केवल अपने ऊपर उनके दावेका परित्याग किया है और ब्रह्मने विश्वका रूप धारण करते समय जो कार्य प्रारम्भ किया था उससे अपने आपको हटा लिया है। ब्रह्मने विश्वमें जो कार्य प्रारम्भ किया था उसके लिए वह अभी भी परिश्रम कर रहा है और इसलिए समस्या अब भी बनी हुई है, किन्तु अभीतक न तो समस्याका कोई संतोषप्रद समाधान हुआ है और न परिश्रमका कोई विजयपूर्ण परिणाम या फल निकला है। हमारा दृष्टिकोण यह है कि सच्चिदानन्द ही इस सम्पूर्ण विश्वका आदि, मध्य और अन्त है; अतः यह संग्राम और विरोध उसकी सत्तामें सनातन और मूलभूततत्व नहीं हो सकते, इनका अस्तित्व तो इनके एक पूर्ण समाधान और पूर्ण विजयके लिए परिश्रमकी सूचना देता है, इसलिए हमें उस समाधानको प्राणके द्वारा शरीरके मुक्त और पूर्ण उपयोग होते हुए भौतिक द्रव्यपर प्राणकी यथार्थ विजयमें खोजना चाहिये।

इसी प्रकार मनके द्वारा प्राण-शक्ति और शरीरके मुक्त और पूर्ण उपयोग होते हुए मनकी प्राण और भौतिक द्रव्यपर यथार्थ विजयमें खोजना चाहिये; इसी प्रकार चेतन आत्माके द्वारा मन, प्राण और शरीरपर मुक्त और पूर्ण अधिकार होते हुए इन तीनोंपर आत्माकी यथार्थ विजयमें खोजना चाहिये। हमने जिस दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया है उसके अनुसार केवल यह अन्तिम विजय ही दूसरी विजयोंको यथार्थतया सम्भव बना सकती है। इसलिए अन्तमें, जिस प्रकार हमने मूलभूत ज्ञानको खोजते हुए मन, अन्तरात्मा और प्राणकी यथार्थताको पाया है, इसी प्रकार यह जाननेके लिए कि ये विजय अंशतः या पूर्णतया

किस प्रकार सम्भव है, हमें भौतिक द्रव्यके यथार्थस्वरूपको जानना चाहिये।

एक विशेष अर्थमें भौतिक द्रव्य मिथ्या और असत् है; दूसरे शब्दोंमें, भौतिक द्रव्यके विषयमें जो हमारा वर्तमान ज्ञान, विचार और अनुभव है वह उसका सत्यस्वरूप नहीं है, अपितु हमारी इन्द्रियों और विश्वसत्ता- जिसमें कि हम रहते और कर्म करते हैं- के बीचमें एक विशेष संबंधका परिणाम है। जिस समय भौतिक विज्ञान यह आविर्ज्ञान करता है कि भौतिकद्रव्य भौतिकशक्तिका रूप या परिणाम है तो उसने एक वेश और मूलभूत सत्यको ग्रहण कर लिया है और जब दर्शनशास्त्र यह आविर्ज्ञान करता है कि एकमात्र परमार्थतत्त्व आत्मा या शुद्ध चेतन-सत्पुरुष है और भौतिक द्रव्यका अस्तित्व केवल इतना ही है कि वह चेतनाको द्रव्यरूपमें प्रतीत होता है, तो उसने भौतिक विज्ञानकी अपेक्षा एक महत्तर और पूर्णतर सत्यको, एक अधिक मूलभूत सत्यको ग्रहण किया है।

परन्तु फिर भी यह प्रश्न विद्यमान रहता है कि वह शक्ति क्यों भौतिक द्रव्यका रूप धारण करती है, केवल शक्ति-तरंगोंके ही रूपमें क्यों नहीं रहती, अथवा जो यथार्थमें आत्मा है वह भौतिक द्रव्यके रूपको क्यों धारण करता है, आत्माकी अवस्थामें, सूक्ष्म कामनाओं और हर्षों के ही रूपमें क्यों नहीं रहता। ऐसा कहा जाता है कि यह मनका कार्य है; परन्तु मनके कई रूप होते हैं; एक मन होता है विचार करनेवाला जिसे बुद्धि कहा जाता है, दूसरा मन होता है इन्द्रियात्मक; विचारशील मन या बुद्धि पदार्थोंके भौतिक रूपको साक्षात् उत्पन्न नहीं करती और न उनका प्रत्यक्ष ही करती है, इसलिए यह इन्द्रियमनका कार्य है।

यह मन जिन रूपोंको देखता प्रतीत होता है उन्हें सृष्ट करता है और उन्हें बुद्धिके सामने उपस्थित करता है और बुद्धि उनपर अपना कार्य करती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत देहधारी मन भौतिक द्रव्यका स्रष्टा नहीं है। पृथ्वी मानवमनका परिणाम नहीं हो सकती, कारण स्वयं मानवमन ही पृथ्वीका परिणाम है। यदि हम यह कहें कि जगत् केवल हमारे अपने मनोंमें है तो हम ऐसी बात कहते हैं जो कि तथ्यहीन और सम्भ्रम है; कारण मनुष्यके पृथ्वीपर प्रकट होनेसे पहले ही भौतिक जगत् विद्यमान था और यदि मनुष्यके अस्तित्वका पृथ्वीपरसे लोप होजाय अथवा यदि हमारा व्यक्तिगत मन अनन्तमें विलीन या नष्ट होजाय तब भी वह विद्यमान रहेगा।

तब हमें इस निष्कर्षपर पहुंचना पड़ता है कि एक वैश्वमन + है जिसने कि अपने निवासके लिए इस विश्वको उत्पन्न किया है, जब वह विश्वका रूप धारण कर लेता है तो वह हमारे लिये अवचेतन है और अपने आत्माके रूपमें वह हमारे लिए अतिचेतन है और चूंकि स्रष्टा अपनी सृष्टिसे पूर्ववर्ती और अधिक होता है, इससे यथार्थमें यह सूचित होता है कि एक अतिचेतन मन है जो कि वैश्व इन्द्रिय-मनको करण बनाकर अपनेमें रूपका रूपके साथ संबंध करता है और भौतिक विश्वमें सामंजस्यकी रचना करता है। परन्तु यह भी पूरा समाधान नहीं है; यह हमें इतना-ही बतलाता है कि भौतिक द्रव्यचेतनकी सृष्टि है, किन्तु यह इस विषयकी व्याख्या नहीं करता कि किस प्रकार चेतनने अपनी विश्वक्रियाओंके आधारके रूपमें भौतिक द्रव्यकी सृष्टि की।

हम इस विषयको अधिक उत्तम रूपमें तब समझ सकते हैं जब कि हम पदार्थोंके मूल कारणपर विचार करें। शुद्ध सत् अपनी सक्रिय अवस्थामें चित्शक्ति है, यह चित्शक्ति (चेतन-पुरुष) अपनी शक्तिकी क्रियाओंको अपनी चेतनाके सामने इस प्रकार उपस्थित करती है मानो वे उसकी अपनी सत्ताके ही रूप हों। चूंकि शक्ति एकमेवाद्वितीय चेतन-

---

+ जैसा कि हम जानते हैं मन केवल एक सापेक्ष अर्थमें और उपकरण होकर ही सृष्टि करता है। इसमें संयोग करनेकी असीमशक्ति है, किन्तु इसके सृजनकारी उद्देश्य और रूप इसके पास ऊपरसे आते हैं। समस्त सृष्ट रूपोंका आधार मन, प्राण और भौतिक द्रव्यसे ऊपर अनन्तमें होता है और वे यहां सूक्ष्मतम (परमाणु) से पुनः उपस्थित, पुनर्निर्मित किये जाते हैं और बहुधा अयथा-निर्मित होते हैं। ऋग्वेद कहता है कि इनका मूल ऊपर है और शाखायें नीचेकी ओर हैं। जिसे हमने अतिचेतन मन कहा है वह अधिमन भी कहा जा सकता है और आत्माकी शक्तियोंके क्रम सोपानमें उसका वह स्थान है जो कि अतिमानस चेतनासे सीधा सम्बन्ध रखता है, उसपर साक्षात् आश्रित है।

सत्पुरुषका केवल सक्रियरूप है इसलिए उसके परिणाम उस चेतन सत्के ही रूप हो सकते हैं और कुछ नहीं। अतः भौतिक द्रव्य केवल आत्माका ही एक रूप है। आत्माका रूप हमारी इन्द्रियोंके लिए जो आकार धारण करता है वह मनके उस विभाजक कर्मका परिणाम है जिससे कि हम सुसंगत रूपमें सम्पूर्ण विश्व प्रपंचको उद्भूत हुआ माननेमें समर्थ हुए हैं।

अब हम यह जानते हैं कि प्राण चिच्छक्तिका एक कर्म (कार्य) है जिसके परिणाम हैं भौतिक रूप (पदार्थ)। प्राण उन रूपोंमें अन्तर्भूत रहता है; वह पहले उनमें अचेतन शक्तिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, इसके अनन्तर वह स्वयं विकसित होता है और मनके रूपमें उस चेतनाको अभिव्यक्त करता है जो कि उस शक्तिका यथार्थ आत्मा है और जब वह अभिव्यक्त नहीं हुई थी तब भी वहां विद्यमान थी, कभी भी अविद्यमान नहीं थी। हम यह भी जानते हैं कि मन मूलसचेतन ज्ञान या अतिमनकी निम्नकोटिकी शक्ति है, प्राण इस अतिमनकी कारण-रूप शक्ति होकर कार्य करता है। कारण अतिमनके मार्गसे अवतरण करते हुए चेतना या चित् अपने आपको मनके रूपमें प्रकट करती है और चित्की शक्ति या तप अपने आपको प्राणके रूपमें प्रकट करती है।

मन अपने अतिमानस स्वरूपसे पृथक् होकर प्राणको विभक्त कर देता है; इससे आगे बढनेपर जब वह स्वयं अपनी प्राण-शक्तिमें अन्तर्भूत हो जाता है तो वह प्राणमें अवचेतन स्थितिको प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार प्राणकी भौतिक क्रियाओंको अचेतन शक्तिका रूप प्रदान करता है। इसलिए अचेतना, जडता, तामसिकता, भौतिक द्रव्यका परमाणु रूपमें विश्लेषण इन सबका मूल मनके इस सर्व विभाजक और आत्म-अन्तर्भावी कर्ममें, जिसके द्वारा कि हमारा विश्व अस्तित्वमें आया, होना चाहिये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सृष्टिकी ओर अवतरण करते हुए अतिमनका अन्तिम कार्य मन है; मनके इस अवतरणके द्वारा उत्पन्न अज्ञानके अवबंधोंमें क्रिया करनेवाली चित्-शक्तिका कार्य प्राण है; इसी प्रकार इस क्रियाके परिणाम-स्वरूप चेतन-सत् जो अन्तिम रूप धारण करता है वही भौतिक द्रव्य है। भौतिक द्रव्य एकमेव चेतन-सत्का द्रव्य है।

यहां चेतन-सत् वैश्वमन * के कर्मके द्वारा स्वयं अपने भीतर विभक्त है; यह ऐसा विभाग है कि व्यक्तिगत मन इसमें निवास करता है और इसकी पुनरावृत्ति करता है किन्तु यह आत्माके ऐक्य, शक्तिके ऐक्य अथवा भौतिक द्रव्यके यथार्थ ऐक्यको नष्ट नहीं करता अथवा लेशमात्र भी कम नहीं करता।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि अविभक्त सत्का यह व्यावहारिक विभाग क्यों हुआ ? इसका उत्तर यह है कि मनका कार्य है बहुत्वको इसकी चरमशक्यतातक ले जाना और यह पार्थक्य और विभागके द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार, बहुके वास्ते रूपोंकी सृष्टि करनेके लिये मनका कर्तव्य यह हो जाता है कि वह अपने आपको प्राणके भीतर प्रविष्ट करे और वैश्व सत्-तत्त्वको शुद्ध या सूक्ष्म द्रव्यका रूप देनेकी अपेक्षा स्थूल और भौतिक द्रव्यका रूप प्रदान करे; दूसरे शब्दोंमें, इसे सत्-तत्त्वको ऐसे द्रव्यका आकार प्रदान करना चाहिये जो कि हमारे मनके सन्निकर्षको पदार्थोंके स्थायी बहुत्वमें स्थिर पदार्थ जान पडे; ऐसे द्रव्यका रूप नहीं देना चाहिये जोकि शुद्ध चेतनाके सन्निकर्षको स्वयं अपनी सनातन शुद्ध सत्ता एवं यथार्थताका कोई रूप जान पडता है अथवा सूक्ष्म सन्निकर्षको ऐसा नमनशील रूपवाला तत्त्व जान पडता है जो कि चेतन-सत्को स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्त करता है।

मनका उसके विषयके साथ सन्निकर्ष होनेपर इंद्रिय-ज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु यहां वह ऐसा अस्पष्ट बाहरी इन्द्रियज्ञान होना चाहिये जोकि सन्निकृष्ट पदार्थकी यथार्थताका निश्चय करा दे। अतः शुद्ध द्रव्यका भौतिक द्रव्यके रूपमें, अवतरण अनिवार्य रूपमें तभी सम्भव हो सकता है जब कि, प्रथम सच्चिदानन्दका अतिमनके द्वारा मन और प्राणके रूपमें अवतरण हो, दूसरे सत्ताको बहु बनानेका संकल्प

* यहां मन शब्दका प्रयोग विस्तृततम अर्थमें किया गया है; यह अधिमन शक्तिके कार्यको भी अन्तर्गत करता है; वह अधिमन अतिमानस सत्-चित्के समीपतम है और अज्ञानकी सृष्टिका प्रथम स्रोत है।

हो; तीसरे सत्ताके इस अनुभवका प्रथम साधन हो चेतनाके पृथक् पृथक् केन्द्रोंसे पदार्थोंका अनुभव। यदि हम पदार्थोंके आध्यात्मिक मूल कारणपर जांच तो ज्ञात होता है कि द्रव्यका पूर्णतया शुद्ध स्वरूप है शुद्ध चेतन-सत्; यह चेतन-सत् स्वयं-सत् है और नैसर्गिक रूपमें तादात्म्यके द्वारा आत्म-संवित् रखता है किन्तु उसने अभीतक अपनी चेतनामें अपने आपको विषय नहीं बनाया है। अतिमन इस तादात्म्यके द्वारा आत्मसंवित्को अपने आत्म-ज्ञानके द्रव्य और आत्मसृष्टिके अपने प्रकाशके रूपमें विद्यमान रखता है; परन्तु वह इस सृष्टिके लिए शुद्ध सत्को अपनी सक्रिय चेतनाके विषयी विषयके रूपमें अपने सामने उपस्थित करता है, वह उसे उस परम ज्ञानका विषय बनाता है जो कि परिबोधके द्वारा विषयको अपने भीतर और स्वयं अपना आत्मा देख सकता है और साथही प्रतिबोध (प्रज्ञान) के द्वारा एक ऐसे विषयके रूपमें देख सकता है जोकि उसकी अपनी चेतनाकी परिधिके भीतर है और इसको अपनी सत्ताका ऐसा अंग है जो कि उससे पृथक् कर दिया गया है। दूसरे शब्दोंमें, वह दृष्टिके ऐसे केन्द्रसे देख सकता है जिसमें कि सत्पुरुष अपने आपको ज्ञाता, साक्षी या पुरुषके रूपमें समाहित करता है।

हम यह देख चुके हैं कि इस प्रतिबोध्य प्रज्ञानसे मनकी क्रिया उत्पन्न होती है; यह वह क्रिया है कि जिसके द्वारा व्यक्तिगत ज्ञाता (जीव) स्वयं अपनी वैश्व सत्ताके रूपको इस प्रकार मानता है मानो वह उससे भिन्न हो। परन्तु दिव्य मन (अतिमन) में साक्षात् अथवा इस क्रियाके साथ साथ इससे भिन्न या विपरीत क्रिया भी होती है; यह क्रिया है ऐक्यकरण की जो कि इस प्रपंचगत विभागको सुधार देती है और क्षणभरके लिए भी ज्ञाताको यह भान नहीं होने देती कि यही एक मात्र यथार्थ है।

सचेतन ऐक्य-करणका यह कर्म वह है जो कि दूसरे रूपमें, विभाजक मनमें विभक्त प्राणियों और पदार्थोंके बीचमें सचेतन सन्निकर्षका रूप धारण करता है; और इसमें विभक्तचेतनागत यह सन्निकर्ष मुख्यतया इन्द्रियज्ञानके द्वारा उपस्थित किया जाता है। इन्द्रिय-ज्ञानके इस आधारपर, विभागके आधीन ऐक्यकरण रूप इस सन्निकर्षपर बुद्धिका कर्म प्रतिष्ठित होता है और वह उस उच्च ऐक्य (मिलन) को पुनः प्राप्त करनेके लिए तैयारी करता है जिसके विभाग आधीन और अप्रधान बन जाता है। इसलिए द्रव्य, भौतिक द्रव्य ऐसा रूप (पदार्थ) है जिसमें मन इन्द्रिय-ज्ञानके द्वारा क्रिया करता हुआ उस चेतन सत्से सन्निकर्ष करता है जिसका कि वह स्वयं एक ज्ञानात्मक कार्य है।

परन्तु मनका स्वभाव ऐसा है कि वह चेतन-सत्के द्रव्यको ऐक्य और समग्रतामें जानने और इन्द्रियानुभव करनेके लिए प्रवृत्त नहीं होता अपितु विभागके द्वारा जानने और अनुभव करनेकी ओर प्रवृत्त होता है। वह इसे अत्यन्त सूक्ष्म अणु-बिन्दुओंके रूपमें देखता है और इनके समग्र रूपपर पहुंचनेके लिए उन्हें एक साथ संयुक्त करता है; वह विश्व-मन है जो कि अपने आपको इन दृष्टिबिन्दुओं और संयोगोंके रूपमें प्रकट करता है और इनमें निवास करता है। इस प्रकार निवास करनेवाला विश्वमन सत्य संकल्प (विज्ञान) का अभिकरण है और अपनी नैसर्गिक शक्तिसे सृजनकारी है; इसलिए वह अपने ही स्वभावके कारण अपने समस्त प्रत्यक्षोंको प्राणकी शक्तिके रूपमें परिणत करनेके लिए विवश है, जिस प्रकार कि सर्वसत्तामय अपने समस्त आत्म-पर्शोको अपनी चेतनाकी सृजनकारी शक्तिकी विविध शक्तिके रूपमें परिणत करता है, विश्व-मन इन्हें, वैश्वसत्ताके अपने बहु दृष्टि-बिन्दुओंको वैश्वप्राणके दृष्टिकोणोंमें परिवर्तित करता है।

इसके अनन्तर वह (विश्व-मन) वैश्व-प्राणके इन दृष्टि-कोणोंको भौतिक द्रव्यके परमाणुओंका रूप प्रदान करता है, ये परमाणु जिस प्राणके बने होते हैं उससे अनुप्राणित होते हैं और जो मन और संकल्प इस निर्माणको प्रवृत्त करते हैं उससे शासित होते हैं। इसके साथ साथ, इस प्रकार निर्मित हुए परमाणु अपने स्वधर्मके अनुसार परस्परमें संयुक्त होने लगते हैं; और इस प्रकार बने समूहोंमेंसे प्रत्येक समूह भी अपना निर्माण करनेवाले अपने भीतर छिपे हुए प्राणसे और अपने आपको सक्रिय बनानेवाले भीतर छिपे मन और संकल्पसे अनुप्राणित होता है; अतः प्रत्येक समूह अपने साथ व्यष्टि-सत्ताकी कल्पना रखता है, और इसके भीतर निवास करनेवाले मनकी अनभिव्यक्त या अभिव्यक्त अवस्थाके अनुरूप अहंकार भी इसमें विद्यमान रहता है, यह अहंकार जड या यांत्रिक हो सकता है जिसमें कि अपने

अस्तित्व रखनेका संकल्प मूक और बद्ध किन्तु बलशाली होता है; अथवा यह अहंकार आत्म-चेतन मानस अहंकार हो सकता है जिसमें कि अस्तित्व रखनेका संकल्प मुक्त, सचेतन और पृथक् रूपसे क्रिया करनेवाला होता है।

इस प्रकार आणविक सत्ताका कारण किसी सनातन और मूलभूत भौतिक द्रव्यका कोई सनातन और मूलभूत धर्म नहीं है, अपितु विश्व मनके कर्मका स्वभाव है। भौतिक द्रव्य एक सृष्टि है, रचना है और उसकी रचनाके लिए प्रारंभिक बिन्दु या आधारके रूपमें अनन्तके अत्यन्त लघु, चरम सीमाके खण्डकी आवश्यकता थी। आकाश भौतिक द्रव्यके इयत्तागोचर, प्रायः आध्यात्मिक आधारके रूपमें अपना अस्तित्व रख सकता है और रखता भी है; किन्तु व्यवहारतः भौतिक रूपमें इसे जानना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

दृष्टिगोचर समूह या रूपवान अणुको और अधिक विभाग करके इसे मूलभूत परमाणुके रूपमें ले आओ, इसे कूट पीसकर अत्यन्त सूक्ष्म धूलिके रूपमें ले आओ, तब भी हम जिस सत्तापर पहुंचेंगे वह परमाणुमयी ही होगी, यद्यपि उसके परमाणु बहुत अधिक सूक्ष्म हो सकते हैं, कारण इनका निर्माण करनेवाले मन और प्राणका ऐसा करना ही स्वभाव है; यह अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुमयी सत्ता सम्भवतः अस्थिर होगी किन्तु शक्तिके सनातन प्रवाहमें सदा अपना पुनर्निर्माण करती रहेगी; हम व्यवहारमें किसी ऐसी सत्ता-पर नहीं पहुंच सकते जो कि केवल परमाणु-हीन विस्तार हो और जिसमें सारद्रव्य न हो। द्रव्यका परमाणुहीन विस्तार, ऐसा विस्तार जो कि परमाणुओंका समूहरूप न हो, जो देशमें फैलावसे भिन्न प्रकारसे सहविद्यमान हो, ये शुद्ध सत्, शुद्ध द्रव्यकी यथार्थतायें हैं।

इनका ज्ञान अतिमनको होता है और इनमें अतिमनकी ही क्रियाशक्ति कार्य करती है; ये हमारे विभाजक मनकी रचनात्मक विभावना नहीं हैं, यद्यपि मन यह जान सकता है कि ये उसकी क्रियाओंके पीछे विद्यमान हैं। ये भौतिक द्रव्यके मूलमें रहनेवाली यथार्थतायें हैं किन्तु जिसे हम व्यवहारमें भौतिक द्रव्य कहते हैं उसकी यथार्थतायें नहीं हैं। मन, प्राण और भौतिक द्रव्य इस शुद्ध सत् और सचेतन विस्तारके साथ उनके निष्क्रिय स्वरूपमें एकत्व कर सकते हैं, किन्तु उनके क्रियात्मक कर्म, आत्म-प्रत्यक्ष और आत्म-निर्माणमें इस एकत्वको रखते हुए कर्म नहीं कर सकते।

इसलिए भौतिक द्रव्यके विषयमें हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं। सत्का एक विभावनात्मक आत्मविस्तार है; यह अपने आपको विश्वमें द्रव्य या चेतनाके विषय (प्रमेय) के रूपमें व्यक्त करता है; इस द्रव्यको विश्व-मन और विश्व-प्राण अपने सृजनकारी कर्मके द्वारा आणविक विभाग और संयोगके रूपमें प्रकट करते हैं और इस पदार्थको ही हम भौतिक द्रव्य कहते हैं। परन्तु यह भौतिक द्रव्य, मन और प्राणके समान, आत्म-सृजनकारी कर्मकी अवस्थावाला सत् या ब्रह्म ही है। यह चेतन सत्की शक्तिका एक रूप है; इसे मनने रूपप्रदान किया है और प्राणने अभिव्यक्त किया है; इसका यथार्थस्वरूप जो चेतना है उसे यह अपने भीतर धारण करता है; यह चेतना स्वयं अपनेसे छिपी रहती है।

अपने आत्मनिर्माणके परिणाममें स्वयं अन्तर्भूत और अन्तर्लीन है और इसलिए आत्म-विस्मृत है और चाहे भौतिक द्रव्य कितना ही स्थूल और ज्ञानहीन क्यों न हमें जान पड़े, इसके भीतर छिपी हुई चेतनाके गुह्य अनुभवके लिये तो यह सत्का आनन्दरूप ही है; यह आनन्द अपने आपको भौतिक द्रव्यके भीतर छिपी चेतनाके संवेदनके विषयके रूपमें अर्पण करता है जिससे कि वह इस छिपे देवको उसकी गुप्ततासे बाहर प्रकट करे। सत् (पुरुष) द्रव्यके रूपमें व्यक्त होता है, सत्की शक्ति रूपवान होती है, गुह्य आत्मचेतना अपने आपको साकाररूपमें उपस्थित करती है, आनन्द स्वयं अपनी चेतनाका विषय होता है,-यह सच्चिदानन्द नहीं तो और क्या है? भौतिक द्रव्य सच्चिदानन्द है जो कि स्वयं उसके (सच्चिदानन्दके) मानस अनुभवमें ऐसे ज्ञान कर्म और आनन्दका आधार होता है जो कि विषय (प्रमेय) रूप हैं।

[क्रमशः]

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

मण्डलेश्वर

ता. ८।१।५६ रविवारको यहांके प्रतिष्ठित अभिभावक महोदय श्रीमान् **बाबूराव हरिभाऊ** बी. ए., एल. एल. बी. इनकी अध्यक्षतामें महात्मा गांधी विद्यालयके हॉलमें १० बजे प्रातः प्रमाण-पत्र-वितरणोत्सव मनाया गया। आरम्भमें मंगलगीत गाया गया। बादमें श्री. अध्यक्ष महोदयजीने उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको प्रमाण-पत्र दिये।

अनन्तर श्रीमान् अध्यक्ष महोदयजीका सारगर्भित भाषण हुआ। तथा अन्य प्रतिष्ठित उपस्थित महानुभावोंने भी संस्कृत भाषाके महत्वके सम्बन्धमें विद्यार्थियोंको बताया। श्री. **स्वामी ब्रह्मानंदजी तीर्थ**, इन्होंने भी, विद्यार्थियोंको उद्‌बोधन-स्वरूप दो शब्द कहे। बादमें 'वन्देमातरम्' गीत हुआ और वितरणोत्सव समाप्त हुआ।

जोधपुर

श्री गीताप्रचार मण्डल जोधपुरके तत्त्वावधानमें होनेवाली गीता रामायण व संस्कृत भाषा परीक्षा पारडीमें गतवर्ष उत्तीर्ण हुए छात्र छात्राओंको प्रमाणपत्र व पारितोषिक देनेके लिये ता. १८-१२-५५ रविवारको श्रीमान **राधाकृष्णलालजी भटनागर** उपाध्यक्ष शिक्षा विभाग, **जोधपुर**की अध्यक्षतामें उत्सव मनाया गया।

सर्वप्रथम छात्राओंने बडेही मधुरस्वरमें विनम्रभावसे गायनमें ईश प्रार्थना की। इसके अनन्तर दो विद्यार्थियोंने संस्कृतमें (वार्तालाप) संवाद किया जो बडा ही आकर्षक था।

पश्चात् संस्कृत विशारद परीक्षोत्तीर्ण छात्रा श्री **शान्ती माथुर**ने अपना लिखित भाषण सुनाया, उसका सार यह था कि यहाँ भारतवर्षमें आजकल छोटे बच्चोंको ऐसी कोई शिक्षा नहीं मिलती जिससे कि वे सच्चरित्र बन सकें। उदाहरणमें बताया कि अभी यहाँ जोधपुरमें 'बालोदय' संस्था स्थापित हुई और बालमेला हुआ जिसका उद्‌घाटन श्री राधाकृष्णन महोदय उपराष्ट्रपति द्वारा हुआ था। उसमें बालकोंका यह नारा था कि 'हमें जन्म दिया है तो सच्चरित्रता भी दें'। इसमें पाया गया कि, इस केवल पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृतिके कारण, सच्चरित्रताका हमारे यहाँ नितान्त लोप होगया है। अतः अब इस भारतीय संस्कृति व सभ्यताको पुनः स्थापित करनेके लिये प्रारम्भिक कक्षाओंमें ऐसी धार्मिक शिक्षाप्रद रोचक कहानियोंकी हिन्दीमें लिखी हुई रक्खी जावे, जिससे छात्रोंके संस्कार अच्छे बनें। आगे चलकर उपरकी कक्षाओंमें गीता पढाई जावे, जिसमें कि सच्चरित्रताका उपदेश मानवमात्रके लिये दिया गया है। कर्तव्य-परायणताका हमारे यहाँसे, इस प्रचलित दूषित शिक्षाके कारण ह्रास होगया है। जो कि यही भारत कर्तव्यपरायणतामें सब देशोंका गुरु कहलाया जाता था। इसलिये माता पिता व शिक्षा विभागके अध्यक्ष इस ओर पूर्ण ध्यान देकर शीघ्र ऐसी योजना बनावें जिससे शिक्षामें सुधार होकर, हमारे छात्र छात्राएँ आदर्श व सुनागरिक बनकर हमारे देशके झुके हुए मस्तकको पुनः ऊपर उठा सकें। संस्कृत शिक्षाके विषयमें कहा कि 'संस्कृत शिक्षाका प्रचार पूर्णतया भारतमें होनेसे ही सब प्रकारकी उन्नति होगी।'

तदनन्तर संस्कृत प्रवेशिका परीक्षोत्तीर्ण छात्रा **शान्ति पारीक**ने गीताके भक्तियोगपर बोलते हुए कहा कि 'गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग आदिकी अपेक्षा भक्तियोग ही श्रेयस्कर है। भक्तिमिश्रित कर्मयोगके द्वारा गृहस्थी भी कल्याण प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌ने फर्माया है कि—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः'

भक्तियोग द्वारा सगुण उपासना (जो सुलभ है) की जा सकती है। ज्ञानयोगका रास्ता कठिन है।

तत्पश्चात् सभापति महोदय द्वारा रामायण, गीता व संस्कृत परीक्षोत्तीर्ण छात्र छात्राओंको प्रमाणपत्र व पारितोषिक दिये गये।

तदनन्तर केन्द्र व्यवस्थापक श्री **जानकीवल्लभ माथुर**ने श्रीगीताप्रचार मण्डल जोधपुरके तत्त्वावधानमें होनेवाली गीता, रामायण परीक्षा गोरखपुरके व संस्कृत परीक्षा स्वाध्याय मण्डल पारडीका गत वर्षोंका विवरण सुनाया और यह भी बताया कि गतवर्षतक गीता तथा रामायण परीक्षाओंकी पाठ्यपुस्तकें छात्र

छात्राओंको निःशुल्क मण्डल द्वारा दी गई है जिनपर रु. ५३२ व्यय हुए हैं। संस्कृत शिक्षा राजस्थान सरकार द्वारा ६ से ८ कक्षातक अनिवार्य कर दी गई है यह हर्षका विषय है। इसी तरह उच्चकक्षाओंमें भी संस्कृत तो अवश्य ही पढाई जानी चाहिये, तभी छात्रोंको भारतीय संस्कृतिका ज्ञान होगा। गीता शिक्षा छठी कक्षासे प्रारम्भ करानेके लिए शिक्षा विभागके अधिकारियोंसे अनुरोध चल रहा है। अध्यक्ष शिक्षा विभाग द्वारा कुछ आशा भी बंधाई गई है अतः विश्वास है कि इसमें मंडलकी सफलता प्राप्त होगी। गीता ग्रन्थ सर्व मान्य है, इसीमें कर्तव्य-कर्मोंका उपदेश मिल सकता है। अतः गीता छात्रोंके पाठ्यक्रममें अवश्य रक्खी जानी चाहिये।

अध्यक्षमहोदयने अपने सारगर्भित भाषणमें श्री **शान्ति माथुरके** सुझावको मानते हुए कहा कि उपदेशप्रद कहानियोंकी पुस्तकें अवश्य होनी चाहिये। ऐसी कहानियाँ पढनेसे छोटे-बच्चोंके संस्कार अच्छे बन सकते हैं। गीताके विषयमें आपने कहा कि यह ग्रन्थ सर्व मान्य है छात्रोंको यह अवश्य पढाई जानी चाहिये। आजकल हमारे यहाँ दूसरी भाषाओंकी पुस्तकें पढाई जाती हैं जिनमें हमारे भारतीय ग्रंथोंका कहीं नाम निशान भी नहीं है। अभीतो शिक्षा विदेशियोंको खुश रखनेके लिये ही चल रही है। हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति तो हमारे यहाँके गीता, रामायण, महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थोंके पठनपाठनसे ही प्राप्त हो सकती है। आज कलकी पुस्तकोंके पढनेसे हमारे भारतीय महापुरुषोंके उदाहरण हमें नहीं मिलते जिससे कि छात्रोंमें सच्चरित्रता आसके अन्तमें अपने गीता प्रचार मण्डलके कार्यकी सराहना की और छोटी कक्षाओंमें कर्तव्य-परायण कहानियोंकी पुस्तकें अवश्य पढाई जानी चाहिये, इस बातको दोहराते हुए आपने अपना भाषण समाप्त किया। फिर **डॉ. व्रजमोहनलालजी राय** मण्डलके मंत्री द्वारा सभापति महोदयने उपस्थित महानुभावोंको धन्यवाद दिये जानेके अनन्तर उत्सव समाप्त हुआ।

महवा

ता. २३-१२-५५ को स्थानीय पंचवर्षीय विकासाधिकारी श्री. **बी. के. शर्मा** के अध्यक्षतामें प्रमाणपत्र वितरणोत्सव मनाया गया। उत्सवका आरम्भ मंगल गीतादिसे हुआ। श्री. अध्यक्ष महोदयने उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको प्रमाण-पत्र दिये तथा अपने भाषणमें विद्यार्थियोंको संस्कृतके महत्ता बताई। बादमें केन्द्र-व्यवस्थापक श्री. **भरतसिंहजी** का सारगर्भित भाषण हुआ, वह इस प्रकार है—

अत्यन्त हर्षका विषय है कि यहां पर स्वाध्याय मंडल द्वारा संचालित अखिल भारतीय संस्कृत भाषा परीक्षा समितिकी ओरसे पिछले वर्ष संस्कृत परीक्षाका केन्द्र खोलनेकी अनुमति प्राप्त हुई। समयाभावके कारण उस समय परीक्षार्थी परीक्षा देनेमें असमर्थ रहे। इस वर्ष माह सितम्बरमें प्रारम्भिणी व प्रवेशिकामें २८ विद्यार्थी परीक्षा देनेके लिए बैठे। प्रारम्भिणी परीक्षाके आवेदनपत्र २५ विद्यार्थियोंने भरे जिसमें दो छात्र अनुपस्थित रहे।

अखिल भारतीय संस्कृत भाषा परीक्षा समितिने सम्पूर्ण भारतमें संस्कृत भाषाका प्रचार करनेके लिए ही नहीं अपितु भारतसे बाहर अन्य देशोंमें भी उस भाषाके प्रचार द्वारा भारतीय संस्कृतिका प्रचार करनेके लिए सभी जातियोंके लिये बिना किसी भेदभावके आबालवृद्ध सबके लिए यह परीक्षायें रखी है। जिनको उत्तीर्ण करके प्रत्येक व्यक्ति क्रमशः संस्कृतकी पुस्तकोंका अध्ययन कर अपनी उन्नति कर सकता है। दो सालके साधारण परिश्रममें साधारण हिन्दी जाननेवाला पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीकी संस्कृत पाठमालाके चौबीस भागोंको पढकर अपने संस्कृतके ज्ञानको एक घन्टा या दो घन्टा प्रतिदिन देकर इस योग्य हो सकता है कि वह संस्कृतके प्राचीन ग्रन्थोंका स्वयं अर्थ समझ सके। इस उद्देश्यकी पूर्तीके लिए इन समय चार परीक्षाएं नियत की गई है। १- प्रारम्भिणी २- प्रवेशिका ३- परिचय ४- विशारद। प्रथम तीन परीक्षाएं साधारण परीक्षाएं हैं, चौथी विशारद परीक्षा पदवीकी परीक्षा है। इस प्रकारसे मातृभाषा संस्कृतको सरल रीतिसे पढकर कोई भी नागरिक अपनी इस पुनीत देववाणी संस्कृतका अध्ययन करनेमें समर्थ हो सकता है। दो वर्षके साधारण परिश्रमसे ये परीक्षायें पास करके आप लोग बडी सरलतासे संस्कृतमें प्रविष्ट होने योग्य हो सकते हैं।

यहां इस वर्ष जैसा कि अभी हाल मैंने कहा था २५ विद्यार्थियोंने पहली परीक्षा प्रारम्भिणीके आवेदनपत्र भरे थे जिसमें २३ विद्यार्थी ही बैठे। २ अनुपस्थित रहे। उनमेंसे १२ प्रथम श्रेणीमें, १० द्वितीय श्रेणीमें तथा १ ने तृतीय श्रेणी प्राप्त की। परिणाम सौ प्रतिशत रहा। दूसरी परीक्षा प्रवेशिकामें ५ विद्यार्थी बैठे, जिनमेंसे ३ द्वितीय श्रेणी व २ तृतीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार प्रवेशिका परीक्षाका भी परिणाम सौ प्रतिशत रहा।

यदि संस्कृत भाषाके अध्ययनमें सभी लोग अपनी रुचि दिखाये तो यहांका यह शिशु केन्द्र अच्छेसे अच्छा बन सकेगा इसके लिए प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है कि वह तन, मन, धनसे केन्द्रको **उन्नतिशील बनानेमें सहयोग दे।**

अन्तमें आपको इस केन्द्रकी ओरसे धन्यवाद देता हूं और आशा करता हूं कि सदैव परीक्षार्थियोंका उत्साह बढानेमें इस तरह आकर सहयोग देते रहेंगे। पश्चात् आभार प्रदर्शनके बाद 'वन्देमातरम्' गीत होकर उत्सव समाप्त हुआ।

यवतमाल ग. हा.

यवतमाल गर्लस् हायस्कूल २५-१२-५५ को वार्षिक स्नेह संमेलन तथा प्रमाणपत्र-वितरण समारंभ हुआ। अध्यक्षस्थान **'श्रीमती सौ. जकातदार** (उपविकास मन्त्री) महोदयाजीने मंडित किया था। तथा श्रीयुत **डॉ. कुलकर्णी उपस्वास्थ्य मंत्री** महोदयजीने समारोहका उद्घाटन किया था।

"शालाकी उन्नति किस प्रकार होना चाहिये" यह अध्यक्षीय भाषणका विषय था।

आरंभमें स्वागतगीत हुआ। लडकियोंके भाषण हुए।

"बालसंस्कृतम्" इस विषयपर संस्कृतमें कु **मृणालिनी देशपांडे** का भाषण हुआ। कु. **मालती वाळिंबे** का "माध्यमिकशालाभ्यासक्रमे संस्कृतस्य किं स्थानम्" विषयपर संस्कृतमें ही भाषण हुआ। "कु **कुसुम शिंदे** का राष्ट्रभाषाके संस्कृतभाषाके प्रति विचार" इस विषयपर हिन्दीमें भाषण हुआ। "फूलोंके गुणधर्म" विषयपर हिन्दीमें कु. **सुलोचना वेधरिया**का भाषण हुआ। मराठीमें कु. **सिंधु देशपांडे**का "भूदान" विषयपर भाषण हुआ।

भाषण होनेके बाद श्रीमती सौ. **जकातदार** मंत्री महोदयाने प्रमाण पत्र वितरण किये।

अहवाल वाचनमें श्री. **मु. अ. केसकरजी**ने अभ्यासक्रममें 'संस्कृत'का स्थान महत्त्वपूर्वक प्रगट किया। स्वा. म. तथा सं. भा. परीक्षाका महत्त्व भी प्राधान्यसे उल्लेखित किया।

अन्तमें कु. **कुंदा देवस्थळे** ने आभारप्रदर्शन किया।

राष्ट्रगीतसे प्रथम दिनका समारोह समाप्त हुआ।

दूसरे दिन २६-१२-५५ को श्री. रा.रा. **मु. अ. केसकरजी**ने स्वयं लिखे हुये "परिचारिका" नाटकका प्रयोग हुआ। इस नाटकमें लेखकको बहुत ही धन्यवाद मिले। इसीलिये यह नाटक फिरसे २०-१-५६ को प्रजानुरंजनके लिये होनेवाला है। और २६-१-५६ को मध्यप्रदेश शासनकी आज्ञानुसार नागपूरमें होनेवाली है।

नाटककी संपूर्ण शोभा तथा लोकप्रियता होनेके लिये नीचे दिये हुए व्यक्ति अभिनंदनीय हैं।

श्री. रा. रा **जोशी** (तबला वादन)

श्री. रा. रा. **घातूरकर** (पेटी वादन तथा राग बद्धता)

श्रीमती कु. **अतरकर** (गायन)

अभिनयमें **कु. ठाकरे, कु. सरदेसाई, कु. देशपांडे, कु. मंदा कांबळे** आदि प्रमुख लडकियां उल्लेखनीय हैं।

विशेष:-४-१-५६ को नागपूर महानगरपालिका शिक्षण विभाग द्वारा श्रीमती **गोपिकाबाई शिरोळे** संस्कृतवक्तृत्व स्पर्धामें ४२ हाईस्कूलोंमें भाग लिया था उसमें यवतमाल गर्लस हाईस्कूलकी कु. **कुसुम शिंदे** 'गीता पठन' में दूसरी श्रेणीमें यशस्विनी हुई। संस्कृत भाषणका विषय "साहसे श्रीः प्रतिवसति" था।

लाखेरी

दिनांक १४।१।५६ को मकर संक्रान्तिके पुण्यपर्व पर उक्त केन्द्रसे परीक्षामें सफलता प्राप्त करनेवाले परीक्षार्थियोंके प्रमाणपत्र वितरित किये गये।

सर्व प्रथम एक छोटेसे यज्ञके रूपमें मकरसंक्रान्तिके पर्वको मनाया गया व वातावरण सुगंधित बनाया। बादमें स्थानीय केन्द्राध्यक्ष श्री **गणेशदत्तजी भारद्वाज** एम. ए. बी. टी. द्वारा साधनामंडलके तत्वावधानमें संचालित संस्कृत पाठशालाके कार्यक्रमपर प्रकाश डाला गया व संस्कृतके महत्त्वको बताते हुए आपने केन्द्रकी प्रगतिके कुछ आंकडे प्रस्तुत किये। तत्पश्चात् श्री **आर० एन० जय साहेब** स्थानीय सीमेंट फॅक्टरीके मैनेजर द्वारा प्रमाणपत्र वितरित किये गये। केन्द्रसे प्रथम आने वाले छात्रको स्वाध्यायमंडल द्वारा प्रेषित पुरस्कार दिया गया तथा साथ ही साधना-मंडलकी ओरसे ८१) रु. की पुस्तकें प्रथम द्वितीय व तृतीय आनेवाले परीक्षार्थियोंमें पुरस्कारस्वरूप वितरित की गई।

बादमें श्री **गजानन्दजी मेहता**, रिटायर्ड तहसीलदारने जो कि इस क्षेत्रके संस्कृतके मान्य विद्वान हैं, अपने भाषणमें संस्कृतकी महत्ता पर प्रकाश डाला।

अंतमें कारखानेके मैनेजर साहब द्वारा केन्द्रके कार्यकी सराहना की गई, उन्होंने भी संस्कृतके महत्त्वपर विचार प्रकट किया व अपने सहयोगका आश्वासन दिया।

लोहारा

सितंबर १९५५ के सत्रमें जो छात्र उत्तीर्ण हुए उनका प्रमाणपत्र वितरण समारोह श्री. **नारायणराव लोहारेकर** बी. ए. एल. एल. बी. इनके अध्यक्षतामें हुआ ।

प्रथम केन्द्रव्यवस्थापक श्री. **ज्ञानेश्वर क्षीरसागरजीने** संस्थाका परिचय कराया। लोहारा स्थानपर संस्कृत प्रचार करनेमें आयी हुई कठिनाइयोंका हाल बताकर संस्कृतका अध्ययन किस तरह महत्त्वपूर्ण है बताया। अहवाल पढनेके बाद श्री, **संगीकर मुख्याध्यापकजी** (प्रा. शा. लोहारा) श्री. **हनुमंताचार्य** श्री. **उद्धवरावजीका** संस्कृतभाषाके विविध ज्ञानपर और उसके महत्त्वपर भाषण हुआ ।

अध्यक्षजीने भाषणमें कहा– संस्कृत सब भाषाओंकी जननी है। भारतकी अन्य भाषायें इस भाषापर अधारित हैं। भारतमें पहले संस्कृतभाषा यह व्यवहारमें बोलचालकी भाषा थी। संस्कृत भाषाके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ शास्त्र-पुराण-वेद प्रसिद्ध हैं। यह सर्व समृद्ध भाषा है। इस भाषाके व्याकरणकार पाणिनीने अपनी सर्वस्व अर्पण करके शब्दकोष तैयार किया, ऐसा शब्द भंडार अन्य भाषामें नहीं हैं। शब्दोत्पत्ति स्पष्टरूपसे बताई गई है।

"यहां महाप्रयत्नसे क्षीरसागरजीने केन्द्र चलाया है। और उसमें उन्हें सफलता मिल रही है। संस्कृत ज्ञानका मार्ग उन्होंने बतानेका प्रयास किया है और आप लोगोंने उसका लाभ उठाना ही चाहिये। "

संस्कृत प्रेमी नागरिक बहुसंख्य उपस्थित थे। आभारप्रदर्शित करनेके बाद समारोह समाप्त हुआ ।

नवरगांव

भारत विद्यालयके शारदापूजनके शुभ अवसरपर दिनांक १३-१-५६ को श्री. केन्द्रव्यवस्थापक तथा नगरसंघचालक श्री. **बालाजी पाटील** इनकी ५४ वी वर्षगांठ मनानके पश्चात् इनके ही अध्यक्षतामें प्रमाणपत्र वितरणोत्सव मनाया गया। उत्सवका प्रारम्भ स्वागतगीत और सरस्वतीजीके स्तुतिगीतसे हुआ। उसके बाद केन्द्रकी थोडी जानकारी देकर उत्तीर्ण विद्यार्थियोंको प्रमाण पत्र दिये गये।

श्रीमान् **केन्द्रव्यवस्थापक** विद्यार्थियोंको शिक्षणके महत्त्वको समझाते हुए बोले- " हम सब भारतीयोंका परम कर्तव्य है कि सब भाषाओंकी जननी संस्कृतका अध्ययन करें। सब प्रकारका यथार्थ ज्ञान संस्कृतभाषासे ही मिल सकता है। "

अन्तमें प्रधानाध्यापक श्री. **निर्वाण** महोदयने उपस्थित सज्जनोंका आभार माना और ' वंदेमातरम् ' गीतके बाद कार्यक्रम समाप्त हुआ।

हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये शास्त्रीय योग्यताओंकी मान्यता

मुंबई सरकारने सरकारी और असरकारी हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये **स्वाध्यायमंडल, पारडी** की तीन **साहित्यिक परीक्षाओं**को मान्यता दी है। इनकी योग्यता निम्न प्रकार स्वीकृत की गई है—

स्वाध्यायमंडल किल्ला पारडी (जि. सूरत) की साहित्यिक परीक्षाएं—

साहित्यप्रवीण— एस. एस. सी/मेट्रिक के समान है,
साहित्यरत्न — इन्टर आर्ट्स के समान है, और
साहित्याचार्य— बी. ए. के समान है ।

मुंबई सरकारने हमारे संस्कृत प्रचारमें यह मान्यता देकर जो हमे प्रोत्साहित किया है उसके लिये हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

— परीक्षा-मन्त्री

[स्वाध्यायमण्डल पारडी (सूरत) द्वारा संचालित]

अखिल भारतीय संस्कृतभाषाप्रचार--समिति की

२५-२६ फरवरी ५६ ई. की संस्कृतभाषा परीक्षाओंका

कार्यक्रम

शनिवार २५ फरवरी ५६		रविवार २६ फरवरी ५६	
१०॥ से १॥	२॥ से ५॥	१०॥ से १॥	२॥ से ५॥
विशारद-प्रश्नपत्र १	विशारद-प्रश्न पत्र २	विशारद-प्रश्न पत्र ३	विशारद-प्रश्न पत्र ४
×	परिचय-प्रश्न पत्र १	परिचय-प्रश्न पत्र २	परिचय-प्रश्न पत्र ३
×	×	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र १	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र २
×	×	प्रारम्भिणी	×

संस्कृतभाषाका अध्ययन करना प्रत्येक भारतवासीका राष्ट्रीय धर्म है।

संस्कृत हमारी मातृभाषा है। अतः उसका ज्ञान होना परम आवश्यक है। जो मातृभाषा है वह कठिन या दुर्बोध कैसे हो सकती है?

अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो

शिव-संकल्प।

मनुष्यके मनका धर्म कल्पना करना है। जागृतिमें मनुष्यका मन तर्कवितर्क कुतर्कके बिना रह नहीं सकता। यदि मनुष्यका मन संकल्पविकल्पात्मक कल्पना करता ही रहेगा, तो फिर इसको ठीक प्रकारकी कल्पना करनेकी शिक्षा क्यों न दी जावे? सुशिक्षाके बिना मन कुतर्क करेगा और गिरेगा। सुशिक्षासे मन उत्तम मार्गपर चलता हुआ उत्तम संकल्प करके अपनी अवस्था उच्च बना सकता है।

मनुष्यकी उन्नतिकी कोई अवधि नहीं है। मनुष्यका अभ्युदय मर्यादासे परिमित नहीं है। परंतु जब वह अपने ही कुतर्कोंसे परिमित होता है, तब मनुष्यके सामने उदासीनता उत्पन्न होती है। इसलिये ऋषिमुनियोंने सिद्धान्त बनाया है कि '**मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः**' मनुष्योंका मन ही उनके स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका कारण है। उत्तम सुसंस्कारोंसे शुद्ध मन धारण करनेवाले मनुष्य स्वातंत्र्यसुख अर्थात् मुक्तिका आनंद प्राप्त करते हैं और जिनका मन गुलामीके कुत्सित विचारोंसे परिपूर्ण होता है, वे सदा परतंत्रताके विविध बंधनोंमें सडते और मरते हैं। मनकी शक्ति इस प्रकार विलक्षण है। मन ही 'कल्पतरु' है। कल्पनाओंका तरु अर्थात् वृक्ष मन ही है। जैसी कल्पना आप करेंगे वैसे ही आप बन जावेंगे। आपके मनकी इतनी विलक्षण शक्ति है, इसीलिये आपको सावधान रहना चाहिये। अन्यथा जैसी चाहे वैसी कल्पना मनमें आ जायगी और उसका परिणाम बडा भयानक हो जायगा। इसलिये वेदने कहा है—

उत्तम सारथीका कर्तव्य

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु. ३४।६

"जिस प्रकार उत्तम सारथी रथके घोडोंको लगामोंके द्वारा उत्तम मार्गपर ही ले जाता है, उस प्रकार जो मन मनुष्योंके इंद्रियोंको चलाता है, वह हृदयनिवासी, उत्साही और वेगवान् मेरा मन सदा उत्तम संकल्प करनेवाला हो।"

वेदका यह उत्तम उपदेश है। परंतु क्या इस प्रकार वैदिकधर्मी चल रहे हैं? जो मनुष्य इस उपदेशके अनुसार अपने मनकी शक्तिको जानेंगे और उस विलक्षण शक्तिको अपने स्वाधीन रखकर योग्य कर्ममें ही उस शक्तिका उपयोग करेंगे, वे लोग ही इस लोकमें अभ्युदय और परलोकका निःश्रेयस निःसंदेह प्राप्त कर सकेंगे। वैदिक धर्मका यह प्रताप है, कि यह धर्म जहां रहेगा, वहां अभ्युदय और निःश्रेयस सदा प्रकाशित होते रहेंगे। वैदिक धर्मके होनेका तात्पर्य आचरण होनेसे है; न कि केवल विचार और उच्चारणसे। केवल विचार, उच्चारण और लेखोंमें वैदिक धर्मको रखनेवाले कभी उन्नत नहीं हो सकते। यहां कटिबद्ध होकर सदा शुद्ध आचारका ही माहात्म्य है। उक्त वेदमंत्रका दिव्य उपदेश आचारप्रधान ही है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है, कि जो कुछ वे वेदमंत्रोंमें पढेंगे, शीघ्र ही आचरणमें लानेका यत्न करें। एक समय तोतेके समान कंठ करनेवाले वेदभक्त थे, अब अर्थका डंका बजानेवाले वेदभक्त हो गये हैं। आचरणकी दृष्टिसे दोनोंके पास शून्य ही है।

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

इस मंत्रका केवल पाठ करनेवाले और केवल अर्थ जाननेवाले दोनों तबतक उन्नत नहीं होंगे, जबतक वे अपना मन शुभसंकल्पमय नहीं करेंगे। एक कुली था जिसके सिरपर खांडकी बोरी थी, परन्तु उसको बोरीके अंदर क्या वस्तु है, इसका पता न था। उसके पीछेसे दूसरा कुली आया, उसको पता था कि अपने सिरपरकी बोरीमें मिश्री

है, परंतु वह बोरीका स्वामी न होनेके कारण उसको खा नहीं सकता था। मिश्रीका आस्वाद लेनेके दृष्टिसे दोनोंका अधिकार भार सहनेका ही है। इसी प्रकार वेदको केवल कंठ करनेवाले और केवल घमंडके साथ अर्थोंका झाखार्थ करनेवाले दोनों नीचे ही रहेंगे; परंतु जो वेदके उच्च उपदेशके समान अपना आचरण बनावेगा, वही उच्च पदवी पा सकता है। इसलिये—

वेद पढनेका कर्तव्य

"वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना तथा वेदके उपदेशके अनुसार स्वयं आचरण करना और वैसा ही उत्तम आचरण करनेके लिये दूसरोंको प्रेरणा करना उच्च श्रेणीके मनुष्योंका परमधर्म है।"

इसलिये उक्त मन्त्रका विचार मनमें सदा जागृत रखिए—
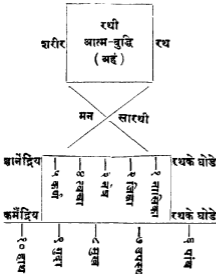
शरीररूपी इस उत्तम रथमें जीवात्मा बैठा है और उस रथको दश घोडे जोते हैं। मन इस रथमें सारथी है और आत्मा प्रवासी है। मालिक, स्वामी, धनी, इंद्र जीवात्मा ही है। जहां वास्तवमें उसको जाना है, उसी जानेवाले मार्गपरसे इस रथकी गति होनी चाहिए। यदि मनरूपी सारथी शराब पीकर उन्मत्त होगा, यदि दसों घोडे अपने योग्य मार्गको छोडकर जिधर चाहे उधर भटकने लगेंगे, तो इस शरीरकी और प्रवासी जीवात्माकी कैसी अवस्था होगी? आप ही सोच सकते हैं और पश्चात् आप अपनी अवस्था भी सोचिए। क्या आप अपने मन, इंद्रिय और शरीरके सच्चे स्वामी बने हैं? क्या आपके हितके मार्गपरसे आपका मन सब इंद्रियोंको चला रहा है? क्या क्रोध, काम आदि घातक पत्थरोंसे युक्त भयानक स्थानोंमें आपका रथ नहीं जा रहा है? क्या सब मनोविकारोंपर आपका प्रभुत्व स्थापित हुआ है? क्या आपका मन कभी कुविचारोंके गढ्ढोंमें मूर्च्छित होकर पडता नहीं? क्या आपका मन सदा शुभ कल्पनाओंमें और शुभ कर्मोंमें ही रमता है? यदि नहीं, तो आपको उचित है कि वैदिक धर्मके शुभ नियमोंके अनुकूल चलकर आप अपने मनके उत्तम स्वामी बन जाइए। दूसरे व्यवहार आपके काम नहीं आवेंगे। जो इस बातको छोडकर दूसरे ही कार्योंमें लगता है वही दस्यु होता है। देखिए वेद कहता है—

दस्युके लक्षण

अकर्मा दस्युरभि नो अमंतुरन्यव्रतो अमानुषः॥
ऋ. १०।२२।८

"मनुष्योंमें दस्यु वह होता है कि जो (अ-कर्मा) पुरुषार्थ प्रयत्न नहीं करता, (अ-मंतुः) सुविचार नहीं करता, (अन्य-व्रतः) दूसरे ही कार्य करते रहता है और उन्नतिके कार्योंको छोड देता है और जो (अ-मानुषः) मनुष्यत्वके अयोग्य कुत्सित कर्म करता रहता है" ये दस्युके लक्षण हैं। (१) आलस्य, (२) अविचार, (३) कुकर्म और (४) अमानुष क्रूर कर्म, ये चार लक्षण हैं, कि जिनसे दस्यु पहचाने जाते हैं। हरएकको सोचना चाहिए कि अपने द्वारा किस श्रेणीके कर्म हो रहे हैं?"

आप जानते हैं कि सुख बाहरसे प्राप्त नहीं होता है। आपकी मानसिक अवस्थापर ही सुख अवलंबित है। आप सुखी हैं या दुःखी हैं, इसका विचार कीजिए। आपको दुःख होनेपर आप दूसरोंको बुरा भला कहनेके लिये प्रवृत्त हो रहे हैं, यही बडी भारी गलती है। यही प्रवृत्ति बहुत बुरी है। अपने मनकी अवस्थाके कारण ही आपको दुःख हो रहा है। देखिए, सोचिए और अपने मनकी परीक्षा कीजिए।

वेद कहता है कि—

मनको सत्प्रवृत्त करो

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ॥
(ऋ. १०।२५।१)

" मनको (भद्रं) शुभ विचारमय, (दक्षं) दक्षतासे युक्त और (क्रतुं) पुरुषार्थके विचारोंसे उत्साही बनाइए।" फिर आपके पास दुःख कहां रहेगा ? इसलिये कहा है कि—

मनो यज्ञेन कल्पताम् ॥ (यजु. १८।२९)

" मन सत्कर्ममें लगाइए। " यही एक उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसको छोडकर यदि आप अन्य कुव्यवहारोंमें अपना कदम बढायेंगे तो आप " अन्य-व्रत " होनेके कारण दस्यु बनेंगे।

अपना समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। अश्लील उपन्यास, निंदासे भरे हुए अखबार, व्यर्थ गपोडोंके पुस्तक, निरर्थक गप्पाष्टक आदिमें अपना समय न गँवाए। गया हुआ समय फिर नहीं मिलेगा। जो समय है, उसका अत्यंत योग्य उपयोग कीजिए। वेदने कहा है—

आयुः यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुः यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतां
आत्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां
ज्योतिः यज्ञेन कल्पतां स्वः यज्ञेन कल्पतां
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्॥
(यजु. १८।२९)

" हे लोगो ! आपको उचित है कि आप अपनी आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन, आत्मा, ज्ञान, तेज, स्वत्व, आदि सब कुछ जो कुछ अपनी शक्ति है वह सब सत्कर्मके लिये अर्पण कीजिए। " क्योंकि सत्कर्मके विना जो आयु चली जाती है, वह व्यर्थ है। समयपर योग्य सत्कार्य करनेका अभ्यास कीजिए, जिससे आप थोडे समयमें बहुत सत्कर्म कर सकेंगे। यदि आप सत्कर्म करनेमें देरी करेंगे, तो निश्चय जानिए कि उन्नति होनेमें भी उतनी ही देरी लगेगी।

आत्म विश्वासका महत्त्व

अपने पास आत्मविश्वास रखिए। बोलने चालनेमें अपना विश्वास और अपनी अचल श्रद्धा बताइए। श्रद्धा और विश्वाससे ही उच्चता प्राप्त होती है। अपने विषयमें जिसको संशय है, वह अवश्य गिर जाता है। जिसके मनमें श्रद्धा नहीं है, वह अधोगतिमें जाता है। अपनी शक्ति, अपना प्रभाव और अपनी दक्षतापर निश्चयपूर्वक पूर्ण विश्वास रखिए। वेदने कहा है कि—

स्वं महिमानमायजतां ॥ (यजु. २१।४७)

Let him worship his own majesty. " अपने प्रभावका गौरव अपने मनमें रखिए। " इसीसे आत्मविश्वास बढता है और अपनी शक्ति बढती है। 'अपने आपको तुच्छ समझनेवाले ' प्रतिदिन तुच्छताकी ओर ही जाते हैं। अपने विषयमें अविश्वास होनेसे अंतमें मनुष्य सब प्रकारसे निकम्मा हो जाता है। जो विचार आप मनमें रखेंगे वैसे ही आप बनेंगे। इसीलिये ' शिव-संकल्प ' करना सदा उचित है।

यदि दूसरोंका विश्वास आपपर न हो तो उसकी पर्वाह न कीजिए। क्योंकि दूसरोंके विश्वाससे आपकी उन्नति नहीं होगी। विरोधियोंके साथ युद्ध करते हुए और अपना सामर्थ्य बढाते हुए आप विजयी हो सकते हैं। परंतु यदि अपना विश्वास आपपर न होगा, तो आपको कोई बचा नहीं सकता। जब आप दिनरात ' मैं हीन और दीन हूं ' ऐसा जपते जायेंगे, तब आपको उठानेवाली शक्ति इस जगत्में किसीके पास नहीं होगी; वेद कहता है कि—

अदीनाः स्याम शरदः शतं ॥ (यजु. ३६।२४)

' अदीनता ' का जप कीजिए। मैं कभी दीन नहीं होऊंगा, मैं सदा श्रेष्ठ होऊंगा, मैं पराजित नहीं होऊंगा, मैं स्वयं श्रेष्ठ होकर दूसरोंको श्रेष्ठ करूंगा, मैं अपनी दीनताको दूर करके दूसरे दीनोंका उद्धार करूंगा,। इस प्रकारके उच्च वैदिक विचार सदा मनमें रखिए। मनुष्य जैसे विचार करता है, वैसाही बन जाता है।

मनकी शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कीजिए। आप अपने मनको कमजोर समझते हैं, परंतु वास्तवमें आप देखिए, आपका मन बडा ही शक्तिशाली है। उसमें शक्ति है इसी-लिये वह बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। यदि उसमें शक्ति न होती, तो बुरे कर्म भी उससे न होते। इसलिये बुरे कर्मोंसे अपने मनको रोकिए और उसका मार्ग अच्छा कीजिए। बस, इतना करनेसे ही आपके मनका तेज चमकने लगेगा।

मनके प्रभु बनकर रहिए, मनके गुलाम बनकर परतंत्र न रहिए। इसीलिये वैदिक धर्म प्रवृत्त हुआ है। अपनी कमजोरियोंको चाहे आप न जानिए। केवल अपनी शक्तिको सबसे प्रथम जानिए। दूसरोंकी कमजोरियोंका विचार भी छोड दीजिए। यदि दूसरोंका विचार करना है तो आप उनके 'श्रेष्ठ गुणोंका विचार' कीजिए। इससे आपके मनमें श्रेष्ठ गुणोंका वायुमंडल जमा हो जायगा।

अदीन बनो

"मुखसे अच्छे शब्द बोलिए, कानसे अच्छे शब्द सुनिए, आंखसे अच्छे ही पदार्थ देखिए, शरीरसे अच्छे ही कर्म कीजिए।" (ऋ. १।८९।८)

यह वेदका उपदेश है। जब आप अपने धर्मकी प्रतिष्ठा बढानेके लिये दूसरोंके मतमतांतरोंका खंडन करनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब दूसरोंके छोटेसे दोषका पर्वत बना देते हैं। इससे गुणग्राहकता कम हो रही है। जिस प्रकार मधुमक्षिका वृक्षोंके कांटोंकी ओर न देखती हुई, फूलोंका मधुग्रहण करती रहती है, उसी प्रकार दूसरोंके कांटोंमें आप न फँसते हुए जहाँसे आपको मधु मिले; लेते जाइए। आप कांटोंको इकठ्ठा क्यों कर रहे हैं? फुलोंको इकठ्ठा कीजिए। यही धर्म है।

द्वेष करनेवालोंपर प्रीति कीजिए, क्रूरोंपर दया कीजिए, दुःख प्राप्त होनेपर हंसनेका अभ्यास कीजिए, दुःख देनेवालेका भी स्वय अहित न कीजिए। सारांश कि आपसे सदा अच्छे श्रेष्ठ विचार- उच्चार- आचारोंका ही स्रोत चलता रहे, ऐसी व्यवस्था कीजिए। दुनियाके कष्टोंमें अपनी ओरसे आप कष्टोंकी संख्या न बढाइए, परंतु आपके शुभ संकल्पोंसे विश्वमें शुभ विचारोंकी लहर चलने दीजिए।

'शिवसंकल्प' अपने मनमें सदा जागृत रखिए। किसी प्रकारकी अशिव, अशुभ, अभद्र बात आपके मनमें कभी न आने दीजिए। उत्साही और आत्मविश्वासी श्रेष्ठ लोगोंकी संगतिमें रहिए। अपने घरमें और घरके बाहिर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कीजिए कि जो शुभ वायुमंडलसे पवित्रता बनानेवाली हो। उच्चता, अभ्युदय और उन्नति साधन करनेका यही एक 'सत्य मार्ग' है। इससे भिन्न नीचता, अवनति और दुःस्थिति प्राप्त करानेवाले कुमार्ग हजारों हैं। कुमार्गोंके प्रलोभनोंमें न फंसते हुए निश्चयसे एक शुद्ध वैदिक धर्मके सत्य मार्गपरसे ही चलिए। सत्यनिष्ठा अर्थात् सत्यका आग्रह ही इस मार्गका नेता है। जहां आप सत्यसे दूर होंगे वहां आप धर्मसे भ्रष्ट हो सकते हैं।

आपकी हानि कौन करेगा?

आपकी शांति, प्रसन्नता, सुख, आनंद और शक्तिकी हानि कोई नहीं कर सकता, जबतक की आप ही इनका विरोध न करेंगे। न जानते हुए आप मनोविकारोंकी कुत्सित भावनाओंके गुलाम बन जाते हैं और नाना प्रकारके हीन प्रलोभनोंमें फंस जाते हैं, दूसरोंकी व्यर्थ निंदामें कालक्षेप करते हैं, बडे पुरुषोंका महत्त्व सहन न होनेके कारण निष्कारण उनका मत्सर करते हैं, क्रूरताका अवलंबन करके दूसरेके घातसे अपनी उन्नति करनेकी व्यर्थ इच्छा धारण कर रहे हैं, कामोपभोगकी लालसा तृप्त करनेके लिये दूसरोंके सतीत्वकी आहुतियाँ लेनेका भयानक प्रयत्न किया जाता है, अयोग्य महत्त्वाकांक्षामें अपना सब जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कई लोग अपने अज्ञानका ही घमंड भरकर मूढ हो रहे हैं। ये ही मनके भाव हैं कि जो आत्माकी प्रसन्नताका नाश कर रहे हैं। इसीलिये वेद कहता है कि '**मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु।**' देखिए वेदका कितना उच्च उपदेश है।

मन जब 'शिव- संकल्प' करने लगता है तभी उसकी योग्यता बढती है, उसका तेज फैलने लगता है और वह जो कहता है, बन जाता है। शिव-संकल्प करनेवाला मनुष्य जहां जाता है, वहां सब शुभमंगल बना देता है। बुरे समयको भला बना देता है, क्योंकि उत्साहपूर्ण अमृतका स्रोत उसके अंतःकरणसे बहने लगता है। इसलिये हीन गुण वहाँ नहीं रह सकते, जहां शिवसंकल्प रहता है।

निराशा और भय वहाँ नहीं रहता, जहाँ शिवसंकल्प रहता है। क्योंकि संकुचित भावमें भय है, व्यापक उच्च भावनामें भय कहां है? कितना ही भयका डरानेवाला प्रसंग आ जावे, बडे प्रबल विरोधियोंका मुकाबला करना पडे, बडी मुसीबतका घोर समय आ जावे, किंवा कोई भी सहायता करनेके लिये प्राप्त न होवे, तो उस समय एक मात्र 'शिव-संकल्प' है, जो सब कठिनाइयोंसे पार ले जा सकता है। यह शिवसंकल्प धैर्यका साथी और विजयका पिता है। जो मनुष्य शिवसंकल्प करता है वही मनुष्य

योग्य बात योग्य समयमें उत्तम रीतिसे करनेके लिये नहीं डरता, क्योंकि उसके मनके अंदर एक ही शिवमंगलमय परमेश्वरका शुभसंकल्प सदा जागृत रहता है।

यजुर्वेद अंदर (अ. ३४।१—६) शिवसंकल्पके केवल छः मंत्र हैं। परंतु उनमें मनके तत्त्वज्ञानकी सब बातें रखी हैं। मनकी विलक्षण अद्भुत शक्तिका वहां स्मरण दिलाया है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे नित्य इन छः मंत्रोंका अवश्य मनन करें।

वास्तवमें सब वेद ही शिवसंकल्पमय है। वेदके सूक्त सच्चे सु- उक्तियोंसे भरे हैं। उत्तम वचन अर्थात् वेदके सुभाषितोंके समान भाव मनमें रखने उचित हैं और उन्हीं बातोंको बोलना और सुनना चाहिए। मनुष्यका निरुत्साह हटानेवाले वेदमंत्र ही हैं, इसलिये उद्धारकी इच्छा करनेवाले लोगोंको वेदके मंत्रोंका भाव मनमें धारण करना उचित है। देखिए वदेके भाव कैसे हैं-

दस सुवर्ण नियम

अहमिंद्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन । सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ ५ ॥ अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति । खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निंदन्ति शत्रवोऽनिंद्राः ॥ ७ ॥ ऋ. १०।४८

(१) " अहं इंद्रः ।"— मैं इन्द्र हूं। मैं आत्मा हूं। मैं ही मुख्य हूं। मेरी अर्थात् इंद्रकी विविध शक्तियाँ ही इंद्रिय (इंद्र-इ-य) रूपसे महान् कार्य कर रही हैं। आंखोंकी दर्शनशक्ति, कानोंकी श्रवणशक्ति, तथा अन्य इंद्रियों, अंगों और अवयवोंकी सब विलक्षण शक्ति मेरी ही है। मैं इंद्रियादिकोंका प्रेरक आत्मा हूं और मेरी शक्ति ही इस शरीरमें सर्वत्र कार्य कर रही है। मैं इंद्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् हूं और सब इंद्रियोंकी शक्तियां ही मेरा ऐश्वर्य है।

(२) " अहं इत् धनं न, पराजिग्ये। "— मैं अपने ऐश्वर्यके कारण किसीसे पराभूत नहीं हो सकता। अर्थात् मेरा ऐश्वर्य, मेरा बल किसी अन्यसे न्यून नहीं है। मेरा कभी पराभव नहीं होगा। मैं विजय प्राप्त कर सकता हूं। सदा मेरा विजय ही होता रहेगा। बुरी अवस्था मेरे सम्मुख खडी नहीं रह सकती। कितना भी कठिन प्रसंग आ गया, तो भी उसका मुझे डर नहीं है। मैं आपत्तियोंसे न डरता हुआ, अवश्य अपना सीधा मार्गक्रमण करके अपनी उच्चताको प्रकाशित करूंगा।

(३) " मृत्यवे कदाचन न अवतस्थे। "— मैं कदापि नहीं मर सकता। मैं अमर हूँ। मृत्यु मेरा क्या करेगा? जलसे मैं गीला नहीं होता, आग मुझे जला नहीं सकती, वायु मुझे सुखा नहीं सकता, पृथ्वीसे मुझे ठोकर नहीं लग सकती! क्योंकि मैं आत्मा हूँ और मैं सबका प्रेरक स्वामी हूँ। मैं अपने आत्मस्वरूपको कभी नहीं भूलूँगा। बाल, तरुण, वृद्ध अवस्थाओंसे मैं भिन्न स्वतंत्र हूं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्तिसे मैं परे हू। जन्ममरणसे मैं दूर हूं। मैं अज और अविनाशी हू। मुझे मृत्युका भय नहीं है। मैं व्याधि और बीमारियोंसे परे हूँ। शरीरसे भिन्न मैं अविकारी आत्मा हूं। इस उच्च स्थितिसे मुझे कोई दूसरी शक्ती नीचे नहीं गिरा सकती।

(४) " सोमं सुन्वन्तः इत् वसु याचत। "— हे लोगो! अग्नि और सोम ये दो शक्तियाँ आपके अंदर हैं। शांति और प्रसन्नता देनेवाली सोमशक्तियाँ आपके मनके अंदर ही हैं। इस सोमके शांतिपूर्ण रसका पान करते हुए (वसु) अपने निवासके साधनोंको प्राप्त कीजिए। मैं अपने शांत शक्तिको अपने स्वाधीन रखता हुआ, अपने निवासके लिये योग्य साधनसामग्रीको प्राप्त करता हूँ। मैं आत्मा, इंद्र अथवा अग्निरूप हूँ और इस शरीरमें मेरेसे भिन्न सब शारीरिक शक्तियाँ सोमरूप हैं। इन सोमशक्तियोंसे मैं योग्य उपयोग लेता हुआ अपना विजयका मार्गक्रमण कर रहा हूँ।

(५) " हे पूरवः! मे सख्ये न रिषाथन। "— हे नागरिको! हे सज्जनो! मैं जो आत्मा हूँ उसकी मित्रता करनेसे किसीका नाश न होगा। आत्माका विचार, आत्मशक्तियोंका चिंतन करने और अपनी शक्तिपर विश्वास रखनेवाले मनुष्योंका कभी नाश नहीं हो सकता। आत्म-विश्वास ही सब उच्चताका एकमात्र साधन है।

(६) " एकः अस्मि। " मैं अकेला हूँ। मैं आत्मा अकेला ही हूँ। मन, चित्त, अहंकार, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय आदि मेरेसे भिन्न शक्तियां बहुत हैं। परंतु हे विविध शक्तियां धारण करनेवाले विविध इंद्रियो! यह आप न समझें कि मेरा मुकाबला कर सकोगे। मैं अपराजित आत्मा हूं।

(७) " इंद्रं एकं निष्षाड् अभि इत्। "— इस एक एक इंद्रियके ऊपर मैं अपने विलक्षण सामर्थ्यके कारण अवश्य विजय प्राप्त करूंगा। मैं इंद्रियोंसे परास्त नहीं हो सकता। एक एक इंद्रिय चाहे जितना प्रयत्न करे उससे कभी मैं पराजित नहीं हो सकता। मैं इंद्रियोंको संयमद्वारा अपने आधीन ही रखूँगा। मैं कमजोर नहीं हूं। मैं (नि-षाड्) सबसे अधिक बलवान् हूं।

(८) " अभि द्वा किमु त्रयः करन्ति। "— हे इन्द्रियो! आप दो अथवा तीन किंवा इससे भी अधिक मिल जाओगी, तो भी आपसे मेरी क्या हानि होगी? मेरी शक्ति आपके अंदर जाकर आपके द्वारा कार्य कर रही है। इसलिये मैं आप सबका नियंता हूं। आप मेरा पराभव नहीं कर सकते। आप सबका दमन करके आपको मैं ही स्वाधीन रखूंगा। आप सबको मैं ही आधीन रख सकता हूँ। क्योंकि मैं आत्मा अर्थात् इंद्र हूँ। इसलिये आप सबको मेरे आधीन रह कर ही कार्य करना होगा।

(९) " पर्पान् खले न भूरि प्रति हन्मि। "— जिस प्रकार धानको चक्कीमें बहुत प्रकारसे पीसा जाता है, अथवा घासके गट्ठोंको पत्थरोंपर अनेक वार मारनेपर भी पत्थरका कुछ नहीं बिगडता, उसी प्रकार इन शत्रुओंको मैं पीस डालूंगा अथवा उनके हमलोंसे मेरा किसी प्रकार भी नुकसान नहीं होगा। मैं स्थिर और दृढ हूं और ये मेरे सब शत्रु सबके सब कच्चे और कमजोर हैं। इसलिये ये मेरे द्वारा पीसे जायंगे, मेरे शत्रुओंका मैं पराभव निश्चयसे करूँगा।

(१०) " अन्- इद्राः शत्रवः मा निंदन्ति किं। " क्या आत्मज्ञान न रखनेवाले मेरे शत्रु मेरी निंदा कर रहे हैं? करने दें। उनकी निंदाकी मैं पर्वाह नहीं करता। उनकी निंदासे मैं अपने मार्गको कभी नहीं छोडूंगा। मैं उनकी निंदा नहीं करूंगा। क्योंकि निंदा करनेसे मेरी वाणीमें अशुभ शब्द आ जायंगे और मेरी वक्तृत्वशक्ति मलीन होगी। इसलिये निंदाका स्वभाव शत्रुओंके पास ही रहे। मैं कभी निंदा करनेवाला नहीं बनूंगा। जो निंदा करना चाहते हैं, बेशक करें। मैं उनके बुरे शब्दोंके कारण अपने सत्य मार्गसे कभी नहीं हटूंगा। यही मेरा पक्का दृढ निश्चय है। यही मेरी पूर्ण प्रतिज्ञा है। मैं कभी अपनी प्रतिज्ञासे पीछे नहीं हटूंगा। क्योंकि मैं इंद्र हूँ, मेरी शक्तियां सर्वत्र फैल रही हैं। सब शरीर भर मेरी शक्तियां कार्य कर रही हैं।

वेदके उत्साहपूर्ण मंत्र इस प्रकारकी भाषा बोल रहे हैं। यही विचार सबको मनमें सदा धारण करने उचित हैं। मन कल्पना करता ही है। प्रथम उसको सम्यक् कल्पना (सं-कल्प) करनेका अभ्यास कराइए। जब उत्तम कल्पना वह करने लगे तब शुभसंकल्प (शिव-संकल्प) केवल श्रेष्ठ उत्तम ही विचार करनेका अभ्यास कीजिये। बुरे विचारोंका ख्यालतक मनमें न आजाय ऐसी अवस्था उत्पन्न कीजिए। " शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार " ये तीन बातें हैं जो श्रेष्ठताके मार्गक्रमणमें सहायक हैं।

कदाचित् प्रिय पाठकोंके मनमें संदेह होगा कि ऐसा मानने और कहनेसे क्या हो सकता है? कल्पनामात्रसे क्या होगा? ऐसी शंका करनेवालोंसे इतनी ही नम्र प्रार्थना है, कि केवल एक महिनाभर उक्त वैदिक विचार ही मनमें रखिए, अशुभ भावनाओंको एक मासतक दूर कीजिए। मुझे निश्चय है कि एक मासके पश्चात् आप उक्त शंका करेंगे ही नहीं। देखिए, अनुभव सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है।

निंदा करनेसे भी हानिकी संभावना

दूसरेकी निंदा करनेसे हानि क्यों होती है? इस प्रश्नका उत्तर यहां इतने विवरणसे पाठकोंको मिला ही होगा। " वह मनुष्य धोखा देता है, वह व्यभिचारी है, वह असत्य भाषण करता है " इत्यादि प्रकार प्रायः लोग दूसरेकी निंदा करते हैं। ऐसी निन्दा करनेसे क्या होता है, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। इस तरहकी निन्दा करनेसे मनुष्यके मनमें उक्त दुर्गुणोंके संस्कार होते जाते हैं। पूर्वोक्त तीन वाक्योंमें ' धोखा देना, व्यभिचार और असत्य भाषण करना ' ये तीन कुकल्पनाएं हैं। पूर्वोक्त निन्दा करनेसे जिसकी निन्दा की जाती है उसका कुछ भी बिगडता नहीं, परंतु जो निन्दा करता है उसमें इन वाक्योंके संस्कार जमते जाते हैं और यदि यही निंदा वारंवार की जायगी तो वे कुसंस्कार अधिकाधिक दृढ बनते जायंगे।

ऐसी कल्पना कीजिए, एक मनुष्य दूसरेकी निंदा नहीं करता, परंतु अपनी ही निंदा करता है। कई लोग प्रार्थना

करनेके समय कहते हैं कि " हे ईश्वर! मैं तुच्छ हूं मलिन हूं, दीन हूं, दुष्ट हूं, कुकर्मी हूं, पापी हूं, अधम हूं, दुराचारी हूं। " इत्यादि प्रकार अपने अंदर जो दोष होंगे या न होंगे उनकी गिनती करते जाते हैं। अपने अन्दर जो दोष हैं उनका उच्चारण करना और उनको दूर करनेका यत्न करना चाहिये ऐसा इनका मत रहता है। कई लोगोंको तो प्रभुकी प्रार्थना करनेके समय अपनी नम्रता दिखानेका व्यसन ही हुआ करता है और इस व्यसनके मदमें आकर वे अपने योग्य और अयोग्य दोष बोलनेका यत्न करते हैं। वे मनसे समझते हैं कि ऐसा करनेसे अपनी भी उन्नति होती है और सुननेवालोंकी भी उन्नति होती है। परंतु वे बडी भारी गलती करते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार अपने दोष बतानेके लिये जो वाक्य उच्चारे जाते हैं उनका भी भाव वैसाही अपने मनमें स्थिर होता जाता है। अपनी तुच्छता, मलिनता, दोषयुक्तता आदिका ध्यान किया जाय तो भी वही परिणाम होगा, जैसा दूसरेकी तुच्छता, मलिनता, दोषमयताका ध्यान करनेसे होगा। मनुष्य जिसका वारंवार ध्यान करेगा वैसा बनेगा। यदि वह तुच्छताका ही विचार करता रहेगा तो वह निःसन्देह तुच्छ बनेगा। ऐसी प्रार्थनासे यही घातपात हो रहा है। वे बिचारे उत्तमभावसे आत्मदोषोंका उच्चारण करते हैं और मानते हैं कि यह उन्नतिका मार्ग है। परंतु फंसते जाते हैं। उनपर उक्त हीन कल्पनाके संस्कार होते जाते हैं और उनकी अधिक मलिनता होती जाती है। न समझते हुए उनसे यह दोष होता रहता है।

हीनताके उच्चारणकी प्रणाली वैदिक नहीं है। कोई मंत्र आप लीजिये, उसमें उच्च विचार ही आपको दिखाई देंगे। क्वचित् कोई मंत्र ऐसा होगा कि जिसमें दुष्ट गुणोंका वर्णन हुआ हो। परंतु देवताके श्रेष्ठ गुण ही सर्वत्र वर्णन किये हैं। श्रेष्ठ सद्गुणोंका महासागर परमेश्वर है, उसीके गुणोंका मनन करना वैदिक धर्मका अनुष्ठानका भाग है। ईश्वरस्तुति, ईश्वरोपासना आदिमें हीन विचार आवेंगे ही कहांसे? ईश्वरस्तुतिका अर्थ ही श्रेष्ठ सद्गुणोंकी स्तुति है। श्रेष्ठ सद्गुण वारंवार कहनेसे उनका शुभ संस्कार अपने मनपर जमा होता है और वे सद्गुण अपने अंदर बढते हैं। यही मानवोंकी उन्नति करनेका एकमात्र साधन है।

अपनी हीनताका उच्चारण करनेकी कुप्रथा बौद्धोंद्वारा प्रचलित हुई। उनके पास श्रेष्ठ सद्गुणोंका निधान परमेश्वर था ही नहीं। उनके पास तो मनुष्य ही कुसंस्कारोंवाले थे। उनको देखनेसे उनके हाथ दुष्ट भावही आनेवाले थे सो आगये और अतः वे " मैं हीन, मैं दीन, मैं पामर " इत्यादि बातें बोलने लगे। यह प्रथा बुद्धधर्म द्वारा उत्पन्न हो गई और बढी और इसीका परिणाम वैदिकधर्मपर भी हुआ और हिंदु धर्ममें इसीकी नकल की गई। बुद्धधर्ममें ईश्वरकी कल्पना नहीं है, इसलिये उनके मननके लिये श्रेष्ठ सद्गुणोंका निधान कहां है? ईश्वरकी अनुपस्थितिमें वे किसका ध्यान करें? और श्रेष्ठ कल्पना कहांसे लावें? उनका जगत् दुःखमय है, नश्वर है, दोषोंसे परिपूर्ण है। यही उनके सम्मुख प्रत्यक्ष है। यही बुद्धधर्मी लोग देखते हैं और उसीका मनन करते हैं। इसलिये उनकी उपासनामें दुःख, दोष और पापका उच्चारण प्रमुखतया है।

वैसा देखा जाय तो कई मत जगत्के दुःख, दोष और पापोंपर रचे गये हैं। परतु वेदकी बात वैसी नहीं है। इसकी बुनियाद आनंदकन्द परमात्मापर है, जो दुःखशोक-विकारोंसे पृथक् है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। जो आनंदकंद है, स्वानंदसाम्राज्य जिसका निज सहजसिद्ध है। जो शुद्ध श्रेष्ठ परात्पर और दोषरहित है। भला इस परमेश्वरके उपासक मलिनता, दुष्टता और दोषमयताका मनन किस प्रकार कर सकते हैं। वैदिकधर्मी अपनी स्तुति, प्रार्थना, उपासना वेदमंत्रोंद्वारा करते हैं। वेदमंत्रोंमें मलिनताका लेश भी नहीं। परमेश्वरके शुभ गुणोंका आप जितना मनन करेंगे उतना मन शुद्ध बुद्ध और मुक्त बनता जायगा। उसमें हीन विचारोंका लेश भी जानेका संभव नहीं है। जिस समय उपासनाके ईश्वरको दूर किया जायगा, तभी तो हीन विचार, हीन उच्चार और हीन आचारोंका संभव हो सकता है। यहां पाठकोंके मनमें वैदिक और अवैदिक धर्मोंकी उपासनाका भेद आगया होगा।

वेद वारंवार कहता है कि 'कानोंसे अच्छे शब्द सुनो, आंखोंसे अच्छे विचार देखो और पवित्र आचरण करो।' इसका हेतु ही यह है कि उपासकका वायुमंडल पवित्र बने, शुभ बने और उपासक पुनीत होता जाय। मानवी उन्नतिके लिये इस तरहकी पवित्रताकी

*

अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये पाठक अवैदिक रीतिकी प्रार्थना करके अपने आपको गिरानेका अभ्यास न करें, परंतु वैदिक प्रार्थनाओं द्वारा अपने आपको शुद्ध और पवित्र बनावें और शुद्ध बुद्ध मुक्त बननेके अधिकारी बनें।

मनकी विलक्षण शक्ति

वेदमें मनकी अपूर्व और विलक्षण शक्तिका वर्णन है। देखिए—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः
शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु० ३४।१

"जो (दैवं) दिव्य शक्तिसे युक्त मन जागृत अवस्थामें दूर दूर जाता है, और निश्चयसे वह (सुप्तस्य) सोते हुए भी वैसा ही दूर चला जाता है, यह दूर जानेवाला, ज्योतियोंका एकमात्र प्रकाशक मेरा मन शुभ विचार करनेवाला होवो।" इस यजुर्वेदके मंत्रमें मनकी शक्तियाँ वर्णित हैं। इस प्रकार चारों वेदोंमें मनकी शक्तियोंका वर्णन करनेवाले अनेक मंत्र हैं। इन मंत्रोंका मनन करनेसे तथा मंत्रके विधानोंकी सत्यता प्रत्यक्ष अनुभवके व्यवहारोंमें देखनेसे वेदके उपदेशका महत्त्व व्यक्त हो सकता है। उक्त मंत्रमें मनके निम्नलिखित गुण लिखे हैं—

(१) जाग्रतः दूरं उदैति।... मन जागृत अवस्थामें दूर दूरके स्थानोंपर चला जाता है।
(२) सुप्तस्य तथा एव एति।... सोनेवालेका मन भी उसी प्रकार दूर दूरके स्थानोंपर चला जाता है।
(३) दूरंगमं।... दूर दूरके स्थानपर चला जाना, यह मनका स्वाभाविक धर्म ही है।
(४) ज्योतिषां ज्योतिः।... तेजोंका तेज मन है अर्थात् मन तैजस् पदार्थ है। विद्युत् तत्त्वका मन बना है।
(५) एकं।... मन एक है।

अब इन बातोंका अनुभवके प्रमाणोंसे निश्चय करना है। 'जागृत अवस्थामें मन दूरके स्थानोंमें चला जाता है, यह मंत्रका प्रथम विधान है। कई विद्वान व्याख्याता कहते हैं कि मन एक क्षणमें सूर्यका विचार करता है तो दूसरे क्षणमें घरका विचार करता है, इस प्रकार यह मन क्षणमें सूर्यलोकसे पृथ्वीपर आता है। परंतु वेदके उक्त वचनका यह तात्पर्य नहीं है। जागृत अवस्थामें मन दूर जाता है न कि दूरके पदार्थका विचार करता है। केवल यहांसे सूर्यका विचार मनमें आगया, तो हमारा मन वहां गया था, ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता। उक्त मंत्रमें 'दूरं एति' 'दूरंगमं' ये शब्द स्पष्ट कह रहे हैं कि जागृत मनुष्यका तथा सुप्त मनुष्यका मन एक स्थानसे निकलकर दूसरे स्थानमें जाता है और वहाँ कार्य करता है। हमारे जैसे साधारण मनुष्योंका ऐसा अनुभव नहीं कि जागृत अवस्थामें हमारा मन दूसरे स्थानपर गया है और वहाँका ज्ञान उसको प्राप्त हुआ है।

जिसका मन जागृत अवस्थामें दूरके स्थानपर जा सकता है, उसको पता लग सकता है कि दूरके बंद कमरेके अंदर बैठा हुआ मनुष्य क्या कार्य कर रहा है। हमारा मन सुप्त अवस्थामें तथा स्वप्नमें दूरके स्थानपर चला जा सकता है, परंतु जागृतिमें दूरके स्थानपर जानेका उनको अभ्यास ही नहीं है। ध्यानयोगके बहुत अभ्याससे इस प्रकार अपने मनको दूरके स्थानपर भेजा जा सकता है और वहाँका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा योगके ग्रंथोंमें कहा है। परंतु इस प्रकार करनेवाले सत्पुरुष इस समयतक मैंने नहीं देखे।

स्थानका प्रतिबंध नहीं है

मनकी गतिके लिये स्थानका प्रतिबंध नहीं है। एक स्थानपर बैठा हुआ मनुष्य, न केवल उस ग्रामके परंतु अत्यंत दूर देशके मनुष्यका वृत्तांत जान सकता है। जिसका मन इस प्रकार जागृत अवस्थामें दूर भेजा जा सकता है। यह बहुत अनुष्ठानका तथा अत्यंत दृढ अभ्यासका साधन होनेसे अत्यंत कष्टसे सिद्ध होता है। वैदिक धर्मकी यह एक मानसिक सिद्धि है। जो वैदिक धर्मका झंडा दुनियाभरमें फहराना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे अपने मनकी शक्तियोंका थोडासा अनुभव प्रथम ले लें। तत्पश्चात् दूसरोंको मनानेका प्रयत्न करें। प्रथम स्वयं मानना और पश्चात् दूसरोंको मनवाना होता है। जगत्‌भरमें वैदिक धर्मका प्रकाश वही फैला सकता है कि जो आद्योपांत वेदको जान सकता है। वेदको स्वयं न जानते हुए ही आजकल 'वेद-प्रचार' चल रहा है, इसीलिये प्रतिदिन अश्रद्धा बढ रही है। तात्पर्य केवल युक्तियोंसे धर्मकी श्रद्धा

नहीं बढ़ सकती और न वैदिक धर्मका तेज फैल सकता है। योगसाधनसे प्रत्यक्ष अनुभव देखनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। जागृतिमें मनको दूसरे स्थानपर ले जानेकी शक्ति प्राप्त करनेसे ही उक्त मंत्रका मतलब समझमें आ सकता है। केवल शब्दोंके अर्थज्ञानसे भी क्या लाभ हो सकता है? 'जागृत अवस्थामें मन दूर जाता है' यह उस वचनका तात्पर्य है। इस शब्दार्थको जाननेसे किसको कौनसा लाभ हो गया? जबतक हम अपने मनको दूसरे स्थानपर नहीं भेज सकते, तबतक उक्त शब्दोंका अर्थ समझनेसे भी कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता। प्राचीन ऋषि-मुनियोंको अपना मन दूसरे स्थानपर भेजने, वहाँका ज्ञान प्राप्त करने तथा वहाँ कार्य करनेकी शक्ति थी। महाभारतादि ग्रंथोंमें कई कथाएं आती हैं, कि किसीने ध्यान लगाकर दूसरे स्थानके मनुष्यका वृत्तांत जान लिया। उस समयमें भी यह विद्या सार्वत्रिक नहीं थी। बहुत थोडे महात्मा इस विद्यामें प्रवीण थे। इस विषयमें शतपथका निम्न वचन विचारपूर्वक देखनेयोग्य है—

स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्ट्या वा यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद्वृष्टिकामो वा अस्मीति। तत्रोऽध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेति। अभ्राणि मनसा ध्यायेति अग्नीधं। स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारं। सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं। वर्षति हैव तत्र यत्रैवं-मृत्विजः संविदानाः यज्ञेन चरन्ति॥

शतपथ १।५।२।१९

"यदि यजमान वृष्टिकी इच्छा करता हो तो वह... कहे कि मैं वृष्टिकी इच्छा करता हूं और अध्वर्युको कहे कि वह पूर्वका वायु और विद्युत्का मनसे ध्यान करे। अग्निध्रको कहे कि वह बादलोंका ध्यान करे। होताको कहे कि वह इन मेघगर्जना और वृष्टिका मनसे ध्यान करे और ब्रह्माको कहे कि वह इन सबका मिलकर ध्यान करे। निश्चयसे वहाँ वृष्टि होती है कि जहाँ इस प्रकार (मानस शक्तिसे कार्य करनेवाले) ऋत्विज मिलकर यज्ञ करते हैं।"

मनके दूर जाकर कार्य करनेकी शक्तिकी यह एक सिद्धि है। ऋत्विज इस प्रकार ध्यानद्वारा अपने मनको बाहर आकाशमें भेजते थे और जहां बादल होंगे वहांसे उनको खींचकर लाते थे और वृष्टि कराते थे। जागृत अवस्थामें मन बाहर जाता है और वहां कार्य करता है इसका यह मंत्रोक्त प्रमाण है। शतपथब्राह्मणके लेखक आचार्य याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि "जहां ऐसे ऋत्विज होंगे वहां अवश्य वृष्टि होगी।" इसका दूसरा तात्पर्य यह है कि जहां ऐसे ऋत्विज होंगे वहां ही अन्य यज्ञोंकी सिद्धियां होंगी। पुत्र-कामेष्टि आदि यज्ञ हैं कि जिनके करनेसे अपने मनकी इच्छानुरूप पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है, उनकी सिद्धि भी ऋत्विजोंकी मानसिक योग्यतापर निर्भर है। इससे पता लग सकता है कि मानसिक योग्यताके विना किया हुआ कर्म फल नहीं दे सकता।

एक प्रयोग करो

जागृत अवस्थामें मनको दूर भेजने और वहां कार्य करनेकी शक्ति आजकल प्रायः लुप्त ही है और उसको पुनः कार्यक्षम करनेका कोई प्रयत्न नहीं करते। जागृत अवस्थामें एककी मानसिक शक्ति दूसरेके मनके ऊपर परिणाम कर सकती है। इसका अनुभव थोडेसे परिश्रमसे पाठक भी देख सकते हैं। आठ दस मनुष्य यदि एक विचार के—और विशेषतः सुविचारी-हों तो वे एकांत और शांत स्थानपर निम्न प्रकार बैठें—

'अ' स्थानपर ऐसा मनुष्य बैठे कि जो अपना मन निर्विचार, स्थिर और शांत रख सके तथा 'क ख' आदि स्थानपर ऐसे मनुष्य बैठें कि जो अपने मनमें सब मिलकर एक ही विचार प्रबल कर सकते हैं। 'क ख' आदि स्थान-पर बैठनेवाले मनुष्य, 'अ' को विदित न करते हुए, किसी प्रसिद्ध पदार्थकी कल्पना मनमें धारण करें, और इस प्रकार बैठनेके पश्चात् वही कल्पना अपने मनमें

प्रबलतापूर्वक जागृत करें और अपनी मानसिक शक्तिसे वह कल्पना 'अ' के मनमें डालनेका पराकाष्ठाका यत्न करें। यदि 'अ' का मन निर्विचार और शांत रहा, तथा 'क ख' आदि मनुष्योंमें केवल वही एक विचार स्थिर और प्रबल रहा, तो विना कहे 'अ' के मनमें वही कल्पना आती है कि जो 'क, ख' आदि मनुष्योंके मनमें थी। यदि किसी एक मनुष्यमें विपरीत भावना उत्पन्न हो गयी तो सिद्धिमें विघ्न होता है। इसलिये प्रबलतापूर्वक दृढ निश्चयसे और एक विचारसे यह अनुभव लेना उचित है। इसके लिये अधिक परिश्रमकी आवश्यकता भी नहीं है। मनके विचारोंका दूसरेपर किस प्रकार परिणाम होता है इसका अनुभव इस रीतिसे प्राप्त हो सकता है। प्रथम आरंभमें प्रसिद्ध फल, फूल आदि पदार्थोंका ध्यान करना, जिससे 'अ' के मनमें झट कल्पना आनेके लिये सुविधा हो सकेगी।

एक मनुष्यके मनके विचारोंका परिणाम इस प्रकार दूसरेके मनपर होता है, इसीलिये उक्त मंत्रमें कहा है कि—

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

'मेरा मन शिवसंकल्पमय होवे।' यदि मनके अंदर बुरे विचार उत्पन्न हो गये, तो उनका बुरा परिणाम अन्य मनुष्योंपर हो सकता है, तथा यदि विचार अच्छे हो गये तो उनका परिणाम भी अच्छा हो सकता है। यहां स्मरण रहे कि हमारे हरएक विचारका बुरा भला परिणाम दूसरोंपर हो रहा है। परिणाम किये विना कोई विचार रहता नहीं। इसलिये आवश्यक है कि हम सब सदा शुभ विचार ही करें और कभी बुरे विचारको अपने मनमें स्थान न दें। जब सुप्त अवस्थामें हमारा मन दूर दूरके स्थानोंमें चला जाता है, ऐसा जो उक्त मंत्रमें कहा है, उसका विचार करना है। स्वप्नमें भी इसी प्रकार जाता है। जिस प्रकार पतंग या गुड्डीके खेलमें बारीक धागेके साथ पतंगको आकाशमें वायुकी गतिकी सहायतासे भेज देते हैं उसी प्रकार योगीजन अपने मनको इष्ट स्थानपर भेजते हैं, और वहांका कार्य करनेपर वापस खेंचते हैं। परंतु जिनको मन बाहर भेजनेकी शक्ति नहीं है, उनका अर्थात् साधारण मनुष्योंका मन स्वप्नमें जिधर चाहे उधर भटकता है और थक जानेपर स्वयं वापस आता है। इस विषयमें निम्न प्रकारका एक अनुभव विचार करनेयोग्य है—

एक सत्य घटना

कोल्हापुरमें म. गोळविलेकर नामक एक घराना है। शक १८५६ (ई. स. १८९४) में उस घरानेमें चार भाई और एक माता इतने कुल मनुष्य थे। भाईयोंके क्रमपूर्वक नाम पं० प्रभाकरपंत, वासुदेव, दत्तोपंत और नारायणराव हैं, और माताका नाम श्रीमती रुक्मिणीबाई है। इनमें सबसे ज्येष्ठ भ्राता पं. प्रभाकरपंत कोल्हापुरसे चार पांच मील दूर अपने केर्ली ग्राममें घरवाडीकी व्यवस्था करता हुआ रहता था और शेष तीन भाई अपनी वृद्ध माताजीके साथ कोल्हापुर नगरमें रहा करते थे। उक्त वर्षके वैशाख शुक्ल द्वितीयाके दिन रात्रिके तीन बजेके समय उक्त माताजीको स्वप्न (ख्वाब) आया, जिसमें उन्होंने देखा कि अपने ज्येष्ठ पुत्रके मकानमें दीवार तोडकर एक चोर, बैरागीके वेशमें घुस गया है, अपना पुत्र सोया पडा है और उस निद्रित पुत्रके सिरपर उस चोरने अपने लोहेके चिमटेका आघात किया है, जिससे पुत्र मर चुका है। यह स्वप्न देखते ही वह रोती हुई उठी और उसने स्वप्नका वृत्तांत सबको बता दिया। सबने कहा कि स्वप्न ही है, उसमें विचार क्या करना है!

इसके पश्चात् दो घंटोंके अंदर उस केर्ली ग्रामसे पं. प्रभाकरपंतका नौकर आ गया और उसने वही बात ठीक उसी प्रकार कही! तब जाकर निश्चय हुआ कि स्वप्नकी बात बिलकुल ठीक थी।

(१) दीवारको खोदकर चोरका अंदर घुसना,
(२) चोरका बैरागी होना,
(३) चिमटेके आघातसे पुत्रका वध होना,
(४) पं० प्रभाकरजीका वध सोते समय बैरागीके चिमटेसे सिरपर किये आघातसे होना।

इत्यादि बातें जैसी स्वप्नसे प्रथम ज्ञात हो गयी थीं सबकी सब जैसी की वैसी ही सत्य सिद्ध हो गईं। इससे पता लग सकता है कि मनुष्यका मन स्वप्नमें दूर दूरके स्थानमें (दूरं गमं) चले जाता है और वहांका सब कुछ हाल देखता है। उक्त माताजीका मन इसी प्रकार पुत्रके ग्राममें चला गया था और उसने पुत्रका वध प्रत्यक्ष

देखा था, अन्यथा सब बातोंका पता लगना असंभव था। उक्त कथा प्रत्यक्ष देखनेके कारण निःसंदेह सत्य है। क्यों कि इन बातोंका विचार करनेके लिये जो बात जैसी हो गयी थी वैसी ही कहनी चाहिए। अन्यथा विचार होना ही असंभव है। कल्पित कथाओंका किसी प्रकार भी यहां उपयोग नहीं है। इसलिये मैं कभी कल्पित कथा प्रस्तुत नहीं करता।

इस प्रकार वेदमंत्रका दूसरा कथन जो (१) 'तदु सुप्तस्य तथैवैति' (२) 'दूरंगमं' इन शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ था, सत्य है ऐसा सिद्ध हुआ है। (३) 'जाग्रतो दूरं उदैति।' जागते हुए दूरके स्थानपर चले जाता है, इस कथनकी सत्यता उक्त शतपथके वचनसे, अर्थात् सृष्टिकी सिद्धिसे, सिद्ध हो सकती है, अथवा जो प्रयोग पूर्व स्थानपर दिया है उससे भी किंचिन्मात्र सिद्धि होना संभव है। यदि किसी पाठकका कोई अनुभव हो कि जिससे जागृतिमें भी मनके दूर जानेकी सिद्धि हो सकती है, तो उस अनुभवको वह प्रसिद्ध करनेकी कृपा करे। कोई कल्पित बात नहीं चाहिए, तथा सब अनुभव तर्कदृष्टिसे परीक्षा करके सिद्ध होनेवाला चाहिए।

मनकी दिव्य शक्तिका अनुभव प्राप्त होनेसे ही अपने आत्मिक बलकी कल्पना हो सकती है। इसलिये सबसे पूर्व मनकी विविध शक्तियोंका अनुभव लेना चाहिए। धार्मिक पुरुषोंको तैयार होना चाहिए और इस दिशासे प्रयत्न करना चाहिए।

अपने प्रभावका गौरव

कई लोग अपने आपको तुच्छ समझते हैं, 'मैं गिरा हुआ हूं, मैं पतित हूं' आदि वाक्य बोलनेका कईयोंको बडा अभ्यास होता है। केवल अभ्यासकी ही बात नहीं, प्रस्तुत ऐसा बोलते रहना बडी नम्रताका और सौजन्यका चिह्न समझा जाता है परंतु—

नात्मानमवमन्येत।

'अपना अपमान करना उचित नहीं' ऐसा महाभारतमें कहा है। जो अपने आपके लिये तुच्छ शब्दोंका प्रयोग करेगा वह शीघ्र उठ नहीं सकता। वेदमें हजारों प्रार्थनाएं हैं, परंतु किसी स्थानपर 'हे परमेश्वर मैं पतित हूं, मुझे तुम उठाओ, मैं हीन हूं मुझे योग्य बनाओ' इस प्रकारकी पतित प्रार्थना नहीं है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ यजु० १९।९

'हे परमात्मन्! तू तेजस्वी है, मुझमें तेज स्थापन कर, तू वीर्यवान् है, मुझमें वीर्य स्थापन कर, तू बलवान् है, मुझमें बल स्थापन कर, तू समर्थ है मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर, तू उत्साहमय है मुझमें उत्साह स्थापन कर, तू सहनशक्तिसे युक्त है मुझमें श्रम सहन करनेकी शक्ति स्थापित कर।' यह वैदिक प्रार्थना है। यदि आजकलकी दुर्बल रीतिसे उक्त प्रार्थना करना हो तो निम्न प्रकार की जा सकती है—

हे परमेश्वर! मैं बिलकुल तुच्छ निर्बल, अन्धकारमय, वीर्यहीन हूं, इसलिये कृपा करो और मुझमें शक्ति, सामर्थ्य, तेज और वीर्य स्थापन करो!

(आज कलके भजन पुस्तक)

आज कलके भजन पुस्तकोंके भजनोंमें इस प्रकारके भजन होते हैं। उक्त वेदके वाक्यके साथ इन भजनों और प्रार्थनाओंकी तुलना कीजिये और देखिये सच्ची धार्मिक ओजस्विता किसमें है।

मनुष्य जो शब्द बोलता है उसका परिणाम उसके आंतरिक मनपर होता, जो भाव आंतरिक मनपर होता है वही उसके शरीरमें और सब कारोबारोंमें होता है। इसलिये वेदमें किसी स्थानपर आत्मघातकी प्रार्थना नहीं है, तेज, बल, ओज, उत्साह और सहनशक्ति हरएक मनुष्यको प्राप्त करना आवश्यक है; उक्त गुण परमेश्वरसे ही प्राप्त होते हैं, इसलिए उक्त परमेश्वरीय गुण धारण करनेकी उत्साहपूर्ण योग्यताके साथ उपासनाके समय परमेश्वरके पास जाना चाहिये। उपासनाके समय दुर्गुणका स्मरणतक करना उचित नहीं है। अपने अथवा किसी अन्यके दुर्गुणके विचार करतेही मनके ऊपर दुर्गुणका लेप लगता है। इसलिये बडी सावधानीके साथ उपासनाके शब्द बोलने चाहिए।

अपने दुर्गुणोंका वारंवार उच्चारण करनेसे भी वैसा ही बुरा असर होता है, कि जैसा दूसरेके दुर्गुणोंका उच्चार करनेसे होता है। यदि किसी समय बुरा कार्य हुआ तो

हट इसी समय पश्चात्ताप करके उसको ऐसा भूलनेका यत्न करना चाहिये कि फिर उस विचारकी जागृति भी कभी न हो सके। वेद कहता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ यजु० २५।२१

(१) "कानोंसे अच्छे शब्द सुनें, (२) आंखोंद्वारा अच्छे भावसे देखें, (३) सुदृढ शरीरके साथ वाणीद्वारा प्रशंसित गुणोंका उच्चारण करें और (४) अपनी आयु श्रेष्ठोंके हितके लिये अर्पण करे।" ये चार भाव उक्त मंत्रमें हैं। इससे स्पष्ट होता है कि किस प्रकार बोलना और सुनना चाहिए। जिस समय 'मैं दीन हूं' ऐसा बोला जाता है उस समय ये शब्द सुने भी जाते हैं। बोलने और सुननेका आंतरिक मनपर पक्का असर हो जाता है। इसलिये सदा इस बातके विषयमें सावधान रहना चाहिये। वेदकी प्रार्थनायें इस विषयमें निश्चित मार्ग बता रही हैं, परंतु वेदके धर्ममार्गपर चलनेका उत्साह बतानेवाले भी पतित विचारमय प्रार्थनाओंसे ही अपनी प्रार्थना करते हैं। वेद कहता है कि—

स्वं महिमानमायजताम् ॥ यजु० २१।४७ ॥

(Let him worship his own majesty)

'अपने प्रभावका गौरव करो।' प्रत्येक मनुष्यमें कोई न कोई विशेष योग्यता अवश्य रहती है। उस अपने प्रभावशाली गुणकी खोज प्रथम करनी चाहिये और उसका विस्तार करना चाहिये। उस गुणके लिये परमेश्वरकी अतुल कृपा समझनी चाहिये। और किसी समयमें भी अपने या दूसरेके बुरे आचार व्यवहारका स्मरणतक नहीं करना चाहिए। इस प्रकार निश्चयपूर्वक व्यवहार करनेसे एक मासके अंदर ही अपने मनकी वृत्ति शुद्ध हो सकती है। अनुभव लीजिये।

पुरुषार्थके लिये उत्साहमय प्रेरणा

भगवान ऐतरेय महीदास महामुनिकी उत्साहमय वाणीसे पुरुषार्थके लिये प्रेरणाका उपदेश ऐतरेय ब्राह्मणके सप्तम पंचिकामें हुआ है। मनुष्य अपनी उन्नति, पुरुषार्थ प्रयत्नके बिना नहीं कर सकता यह सार्वकालिक सिद्धांत है। किसी समय मनुष्यके लिये पुरुषार्थ प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं, ऐसा नहीं है। इसलिये हरएक मनुष्यको यह उपदेश स्मरण रखना योग्य है। किसी एक प्रसंगमें राजा हरिश्चंद्रके युवराज रोहितको भगवान इंद्रका उपदेश निम्न प्रकार हुआ है। जो ऐतरेय महीदासकृत ऐतरेय ब्राह्मणमें है—

नानाश्रांताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जनः इंद्र इच्चरतः सखा ।
चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥

"हे रोहित राजपुत्र! (अ-श्रांताय) जो परिश्रम करके नहीं थक जाता उस सुस्त मनुष्यके लिये (श्रीः) धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व आदि (न अस्ति) नहीं प्राप्त होता है। (इति शुश्रुम) ऐसा हम सुनते आये हैं। (नृ-षद्वरो जनः) जो मनुष्योंमें सुस्त होता है वही (पापः) पापी होता है। (इत्) निश्चयसे (इंद्रः) प्रभु (चरतः सखा) पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाले उत्साही मनुष्यके मित्र हैं। इसलिये (चर एव) पुरुषार्थ करो, निश्चयसे परम पुरुषार्थ करो।

श्रीका अर्थ—धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, उन्नति, अभ्युदय, महत्त्व, राजकीय शोभा; उच्च स्थिति, सौंदर्य, तेज, शोभा, शरीरकी उत्तम कांति, सद्गुण, बुद्धि, दैवीशक्ति, योगकी शक्ति, धर्म, अर्थ, काम, वक्तृत्व, यश, कीर्ति। यह सब उस श्रेष्ठ मनुष्यको प्राप्त होता है कि जो थक जानेतक महान् पुरुषार्थ करता है। जो सुस्त मनुष्य सोता रहता है उसको आप पापी समझिए। सुस्ती, आलस्य, उद्योग न करना, निरुद्योगता, निकम्मेपन, आरामतलबी ये ही पाप हैं। जो निकम्मा रहता है वही पापी होता है। पुरुषार्थ करना ही पुण्य है। जो बडा प्रयत्न करता है वही धर्मात्मा और पुण्यात्मा मनुष्य है। परमेश्वर प्रयत्नशील पुरुषकी ही सहायता करता है। इसलिये हरएक मनुष्यको अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। तथा —

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥

"जो (चरतः) चलता रहता है उसीकी (जंघे) जांघें (पुष्पिण्यौ) फूलकर पुष्ट होतीं हैं। पुरुषार्थी मनु-

उसका आत्मा ही (भूष्णुः) अभ्युदय प्राप्त करनेवाला और (फलग्रहिः) फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला होता है। इसके सब पाप मार्गके बीचमें ही (श्रमेण हताः) परिश्रमके कारण नष्ट हो जाते हैं। इसलिये पुरुषार्थ करो, अवश्य निश्चयपूर्वक पुरुषार्थ करो।"

जो चलता है उसके पांव और जांघें बलवान और पुष्ट होती हैं, जो नहीं चलता, सदा बैठा रहता है उसके पांव कृश रहते हैं। जो हाथोंसे व्यायाम करता है उसीके बाहुओंमें पुष्टि और शक्ति बढती है जो व्यायाम नहीं करेगा उसके बाहु अशक्त रहेंगे। इसी प्रकार व्यायाम करनेसे सब शरीर पुष्ट और सुदृढ होता है। जो व्यायाम नहीं करते उनका शरीर निर्बल हो जाता है। इसलिये अपना शरीर पुष्ट बलवान और निरोग बनाना अपने ही हाथमें है।

पुरुषार्थ करनेवालेके आत्मामें आत्मविश्वास रहता है। मैं अपनी उन्नति अवश्य प्राप्त करूंगा ऐसा विश्वास प्रयत्नशील पुरुषके अन्तःकरणमें सदा रहता है। पुरुषार्थी मनुष्य कभी हताश, निरुत्साही और उदास नहीं होता। हमेशा उत्साहकी धुंदमें प्रयत्न करता ही रहता है। इसलिये वही मनुष्य अन्तमें फलको अपने ही पास खींच लेता है। कर्मोंका मधुर फल भक्षण करनेका उसीको सौभाग्य प्राप्त होता है। प्रयत्नके श्रमसे जो धर्मकी धारायें बहती हैं उन धाराओंसे उसके सब पापके मल धोये जाते हैं और वह निष्पाप बनता है। इतना परिश्रमका माहात्म्य है। इसलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अवश्य परम पुरुषार्थ करके पवित्र बने।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति॥ ५॥

" (आसीनस्य) जो बैठ रहता है उसका (भगः) ऐश्वर्य (आस्ते) बैठा रहता है। (तिष्ठतः) जो खडा रहता है उसका ऐश्वर्य ऊपर खडा रहता है। (निपद्यमानस्य) जो सोता रहता है उसका ऐश्वर्य भी (शेते) सो जाता है और (चरतः भगः) पुरुषार्थ करनेवालेका ऐश्वर्य (चरति) उसके साथ चलता हुआ जाता है। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे अवश्य पुरुषार्थ करो।"

ऐश्वर्य, धन, प्रभुत्व आदि सब उसी मनुष्यको प्राप्त होते हैं कि जो सदा प्रयत्नकी पराकाष्ठा करता है। आलसी मनुष्यको कभी ऐश्वर्य प्राप्त नहीं हो सकता। जो सोवेगा, उसका धन भी सोवेगा इसलिये हरएकको अवश्य परम पुरुषार्थ करके ऐश्वर्य आदि सब प्राप्त करने चाहिये।

कोई देव आकर मुझे ऐश्वर्य देगा, ऐसा कभी हो नहीं सकता, क्योंकि दैववादी आलसी मनुष्योंका धन और ऐश्वर्य सोता रहता है इसलिये वह उनके पास पहुंच नहीं सकता, जबतक कटिबद्ध होकर पुरुषार्थ नहीं करता तबतक उसका ऐश्वर्य उठकर उसके पास नहीं पहुंच सकता है। इसलिये सबको उत्तम पुरुषार्थ करना उचित है।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः॥
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ४॥

" (शयानः) सोना ही कलियुग (भवति) होता है। (संजिहानः) आलस्य छोड देना ही द्वापर युग है। (उत्तिष्ठन्) उठना त्रेतायुग होता है और (चरन्) पुरुषार्थ करना ही कृतयुग (संपद्यते) बन जाता है। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे पुरुषार्थ करो।"

कई लोग अपने नुकसानीके कारण ' समय ' को दोष देते हैं। परंतु ' समय ' सबके लिये एक समान होता है। लोग कहते हैं कि यह कलियुग है इसमें ये दोष अवश्य हो ही जायंगे। परतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक राष्ट्र अपने लिये अपने पुरुषार्थसे कलियुग अथवा सत्ययुग बना सकता है। आलस्यमें सडनेवालेके लिये सब समय कलियुग अर्थात् हीन अवस्थाका समय हो जाता है, जो आलस्य छोडकर उठकर पुरुषार्थ करनेके लिये कटिबद्ध होता है उसके लिये वही समय द्वापर और त्रेतायुग बन जाता है। तथा जो दृढ विश्वास और प्रबल उत्साहके साथ अपने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा करता है उसके लिये हरएक समय प्रशंसनीय सत्ययुग, सुवर्णयुग अथवा उन्नतिका और आनंदका समय हो जाता है इसलिये सबको उचित है कि वे अपने अन्तःकरणोंको पुरुषार्थके ढांचेमें ढाल कर रखें, जिससे उनके अन्दर कभी आलस्य और उदासीनताकी लहर न उठे। तथा और कहा है—

चरन्वै मधु विंदति चरन्स्वादुमुदुंबरम् ॥
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥ ऐतरेय ब्रा. ७।१५।१-५

" मधु मक्षिका (चरन्) निश्चयसे पुरुषार्थ करनेके कारण ही (मधु विंदति) मधु-शहद-प्राप्त करती है। पक्षी (चरन्) भ्रमण करके ही (स्वादुं उदुंबरं) मीठे फलको प्राप्त करते हैं। (पश्य) देखो (सूर्यस्य श्रेमाणं) सूर्यकी शोभा इसीलिये है कि (यः) वह (चरन्) भ्रमण करता हुआ भी (न तंद्रयते) नहीं थकता। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे पुरुषार्थ करो। "

पशुपक्षी, कीटपतंग, मक्खियां और सब प्राणी पुरुषार्थ करके ही अपने उपभोगोंको प्राप्त करते हैं। प्रयत्नके विना किसीको भी कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये सबको पुरुषार्थ करना उचित है।

इस प्रकार पुरुषार्थ प्रयत्नकी महिमा ऐतरेय ब्राह्मणमें वर्णन की है। यही वैदिक पुरुषार्थके मार्गका रहस्य है। वैदिकधर्ममें रहनेवालोंमें थकावट, सुस्ती, आलस्य, उदासीनता आदि दुर्गुण नहीं चाहिये। वैदिकधर्म उत्साहमय पुरुषार्थका धर्म है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये पुरुषार्थ, सब समाजकी भलाईके लिये पुरुषार्थ, राष्ट्रके हितके लिये पुरुषार्थ, सब जनताके अभ्युदयके लिये पुरुषार्थ कीजिये। उठिए अब बहुत देर हो गई है।

पुरुषार्थ-प्रयत्न करनेवालेको ही देवता सहायता करते हैं

देवोंकी सहायतासे मनुष्यकी उन्नति होती है। देवोंका सहाय्य तबतक नहीं होता कि जबतक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता। देखिये, ऋग्वेदमें कहा है—

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः (ऋ. ४।३३।११)

" (श्रांतस्य ऋते) परिश्रम करनेके बिना (देवाः) देव (सख्याय न) मित्रता नहीं करते। " अर्थात् जो परिश्रम करेगा उसीकी समृद्धि, उन्नति और वृद्धि होती है। जो पुरुषार्थ नहीं करता उसकी उन्नति नहीं हो सकती।

व्यायाम करनेसे शरीरके अवयव पुष्ट होते हैं; संयम और दमन करनेसे इंद्रियोंकी शक्ति बढती है; एकाग्रताका अभ्यास करनेसे मनका सामर्थ्य वृद्धिंगत होता है, अर्थात् अपने शरीरके इंद्रियरूपी देव भी उसी समय सहायता करते हैं कि जिस समय इन्द्रियोंके द्वारा उत्साहपूर्ण प्रबल प्रयत्न होता है। जो सुस्तीसे बैठेगा उसके अंग वैसे सुडौल नहीं बनते कि जैसे व्यायाम करनेवालेके बनते हैं।

अग्नि, वायु, जल, सूर्य, विद्युत् आदि बाह्य जगत्के देव भी तबतक मनुष्यकी सहायता नहीं करते कि जबतक मनुष्य विशेष पुरुषार्थ नहीं करता। जबतक आग जलाकर अन्न पकानेका पुरुषार्थ मनुष्य नहीं करेगा तबतक अग्नि मनुष्यकी सहायता नहीं कर सकेगा। जबतक कुंआ खोदकर, जल निकाल कर शरीर और कपडे स्वच्छ न किये जांय तबतक जलदेवता मनुष्योंको स्वच्छता प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार अन्य देवताओंके विषयमें समझिए। अर्थात् पुरुषार्थ करनेवालेकी ही सहायता देवतागण कर सकते हैं, आलसी मनुष्यकी कोई सहायता नहीं कर सकता।

ज्ञानी, विद्वान्, योगी, महर्षि भी उन्हीं मनुष्योंकी सहायता कर सकते हैं कि जो ज्ञान लेने और योगाभ्यास करनेमें तत्पर होते हैं। जो सुस्तीसे बैठेंगे उनको उठाना किसीकी शक्तिमें नहीं है। अर्थात् आत्मविश्वासपूर्वक प्रयत्न ही उन्नतिका साधक है। निश्चयसे जान लीजिए कि एकमात्र यही उपाय है।

साक्षात् परब्रह्मको भी बडे प्रयत्नके साथ और तप करनेके पश्चात् ही जगत्की धारणा करनेकी सफलता हुई है। देखिये, गोपथ ब्राह्मणमें कहा है—

ॐ ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्। स्वयं त्वेकमेव
तदैक्षत। महद्वै यक्षं। तदेकमेवाऽस्मि।
हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे इति।
तदभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्। तस्य
श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो
यदार्द्र्यमाजयत। तेनानन्दत् ...... ॥ १ ॥
स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यत् भूय आत्मानं
समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो
रोमगर्तेभ्यः पृथक्स्वेदधाराः प्रास्यन्दत।
ताभिरनन्दत्। तदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं
सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किंच ...... ॥ २ ॥
(गोपथ ब्रा. प्र. १)

" निश्चयसे यह ब्रह्म ही केवल प्रथम था। वह स्वयं एक ही था। उसने देखा कि यद्यपि मैं महान् और यजनीय

हूं तथापि मैं केवल एक ही हूं । इसलिये मैं अपनेसे अपने सदृश दूसरा देव निर्माण करूंगा। पश्चात् उसने श्रम किया, कष्ट सहन किये और बडा तप किया । जिससे उनके मस्तकपर पसीनेके बूंद आगये । इस पसीनेसे उसको बडा आनंद हो गया ... ... ॥ उसने फिर बहुत ही परिश्रम किया, बहुत कष्ट सहन किये और बडा भारी तप किया, जिससे उनके शरीरके रोमरोमसे अलग अलग पसीनेकी धाराएँ बहने लगीं। उन धाराओंको देखकर उसे बहुत आनंद हो गया और उसने कहा कि इन धाराओंसे इस सब जगत्की मैं धारणा करूंगा ... ... ॥ "

यद्यपि यह वर्णन बडे अलंकारसे युक्त है, तथापि उसमें उत्साहमय महान् पुरुषार्थ करनेकी प्रेरणा निःसंदेह है। श्रम करना, परिश्रमसे पुरुषार्थ करना, आनंदसे कष्ट सहन करना, तप करना, इत्यादिसे ही वृद्धि होती है। उन्नति और अभ्युदय इसीसे प्राप्त होता है । जब परब्रह्मको भी परिश्रम करना पडता है, तो अन्य छोटी शक्तिवालोंको परिश्रम करनेकी कितनी आवश्यकता है इसका विचार पाठक कर सकते हैं। यही उपदेश इस गोपथके वर्णनद्वारा ऋषिने किया है अर्थात् परिश्रम और पुरुषार्थके विना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

'आत्मा' शब्दका अर्थ ही 'सतत पुरुषार्थ करनेवाला' है । 'अत्-सातत्यगमने' इस धातुसे आत्मा शब्द बना है । सतत हलचल (Constant movement) करना, अर्थात् हमेशा पुरुषार्थ करना आत्माका नैसर्गिक स्वभाव है। इस निजधर्मको आत्मासे पृथक् नहीं किया जा सकता। जहां आत्मा होगा वहां पुरुषार्थ अवश्य होना चाहिए, अर्थात् आलस्य आत्माका निजधर्म नहीं है। आत्माका स्वभावधर्म सतत पुरुषार्थ करनेका उत्साह है। जो आलसी बनता है, वह अपने स्वभावधर्मसे गिरता है; इस कारण अधोगतिको प्राप्त होता है। इसीलिये आलस्यका स्वीकार करना किसीको भी उचित नहीं ।

व्यक्तिके गुणोंका विकास, समाजके गुणोंका उत्कर्ष, राष्ट्रीय सद्गुणोंका अभ्युदय करना प्रत्येकका कर्तव्य है। इन कर्तव्योंको न करनेसे ही सब पातक और सब दोष होते हैं। देखिए—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ (अथर्व. ११।५।४)

' ब्रह्मचारी (लोकान्) सब लोगोंको अपने (श्रमेण) परिश्रमद्वारा और तपके द्वारा (पिपर्ति) संतुष्ट करता है।' अर्थात् ब्रह्मचारीको उचित है कि वह परिश्रम करके तथा कष्ट सहन करके सब जनताकी भलाईके कार्य करता रहे । परोपकार, जनहित, समाजहित, राष्ट्रहित करना ब्रह्मचारीका एक मुख्य कर्तव्य है। यह बात इससे सिद्ध है। तथा जनहितके कार्य बडे परिश्रमसे ही सिद्ध होनेवाले होते हैं, इसलिये सब प्रकारसे कष्ट सहन करनेके लिये ही ब्रह्मचारियोंको सदैव तैयार रहना चाहिए ।

न श्राम्यन्ति न विमुंचन्त्येते
वयो न पप्तू रघुया परिज्मन् ॥
(ऋ० २।२८।४)

'(न) जिस प्रकार (रघुया वयः) वेगवान् पक्षी (परिज्मन्) आकाशमें सर्वत्र निरंतर भ्रमण करते हुए (पप्तुः) दौडते हैं, उस प्रकार वे (न श्राम्यन्ति) परिश्रम करनेसे थकते भी नहीं और प्रारंभ किया हुआ कार्य बीचमें (न विमुंचन्ति) छोडते भी नहीं । '

इस मंत्रमें दो बातोंका उपदेश किया है- (१) ऐसी शक्ति प्राप्त करना कि जिससे अत्यंत पुरुषार्थ प्रयत्न करनेपर भी थकावट न हो सके, तथा (२) प्रारंभ किया हुआ कार्य बीचमें अधूरा ही छोड देनेकी बुरी आदत न रहे। कार्यसिद्धिके लिये ये दोनों बातें मुख्य हैं। तीसरी बात जो इस मंत्रद्वारा उपमासे बताई है, वह यह है कि, (३) पक्षी जिस प्रकार स्वतंत्रतापूर्वक विहार करते हुए स्वावलंबन और स्वाधीनताके साथ अपने आवश्यक पदार्थोंको पुरुषार्थसे प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंको भी उचित है कि वे स्वावलंबन और स्वातंत्र्यका संरक्षण करते हुए अपने आवश्यक पदार्थोंके लिये किसी दूसरोंपर निर्भर न रहें। पक्षियोंके आचरणसे यह उपदेश मनुष्योंको लेना चाहिए। इस प्रकार सतत पुरुषार्थका माहात्म्य है। देखिए और वेदने कहा है—

न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम ।
(ऋ० २।३०।७)

'(न मा तमन्) मेरे लिये अज्ञान न हो (न श्रमन्)

थकावट न हो (इत न तन्द्रत्) और आलस्य न आवे, (न वोचाम) हम गप्पेबाजी न करें।'

(१) अज्ञान, (२) थकावट, निरुत्साह, (३) आलस्य और (४) बडबड करनेका स्वभाव ये ही चार दुर्गुण हैं कि जो मनुष्यमें अवनति लाते हैं। इसलिये सबको उचित है कि वे इन दुर्गुणोंको सदा दूर रखनेका यत्न करें। अर्थात् (१) ज्ञान, (२) उत्साह, (३) पुरुषार्थ-प्रयत्न और (४) शांतिके साथ कर्तव्य करनेका गुण प्राप्त करें और अपने अभ्युदयके मार्गमें जो जो विघ्न आ जांयगे उनको निश्चयसे दूर करें।

इस प्रकार परिश्रम करनेका वेदमें उपदेश है। हरएक मनुष्यको चाहिए कि वह इस दिव्य उपदेशको स्मरण रखे और पुरुषार्थ करके अपनी तथा राष्ट्रकी उन्नति साधन करे और सर्वप्रथम मनको शिवसंकल्पमय बनावे। क्योंकि यही सब उन्नतिकी बुनियाद है। मन शिवसंकल्प करेगा तो ही अन्य पुरुषार्थ सिद्ध होकर लाभदायक हो सकते हैं।

प्रश्न

१ मनुष्यका मन शिवसंकल्प क्यों करे ? इससे क्या लाभ होगा ?

२ उत्तम सारथीकी उपमासे यहां क्या बोध दिया है ?

३ दस्युके लक्षण कौनसे हैं ?

४ मन यज्ञ द्वारा पवित्र बने इसका अर्थ क्या है वह किस तरह होगा ?

५ आत्मविश्वास न रहा तो मनुष्यकी क्या हानि होगी ?

६ मनुष्यकी हानि कौन करता है ?

७ अदीन बननेका अर्थ क्या है ?

८ अपने प्रभावका गौरव क्यों किया जाय ?

९ प्रयत्न करनेसे क्या नहीं हो सकता ? क्या प्रयत्नके बिना सिद्धि हो सकती है ?

१० देवताओंसे मनुष्यको किस समय सहायता प्राप्त होती है ?

११ श्रम करनेके विना किसकी उन्नति होती है ?

१२ मनुष्यमें कौनसे दुर्गुण होनेसे मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है ?

१३ मनको शिवसंकल्पमय बनानेके विना मानव उन्नतिको प्राप्त हो सकेगा ?

१४ क्या मनुष्य मनको स्वाधीन रख सकता है ?

१५ मनको स्वाधीन न रखनेवालेकी क्या हानि होगी ?

तुलना- गीतामें और वेदमें रुद्रोंमें शंकरको, यक्षराक्षसोंमें कुबेरको और वसुओंमें पावक नामक अग्निको तथा पर्वतोंमें मेरुको परमेश्वर विभूति माना है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।

भग० १०।२४

अर्थ- हे (पार्थ) पृथापुत्र अर्जुन! (पुरोधसां) सब कर्मोंमें आगे स्थापित किये जानेवाले यद्वा पहिलेसे ही यजमानके हित करनेवाले पुरोहितोंमेंसे (मां) मुझे (मुख्यं बृहस्पतिं) मुख्य बृहस्पति इन्द्रियोंके पति नियन्ता अन्तरात्मा अथवा शुभ वाणियोंका पति (विद्धि) जान।

वेदगीता (मंत्र)

सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥

साम० अध्या० १ खं० १० मं. १; ऋ० १०।१४१।३; यजु०९।२६, अथ० ३।२०।४।

अर्थ- (राजानं) प्रज्ञानसे प्रकाशमान "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" तै० सं० १।८।१०।२ तादृश सोम अर्थात् शान्तिदायक (वरुणं) सर्व जगत्को वरनेवाला यद्वा सब पापोंका निवारक (अग्निं) ज्ञान स्वरूप अथवा सन्मार्गदर्शक (आदित्यं) सब प्रकारके रसोंके ग्राहक (विष्णुं) सब कर्मोंमें व्याप्त होनेवाला (सूर्यं) सब कर्मोंका प्रेरक (ब्रह्माणं) सब कर्मकर्ताओंमें महान् (बृहस्पतिं) इन्द्रियोंके पालक अन्तरात्माको यद्वा विज्ञानियोंके प्रभु बृहस्पतिको स्मरण करें क्योंकि बृहस्पति सबमें मुख्य है। यथा—

"बृहस्पतिर्हि देवानां पुरोहितः। बृहस्पतिं यं सुभृतं बिभर्ति"। ऐत० ब्रा०

यद्वा—

बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्
नमस्ते पाह्यस्मान्।

अथ० २।३५।४

अर्थ- (महिष) हे अत्यन्त पूजनीय! (विश्वकर्मन्) हे बहुत प्रकारके कर्म करनेवाले! परमात्मन्! (हे बृहस्पतये) बृहस्पति रूप आपको (नमः) नमस्कार हो (नमः ते) तुझे पुनः प्रणाम हो (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर। तथा च—

बृहस्पतिर्नः परिपातु।

अथ० ७।५१।१

अर्थ- बड़े बड़े ज्ञानादि कर्मोंका पति ज्ञानी बृहस्पतिरूप पुरोहित हमारी रक्षा करे।

सेनानीनामहं स्कंदः। भग० १०।२४

अर्थ- सब सेनापतियोंमें स्कंद मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः
सहुरे हूत एधि। हत्वाय शत्रून् वि भजस्व
वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व॥

ऋ० १०।८४।२

अर्थ- (मन्यो) 'मन्यते सर्वं गुरूपदिष्टमिति' जो गुरुके उपदेशको सत्य मानता है ऐसा जिज्ञासु मनुष्य (अग्नि: इव त्विषितः) अग्निकी तरह प्रज्वलित होता हुआ तू (सहस्व) काम-क्रोधादि शत्रुओंको दवा (सहुरे) हे सहनशील! (हूतः) बुलाया हुआ तू हमारा सेनानी हो (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः) ज्ञानको (विभजस्व) दे तथा (ओजो मिमानः) ज्ञान-रूपी बलको मापता हुआ तू सेनानायक (मृधः) शत्रुओंको (वि नुदस्व) विविध प्रकारसे नाश कर।

सरसामस्मि सागरः। भग० १०।२४

अर्थ- सरोवरोंमें मैं समुद्र हूं। २४

वेदगीता (मंत्र)

समुद्र ईशे स्रवताम्।

अथ० ६।८६।२

अर्थ- (स्रवतां) बहनेवाले नदी और तालावोंमें समुद्र मुख्य है।

तुलना- गीतामें पुरोहितोंमें मुख्य पुरोहित बृहस्पति और सेनापतियोंमें मुख्य स्कंद और बहनेवाले जलाशयोंमें समुद्र मुख्य विभूति है। वेदमें भी बृहस्पतिको श्रेष्ठ और योद्धाओंमें सेनानायकको श्रेष्ठ और नदीतालावोंमें समुद्रको श्रेष्ठ माना है।

महर्षीणां भृगुरहम्। भग० १०।२५

अर्थ- महर्षियोंमें परिपक्व ज्ञानवाला भृगु मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् । इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः ॥

यजु० १७।६९

अर्थ– (अग्ने) हे परमात्मन् ! (देवयतां प्रथमः) सब देवताओंमें आदिम और (देवानां उत मर्त्यानाम्) देवताओं और मनुष्योंका (चक्षुः) यथार्थ ज्ञान देनेवाली चक्षु तू है। अतः (प्रेहि) हमारे हृदयप्रदेशमें आ जा। (यजमानाः) आपकी पूजा करते हुए पुण्यात्मा जीव (भृगुभिः इयक्षमाणाः) महर्षियोंमें परिपक्व ज्ञानी भृगु नामक महर्षियोंके साथ यज्ञ करते हुए (सजोषाः) समान सेवाभाववाले (स्वर्यन्तु) सदैव रहनेवाले सुखको प्राप्त हों।

गिरामस्म्येकमक्षरम्। भग० १०।२५

अर्थ– यथार्थ अर्थवाली वाणियोंमें एकाक्षर ओं मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषम् ॥

यजु० ९।३१

अर्थ– (अग्निः) परमात्मा (एकाक्षरेण) एक अक्षर ओं रूपसे (प्राणं उदजयत्) प्राणको अर्थात् प्रजाको "यद्वै प्राणेन अन्नमात्मनि प्रणयते तत् प्राणस्य प्राणत्वम् " शत० १२।९।१।१४ अत्युत्तमतासे पालना करता है (तं उत्) मैं भी उस परमात्माको पाऊं। यथा माण्डूक्ये " ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदितिसर्वमोंकार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव श्रु० १ यथायोगदर्शने तस्य वाचकः प्रणवः" यथा च– नृसिंहतापिन्युप० "प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा पृथिव्यकारः, स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः पादो भवति च, सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुप् दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः, तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सामलोक ओंकारः साऽथर्वणैर्मैत्रैरथर्ववेदः संवर्तको अग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृतः चतुर्थः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः। खं० ३ श्रु० १

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। भग० १०।२५

अर्थ– ज्योतिष्टोमादि सब यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ।

वेदगीता (मंत्र)

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमाविवेश ।

अथ० कां० ४ सू० ३४ मं० ५

अर्थ– (एषः) यह भगवन्नामका जपरूपी यज्ञ (विततः) अपने नामकी महिमासे संसारमें विस्तृत (यज्ञानां वहिष्ठः) अग्निष्टोमादि यज्ञोंमें सबसे बडा है। भगवन्नामके जप करनेवाला प्राणी (विष्टारिणं) सारे संसारको विस्तृत करनेवाले अथवा अपने आपको विराट् रूपसे विस्तृत करनेवाले परमात्माको (पक्त्वा) अपने हृदयमें परिपूर्णतया परिपक्व करके (दिवं आविवेश) ज्योतिःस्वरूप परमधामको प्राप्त होता है। यथा योगदर्शने "तज्जपस्तदर्थभावनम्" उस ओं का जप करना और उसके अर्थका चिन्तन करना मुक्तिदायक है।

स्थावराणां हिमालयः। भग० १०।२५

अर्थ– स्थावर अर्थात् अचलों (पर्वतों) में मैं हिमालय पर्वत हूँ। २५

वेदगीता (मंत्र)

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि । यातूंश्च सर्वान् जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

अथ० ४।९।९

अर्थ– (हिमवतः परि) हिमाच्छन्न पर्वतोंसे उत्कृष्ट (त्रैककुदं) त्रिशिखर नामक पर्वत भाग (यत् आञ्जनं) जो सुरमेकी तरह श्यामस्वरूप है। वही परमात्मविभूति है। तद्विभूतिरूप पर्वत (सर्वान् यातून्) सब पीडक विषयोंको और (सर्वाः यातुधान्यः) मोक्षमें विघ्न करनेवाली सब दुष्प्रवृत्तियोंको (जम्भयत्) नाश करता है अर्थात् जो प्राणी हिमालयकी गुफाओंमें भगवद्भजन करता है उसे कोई जीवजंतु अर्थात् हिंसक प्राणी तथा सांसारिक वासनाएं पीडा नहीं देती ॥ ९ ॥

तुलना– गीतामें सब महर्षियोंमें भृगु और वाणियोंमें ओंकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ, और पर्वतोंमें हिमालयको विभूति कहा है। वेदमें भी परिपक्व ज्ञानी भृगुओंके साथ मिलकर यज्ञ करना,

तथा सब यज्ञोंमें नामयज्ञ, सारे संसारका उत्पादक ओंकार, तथा जप तपस्या भगवद्ध्यानके लिये हिमालय पर्वत श्रेष्ठ है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। भग० १०।२६

अर्थ- सब वृक्षोंमें अश्वत्थ मेरा रूप है तथा देवर्षियोंमें नारद मैं हूं। जैसे पद्मपुराणमें कहा है-

अश्वत्थ रूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः।

वेदगीता (मंत्र)

अश्वत्थः खदिरादधि।

अथ० ३।६।१

शमीमश्वत्थ आरूढः।

अथ० ६।११।१

अश्वत्थो देवसदनः।

अथ० ५।४।३

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत। तामेतां विद्यां नारदः सह देवैरुदाजत॥

अथ० १२।४।२४

अर्थ- (अश्वत्थः) अश्वत्थ पिप्पलका वृक्ष (खदिरात् अधि) यहां खदिर शब्द वृक्षोपलक्षक है अर्थात् सब वृक्षोंसे उत्कृष्ट है॥१॥ (अश्वत्थः) अश्वत्थ पीप्पलका वृक्ष शमीवृक्षसे भी उत्कृष्ट है॥२॥ (अश्वत्थः देवसदनः) अश्वत्थ सब देवताओंका वासस्थान है। देवाति (अग्रे) सबसे प्रथम (यस्मिन्) जिस ब्रह्मवेत्ता ऋषिमें ब्रह्मज्ञान (अजायत) उत्पन्न हुआ। (देवाः) ब्रह्मज्ञान प्राप्तिकी इच्छा करते हुए देवताओंने (वशां अयाचन्) संयममें रखनेवाली ब्रह्मज्ञान शक्तिकी याचना की। (नारदः) 'नारं अज्ञानं खण्डयति' अज्ञानके नाश करनेवाला यद्वा "नार" नरसम्बन्धि ज्ञान देनेवाला देवर्षि नारद (विद्यात) जानता है। उस नारदने (तां एतां) उस इस ब्रह्मज्ञानशक्तिको (देवैः सह) देवताओंके साथ मिलकर (उदाजत) सबके आगे प्रकट किया अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपदेश दिया। २४

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।

भग० १०।२६

अर्थ- गन्धर्वसृष्टिमें मैं चित्ररथ गन्धर्व हूं और सब सिद्धोंमें मैं कपिल हूं।

वेदगीता (मंत्र)

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्। पुष्करपर्णं पात्रम्॥

अथ० ८।१४।६

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय। गर्भं माता सुधितं वक्षणासु अवेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति॥

ऋ० १०।२७।१६

अर्थ- (तस्याः) गन्धर्वसृष्टिमें (सौर्यवर्चसः) सूर्यवत् प्रकाशमानै यद्वा ब्रह्मज्ञानबलवाला (चित्ररथः) चित्ररथ गन्धर्व (वत्स आसीत्) प्रिय है। और वह चित्ररथ (पुष्करपर्णं पात्रम्) ज्ञानसे भूषित शरीर ही पात्र है। यथा च यास्कः "पुष्करमन्तरिक्षं पोषयति भूतानि उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यं इदमवीतरत्पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा" निरु० ५॥१६॥

दशानामिति= (माता) देवहूति माता (दशानां एकं) परब्रह्मांश दश अवतारोंमें मुख्यको (समानं) सर्वत्र समान दृष्टिसे वर्तनेवाले (कपिलं) कपिलको (क्रतवे) ज्ञानयज्ञके लिये (पार्याय) प्रणेतव्य ज्ञानयज्ञादिव्यवहारके लिये (हिन्वन्ति) संसारमें प्राप्त किया (माता) देवहूति माताने (वक्षणासु) अपनी नदीरूप नाडियोंमें (सुधितं) अच्छी तरहसे धारण किये हुए (अवेनन्तं) अप्रकाशमान अर्थात् प्राकृतिक बालकवत् गुप्त रूप उस प्रसिद्ध कपिल मुनिको (तुषयन्ती) प्रसन्न करती हुई (गर्भं बिभर्ति) गर्भमें धारण करती है।

तुलना- गीतामें "सब वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल) को और देवर्षियोंमें नारदको तथा गन्धर्वोंमें चित्ररथ गंधर्वको और सिद्धोंमें कपिल मुनिको सर्वश्रेष्ठ परमात्मा विभूति माना है।

वेदमें भी "अश्वत्थको, ज्ञानियोंमें नारदको, गंधर्वोंमें चित्ररथको और सिद्धोंमें कपिल मुनिको सर्वश्रेष्ठ कहा है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्। भग० १०।२६

अर्थ- घोडोंमेंसे "अमृतमंथनकालमें प्रगट हुए हुए उच्चैश्रव नामक घोडेको विभूति जाना"।

वेदगीता (मंत्र)

ये त्वा श्वेता अजैः श्रवसः हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम्। पूर्वा नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते॥

अथ २०।१२८।१६

अर्थ-(श्वेता ये त्वा) रथोंमें तेज गतिवाले सफेद घोडे जोते जाते हैं, परन्तु (हयोः) घोडे और घोडियोंमें (दक्षिणं) अतीव निपुण श्रेष्ठ (उच्चैः श्रवसं) ऊंचे कानोंवाले अर्थात् उच्चैश्रव नामक घोडेको (आयुञ्जन्ति) रथमें जोतते हैं। (सः) उच्चैः श्रव घोडा (देवानां पूर्वतमं) सब देवोंमें अत्यन्तपूर्व (इन्द्रं) परमात्माको यद्वा राजाको (बिभ्रत) धारण करता हुआ (महीयते) पूज्य होता है अर्थात् श्रेष्ठ होता है ॥ १६ ॥

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् । भग० १०।२७

अर्थ- बडे बडे हाथियोंमें मैं ऐरावत हूँ और मनुष्योंमें मुझे राजा जान ॥ २७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् ।
तां विषमेवाधोक् ॥

अथ० ८।१०।२९ (१५)

अर्थ- (धृतराष्ट्र) राष्ट्रके धारण करनेवाला अर्थात् राष्ट्रका आश्रयभूत ऐरावत नामक गजने (तां अधोक्) उस सारी गज-सृष्टिको दोह लिया, सबको नीचा दिखा दिया, ऐरावत सर्वश्रेष्ठ रहा। (तां) उस शेषगज सृष्टिको (विषमेवाधोक्) मूलसे विश्वरूप अर्थात् तुच्छ बना दिया ॥ १५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनां अनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु ।

ऋ० ७।३४।११ यद्वा—

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।

अथ० ६।८६।३ यद्वा—

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम् ।

ऋ० ७।२७।३ यद्वा—

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि ।

ऋ० ८।९५।३ यद्वा—

त्वमग्ने राजा ।

ऋ० २।१।८ यद्वा—

त्वं विश्वेषां वरुणाऽसि राजा ।

ऋ० २।२७।१० यद्वा—

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ।

ऋ० ६।३६।४

अर्थ- राजेति= (नदीनां पेशः अनुत्तमम्) जैसे नदियोंका हिरण्यमय वर्ण सुन्दर होता है वैसे (राष्ट्राणां पेशः राजा) राष्ट्रका सुन्दर रूप राजा है अर्थात् राजासे हीन देश उत्तम नहीं हो सकता। (क्षत्र विश्वायु) राजाका क्षात्रबल (अनुत्तमं) सबसे श्रेष्ठ चारों ओर गमन करनेवाला होता है ॥११॥ यद्वा- सम्राडिति- (असुराणा) प्राणदाताओंका तू सम्राट् (राजाऽधिराज) है (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी तू मुख्य है ॥ ३ ॥ यद्वा—

इन्द्र इति- (जगतः चर्षणीनाम्) स्थावर और जंगम पदार्थोंमें राजा ही (इन्द्रः) सर्व श्रेष्ठ है। ॥ ३ ॥ यद्वा—

त्वमिति- हे परमात्मन् (शश्वतीनां प्रजानां) नित्य प्रजाका तू ही पति (राजा है) यद्वा- हे अग्ने! हे परमात्मन्! तू ही राजा है। ॥ ४ ॥ यद्वा—

हे वरुण हे सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् (त्वं विश्वेषां राजाऽसि) तू सबका राजा है। यद्वा— पतिरिति- तू सारे भुवनका और सब जनोंका राजा है।

तुलना- गीता और वेदमें अश्वोंमें उच्चैःश्रवनामक घोडेको तथा हाथियोंमें ऐरावतको और मनुष्योंमें राजाको सर्वश्रेष्ठ विभूति माना है।

आयुधानामहं वज्रम् । भग० १०।२८

अर्थ- शस्त्रास्त्रोंमें मैं वज्र हूँ यद्वा आयुवर्द्धक वज्रमणि मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितम् ।
तेन वृत्राणि जिघ्नते ॥

ऋ० ८।२९।४

अर्थ- (एकः) एक मनुष्य अथवा राजा (हस्ते आहितम्) अपने हाथमें धारण किये हुए (वज्रम्) भगवद्विभूतिरूप वज्रको (बिभर्ति) धारण करता है। (तेन) वही राजा उस वज्रसे (वृत्राणि) शत्रुओंको तथा दारिद्रतारूपी पापको (जिघ्नते) नाश करता है ॥ ४ ॥

धेनूनामस्मि कामधुक् । भग० १०।२८

अर्थ- गौओंमें कामधेनु गाय मैं हूँ।

वेदगीता (मंत्र)

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उपतिष्ठन्तु त्वा ॥

अथ० १८।४।३३

अर्थ- (एता धेनवः) यह आगे बताई जानेवाली गौएं (ते असौ) तेरे प्राणोंके निमित्त अर्थात् जीवनके लिये (कामदुघा भवन्तु) अभीष्ट फलके देनेवाली हों। (एनीः) कपिला (श्येनीः) श्वेतवर्णवाली (सरूपाः) समान रूपवाली (विरूपाः) विविध रूपवाली अर्थात् चितकबरी (तिलवत्सा) तिलसदृश श्याम बछडोंवाली यह सब गौएं (अत्र) इस जन्ममें (त्वा उपतिष्ठन्तु) तुझे प्राप्त हों। जैसे किसी कविने कहा है "कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं धर्मं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति। तां चाप्येतां मातरं मंगलानां धेनुं धीराः सूनृतं वाचमाहुः।"

प्रजनश्चाऽस्मि कंदर्पः । भग० १०।२८

अर्थ- शास्त्रविध्यनुसार सन्तानोत्पादक कामदेव मैं हूँ।

वेदगीता (मंत्र)

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रायाभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे । ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥

अथ० ९।२।२५

अर्थ- (हे काम) हे काम ! सन्तानोत्पादक कंदर्प ! (ते या भद्राः) तेरी जो कल्याणकारी (शिवाः) सन्तान सुखप्रदात्री (तन्वः) देह है। (यत्) गृहस्थाश्रमी जिस पुत्रफलको (वृणीषे) वरता है (सत्यं भवति) वह पुत्रप्राप्तिरूप फल सत्य होता है। (त्वं) तू कामदेव (ताभिः) पुत्रफलप्रदात्री कल्याणकारी उन शरीरोंसे (अस्मान् अभिसंविशस्व) यथाशास्त्र पुत्राभिलाषी हम जीवोंमें प्रवेश कर। (पापीः धियः) हमारी पापवाली बुद्धियोंको (अन्यत्र) दूर देशमें (अपवेशय) प्राप्त कर। अर्थात् परस्त्रीके लिये हमारी बुद्धि पापवाली न हो॥२५॥

सर्पाणामस्मि वासुकिः । भग० १०।२८

अर्थ- सब सर्पोंमें वासुकि सर्प मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

नमोऽस्तु सर्पेभ्यः ये के च पृथिवीमनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥

यजु० १३।६

अर्थ- सर्पोंको प्रणाम हो जो सर्प पृथिवीपर तथा अन्तरिक्षमें और द्युलोकमें रहते है उन सब वासुकि प्रभृति सर्पोंको नमस्कार हो॥ ६॥

तुलना- वेद और गीतामें आयुधोंमें वज्रको और गौओंमें कामधेनुको तथा यथाशास्त्र सन्तानोत्पादक कामदेवको तथा सर्पोंमें वासुकि अर्थात् शेषनागको परमात्मविभूति कहा है। जैसे किसी कविने भी कहा है "अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः। एक एव हि शेषोऽयं धरणीधरणक्षमः।"

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।

भग० १०।२९

अर्थ- नागोंमें मैं अनन्तनाम नाग हूं तथा जलचर जीवोंमें वरुण मैं हूं।

वेदगीता (मंत्र)

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।

अथ० ५।२४।४

अर्थ- (अपां अधिपतिः) जलचरजीवोंका स्वामी वरुण है। (स मां अवतु) वह वरुण मेरी रक्षा करे।

पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।भग० १०।२९

वेदगीता (मंत्र)

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।

अथ० १३।४।४ यद्वा

त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य ।

ऋ० २।१।४

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन । यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥

अथ० १८।२।३२

स उ महायमः ।

अथ० १३।७।५

अर्थ- (सः अर्यमा) वह परमात्मा पितरोंमें अर्यमारूप है, जलचरोंमें वरुण रूप है वही रुद्ररूप है वही महादेव है ॥ ४ ॥ यद्वा- (त्वं अर्यमा) हे परमात्मन् तू ही अर्यमा है।

यम इति- संयमतोंका नियन्ता यम (परः) सब नियन्ताओंसे उत्कृष्ट है। (विवस्वान्) विविध लोकोंका वासक सूर्य (अवरः) अल्पशक्तिवाला है। (ततः परं) उस यमसे उत्कृष्ट (नाति पश्यामि किश्चन) किसी वस्तुको मैं नहीं देखता। (मे अम्बरः) मेरा जीवनमययज्ञ (यमे अधिनिविष्टः) यमके अधीन स्थित है। (विवस्वान्) सूर्य ही (भुवः) लोकोंको (अनुआततान) ईश्वरकी आज्ञासे अपने अपने स्थानमें स्थापित करता है ॥ ३२॥

वह परमात्मा ही महायम है ॥ ५॥

तुलना- गीता और वेदमें "नागोंमें अनन्त नाग और जलचर जीवोंमें वरुणको तथा पितरोंमें अर्यमाको संयमन करनेवालोंमें यमको सर्वश्रेष्ठ परमात्माकी विभूति कहा है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् । भग० १०।३०

अर्थ- दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ अर्थात् दुष्कर्म करनेवालोंमें भगवद्भक्तिसे प्रसन्नमुख रहे वह मैं ही हूं अर्थात् परमात्मविभूति है। तथा शुभ अथवा शुभक्षणनिमेषादिमें मैं काल हूँ। अर्थात् कालरूप मेरी विभूति है।

वेदगीता (मंत्र)

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्ताऽस्य नाभीरमृतं न्वक्षः। स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

अथ० १९।५३।२

अर्थ- (एषः कालः) यह लक्षणनिमेषादिरूप काल (सप्तचक्रान्) चक्रकी तरह पुनः पुनः घूमनेवाली वसन्तादि सात ऋतुओंको (वहति) धारण करता है। (अस्य) इस कालकी (सप्त नाभीः) सात लोक नाभिस्थानरूप हैं। काल (अक्षः) सारे संसारमें व्यापक (अमृतं) मरणधर्मरहित अर्थात् नित्य है। (सः) वह सबका संहारक काल (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब लोकोंमें (अञ्जत्) व्याप्त हुआ है। (स कालः) वह काल (प्रथमः नु देवः) निश्चयसे पहला देवता भक्तजनोंसे (ईयते) प्राप्त किया जाता है। अर्थात् जाना जाता है ॥ २ ॥

मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् । भग० १०।३०

अर्थ- पशुओंमें मैं सिंह हूं और पक्षियोंमें गरुड हूं ॥ ३०

वेदगीता (मंत्र)

महिषो मृगाणाम् ।

ऋ० ९।९६।६

स सुपर्णः गरुत्मान् ।

अथ० ९।१०।२८

अर्थ- (मृगाणां) सब पशुओंमें मैं (महिषः) महान् सिंह हूं ॥ ६ ॥

(सः) वह परमात्मा (सुपर्णः) सुन्दर परोंवाला यद्वा— अच्छा उडनेवाला (गरुत्मान्) गरुड रूप है अर्थात् गरुड परमात्माकी विभूति है ॥ २८ ॥

तुलना- गीता और वेद दैत्योंमें प्रह्लाद अर्थात् सर्वदा प्रसन्न रहनेवालेको और समयोंमें कालको, तथा पशुओंमें सिंहको और पक्षियोंमें गरुडको सर्वश्रेष्ठ परमात्म विभूति कहा है।

पवनः पवतामस्मि । भग० १०।३१

अर्थ- पवित्र करनेवाले पदार्थोंमें मैं वायु हूं ॥ ३१ ॥

वेदगीता (मंत्र)

१ वायुरेनाः समाकरत् ।

अथ० ६।१४१।१ यद्वा—

२ वायुरन्तरिक्षस्याऽधिपतिः स मावतु ।

अथ० ५।२४।८ यद्वा—

३ वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम् । अस्मे वृद्धा असन्निह ॥

ऋ० १।३८।१५

---

(१) मारुतं-मरुत् मितं निर्मितं अन्तरिक्षं प्राप्य रौति शब्दं करोति इति मरुत् यद्वा अमितं भृशं शब्दं करोतीति मरुत् यद्वा मितं स्वैर्निमित्तं मेघं प्राप्य विद्युदात्मना सेवमानाः अथवा महति अन्तरिक्षे द्रवतीति मरुत् । (२) वन्दस्व: वदि= अभिवादनस्तुत्याः । (३) पनस्युः- पनः स्तुत्यर्थो ततोऽसुन् "सुप् आत्मनः क्यच्" "क्यचाच्छन्दसीत्युः प्रत्ययः।" (४) अर्किणम्- अर्च् स्तुतौ (५) असन्- बहुलं छन्दसि, शपोलुक् "इतश्च लोपः" इतीकारलोपः ।

अर्थ- (१) वायु अपनी पवित्रतासे (एनाः) सब पापात्मक अशुद्धियोंको (समाकरत्) दूर फेंकती है ॥ ३१ ॥

(२) वायु अन्तरिक्षका स्वामी है, वह मुझे अपनी पवित्रतासे रक्षा करे ॥ ८ ॥

(३) हे जीवात्मन् ! तू (त्वेषं) अपनी पवित्रतासे प्रकाशमान (पनस्युं) स्तुतियोग्य (अर्किणं) पूजासे युक्त (मारुतं गणं) सब प्रकारकी वायुओंके समूहको (वन्दस्व) नमस्कार कर (अस्मे) हमारे इस नमस्कार कर्ममें (वृद्धा आसन्) वायु प्रवृद्ध हों ताकि जगत्में पवित्रता बढे ॥ १५ ॥

रामः शस्त्रभृतामहम् । भग० १०।३१

अर्थ- शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूं ॥ ३१ ॥

वेदगीता (मंत्र)

१ वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः ।

ऋ० ८।२९।३

२ तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा । अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥

अथ० ५।१८।९

अर्थ- (१) (देवेषु अन्तः) अपने तेजसे प्रकाशमान अर्थात् शस्त्रधारियोंमें प्रकाशमान (निध्रुविः) स्थिरासन यद्वा युद्धमें शत्रुओंके सामने स्थिर रहनेवाला (एकः) एक राम अर्थात् परशुराम (आयसीं वाशीं) लोहमय चलते समय शब्द करनेवाले कुठारको (हस्ते) अपने हाथमें (बिभर्ति) धारण करता है। यद्वा (२) (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण तीरोंवाले (हेतिमन्तः) अस्त्रोंशस्त्रोंके धारण करनेवाले (ब्राह्मणाः) परशुराम (यां शरव्यां) जिस शरके लक्ष्यको यद्वा शरके प्रवाहको (अस्यन्ति) फेंकते हैं। (सा न मृषा) वह वृथा नहीं जाता। (तपसा उत) तपसे भी (मन्युना च) और क्रोधसे भी (अनुहाय) पीछा करके (एनम्) इस पापी क्षत्रियको (दूरात् अवभिन्दन्ति) दूरसे ही नाश करते हैं ॥ ९ ॥

झषाणां मकरश्चास्मि । भग० १०।३१

अर्थ- मछलियोंमें मैं मकर हूं ।

वेदगीता (मंत्र)

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि ।

अथ० ११।२।२५

अर्थ- (अजगराः) सामुद्रिक संसारमें जलमें रहनेवाले बडे बडे सर्प विशेष, तथा (पुरीकयाः) जलचर प्राणि विशेष (जषा-झषाः) मच्छ विशेष (मत्स्याः) साधारण मछलियां है। परन्तु (शिंशुमाराः) मगरमच्छ (रजसा) परमात्माके दिये हुए रजोगुण अर्थात् विशेष प्रकाशयुक्त है (येभ्यः अस्यसि) जिनके लिये तू जालको डालता है वह मगरमच्छ परमात्माकी विभूति है ॥ २५ ॥

स्रोतसामस्मि जाह्नवी । भग० १०।३१

अर्थ- वेगवती नदियोंमें गंगा मैं हूं ।

वेदगीता (मंत्र)

ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मं करणीरपः । यथैव तृप्यते मयस्तास्त आदत्त भेषजीः ॥

अथ० १९।२।५

अर्थ- हे जीवात्माओ ! (ताः अपः) गंगानदीका जल (शिवाः) सब प्रकारके कल्याण करनेवाला है। (अयक्ष्मं करणीः अपः) वही गंगाजल राजयक्ष्मादि रोगोंका नाशक है (ते) गंगाजल सेवन करनेवाले वह तुम प्राणीजन (ताः भेषजीः) उस औषधरूप जलको (आदत्त) ग्रहण करो पान करो। (यथैव) जिस प्रकार उस गंगाजलसे (मयः तृप्यते) परिपूर्ण सुरत प्राप्त होता है । पुराणोंमें तथा पाश्चात्योंने गंगाजलकी पूर्ण देखरेख करके कहा है " औषधं जाह्नवी तोयम् " ॥ ५ ॥

तुलना-गीता और वेदमें पवित्रकारक पदार्थोंमें मैं वायु हूं अर्थात् वायु श्रेष्ठ है और शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूं वेदमें इतनी विशेषता कही है कि ऋषि आचार्य शस्त्रास्त्रविद्याके जाननेवाले और सिखनेवाले ब्राह्मण थे । मछलियोंमें मगरमच्छ श्रेष्ठ विभूति है और नदियोंमें गंगाजल उत्तम विभूति है जिसके पीनेसे महारोग-यक्ष्मादि भी नाश हो जाते हैं।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन । भग० १०।३२

अर्थ- हे अर्जुन ! (सर्गाणां) महदादि स्थूलान्त सारी रचनाओंका (आदिः) मूल कारण मैं हूं यथा " तस्मात् सर्व-

प्रभवत्" इत्युपनिषदि। तथा सब रचनाओंका मध्यभाग अर्थात् स्थितिकाल भी मैं हूं। (अन्तः च) और सबका अन्तकाल अर्थात् नाशक भी मैं हूँ। जैसा स्वर्ण आदिमें भी स्वर्ण है भूषण बन जानेपर भी स्वर्ण है, भूषण नष्ट होनेपर भी स्वर्ण है। जैसे उपनिषद्में कहा है "नामरूपे व्याकरवाणि मृत्तिकेत्येव सत्यम्" अर्थात् नाम और रूप मिथ्या है वस्तु सत्यरूप है। यथा चोक्तम् "सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः" ससारका सृष्टिकर्ता ब्रह्मा मैं हूं पालनकर्ता विष्णु मैं हूं, संहारकर्ता शिव भी मैं ही हूं। मुझसे भिन्न कुछ नहीं।

वेदगीता (मंत्र)

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् (क्) समाहितः।

अथ० ४।११।८

अर्थ- (अनडुहः) अन- ब्रह्माण्डको जो धारण करता है वह अनड्वान् अर्थात् ब्रह्माण्डधारक परमात्माका (एतत् मध्यं) इस संसारकी स्थितिकरण ही मध्यभाग है अर्थात् मध्यमें स्थितिकारक पालक विष्णुरूप परमात्मा है (यत्र) जिस मध्यभागमें (एषः वहः) विश्वका भार धारण किया हुआ है अर्थात् विश्व स्थिर है। (अस्य) इस परमात्माका (एतावत् प्राचीनं) इतना ही प्राचीनता अर्थात् सर्गका आदित्व है। (यावान् प्रत्यक्) उतना है अर्थात् वैसा ही अन्तभाग (समाहितः) स्थित है।

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। भग०

अर्थ- लौकिक पारमार्थिक ज्ञानके देने, वेद और शास्त्रविद्याओं तथा चतुर्दश विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या हूं।

वेदगीता (मंत्र)

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अथ० १०।२।३२

अर्थ- (तस्मिन्) उस (हिरण्यये) सुनहरी अर्थात् सुन्दर (त्र्यरे) रजः, तमः, सत्वगुणोंके तीन अरोंवाले (त्रिप्रतिष्ठिते) वात, पित्त, कफ, इन तीनोंके सहारेपर स्थित (कोशे) देहमें (यद् यक्षं) जो पूजनीय तत्त्व (आत्मन्वत्) ज्ञान स्वरूप आत्मा है (तत्) उस अध्यात्मज्ञानको (वै) निश्चयसे (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी लोग (विदुः) जानते हैं॥३२॥

वादः प्रवदतामहम्। भग०। १०।३२

अर्थ- (प्रवदताम्) वाद जल्पवितण्डासे विवाद करनेवालोंमें (वादः) अर्थ निर्णायक वाद मैं हूं॥३२॥

वेदगीता (मंत्र)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥

अथ० ३।३०।५

अर्थ- (ज्यायस्वन्तः) मैं बडा हूँ तू छोटा है मुझे अधिक ज्ञान है तुझे थोडा ज्ञान है ऐसे बडे छोटे भावको आपसमें अनुसरण करते हुए (चित्तिनः) वादजल्प वितण्डासे भरे हुए चित्तवाले (सधुराः) समान कार्यके भारको उठानेवाले (चरन्तः) इस तरह विवाद करते हुए (मा वियौष्ट) तुम भेदभाववाले अर्थात् मैं जीता तू हारा ऐसे भेदभावको मत प्राप्त हो अर्थात् इस भावसे जुदा मत होवो कि यह छोटा है मैं बडा हूं। (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरेके साथ (वल्गु) सुन्दर वादको (वदन्तः) कहते हुए तुम (एत) आपसमें प्राप्त हो जाओ अर्थात् आपसमें मिलकर रहो। अरे विवादी लोगो! (वः) मैं परमात्मा तुम सबको (सध्रीचीनान्) वाद कार्यमें इकठ्ठे प्रवृत्त होनेवाला और (सं मनसः) समान मनवाला (कृणोमि) करता हूं अर्थात् तुम सब समानमनवाले हो जाओ वाद करो परन्तु जल्पवितण्डाछलादिको मत करो॥५॥

तुलना- वेद और गीतामें परमात्माको ही सृष्टिका आदि, मध्य और अन्त कहा है। सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, ब्रह्मा विष्णु शिवरूप है तथा सब विद्याओंमें अध्यात्म विद्या श्रेष्ठ है तथा जल्पवितण्डाछलादि विवादोंमें वाद परमात्माकी विभूति है।

अक्षराणामकारोऽस्मि। भग० १०।३३

अर्थ- वर्णमालाके अक्षरोंमें मैं पहिला अक्षर अकार हूं।

वेदगीता (मंत्र)

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।

अथ० २०।३४।४

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा.व्य.
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३)	॥)
३	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
४	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१)
५	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
७	यजुर्वेद वा. सं. पादसूची	१॥)	॥)
८	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)
९	अथर्ववेद	समाप्त होनेसे छप रहे हैं।	
१०	सामवेद		

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए उन्नीस ऋषियोंका दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(अलग ऋषिका दर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन		१)	।)
२ मेधातिथि	,, ,,	२)	।)
३ शुनःशेप	,, ,,	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप	,, ,,	१)	।)
५ कण्व	,, ,,	२)	।)
६ सव्य	,, ,,	१)	।)
७ नोधा	,, ,,	१)	।)
८ पराशर	,, ,,	१)	।)
९ गोतम	,, ,,	२)	।≈
१० कुत्स	,, ,,	२)	।≈)
११ त्रित	,, ,,	१॥)	।-)
१२ संवनन	,, ,,	॥)	≈)
१३ हिरण्यगर्भ	,, ,,	॥)	≈)
१४ नारायण	,, ,,	१)	।)
१५ बृहस्पति	,, ,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी	,, ,,	१)	।-)
१७ विश्वकर्मा	,, ,,	॥)	।-)
१८ सप्त	,, ,,	॥)	≈)
१९ वसिष्ठ	,, ,,	७)	१॥)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	१।)

देवता-परिचय ग्रन्थमाला

१	ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥≈)	≈)
२	वैदिक अग्नि-विद्या	२)	।)
३	वैदिक चिकित्सा	१॥)	।)

दैवत-संहिता

भाग १ } समाप्त हो गये हैं।
भाग २

भाग ३	६)	१)
अग्नि देवता	४)	१)
अग्नि-इंद्र-सोम	५)	१)

सामवेद कौथुम शाखीयः

ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः ६) १)

श्रीमद्भगवद्गीता

१ पुरुषार्थबोधिनि टीका (एक जिल्दमें)

मूल्य १२॥ रु. डा.व्य. २॥)

२ ,, (तीन जिल्दोंमें)	अध्याय १ से ५ ५)		१।)
,,	अध्याय ६ से १० ५)		१।)
,,	अध्याय ११ से १८ ५)		१।)

३ श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला

भाग १-२-७ ३॥।) १)

(भाग- ३-४-५-६ समाप्त हो गये हैं।)

४ भगवद्गीता श्लोकार्ध सूची	॥।)	≈)
५ गीताका राजकीय तत्वालोचन	२)	।≈)
६ श्रीमद्भगवद्गीता (केवल श्लोक और अर्थ)	१)	≈)
७ श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम भाग) लेखक श्री. गणेशानंदजी	१)	।)

मन्त्री- स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

Regd .No. B 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी , जि० सूरत)

वर्ष ३७

अंक १

★

मार्गशीर्ष २०१२ जनवरी १९५६
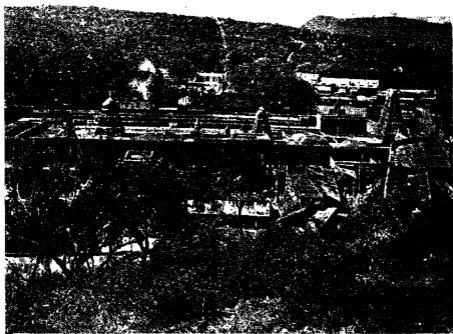
[स्वाध्यायमण्डल पारडी (सूरत) द्वारा संचालित]

अखिल भारतीय संस्कृतभाषा-परीक्षा-समिति की

२५-२६ फरवरी ५६ ई. की संस्कृतभाषा परीक्षाओंका

कार्यक्रम

शनिवार २५ फरवरी ५६		रविवार २६ फरवरी ५६	
१०॥ से १॥	२॥ से ५॥	१०॥ से १॥	२॥ से ५॥
विशारद-प्रश्न पत्र १	विशारद-प्रश्न पत्र २	विशारद-प्रश्न पत्र ३	विशारद-प्रश्न पत्र ४
×	परिचय-प्रश्न पत्र १	परिचय-प्रश्न पत्र २	परिचय-प्रश्न पत्र ३
×	×	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र १	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र २
×	×	प्रारम्भिणी	×

संस्कृतभाषाका अध्ययन करना प्रत्येक भारतवासीका राष्ट्रीय धर्म है।

संस्कृत हमारी मातृभाषा है। अतः उसका ज्ञान होना परम आवश्यक है। जो मातृभाषा है वह कठिन या दुर्बोध कैसे हो सकती है?

वैदिक धर्म

[जनवरी १९५६]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३७

वैदिक धर्म

अंक १

क्रमांक ८५

मार्गशीर्ष, विक्रम संवत् २०१२, जनवरी १९५६

फूट पाडनेवालेको दूर कर

शश्वन्तो हि शत्रवो रारधुष्टे भेदस्य चिच्छर्धतो विन्द रन्धिम्।
मर्तां एनः स्तुवतो यः कृणोति तिग्मं तस्मिन् नि जहि वज्रमिन्द्र ॥ ऋ० ७।१८।१८

हे इन्द्र! (ते शत्रवः शश्वन्त रारधुः) तेरे शत्रु बहुत समयसे नष्ट हुए हैं। (शर्धतः भेदस्य रन्धिं विन्द) स्पर्धा करके भेद करनेवालेको नष्ट करनेका उपाय कर। (यः स्तुवतः मर्तान् एनः कृणोति) जो भक्त मनुष्योंके प्रति पापाचरण करता है (तस्मिन् तिग्मं वज्रं निजहि) उस शत्रुपर तीक्ष्ण शस्त्रका प्रहार कर।

शत्रुको दूर करना, उसको विनष्ट करना, फूट उत्पन्न करनेवालेको दूर करना, जो सज्जनोंके साथ भी पापाचरण करता है उसका वध करना।

वेदमन्दिर-वृत्त

सब काम पूर्ववत् चल रहा है। ठंडी बढ रही है।

वेदमहाविद्यालय— इस विद्यालयमें संन्यासआश्रम, अहमदाबादसे श्री स्वामी विजयेन्द्रपुरीजी वेद पढनेके लिये यहां आये हुए हैं। इनका सारा समय वेद और उपनिषद् पढनेमें ही व्यतीत होता है। संस्कृत धाराप्रवाह बोल सकूं ऐसी इनकी पूर्ण इच्छा है और इसके लिये भी प्रयत्न कर रहे है।

गायत्री जपानुष्ठान— गत मासके पश्चात् गायत्री जपका अनुष्ठान नीचे लिखे अनुसार हुआ है—

१ पारडी- स्वाध्यायमण्डल	२०६००
२ बडौदा- श्री बा. का. विद्वांस	१५००००
३ बंगाडी- श्री के. ग. अ. मेहेंदळे	५३२४
४ रामेश्वर- श्री रा ह. रानडे	२०४०००
५ वाशीम- श्री आ. श्री गुडागुळे	५५०००
६ उमरा- श्री मोहिनीराज रा. चांदेकर	४८०००
७ मुंबई- श्री ल. शी. देशरकर	१४४००
	४,९७,३२४
पूर्व प्रकाशित जपसंख्या	५३,१६,६५३
कुल जपसंख्या	५८,१३,९७७

पूनासे प. रघुनाथशास्त्री पटवर्धन, ज्योतिषाचार्य, लिखते हैं कि— "आषाढ शु० ११ से संकल्पित जप (संख्या) १ कोटि १० लाख करनेका निश्चित था, किन्तु उक्त संख्या की अपेक्षा ४४ लाख जप अधिक हुआ है। अर्थात् १ कोटि ५४ लाख जप हुआ है।

इस जपयज्ञमें निःस्वार्थ भावनासे और ईश्वरनिष्ठासे जिन जिन महानुभावोंने सहयोग दिया है उन सबका धन्यवादपूर्वक आभार मानता हू।

मन्त्री

जपानुष्ठान समिति

सांमनस्यम् सौमनस्यम्

[लेखक— श्री. सोमचैतन्य प्रभाकर सांख्यशास्त्री वेदवागीश, दयानन्दमठ, दीनानगर पंजाब]

भगवती श्रुतिके द्वारा कवि मनीषी स्वयंभूः भगवान्‌ने अमृतपुत्रोंको बारंबार संमनाः और सुमनाः होनेका उपदेश दिया है,—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ॥ अ ३।३०।१
पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ॥ अ. ३।३०।२
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ अ. ३।३०।७
उदबुध्यध्वं समनसः सखायः ऋ. ॥ १०।१०१।१
समानं मनः सहचित्तमेषाम् ॥ ऋ. १०।१९१।३
सं वो मनांसि जानताम् ॥ ऋ. १०।१९१।२
समानमस्तु वो मनः ॥ ऋ. १०।१९१।४
वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ऋ. ७।४१।४
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ य. ३४।१-६
भद्रं नो अपि वातय मनः ॥ ऋ. १०।२५।१

तुम्हारे लिये सहृदयता, एकमनस्कता तथा निर्वैरताको विहित करता हूँ। पुत्र माँके साथ एक मनवाला होवे। समान चालवाले तुम सबको समान मनवाले करता हूँ। साँझ सबेरे तुम्हारी सुमनस्कता हो। हे एक मनवाले सखाओ! उठो। इनका मन एकसा हो इनका चित्त साथ हो। तुम्हारे मन एकसा जानें। तुम्हारा मन एक समान हो। हम देवताओंकी सुमतिमें होवें। वह मेरा मन भले संकल्पोंवाला हो। हमें भद्र मनको प्राप्त करा।

उपर्युक्त थोड़ेसे उद्धरण उदाहरणके तौर पर दिये गये हैं। वेदमें इस प्रकारके आदेश और उपदेश सर्वत्र बिखरे हुए मिलते हैं। यह 'सुमनाः' और 'संमनाः' कठोपनिषद्‌में भी विद्यमान् है। वाजश्रवस ऋषिने अपने पुत्र नचिकेताको मृत्युको दे दिया। नचिकेता यमके घर गया। यमने प्रसन्न होकर उसे तीन वर देना चाहा। नचिकेताने जो पहला वर माँगा वह यह था,—

शान्तसंकल्प सुमना यथा स्याद्
वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो।

मेरे पिता सुमना, शान्तसंकल्प तथा मेरे प्रति विगतक्रोध हो जायँ।

आगे यमने अध्यात्मका उपदेश देते हुए विष्णुके परमपदकी प्राप्तिके लिये समनस्क होना आवश्यक बताया है।

आखिर इस सुमना और संमना का अभिप्राय क्या है? क्यों इस पर इतना जोर दिया गया है? क्या ये हमारी आजकलकी शान्तिकी समस्याको हल कर सकते हैं? क्या आज भी हम प्रार्थना करें कि साय प्रात. सम्मनसः स्याम, समानमस्तु नो मनः। सौमनस्यमस्मासु वर्तताम्।

मनके 'सु' और 'सम्' होनेकी आवश्यकता है या नहीं, अथवा यह आजकी अशान्तिका एकमात्र समाधान है या नहीं। इसपर विचार करनेसे पहले अच्छा होगा कि हम उन महानुभावोंकी भी बात सुनलें, जिन्हें हम पूज्य, वन्दनीय, नमस्करणीय, विद्या और तपसे सम्पन्न, लोकहितैषी मानते हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका कहना है—

कलिमल ग्रसे धर्मसब, गुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दंभिन निजमत कल्पिकरि, प्रगट कीन्ह बहुपन्थ॥
भये लोग सब मोहवश, लोभग्रसे शुभकर्म।

वर्णधर्म नहिं आश्रमचारी। श्रुति विरोधरत सब नरनारी॥
द्विज श्रुतिवंचक भूपप्रजासन। कोउनहिं मानुनिगम अनुशासन
मारग सोइ जाकहँजोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
सब नर कामलोभरत क्रोधी। देव-विप्र गुरु-सन्त-विरोधी॥
मातुपिता बालकन बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥

ब्रह्मज्ञान बिनु नारिनर, कहहिं न दूसरि बात।
कौडी लागि लोभवश, करहिं विप्रगुरुघात।
भये वर्ण संकर सकल, भिन्नसेतु सब लोग।
करहिं पाप दुःख पावहिं, भय रुज शोक वियोग।

बहुदाम सवारहिं धाम यती। विषया हरिलीन रही विरति।
तपसी धनवंत दरिद्रगृही। कलिकौतुक तात न जात कही॥

सुनु खगेश कलि कपट हठ, दम्भद्वेष पाखण्ड।
मान मोह मारादि मद, व्यापि रहे ब्रह्मण्ड॥
तामस धर्म करहिं सब, जप तप मख व्रतदान।
देव न वरषै धरणि पर, बये न जामहिं धान॥

सुखचाहहिं मूढन धर्मरता। मतिथोरि कठोर न कोमलता॥
नरपीडित रोग न भोगकहीं। अभिमान विरोध अकारणही॥
इरषा परुषाक्षर लोलुपता। भरिपूरि रही समता विगता॥
सबलोग वियोग विशोक हये। वर्णाश्रम धर्म अचार गये॥
दम दान दया नहीं जानपनी। जडता परवंचकताातिघनी॥
तनुपोषक नारि नरा सगरे। परनिन्दक ते जगमें बगरे॥

गोसाईंजीने आजसे ढाई-तीनसौ (२५०-३००) वर्ष पहलेके समाजकी जो मनोऽवस्था बतलाई है, वह आज भी ज्यों की त्यों है और इसका जो परिणाम हुआ है वह भी उन्होंने स्पष्ट कह दिया है। अब इसके साथ ही मनुके इन श्लोकोंको भी ध्यानमें रखें—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ ४।१७०

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥४।१६३

अनाभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ ५।४

जो अधार्मिक है, शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको नहीं करता है। झूठ ही जिसका धन है तथा जो हिंसारत है— जिस किसी उपायसे दूसरोंको लूटने, सताने, पीडा देने एवं मार पीटहत्याके काममें लगा रहता है ऐसा व्यक्ति कभी सुख नहीं पाता।

ईश्वर और परलोक पर अविश्वास, वेद और देवोंकी निन्दा, मात्सर्य, पाखण्ड, अभिमान, कोप और क्रूरताको छोड देवे।

वेदाभ्यासका परित्याग, शास्त्रोक्त आचारका अननुष्ठान प्रमाद तथा अभक्ष्यभक्षणसे मृत्यु विप्रको मारना चाहती है।

मन यदि 'सम्' न हो तो क्या होता है इसका विचार पीछे करेंगे। पहले यह देखें कि यदि मन 'सु' न होकर 'दुर्' हो जाय— बिगड जाय तो क्या होता है। सौमनस्यके अभावमें— मनके शिवसंकल्पात्मक- भद्र न होनेपर ही सभी प्रकारके दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, वायु आदिमें विकृति, देशमें उपद्रव, राष्ट्रोंके युद्ध, भयंकर बीमारियाँ आदि सब सौमनस्यके अभावमें ही उत्पन्न होते हैं। महर्षि चरकका यही मत है—

तमुवाच भगवानात्रेयः- सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वा असत्कर्म पूर्वकृतं, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा—

यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजानपदाः व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्ते अन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते, तेषां तथाऽन्तर्हितधर्मणामधर्मप्रधानानामपक्रान्त देवतानामृतवो व्यापद्यन्ते, तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति नवा वर्षति विकृता वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्॥ २४॥

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभरोषमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान्वाऽभिक्रामन्ति, परैर्वाऽभिक्राम्यन्ते॥ २५॥

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाऽप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते।

तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति; ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति, ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय, नियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे॥ २७॥

प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्। आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिबलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः शैलेन्द्रसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनिय-

मतपउपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोक मानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः, तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणामचिन्त्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः सस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात्सांपन्निकानां शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवात् श्रमः, श्रमादालस्यं, आलस्यात् संचयः, संचयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः ॥ २८॥

ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचनं, अनृतवचनात्कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयताप शोकचित्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः, ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्, तस्यान्तर्धानात् पृथिव्यादीनां गुणपादप्रणाशोऽभूत्, तत्प्रणाशकृतश्च सस्यानां स्नेहवैमल्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः ततस्तानि प्रजाशरीराणि, हीनगुणपादैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि, अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमश इति ॥ २९ ॥ (विमानस्थान अ० ३)

चिकित्साशास्त्रके प्रमाणभूत आचार्य महर्षि चरकके उपर्युक्त कथनका भाव यह है- वायु आदिमें विगुणता उत्पन्न होनेका कारण अधर्म है। अधर्मका मूल पूर्वकृत असत्कर्म है। इन दोनोंका कारण प्रज्ञापराध ही है। (प्रज्ञापराध मानस दोष है। २०।१।१०२)

जब देशके प्रधानपुरुष राजकर्मचारी ततः प्रजायें अधर्ममें प्रवृत्त हो जाती हैं, तब धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होनेपर देवतालोग उनका त्याग कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि समयपर वर्षा नहीं होती, अथवा होती ही नहीं, होती भी है तो विकृत रूपमें। हवायें ठीक नहीं बहतीं। पृथिवी उपद्रवयुक्त हो जाती है। जल सूख जाते हैं। ओषधियां स्वभावको त्याग कर विकृत हो जाती हैं। ततः जनपदोंका ध्वंस हो जाता है।

शस्त्रजन्य जनपदनाशका अधर्म ही कारण होता है। जिनमें लोभ, कोप, मोह, अभिमान बहुत बढ जाता है, वे दुर्बलोंको दबाकर अपने वा परायोंका नाश करनेके लिये शस्त्रसे परस्पर आक्रमण करते हैं, वा दूसरोंपर हमला करते हैं अथवा दूसरे उनपर हमला करते हैं।

शापजन्य ध्वंसका भी अधर्म ही कारण है। जिन्होंने धर्माचरणका त्याग कर दिया है वे गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्यजनोंका तिरस्कार करते हैं, ततः गुरु आदिके द्वारा शापित होकर वे प्रजाएँ विनाश भावको प्राप्त होती हैं।

पहले भी बिना अधर्मके अशुभोत्पत्ति नहीं हुई थी। आदिकालमें लोग देवताओंके समान ओजस्वी, अति बल प्रभावयुक्त, वज्रशरीर, सुन्दर वर्णेन्द्रियवाले, वायु समबल गति पराक्रमवाले, अभिरूपप्रमाणाकृतियुक्त, सत्य, सरलता, दया, दान, दम, नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करनेवाले भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, अभिमान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य और परिग्रह इन दोषोंसे रहित थे। अतः उनकी आयु भी अमित थी। ऐसे उत्कृष्ट सत्त्व गुणकर्म स्वभाववालोंके लिये अन्न भी पृथिवी आदिके सर्व गुणयुक्त होनेके कारण अचिन्त्यरस--वीर्य-विपाक-प्रभाव गुणयुक्त उत्पन्न हुए। कृतयुगकी समाप्ति पर कुछ अतिसम्पन्न लोगोंमें शरीरका भारीपन था, शरीरकी गुरुतासे कार्य करनेमें थकावट हुई, इससे आलस्य उत्पन्न हुआ। परिश्रम न कर सकनेपर संचयकी प्रवृत्ति हुई, संचयसे परिग्रह बढा और इस परिग्रहकी प्रवृत्तिसे लोभकी उत्पत्ति हुई।

इसके बाद त्रेता युगमें लोभसे अभिद्रोह, अभिद्रोहसे असत्य भाषण, असत्यभाषणसे काम, क्रोध, मान, द्वेष, पारुष्य, अभिघात (हिंसा), भय, ताप, शोक, चित्तोद्वेगादि उत्पन्न हुए (इसीसे मनुने कहा है मनः सत्येन शुद्ध्यति—सत्याचरणसे मन पवित्र होता है। ऋषियोंकी इस वाक्यताको देखें और दोनोंके वचनका गम्भीरतासे मनन करें, ले०)। इसके बाद धर्मका एक पाद त्रेतामें गायब हो गया। उसके अन्तर्धानसे पृथिव्यादिके गुणपाद (चतुर्थभाग) का नाश हो गया। उस नाशसे ही सस्योंके स्नेह, वैमल्य, रस, वीर्य, विपाक, प्रभावका भी उसी क्रमसे नाश हुआ, ततः हीन गुण आहारविहारके कारण, पृथिवी जलादिमें विगुणता आजानेके कारण प्रजाओंके शरीर ज्वरादिसे आक्रान्त होने लगे। ततः क्रमशः प्राणियोंके आयुका भी ह्रास हो गया।

मनका स्वरूप क्या है? प्राणिसृष्टिमें उसका क्या महत्त्व है? प्रज्ञापराध क्या है? इत्यादिके बारेमें भी आचार्य चरकर्षिका मत जाननेके बाद हम समझ सकेंगे कि मनके सु और दु होनेसे क्या होता है। नीचे चरकसंहिताके उन श्लोकोंका अनुवाद दिया जायेगा। विस्तारभयसे मूलपाठ

नही दे रहे हैं जिन्हें इच्छा हो, मूल ग्रन्थमें देखनेकी कृपा करें--

मनका लक्षण- ज्ञानका होना और न होना मनका लक्षण है। क्योंकि आत्मा और इन्द्रियका विषयके साथ सन्निकर्ष होनेपर भी मनका योग न होनेसे ज्ञान नही होता। मनका योग होनेपर ही ज्ञान होता है। मनके दो गुण हैं- (१) अणुत्व और (२) एकत्व। प्रत्येक शरीरमें मन एक मनके विषय- चिन्त्य (नाना प्रकारके विषयोंको सोचना, गुण या दोषसे विचार करना), तर्क (एकाग्र मनसे सोचना), संकल्प (कर्तव्य अकर्तव्यका निश्चय) इनके अतिरिक्त और भी जो सुख दुःख आदि मनसे ग्राह्य हैं वे सब मनके विषय कहे जाते हैं।

मनके कर्म- इन्द्रियोंका नियमन उनको अपने विषयमें प्रवृत्त करना इस मनको अहित वस्तुओंसे रोकना, शास्त्रमें कही बातपर युक्तिसे विचार करना, विचार, ध्यान, संकल्प आदि ये सब मनके कार्य हैं। -शारीरस्थान अ०१।१८-२१

मन अचेतन और क्रियावान है। शरीरको चेतन करनेवाला आत्मा मनसे पर है। क्रियाशील मनके साथ इस विभु आत्माका योग होनेपर आत्माकी ही वे सब क्रिया कही जाती हैं।

शरीर और कर्मोंका अनुसरण करनेवाले मनके साथ आत्माका नित्य सम्बन्ध है। -शा. स्था. ।।७५,८१

सत्त्वमन तीन प्रकारका है- शुद्ध, राजस और तामस। इनमें शुद्ध दोषरहित है, क्योंकि वह शुभकामनाका अंश है। राजस दोषयुक्त है क्योंकि वह रोषका अंश है। तामस भी दोषयुक्त है क्योंकि वह मोहका अंश है। इन तीनों सत्त्वोंमेंसे एक एकके भेद तर, तम योगसे शरीरविशेष, योनिविशेष और एक दूसरेमें परस्परमें मिले होनेसे असंख्य हो जाते हैं। शरीर भी मनके अनुसार होता है और मन शरीरके अनुसार होता है। इनमेंसे कुछ भेदोंकी तुलना दिखाते हुए यहांपर दृष्टान्तरूपमें बतलाते हैं।

सात्विक चित्तोंके सात भेद-

[१] ब्राह्म- पवित्र, सत्य प्रतिज्ञावाला, जितात्मा, सम्पत्ति और सत्फलको अन्योंमें बाँटकर भोगनेवाला, ज्ञान विज्ञान, वचन-प्रतिवचनकी शक्तिसे युक्त, स्मृतिमान, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, मोह, ईर्ष्या, हर्ष और क्रोधसे रहित, सब प्राणियोंमें सम-बुद्धि रखनेवाला हो उसे ब्राह्म-प्रकृति जानें।

[२] आर्ष- जो यज्ञ करनेवाला, अध्ययनशील, व्रतका पालक, होमशील, ब्रह्मचर्यका पालक, अतिथिका पूजक, मद, मान, राग, द्वेष, मोह, लोभ और रोषसे रहित, प्रतिभासे युक्त वचन, विज्ञान, उपधारण इन शक्तियोंसे सम्पन्न पुरुष हो उसे आर्ष चित्तवाला जानें।

[३] ऐन्द्र- जो ऐश्वर्यवान्, ग्रहण करने योग्य वाक्य वाला, यज्ञ करनेवाला, अवसरके अनुसार कार्य करनेवाला, शूर, ओजस्वी, तेजसे युक्त साहसिक कर्मोंको न करनेवाला दूरदर्शी, धर्म, अर्थ और काममें दत्तचित्त पुरुषको 'ऐन्द्र' समझें।

[४] याम्य- जो कर्तव्य और अकर्तव्यकी मर्यादाके भीतर रहनेवाला, प्राप्तकारी, असप्रहार्य, उन्नतिशील, स्मृतिमान्, ऐश्वर्यशील, राग, द्वेष, मोहसे रहित पुरुष हो उसको 'याम्य' जानें।

[५] वारुण- जो शूरवीर, धीर, पवित्र और मैलेपनसे द्वेष करनेवाला, यज्ञ करनेवाला, जलक्रीडामें रत, क्लिष्ट कर्मोंसे भिन्न सुखसे होनेवाले कर्मोंको करनेवाला, उचित स्थानमें कोप तथा प्रसाद करनेवाला पुरुष हो उसे 'वारुण' समझें।

[६] कौबेर- जो स्थान, मान, उपभोग, सामग्री, परिवारसे युक्त, नित्य धर्म, अर्थ और काममें तत्पर, पवित्र सुखपूर्वक विहार विनोद करनेवाला, उचित स्थानपर कोप और प्रसाद करनेवाला हो उसे 'कौबेर' प्रकृतिका समझें।

[७] गान्धर्व- जो नृत्य, गीत, बाजे, स्तोत्र, श्लोक, आख्यायिका, इतिहास, पुराणोंको पसन्द करनेवाला, इनमें कुशल, सुगन्ध, माला, अनुलेपन, वस्त्र, स्त्रियोंके साथ विहार करनेवाला, अनिन्द्य पुरुष हो उसको 'गान्धर्व' जानें।

ये शुद्ध सत्त्वके सात भेद हैं। ये शुभ या कल्याणके अंश हैं। इसके संयोग होनेसे 'ब्रह्म' को ही सबसे अधिक शुद्ध निर्दोष जानें। [अपूर्ण]

संस्कृत लोकोक्तियाँ

(ले० श्री पं० हरिदत्तजी शास्त्री, एम. ए., विद्याभास्कर)

३९४ नाम्भोधि स्तृष्णामपोहति ।

अर्थ— समुद्र प्यासेकी प्यास नहीं बुझा सकता है।

प्रयोगः— कृपणस्य धनमनुपभोग्यमेव । यथा नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति ।

३९५ न स्थाणोरपराधोऽयं यदन्धस्तं न पश्यति ।

अर्थ— यदि अंधा टकरा जाय तो उसमें ठूंठका क्या अपराध ?

प्रयोगः— दिवाऽपि कौशिको नावलोकयति तर्हि कस्य दोषः, न स्थाणोरपराधोऽयं यदन्धस्तन्न पश्यति ।

३९६ नहि मक्षिका मधुराणि विहायान्यत्र गच्छन्ति।

अर्थ— मक्खियां मीठेपर ही मँडराती है अन्यत्र नहीं।

प्रयोगः— यस्य समीपे धनं भवति तस्यादरं सर्व एव उपगच्छन्ति, यथा नहि मक्षिकाः मधुराणि विहायान्यत्र गच्छन्ति ।

३९७ न तेन साधुर्भवति येनास्य मुण्डितं शिरः ।

अर्थ— केवल शिर मुँडा होनेसे ही कोई साधु नहीं बन जाता ।

प्रयोगः-केवलं बाह्यस्वरूपेणैवान्तः साधुता नैव द्योत्यते, न तेन साधुर्भवति येनास्य मुण्डितं शिरः ।

३९८ नानेकराजके राष्ट्रे स्वप्नेष्वपि समृद्धयः ।

अर्थ— अनेक छोटे छोटे राजाओंवाले राष्ट्रमें समृद्धि होना स्वप्नमें भी सम्भव नहीं।

प्रयोगः— यथा संजातेष्वधिकेषु भोगिषु मठस्य विनाश एव जायते, तद्वत् नानेकराजके राष्ट्रे स्वप्नेष्वपि समृद्धयः ।

३९९ नार्घते भास्करं कोऽपि प्रयान्तं चरमां दिशम्।

अर्थ— पश्चिममें डूबते सूर्यको कोई अर्घ्य नहीं देता।

प्रयोगः— दुःखकाले न कोऽपि सहायको भवति, नार्घते भास्करं कोऽपि प्रयान्तम् चरमां दिशम् ।

४०० नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

अर्थ— चक्रकी धुरीके समान परिस्थितियां बदलती रहती हैं।

प्रयोगः— चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च, तद्वदेव नीचैर्गच्छति उपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

४०१ निःसारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान् ।

अर्थ— ऊँची दुकान फीका पकवान ।

प्रयोग –साररहितानि वस्तुजातानि दर्शनीयानि भवन्ति, अतएवोक्तम् निःसारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान् ।

४०२ नवांगनानां नव एव पन्थाः ।

अर्थ— हरएक अपनी डेढ ईंटकी मसजिद बनाता है ।

प्रयोगः— मुण्डे मुण्डे रुचिर्भिन्ना, यतः नवांगनानां नव एव पन्थाः ।

४०३ न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे ।

अर्थ— जबतक हिमालयसे संजीवनी आवे तबतक बीमार मर जावे ।

प्रयोगः— समये बिन्दुरसमयस्य पूर्णघटस्यापेक्षया प्रशस्यतरः, न कूपखननम् युक्त प्रदीप्ते वह्निना गृहे ।

४०४ निर्वाणदीपे किमु तैल दानम् ।

अर्थ-अब पछताए होत क्या जब चिडिया चुग गई खेत ।

प्रयोगः— कस्यचिदपि कार्यस्य संसिद्ध्यर्थं समये एव यत्नो विधेयः अन्यथा निर्वाणदीपे किमु तैलदानम् ।

४०५ निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ।

अर्थ— अन्धोंमें काना राजा ।

प्रयोगः— मूर्खाणां समाजे वावदूको मूर्खोऽपि विद्वान् मन्यते । निरस्तपादपे देशे० ।

४०६ नहि कस्तूरी कामोदः शपथेन निवार्यते ।

अर्थ— आदत सिरके साथ जाती है।

प्रयोगः— स्वभावः स्वयमेव प्रकाशते, नहि कस्तूरी कामोदः० ।

४०७ नवा वाणी मुखे मुखे ।

अर्थ— पांचो अँगुलियां बराबर नहीं होती।

प्रयोगः— संसारे सर्व एव समानाः नैव भवन्ति । नवा वाणी० ।

४०८ न मुनिः पुनरायातो नचासौ वर्धते गिरिः।

अर्थ— न नौमन तेल होगा, न राधा नाचेगी।

प्रयोगः— कल्पना कृत्वैव कस्यचिदपि कार्यस्य संसिद्धिर्नैव भवितुं शक्नोति, न मुनिः पुनरायातो०।

४०९ न विडालो भवेद्यत्र तत्र क्रीडन्ति मूषकाः।

अर्थ— मियाँ घर नहीं बीबीको डर नहीं।

प्रयोगः— भयरहिताः यथासुखं कार्यं कुर्वन्ति, न विडालो०।

४१० निमज्जन्पुरुषस्तृणमप्यवलम्बते।

अर्थ— डूबतेको तिनकेका सहारा।

प्रयोगः— बुभुक्षितोऽल्पमपि खाद्यं बहु मन्यते। यथा निमज्जनपुरुषस्तृणमप्यवलम्बते।

४११ न कर्तुं समयस्तस्य कुरुते यो न किञ्चन।

अर्थ— न करनेको सौ बहाने।

प्रयोगः— अद्य, श्वः, इति वदन् स समयाकरोति न कर्तुम्०।

४१२ निशितशस्त्रापेक्षया मर्मभेदाद्वाक्यमधिकक्षताय भवति।

अर्थ— मर्मभेदी वाक्य तेज औजारसे भी अधिक घाव करनेवाला होता है।

प्रयोगः—मानसिंहो वचसा प्रतापस्य विव्यथे, निशित०।

४१३ नातिचण्डश्चिरस्थायी।

अर्थ— अधिक प्रचण्ड व्यक्ति स्थायी नहीं होता है।

प्रयोगः— कस्यचिदपि वस्तुनः मध्यममात्रैव चिरस्थायिनी भवति, यतो नातिचण्डश्चिरस्थायी।

४१४ नाग्निश्चण्डश्चिरं ज्वलेत्।

अर्थ— अधिक प्रचण्ड अग्नि सदा ही एकसी नहीं जला करती है।

प्रयोगः—मध्येऽह्नितप्तः सूर्यः दिनक्षये न तथा, नाग्निः०।

४१५ नारी परीक्ष्यते द्रव्यैः पुमान्नार्या परीक्ष्यते।

अर्थ— नारीकी परीक्षा द्रव्यसे होती है और पुरुषकी परीक्षा नारीसे।

प्रयोगः-सीता रावणसम्पदं तृणाय मेने, नारी परीक्ष्यते०।

४१६ न कश्चिदेवं विद्यते धनिको यः स्वीयं विभवमलमिति मनुते।

अर्थ— कोई भी धनी अपनी धनमात्रासे सन्तुष्ट नहीं होता है।

प्रयोगः— धनेन न कोऽपि सन्तुष्टो दृश्यते यतो न कश्चिदेवं०।

४१७ न कामयेत यो द्रष्टुं तस्मादन्धतरो नु कः।

अर्थ— जिसको देखनेकी इच्छा नहीं- उससे अधिक अन्धा और कौन हो सकता है?

प्रयोगः— संसारे एतादृशः कोऽपि नास्ति यो द्रष्टुमेव वाञ्छति। यतो न कामयेत०।

४१८ निधापयति कोषान्तः खड्गः खड्गान्तरं किल।

अर्थ— लोहा लोहेसे दबता है।

प्रयोगः—दुष्टस्तं दुष्टं दृष्ट्वा शान्तोऽभूत्, निधापयति०।

४१९ न गीयतां जयात्पूर्वं जनैर्विजयगीतिका।

अर्थ— जीतके पहले ही विजयगीत न गाने चाहिए।

प्रयोगः— सति समये एवानन्दप्रकाशो विधेयः, न गीयताम्०।

४२० नेत्रयोर्वृद्धस्य चिन्ताजागरूका।

अर्थ— वृद्ध मनुष्यकी आंखोंसे चिन्ता टपकती है।

प्रयोगः— वृद्धः चिन्ताशीलः जायते,। अतएवोच्यते-नेत्रयोर्वृद्धस्य चिन्ता०।

४२१ नान्वेषणीया नोपेक्ष्या प्रतिष्ठा मनुजैरिह।

अर्थ— लोगोंको इस संसारमें न तो प्रतिष्ठाके अधिक पीछे पडना चाहिए और न उसके अधिक उपेक्षा ही करनी चाहिए।

प्रयोगः— वीतरागोऽपि मुनिः चकमे-यतः नान्वेषणीया०।

४२२ नागच्छेच्च गता वीचिर्नायाति समयो गतः।

अर्थ— न गई हुई लहर लौटती है और न गया हुआ समय ही लौटता है।

प्रयोग — समयस्योपयोगो मनोयोगेन साकम् कार्यः। यतो नागच्छेच्च०।

४२३ नैकमपि दिनमकिञ्चित् कुर्वाणस्य गच्छेत्।

अर्थ— क्रियाशील पुरुषका एक भी दिन बेकार नही जाता है।

प्रयोगः— यतो नैकमपि०।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

लाखनी

समर्थ विद्यालयके स्नेह-सम्मेलनके अवसर पर दि. २०-१२-५५ को श्री डॉ. ह. आवळे जिलाधीश, इनकी अध्यक्षतामें प्रमाण-पत्र-वितरणोत्सव मनाया गया। उत्सवका प्रारम्भ संस्कृत-स्वागत-गीत और सरस्वतीके स्तुति-गीतसे हुआ। इसके बाद केन्द्रके विषयमें थोडी जानकारी देकर उत्तीर्ण विद्यार्थियोंको प्रमाण-पत्र दिये गये।

श्रीमान् जिलाधीश विद्यार्थियोंको शिक्षणके महत्वको समझाते हुए बोले— "सर्व भाषाओंकी जननी संस्कृत भाषाका अध्ययन करना यह प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। सब प्रकारका उत्तम यथार्थ ज्ञान हमें संस्कृत साहित्यसे मिल सकता है।"

अन्तमें श्री केन्द्रव्यवस्थापक महोदयने सब लोगोंका आभार माना और 'वन्देमातरम्' गीतके बाद कार्यक्रम समाप्त हुआ।

नाशिक

शुद्ध आयुर्वेद विद्यालयमें सितंबर १९५५ की संस्कृत परीक्षामें उत्तीर्ण विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र वितरण करनेका समारंभ दि० २४ दिसंबर ५५ को बडे उत्साहसे हुआ। श्रीमान् वामनशास्त्री दीक्षित महोदयके शुभ हाथोंसे हुए इस समारंभमें उन्होंने संस्कृतभाषाका महत्व नये तरीकेसे उपस्थित महानुभावोंको समझाया। आयुर्वेद विद्यालयके प्रिन्सिपल वैद्य बिन्दुमाधव शास्त्री और अन्य सज्जन उपस्थित थे। आरंभमें केन्द्रव्यवस्थापक श्री वैद्य श्रीनिवास शास्त्रीने केन्द्रका कार्य और चन्द्र प्रगतिका विवरण दिया। अनन्तर श्री० श्रीहरि जळूकरजीने अध्यक्षका परिचय कराया। प्रमाणपत्र वितरण और कुछ भाषण होनेके बाद कार्यक्रम समाप्त हुआ।

CERTIFICATE OF REGISTRATION

ACT No. 53 of 1950.

No. 182 of 1955

I Here by certify that the Madhyabharat Sanskrit Bhasha Prachar Samiti, MANDLESHWAR had this day been registered under the unitedstate of Gwalior, Indore and Malwa Madhya-Bharat Societies registration act No 53 of 1950, Samwat 2007

Given under my hand at Indore Twenty third day of July One thousand nine hundred and fifty,

Registrar of joint stock Companies
Madhyabharat, Gwalior & Indore.

स्वाध्यायमण्डल द्वारा संचालित अखिल भारतीय संस्कृतभाषा-परीक्षा-समितिकी ओरसे भारतमें सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए परीक्षार्थियोंका अभिनन्दन किया जाता है। परीक्षार्थियोंको समितिकी ओरसे पुरस्कृत किया गया है। पुरस्कार केन्द्र द्वारा वितरित होगा।

प्रारम्भिणी

प्रवेशिका

समस्त भारतमें सर्वप्रथम उत्तीर्ण परीक्षार्थी

श्री. आनन्द देशपाण्डे, बड़ौदा
(प्राप्ताङ्क ९७ । १००)
१२) रु. की पुस्तकें

श्री. कु. कुमुदिनी भाळेराव, बुलढाणा
(प्राप्ताङ्क १७७ । २००)
१३) रु. की पुस्तकें

परिचय

विशारद

श्री. अशोक पाठणकर, चणी स. हा.
(प्राप्ताङ्क २६७ । ३००)
१४) रु. की पुस्तकें

श्री. सुधाकर असोलकर, औरंगाबाद
(प्राप्ताङ्क ३०१ । ४००)
१५) रु. की पुस्तकें

गीतामें विश्वसृष्टि

(लेखक— श्री स्वा. केशवदेवजी आचार्य, मेरठ)

(१)

गीताके अनुसार विश्वका मूलतत्त्व एकमेवाद्वितीय पुरुष है जिसे पुरुषोत्तम,× वासुदेव,+ परमात्मा, परमपुरुष, ईश्वर, महेश्वर आदि नाम दिये गये हैं। यह पुरुषोत्तम अपनी पराप्रकृतिके द्वारा विश्वकी सृष्टि करता है। प्रकृति शब्दका अर्थ होता है शक्ति, गुण या स्वभाव। जैसे जब यह कहा जाता है कि अग्निकी प्रकृति उष्ण है तो इसका अर्थ यह है कि अग्निमें उष्णतारूप शक्ति रहती है, अग्निका गुण उष्णता है, अग्निका स्वभाव उष्ण है। इसी प्रकार पुरुषोत्तमकी पराप्रकृति इस कथनमें परा प्रकृतिका अर्थ है उसकी पराशक्ति। इस शक्तिको परा इस कारण कहा जाता है क्योंकि यह पुरुषोत्तमकी उच्चतम और पूर्णतम अवस्था है। पुरुषोत्तम अनन्तरूपोंको धारण कर सकता है जिनमें उसके सत्ता, चेतना और आनन्द भिन्न भिन्न प्रकारसे स्वल्प या अधिकमात्रामें अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु जिस अवस्थामें ये सत्ता, चेतना और आनन्द अपने पूर्ण और समानरूपमें विद्यमान हों उस अवस्थाको पुरुषोत्तमकी परा शक्तिवाली अवस्था और उसकी इस शक्तिको पराप्रकृति कहा जाता है। इस प्रकृतिको चित्‌शक्ति भी कहा जाता है।

जब पुरुषोत्तम विश्वकी सृष्टिका संकल्प करता है तो यह परा प्रकृति उसके संकल्पके अनुसार एक ओर जीवोंका रूप धारण करती है और दूसरी ओर सत्व, रज, तम गुणवाली अपरा प्रकृतिका। जीवरूपमें उसके सत्ता, चेतना और आनन्द गुण आविर्भूत रहते हैं, यद्यपि यह आविर्भाव आंशिक ही होता है। अतः गीतामें कहा है "जीवभूतां"। "जीवभूतां" इस शब्दका अर्थ कुछ टीकाकारोंने "जीवात्मिकां" किया है, जिसका यह तात्पर्य है कि पराप्रकृति जीवरूप ही है और इससे अतिरिक्त उसका कोई दूसरा रूप या उसमें कोई विशेष शक्ति नहीं है। परन्तु गीताके अनुसार ये समस्त जीव और यह सम्पूर्ण जगत् पुरुषोत्तम और उसकी पराप्रकृतिके साथ साररूपमें एक होते हुए भी उसके अत्यन्त क्षुद्र * अंश हैं। इन रूपोंमें प्रकट होनेपर भी उनका बहुत अधिक भाग अपने दिव्य भावमें, विश्वातीत ही रहता है। अतः इस विषयमें श्री अरविंद लिखते हैं–

"It does not say that the Supreme Prarkiti is in its essence the Jiva (जीवात्मिका), but that it has become the Jiva (जीवभूतां); and it is implied in that expression that behind its manifestation as the jiva here it is originally something else and higher, it is nature of one Supreme Spirit. ... Even all the multiplicity of beings in the universe or in numberless universes could not be in their becoming the integral Divine, but only a partial manifestation of the infinite One,

(Essays on the Gita. II, ch. I)

⁂ यह लेख श्री अरविन्दके गीता प्रबंध (Essays on the Gita) और दिव्य जीवन (Life Divine) आदि ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है।

× उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः। (१५।१८) (+) वासुदेवः सर्वम्। (७-१९)

* ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः। १५-७

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। १०।४२

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋग्वेद १०-९०-३

"गीता यह नहीं कहती कि पराप्रकृति अपने सारूपमें जीव है (जीवात्मिकां) अपितु वह जीवरूप हो गई है (जीवभूतां); और इस वचनमें यह संकेत मिलता है कि इस जीवरूप अभिव्यक्तिके पीछे मूलरूप इससे भिन्न और उच्चतर है, वह परमात्माकी प्रकृति है। .. यहांतक कि विश्वके समस्त जीवोंका समुदाय अथवा असंख्य विश्वोंके जीवोंका समुदाय अपने आविर्भूतरूपमें पूर्ण भगवान नहीं हो सकता, अपितु एकमेव अनन्त पुरुषोत्तमका आंशिक आविर्भाव मात्र ही होगा।"

गीताने जीवोंको सनातन मानते हुए भी स्पष्टतया पराप्रकृतिसे इनकी सृष्टि मानी है।

"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" "मेरी अध्यक्षतामें यह प्रकृति सजीव और निर्जीव जगत्की सृष्टि करती है।" यहां सचर (सजीव) शब्दसे स्पष्टतया जीवोंकी सृष्टि बतलाई गई है और जिससे किसी पदार्थकी सृष्टि होती है वह उस सृष्ट पदार्थसे सारूपमें तादात्म्य रखते हुए भी परिमाण और शक्तिमें बहुत अधिक हुआ करता है।

इस पराप्रकृतिके जब चेतना और आनन्द गुण तिरोभूत हो जाते हैं, स्वयं अपने भीतर अन्तर्भूत (innwed) हो जाते हैं तो उसकी सत्ता तमोगुणका, चेतना रजोगुणका और आनन्द सत्त्वगुणका रूप धारण कर लेता है और यह पराप्रकृति सांख्यकी सत्त्व, रज, तम गुणवाली अपरा प्रकृति हो जाती है। इस अपरा प्रकृतिसे सांख्यके अनुसार महान्, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियां, पञ्च तन्मात्रा और पञ्च महाभूत- तेईस तत्त्वोंकी— सृष्टि होती है।

विश्वसृष्टिके विषयमें गीताने आगे कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४-३
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिः अहं बीजप्रदः पिता। १४-४

"सम्पूर्ण विश्वका कारण यह मेरा महद्ब्रह्म है जिसमें मैं गर्भधारण करता हूं, जिससे कि समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। समस्त (देव, गंधर्व, मत्स्य, पशु, पक्षी आदि) जातियोंमें जो जो आकार व्यक्त होते हैं उन सबका उत्पत्ति कारण यह महद्ब्रह्म है और मैं बीज देनेवाला पिता हूं।"

यहां स्पष्ट है कि महद्ब्रह्मसे अभिप्रेत यह पराप्रकृति ही है जो कि विश्वमाता भी कही जाती है। सृष्टि करते समय ईश्वरको जो उसके विषयमें दिव्य ज्ञान होता है यही वह बीज है जिसे यह पराप्रकृति या महद्ब्रह्म विश्वमातारूपसे धारण करके कार्यरूपमें परिणत करती है तथा चर और अचर, सजीव और निर्जीव जगतकी सृष्टि करती है +। इस दिव्य ज्ञानको उपनिषदोंमें ईक्षण, × या सत्यसंकल्प या विज्ञान भी कहा गया है।

सांख्यकी प्रकृति जिस प्रकार पुरुषसे भिन्न है, मायावादकी माया जैसे ब्रह्मसे भिन्न है इस प्रकार गीताकी यह पराप्रकृति पुरुषोत्तमसे भिन्न नहीं है, अपितु जैसे उष्णता अग्निसे अभिन्न होती है ऐसे ही यह पुरुषोत्तमसे अभिन्न है। अतः गीताने जहां इस प्रकृतिसे चराचर जगत्की सृष्टि बतलाई है वहां उसने समानरूपमें एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तमसे भी सृष्टि बतलाई है और इस प्रकार दोनोंका तादात्म्य कर दिया है—

एतद्योनिनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७-६

+ इस विषयमें अरविंदने इस प्रकार लिखा है?

He is at once the Father and Mother of the universe; the substance of the infinite Idea, (विज्ञान), the Mahad Brahman, is the womb into which he casts the seed of his self cenception. As the Over-Soul, he casts the seed, as the Mother, the Nature-Soul, the Energy filled with his conscious power, he receives it into this infinite substance of being made pregnant with his illimitable, yet self limiting Idea. (Essays on the Gita. II. XIV)

× स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (ऐतरेय १-१) तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। (छा० ६-२-१)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना। ९-४
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।७-१०
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन॥ १०-३९

पुरुषोत्तम और पराप्रकृतिका इस प्रकार तादात्म्य कर देने पर भी गीताने पुरुषोत्तमको इसका अध्यक्ष, अधिष्ठाता, * नियन्ता, शासक और प्रकृतिको अधीक्षित, अधिष्ठित, नियम्य, शासित माना है। परन्तु गीताका पुरुषोत्तम न्यायदर्शनके ईश्वरके समान इस उत्पन्न होनेवाले जगत्से घडेसे कुलालकी तरह सर्वथा पृथक् नहीं रहता अपितु वह इसमें इस प्रकार व्याप्त रहता है जैसे सूत्रमणियोंकी मालामें- ऐसी मालामें जिसके मणि उसी तत्त्वके बने हों जिस तत्त्वका वह सूत्र है- गंध जैसे पृथ्वीमें, रस जैसे जलमें, उष्णता जैसे अग्निमें, शब्द जैसे आकाशमें।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७-७
रसोहमप्सु कौन्तेय— शब्दः ख ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥ ७-८,९ ॥

गीताने जो इस प्रकार गंध, रस, तेज शब्दकी पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाशमें व्याप्तिके समान पुरुषोत्तमको विश्वमें व्यापी माना है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मायावादके विवर्त्तवादकी अपेक्षा सांख्यके परिणामवादको स्वीकार करती है। वह पुरुषोत्तमसे विश्वकी सृष्टि इस प्रकार मानती है जैसे सांख्यके अनुसार गंध तन्मात्रासे पृथ्वी, रसतन्मात्रासे जल, रूपतन्मात्रासे अग्नि, शब्दतन्मात्रासे आकाश उत्पन्न होते हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि ॥ ७-१२ ॥

उपनिषदोंमें एकमेवाद्वितीय तत्त्वसे, जिसे उन्होंने सद्, ब्रह्म, आत्मा, अक्षर, परात्पर पुरुष आदि नाम दिये हैं विश्वकी सृष्टि इस प्रकार बतलाई गई है जैसे अग्निसे चिनगारियां, मनुष्यके शरीरसे केश (मुंडक १-७), मृत्तिकासे पात्र, लोहेसे लोहेके यन्त्र, स्वर्णसे अलंकार, बीजसे वृक्ष (छा ६) इत्यादि। ये सब परिणामवादके उदाहरण हैं। इनसे पता चलता है कि गीताकी सृष्टि-प्रक्रिया उपनिषदोंके पूर्णतया अनुकूल है। अतः गीताके अनुसार एकमेवाद्वितीय सत्य तत्त्वसे उत्पन्न होनेवाला जगत् सत्यही होता है- यद्यपि यह उत्पन्न होकर भी अपनी सत्ताके लिये सर्वदा अपने मूलभूत तत्त्वके ही आश्रित रहता है- मायावादके समान रज्जुमें सर्पकी तरह मिथ्या नहीं होता।

गीताकी पराप्रकृति मायावादकी मायासे भिन्न है। कारण यह माया अविद्या है, अज्ञानरूपिणी है। यह रज्जुमें सर्प, शुक्तिमें रजत, मरुमरीचिकामें जलके समान ब्रह्मसे संसारकी सृष्टि करती है, दूसरे शब्दोंमें, पूर्ण ज्ञानमय ब्रह्मको मिथ्या सृष्टिकी प्रतीति करा देती है। गीताने अपनी पराप्रकृतिके लिये माया शब्दका प्रयोग तो अवश्य किया है परन्तु यहां माया शब्दका अर्थ मायावादकी मायासे भिन्न है। माया शब्द माङ् माने धातुसे बना है जिसका अर्थ है नापना, किसी कार्यको करनेसे पहले उसकी विधि, आकार, परिमाण, परिणाम आदिकी कल्पना करना। अतः जिस शक्तिके द्वारा ईश्वर विश्वकी सृष्टि करनेसे पहले उसकी सृष्टिकी विधि, उसके रूप और परिणाम आदिकी कल्पना करता है (विश्वं माति, मिमीते वा यया) उसे माया कहते हैं। श्री अरविन्दने लिखा है कि "वैदिक ऋषियोंने माया शब्दका प्रयोग अनन्त चैतन्यकी उस शक्तिके लिये किया है जो कि अनन्तसत्ताके बृहत् अपरिछिन्न सत्यसे नाम और रूपात्मक जगत्का ज्ञान करती है, इन्हें नापती है, अपने भीतर धारण करती है और फिर आकार प्रदान करती है। इसके द्वारा कूटस्थ आत्माका निष्क्रिय सत्य सक्रिय आत्माका व्यवस्थित और क्रमबद्ध सत्य होजाता है।+ माया शब्दमें कुछ कुछ भाव चमत्कार, आश्चर्य, जादूका भी है। यह अनन्त ज्ञानमयी शक्ति जिस विधिसे क्रिया करती है वह साधारण मानव

---

* मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् (९-१०)
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि ॥ ४-६ ॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि ॥ ९-८ ॥

\+ Maya meant for them the power of infinite consciousness to comprehend, contain in itself and measure out, that is to say, to form ... ... name and shape out of the vast illimitable Truth of infinite existence: It is by Maya that static Truth of essential being becomes ordered Truth of acting being. (Life Divine I, XIII)

बुद्धिके लिये अत्यन्त दुर्बोध है और यदि उसे इसकी कुछ झलक मिलती है तो वह आश्चर्यचकित होकर इसे चमत्कारसा समझती है, इस कारण भी इसे माया कहा जाता है। गीताने माया शब्दका प्रयोग पराप्रकृतिके लिये इसी अर्थमें किया है।

ज्ञानमयी होनेसे इसे विद्यामाया भी कहा जा सकता है। इसे गीताने आत्ममाया कहा है जिसके द्वारा पुरुषोत्तम अवतार ग्रहण करता है और मानवदेहमें आकर भी अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताको नहीं खोता और प्रकृतिके अधीन न होकर उसका अधिष्ठाता बना रहता है (प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया)। अज्ञानका भाव इस प्रकृतिमें पीछेसे, उस समय आता है जब कि इसके सत्ता, चेतना और आनन्द तम, रज और सत्वका रूप धारण कर-लेते हैं और यह पराके बजाय अपरा होजाती है। अतः गीताने कहा है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ७-१४

यह अपरा प्रकृति-माया दैवी प्रकृतिरूपी पराप्रकृतिका ही एक रूप विशेष या विकार है। इस कारण इसे कहीं कहीं दैवी भी कहा गया है। गीतामें इसका मायावादकी मायाके समान अत्यन्त विनाश नहीं किया जाता अपितु इससे अतीत होना होता है (मायातीत, मायां तरन्ति) और अतीत हो जानेपर भी इससे उत्पन्न जगत्का अनुभव लुप्त नहीं होता। इस मायामें जब रज और तम गुण अत्यन्त उग्ररूपमें होते हैं तो यह राक्षसी और आसुरी माया कहलाती है जो कि ज्ञानका अपहरण कर लेती है।

माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥७-१५॥
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥९-१२॥

प्रकृतिमें स्थित समस्त जीव इस मायाके वशमें होते हैं अतः इस मायाके द्वारा ईश्वर उन्हें, उनके हृदयमें स्थित होकर, यंत्रारूढके समान घुमाया करता है।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ९-८ ॥
भ्रामयन्सर्व भूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥१२-६१

इसके विपरीत पराप्रकृति वह दैवी प्रकृति है जिसे प्राप्त करके महात्मा, सज्जन, संतजन अनन्यभावसे उसका भजन किया करते हैं, उसका दर्शन करते हैं और निष्काम, निर-हंकार, लोक संग्रहार्थ दिव्य कर्मोंको किया करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥९-१३॥

सांख्यके अनुसार जीव प्रकृतिसे भिन्न होता है अतः यह द्वैतवादी है और जीवात्मा प्रतिदेह एक दूसरेसे मूलतः भिन्न होते हैं अतः यह पुरुष बहुत्ववादी है। गीताके अनु-सार समस्त जीव और जड प्रतीत होनेवाला जगत् (सचरा-चरम्) एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तमसे उसकी पराप्रकृतिके द्वारा सृष्ट होते हैं। ये जीव जब कि ये प्रकृतिस्थ हैं तो स्थूलरूपमें एक दूसरेसे भिन्न होते हैं परन्तु अपने मूलमें पुरुषोत्तम और पराप्रकृतिमें एक हैं। ये पुरुषोत्तमके सनातन अंश हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

ये जीव पुरुषोत्तम और उसकी पराप्रकृतिके साथ सार रूपमें एक होते हुए, अपने मूलरूपमें नित्य मुक्त होते हुए भी जब त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिमें स्थित होते हैं तब ये जन्म, मरण, सुखदुःख आदि विकारोंको अनुभव करते हैं। अतः गीताने इन्हें क्षर कहा है। क्षर शब्द " क्षर संचलने " धातुसे बना है जिसका अर्थ है सक्रिय, क्रियाशील। इस कारण त्रिगुणमयी अपराप्रकृति और उसके महदादि विकारोंको भी गीताने क्षर कहा है (क्षरः सर्वाणि भूतानि)। जिस समय इन जीवोंको अपने यथार्थ स्वरूपका, अपने निष्क्रिय, अकर्तृत्व, जन्ममरणादि विकारोंसे रहित, प्रकृतिके सुखदुःखादि विकारोंसे रहित, प्रकृतिसे पृथक् स्वरूपका साक्षात्कार होजाता है तब ये अपने शुद्ध, निर्विकार स्वरूपमें स्थित होजाते हैं। उस समय इन्हें अक्षर कहा जाता है। यह सांख्यके अनुसार अक्षर पुरुष है। यह व्यष्टि अक्षर है। गीता इन समस्त जीवोंकी मूलगत एकताको मानती है अतः उसकी दृष्टिमें अक्षर वह है जिसे सांख्य वेदान्तमें ब्रह्म, आत्मा, कूटस्थ, अचल कहा जाता है। यह व्यष्टि नहीं है अपितु वैश्व या समष्टि अक्षर है। सम्पूर्ण जीव वहां पहुंच-कर एकीभूत होजाते हैं। गीताके अनुसार इस कूटस्थ अक्ष-रसे अतिरिक्त एक और भी पुरुष है जिसे उसने पुरुषोत्तम कहा है, जिसके ये क्षर और अक्षर दो रूप हैं। अतः गीताके अनुसार पुरुषोत्तम एकमात्र सर्वोच्च परमार्थ तत्व है। वही

अक्षर होता है, वही जीव और प्रकृति रूपमें क्षर हो जाता है, वह समस्त विश्वको अपनी सत्तासे आविर्भूत करता है और फिर अन्तर्यामी रूपसे इसे धारण करता है, इसका नियमन करता है (लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वरः) और जब चाहता है, जैसे मकड़ी जालेको अपने भीतर समेट लेती है, वह विश्वको अपने भीतर लीन कर लेता है। यही मानवदेहमें अवतार ग्रहण करता है। यही गीताका वासुदेव, श्रीकृष्ण भगवान् है।

इस प्रकार गीताने परा और अपरा–दो प्रकृति, क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम-तीन पुरुष माने हैं और पुरुषोत्तमको समस्त चराचर विश्वका एकमेवाद्वितीय मूल कारण मानकर अपने अद्वैतवादके अनुसार विश्वसृष्टिका प्रतिपादन किया है।

(२)

गीताके इस सिद्धान्तमें अब यह देखना आवश्यक है कि सांख्य आदि अन्य दर्शनोंमें जो कठिनाइयां उपस्थित होती हैं उनका समाधान किस प्रकार होता है।

सर्वप्रथम, जडवादमें यह कठिनाई होती है कि समान रूपमें विस्तृत जडतत्त्वमें सृष्टि करनेवाली क्रिया किसी विशेष समयमें किसी दूसरी प्रेरकशक्तिके बिना संभव नहीं है। गीताका पुरुषोत्तम चूंकि स्वयं चेतन और सक्रिय है, तथा स्वतंत्र इच्छा रखता है अतः जब वह चाहता है अपनी सत्तासे अपनी इच्छाके अनुसार सृष्टि कर सकता है।

सांख्यकी साम्यावस्थावाली प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न करनेवाला चेतन पुरुष है और योगमें ईश्वर है। परन्तु सांख्यका पुरुष और योगका ईश्वर दोनों स्वयं निष्क्रिय हैं। अतः वे प्रकृतिमें क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकते। गीताका पुरुषोत्तम चूंकि स्वयं सक्रिय है अथवा अपने संकल्पके अनुसार सक्रिय होनेकी सामर्थ्य रखता है अतः वह अपनेसे आविर्भूत हुई प्रकृतिको इस प्रकार सक्रिय कर सकता है जैसे कोई देहधारी अपने हाथ, पैर आदि अंगोंको हिलाडुला सकता है। अतः गीताके सिद्धान्तमें सांख्य और योगकी सृष्टिविषयक समस्याओंका हल बहुत, सुन्दरतासे मिल जाता है।

न्यायके अनुसार ईश्वर, जीव और जगत्से भिन्न है अतः वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान नहीं हो सकता। गीताके अनुसार जीव और जगत् एक ही ईश्वर या पुरुषोत्तमके विस्तार हैं (मया ततमिदं सर्वं जगत्) और इनमें वह इस प्रकार व्याप्त है जैसे रस जलमें, गंध पृथ्वीमें, उष्णता अग्निमें, शब्द आकाशमें अथवा जैसे मृत्तिका पात्रमें स्वर्ण अलंकारमें इत्यादि। अतः उसके सर्वव्यापी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं है।

मायावादका ब्रह्म सांख्यके पुरुषके समान पूर्णतया निष्क्रिय, कूटस्थ और निर्विकार है। इस मतमें जगत् अज्ञानमयी मायाका प्रपञ्च है। ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई मूलतत्त्व नहीं है अतः शुद्ध ब्रह्मको+ ही मिथ्या जगत्की प्रतीति होती है। परन्तु पूर्ण ज्ञानवाले, सर्व ज्ञानवाले ब्रह्मको कैसे मिथ्या जगत्की प्रतीति होती है? कैसे करोडों सूर्यके समान प्रकाशवाला, सर्वशक्तिमान्, त्रिकाल सत्य ब्रह्म अंधकारमयी तुच्छ अविद्या मायाके वशीभूत होकर जन्ममरण, सुखदुःख मोहादिका अनुभव करने लगता है? यह समस्या यहां हल नहीं होती। इस मतमें सांख्यके पुरुष और प्रकृतिके द्वैतके समान ब्रह्म और मायाका द्वैत बना ही रहता है। गीताका पुरुषोत्तम अपनी सर्वज्ञानमयी पराप्रकृतिके द्वारा विश्वकी सृष्टि करता है। यदि वह जीवरूपमें प्रकट होता है तो अपनी ही इच्छासे अपनी विभिन्नताकी लीलाका आनन्द लेनेके लिये वैसा करता है, अपनेसे भिन्न किसी दूसरी शक्तिके अधीन होकर नहीं। अतः इस सिद्धान्तमें इन समस्याओंका समाधान सुन्दर रूपमें मिल जाता है।

गीताके इस सिद्धान्तमें यद्यपि इन समस्याओंका हल मिल जाता है, परन्तु दूसरी समस्यायें उपस्थित होती हैं जिनका समाधान होना आवश्यक है। प्रथम, जडवादकी ओरसे यह समस्या उपस्थित की जाती है कि यदि चेतन पुरुष ही एकमात्र परमार्थतत्त्व है तो चेतनसे यह जड जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता; कारण चेतन और जड एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं। इसका समाधान यह है कि जड और चेतनका यह भेद हमारी स्थूल दृष्टिका बनाया हुआ है। जब इन्हें सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाता है तो वे मूलमें एक ही चेतनतत्त्व दिखलाई देते हैं। उपनिषदोंके अनुसार इनमें चेतना इस प्रकार छिपी रहती है जैसे काष्ठमें अग्नि, तिलमें तेल,

+ आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला। (संक्षेप शारीरक)

दूध और दहीमें घृत *। योगसाधनाके द्वारा सूक्ष्मदृष्टि प्राप्त होजानेपर सर्वत्र चेतना + दिखलाई देने लगती है।

इसके अतिरिक्त जडवादको यह बतलाना होगा कि जगत्में जो चेतना दिखलाई देती है, जिससे मनुष्य, सूर्य, चन्द्रमा आदिकी गतिपर विचार करता है, विश्वमें क्रिया करनेवाले नियमोंपर विचार करता है यह कहांसे आई है? जडवादीको इसका विकास जडतत्त्वसे ही मानना पडेगा। परन्तु सांख्यके सत्कार्यवादके अनुसार– जिसे भौतिक विज्ञानवादी भी स्वीकार करता है– जो वस्तु जहां नहीं होती उसका वहांसे विकास नहीं हो सकता। यदि जल आदि किसी वस्तुमें घृत नहीं है तो चाहे जितना उसे मथा जाय उसमेंसे घृत नहीं निकल सकता; रेतमें पहलेसे तेल नहीं है अतः चाहे जितना उसे कोल्हूमें पेला जाय उसमेंसे तेल नहीं निकलेगा। इसी प्रकार यदि चेतना जडतत्त्वके भीतर विद्यमान न होती तो उसका विकास ही न होता और पृथ्वीपर एक भी सचेतन प्राणी न दिखलाई देता। और चेतनाका जितना विकास अभीतक पृथ्वीपर हुआ है यहां इसका अन्त होगया हो यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हम जडवादके संकीर्ण अंधविश्वासमें अपनी बुद्धिको बंद न करना चाहें तो यह अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है कि पृथ्वीपर ऐसी चेतनाका विकास संभव है जो कि हमारी वर्तमान मानव चेतनाके समान अल्प ज्ञानवाली न होकर अनन्त ज्ञानवाली हो, और संभव है पृथ्वीसे भिन्न दूसरे लोकोंमें इसका विकास हो भी चुका हो। ऐसी अवस्थामें जडतत्त्वमें अनन्तज्ञान करनेवाली शक्ति माननी पडेगी। और जैसे स्थूलरूपमें काष्ठसे अग्नि प्रकट होती जान पडती है परन्तु भौतिक विज्ञानके अनुसार अग्नि मूल कारण है और काष्ठ उसका उद्भूत रूप, इसी प्रकार उच्च कोटिके विज्ञानका विकास होनेपर यह भी सिद्ध होना संभव है कि वह अनन्तज्ञान जो कि जड प्रकृतिमें छिपा हुआ है मूल कारण है और यह जड प्रतीत होनेवाला तत्त्व उसका विकसित रूप है।

वर्तमान समयके अनेक वैज्ञानिकोंने जडवादका परित्याग कर दिया है और उन्हें इस जड प्रतीत होनेवाले जगत्की तहमें किसी अनन्तज्ञान रखनेवाले मन या चेतनका आभास होने लगा है। अतः कुछ विश्वविख्यात वैज्ञानिकोंने इस प्रकार लिखा है—

" Today there is a wide measure of agreement, which on the physical side of science approaches almost to unanimity, that the stream of knowledge is heading towards a non-mechanical reality; the universe begins to work more like a great thought than like a great machine. Mind no longer appears as an accidental intruder into the realm of matter; we are beginning to suspect that we ought rather to hail it as the creator and governor of the realm of matter– not of course our individual minds, but the mind in which atoms, out of which our individual minds have grown, exist as thought. "

" The universe shows evidence of a designing or controlling power that has something in common with our own individual minds."

(The Mysterious Universe P. 138,
Sir Jamen Jeans.)

' The cruder Kind of materialism which sought to reduce every thing in the universe, in organic and organic, to a mechanism of fly-wheels or vorticesor similar devices has disappeared altogether. "

(New Pathways in Science P. 323,
Sir A. Eddington.)

---

* वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्त्तिः न दृश्यते नैव च लिंग नाशः।
स भूय एवेन्धनयोनि गृह्यः तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ श्वेताश्वतर० १–१३ ॥
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः आपः स्रोतस्सु अरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैव तपसा योऽनु पश्यति ॥ श्वे. १–१२ ॥
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ श्वे. १–१६ ॥

+ एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठ. १–३–१२)

" To put the conclusion crudely, the stuff of the world is the mind stuff. "

(The Nature of the Physical World ! Sir A Eddington.)

" आज इस बातको बहुमतसे स्वीकार किया जा रहा है और पदार्थ वैज्ञानिकों (Physiast) का तो प्रायः इस विषयमें ऐकमत्य है कि ज्ञानधाराकी गति अजडतत्त्वकी ओर हो रही है। विश्व कोई महायंत्र होनेकी अपेक्षा एक महाविचार प्रतीत होने लगा है। मन अब जड प्रदेशमें अचानक घुस बैठनेवाला प्रतीत नहीं होता; हमें यह सन्देह होने लगा है कि हमें इसे जडका स्रष्टा और शासक मानना चाहिये- निःसन्देह यह मन हमारा व्यक्तिगत मन नहीं है अपितु ऐसा मन जिससे कि हमारे मन बने हैं और जिसमें परमाणु विचार रूपसे स्थित हैं। "

"विश्व एक ऐसी योजना बनानेवाली, नियामक शक्तिका प्रमाण उपस्थित करता है जिसमें कुछ कुछ हमारे व्यक्तिगत मनोंका स्वभाव विद्यमान है। "

" वह स्थूल जडवाद जो कि प्रत्येक सजीव और निर्जीव वस्तुको जडयंत्र मानता था अब पूरी तरह दूर हो गया है।"

" सब बातोंका निष्कर्ष स्पष्ट भाषामें यह है कि जिस तत्त्वका यह जगत् बना है वह मनस तत्त्व है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीताका एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तमवाद उच्च कोटिके विज्ञानपर प्रतिष्ठित और पूर्णतया युक्तियुक्त है तथा भौतिक विज्ञानकी नवीनतम गवेषणाओंके अनुकूल है।

दूसरी कठिनाई जो इस सिद्धान्तमें उपस्थित की जाती है यह है कि पुरुषोत्तम एक होते हुए अनेक कैसे हो सकता है ? अनेक होनेके लिये उसमें क्रिया माननी होगी और उसके विभाग मानने पड़ेंगे और जिस वस्तुका विभाग होता है वह विनाशी होता है। इसका समाधान यह है कि पुरुषोत्तम एक होते हुए भी अनन्त है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म)।* उसकी यह अनन्तता अनन्तकालतक रहने और अनन्त प्रदेशमें व्याप्त रहनेतक ही सीमित नहीं है अपितु गुण, शक्ति और रूपोंकी अनन्तता भी है। वह अनन्त गुण और अनन्त शक्तिवाला है; वह अनन्तरूप धारण करनेकी शक्ति रखता है (पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते)।+ अतः जब वह चाहता है अनन्तरूपोंको धारण कर लेता है। इनमें स्थूलरूपमें विभक्त जैसा होजाता है, परन्तु मूलरूपमें एक और अविभक्त ही बना रहता है- जिस प्रकार कि एक ही जल भांपे, कुहरा, बादल, बरफ, ओला आदि रूपोंमें विभक्त हो जाता है परन्तु मूलरूपसे जल ही रहता है। अतः गीताने कहा है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥१३-१६

वह अविभक्त होता हुआ भूतोंमें विभक्त हुआ जैसा स्थित है। यह कहना कि ब्रह्म एक है अतः अनेक रूप धारण नहीं कर सकता उसकी अनन्तताको सीमित कर देना है। वह अनन्त होनेके कारण हमारी सान्तबुद्धिके नियमोंमें बद्ध नहीं किया जा सकता।

दूसरे, यह कहना कि जिस वस्तुमें क्रिया और विभाग होते हैं वह नष्ट हो जाती है जैसे घट, अतः यदि पुरुषोत्तममें क्रिया और विभाग होंगे तो वह भी नष्ट हो जायगा-ठीक नहीं है। सांख्यके सत्कार्यवादके अनुसार सत्व, रज और तम गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिमें जब सृजनात्मिका क्रिया होती है तो वह महद्, अहंकार, तन्मात्रा, पृथ्वी आदि पंच भूतोंका और फिर घटादि पदार्थोंका रूप धारण कर लेती है। घटमें जब विभागात्मिका क्रिया होती है तो वह क्रमशः मिट्टी, पृथ्वी, गंधतन्मात्रा, अहंकार महान् और फिर सत्व, रज, तमरूप मूलप्रकृतिका रूप धारण कर लेता है। यहां इस क्रिया और विभागसे न कुछ नष्ट होता है, न घटता है, न बढ़ता है। सत्व, रज और तम गुण अपने मूल परिमाणमें जितने थे उतने ही बने रहते हैं, केवल बाह्य रूपमें परिवर्तन होता है। गीता सांख्यकी इस मूल प्रकृतिसे एक सीढ़ी और आगे बढ़कर यह कह देती है कि इस सत्व, रज, तम गुणवाली प्रकृतिमें और अधिक विभागमयी क्रिया होनेपर यह सत्ता, चेतना और आनन्द स्वभाववाली पराप्रकृतिका या सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका रूप धारण कर लेती है। इसमें कुछ भी न्यायविरुद्ध बात नहीं है।

यदि गहराईमें प्रवेश करके देखा जाय तो पता चलता है कि सक्रियता और निष्क्रियतामें कुछ भी मौलिक विरोध नहीं है अपितु ये एक दूसरेके परिपूरक और अनिवार्य रूपसे

---

* तैत्तिरीय उपनिषद् २-१

\+ श्वेताश्वतर० ६-८

सहवर्ती हैं। जहां कहीं हम कोई क्रिया या परिणाम या विभाग देखते हैं उसके मूलमें कोई एक तत्त्व स्थिर, रहता है जो कि इसप्रकारके परिणामों और विकारोंको धारण करता हुआ स्वरूपतः निर्विकार, निष्क्रिय, कूटस्थ, स्थिर बना रहता है जैसे सांख्यके अनुसार प्रकृतिके समस्त विकारोंके मूलमें सत्त्व, रज और तम या न्यायके अनुसार पृथ्वी, जल, वृक्ष आदिके मूलमें परमाणु। अतः उपनिषदोंने आत्मा या ब्रह्मको सक्रिय और निष्क्रिय दोनों कहा है।

तदेजति तन्नैजति। (ईश.)

यदि विश्वके मूलमें इस प्रकार एक तत्त्व नित्य स्थिर न रहे तो विश्वमें सर्वत्र अव्यवस्था हो जाय। ऊनका कपडा बुनते समय जब उसमें क्रिया होती है तो उसके बने कपडेमें ऊनका गुण विद्यमान रहता है जो उसे सूत और सनके कपडोंसे पृथक् करता है। स्वर्णके अलंकारमें स्वर्णत्व, लोहेके पात्रोंमें लोहत्व, मृत्तिकाके पात्रोंमें मृत्तिकात्व निर्विकार रूपमें स्थिर रहते हैं तभी विश्वकी व्यवस्था रहती है। यदि इन स्वर्णादिमें क्रिया होनेपर ये नष्ट होजांय या अपना गुण बदलकर दूसरे होजायें- स्वर्ण, पीतल या तांबा बन जाय, लोहा मृत्तिका और मृत्तिका लोहा बन जाय तो कुछ भी व्यवस्था न रहे। इन सब विकारोंमें ऊनत्व, स्वर्णत्व, लोहत्व, मृत्तिकात्व निर्विकार रूपमें स्थिर रहते हैं तभी यह विश्वव्यवस्था संभव है। इसी प्रकार एक सच्चिदानन्दरूप पुरुषोत्तम विश्वके समस्त कार्यों और परिणामोंका रूप धारण करता हुआ भी इसके मूलमें कूटस्थ निर्विकार रूपसे विद्यमान रहता है तभी यह विश्वव्यवस्था रूपमें विद्यमान रह सकता है। अतः पुरुषोत्तमकी सक्रियता और निष्क्रियतामें कुछ भी विरोध नहीं है।

तीसरी आपत्ति इस विषयमें यह उठाई जाती है कि पुरुषोत्तम स्वयं पूर्ण है, उसे इस अनन्त भेदात्मक जगत्‌की सृष्टि करनेकी क्या आवश्यकता है? वह स्वयं सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण आनन्दमय है, उसे अल्पज्ञ अल्पशक्ति सुखी दुःखी बननेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि वह स्वयं पूर्ण होते हुए अनन्त सत्ता, अनन्त चेतना अनन्त आनन्दके एक सागरके समान है। जिस प्रकार एक पूर्ण योगी कभी समस्त लौकिक कर्मोंका परित्याग करके अपनी एकान्त समाधिका आनन्द लेता है और कभी लोक कल्याणार्थ लोकहितकारी कर्म करते हुए सक्रिय समाधिका आनन्द लेता है और यदि वह वास्तवमें पूर्ण योगी है तो किसी भी परिस्थितिमें पूर्ण आनन्दसे विचलित नहीं होता।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।
॥ ६-२२ ॥

इसी प्रकार योगियोंका योगेश्वर पूर्णानन्दमय पुरुषोत्तम जब अपने सक्रिय स्वरूपका आनन्द अनुभव करना चाहता है तो अपनी सत्ता, चेतना और आनन्दकी अनन्त प्रकारकी लहरोंवाले इस विश्वका रूप धारण कर लेता है और जब वह अपने निष्क्रियरूपका आनन्द लेना चाहता है तो इस सबको इस प्रकार अपने भीतर समेट लेता है जैसे मकडी जालेको या कोई जादूगर अपनी पिटारीमें अपने खिलोनोंको। यह विश्व उसकी सत्ता, चेतना और आनन्दकी अनन्त प्रकारकी लहरोंका सागर रूप है, उसकी लीला+ है। वह अल्पज्ञान और अल्पशक्तिवाले जीवका रूप धारण करनेपर भी आन्तरिक रूपमें पूर्णज्ञान, पूर्णशक्ति और पूर्ण आनन्दमय ही बना रहता है। अतः उपनिषदोंने कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह पुरुष पूर्ण है, वह जिस जगत्‌को उत्पन्न करता है वह भी पूर्ण है, उस पूर्णसे यह पूर्ण निकलता है और फिर भी वह पूर्ण ही बना रहता है। हम अपनी परिच्छिन्न मानवबुद्धिसे उसपर यह नियम नहीं लाद सकते कि तुम पूर्ण हो। अतः अपूर्ण नहीं बन सकते, एक हो अतः अनेक नहीं बन सकते, निष्क्रिय हो अतः सक्रिय नहीं बन सकते। वह अनन्त होनेसे अनन्त प्रकारके रूप, गुण, क्रियाओं और शक्तियोंका रूप धारण कर सकता है और जितने भी रूप वह धारण करे इन सबमें हमें उसके सच्चिदानन्द स्वरूपको पहिचानना चाहिये तभी हमारा ज्ञान पूर्ण और यथार्थ कहा जा सकता है।

इस प्रकार गीताका एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तम, दो प्रकृति और तीन पुरुषका सिद्धान्त अन्य पूर्वोक्त मतोंकी अपेक्षा अधिक निर्दोष, युक्तियुक्त और पूर्ण है।

+ लोकवत्तु लीला कैवल्यम्। ब्रह्मसूत्र २-१-३३

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २३

[गताङ्कसे आगे]

मनुष्यके भीतर दो पुरुष

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा ॥ कठोपनिषद् ४।१२ ॥ श्वेताश्वतर० ३।१३ ॥

पुरुष, अन्तरात्मा मनुष्यके अंगूठेके समान परिमाणवाला है।

य इदं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ कठ० ४·५ ॥

जो मनुष्य इस आत्माको जान लेता है जो कि सत्ताके मधुका खानेवाला है और भूत और भविष्यका प्रभु है, तदनन्तर वह किसीसे भय या घृणा नहीं करता।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ईश० ७ ॥

जो सर्वत्र एकत्वका दर्शन करता है कहांसे उसे शोक होगा, कैसे उसे मोह होगा ?

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ तैत्तिरीय० २।९

जिसने ब्रह्मके आनन्दको जान लिया है उसे कहींसे भी भय नहीं होता।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राणकी पहली अवस्था मूक निश्चेतन प्रेरणा है; यह प्रेरणा भौतिक या परमाणुमयी सत्तामें एक अन्तर्भूत इच्छाकी शक्ति है; यह स्वतंत्र नहीं है, अपने ऊपर और अपने कार्यों या उनके परिणामोंपर अधिकार नहीं रखती; यह पूर्णतया उस वैश्व क्रियासे अधिकृत होती है जिसमें यह व्यक्तित्वके अस्पष्ट अनिर्मित बीजके रूपमें उद्भूत होती है। दूसरी अवस्थाका मूक कामना है, जो कि अधिकृत करनेके लिए उत्सुक होती है किन्तु शक्तिमें परिमित होती है। तीसरी अवस्थाकी कली प्रेम है जो कि अधिकार करना और अधिकृत होना, ग्रहण करना और अपने आपको देना इन दोनोंको चाहता है।

चौथी अवस्थाका सुन्दर पुष्प, इसकी पूर्णताका चिन्ह है। मूक इच्छाका शुद्ध और पूर्ण उन्मज्जन, मध्यकालीन कामनाकी प्रकाशयुक्त पूर्ति, अतिमानस सत्ताकी आधारभूत जो अन्तरात्माओंकी दिव्य एकता है उस एकतामें अधिकारी और अधिकृतकी अवस्थाके एकीकरणके द्वारा प्रेमके सचेतन आदान प्रदानकी उच्च और गंभीर तृप्ति। यदि हम इन अवस्थाओंकी सावधानतापूर्वक परीक्षा करें तो हम देखेंगे कि हमारा अन्तरात्मा जो पदार्थोंमें व्यक्तिगत और विश्वात्मक आनन्दका अन्वेषण कर रहा है उस अन्वेषणकी ये अवस्थायें आकृतियां और भूमिकायें हैं। प्राणका आरोहण वस्तुतः पदार्थोंमें विद्यमान दिव्य आनन्दका आरोहण है; यह आनन्द भौतिक द्रव्यमें मूक (सुषुप्त) बीजकी अवस्थामें रहता है, परिवर्तनों एवं विरोधोंमेंसे होता हुआ ब्रह्मज्ञानकी अवस्थामें अपनी ज्योतिर्मयी पूर्णताको पहुंचता है।

जैसा यह विश्व है इससे भिन्न नहीं हो सकता था। कारण विश्व सच्चिदानन्दका एक प्रच्छन्न रूप है, सच्चिदानन्दकी चेतनाका स्वभाव आनन्द है। इसलिए सच्चिदानन्दकी शक्ति जिस पदार्थमें अपने आपको सर्वदा प्राप्त और सिद्ध कर सकती है वह दिव्य आनन्द, सर्वव्यापी आत्म-आनन्द ही है। चूंकि प्राण सच्चिदानन्दकी चेतनशक्तिकी एक विशेष शक्ति है, इसलिए प्राणकी सम्पूर्ण क्रियाओंका रहस्य वह छिपा हुआ आनन्द होना चाहिए जो कि समस्त पदार्थोंमें अन्तर्निहित है और जो प्राणकी क्रियाओंका कारण और उद्देश्य है और यदि आहंकारिक विभागके कारण वह आनन्द लुप्त हो जाता है, यदि वह पर्देके पीछे अवरुद्ध

रहता है, यदि वह अपने विरोधीके रूपमें प्रकट होता है- जिस प्रकार कि सत्ता मृत्युका रूप धारण कर लेती है, चेतना निश्चेतनाका और शक्ति अशक्तिका रूप धारण कर लेती है- तब प्राणी संतुष्ट नहीं होगा; वह इस वैश्व आनन्दको प्राप्त किये बिना कर्म करनेसे नहीं रुकेगा और न अपनी क्रियाको परिपूर्ण कर सकेगा, यह वैश्व आनन्द एक साथ स्वयं उसकी अपनी सत्ताका गूढ पूर्ण आनन्द है और परात्पर और अन्तर्यामी सच्चिदानन्दका मूलभूत, सर्वव्यापी, सर्वप्राण, सर्वाधार आनन्द है। अतः आनन्दकी खोज करना प्राणका मूल भूत अन्तर्वेग और अर्थ है; उस आनन्दको प्राप्त करना, उसपर अधिकार करना और उसे *परिपूर्ण करना उसका सम्पूर्ण उद्देश्य है।*

अब हमारे सामने यह प्रश्न है कि यह आनन्द-तत्त्व हमारे भीतर कहां रहता है ? जिस प्रकार कि चेतन-शक्ति *विश्वमें अपने आपको प्राण-तत्त्वके रूपमें व्यक्त करती है* और उसका उपयोग करती है, अतिमन अपने आपको मन के रूपमें व्यक्त करता है और उसका उपयोग करता है, इसी प्रकार हमारी सत्ताके किस तत्त्वके द्वारा वह आनन्द अपने आपको व्यक्त और परिपूर्ण करता है ? हम यह बतला चुके हैं कि ब्रह्मके चार तत्त्व विश्वकी सृष्टि करनेवाले हैं— सत्ता, चेतन-शक्ति, आनन्द और अतिमन। हम यह देख चुके हैं कि अतिमन भौतिक विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है किन्तु आवृत है। यह पदार्थोंके वास्तविक प्रपञ्चकी तहमें रहता है और वहां गुह्यरूपसे अपने आपको अभिव्यक्त करता है, किन्तु वहां अपने कार्य-संपादनके लिए अपने उपाश्रित तत्त्व मनका उपयोग करता है।

ब्राह्मी चेतन-शक्ति भौतिक विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है किन्तु आवृत है, वह पदार्थोंके वास्तविक प्रपञ्चकी तहमें गुह्यरूपसे क्रिया करती है और वहां अपने आपको अपने उपाश्रित तत्त्व प्राणके द्वारा अभिव्यक्त करती है और यद्यपि हमने अभीतक भौतिक द्रव्यकी पृथक् रूपमें परीक्षा नहीं की है परन्तु हम यह भलीभांति देख सकते हैं कि ब्राह्मी सर्व-सत्ता भी भौतिक विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है किन्तु आवृत है; वह पदार्थोंके वास्तविक प्रपञ्चकी तहमें छिपी हुई है और वहां अपने आपको प्रारम्भमें अपने उपाश्रित तत्त्व भौतिक द्रव्यके द्वारा अभिव्यक्त करती है। इसी प्रकार समानरूपमें ब्रह्म-आनन्द भी विश्वमें सर्वत्र व्याप्त होना चाहिये; निःसन्देह वह आवृत हो सकता है और पदार्थोंके प्रपंचकी तहमें विद्यमान रह सकता है, तथापि वह अपने एक उपाश्रित तत्त्वके द्वारा जिसमें कि वह छिपा हुआ है हमारे भीतर व्यक्त होना चाहिए और उसी तत्त्वके द्वारा वह (आनन्द) विश्व-कर्ममें प्राप्त किया जाना चाहिये।

वह तत्त्व हमारे भीतर एक ऐसा पदार्थ है जिसे हम एक विशेष अर्थमें अन्तरात्मा या पुरुष कहते हैं। अन्तरात्मा या पुरुषसे अभिप्राय है ऐसा चेतनतत्त्व जो कि मन, प्राण और शरीर नहीं है परन्तु वह इन सबके सारके स्वयं उनके एक विशेष प्रकारके आत्मानन्दकी ओर, प्रकाश, प्रेम, हर्ष एवं सौन्दर्यकी ओर और सत्ताकी संशुद्धिकी ओर उन्मीलन और विकासको अपने भीतर धारण करता है। वास्तवमें हमारे भीतर द्विविध अन्तरात्मा या चैत्य तत्त्व है, जिस प्रकार कि प्रत्येक दूसरा विश्व-तत्त्व द्विविध है। कारण हमारे भीतर दो मन हैं, एक मन वह है जो कि ऊपरतलपर रहता है और हमारे स्थूल विकासमान अहंकारकी सृष्टि है, यह हमारा उपतल मन है जिसे हमने भौतिक द्रव्यसे अपना उन्मज्जन होनेपर रचा है।

दूसरा अन्तस्तलीय मन है जो कि हमारे व्यावहारिक मानसिक जीवन और इसकी कठोर परिच्छिन्नताओंसे अवरुद्ध नहीं होता; वह विशाल, बलशाली और ज्योतिर्मय होता है; हम अपने मनोमय व्यक्तित्वके जिस बाह्यरूपको भ्रमसे अपना वास्तविक स्वरूप समझते हैं उस बाह्यरूपकी तहमें रहनेवाला यह दूसरा मन हमारा सच्चा मनोमय पुरुष है। इसी प्रकार हमारे भीतर दो प्राण हैं; एक प्राण बाहरी है जो कि भौतिक देहमें अन्तर्भूत है, भौतिक द्रव्यमें हुए अपने अतीत विकाससे बद्ध है; वह उत्पन्न हुआ था, जीवित रहता है और मर जायगा। दूसरा है जीवनकी अन्तस्तलीय शक्ति; यह प्राण हमारे शारीरिक जन्म और मरणकी संकुचित सीमाओंमें बद्ध नहीं है; यह हमारा सच्चा प्राणमय पुरुष है जो कि जीवनके उस बाह्य रूपकी तहमें रहता है जिसे हम अज्ञानसे अपनी यथार्थ सत्ता समझते हैं।

हमारी सत्ताका भौतिक द्रव्य भी दो प्रकारका होता है, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म; हमारी स्थूल देहकी तहमें

एक सूक्ष्म भौतिक सत्ता रहती है जो कि न केवल हमारे अन्नमय कोषको अपितु हमारे प्राणमय और मनोमय कोषोंको भी उपादान द्रव्य प्रदान करती है, अतः वह हमारा यथार्थ द्रव्य है जो कि इस भौतिक रूपका जिसे कि हम भ्रमसे अपने आत्माका सम्पूर्ण देह मानते हैं, पोषण करता है, आश्रय होता है। इसी प्रकार हमारे भीतर द्विविध चेतन तत्त्व रहता है; एक उत्तल सकाम-आत्मा है जो कि हमारी प्राणिक तृष्णाओंमें, हमारे भावावेगोंमें, सौन्दर्य-प्रिय-शक्तिमें और बल, ज्ञान और सुखके मानसिक अन्वेषणोंमें कार्य करता है। दूसरा अन्तस्तलीय चैत्य तत्त्व है। यह ज्योति, प्रेम, हर्षकी शुद्ध शक्ति है; यह हमारी सत्ताका विशुद्ध सारतत्त्व है; यह हमारी चैत्य सत्ताके बाहरी रूपकी तहमें रहनेवाला हमारा यथार्थ अन्तरात्मा है। जिस समय इस विशालतर और शुद्धतर चैत्यतत्त्वका कुछ आभास बाहरी तलपर आता है उस समय हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य आत्मा रखता है और जब उसके बाहरी चैत्य जीवनमें, नहीं होता तब हम कहते हैं कि वह आत्मा नहीं रखता।

हमारी सत्ताके जो बाहरी रूप हैं वे हमारी लघु अहंकारमयी सत्ताके बने हैं; अन्तस्तलीय रूप हमारे विशाल सच्चे व्यक्तित्वके बने हैं। अतः ये अन्तस्तलीय रूप हमारी सत्ताके ऐसे छिपे हुए अंश हैं जिनमें हमारा व्यक्तित्व हमारे वैश्वभावके समीप है, उसका स्पर्श करता है और उसके साथ निरन्तर सम्बन्ध और संसर्ग रखता है। हमारे भीतर अन्तस्तलीय मन विश्व-मनके वैश्व ज्ञानके प्रति खुला हुआ है; हमारे भीतर अन्तस्तलीय प्राण विश्व-प्राणकी वैश्वशक्तिके प्रति खुला है, हममें अन्तस्तलीय शारीरिक द्रव्य विश्व-भौतिक द्रव्यकी वैश्वशक्तिके प्रति खुला है। जो मोटी दीवारें इन पदार्थों (अंगों) से हमारे उत्तलीय मन, प्राण और शरीरको विभक्त करती हैं और जिनका भेदन प्रकृतिको इतने अधिक कष्टसे, इतनी त्रुटिके साथ और इतने अधिक कुशल-भद्दे भौतिक उपायोंसे करना होता है, वे (दीवारें) वहां एक साथ पार्थक्य और संसर्गके सूक्ष्म माध्यम हैं।

इसी प्रकार हमारे भीतर अन्तस्तलीय पुरुष वैश्व आनन्दके प्रति खुला हुआ है; यह वैश्व आनन्द वह आनंद है, जिसे विश्व-आत्मा स्वयं अपनी सत्तामें और अपने प्रतिनिधि-स्वरूप अनन्त अन्तरात्माओं (जीवों) की सत्तामें और मन, प्राण और भौतिक द्रव्यकी उन क्रियाओंमें जिनके द्वारा प्रकृति, मन, प्राण और शरीरके विकास और क्रीडाके लिए अपने आपको प्रदान करती है- लेता है। परन्तु इस विश्व-आनन्दसे उत्तल पुरुष बहुत मोटी अहंकारमयी दीवारोंके मध्यमें आनेसे वञ्चित हो रहा है; यद्यपि इन अहंकारमयी दीवारोंमें प्रवेशद्वार हैं, किन्तु इनके मध्यसे आनेपर दिव्य विश्व-आनन्दके स्पर्श हलके और विकृत होते हैं अथवा अपने विरोधियों (दुःखों) का रूप धारण करके आते हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि इस उत्तल या सकामआत्मामें सच्चा आत्म-जीवन नहीं है अपितु एक चैत्य विकार और वस्तुओंके स्पर्शका अयथा ग्रहण है। संसारका रोग यह है कि मनुष्य अपने यथार्थ अन्तरात्माको नहीं पा सकता और इस रोगका मूल कारण फिर यह है कि वह *बाह्य पदार्थोंके साथ संयोग और उनके ग्रहणमें, जिस संसार* में वह रहता है उसके यथार्थ आत्मासे नहीं मिल सकता। वह वहां सत्ताके सारतत्त्वको, शक्तिके सारतत्त्वको, चेतन-सत्ताके सत्तत्त्वको, आनन्दके सारतत्त्वको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, किन्तु इनके बजाय विरोधी स्पर्शों और संस्कारोंके समूहको प्राप्त करता है। यदि वह उस सारतत्त्व को प्राप्त कर ले तो वह इन स्पर्शों और संस्कारोंके समूहमें भी एक वैश्व सत्ता, वैश्व शक्ति, वैश्व चेतन-सत्ता और वैश्व आनन्दको पा लेगा। उसे जो इस अनुभवके विरोध प्रतीत होते हैं उनकी संगति इन स्पर्शोंमें हमारे पास आनेवाले सत्यके ऐक्य और सामंजस्यमें हो जायगी।

इसके साथ साथ वह अपने सच्चे अन्तरात्माको और उसके द्वारा अपने आत्माको प्राप्त करायेगा, कारण सच्चा अन्तरात्मा उसके आत्माका प्रतिनिधि है और उसका आत्मा और विश्वका आत्मा एक है। परन्तु ऐसा वह इस कारण नहीं कर सकता कि उसके विचारशील मनमें, भावावेगवाले हृदयमें, पदार्थोंके स्पर्शके प्रति प्रतिक्रिया करनेवाली इन्द्रियमें अहंकारजन्य अज्ञान रहता है; इन्द्रियं पदार्थोंके स्पर्शके प्रति जो प्रतिक्रिया करती है वह उसमें साहसपूर्वक और पूर्ण हृदयसे संसारको ग्रहण नहीं करती; यदि स्पर्श सुखदायी या तृप्तिदायक होता है तो वह उसके समीप जाती है, सावधानतापूर्वक जाती है अथवा उत्सुकता

*

पूर्वक दौडकर जाती है; यदि स्पर्श दुःखदायी या अतृप्ति-जनक होता है तो जुगुप्सा, ग्लानि, असंतोष, भय या क्रोधके साथ उससे पीछे हटती है।

वह सकाम-आत्मा है जो कि जीवनको अयथा रूपमें ग्रहण करके पदार्थोंके भीतरके रस (आनन्द) के प्रति तीन प्रकारकी भ्रान्त धारणा उत्पन्न करनेका कारण होता है; इस प्रकार वह आनन्द शुद्ध सारभूत हर्षके रूपमें मूर्तिमान् होनेके बजाय सुख, दुःख और उदासीनता इन तीन असम अवस्थाओंका रूप धारण करता है।

सत्ताके आनन्दपर उसके विश्वके साथ संबंधोंमें, विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि सुख, दुःख और उदासीनताके हमारे मानदंडोंमें कोई ऐकान्तिकता या स्वरूपगत प्रामाणिकता नहीं है; उनका निर्धारण पूर्णतया उन्हें प्राप्त करनेवाले प्राणीके अन्तःकरणसे ही होता है और सुख एवं दुःखकी मात्राको अधिकसे अधिक बढाया जा सकता है या कमसे कम घटाया जा सकता है अथवा उसकी बाहरी प्रकृतिमेंसे पूरी तरह दूर किया जा सकता है। सुख, दुःख हो सकता है और दुःख, सुख हो सकता है क्योंकि ये अपने गुह्य मूल स्वरूपमें एक ही पदार्थ हैं और यह पदार्थ संवेदनों और भावावेगोंमें भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेता है।

उदासीनता उत्तल सकामात्माकी अपने मन, संवेदनों, भावावेगों और लालसाओंमें पदार्थोंके रसके प्रति अनवधानता है, अथवा उस रसको ग्रहण करने और उसके प्रति प्रतिक्रिया करनेकी असमर्थता है, अथवा उसका कुछ भी उत्तल प्रत्युत्तर देनेकी अनिच्छा है, अथवा सुख या दुःखको अस्वीकार करनेकी इच्छासे उनमें मध्यस्थ रहते हुए उन्हें दूर हटाना या कुचल देना है। इन सब तीनों अवस्थाओंमें यह होता है कि जो वस्तु अभीतक अन्तस्तलमें क्रिया कर रही है उसे भावरूपसे उत्तलपर प्रकट करनेमें भावात्मक अस्वीकृति या अभावात्मक अनुद्यति या अशक्ति होती है।

कारण, हम इस समय मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और परीक्षणसे जानते हैं कि अन्तस्तलीय मन पदार्थोंके उन समस्त स्पर्शोंको ग्रहण करता और स्मरण रखता है जिनकी कि उत्तल मन उपेक्षा कर देता है; इसी प्रकार हम देखेंगे कि पदार्थोंके जिस रसको, अनुभवके सारको उत्तल सकात्मा अस्वादु जानकर अनंगीकार करता है और परित्याग कर देता है अथवा उदासीन अस्वीकृतिसे उपेक्षा करता है उस रसको अन्तस्तलीय अन्तरात्मा ग्रहण करता है। आत्मज्ञान उस समयतक असंभव है जबतक कि हम अपनी उत्तलसत्ताकी तहमें न जांय; हमारी उत्तलसत्ता हमारे कुछ चुने हुए बाहरी अनुभवोंका केवल परिणाम है, एक सदोष ध्वनि यह है, अथवा हमारा जो महान् स्वरूप है उसके एक स्वल्प अंशका शीघ्रतामें किया हुआ, अयोग्य और आंशिक अनुवाद है।

इसकी तहमें गये बिना, अपने साहुलको अवचेतनकी गहराईमें नीचे ले गये बिना और अपने आपको अतिचेतन के प्रति खोले बिना जिससे कि हम अपनी उत्तलसत्ताके साथ उनके सम्बन्धोंको जान लें — आत्मज्ञान असम्भव है। कारण हमारी सत्ता इन तीन (उत्तल, अवचेतन और अतिचेतन सत्ता) पदार्थोंके बीचमें गति करती है और इनमें अपनी पूर्णताको प्राप्त करती है। हमारे भीतर जो अतिचेतन है वह विश्वके आत्मा और अन्तरात्माके साथ तादात्म्य रखता है और लौकिक विभिन्नताके अधीन नहीं है; इसलिये वह पदार्थोंके सत्यको और पदार्थोंके आनन्दको पूर्णतया अधिकृत करता है।

जिसे हम अवचेतन कहते हैं, अपने उस ज्योतिर्मय शिखरमें जिसे हम अन्तस्तलीय कहते हैं, निःसन्देह इस अनुभवपर अधिकार तो नहीं रखता किन्तु इसका उपकरण है; यह विश्वके अन्तरात्मा और आत्माके साथ वस्तुतः एकता नहीं रखता किन्तु अपने विश्वविषयक अनुभवके द्वारा उसके प्रति खुला हुआ है। अन्तस्तलीय पुरुष (अन्तरात्मा) पदार्थोंके रसकी आन्तरिक चेतना रखता है और सभी स्पर्शोंमें समान आनन्द लेता है; वह उत्तल सकामात्माके मूल्यों और मानदंडोंकी भी चेतना रखता है और सकामात्माके सुख दुःख और उदासीनताके स्पर्शोंके अनुरूप स्पर्शोंको स्वयं अपने उत्तलपर ग्रहण करता है, किन्तु इन सबमें समान आनन्द लेता है। दूसरे शब्दोंमें हमारे भीतरका हमारा यथार्थ अन्तरात्मा अपने समस्त अनुभवोंका आनन्द लेता है, उनसे बल, सुख और ज्ञानका संग्रह करता है, इनके द्वारा अपने भंडारको समृद्ध करता हुआ स्वयं अपना वर्धन करता है।

हमारे भीतर यह यथार्थ अन्तरात्मा ही है जो कि दुःखसे घृणा करते हुए, पीछे हटते हुए सकाम मनको उसे सहन करनेके लिए और यहांतक कि जो उसे दुःखदायी जान पड़ता है उसमें सुख खोजने और प्राप्त करनेके लिए, जो उसे सुखप्रद जान पड़ता है उसका परित्याग करनेके लिए, उसके मूल्योंमें परिवर्त्तन करने या उन्हें विपरीत करनेके लिए, उदासीनतासे पदार्थोंमें समभाव रखनेके लिये अथवा हर्षमें सत्ताकी विविधताके हर्षमें समभाव रखनेके लिए विवश करता है और हमारा यथार्थ अन्तरात्मा ऐसा इस कारण करता है क्योंकि वह विश्वात्माद्वारा सब प्रकारके अनुभवोंमेंसे होते हुए प्रकृतिमें अपना वर्धन करनेके लिए प्रेरित किया जाता है।

अन्यथा यदि हम केवल उत्तल सकाम आत्मासे ही जीवित रहें तो हम पत्थर या वृक्षसे अधिक परिवर्त्तित या उन्नत नहीं हो सकते; कारण इन पत्थर और वृक्षकी अचलता और इनकी सत्ताकी नियत क्रियामें, चूंकि प्राण उत्तल रूपमें सचेतन नहीं है, इसलिए, पदार्थोंके गुह्य अन्तरात्माके पास अभीतक कोई ऐसा उपकरण नहीं है जिसके द्वारा वह प्राणकी, जिस स्थिर और संकुचित सीमामें वह उत्पन्न हुआ है उससे, रक्षा कर सके। सकाम अन्तरात्मा भी, बिना विश्वात्माकी सहायताके स्वयं यदि गति करे तो सदा उन्हीं जंगलोंमें चक्कर करता रहेगा।

पुराने दर्शनोंके अनुसार सुख और दुःख उसी प्रकार अपृथक्करणीय है जैसे बौद्धिक सत्य और असत्य शक्ति और अशक्ति, जन्म और मरण। अतः इन मतोंके अनुसार सुख दुःखादिसे एकमात्र बचाव है जगत्-आत्मा (जगत्) से प्राप्त होनेवाली उत्तेजनाओंके प्रति पूर्ण उदासीनता, शून्य प्रत्युत्तर। परन्तु सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक ज्ञान हमें बतलाता है कि यह मत हमारी सत्ताके केवल उत्तल तथ्योंपर आश्रित है और समस्याकी सम्भावनाओंका यथार्थ अन्त नहीं करता। यथार्थ अन्तरात्माको उत्तलपर लानेसे सुख और दुःखके आहंकारिक मानदंडोंके स्थानपर सम, सर्वव्यापी सव्यक्तिक-निर्व्यक्तिक आनन्दका लाना सम्भव है।

प्रकृति-प्रेमी जब प्रकृतिकी समस्त वस्तुओंमें घृणा, भय या केवल राग और द्वेषके बिना समान रूपमें हर्षका अनुभव करता है, जो वस्तु दूसरोंको निकृष्ट और तुच्छ, नग्न और जंगली, भीषण और घृणित जान पड़ती है, उसमें भी सौन्दर्य देखता है तो वह ऐसा ही करता है। कलाकार और कवि उस समय ऐसा ही करते हैं जब कि वे सौन्दर्यमय भावावेगसे या सौन्दर्यके भौतिकरूप या मानसरूपसे, अथवा उन पदार्थोंके आन्तरिक ज्ञान और शक्तिसे जिनका कि साधारण मनुष्य परित्याग कर देता है या जिनके साथ सुखकी भावनासे आसक्त होता है— विश्वव्यापी रसका ग्रहण करते हैं। जिज्ञासु, भगवत्प्रेमी जो कि सर्वत्र अपने प्रियतमको पाता है, आध्यात्मिक मनुष्य, बुद्धिमान्, विषयी, सुन्दरताप्रेमी – ये सभी अपने अपने ढंगसे ऐसा ही करते हैं और इन्हें ऐसा करना ही चाहिये यदि ये उस ज्ञान, सौन्दर्य, हर्ष अथवा ब्रह्मको जिसे ये खोज रहे हैं, सर्वत्र प्राप्त कर लें।

परन्तु हमारे कुछ अंश ऐसे हैं कि जहां हमारा क्षुद्र अहंकार हमारे लिए प्रायः अत्यधिक बलवान् होता है; हमारे भावावेगजन्य और शारीरिक हर्ष और दुःखमें, प्राणिक सुख और दुःखमें, जिनके सामने कि सकामआत्मा सर्वथा दुर्बल और कायासिद्ध होता है, इस दिव्य सिद्धान्तका प्रयोग अत्यन्त कठिन होजाता है और अनेकोंको तो असम्भव, राक्षसी और घृणित जान पड़ता है। यहां अहंकार-आश्रित अज्ञान निर्व्यक्तित्वके सिद्धान्तका उपयोग करनेसे घबराता है; परन्तु वह इसी सिद्धान्तका प्रयोग बहुत अधिक कठिनाईके बिना भौतिक विज्ञानमें, कलामें और एक विशेष प्रकारके अपूर्ण आध्यात्मिक जीवनमें करता है; क्योंकि यहां निर्व्यक्तित्वका सिद्धान्त उन कामनाओंपर आक्रमण नहीं करता जिन्हें सकामात्माने पाल रखा है और कामनाओंके उन मूल्योंपर आक्रमण नहीं करता जिन्हें उत्तल मनने निर्धारित किया हुआ है और जिनमें हमारे बाहरी जीवनकी बहुत अन्तरंग रूपसे रुचि होती है।

हमारी जो स्वतंत्रता और उच्चतर क्रियायें हैं उनमें केवल कुछ परिमित और विशेष प्रकारके समत्व और निर्व्यक्तित्वकी ही हमारे लिए आवश्यकता होती है और यह समत्व और निर्व्यक्तित्व चेतना और कर्मके एक विशेष क्षेत्रके लिए ही प्रयोगमें लाये जाते हैं, किन्तु हमारे व्यावहारिक जीवनका आहंकारिक आधार हमारे साथ ही चिपटा रहता है। निम्न कोटिकी क्रियाओंमें निर्व्यक्तित्वके लिए स्थान बनानेके लिए हमारे जीवनके संपूर्ण आधारको परिवर्तन

करनेकी आवश्यकता होती है और ऐसा करना सकामात्मा के लिए असम्भव है।

हमारे भीतर गूढ़ रूपमें स्थित जो सच्चा पुरुष है उसे हमने अन्तस्तलीय अन्तरात्मा (पुरुष) कहा है, परन्तु यह शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाला है, कारण यह पुरुष जागृत मनके ऊपरी तलके नीचे स्थित नहीं है अपितु यह अज्ञ मन, प्राण और शरीरके मोटे पर्देके पीछे, अन्तस्तम हृदय-मन्दिरमें प्रदीप्त रहता है, यह पर्देके पीछे है। यह आवृत चैत्य पुरुष ईश्वरकी ज्योति (अग्नि) है जो कि हमारे भीतर सर्वदा प्रदीप्त रहती है; आत्माकी जो सघन अचेतना हमारी बाह्य प्रकृतिको धुंधला कर देती है उससे भी यह नहीं बुझती। यह वह ज्योति है जो कि ब्रह्मसे उत्पन्न होती है और अज्ञानमें भी ज्योतिर्मय रूपमें निवास करती है, और जबतक वह अज्ञानको ज्ञानकी ओर प्रवृत्त करनेमें समर्थ नहीं हो जाती तबतक अपना वर्धन करती रहती है।

यह हमारे भीतर छिपा हुआ साक्षी और नियंता, गुप्त पथप्रदर्शक, सुकरातका 'डे मन' है; यही गुह्यवेत्ताओं (योगियों) की अन्तर्ज्योति या अन्तर्ध्वनि है। यह हममें ब्रह्मकी वह अविनाशी चिनगारी है जो कि जन्म जन्मान्तरोंके होते रहनेपर भी नित्य विद्यमान और अविनाशी रहती है, बुढापा रोग और मृत्यु आदि विकार इसका स्पर्श नहीं कर सकते। यह अज आत्मा नहीं है, कारण आत्मा व्यक्तिकी सत्ताका अधिष्ठाता होते हुए भी सदा अपनी विश्वात्मकता और परात्परताको जानता है। तथापि यह प्रकृतिके रूपोंमें रहनेवाला आत्माका प्रतिनिधि है, यह व्यक्तिगत अन्तरात्मा, चैत्यपुरुष है जोकि हमारे भीतर मन, प्राण और शरीरको धारण करता है, मनोमय, प्राणमय और सूक्ष्म-दैहिक सत्ताके पीछे रहता है और इनके विकास और अनुभवका निरीक्षण करता हुआ इनसे लाभ उठाता है। [क्रमशः]

वैदिक धर्म

(वर्ष ३६)

विषयानुक्रमणिका

रक्षकोंके राक्षस

'राक्षस' शब्दका उच्चारण करते ही सुननेवालोंके अन्तःकरणोंमें भय उत्पन्न होता है। इस समय राक्षस भय उत्पन्न करनेवाले समझे जाते हैं। इस समय किसी भी समाजमें राक्षसोंके विषयमें आदर नहीं रहा है। पर अतिप्राचीन कालमें 'राक्षसोंका आदर' होता था, राक्षसोंका सत्कार किया जाता था। यह बात वाल्मिकीय रामायणमें आप देख सकते हैं—

संरक्षकोंका नाम राक्षस

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा आपः सलिलसंभवः।
तासां गोपायने सत्वान् असृजत् पद्मसंभवः ॥९॥
ते सत्वाः सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः।
'किं कुर्म' इति भाषन्तः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ॥१०॥
प्रजापतिः तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन् इव।
आभाष्य वाचा यत्नेन 'रक्षध्वं' इति 'मानवाः' ॥११॥
'रक्षाम' इति तत्रान्यैः 'यक्ष्याम' इति चापरैः।
भुंक्षिताभुंक्षितैरुक्तं ततस्तान् आह भूतकृत् ॥१२॥
'रक्षाम' इति यैरुक्तं 'राक्षसाः' ते भवन्तु वः।
'यक्ष्याम' इति यैरुक्तं 'यक्षा' एव भवन्तु वः ॥१३॥

वा० रा० उत्तरकांड, सर्ग० ४

'प्रजापतिने प्रथम जल उत्पन्न किया और उसके संरक्षकके लिये उसीने प्राणी उत्पन्न किये। वे प्राणी क्षुधा और तृषासे व्याकुल होकर प्रजापतिके पास नम्रताके साथ पहुंचकर बोले कि, अब 'हम क्या करें?' प्रजापतिने किंचित् हंसकर उनसे कहा कि हे (मानवाः! रक्षध्वं) 'हे मनुष्यो! तुम संरक्षणका कार्य करो।' तब उनमेंसे कईयोंने कहा कि (रक्षामः) हम रक्षणका कार्य करेंगे, (हमारे खानपानका प्रबंध कीजिये।' इसी तरह कई दूसरे लोगोंने कहा कि हम (यक्षामः) यजन करेंगे। यह लोगोंका कथन श्रवण करके प्रजापतिने कहा कि जिन्होंने तो 'रक्षामः' (हम संरक्षण करेंगे) ऐसा कहा है, उनका नाम 'राक्षस' होगा और जिन्होंने 'यक्षामः' हम यज्ञ करेंगे, ऐसा कहा है उनका नाम 'यक्ष' होगा।

रक्षण करनेवाले स्वयंसेवक

इस तरह जो रक्षण करनेवाले स्वयंसेवक थे उनका नाम 'राक्षस' रखा गया था और जो यज्ञ करनेवाले थे उनका नाम 'यक्ष' रखा गया था। अर्थात् संरक्षण करनेवालोंका नाम 'राक्षस' था। संरक्षण करनेवाले वीर जनताके हितैषी होते हैं। शत्रुसे संरक्षण करना और जनताको निर्भयताका आनंद देना, यह कार्य प्रशंसनीय है, अत्यंत उत्तम है। ऐसा उत्तम कार्य करनेवाले इस प्रजापतिके प्रारंभिक राज्यशासनमें 'राक्षस' इस प्रशंसनीय नामसे वर्णन किये जाते थे।

इस पृथिवीपर मानवीय जनता उत्पन्न हुई, उस समय जिन स्वयंसेवकोंने जनताका संरक्षण करनेका कार्य अपने ऊपर स्वेच्छासे लिया था, उन स्वयंसेवकोंका नाम 'राक्षस' था। इस समय 'राक्षस' पदका अर्थ 'रक्षक' था। इन रक्षकोंपर जनताका विश्वास था और प्रजापति नामके राज्यशासन संस्थाके ये स्वयंसेवक थे, इसलिये प्रजापति संस्था का भी इनपर विश्वास था। इस तरह जनताका और शासकोंका, इन दोनोंका विश्वास संपादन करनेवाले ये राष्ट्रीय रक्षा करनेका कार्य करनेवाले, ये प्रशंसनीय 'आरक्षक' थे। इस कारण ये सबके आदरके लिये पात्र थे। इस समय 'राक्षस' का अर्थ 'रक्षक' ही था। यह इस विवेचनसे सिद्ध होता है।

रात्रिंचर, निशाचर

जो रक्षक जनताका, नगरका, ग्रामका संरक्षण करते हैं उनको रात्रीके समय विशेषकर पहरा करना होता है, क्योंकि रात्रीके समय ही चोरी, डाका, लूट आदि दुष्टोंके द्वारा की जाती है। शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षमें, तथा दिनकी अपेक्षा रात्रीमें तथा अमावास्याकी रात्रीके अधिक अन्धेरेके समयमें संरक्षणका कार्य करनेकी अधिक आवश्यकता रहती है। क्योंकि वही समय अधिक भयका रहता है। इसीलिये पहरा करनेवाले रात्रीके समय सामान्यतः और कृष्णपक्षमें तथा अमावास्याकी रात्रीमें विशेषतः विशेष दक्ष रहकर पहरा करते हैं।

जिस समय प्रजापतिसंस्थाके राज्यशासनमें ये आरक्षक पहरा करके नागरिकोंका संरक्षण करते होंगे, उस समय वे रात्रीके ही समय विशेष दक्षतासे पहरा करके संरक्षण करते होंगे। इसलिये इनका रात्रीके समय घूमना किसी तरह बुरा नहीं था। जनता इस तरह "इनका रात्रीके समय पहरा करना अच्छा है, हमारे लिये हितकारी है, इससे हमारा संरक्षण होता है इस कारण यह आवश्यक है" ऐसा ही मानती होगी, तो उसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है।

जब संरक्षक जनताका रक्षण करनेके लिये पहरा करेंगे, तो उसमें आवश्यकता होनेपर वे रात्रीके समय घूम घूम कर पहरा करने लगे तो उसमें बुरा क्या है? वह तो उनका आवश्यक कर्तव्य ही है। वे इसलिये रात्रीके समय घूमते हैं कि रात्रीके समय ही उनका संरक्षणका कार्य करनेकी आवश्यकता अधिक रहती है। इसीलिये 'रात्रिंचर, रात्रिचर, निशाचर, क्षपाचर, रजनीचर' आदि नाम रक्षकोंके कर्तव्यका ही वर्णन करते हैं। इस कारण ये नाम राक्षसोंका- आरक्षकोंका- गुणगान ही इस प्राथमिक समयके राज्यशासनमें करते होंगे, तो उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। ये रक्षक रात्रीके समय जाग रहे हैं और हमें निद्राका सुख भोगनेका अवसर देते हैं। इस तरहकी कृतज्ञताकी बुद्धि इनके विषयमें जनतामें इस समय निवास करती होगी, तो भी उसमें किसी तरहका आश्चर्य नहीं है। इस तरह ये राक्षस इस समय अच्छी राष्ट्रसेवाका कार्य करते थे।

असु—र

ये रक्षक स्वयं कष्ट भोगते हैं और जनताको सुखका प्रदान करते हैं। यह इनकी उदारता है। क्रूर, घातक डाकुओंका आक्रमण हुआ, तो ये रक्षक उनपर हमला करते हैं और वैसा समय आनेपर अपना जीवन भी जनताके संरक्षण करनेके कार्यमें अर्पण करते हैं और जनताका रक्षण करते हैं। अपना प्राण देकर जनताका रक्षण करते हैं इसलिये इनको 'असु-र' अपने (असु) प्राणोंका (रा) अर्पण करनेवाले ऐसा कहते हैं। यह कितना श्रेष्ठ कर्तव्य है? अपने प्राणोंसे अधिक प्रिय वस्तु जगत्में दूसरी कोई नहीं है। ये आरक्षक जनताकी भलाई करनेके लिये पूर्णतया आत्मसमर्पण करनेके लिये तैयार हैं। इसलिये यह 'असुर' नाम अच्छा ही अर्थ प्रारंभमें बताता था। वेदमें 'असुर' पद अच्छे अर्थमें भी अनेकवार प्रयुक्त हुआ दीखता है। इसके कुछ उदाहरण अब यहां देखिये—

असुर सूर्य

> वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यत्
> गभीरवेपा असुरः सुनीथः।
> क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत
> कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥ ऋ० १।३५।७

'(गभीरवेपा) गभीर वेगवाला (असु-रः सुनीथः) जीवन देनेवाला, उत्तम मार्गसे चलनेवाला (सुपर्णः) उत्तम किरणोंसे जो युक्त है (अन्तरिक्षाणि वि अख्यत्) वह अन्तरिक्षमें प्रकाश फैलाता है। (इदानीं सूर्यः क?) इस समय वह सूर्य कहां है? (कः चिकेत) यह कौन जानता है? (अस्य रश्मिः कतमां द्यां ततान) इसका प्रकाश अब किस द्युलोकपर फैला है?'

इस मंत्रका देवता 'सविता' है, इसका विशेषण यहांका 'असुर' पद है। तथा और देखिये—

असुर देव सूर्य

> हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः
> सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
> अपसेधन् रक्षसो यातुधानान्
> अस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ ऋ० १।३५।१०

'वह हाथमें सोना धारण करनेवाला, जीवन देनेवाला, उत्तम मार्गसे आनेवाला, (सु-मृळीकः) उत्तम सुख

देनेवाला (स्व-वान्) अपनी शक्तिसे रहनेवाला यह सूर्य हमारे पास आजाय। (प्रति-दोषं गृणानः) प्रत्येक रात्रीमें प्रशंसित होनेवाला यह सूर्य (यातुधानान् रक्षसः अपसेधन्) यातना देनेवाले दुष्टोंको दूर करता है। '

यहां ' रक्षः ' शब्द नपुंसक लिंगमें है इसलिये यह निंद्य और हीन अर्थमें है। पुल्लिंगका ' राक्षस ' पद संपूर्ण ऋग्वेद वाजसनेयी तथा काण्व यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमें किसी भी मंत्रमें नहीं है। ' रक्षः, रक्षांसि ' ये नपुंसकलिंगी हीन अर्थके पद ही वेदमें प्रयुक्त हुए हैं। यहां ' यातुधानान् रक्षसः ' यातना देनेवाले दुष्ट क्रूर कर्म करनेवालोंको दूर करनेवाला सूर्यदेव है ऐसा वर्णन है। यहांका ' रक्षः ' पद पुल्लिंगमें होनेपर भी इसका यहां हीन अर्थ है।

असुर इन्द्र

अर्चा दिवे बृहते शूष्यं वचः
स्वक्षत्रं यस्य धृषतो धृषन्मनः।
बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः
पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि सः ॥ ऋ० १।५४।३

' हे उपासक ! तू इस तेजस्वी महान् इन्द्रके लिये उत्तम स्तोत्रका गान कर। जिस बलवान् इन्द्रका मन बलवान् तथा अपने निज क्षात्रबलसे युक्त है। यह कीर्तिमान जीवन शक्ति देनेवाला और शत्रुका नाश करनेवाला है। इसका यह बलवान् रथ घोडे जोतकर तैयार हुआ है। ' इस मंत्रमें भी सूर्यदेवका विशेषण ' असु-र ' आया है। तथा और—

असुर रुद्र

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः। ऋ० २।१।६

' हे अग्ने ! तू (दिवः महः असुरः) द्युलोकमें बडा बलवान् जीवनदाता रुद्र है। ' यहां 'असुर' पद अग्निका विशेषण है। यहां भी इसका अर्थ (असु-रः) प्राणोंका बल बढानेवाला ऐसा है। और देखिये—

असुर अग्नि वैश्वानर

पिता यज्ञानां असुरो विपश्चिताम्। ऋ० ३।३।४

' यज्ञोंका पिता, ज्ञानियोंको प्राणका बल देनेवाला ' ऐसा ' असु-र ' का अर्थ यहां है। इस मंत्रमें ' वैश्वानर अग्नि ' देवताका विशेषण यह ' असुर ' है। तथा—

घृतप्रसत्तो असुरः सुशेवो
रायो धर्ता धरुणो वस्वो अग्निः। ऋ० ५।१५।१

' यह अग्नि (घृतप्रसत्तः) घृतसे प्रसन्न होनेवाला, (असु-रः) बल देनेवाला (सु-सेवः) उत्तम सेवा करने योग्य, धनोंका धारण करनेवाला है। ' यहां अग्नि देवताका वर्णन करनेके लिये यह ' असुर ' पद आया है। और भी देखिये—

गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः। ऋ० ५।२७।१

' गौवोंके समेत रहनेवाले बलवान् और धनवान् अग्नि ' का यहां वर्णन है। इसमें असुर शब्द बलवान् शक्ति प्रदाताके अर्थमें है।

असुर वायु

अतूर्तपन्था असुरो मयो भूः। ऋ० ५।४२।१

'जिसका मार्ग प्रतिबंधरहित है, जो बल बढानेवाला है और सुख देनेवाला है। ' यहां असुर पद वायु देवताका वर्णन कर रहा है, यह सुखदायी और बल देनेवाला अर्थात् हितकारी है। और भी देखिये—

पूषा असुर

स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः। ऋ० ५।५१।११

' बल बढानेवाला पूषा देव हमें कल्याण प्रदान करे। ' यहां 'पूषा' देवताका विशेषण ' असुर ' है। अर्थात् यह जीवनका बल बढानेवाला पोषणकर्ता देव है। तथा-

असुर पर्जन्य

अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो
निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ॥ ऋ० ५।८३।६

' हे पर्जन्य ! तू बिजलीकी गर्जना करता हुआ और जलकी वृष्टि करता हुआ हमारे समीप आ, तू हमारा जीवनदाता पिता ही हो। ' यहां इस मंत्रमें, ' पर्जन्य ' देवता का वर्णन ' असुर ' पदसे किया है। तथा—

न्यग्निः सीददसुरो न होता
हुवानो अत्र सुभगाय देवान् ॥ ऋ० ७।४०।२

' (देवान् हुवानः) देवोंको बुलाकर (सुभगाय) हमारा कल्याण करनेके लिये यह (असुरः अग्निः) बलवान् अग्नि यहां इस यज्ञशालामें बैठता है। ' यहां अग्निका वर्णन यह ' असुर ' पद करता है। और देखिये-

असुर पुत्रकी इच्छा

अस्मे वीरो मरुतः शुष्म्यस्तु
जनानां यो असुरो विधर्ता ।
अपो येन सुक्षितये तरेम
अध स्वमोको अभि वः स्याम ॥ ऋ० ७।५६।२४

' हे (मरुतः) मरुतो ! (अस्मे शुष्मी वीरः अस्तु) हमें उत्तम बलवान् उत्साही वीर पुत्र होवे, जो (जनानां विधर्ता असुरः) लोगोंका विशेष उत्तम रीतिसे धारण करनेवाला बलवान् हो । जिस पुत्रकी सहायतासे (सुक्षितये) हमारा निवास सुखकारक हो और शत्रुको (तरेम) पराभव करके हम सब संकटोंसे पार हो जायगे और अपने स्थानपर उत्तम रीतिसे रहेंगे । ' यहां अपने पुत्रका वर्णन असुर पदसे हुआ है । ' अपना पुत्र असुर हो ' अर्थात् बलवान हो । इतना उत्तम अर्थ असुरका है । तथा—

असुर वरुण

अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा
अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः ।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड्
विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि ॥ ऋ० ८।४२।१

' सर्वज्ञानी वरुणने द्युलोकको सुस्थिर किया, पृथिवीकी महत्ता उसीने बनायी, सब भुवनोंका वही सम्राट् हुआ है, ये सब वरुणके वर्णनीय कृत्य हैं । ' यहां विश्वके निर्माणकर्ताका वर्णन 'असुर ' पदसे हुआ है । तथा—

असुर सोम

त्रीन् त्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे
सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ॥ ऋ० ९।७३।१
सोमो मीढ्वाँ असुरो वेद भूमनः ॥ ऋ० ९।७४।७

' (असुरः) बलवर्धक सोम (त्रीन्) तीनों स्थानोंमें जाता है और नौकाके समान यह उत्तम कर्मकर्ताको दुःखसे पार करता है । ' ' इच्छा पूर्ण करनेवाला बलवान् सोम विशेष धन सत्कर्म कर्ताओंको देना जानता है । ' तथा—

इव एषां असुरो नक्षत द्यां । ऋ० १०।७४।२

' इनकी बलवान् पुकार द्युलोकमें भर जावे । ' यहां 'असुरः इवः ' यह ' असुर ' पद 'हवः ' अर्थात् प्रार्थनाका विशेषण है । जिसमें मानसशक्तिका बल है वैसी मानवोंकी पुकार आकाशमें भर जावे ।

इस तरह ऋग्वेदमें ' असुर ' पद अच्छे अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । नाना देवताओंके विशेषणमें, अपने पुत्रका वर्णन करनेके लिये, इस तरह सर्वत्र अच्छे ही अर्थमें ' असुर ' पदका उपयोग ऋग्वेदमें दिखाई देता है । अब यही ' असुर ' पद ऋग्वेदमें असुरत्वके रूपमें देखिये-

देवोंका बडा असुरपन

महद् देवानां असुरत्वं एकम् ॥ ऋ० ३।५५।१-२२
यह मंत्रभाग इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें है । इनमेंसे नमूनेके लिये एक मंत्र देखिये—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः
पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य
महद्देवानां असुरत्वमेकम् ॥ ऋ० ३।५५।१९

' त्वष्टा देव विश्वरूप है और वह (सविता) अपनेमेंसे सब विश्वका प्रसव करता है, (प्रजाः पुपोष) प्रजाजनोंका पोषण करता है । ये सब भुवन इसीके हैं । यही देवोंका एकमात्र बडा सामर्थ्य है । ' परमात्मा ही सब देवोंमें बडा सामर्थ्यवान् है ऐसा यहां कहा है । यही ' असुरत्व ' है अर्थात् यही ' बडा भारी सामर्थ्य ' है, इस अर्थमें ' असुरत्व ' पद यहां आया है ।

अयं देवानां असुरो विराजति
वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ॥ अ० १।१०।१

' यह वरुण देवोंमें बलवान् होकर विराजता है । इस राजा वरुणकी गौ है यह सत्य है ।'

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ॥ अ० ४।१५।१२

' जलकी वृष्टि करनेवाला (असु—रः) जीवनदाता मेघ हमारा पालनकर्ता है । '

तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ अ० ५।२७।१

' (तनू–न–पात्) शरीरका पतन न करनेवाला (असु-रः) प्राणोंका रक्षक अग्नि बहुत किरणोंसे युक्त है ।'

देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् ।
युष्माँ अस्तु दिवे दिवे प्रत्येव गृभायत ॥
अ० २०।१३५।१०

' देव आपको बल देवें और वह बल आपको उत्तम चेतना देनेवाला हो, आपको यह बल प्रतिदिन प्राप्त होता रहे । ' यहां ' असुर ' पद बलवाचक है ।

महत् तद् वृष्णो असुरस्य नाम
विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ऋ० ३।८।३

'वृष्टि करनेवाले जीवनदाता परमात्माका यश बडा विशाल है। वह विश्वरूप होकर अमर शक्तियोंका धारण करता है।'

वपूंषि कृण्वन् असुरस्य मायया ॥ ऋ० ६।७२।१

' (असुरस्य मायया) बलवान परमात्माकी शक्तिसे वह अनेक शरीरोंकी रचना करता है । '

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा
दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन् । ऋ० १८।१।२

' परमेश्वरके पुत्र जो बलवान् शासकके वीर हैं जो विश्वका धारण करते हैं, वे सबके कार्य देखते हैं । ' इस प्रकार असुर पद अच्छे अर्थमें वेदमें प्रयुक्त है ।

इस तरह हम ऋग्वेदमें ' असुर ' पद अच्छे अर्थमें देखते हैं, तथापि वेदमें बुरे अर्थमें भी ' असुर ' पदका प्रयोग थोडे स्थानोंपर स्पष्ट रीतिसे दीखता है, देखिये—

कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः
पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः । ऋ० ६।२२।४

' हे (खिद्वः) शत्रुको खेद उत्पन्न करानेवाले (पुरुहूत पुरूवसो) हे बहुतोंद्वारा प्रशंसित और बहुत धनवाले इन्द्र ! हे (दु-ध्र) दुःसह अत्यंत शूर इन्द्र ! यज्ञमें (असुर-घ्नः कः ते भाग) असुरोंका नाश करनेवाला तुम्हारा कौनसा कार्य है और (किं वयः) अन्य भी कौनसा यज्ञमें देना है । ' यहां 'असुर-घ्न' पद असुरोंका नाश करनेका कार्य बता रहा है, इसी तरह—

प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने
मन्म धीतिं भरध्वम् । ऋ० ७।१३।१

' सबको प्रकाश देनेवाले, बुद्धि तथा कर्मका धारण करनेवाले और (असुर-घ्ने अग्नये) असुरोंका नाश करनेवाले अग्निकी स्तुति करो । ' यहां अग्निको असुर विनाशक कहा है तथा—

अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं
ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा । ऋ० १०।१७०।२

' अमित्र, वृत्र, असुर, सपत्न आदिकोंका नाश करनेवाला सूर्य दस्युनाशक ज्योति फैलाता है । ' यहां 'असुर-हा' पद है । वह असुरोंका नाश सूर्य करता है । ऐसा भाव बताता है ।

असुरक्षयणं वधं । अ० ११।१२।१०-१३

' असुरनाशक वधकारक शस्त्र ' यहां असुरोंका नाश लिखा है । अर्थात् ये दुराचारी दुष्ट डाकू हैं । शब्दका उच्चारण एक जैसा होनेपर भी ' असु—र ' यह पद अच्छे अर्थमें है और ' अ-सुर ' यह पद बुरे अर्थमें है । दोनोंका उच्चारण समान ही होता है तथापि ये दो पद विभिन्न हैं ।

यहांतक हमने असुर पदका अच्छा अर्थ है यह वेदमंत्रोंमें देखा। पर ' असुर ' पदका बुरा भी अर्थ है और वह प्रसिद्ध है इसलिये उसके अधिक उदाहरण देखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है । अब हम ' दानव ' पदके अर्थका विचार करते हैं—

दानव

' दानव ' का अर्थ ' क्रूरकर्मा राक्षस ' ऐसा एक ही है । यह पद ' दान् ' धातुसे बना है । ' दान् छेदने, खण्डने आर्जवे ' अर्थात् ' दान् ' धातुके अर्थ (१) छेदन करना, काटना, छिन्न विछिन्न करना, (२) खण्ड-खण्ड बनाना, (३) सीधा करना, सरल बनाना ' ये हैं। इनमें पहिले दो अर्थ काटने तोडनेका भाव बता रहे हैं, पर तीसरा अर्थ (आर्जव) ऋजुता, सरलता करना है । यह अच्छा अर्थ है । काटकर सीधा बनाना यह अर्थ भी बुरा नहीं है । काटना भी अच्छा होता है । ये अर्थ देखनेसे दानवके धातुका अर्थ अच्छा भी है । सरल सीधा बनाना, लोगोंको अच्छे मार्गपर चलाना, जनतामें ऋजुता स्थापन करना यह अर्थ अच्छा है । इसके लिये काटना आवश्यक भी हो सकता है । पर काटनेके अन्दरका क्रूरताका भाव आगे और अधिक बढ गया इससे आगे इसका बुरा अर्थ होने लगा ।

' राक्षस ' का अर्थ प्रारंभमें ' संरक्षक ' था, पश्चात् बुरा अर्थ हुआ। वैसा ही ' दान् ' धातुका अर्थ (आर्जव) ' सरल सीधा करना ' अर्थ था, सीधा बनानेके लिये काटनेकी आवश्यकता रहती है, वहांतक काटना भी अच्छा परिणाम करनेवाला था । परंतु पश्चात् काटना ही रहा और अच्छा सरल बनाना दूर हुआ, इससे इसका पहिला

अच्छा अर्थ लुप्त हुआ और बुरा ही अर्थ प्रसिद्ध हुआ।

आज ' दानव ' पदमें (आर्जव) सरल करनेका भाव था ऐसा माननेके लिये भी कोई तैयार नहीं है, इतना इसका अर्थ बिगड गया है !! (छेदने) काटना भी अच्छा करनेके लिये भी हो सकता है। हमेशा ही काटना बुरा अर्थ बताता है ऐसी बात नहीं है। पर जिस समय केवल अविचारसे काटना ही काटना होने लगता है उस समय वह बुरा ही होता है। वैसा ही ' दानवों ' के काटनेका हुआ। उनके कर्मोंमें केवल काटना ही रहा, परंतु उसमें सीधा करनेका भाव जो पहिले था वह चला गया। रक्षकोंके राक्षस इसी तरह बने।

' दा ' धातु ' दान, अर्थमें है और ' काटने ' के अर्थमें भी है। ' दा दाने: दा लवने ' दान देना और छेदन करना ये दोनों अर्थ दा धातुके हैं। ' दा ' धातुका अर्थ ' दान देना ' है। दान देनेका ही अर्थ अपने पास जो है उसका विभाग करके दूसरेको देना, इसीलिये दान देनेके लिये इस धातुका ही अर्थ काटना हुआ। अपने पास धन है, भूमि है, अन्न है। उसमेंसे थोडा दान करना होता है, इसलिये दान करनेके समय विभाग करना ही पडता है। इसलिये ' दा ' धातुके दान अर्थके साथ उसमें काटनेका भी भाव आगया और इसी तरह ' दान् ' धातुके अर्थमें भी वही काटनेका भाव आगया है।

' दानव ' पदमें मूल अर्थ ' दान-वान् ' था, दान देनेवाला यह अर्थ था। काटकर, विभाग करके, संविभागकर के दान देनेवाला यह पहिला अर्थ था। पर पश्चात् काटनेका अर्थ तोडना हुआ और इसीका अर्थ घातपात करनेवाला बना और उत्तर संस्कृतमें दानवका अर्थ सर्वरूपसे ' क्रूर असुर ' ही हो चुका। निरुक्तकार यास्काचार्य कहते हैं—

दानवका दान

दानवं दानकर्माणं। निरु० १०।९

' दानव मेघका नाम है क्योंकि वह जलका दान करता है।'

दानवं उदकदातारं मेघं। (दुर्गाचार्य)

दानवं दनोः पुत्रं असुरं यद्वा उदकस्य दातारं मेघं। (सायनाचार्य)

इस तरह निरुक्तकारका ' दानकर्मा ' यही अर्थ इन आचार्योंने लिया है। अर्थात् ' दानव ' पदमें ' दान करनेका भाव ' है। मेघ जलका दान करता है यह बुरा नहीं है। इसमें दान है। इससे पता लगता है, कि ' दानव ' में प्रारंभमें ' दान करनेका भाव ' था, यह भाव अच्छा था। परंतु पीछेसे वह अर्थ बिगडा, यह दानवोंकी पश्चात् दुष्ट कृतिके कारण बिगाड हुआ है। ' दानव ' पद ऋग्वेदमें अच्छे अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है—

स न: शक्रश्चिदाशकत् दानवान् अन्तराभरः।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः॥ ऋ० ८।३२।१२

" (शक्रः सः इन्द्रः) सामर्थ्यवान् वह इन्द्र (नः आशकत्) हमको सामर्थ्यवान करे। (विश्वाभिः ऊतिभिः इन्द्रः) सब प्रकारके संरक्षणोंके साथ वह इन्द्र (दानवान्) दान देनेवाला (अन्तर-आभरः) हमें अन्दरसे भरपूर सामर्थ्यसे परिपूर्ण भर दे। "

इस मंत्रमें ' इन्द्र ' का वर्णन ' दान+वान् ' पदसे किया है। दाता, दान देनेवाला, उदार, उदार अन्तःकरणसे सहायता करनेवाला इन्द्र है। ' मेघ ' को भी ' दानव ' इसलिये वेदमें कहा है कि वह ' उदकका दान करता है। ' अर्थात् इस ' दाता ' के अर्थका यह ' दानव ' शब्द अच्छा अर्थ बताता है। जो प्रारंभमें रक्षकका कार्य करते थे। क्योंकि ' वे दानव जनताका संरक्षण करनेके लिये अपने प्राणोंका दान करते थे। ' इसलिये इस अर्थमें यह दानव पद उत्तम अर्थ बतानेवाला है। इसलिये देवोंका वर्णन करनेके लिये भी ' दानव ' पद प्रयुक्त हुआ है।

पूर्वदेवाः

' पूर्व-देवाः ' यह पद भी राक्षसवाचक है देखिये—

असुरा दैत्य-दैतेय-दनुजेन्द्रारि-दानवाः।
शुक्रशिष्यादिति सुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः॥ अमरकोश १।१२

' असुर, दैत्य, दैतेय, दनुज, इन्द्रारि, दानव, शुक्रशिष्य, अदितिसुत, पूर्वदेव, असुरद्विष् ये नाम असुरोंके हैं। ' इनमें ' पूर्व-देवाः ' पद है। पूर्व समयमें ये देव थे, अर्थात् पूर्व समयमें ये उत्तम कर्म करनेवाले थे।

पूर्वे च ते देवाः। यद्वा पूर्वं देवाः अन्यायात्तु देवत्वात् भ्रष्टाः।

अमरटीका भानुदीक्षित व्याख्या।

प्राचीन समयमें ये देव थे, पूज्य थे, अच्छा कार्य करते थे, जनताके संरक्षणका कार्य करते थे, इसलिये ये उस समय ' देव ' कहलाते थे। पश्चात् वेही हीन कर्म करने

लगे, इस कारण देवत्वसे भ्रष्ट हुए। इस पदका यह अर्थ देखनेसे स्पष्ट रूपसे विदित होता है कि, ये राक्षस प्रारंभमें देवों जैसे पूजनीय थे। इस पदसे बडा भारी इतिहास मालूम हो सकता है। रक्षकोंके ही राक्षस बने हैं, उदार दाताओंके ही डाकू बने हैं, देवोंके समान जो पूजनीय थे वे ही दुष्ट कर्म करनेके कारण वध्य समझे गये हैं।

रक्षन्ति इति राक्षसाः। (यह पहिला अर्थ था)
जो रक्षण करते हैं।

रक्षन्ति येभ्यः राक्षसाः। (यह दूसरा अर्थ बना)
जिनसे रक्षण करना चाहिये।

(१) 'जो जनताका रक्षण करते हैं' यह राक्षस पदका पहिला अर्थ था, क्योंकि ये रक्षणका पवित्र कार्य करते थे। पश्चात् जब ये दुष्ट कर्म करने लगे तब (२) 'जनताका जिनसे संरक्षण करना चाहिये' ऐसा अर्थ होने लगा!!! ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं। यही भाव 'पूर्व देवाः' पदमें है। ये राक्षस पूर्वकालमें देव थे, परंतु अब वे ही दुष्ट हो चुके हैं।

हमने यहांतक जो राक्षसोंके नाम देखे 'राक्षस, असुर, रात्रिंचर, दानव' आदि पद प्रारंभमें अच्छा अर्थ बतानेवाले थे, परंतु पीछे बहुत समय हो जानेके पश्चात् वे ही दुष्ट कर्म करने लगे, इसलिये इन पदोंका अर्थ बिगड गया। यही संपूर्ण इतिहास 'पूर्व-देवाः' इस पदमें है। यही पद राक्षसोंके पतनका सब इतिहास बता रहा है। ये प्रारंभमें देवताके समान पूजाके योग्य थे, पश्चात् ये क्रूरकर्म करने लगे, ये ही डाकुओंके समान कर्म करने लगे, जनताका संरक्षण करनेके स्थानपर जनताका ही नाश करने लगे, जनताको ही लूटने लगे, जनताका रक्षण करनेके स्थानपर जनताका भक्षण करने लगे। इसलिये इनको क्रूर माना गया। और 'पूर्व देवाः' का जो पहिले अच्छा अर्थ था, वह बदला और बुरा भाव इस शब्दमें आगया।

यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। ऋ० १०।९०।१६
वा० य० ३१।१६

देवा एतस्यां अवदन्त पूर्वे।
सप्त ऋषयः तपसे ये निषेदुः॥ ऋ० १०।१०९।४
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
ऋ० १०।१९१।२
यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे। वा० य० १७।२९

इन मंत्रोंमें 'पूर्वे देवाः' पद है और यह अच्छे अर्थमें है। (साध्याः पूर्वे देवाः) साधनसंपन्न पूर्व देव, (सप्त ऋषयः पूर्वे देवाः) सप्त ऋषि जो तपके लिये बैठे थे वे पूर्वदेव हैं। (संजानानाः पूर्वे देवाः) संज्ञानसपन्न पूर्व देव। इस तरहका यह वर्णन 'ये पूर्व देव अच्छे थे' यही भाव बता रहा है। ऋषियोंके समान, साधना करनेवाले, यमनियम पालन करनेवाले ये 'पूर्व देव' थे, इस कारण इनका उस पूर्वकालमें बडा संमान होता था और वह योग्य था। पश्चात् वे ही बुरा कर्म करने लगे, इस कारण उन्ही पदोंका अर्थ बिगड गया।

पुण्यजनाः

यहांतक हमने देखा कि राक्षसवाचक बहुतसे शब्द प्रारंभमें अच्छे अर्थवाले थे, परंतु पीछसे वे खराब भाववाले हो गये। इसी तरह 'पुण्यजन' यह भी एक शब्द है। यह नाम भी इस समय राक्षसवाचक है। देखिये—

राक्षसः कौणपः क्रव्यात् क्रव्यादोऽस्रप आशरः॥५९
रात्रिंचरो रात्रिचरः कर्बुरो निकषात्मजः।
यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी॥ ६०॥
अमरकोश १।५९-६०

'राक्षस, कौणपः, क्रव्यात्, क्रव्यादः, अस्रपः, आशरः, कर्बुरः, यातुधानः पुण्यजनः, नैर्ऋतः, यातु.' ये नाम राक्षसोंके वाचक हैं। इनमें 'पुण्यजन' पद है जो इस समय राक्षसवाचक है।

अथ पुण्यजनो यक्षे राक्षसे सज्जनेऽपि च।
अमरटीका ।।६०

'पुण्यजनका अर्थ यक्ष, राक्षस और सज्जन ऐसा है।' सज्जन भी अर्थ है और राक्षस भी अर्थ है!! इसका भाव यही है कि यह पहिले सज्जन था पीछेसे राक्षस बना। पहिले ये लोग सज्जन जैसा आचारव्यवहार करते थे पीछेसे उनका आचारव्यवहार बिगड गया। इसलिये यही 'पुण्यजन' शब्द राक्षसवाचक बना।

'पुण्य-जन' शब्द 'पुण्यकारक कर्म करनेवाला सज्जन' इसी अर्थमें प्रारंभमें था इसमें संदेह नहीं है। इसका कोई किसी प्रकार भी हीन अर्थ हो ही नहीं सकता, ऐसा होता हुआ भी इस समय इस 'पुण्यजन' शब्दका अर्थ बिलकुल उलटा हो गया है! 'पुण्यजन' को 'पापी'

कौन कहेगा। पर यहां इस पदके अर्थके विषयमें ऐसा ही हुआ है! जो सचमुच प्रारंभमें पुण्यकर्म करते थे, वे ही पश्चात् हीन कर्म करने लगे!! वेदोंमें पुण्यजन पद अच्छे अर्थमें हैं देखिये--

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान्
पुण्यजनान् पितृन्। अथर्व० ८।८।१५, ११।९।२४
अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितृन्।
अथर्व० ११।६।१६

यहां पुण्यजनोंको देव और पितरोंके साथ गिना है। पितर रक्षक हैं, देव तो दिव्य गुणवाले प्रसिद्ध हैं; इनके साथ रहनेके कारण पुण्यजन भी अच्छे ही कर्म करनेवाले हैं।

'पूर्व देव' और 'पुण्यजन' ये दोनों पद राक्षसोंकी गिरावटका बडा भारी इतिहास बताते हैं। आज किसीको यदि कहा जाय कि राक्षसोंका नाम 'पुण्यजन' है तो इस पर कोई विश्वास भी नहीं रख सकेगा। राक्षस 'पुण्यजन' हो कैसे सकते हैं ऐसा ही लोग पूछने लगेंगे, पर जिस समय 'राक्षस' का अर्थ 'रक्षक' होता था, उस समय वे 'पुण्यजन' ही कहलाते थे। जनताकी रक्षा करना यह पुण्य कर्म ही है, यह देवोंके कर्मके समान ही कर्म है। इस लिये 'पुण्यजन' और 'पूर्वदेव' ये पद प्रथम अच्छे अर्थके साथ संबद्ध थे। पश्चात् उन रक्षक पुण्यजनोंका आचारव्यवहार बिगडा, इस कारण वे शब्द तो इनके लिये वैसे ही प्रयुक्त होते रहे, परन्तु उन शब्दोंका अर्थ बिगड गया।

क्या कभी ऐसा हो सकता है? हां मानवी इतिहासमें ऐसा होता ही रहता है।

सज्जनका दुर्जन

कोई शासनाधिकारपर आता है। वह प्रथम अपना कार्य सुयोग्य रीतिसे करता है। सेवाभावसे जनताकी सेवा करता है, दक्षतासे तथा निःपक्ष होकर अपना शासनाधिकारका कार्य उत्तम रीतिसे करता है। हरएक प्रजाजन इसके कार्यसे सन्तुष्ट होते हैं। अतः सब इसकी प्रशंसा करते हैं। राष्ट्रीय सरकारमें भी इसका नाम और यश बढता रहता है। वहां भी इसकी उन्नति होती है और मान्यता बढती है।

पतनका कारण

इस तरह वह उन्नत होता है, यश कमाता है, चारों ओर कीर्ति प्राप्त करता है, तब उसमें घमण्ड आने लगती है, वह रिश्वत लेने लगता है, पक्षपात करके पैसे कमाता है। दुराचार भी करने लगता है। ऐसा होते होते वह बिगडता है और अत्याचार करने लगता है। इस तरह जो पहले 'रक्षक' था वही अन्तमें 'राक्षस' बना, जो प्रारंभमें 'पुण्यजन' था वही अन्तमें 'पापीजन' बना। जो पहिले 'देव' था वही अन्तमें 'असुर' बना। इसी रीतिसे रक्षकोंके राक्षस होते हैं। यह भ्रष्टता दुराचारसे होती है।

राजकीय पक्षकी गिरावट

राजकीय पक्षोंमें भी ऐसी ही गिरावट होती है। एक पक्ष 'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य' आदि शुभगुणोंका पालन करके राष्ट्रमें अपने पक्षका अधिकार जमाता है। इस पक्षके सब लोग तत्परतासे जनसेवा करते हैं, हर प्रकारके कष्ट उठाकर राष्ट्रसेवाके लिये तनमनधन अर्पण करते हैं। जनसेवाके सिवाय कुछ भी दूसरा कार्य नहीं करते। जनसेवाके लिये जो कष्ट सहन करना पडे वे कष्ट आनंदसे सहते हैं। इस तरह यह पक्ष राष्ट्रमें शासनाधिकार प्राप्त करता है। जनता आनंदसे उस पक्षको शासनाधिकारके लिये चुनती है राज्यशासनपर आनेके बाद भी वह अत्यंत उत्तम कार्य करता है। सबके आशीर्वाद लेता है। इसके पश्चात् उस पक्षके कई लोगोंमें स्वार्थ आने लगता है। कुछ लोग स्वार्थवश रिश्वतखोरी, पक्षपात, चालबाजी, धोखेबाजी करने लगते हैं। पक्षके लोग ये लोग अपने हैं इसलिये उनका बचाव करते हैं दंभस्फोट होने नहीं देते। इस तरह अत्याचार बढता जाता है। अत्याचारियोंके बचाव करनेका अधिक प्रयत्न इस पक्षसे होता है। अन्तमें इस तरह वह पक्ष संपूर्णतया गिरता है और उस पक्षका नाम ही बुरे अर्थमें प्रयुक्त होने लगता है! वह एक उस पक्षका नाम गाली जैसी मानी जाती है। राष्ट्रोंके इतिहासोंमें हम देखते हैं कि ऐसे पक्षके पक्ष गिरते हैं और नये पक्ष खडे होते हैं, जो नया पक्ष खडा होता है वह 'सुरपक्ष' कहलाता है और पुराने गिरे हुए पक्षको 'असुर पक्ष' कहने लगते हैं। देखिये—

छोटे भाई और बडे भाई

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवाः ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेषु अस्पर्धन्त। ते ह देवा ऊचुः। हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति।

बृहदारण्यक १।३।१

'देव तथा असुर ये दोनों प्रजापतिके ही सन्तान थे। उनमें छोटे भाई देव और बडे भाई असुर थे। ये दोनों इस लोकमें आपसमें अधिकार प्राप्त करनेके लिये स्पर्धा करने लगे। देवोंने कहा कि हम उद्गीथसे यज्ञमें असुरोंका पराभव करेंगे।'

असुर और देव एक ही राष्ट्रकी प्रजा है। प्रथम जिनके हाथमें अधिकार आया था, वे प्रथम अच्छे थे। पीछेसे बिगड गये और इस कारण उनको असुर कहने लगे। नया पक्ष उठकर खडा हुआ, वह राजकीय आयुमें छोटा था। इस कारण वह तरुणोंका पक्ष (कानीयसा देवाः) समझा जाने लगा। जिनके हाथोंमें राष्ट्रशासनका अधिकार था वह (ज्यायसा असुराः) वृद्धोंका पक्ष था। उसमें अपने हाथमें अधिकार रखनेके लिये अत्याचार करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। इस तरह 'असुर बडे भाई और देव छोटे भाई करके कहने लगे।' अन्तमें देवोंने असुरोंका पराभव किया और अपने हाथमें राष्ट्रशासनकी बागडोर ली। देवासुर संग्रामका राजकीय भाव यही है।

इसी तरह हरएक समय होता रहता है। पुराने पक्षका नाम 'पूर्व देवाः' है और नये पक्षका नाम 'देवाः' है। भारतमें मुसलमान आगये। शासन करने लगे। पीछेसे वे बिगड गये, उनके स्थानपर भारतीय लोग आगये। पीछेसे अंग्रेज आगये, वे भी अत्याचार करने लगे, तब भारतके लोग उठने लगे। राष्ट्रीयसभामें नये लोग आने लगे और वे अंग्रेजोंको 'सैतान' कहने लगे और अपने आपको 'देवता' मानने लगे।

नरम और गरम दल

इस राष्ट्रीय सभावालोंमें भी 'नरम दल' और 'गरम दल,' ऐसे दो दल होगये। नरम दलके हाथमें राष्ट्रसभा थी। वह गरम दलवालोंने तोडी। उस समय गरम दलवाले नरम दलवालोंको 'दुष्ट' कहने और अपने आपको सच्चे 'राष्ट्रीय हितैषी' मानने लगे थे। इस तरह दैवी पक्षवालोंने असुर पक्षको तोडकर राष्ट्रमें प्रचंड आन्दोलन करके अपना स्वराज्य प्राप्त किया। जिस पक्षने स्वराज्य प्राप्त किया, वह 'देव पक्ष' और जिसका पराभव किया वह 'असुर पक्ष' था।

इस तरह राष्ट्रकी उन्नतिमें सुरासुर संग्राम चलता ही रहता है। नवीन तरुणोंका पक्ष देव पक्ष और पुराणा जीर्णमतवादी पक्ष असुरोंका समझा जाता है। पुराणोंमें भी देखा जाय तो कई राक्षस अच्छे थे, उनकी स्त्रियां पतिव्रता थी। वे सच्चरित्र भी थे। पहिले पहिले ऐसा ही होता है। पीछेसे गिरावट शुरु होती है।

पूर्वोक्त इतिहास देखनेसे असुर बडे भाई (ज्यायसा असुराः) थे, इसका भाव क्या है और देव छोटे भाई (कानीयसा देवाः) थे इसका आशय क्या है, इसका ठीक पता लग सकता है। यह पता लग जानेपर ही राक्षसोंका प्रथम 'रक्षण' करनेका कार्य था, परंतु वे ही पीछेसे लूटने और नाना प्रकारके कष्ट देने लगे, यह ऐसा क्यों हुआ इसका ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। इतना अर्थमें परिवर्तन होनेके लिये बडा काल लगा होगा इसमें संदेह नहीं है। काल छोटा भी होगा अथवा बडा भी लगेगा, यह सब राष्ट्रकी परिस्थितिपर अवलंबित है। भारतीय राष्ट्रसभामें नरम और गरम दल २५।३० वर्षोंमें ही बन चुके थे। अर्थात् दो पक्ष बनना राष्ट्रकी जनताकी चित्तवृत्तिपर निर्भर रहता है।

अस्तु। यहां इस लेखमें यह बताया है कि, जो प्रारंभमें अच्छे होते हैं, वे ही कुछ कालके पश्चात् निंदनीय होते हैं। यह बात राजकीय क्षेत्रमें तथा धार्मिक क्षेत्रमें भी सत्य दीखता है।

लेनेयोग्य बोध

असुरों और राक्षसोंमें जन्मस्वभावसे क्रूर कर्म करनेवाले भी होते हैं। जो जन्मसे ही दुष्ट कर्मोंको करते रहते हैं। इनसे कभी अच्छे कर्म होते ही नहीं। ये स्वभावतः राक्षस होते हैं। इनकी गणना स्वतंत्र करनी योग्य है। ऐसे लोग स्वाभाविक दुष्ट मनःप्रवृत्तिके होते हैं। इनका वर्णन इस लेखमें करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

इनमें सुधार होना असंभव है और ये परिस्थितिके कारण बिगड नहीं होते, स्वभाव ही इनका दुष्ट है। हमने इस लेखमें उन राक्षसोंका विचार किया है कि जो परिस्थितिसे बिगड गये हैं, जो पहिले अच्छे थे और पीछेसे बिगड गये। इनका विचार करनेसे जो आज राष्ट्रके शासनाधिकार पर हैं उनको बोध मिलता है, वे सावध रहें और दक्षतासे अपने आपको गिरनेसे बचावें। केवल राजकीय पुरुषोंके लिये ही नहीं परंतु धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रके अन्दर कार्य करनेवाले पुरुषोंको भी इस लेखसे बोध मिल सकता है। ये लोग बोध लें और अपना बचाव गिरावटके मार्गमें न जाकर करें, यह इस लेखका मुख्य उद्देश्य है। जो स्वभावसे क्रूर हैं, राक्षस हैं उनमें सुधार नहीं होगा और ऐसे दुष्ट आततायिओंको इस लेखसे कोई बोध मिलनेकी संभावना ही नहीं है। जो अच्छे हैं, वे ही अपनी गिरावट न हो इस हेतुसे दक्ष रह सकते हैं।

सूक्ष्म रोगजन्तुरूपी राक्षस

सूक्ष्म रोगजन्तु भी राक्षस संज्ञक होते हैं और वेदमें तथा संस्कृतभाषामें राक्षसवाचक बहुतसे नाम इन रोग-जन्तुओंके भी वाचक होते हैं। इसका विचार यहां अब हम करते हैं— नीचे राक्षसवाचक नाम और उनका रोग जन्तुवाचक अर्थ हम प्रथम देते हैं।

१ रात्रिचर, रात्रीचर, निशाचर, क्षपाचर– रोग-जन्तु रात्रीके समय, अन्धेरेमें, जिस स्थानमें सूर्यप्रकाश नहीं पहुंचता वहां होते हैं और वहीं विशेष रूपसे बढते हैं। सूर्यप्रकाश नहीं होता उस स्थानमें ये होते हैं। उसी स्थानमें रहकर ये मानवोंपर आक्रमण करते हैं। इसलिये इन रोगजन्तुओंके ये नाम सार्थ होते हैं।

सूर्यको 'शोचिष्केश' वेदमें कहा है, शुद्धता करने-वाले सूर्यकिरण होते हैं। इसलिये यह नाम सूर्यके लिये दिया है। सूर्यकिरण जहां पहुंचते हैं वहां शुद्धता होती है और इस कारण वहां रोगकृमि नहीं रहते। अर्थात् अशुद्ध स्थानमें ये रहते हैं।

उत पुरस्तात् सूर्य एति
विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन् अदृष्टांश्च
सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ अथर्व० ५।२३।६

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु
निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥ अथर्व० २।३२।१

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेषु
ओषधीषु पशुष्वप्स्व(न्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः
सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ अथर्व० २।३१।५

'पूर्व दिशासे सूर्यका उदय होता है। दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंका वह सूर्य अपने किरणोंसे नाश करता है। उगनेवाला सूर्य कृमियोंका नाश करता है और अस्त होनेके समय भी वह क्रिमियोंका नाश करता है। जो पृथ्वी सूक्ष्म क्रिमी होते हैं उनका नाश सूर्यकिरणोंसे होता है। पर्वतों, वनों, ओषधियों तथा पशुओंमें जो क्रिमी होते हैं, जो हमारे शरीरोंमें घुसे होते हैं, उन सब क्रिमियों के उद्गमका ही हम नाश करते हैं।'

इस तरह वेदमें रोगक्रिमियोंके विषयमें विवेचन है। अर्थात् ये रोगकृमि अन्धेरेमें होते, बढते और फैलते हैं और सूर्यप्रकाशसे विनष्ट होते हैं।

आजका विज्ञान भी रोगक्रिमियोंके विषयमें ऐसा ही कहता है।

२ असुराः– 'सुर' नाम सूर्यका है। जहां सूर्य नहीं होता अर्थात् जहां सूर्यप्रकाश नहीं पहुंचता वहां ये होते हैं। इसलिये इन रोगकृमियोंका यह नाम हुआ है। 'सुर-द्विषः' – सूर्यका द्वेष करनेवाले। यह नाम भी उक्त कारण ही रोगकृमियोंको दिया गया है।

३ यातु– यातना देनेवाले। रोगकृमियोंका शरीरमें प्रवेश होनेसे शरीरमें कष्ट, यातना या दुःख अथवा दर्द होता है। शरीरके अंगों और अवयवोंमें जो कष्ट होते हैं वे इन रोगकृमियोंके शरीरमें होनेके कारण ही होते हैं। जिस समय शरीरमें पीडा होने लगती हैं, उस समय सम-झना चाहिये कि, शरीरमें किसी न किसी तरहके रोगजन्तु घुसे हैं। उनको दूर करनेसे शरीर स्वस्थ होता है और शारीरिक क्लेश दूर होते हैं। 'यातु-धानः' – यातना देनेवाला। शरीरमें पीडा उत्पन्न करनेवाला यह रोगकृमि होता है।

४ क्रव्याद्, क्रव्यादः, अस्रपः, अस्रपः- मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला यह इनका अर्थ है। ये रोगकृमि शरीरमें घुसते हैं, वहां रक्तमांसमें निवास करते हैं और उस रक्तमांसको खाते हैं। (अस्र-पः, अस्र-पः) इन पदोंका अर्थ रुधिर पीनेवाला है। ये रक्तमें रहकर रक्तबिन्दुओंको खाते हैं। (क्रवी-अदः) कच्चा मांस भी ये खाते हैं। रक्त खाने या पीनेके पश्चात् वहांका मांस भी खाते हैं। इसलिये जिसके शरीरमें रोगकृमि होते हैं वह कृश, दुर्बल और निःशक्त होता है।

५ आशारः- (शृ हिंसायां) हिंसक, क्षीणता निर्माण करनेवाला, कर्बुरः- (कर्ब हिंसायां) विनाश करनेवाला, हिंसा करनेवाला, यह रोगकृमि होता है।

६ नैर्ऋतः— (निः ऋतिः) शुभ अवस्थाको दूर करनेवाला, अशुभ अवस्था लानेवाला यह रोगकृमि होता है।

७ रक्षस्, राक्षसः- (रक्षन्ति यस्मात्) जिससे अपना बचाव करना चाहिये। रोगकृमियोंसे अपना बचाव करना चाहिये। इन कृमियोंमें भी कई कृमि ऐसे होते हैं कि जो शरीरके सहायक भी होते हैं और दूसरे शरीरके नाशक भी होते हैं। 'राक्षस' के दो अर्थ इससे पूर्व बताये हैं, एक अर्थ 'रक्षक' अर्थवाला है और दूसरा 'घातक' अर्थवाला है। ये दोनों अर्थ यहां लगते हैं। कृमि रक्षक भी हैं और घातक भी हैं।

इस तरह रोग जन्तुओंके अर्थमें ये राक्षस वाचक पद लगते हैं। दोनों स्थानोंमें ये पद सार्थ होते हैं। मानवोंमें रक्षकोंके जैसे राक्षस होते हैं, उसी तरह सूक्ष्म कृमियोंमें भी होते हैं और जैसे मानवी राक्षसोंमें कई राक्षस स्वभावसे ही दुष्ट होते हैं। इसी तरह यहां भी कई कृमि स्वभावसे ही दुष्ट होते हैं और उनसे कभी किसीका कल्याण होता ही नहीं है। दोनों स्थानोंमें यह साम्य है इसीलिये मानवी राक्षसोंके वाचक शब्द रोगकृमियोंके भी वाचक होते हैं।

मानवी राक्षसोंके वर्णनमें उन कृमियोंके दांत, नाखून आदि विकराल होनेका वर्णन है। वास्तवमें वैसे मानवी राक्षस नहीं होते, परंतु ये रोगकृमि वैसे होते हैं। वस्तुतः ये रोगकृमि आंखसे दीखते भी नहीं, अति सूक्ष्म होते हैं। परंतु इनके चित्र मानवों जैसे बडे किये जांय, तो इनके दांत, आंख, हाथ, नाखून आदि बडे विशाल भयानक अकराल, विकराल दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं परंतु इनके अनेक आंख, अनेक तीक्ष्ण हाथ, अनेक विकराल दाढें तथा अनेक मुख भी विलक्षण तथा भयानक होते हैं। कदाचित् राक्षसोंके वर्णन इन कृमियोंके ही वर्णन होंगे, ऐसा प्रतीत होने लगता है। वेदमें भी ऐसे कृमियोंके वर्णन हैं—

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगं अर्जुनम्।
अथर्व० २।३२।२

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारंगमर्जुनम्।
अथर्व० ५।२३।९

'अनेक रूपोंवाले, चार आंखवाले, अनेक रंगोंवाले, श्वेत रंगवाले, तीन सिरवाले, तीन ककुदवाले ऐसे अनेक प्रकारके कृमि होते हैं।' ऐसे वर्णन वेदमंत्रोंमें हैं। ये वर्णन देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूक्ष्म कृमियोंके विशाल आकारोंकी कल्पना करनेसे ही राक्षसोंके वर्णन जैसे वर्णन होना सम्भव है।

आज सूक्ष्म आकारका विशाल आकार करनेके साधन हमारे पास हैं। सूक्ष्म कृमि सहस्रों प्रकारके हैं, ये सहस्र गुणित आकारवाले करनेसे कैसे दीखते हैं, यह आज हम देख सकते हैं। कोई संशोधक इन आकारोंको बडा करके देखे और राक्षसोंके शरीरोंके वर्णनोंके साथ इनके शरीरकी तुलना करके देखे। यह एक बडा खोजका विषय हो सकता है।

कई राक्षस त्रिशीर्ष है। जिसका नाम ऊपरके मंत्रमें दिया है। कई राक्षस दशशीर्ष तथा दशास्य भी हैं। कई विरूप हैं, कई सुंदर रंगवाले भी हैं। यह सब इन सूक्ष्म कृमियोंमें हम देख सकते हैं।

अस्तु। इस तरह सूक्ष्म राक्षसोंका विचार वेदमंत्रोंमें है। बडे मानव राक्षसोंका विचार इस लेखमें प्रारंभमें किया है। आशा है कि विचार करनेवालोंके लिये इस लेखमें अधिक खोज करनेके लिये आवश्यक साधन प्राप्त होंगे।

मानवी राक्षस जैसे प्रथम उत्तम होनेपर भी पीछेसे बिगडते हैं, वैसे ही सूक्ष्म जन्तुओंमें भी कई जन्तु हैं। जैसे कई मानवी राक्षस सर्वथा उपद्रवकारी होते हैं, वैसे ही ये सूक्ष्म जन्तुओंमें भी कई जातीके जन्तु वैसे ही सदा उपद्रव-

कारी होते हैं। इस तरह इनके विषयमें विचार करके जानना चाहिये।

राक्षसोंका नाशक वैद्य

इस समयतक बडे देहधारी मानव राक्षसोंका वर्णन किया गया है। अब सूक्ष्म भी राक्षस हैं। सूक्ष्म राक्षस इतने सूक्ष्म होते हैं कि, जो आंखसे दीखते भी नहीं और उनको वैद्य अपने औषधी प्रयोगसे मारते हैं। इस विषयमें निम्न-लिखित मंत्र देखिये—

यत्र औषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥
ऋ. १०।९७।६

'जिसके पास औषधियां संग्रहित होती हैं, जैसे राजा लोग, अथवा योद्धा लोग युद्धभूमिमें इकट्ठे होते हैं, उस विप्रको 'भिषक्' अर्थात् वैद्य कहते हैं। यह वैद्य (रक्षो-हा) राक्षसोंका वध करनेवाला है और इस कारण वह (अमीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला होता है।'

योद्धावीर युद्धभूमिमें संमिलित होते हैं और शत्रुका वध करते हैं। इसी तरह औषधियां वैद्यके औषधालयमें इकट्ठी होती हैं, जो राक्षसोंका नाश करती हैं और इस कारण रोगोंको दूर करनेवाली होती हैं।

अपचित आमसे रोग

यहां 'अमीव' पद रोगोंका वाचक है। पेटमें जो अन्न ठीक तरह पचन नहीं होता उसको 'आम' कहते हैं। अपचित अन्नको 'आम' कहते हैं। 'आम वान्' का ही दूसरा नाम 'अमी-व' है। आमके साथ जो रहता है। आमके कारण जो बढता है। वही रोग है। इस रोगको दूर करनेवाला वैद्य 'अमीव-चातन' कहलाता है। आमजन्य रोगोंको दूर करना वैद्यका कार्य है। साथ साथ यह वैद्य (रक्षो-हा) राक्षसोंका नाश करनेवाला भी है। ये राक्षस पेटमें तथा अन्यान्य अवयवोंमें रहते हैं और वहां रोगोंको बढाते हैं। इसीलिये वैद्यको आवश्यक होता है कि वह अपने औषधिप्रयोगसे आमका नाश करे और आमके आश्रयसे रहनेवाले इन राक्षसोंका भी नाश करे। इन शरीरस्थ राक्षसोंका नाश करनेसे रोग नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य नीरोग होते हैं।

'रक्षः' का अर्थ रक्षा करनेवाला, रक्षण करनेवाला है। किसी अवस्थातक ये आमको खाते हैं इससे आमजन्य रोगोंसे मनुष्यकी रक्षा भी होती है। पर पश्चात् जब ये ही बढ जाते हैं तब ये ही जो प्रथम रक्षक थे, वे ही विनाशक सिद्ध होते हैं। इनके सूक्ष्म होनेके संबंधमें शतपथमें एक वर्णन आया है वह यहां देखने योग्य है—

कृष्णाजिनमें राक्षस

अथ कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति। चर्म वा एतत् कृष्णस्य, तन्मानुषं शर्म देवत्रा, तस्मादाह शर्मासीति। तदवधुनोति। अवधूतं रक्षः। अवधूता अरातयः इति। तन्नाष्ट्रा एव एतद्रक्षांसि अतो अपहन्ति अतिनत्येव पात्राण्यवधुनोति यद्वस्यां अमेध्यं अभूत् तद्वास्यै तदवधुनोति। शतपथ १।४।४

'अब कृष्णाजिनको उठाता है और कहता है कि तू कल्याणकारी है। यह कृष्णाजिन चर्म है, यह मनुष्यका कल्याण करनेवाला है। इसलिये वह कहता है कि, तू कल्याणकारी है। इस चर्मको झिडकता है। इससे इसमें रहे राक्षस दूर गिर जाते हैं। राक्षस गिर गये, शत्रु गिर गये। ऐसा वह कहता है। चर्म झिडकनेसे ये राक्षस गिर जाते हैं। ये विनाशक राक्षस गिर जाते हैं। पात्र इस तरह झिडकनेसे जो इनमें अपवित्रता रहती है वह दूर होती है।

यहां कृष्णाजिनमें राक्षस रहते हैं, कृष्णाजिन झिडकनेसे ये राक्षस गिर जाते हैं और वह चर्म निर्दोष होता है। जो राक्षस चर्मपर, कृष्णाजिनपर रहते हैं और जो चर्म झिडकनेसे गिर जाते हैं, वे राक्षस कितने सूक्ष्म होते होंगे, यह सहज ध्यानमें आ सकता है। ये सूक्ष्म राक्षस हैं, जो रोग उत्पन्न करते हैं। कृष्णाजिन झिडकनेसे—

अवधूतं रक्षः। अवधूता अरातयः।

'राक्षस गिर गये, शत्रु गिर गये।' ये सूक्ष्म ही होंगे जो चर्म झिडकनेसे मरते हैं, या गिर पडते हैं। ये राक्षस नाश करनेके लिये वनस्पतिका उपयोग किया जाता है देखिये—

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्।
रक्षः पिशाचानपबाधमानः। अथर्व० १२।३।१५

'दिव्य गुणधर्मवाली वनस्पति हमारे पास आती है जो राक्षसों, पिशाचोंको नष्ट करती है।' राक्षसों, असुरों और पिशाचोंको नाश करनेवाली वनस्पति है। इसी तरह और देखिये—

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतो अपसे-धामि सर्वान् ॥ ११ ॥ आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् । रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मि ॥ १२ ॥ अथर्व० ८।२

'वैवस्वत यमने भेजे हुए सब यमदूतोंको जो इस प्रदेशमें भ्रमण कर रहे हैं उन सबको मैं दूर करता हूं। अराति, निर्ऋति, ग्राही, क्रव्याद, पिशाच और सब राक्षसोंको जो रोग निर्माण करते हैं, इन सबको मैं दीप अन्धकारको दूर करता है उस तरह दूर करता हूं।'

यहांके ये पद विशेष रीतिसे देखने योग्य हैं—

१ ग्राही— जो रोग पकडकर रखता है, छोडता नहीं,

२ क्रव्यादः— मांस खाता है, जिस रोगमें मांस क्षीण होता रहता है।

३ पिशाचः— (पिशित-अचः) रक्त खानेवाला। जो रोग रक्तका नाश करता है।

४ दुर्भूतं— विपरीत बनाना, शरीरको क्षीण करना,

५ अराति— (अ-राति)- दान न देनेवाला, भोजन खाया तो उस भोजनसे पुष्टि होने नहीं देता ऐसा रोग,

६ निर्ऋति— विनाशकी ओर जो ले जाता है।

ये नाम इन मंत्रोंमें हैं। ये सब रोगके कृमि हैं। इनका नाम यहां 'राक्षस अथवा असुर' कहा है।

७ असुर— (असु-रः)- जो प्राणका नाश करता है।

ये सब नाम इन रोगकृमिरूपी राक्षसोंके हैं। इन राक्षसोंका नाश वैद्य अपने औषधियोंसे करता है। राक्षस, पिशाच, असुर आदिकोंका नाश औषधियोंके प्रयोगसे वैद्य करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये रोगकृमि ही ये राक्षस हैं, जो शरीरमें जाकर आमका आश्रय करके वहां रहते और अनेक अवयवोंमें जाकर वहां नाना प्रकारके रोग तथा क्षीणता उत्पन्न करते हैं और मानवोंको सताते हैं। ये 'राक्षस' अर्थात् सूक्ष्म कृमि हैं। ये मानवी देहमें जाते हैं और अनेक प्रकारके कष्ट उत्पन्न करते हैं।

राक्षसहन्ता अग्नि

अग्नि भी इन राक्षसोंका नाश करनेवाला है। इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

उप प्रागाद्देवोऽग्नी रक्षोहाऽमीवचातनः।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ अथर्व० १।२८।१

'यह अग्नि (रक्षो-हा) राक्षसोंका नाश करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोगोंको भी दूर करनेवाला है। (यातुधानान्) यातना बढानेवाले, तथा (किमीदिनः) बुभुक्षित तथा रक्तमांसादिको खानेवाले जो रोगकृमि हैं उनका नाश यह अग्नि करता है।'

ये रोगकृमि राक्षस कहलाते हैं, यातुधान कहलाते हैं, क्योंकि ये शरीरमें बडी यातनाएं बढाते हैं और (किमीदिनः) आज यह खाया, कल और क्या खाऊं ऐसा कहनेवाले ये रोगकृमि होते हैं। ये सब रोग कृमियोंके नाम हैं। अग्नि इन कृमियोंका नाश करता है।

जिस समय किसी ग्राममें रोगका प्रादुर्भाव होता है, उस समय ग्रामके मुहल्लेमें आग जलाते हैं, होलियाँ बनाते हैं। इस तरह अग्नि जलानेसे उसकी आजुबाजूकी हवामें जो ये रोगकृमि होते हैं वे सब इस आगसे जल जाते हैं और इस तरह अग्नि जलानेसे इन रोगकृमियोंका नाश होता है। इसीलिये 'अग्नि' के नाम 'रक्षो-हा' 'असुर क्षयणः' ऐसे वेदमें दिये हैं। यज्ञसे राक्षस नाश होते हैं इसका भी अर्थ यही है।

राक्षसनाशक शंख

शंख भी राक्षसोंका नाश करता है, इस विषयमें वेदमंत्र देखिये—

यो अग्रतो रोचमानां समुद्रादधि जज्ञिषे।
शंखेन हत्वा रक्षांसि अत्रिणो विषहामहे ॥ अथर्व. ४।१०।६

'जो प्रथम समुद्रसे उत्पन्न होता है, जो तेजस्वी है उस शंखसे राक्षस और अत्रियोंको हम विनष्ट करते हैं।' यहां 'रक्षांसि' पद पूर्वोक्त राक्षसोंका वाचक है तथा 'अत्रि' भी उन रोगकृमियोंका वाचक है। 'अत्ति इति अत्रिः' जो रस रक्तमांस आदि शरीरस्थ सप्त धातुओंको खाता है, वह अत्रि है। रोगके कृमि शरीरमें घुसकर शरीरस्थ सप्त धातुओंको खाते हैं इसलिये इनका नाम अत्रि है। ये भी रोग कृमि ही हैं। शंख इनका नाश करता है। शंख भस्म अथवा शंखसे बनी कोई दूसरी औषधि इन रोगकृमियोंका नाश करती हैं। इस तरह शंख राक्षसोंका विनाशक सिद्ध होता है। अब एक मंत्र देखिये—

गन्धसे राक्षसोंका नाश

अजशृंगी अज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय। अथर्व० ४।३७।२

'अजशृंगी औषधी अपने गन्धसे— अपने वाससे सब प्रकारके राक्षसोंको– सब प्रकारके रोगकृमियोंको विनष्ट करती है।' इस मंत्रसे यह सिद्ध होता है कि वनस्पतियोंका गन्ध ही इन सूक्ष्म राक्षसोंका विनाश करनेवाला है।

ये रोगकृमि इतने अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। सूर्यकिरणसे भी इनका नाश होता है। सूर्य प्रकाशसे ये नष्ट होते हैं और अन्धेरेमें ये बढते हैं। इस विषयमें कुछ मंत्र यहां देखने योग्य हैं—

सूर्यप्रकाशसे कृमिनाश

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगं अर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ १ ॥
प्र ते शृणामि शृंगे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुसुमं यस्ते विषधानः ॥ ३ ॥

अथर्व० २।६।१–३

ये कृमीअनेक रंगों और अनेक रूपोंवाले होते हैं। कई श्वेत हैं, कई लाल है, कईयोंके चार नेत्र हैं। इन सबका नाश मैं करता हूं। कईयोंको दो सींग होते हैं, इनसे ये प्राणियोंको काटते हैं। इनमें विषकी थैली होती है, जिससे विष काटनेसे होनेवाली जखमके स्थानमें जाता है और वहां बाधा उत्पन्न करता है।

यहां सूर्य किरणोंसे इन क्रिमियोंका नाश होता है ऐसा स्पष्ट कहा है। ये ही कृमी मनुष्यको नाना प्रकारकी बाधाएं करते हैं। इसलिये इनका नाश हो, ऐसे शब्द इन मंत्रोंमें हैं।

वेदमें 'रुद्र' यह नाम भी रोगकृमियोंके लिये आया है। (रोदयन्ति इति रुद्राः) जो रुलाते हैं वे रुद्र हैं। जो रोगकृमि मनुष्यको रोग उत्पन्न करते हैं और रोगोंसे ग्रस्त होनेके कारण रुलाते हैं, वे रुद्र हैं। इनका प्रभाव देखिये—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।

वा० य० १६।६२

'जो अन्नोंमें तथा पीनेके पानीमेंसे पेटमें जाकर अनेक प्रकारके व्याधी उत्पन्न करते हैं।' ये रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म कृमि ही हैं।

शरीरमें कृमि

शरीरमें भी कृमि होते हैं इस विषयमें अगला मंत्र देखिये—

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जंभयामसि ॥

अथर्व० २।३१।४

'आंतोंमें, मस्तकमें, पसलियोंमें, घूमनेवाले तथा अध्वरका अर्थात् यज्ञका विरोध करनेवाले, अथवा यज्ञसे विनष्ट होनेवाले जो क्रिमी हैं, उनको मैं वचासे नष्ट करता हूँ।'

यहां वचासे ये कृमि नष्ट होते हैं ऐसा लिखा है। 'वचा' एक उग्रगंधी वनस्पति है। इसके गंधसे रोगके कृमि नष्ट होते हैं।

कई विद्वान् यहांके 'वचः' पदसे मंत्रशक्तिद्वारा कृमियोंका नाश होता है ऐसा समझते हैं। वैसा अर्थ 'वचसा जंभयामसि' इन पदोंसे प्रकट होता है। इसमें संदेह नहीं। ऐसे अर्थोंके विषयमें विद्वानोंको खोज करनी चाहिये।

यहां हमने यह बताया कि 'रक्षः, राक्षस, असुर' आदि पदोंके अर्थ जिस तरह मानवोंके लिये प्रयुक्त होते हैं, उसी तरह इन पदोंके अर्थ सूक्ष्म रोगकृमियोंके रूपमें भी होते हैं।

इसमें आश्चर्यकी बात यह है कि 'रात्रींचर, निशाचर,' आदि राक्षस वाचकपद मानवी अर्थमें तथा सूक्ष्म कृमियोंके अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं। रक्षक अर्थमें भी दोनों पद प्रयुक्त होते हैं और विनाशक अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं।

रक्तभक्षक, मांसभक्षक, शरीर शोषक आदि अर्थोंमें दोनों पद प्रयुक्त होते हैं। पाठक इनका विचार करके राक्षसोंके इस क्षेत्रको जाने और वेदमें रोगकृमियोंकी विद्या इस तरह बतायी है यह समझें।

बोध लेना योग्य है

विशेषतः मानव राक्षसोंके पतनका विचार हमें अधिक करना आवश्यक है, क्योंकि उससे हमें यहांका व्यवहार अधिक दक्षतासे करनेका बोध मिल सकता है और अपने पतनको हम इस ज्ञानसे रोक सकते हैं। आशा है कि पाठक इस मननसे अपने जीवनमें लाभ उठावेंगे।

राक्षसोंके चरित्र तथा उनकी स्त्रियोंकी धर्मनिष्ठा

यहांतक 'राक्षस' प्रथम समयमें 'रक्षक' (पहरेगीर) थे, जनताकी सुरक्षा करते थे, इसलिये उनका गौरव होता था। पीछेसे वे बिगड गये, इसलिये उनके नामोंका अर्थ भी बदल गया और उनका तिरादर, द्वेष तथा वैर

होने लगा, ऐसा आशय राक्षसोंके नामोंकी विचिकित्सा करके बताया है। इस विषयमें हमें यहां कई प्रमाण इतिहासके बताने हैं।

प्रातःस्मरणीय नामोंमें राक्षस स्त्रीका नाम भी है।

मन्दोदरी

" अहल्या, द्रौपदी, सीता,
तारा, मंदोदरी तथा ।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यम्
महापातकनाशनम् । (प्रातः स्मरणस्तोत्र)

" अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मन्दोदरी, ये पांच स्त्रियोंके नाम प्रतिदिन लेने योग्य हैं।" इनमें 'मन्दोदरी' इस रावणकी धर्मपत्नीका नाम है। प्रातःस्मरणीय स्त्रियोंमें दुष्टसे दुष्ट रावणकी पत्नीका नाम लिया है। अर्थात् यह श्रेष्ठ पतिव्रता थी। श्रेष्ठ पतिव्रता राक्षसकी स्त्री हुई तो भी वह वंदनीय ही है और वह प्रातःस्मरणीय ही है।

रावणका नाम कोई प्रातः समयमें नहीं लेगा, पर रावणकी पत्नी 'मन्दोदरी' का नाम अवश्य लेगा। इतना आदर रावणकी पत्नीके विषयमें आर्योंमें था।'

शुभगुण जहां भी हों वहां उनका आदर होना चाहिये, यहां हम देखते हैं कि राक्षसस्त्रियोंमें पतिव्रता धर्म पालन करनेका शुभगुण अच्छी प्रकार था। कई और राक्षसकी धर्मपत्नीयोंमें भी यह सती धर्म प्रकट रूपमें था।

वृन्दा

मन्दोदरीके समान 'वृन्दा' नामक राक्षसी भी अत्यंत पतिव्रता थी। वृन्दाका पिता 'कालनेमी' राक्षस था और 'स्वर्णा' उस वृन्दाकी माता थी। इनसे वृन्दाका जन्म हुआ था। (पद्म पुराण उ० ३) यह वृन्दा 'जालंधर' राक्षसकी पत्नी थी। जालंधर उपद्रवकारी होनेपर भी उसकी पत्नी उत्तम पतिव्रता थी। इतना ही नहीं पर उस समय राक्षसोंकी पत्नियां अपनी सतीत्वकी सुरक्षा भी अच्छी तरह करती थी इसलिये राक्षसोंका बल बढ रहा था। यह बात वृन्दाके जीवनमें स्पष्टरूपसे लिखी है।

यह वृन्दा अज्ञात अवस्थामें सतीत्व भंग होनेके कारण स्वयं जल मरी और इसके पुण्यस्मरणके लिये 'वृन्दावन' पवित्र क्षेत्र और पुण्यस्थान बना, वह मथुराके पास आज भी प्रसिद्ध है। अब इसके पतिका जीवनवृत्त सुनिये—

जालंधर राक्षसका वृत्त

जालंधर शास्त्र जाननेवाला बडा चतुर विद्वान राक्षस था। यह भगवान् शंकरके समान ही प्रबल था, इसलिये दूसरे किसी वीरके द्वारा मारा जासके ऐसा नहीं था। (पद्म. उ. ९९-१०४)।

समुद्रमेंसे नया प्रदेश उत्पन्न हुआ, वह जालंधरनगर करके आज भी प्रसिद्ध है। इस स्थानपर पूर्व समयमें समुद्र था। इस प्रदेशपर जालंधर राक्षस राज्य करता था। मयासुरने इस जालंधरको एक नगरी बना दी, वह जालंधर नगरी है। इस जालंधरका विद्या अध्ययन श्री शुक्राचार्यके गुरुकुलमें हुआ। यह विद्वानोंमें बडा विद्वान और ज्ञानी था। यहांतक इसकी विद्या बढ गयी थी, कि 'संजीविनी विद्या' भी इसको सिखायी गयी थी। मृतको पुनः संजीवन करनेकी विद्याका नाम 'संजीविनी विद्या' है। यह विद्या शुक्राचार्यजीके पास थी और उनसे कई राक्षसोंको भी विदित हुई थी इनमें जालंधर राक्षस भी था।

इस विद्यावान् जालंधरका विवाह पूर्वोक्त वृन्दासे हुआ (पद्म० उ० ३।१८)। यह जालंधर शुक्राचार्यके अनुशासनमें रहकर राज्यका पालन उत्तम रीतिसे करने लगा। इसका राज्यशासन अच्छा था और वृन्दाके कारण इसके राज्यमें स्त्रियां भी अपने सतीत्वका संरक्षण अच्छी तरह करती थी, इसलिये सतीत्वसे उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य भी यहां अच्छा था।

एक बार इसने समुद्रमंथनका इतिहास सुना। उसमें इसने सुना कि देवोंने अमृत राक्षसोंको नहीं दिया और ऐसा करनेमें देवोंने कपटका आश्रय किया। यह सुनते ही उन्होंने देवोंका द्वेष करना प्रारंभ किया और देवोंसे युद्ध करना भी शुरु किया।

यहां जालंधरके पतन होनेका प्रारंभ हुआ। पाशवी बलसे दूसरोंका नाश करनेमें यह लगा। इन्द्र आदि देवोंका पराभव करके इसने इन्द्र पदपर अपनेको स्थापित किया। इस कारण देवोंको कष्ट होने लगे। इसलिये विष्णुने जालंधरके साथ युद्ध किया। पर विजय नहीं हुआ। परंतु विष्णुको जालंधरके राज्यमें जाकर रहना आवश्यक हुआ। यह एक प्रकारका विष्णुका पराभव ही था। इस तरह विष्णुदेव जालंधर नगरमें रहने लगा। आगे जालंधरने सब भूमंडलपर राज्य करना शुरु किया। इसके राज्यमें अधर्म नहीं

होता था। धर्मके राज्यशासनके लिये जालंधरकी प्रसिद्धि थी।

आगे चलकर जालंधर धर्मसे और नीतिसे भी भ्रष्ट होने लगा। परस्त्रीपर दृष्टि जाने लगी। राज्याधिकार हाथमें रहनेके कारण धर्मभ्रष्ट होनेकी संभावना बढने लगी। (शिव. २३)

इधर इसके राज्यमें भी धर्म आचरणमेंसे छूटने लगा। अधर्ममें स्त्रीपुरुषोंकी प्रवृत्ति होने लगी। इस कारण धर्मका बल क्षीण हुआ। जालंधरकी स्त्री वृंदा उत्तम पतिव्रता थी। पर वह भी अज्ञानवश धर्मभ्रष्ट हुई। यह प्रमाद होनेका ज्ञान वृन्दाको जब हुआ तब वृंदाने जलकर मृत्यु प्राप्त किया। यह स्थान आजका वृंदावन करके प्रसिद्ध है। इधर जालंधर भी शिवजीके साथ युद्ध करनेके समय शिवजीके अस्त्रसे मारा गया। इसका कारण इतना ही था कि राष्ट्रके स्त्रियों और पुरुषोंमेंसे धर्म चला गया था। (स्कंद २।४।१४-२२)

राक्षस प्रथम अच्छे सत्कर्मी थे पश्चात् भ्रष्ट हुए यही भाव इस कथामें है।

ऐसी कई राक्षस और राक्षस स्त्रियोंकी कथाएं हैं। जो बताती हैं कि प्रथम राक्षस अच्छा कार्य करते थे, अच्छा तप करते थे, अच्छा राज्यशासन भी करते थे। परंतु पीछेसे शक्ती प्राप्त होनेपर भ्रष्ट हुए। कई राक्षस पहिलेसे ही बुरे थे परंतु कई अच्छे भी थे।

बलि, प्रल्हाद

बलि और प्रल्हाद ये राक्षस तो उत्तम राज्यशासन करनेके लिये प्रसिद्ध हैं। इनके अच्छे होनेके विषयमें किसीको कोई संदेह ही नहीं है।

इनके राज्यमें प्रजाजनोंको सुख और आनन्द प्राप्त होता था। सब प्रजा सुखी थी। बलि और प्रल्हादने तो वैदिक धर्मकी दीक्षा लेकर वैदिक पद्धतिसे यज्ञयाग भी चलाये थे। सब प्रजा इनके राज्यमें सुखी होनेके कारण इनके विरोधमें प्रजाका क्षोभ उत्पन्न करना भी कठिन था।

राजकीय दृष्टिसे बलिके राज्यशासनमें कुछ दोष भी हो रहे थे। इसलिये वामनने बलिको कैद भी किया और उसके स्थानपर देवोंका राज्य स्थापन किया। वैसा कोई कारण प्रल्हादके राज्यमें नहीं हुआ था। प्रल्हादका तथा बलिका राज्यशासन केवल प्रजा सुखी होनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों अच्छे राज्य थे।

इस तरह एक समयमें राक्षस या असुर अच्छे थे यह बात सिद्ध होती है। पीछे बल प्राप्त होनेके कारण वे उन्मत्त होगये और पतित हुए।

वास्तवमें यह सब विवरण राजकीय दृष्टिसे ही देखने योग्य है। कोई एक पक्ष राज्यशासन करने लगता है, और दूसरे पक्ष उसके विरोधमें कार्य करने लगते हैं। अधिकारारूढ पक्ष दोष भी जान बुझकर, अज्ञानसे अथवा दूसरे पक्षोंको दबानेके लिये करते हैं। इसलिये राज्य-शासन करनेवाला पक्ष प्रजाकी संमतिमें गिरने लगता है और दूसरे पक्ष उठने लगते हैं।

युरोप, अमेरिका, रूस आदि देशोंके इतिहासमें यह बात स्पष्ट दीखती है। जब एक पक्ष प्रजाकी संमतिमें गिरता है, तब उस पक्षका नाम भी हीनार्थक हो जाता है। ' कान्सर्वेटिव और लिबरल ' आदि नाम इसी परिस्थितिके वाचक हैं।

हमारे देशमें भी कांग्रेसमें नरम और गरम ऐसे दो दल हुए थे। प्रारंभके कांग्रेसी 'नरम' कहे जाते थे और पश्चात् के लोग ' गरम ' कहे जाने लगे। इस कारण ' नरम ' नाम ही अर्थकी दृष्टिसे उपहास योग्य समझा जाने लगा था। ऐसा ही राक्षस प्रथम रक्षक हुए, वे रक्षाका कार्य प्रथम अच्छी रीतिसे करते थे। इसलिये संमान पाते थे। पश्चात् अधिकार हाथमें आनेके कारण वे गिर गये। उस कारण वे ही उनके नाम हीनार्थक हुए।

हरएक देशके इतिहासमें ऐसा ही होता है। केवल राक्षसों और देवोंके इतिहासमें ही ऐसा हुआ ऐसी बात नहीं है। परंतु सर्वदा पुराना पक्ष गिरता है और उस स्थानपर नया आ जाता है। पुराना असुरपक्ष निंदनीय होता है और नया पक्ष सुरपक्ष अथवा देवोंका पक्ष अथवा सत्पक्ष कहलाता है। सब देशोंके इतिहास इसी तरहके इतिहाससे भरे हैं। यही बात यहां ' पूर्वे देवाः राक्षसाः ' आदि पदोंसे बतायी है। सूक्ष्म रीतिसे यह सब देखनेयोग्य है। रक्षकोंके इस तरह राक्षस होते हैं।

अग्नि-देवताके मन्त्रोंमें

सु भा षि त

१ वसुभिः सह पृथिव्यां न्यसीदत्— धनोंके साथ पृथिवीमें विराजे, रहे, बैठे। (मं. १)

२ नव्यसीं तव्यसीं वाचः धीतिं मतिं प्रभरे— नवीन, बल बढानेवाली वाणीकी धारणावती मननशील बुद्धिको मैं बढाता हूँ। मैं ऐसे विचारोंको फैलाता हूं कि जो नवीन हैं, बल बढानेवाले हैं और जिनमें धारणा-शक्ति है। (१)

३ मज्मना क्रत्वा समिधानस्य शोचिः द्यावापृथिवी प्र अरोचयत्— बल बढानेवाले कर्मसे तेजस्वी होनेवाले वीरका तेज पृथिवीसे आकाशतक फैलता है। बलके कर्म करनेसे तेज फैलता है। (२)

४ भृगवः पृथिव्या नाभौ भुवनस्य मज्मना विश्ववेदसं आ ईरिरे— पापका नाश करनेवाले (भृगुओं) ने पृथिवीके ऊपर भुवनकी (मानवोंकी) शक्तिके साथ सर्वज्ञको, धनके स्वामीको, (विश्व कल्याण करनेके लिये) प्रेरित किया। (४)

५ एकः वस्वः राजति— अकेला ही (वीर) धनका स्वामी होता है। (४)

६ मरुतां स्वनः वराय न— वीरोंकी गर्जना रोकना अशक्य है। (५)

७ सृष्टा सेना इव (वराय न)— शत्रुपर आक्रमण करनेवाली सेना जैसी रोकनेके लिये अशक्य होती है। (५)

८ यथा दिव्या अशनिः (वराय न)— जैसी आकाशकी बिजली रोकना अशक्य है। (५)

९ योधः शत्रून् न — जैसा योद्धा शत्रुको मारता है उस समय उसको रोकना अशक्य होता है। अपने वीर ऐसे होने चाहिये। (५)

१० सातये धियः कुवित् तुतुज्यात्— दान करनेके लिये बुद्धिको बारंबार प्रेरित करते रहें। (६)

११ शुचिप्रतीकं धिया गृणे— परिशुद्ध आचारवालेकी मैं बुद्धिपूर्वक प्रशंसा करता हूं। (६)

१२ ऋतस्य धूर्षदं ऋञ्जते— सत्कर्म करनेके लिये आगे बढनेवालेकी पूजा होती है। (७)

१३ इन्धानः अ-क्रः विदथेषु दीद्यत्—तेजस्वी वीर शत्रुसे आक्रान्त न होनेके कारण स्पर्धाओंमें प्रकाशता है। (७)

१४ शुक्रवर्णां धियं यंसते— शुद्ध बुद्धिका उत्कर्ष होता है। (७)

१५ अप्रयुच्छन् अप्रयुच्छद्भिः शिवेभिः शग्मैः पायुभिः नः पाहि— प्रमाद न करता हुआ तू प्रमाद न करनेवाले कल्याणकारी शुभ संरक्षणके साधनोंसे हमारा संरक्षण कर। (८)

१६ अदब्धेभिः अदृपितेभिः अनिमिषद्भिः नः जाः पाहि— न दबनेवाले, न पराभूत होनेवाले, आलस्य न करनेवाले उत्तम साधनोंसे हमारे पुत्रपौत्रोंका संरक्षण कर। (८)

१७ सखायः मर्तासः अपां न-पातं सुभगं सुदीदितिं सुप्रतूर्तिं अनेहसं ऊतये ववृमहे— हम सब एक विचारके मनुष्य जीवनको न गिरानेवाले, भाग्यवान्, तेजस्वी, उत्तम तारक उपद्रवरहित वीरको अपने संरक्षणके लिये स्वीकारते हैं। (९)

१८ ते निवर्तनं न प्रमृषे, यत् दूरे सन् इह अभवः— तेरे दूर रहनेसे भी मैं कष्टी नहीं होता, क्योंकि तू दूर रहा तो भी यहां रहनेके समान समीप जैसा ही है। (१०)

१९ येषां सख्ये श्रितः असि, तृष्टं अति ववक्षिथ— जिनकी मित्रतामें तू रहता है, उनकी इच्छा तू पूर्ण करता है। (११)

२० सुमना असि— तू उत्तम मनवाला है। तेरे विचार उत्तम हैं। (११)

२१ अद्रुहः निचिरासः शश्वतीः शश्वतः अति, स्निधः अति ईयिवांसं अनु अविन्दन्— अहिंसाशील, प्रेम करनेवाले लोग बड़ी शत्रुकी सेनाका अतिक्रमण करनेवाले, तथा हिंसक शत्रुको दूर करनेवाले वीरको प्राप्त करते है। (जो इनको सुरक्षित रखता है।) (१२)

२२ हे यविष्ठ्य मानुष ! क्रत्वा विश्वान् यज्ञान् अभि-पासि, तं त्वा मर्ता अगृभ्णत— हे तरुण तथा मानवोंका हित करनेवाले वीर ! तू अपने शुभकर्मोंसे सब शुभकर्मोंका संरक्षण करता है, इसलिये तुझे मनुष्य अपना नेता स्वीकारते हैं। (१४)

२३ तव तत् भद्रं दंसना, पाकाय चित् छदयसि— तेरा वह अत्यंत शुभ कर्म है कि जो तू अनुयायियोंको परिपक्व होनेके लिये सन्मानसे प्रेरित करता है। (१५)

२४ पावकशोचिषं शीरं स्वध्वरं आशुं दूतं अजिरं प्रत्नं ईड्यं देवं श्रुष्टी सपर्यत— पवित्र करनेवाला, शान्त उत्तम कर्म करनेवाला, सत्वर शुभ कर्म करनेवाला क्षीणतारहित प्राचीन प्रशंसनीय देवकी सत्वर पूजा करो। (१६)

२५ विश्पत्नीं आ भर— संतानका उत्तम पालन करनेवाली पत्नीका उत्तम भरण-पोषण कर। (१८)

२६ जागृवद्भिः मनुष्येभिः दिवे दिवे जातवेदा गर्भ इव ईड्यः— जागृत मनुष्योंद्वारा प्रतिदिन (जातवेदा अग्नि) ज्ञानी अग्रणीकी गर्भके समान उपासना होनी चाहिये। (जिस तरह गर्भका महत्त्व कुलमें है वैसा ही ज्ञानीका भी महत्त्व राष्ट्रमें है। अतः दोनोंका आदर होना चाहिये।) (१९)

२७ प्रचीता वृषणं जजान— गर्भवती स्त्री बलवान् पुत्रको जन्म देती है। (२०)

२८ अरुष-स्तूपः इळायाः पुत्रः वयुने अजनिष्ट। अस्य रुशत् पाजः— क्रोधरहित तेजस्वी मातृभूमीका यह पुत्र कर्म करनेके लिये जन्मा है। इसका विशेष तेजस्वी रूप है। (२०)

२९ हे नरः ! कविं अद्वयन्तं प्रचेतसं अमृतं सुप्रतीकं यज्ञस्य केतुं प्रथमं सुसेवं अग्निं जनयत— हे लोगो ! ज्ञानी दुजाभाव न रखनेवाले, उत्तम हृदयवाले, अमर सुन्दर, यज्ञका ध्वज जैसे प्रथम सेवा करनेयोग्य अग्रणीको निर्माण करो। (पुत्रको ऐसी शिक्षा दो कि जिससे वह प्रशस्त नेता बने।) (२२)

३० अनिवृतः परि वृणक्ति— पराजित न होता हुआ नेता आगे बढता है। (२३)

३१ चेकितानः वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः जातः— ज्ञानी बलवान् विद्वान् ज्ञानियोंके द्वारा प्रशंसित, उत्तम दाता ऐसा पुत्र हुआ है। (२४)

३२ चिकित्वान् स्वे लोके सीद— ज्ञानी बनकर अपने स्थानमें रह। (२५)

३३ सुकृतस्य योनौ यज्ञं सादय— उत्तम कर्म करनेवालोंके स्थानमें यज्ञकर्मको कर।

३४ देवावीः देवान् यज— विबुधोंका संरक्षण करते हुए विबुधोंका सत्कार कर।

३५ अयं सुवीरः पृतनाषाट्, येन देवासः दस्यून् असहन्त— यह उत्तम वीर शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला है, इससे विबुधोंने शत्रुओंका नाश किया था। (२६)

३६ गर्भः तनू-न-पात् आसुरः विजायते, नराशंसः भवति— गर्भ शरीरोंको धारण करनेवाला तथा प्राणके बलसे युक्त होकर जन्मता है और पश्चात् मानव उसकी प्रशंसा करते हैं। (२८)

३७ मर्त्यासः अक्षेमाणं तरणिं वीळुजम्भं अमृतं अजीजनत्— मानवोंने क्षयरहित तारक बलवान् अमर वीरको जन्म दिया है। (३०)

३८ पुमांसं जातं अभि संरभन्ते— पुत्र हुआ तो सब आनन्द करते हैं। (३०)

३९ मातुः उपस्थे ऊधनि अशोचत्— माताकी गोदमें पुत्र शोभता है। (३१)

४० सुरणः दिवे दिवे न निमिषति— उत्तम युद्ध करनेवाला वीर प्रतिदिन विश्राम भी नहीं करता। (३१)

४१ अ-मित्रा-युधः प्रयाः— शत्रुके साथ युद्ध करनेवाले वीर दुष्टोंपर आक्रमण करते हैं।

४२ ध्रुवं अयाः— निश्चयपूर्वक प्रगति कर। (३३)

४३ ध्रुवं अयामिष्ठाः — निश्चयपूर्वक शान्ति स्थापन कर। (३३)

सुभाषितोंके विषयमें निवेदन

ये अग्नि देवताके मंत्र हैं। इस कारण इनमें प्रधानतः अग्निका वर्णन है। तथापि वह वर्णन करते हुए मंत्रोंमें ऐसे शब्दप्रयोग किये हैं कि जिनसे सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये भी उत्तम बोध प्राप्त हो सके। '**अग्नि**' के अर्थ (अगति) जो गति करता है, प्रगति करता है, (अग्र-णी) नेता होता है। ऐसे अर्थ देखनेसे स्पष्ट होता है कि इन मन्त्रोंमें अग्रणीका भी वर्णन है। अग्रणी नेता, राजा, शासक संचालक आदिको कहते हैं। इस कारण इनका भी वर्णन इन मंत्रोंमें है। पढनेवालोंको यह वर्णन इनमें घटाकर देखना चाहिये।

इन मंत्रोंमें जो सामान्य कथनके मंत्रभाग है वे '**सुभाषित**' कहे जाते हैं। सर्वसामान्य उपदेशके जितने शब्द होते हैं उतना मंत्रभाग ही 'सुभाषित' कहा जाता है। ऐसे सुभाषित प्रत्येक मंत्रके स्पष्टीकरणमें दिये हैं और यहां सुभाषितोंका स्वतंत्र प्रकरण भी दिया है। पाठक इसका विशेष मनन करें और इनको अपने जीवनमें घटानेका प्रयत्न करें।

अग्निके जितने गुण इन मंत्रोंमें दिये हैं उतने सब गुण मनुष्यको अपने अन्दर धारण करने चाहिये। परंतु ये घटानेके समय खास अग्निके ही लिये जो शब्द प्रयुक्त किये हैं उनका सामान्य अर्थ लेना और उसको अपनेमें ढालना। परंतु जो सर्वसाधारण वर्णन करनेवाले पद है। उनको तो मनुष्यके जीवनमें घटाकर ही देखना योग्य है। जैसा देखिये—

कवि— ज्ञानी, क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी,

विप्रः— ज्ञानी, विद्वान्,

सुवीरः— उत्तम वीर।

ऐसे वर्णन करनेवाले पद तो अग्निपर घटाना ही कठिन है। ये मानवी जीवनमें घट सकते हैं। ये पद मनुष्य अपने जीवनमें इन गुणोंको ढालें इसीलिये मंत्रमें रखे हैं। अग्निके वर्णनके मिषसे आदर्श तेजस्वी अग्रणी नेताका वर्णन मंत्र इन पदोंसे करता है। पाठक इस मुख्य बातको स्मरणमें रखे।

उत्तरारणी तथा अधरारणीका मन्थन करके अग्निको उत्पन्न किया, यह तो प्रत्यक्ष वर्णन अग्निका ही है इसमें संदेह नहीं है। परंतु अधरारणी स्त्री-माता है और उत्तरारणी पिता है। दोनोंके संबंधसे पुत्र उत्पन्न होता है। यह वर्णन आलंकारिक पद्धतिसे मानवी व्यवहारमें देखना चाहिये।

इसी तरह "**अग्निः जम्भैः तिगितैः अत्ति। स वनानि ऋञ्जते।**" (मं. ५) अग्नि अपनी ज्वालाओंसे लकडी खाता है, वनोंको जलाता है। आदि वर्णन अग्निका साक्षात् वर्णन मंत्र करते हैं। पश्चात् आलंकारिक दृष्टिसे लकडीके स्थानपर शत्रुको मानकर मानवी व्यवहारमें देखा जा सकता है।

लकडी तथा अग्निका वैर है। दोनों एक दूसरेके साथ आगये तो उनमें प्रेम नहीं रहेगा। अग्नि अपने अन्नरूपी या शत्रुरूपी लकडियोंको खायेगी।

इसी तरह अग्नि और जलकी शत्रुता है। परस्पर प्रेमभाव नहीं है। इनकी पारस्परिक शत्रुताका उपयोग मनुष्य करता है और अपने कार्य अन्न पकाना आदि मनुष्य करके अपना लाभ प्राप्त करता है।

अस्तु। इस तरह इन सुभाषितोंका तथा मन्त्रोंका अध्ययन पाठक करें और योग्य बोध प्राप्त करें।

ये सब मंत्रभाग मनुष्यके विविध कार्यक्रमोंके विषयमें कैसे उत्तम बोध देते हैं यह भी विषयविभागके अनुसार इन मंत्रभागोंको विभक्त करके पाठक योग्य बोध प्राप्त कर सकते हैं। युद्ध, मित्रता, राष्ट्ररक्षा, शिक्षा, सेना, स्पर्धा आदि विषयानुसार इन मंत्रभागोंको रखकर तथा इनका समन्वय करके बोध लेना योग्य है।

इस तरह इन मंत्रोंका विचार पाठक करें।

अग्नि देवताका थोडासा अधिक परिचय

वेदमें अग्नि देवताके मंत्र बहुत है। उनमें अग्नि देवताका जो वर्णन किया है वह देखनेसे अग्नि देवताका 'आग' इतना ही स्वरूप है ऐसा कहना असम्भव है। देखिये पहिला मानव अग्नि है—

१ पहिला मानव 'अग्नि'

पृथ्वीपर जो पहिला मानव हुआ, उसका नाम अग्नि था, देखिये—

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे
देवा अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिम्।
इळामकृण्वन्मनुषस्य शासनीं
पितुर्यत् पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ऋ. १।३१।११

१ **हे अग्ने! त्वां प्रथमं आयुं देवाः नहुषस्य विश्पतिं अकृण्वन्**— हे अग्ने! तू पहिला मानव है, जिसको देवोंने मानवकी प्रजाका पालन करनेवाला बनाया।

'**आयवः (आयुः), नहुषः, विशः**' — ये नाम मनुष्यवाचक निघण्टु २।३ में दिये हैं।

२ **(देवाः) इळां नहुषस्य शासनीं अकृण्वन्**— देवोंने वाणीको मानवोंका शासन करनेवाली बनाया है। अर्थात् वाणी मानवोंका शासन करती है। वाणीसे ही मानवी व्यवहार उत्तम रीतिसे चल रहे हैं।

३ **यत् ममकस्य पितुः पुत्रः जायते**— पश्चात् ममतारूपी पितासे पुत्र होता है, होने लगा है '**ममक**' पद ममत्वका वाचक है। ममत्वसे पितासे पुत्र होता है। ममत्वसे पतिका पत्नीसे सम्बन्ध होता है और उत्पन्न होनेवाले पुत्रपर भी ममत्वसे ही प्रेम होता है। आगे सन्तति 'ममत्व' की ही होती है।

यहां (**हे अग्ने! त्वां देवाः प्रथमं आयुं अकृण्वन्**) देवोंने जो पहिला मानव बनाया वही अग्नि नामसे प्रसिद्ध है। इससे वाणी हुई और आगे इडा इसकी पत्नी मानी गयी और आगे ममतासे संतानें होने लगीं। यहां पहिला मानव अग्नि कहा है।

२ वैश्वानर अग्नि

वैश्वानर अग्निके विषयमें यह मन्त्र देखनेयोग्य है—

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः
भरद्वाजेषु यजतो विभावा।
शातवनेये शतिनीभिरग्निः
पुरुणीथे जरते सूनृतावान् । ऋ. १।५९।७

(विश्व-कृष्टिः वैश्वानरः) सम्पूर्ण मानव समाजरूपी सबका नेता (महिम्ना विभावा) अपनी महिमासे वैभवशाली हुआ अग्नि (भरद्वाजेषु यजतः) अन्नका दान करनेवालोंमें-भरद्वाजों में-यजन किया जाता है। (सूनृता-वान्) सत्यभाषी यह (अग्निः) तेजस्वी अग्नि (पुरु-नीथे शात-वनेये) बहुतों द्वारा चलाये जानेवाले और सैंकडों जनोंके द्वारा जिसकी सेवा होती है ऐसे प्रशस्त कर्ममें (शतिनीभिः जरते) सैंकडों प्रकारकी स्तुतियों द्वारा प्रशंसित होता है।

इस मंत्रमें अग्निका स्वरूप बतानेवाले ये पद हैं—

१ **विश्व-कृष्टिः**— सब मानव, सब कृषिकर्म करनेवाले,
२ **वैश्वा-नरः**— सब मानव, सब मनुष्य, सबका नेता।

सब मनुष्य ही अग्निका रूप है। सब मनुष्योंका हित करनेवाला ऐसा भी इसका अर्थ है।

३ **भरत्-वाजः**— अन्नको भरपूर दानमें देनेवाले। इनके पास यह अग्नि रहता है और (विभावा) वैभवसम्पन्न होकर प्रकाशता है।

इन पदोंका भाष्यकारोंका अर्थ देखिये—

विश्वकृष्टिः। कृष्टिरिति मनुष्यनाम। विश्वे सर्वे मनुष्याः यस्य स्वभूताः स तथोक्तः।
ऋ. सायनभाष्य १।५९।७

वैश्वानरः सर्वनेता। विश्वकृष्टिः विश्वाः सर्वाः कृष्टीः मनुष्यादिकाः प्रजाः। ऋ. दयानंदभाष्य १।५९।७

यही अर्थ हमने पूर्वस्थानमें दिया है और भी देखिये—

स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता।
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥ ऋ. १।२७।९

यह (विश्व-चर्षणिः) सार्वजनीन अग्नि (अर्वाद्भिः) घोडोंके द्वारा (तरुता अस्तु) स्फूर्तिके साथ युद्धमें विजय करनेवाला हो, तथा (विप्रेभिः सनिता अस्तु) ज्ञानियोंके द्वारा यह प्रशंसित हो।

इस मंत्रमें अग्निका नाम '**विश्व-चर्षणिः**' है इसका भी अर्थ 'सार्वजनीन, सार्वमानुष' ऐसा है। '**विश्वचर्षणी, विश्वकृष्टि और वैश्वानर**' एक ही है। 'सार्वजनीन' का अर्थ 'सब मनुष्योंका हित करनेवाला', यही अर्थ मुख्यतः इन पदोंका है। पंचजनोंका हित करनेवाला यह अर्थ यहां मुख्य है। यह अर्थ स्पष्ट रीतिसे निम्नलिखित मन्त्रमें दीखता है—

अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्।
स्वाधीभिर्वचस्युभिः। ऋ. ५।१४।६

(विश्वचर्षणिं अग्निं) सब जनोंके हित करनेवाले अग्निको (घृतेन) घृतकी आहुतियोंसे तथा (स्वाधीभिः वचस्युभिः स्तोमेभिः) आत्मबुद्धि देनेवाले वाणीको प्रेरणा करनेवाले स्तोत्रोंके साथ (वावृधुः) बढाते है।

इस मन्त्रमें अग्निका विशेषण 'विश्व-चर्षणि' है। अर्थात् यह अग्नि सब मनुष्योंका हित करनेवाला है।

बुद्धिमें पहिला अग्नि

अग्निं वो देवयज्ययाग्निं प्रयत्यध्वरे।
अग्निं धीषु प्रथममग्निमर्वत्यग्निं क्षैत्राय साधसे।
ऋ० ८।७१।१२

१ **देव-यज्यया अग्निं**— देवोंके यजनसे अग्निसेवा होती है।

२ **प्रयति अध्वरे अग्निं**— बडे अध्वर शुरु होनेपर अग्निकी स्तुति होती है।

३ **धीषु प्रथमं अग्निं**— बुद्धियोंमें जो पहिला अग्नि है वह भी अग्नि ही है। बुद्धियोंमें रहनेवाला आत्मा ही वह अग्नि है।

४ **अर्वति अग्निं**— हलचल करनेवालोंमें जो स्फूर्तिरूप अग्नि होता है और

५ **क्षैत्राय साधसे**— भूमिकी प्राप्ति करनेके लिये जो साधक होता है।

यहां '**धीषु प्रथमं अग्निं**' बुद्धियोंमें जो पहिला अग्नि है वह आत्मारूपी अग्नि ही है। इस विषयमें अन्यत्र कहा है—

बुद्धेरात्मा महान् परः। कठ. उ. ३।१०
यो बुद्धेः परतस्तु सः। भ. गी. ३।४२

'बुद्धिके परे महान् आत्मा है, बुद्धिके अन्दर रहनेवाला आत्मा है।' बुद्धिरूपी वेदीमें यह प्रज्वलित होता है। यही बात वेदमंत्रमें भी कही है—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो
अभवो दस्म होता। ऋ. ६।१।१

'हे अग्ने (त्वं प्रथम. मनोता) तू पहिला मननकर्ता है और (अस्या धियः) इस बुद्धिका तू (दस्म होता अभवः) दर्शनीय होता हुआ है।'

(मनोता) मन जिसमें ओतप्रोत है अथवा जो मनमें ओत-प्रोत है। मनमें बुद्धि और बुद्धिमें आत्मा है यह मनोताका भाव स्पष्ट है। यहीं आत्मा (धियः होता) बुद्धिमें हवन करनेवाला है। बुद्धिमें आत्मा अपनी प्रेरणा डालता है इससे सब प्रकारकी हलचल बुद्धिद्वारा मनमें और मनसे सब शरीरमें होती है। 'मनोता' के विषयमें ऐतरेय ब्राह्मणमें ऐसा कहा है—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति।... तिस्रो वै देवानां मनोताः, तासु हि तेषां मनांसि ओतानि। वाग्वै देवानां मनोता, तस्यां हि तेषां मनांसि ओतानि। ऐ. ब्रा. २।१०

'देवोंके तीन मनोता है जिनमें उनके मन ओतप्रोत हुए हैं। वाणी देवोंका मनोता है, क्योंकि उसमें उनके मन ओतप्रोत हुए हैं।' इस तरह मनोताका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण करता है। यही भाव निम्नस्थानमें लिखे मंत्रमें देखिये—

अयं होता प्रथमः पश्यतेमं इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यः स्तन्वा वर्धमानः॥ ऋ. ६।९।४

"(अयं प्रथमः होता) यह पहिला हवनकर्ता है, (इमं पश्यत) इसको देखो (इदं मर्त्येषु अमृतं ज्योतिः) यह मर्त्य-मानवोंमें अमर ज्योति है, (स अयं ध्रुवः जज्ञे) वह यह स्थिर रूपसे प्रकट हुआ है, (तन्वा सह वर्धमानः अमर्त्यः) शरीरके साथ बढनेवाला यह अमर (आ निषत्तः) यहां बैठा है।"

'**मर्त्येषु अमृतं ज्योतिः**' मर्त्योंमें यह अमर ज्योति है। शरीर मरनेवाले हैं उनमें न मरनेवाला अमर आत्मा है। शरीर

नाश होनेपर भी यह न मरता हुआ शाश्वत रहता है। यह अध्रुव शरीरोंमें (ध्रुवः) स्थिर और शाश्वत है। यह मरनेवाले शरीरोंमें (अ-मर्त्यः) अमर है तथापि यह (तन्वा सह वर्धमानः) शरीरके साथ बढता है ऐसा दीखता है। यहां अग्नि देवताके मिषसे आत्माका ही वर्णन है। गीतामें कहा है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्य ॥ १८ ॥
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य ॥ ३० ॥

भ. गी. २

'नित्य आत्माके ये अन्तवाले अनित्य देह हैं। शरीर नष्ट होनेपर भी यह नष्ट नहीं होता। सबके देहमें यह अवध्य आत्मा है।' इस तरह गीताका वर्णन पूर्वोक्त मंत्रका ही अनुवाद जैसा है।

जाठराग्नि

सायनाचार्य इसका अर्थ 'जाठराग्नि' करते हैं देखिये—

मर्त्येषु मरणस्वभावेषु शरीरेषु अमृतं मरणरहितं इदं वैश्वानराख्यं ज्योतिः जाठररूपेण वर्तते। अपि च सोऽयमग्निः ध्रुवः निश्चलः आ समंतान्निषण्णः सर्वव्यापी अत एवामर्त्यो मरणरहितोऽपि तन्वा शरीरेण संबंधाज्जाते।

ऋ. सायणभाष्य ६।९।४

'मरनेवाले शरीरोंमें मरण धर्मरहित वैश्वानर नामक तेज जठराग्नि रूपसे रहता है। यह ध्रुव सर्वव्यापक अमर होता हुआ भी शरीरके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है।' यह श्रीसायनाचार्यका स्पष्टीकरण जाठराग्निको भी अग्नि कह रहा है। अर्थात् वेदमन्त्रोंमें अग्निका अर्थ 'आग' इतना ही नहीं है, परन्तु जाठराग्नि, आत्मा, बुद्धिमें रहनेवाला आत्मप्रकाश तथा इस तरहके अनेक अर्थ अग्निके हैं यही इससे सिद्ध होता है।

वाणीके स्थानमें अग्नि

जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्धः। श्रियं वसानो अमृतो विचेता मर्मृजेन्यः श्रवस्यः स वाजी ॥ ऋ. २।१०।१

"(जोहूत्रो अग्निः) उपास्य अग्नि (प्रथमः पिता इव) पहिला पिताके समान (इळः पदे) वाणीके अन्दर, भूमिके मध्यमें (मनुषा समिद्धः) मनुष्योंने प्रदीप्त किया है। यह (श्रियं वसानः) शोभाको धारण करनेवाला (अमृतः विचेताः) यह अमर तथा विशेष चेतना देनेवाला (मर्मृजेन्यः) शुद्ध करनेवाला (श्रवस्यः) यशस्वी और (सः वाजी) वही बलवान् है।" यहां वाणीके मूलस्थानमें जो आत्माग्नि है उसका यह वर्णन है। यह यज्ञाग्निको लक्षता हुआ भी आत्माका साथ साथ वर्णन कर रहा है।

'इळः पदे' वाणीके स्थानमें, वाणीकी जहांसे उत्पत्ति होती है वहां यह आत्मा रहता है, इस विषयमें कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्य अर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतं। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम्।

पाणिनीय शिक्षा

'आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर विचार करके बोलनेका विचार निश्चित करता है, मनको प्रेरित करता है, मन शरीरके अग्निको प्रेरित करता है, वह वायुको प्रेरणा करता है, वह वायु छातीमेंसे ऊपर आता हुआ मंद स्वर उत्पन्न करता है, वही मुखमें स्पष्ट भाषणके रूपमें प्रकट होता है।' वाणीके मूल स्थानमें जो अग्नि है वह यही अग्नि है, जो आत्मा बुद्धिद्वारा प्रदीप्त किया जाता है।

मूकमें वाचाल

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि। स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥ ऋ. ७।४।४

"(अयं प्रचेता अग्निः) यह ज्ञानी अग्नि (अ-कविषु कविः) शब्द न करनेवालोंमें शब्दका प्रवर्तक है, (मर्तेषु अमृतः) मरनेवालोंमें अमर (निधायि) रहा है। हे (सहस्वः) बलवन्! (सदा त्वे सुमनसः स्याम) सदा तेरे विषयमें हम उत्तम मनोभाव धारण करनेवाले हों, इसलिये (सः) वह तू (अत्र नः मा जुहुरः) यहां हमारी हिंसा करनेवाला न हो।"

शरीर शब्द न करनेवाला है उसमें यह शब्द करनेवाला है। मर्त्यदेहोंमें यह अमरतत्त्व है। मुख स्वयं जड है, पर वह आत्माकी प्रेरणासे बोल रहा है। सब शरीर मरनेवाले हैं, उनमें यह अमर है।

अनेक अग्नियोंके साथ एक अग्नि

विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः। चनो धाः सहसो यहो ॥ ऋ. १।२६।१०

'हे (सहसः यहो) हे बलके रक्षक! तू (विश्वेभिः अग्निभिः) सब अन्य अग्नियोंके साथ इस यज्ञमें आ और इस वचनको सुन।' तथा—

अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः। यज्ञेषु य उ चायवः ॥ ऋ. १।१४।४

'हे अग्ने ! (विश्वेभिः देवेभिः अग्निभिः) सब दिव्य अग्नियोंके साथ (गिरः महय) इस वाणीको सुपूजित कर और जो (यज्ञेषु आयवः) यज्ञोंमें पूजक हैं उनको उन्नत कर।'

यहां अनेक अग्नियोंके साथ मुख्य अग्निका आना स्पष्ट लिखा है। इस विषयमें गर्भोपनिषद्में लिखा है—

शरीरमिति कस्मात्, अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते। ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणि स्थानानि भवन्ति मुखे आहवनीयः उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः। आत्मा यजमानो, मनो ब्रह्मा लोभादयः पशवो धृतिर्दीक्षा संतोषश्च, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि हवींषि कर्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालं, केशा दर्भाः, मुखमन्तर्वेदिः।

—गर्भोपनिषद् ५

"इसको शरीर क्यों कहते हैं ? क्योंकि यहां अग्नि आश्रय लेते हैं। ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि। इनमें कोष्ठाग्नि अन्नका पचन करता है। दर्शनाग्नि रूपोंको देखता है और ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मोंको प्राप्त करता है। इन अग्नियोंके तीन स्थान होते हैं। मुखमें आहवनीय, उदरमें गार्हपत्य और हृदयमें दक्षिणाग्नि। इस यज्ञमें आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा है, लोभादि पशु हैं। धृती दीक्षा है। ज्ञानेंद्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेंद्रियां हविर्द्रव्य है। सिर कपाल है, केश दर्भ हैं और मुख अन्तर्वेदी है।" इस रीतिसे यह यज्ञ यहां इस शरीरमें चल रहा है।

यह शतसांवत्सरिक यज्ञ है। यहां यज्ञपुरुष प्रत्यक्ष आत्मा है। जो इस यज्ञको अपने अन्दर देखेगा, उसको ही एक मुख्य अग्निकी तथा उसके साथ रहनेवाले अन्य अग्नियोंकी ठीक तरह कल्पना हो सकती है। अनेक अग्नियोंमें आत्माग्नि भी एक अग्नि है।

शरीररूपी यज्ञशालामें ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जाठराग्नि ऐसे अनेक अग्नि रहते हैं और वे सब सहकार्यसे इस शरीरका शतसांवत्सरिक यज्ञ करते हैं।

यज्ञमण्डप का चित्र
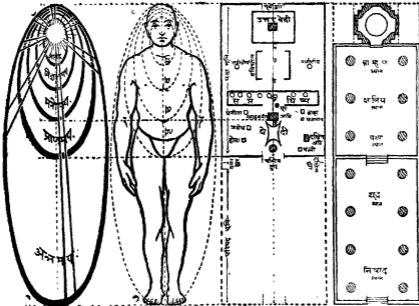
वैदिक यज्ञका स्वरूप समझनेके लिये यज्ञका मूल आधार समझना चाहिये वह मूल आधार इस चित्रमें बताया है।

शतसांवत्सरिक यज्ञ

मनुष्य जो जन्म लेकर यहां आता है वह इस शतसांवत्सरिक यज्ञको करनेके लिये ही आया है। सौ वर्ष जीवित रहकर सौ यज्ञ अथवा सौ वर्ष चलनेवाला शतसांवत्सरिक यज्ञ करनेके लिये ही आया है। प्रथमके आठ वर्ष बालपनके हैं और पश्चात् १२ वर्ष विद्याध्ययनके हैं। इस तरह विद्याध्ययन पूर्ण होनेतक यह बीस वर्षकी आयुका हो जाता है। इकवीसवें वर्षसे इसने अपना जीवनकार्य- शतसांवत्सरिक यज्ञ- करना है। यह शतसांवत्सरिक यज्ञ बीचमें खंडित नहीं होना चाहिये। अविच्छिन्न १०० वर्षकी यज्ञीय आयु इसको २० वर्षकी आयुके पश्चात् मिलनी चाहिये। १०० वर्षकी इस आयुमें रोगोंके कारण जीवनका यह यज्ञ टूटना नहीं चाहिये, विछिन्न नहीं होना चाहिये। सब उपकरणोंके साथ यह यज्ञ निर्विघ्नताके साथ होता रहना चाहिये।

मानवी शरीरमें जो अग्नि जहां होते हैं वे ही अग्नि अनेक नामों से यज्ञशालामें रखे हैं और उनमें यज्ञ किया जाता है। शरीरकी क्रियाएं ही यज्ञमें बतायी जाती हैं। शरीरमें ३३ देवताएं हैं, विश्वमें भी ३३ देवताएं हैं। इनका परस्पर संबंध है। बाहरका सूर्य शरीरमें आंख हुआ है। बाहरका वायु शरीरमें प्राण बना है, इस तरह बाहरकी ३३ देवताएं शरीरके अंग और अवयव बने हैं। जो शरीरमें स्वाभाविक रीतिसे हो रहा है और जो विश्वमें चल रहा है वह मानवी समाजमें कैसा करना यह यज्ञसे बताया जाता है।

अर्थात् वैदिक अग्नि केवल आग ही नहीं है। यह अग्नि अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ है जिसका थोडासा स्वरूप यह बताया है। अनेक अग्निके रूप हैं जो अनेक स्थानोंमें वेदमंत्रोंमें वर्णन किये हैं।

ये अग्निके रूप जानना और अग्नि किन रूपोंमें कहां, कैसा, क्या कार्य कर रहा है यह जानना अग्निमंत्रोंके अभ्याससे सिद्ध होनेवाला है।

एक ही ब्रह्म सब विश्वके पदार्थोंके रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। वैदिक दृष्टिसे अग्नि आदि पदार्थोंके रूपोंमें वही ब्रह्म दिखाई देता है।

इतने विवरणसे पाठक अग्निस्वरूप समझेंगे ऐसी हमें आशा है।

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा. व्य
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२	।)
३	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥)
४	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१)
५	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१)
६	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
७	यजुर्वेद वा. स. पादसूची	१॥)	॥)
८	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	।)
९	अथर्ववेद	समाप्त होनेसे छप रहे हैं।	
१०	सामवेद		

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए उन्नीस ऋषियोंका दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)		१६)	२)

(अलग ऋषिका दर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	।)
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	।
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	।)
५ कण्व	,,	,,	२)	।)
६ सव्य	,,	,,	१)	।)
७ नोधा	,,	,,	१)	।)
८ पराशर	,,	,,	१)	।)
९ गोतम	,,	,,	२)	।=)
१० कुत्स	,,	,,	२)	।=)
११ त्रित	,,	,,	१॥)	।-)
१२ संवनन	,,	,,	॥)	=)
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	॥)	=)
१४ नारायण	,,	,,	१)	।)
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	।-)
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	॥)	।-)
१८ सप्त	,,	,,	॥)	=)
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१॥)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८	२)
६ से १० काण्ड	८)	२)
११ से १८ काण्ड	१०)	१।)

देवता-परिचय ग्रन्थमाला

१	ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	।=)	=)
२	वैदिक अग्नि-विद्या	२)	।)
३	वैदिक चिकित्सा	१॥)	।

दैवत-संहिता

भाग १	} समाप्त हो गये हैं।	
भाग २		
भाग ३	६)	१)
अग्नि देवता	४)	१)
अग्नि-इन्द्र-सोम	५)	१)

सामवेद कौथुम शाखीय

ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः

प्रथम, तथा द्वितीयो भाग	६)	१)

श्रीमद्भगवद्गीता

१ पुरुषार्थबोधिनि टीका (एक जिल्दमें)

मूल्य १२॥ रु. डा. व्य. २॥)

२ ,, (तीन जिल्दोंमें)	अध्याय १ से ५ ५)		१।)
,,	अध्याय ६ से १० ५)		१।)
,,	अध्याय ११ से १८ ५)		१।)
३ श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला भाग १-२-७	३॥।)		१)

(भाग- ३-४-५-६ समाप्त हो गये हैं।)

४ भगवद्गीता श्लोकार्ध सूची	॥)	=)
५ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन	२)	।=)
६ श्रीमद्भगवद्गीता (केवल श्लोक और अर्थ)	१)	≡)
७ श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम भाग) लेखक श्री गणेशानन्दजी	१)	।)

मन्त्री- स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

Regd .No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि० सूरत)